नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला

प्रतापनारायण-ग्रंथावली

प्रथम खंड

संपादक

विजयशंकर मल्ल

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, वाराणसी
संवत् २०१४ वि०, प्रथमावृत्ति, ११०० प्रतियाँ
मूल्य १०)

वक्तव्य

पं० प्रतापनारायण मिश्र आधुनिक हिंदी के विधायक लेखकों में हैं। हिंदी गद्य और पद्य को नया संस्कार देने में वे अपने जमाने के किसी भी निर्माता से उन्नीस नहीं पड़ते। कुछ बातों में वे अपना सानी नहीं रखते। वे खूब चैतन्य साहित्यकार हैं। युग-चेतना के प्रकाशन - योग्य नए मुहावरे और नई कलम के वे धनी लेखक हैं। भारतेंदु-युग के लेखकों में उनका व्यक्तित्व अद्भुत है। वैसा ही बहुरंगी और प्रकाशवान उनका साहित्य भी है। श्री बालमुकुंद गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि 'गद्य और पद्य लिखने में भारतेंदु जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे।' हिंदी के निर्बंध निबंधकारों में उनका स्थान बहुत ऊंचा है। काव्य और नाटक के क्षेत्र में भी उनका कर्तृत्व अनूठा है। आरंभिक हिंदी-गद्य को नितांत अकृत्रिम, खरे और वीर्यवत्तर रूप में सामने लाने में उनके जैसा सामर्थ्य दूसरों में शायद ही मिले। भाषा के बाह्य विकारों को ही शैली-सर्वस्व समझने वाले लोग उनकी भाषा के बहुविज्ञापित भदेसपन पर ही नजर गड़ा कर अपने मानदंड (डंडे) का पोलापन जाहिर करते हैं। वे अपने नकली चमक दमक वाले वाग्जाल में बहुतों को उलझा कर उन्हें प्रतापनारायणजी ही नहीं बल्कि अन्य गद्य लेखकों की भी भाषा की आंतरिक योग्यता और शक्ति के साक्षात्कार से वंचित रखते हैं। हिंदी वालों के लिए यह भारी घाटा है। जानकारों को यह प्रपंच खलता है। आलोचना अब यदि सचमुच कोई तत्त्व की बात साफ ढंग से नहीं कहती तो कूड़ा समझी जाती है।

भारतेंदु-युग के ऐसे जीवंत लेखक को समझने और परखने का साधन—उसका साहित्य—आंखों से ओझल हो रहा है। उनकी पुस्तकों में से कुछ अलभ्य हो गईं, कई दुर्लभ हैं। दो एक जगह बेतरह बंधे 'ब्राह्मण' देवता भी जीर्ण-कलेवर हो गए हैं और पांच-सात साल में उनका छूमंतर हो जाना प्रायः निश्चित है। सन् १९१६ में पं० प्रतापनारायण के कुछ लेखों का संकलन 'निबंध-नवनीत' नाम से प्रकाशित हुआ था जो अब दुष्प्राप्य है। श्री रमाकांत त्रिपाठी ने 'प्रताप-पीयूष' नाम से उन के थोड़े से लेखों और कविताओं काएक सुसंपादित संग्रह सन् १९३३ में छपवाया। उनके कुछ निबंध 'प्रताप-समीक्षा' (सं०—श्री प्रेमनारायण टंडन) में संकलित हैं पर इसमें अधिकतर

'निबंध-नवनीत' और 'प्रताप-पीयूष' की ही चीजें हैं। इधर कुछ वर्ष पूर्व श्री नारायणप्रसाद जी अरोड़ा के सदुद्योग से प्रतापनारायण जी की प्राप्त कविताओं का संकलन 'प्रताप-लहरी' नाम से और 'प्रतापनारायण मिश्र' नाम से उनके अब तक असंगृहीत कुछ निबंध 'ब्राह्मण' से एकत्र किए गए। पर मिश्रजी की रचनाओं के एक बृहत् संकलन और विस्तृत समीक्षा की आवश्यकता बनी हुई थी। अतः काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने जब 'प्रतापनारायण-ग्रंथावली' के संपादन का कार्य मुझे सौंपा तो मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया।

'ग्रंथावली' के दो खंडों में प्रकाशन की योजना बनाई गई। पहले खंड में मिश्रजी के लेख संकलित हैं। दूसरे खंड में उनके उपलब्ध नाटक, कविताएं तथा पत्र आदि प्रकाशित होंगे।

प्रस्तुत खंड में लेखक के दो सौ से ऊपर लेख और परिशिष्टांश में 'ब्राह्मण'-संबंधी टिप्पणियां आदि संकलित हैं। कुछ लेख बच रहे हैं, उनकी प्रतिलिपि समय से सुलभ न हो सकी अतः इस बार उनका प्रकाशन न हो सका। फिर भी जो लेख संकलित हैं उनमें लेखक की सारी विशेषताएं उजागर हैं। ये सभी लेख 'ब्राह्मण' की उपलब्ध प्रतियों से एकत्र किए गए हैं। कुछ रचनाएं अन्यत्र भी छपी होंगी, 'हिंदुस्थान' के अपने संपादन काल में भी मिश्र जी ने कुछ लिखा होगा। ऐसी रचनाओं को प्राप्त करने का कोई साधन सुलभ न हो सका।

विलंब की आशंका से 'ग्रंथावली' के इस खंड में पं० प्रतापनारायण के कर्तृत्व की समीक्षा न जा सकी। अब वह दूसरे खंड की भूमिका के रूप में आएगी। दूसरे खंड की सामग्री अब प्रेस में जाने ही वाली है।

कुछ को छोड़, संकलित सामग्री की प्रतिलिपि 'ब्राह्मण' से हुई है। अधिकांश रचनाएँ टंकित हुईं और शेष की प्रतिलिपि में कई हाथ लगे। दोनों ही प्रकार की प्रतिलिपियों में अशुद्धियां थीं पर हाथ वाली कापियों में तो स्थान स्थान पर भारी गड़बड़ी मिली। अधिकांश सामग्री मुद्रित हो जाने पर इधर प्रयाग जाने का मौका मिला तो मैंने 'ब्राह्मण' के उपलब्ध अंकों की विषय-सूची बनवाते समय देखा कि इन प्रतिलिपिकों ने और तो और, कुछ लेखों की प्रकाशन-तिथि का भी गलत निर्देश कर दिया है। पं० प्रतापनारायण यों ही लापरवाह लेखक हैं; उनके लेखों में फारसी और संस्कृत के उद्धरण अक्सर अशुद्ध मिलते हैं, वाक्य प्रायः लंबे और अविन्यस्त हो जाते हैं, व्याकरण संबंधी त्रुटियां और एकदेशीय प्रयोग बिखरे मिलते हैं, अक्षर-

विन्यास यदा कदा विलक्षण ढंग का दिखाई देता है—इन सब के साथ मिलकर प्रतिलिपिकों की लापरवाही ने बार बार उलझनें डालीं। ऐसी स्थिति में शुद्धि-पत्र का प्रसारण स्वाभाविक ही है। संस्कृत और फारसी के उद्धरणों को, जहां तक दृष्टि पहुंची है, शुद्ध कर दिया गया है—लेख में ही या शुद्धि पत्र में। शुद्धि-पत्र में निर्दिष्ट अशुद्धियों के अतिरिक्त लेखों में जो व्याकरण संबंधी त्रुटि या अक्षरविन्यास की विलक्षणता देख पड़े उसे मूल लेखक की ही त्रुटि समझना चाहिए। प्रतापनारायण जी प्रायः वह को वुह, पृथक को प्रथक, पतिव्रता को पतिव्रृता, प्रश्न को प्रष्ण, लेखनी को लेखणी, ऋषि और ऋचा को रिषि और रिचा आदि लिखते थे। इनमें भी एकरूपता नहीं—कहीं वह लिखेंगे, कहीं वुह। व और ब में उनके यहां अभेद-संबंध है। ऐक्यता, निराशता, संतुष्टता, जगत्मान्य आदि लिखने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं। इसी तरह बोलचाल के ढर्रे पर वाक्यों की गुंफित लड़ी तैयार करने और दूसरे ढंग का नियमोल्लंघन करने में भी वे बेहिचक हैं। इन लेखों में आपको हिंदी के आरंभिक गद्य की ये सभी बातें मिलेंगी। प्रतिलिपि और छापे की भूलों को आवश्यकतानुसार शुद्धि-पत्र में निर्दिष्ट कर दिया गया है। हां, टूटी मात्राओं, गिर गए टाइपों तथा हलंत और अनुस्वार के छूट गए चिन्हों का निर्देश नहीं किया गया है क्योंकि वे सहज ही समझ में आ जाने लायक हैं। जो लेख 'निबंध नवनीत' से संकलित हैं उन्हें छोड़ अन्य लेखों में अनुच्छेद-(पैराग्राफ) विभाजन या संयोजन का ढंग मूल लेखक का ही है। हां विराम-चिह्नों की आवश्यक योजना प्रायः 'ग्रंथावली'—संपादक की है। लेखों को कालक्रमानुसार रखा गया है। किसी भी तरह का वर्गीकरण कृत्रिम और स्थूल होता, उस से कोई खास मतलब न सधता, इसलिए सीधा-सादा सिलसिला रखना ही ठीक मालूम हुआ।

इस ग्रंथावली की सामग्री एकत्र करते समय कई स्थानों का चक्कर काटना पड़ा। काशी, प्रयाग और कानपुर के अनेक पुस्तकालयों और व्यक्तियों के सहयोग से ही यह कार्य संभव हो सका। इन सभी संस्थाओं और महानुभावों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मेरा सुखद कर्त्तव्य है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय और प्रयाग-स्थित भारती-भवन पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्षों ने स्वयं असुविधा उठा कर मुझे विशेष सुविधाएं प्रदान कीं; पं० अयोध्यानाथ शर्मा (अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर), पं० विश्वनाथ

गौड़ (प्राध्यापक, सनातनधर्म कालेज कानपुर), बाबू नारायणप्रसाद अरोड़ा (कानपुर के प्रसिद्ध वयोवृद्ध नागरिक और साहित्यप्रेमी), तथा नव-युवक लेखक श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी ने सामग्री एकत्र करने में बड़ी सहायता की। अरोड़ा जी ने अत्यंत स्नेहपूर्वक प्रतापनारायण संबंधी अपने अलभ्य संग्रह का उपयोग करने की सुविधा दी और 'ब्राह्मण' के ३-४ अंक भी ना० प्र० सभा के लिए मुझे दिए। चतुर्वेदीजी ने कई लेखों की प्रतिलिपि उन्मुक्त भाव से मेरे लिए सुलभ कर दी। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के प्राध्यापक डा० प्रेमनारायण शुक्ल से भी सहायता मिली। हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के सहायक मंत्री भाई रामप्रतापजी शास्त्री और प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी-प्राध्यापक सुहृद्वर डा० रघुवंश ने प्रतिलिपि-संबंधी मुश्किलों को आसान कर दिया। रामरत्न पुस्तकालय, काशी के स्वामी उत्साही साहित्यप्रेमी श्री मुरारीलाल केडिया से 'मानस-विनोद' के प्रथम संस्करण की प्रति प्राप्त हुई। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक आदरणीय पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र, बंधुवर श्री करुणापति त्रिपाठी और संमान्य श्री कृष्णदेवप्रसादजी गौड़ से भी सहायता मिली। नागरीप्रचारिणी सभा के वर्तमान साहित्य-मंत्री और विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के मेरे सह-योगी बंधु डा० श्रीकृष्ण लाल की ही प्रेरणा से 'सभा' ने 'प्रतापनारायण ग्रंथावली' का संपादन-कार्य करने के लिए मुझ से आग्रह किया। ना० प्र० सभा के प्रधान मंत्री आदरणीय डा० राजबली पांडेय ने आवश्यक सुविधाएँ तत्काल प्रदान करने में बराबर तत्परता दिखाई। नागरी मुद्रण के सुयोग्य व्यवस्थापक श्री महताब राय ने कारण उपस्थित होने पर भी कभी धीरज नहीं छोड़ा। इन सब सज्जनों के प्रति मैं पुनः आभार प्रदर्शित करता हूं। मेरे अनन्य बंधु डा० बचन सिंह का सहयोग सदा की भाँति इस कार्य में भी अत्यंत महत्त्व का रहा पर उन्हें धन्यवाद देना केवल शिष्टाचार की बात हो जायगी।

आशा है पं० प्रतापनारायण मिश्र के स्वरूप का प्रकाशन इस ग्रंथावली द्वारा हो सकेगा और साहित्य-प्रेमी सज्जन इस का उपयोग करके संपादक के श्रम को सार्थक करेंगे।

हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
१८-२-५८

विजयशंकर मल्ल

अनुक्रम

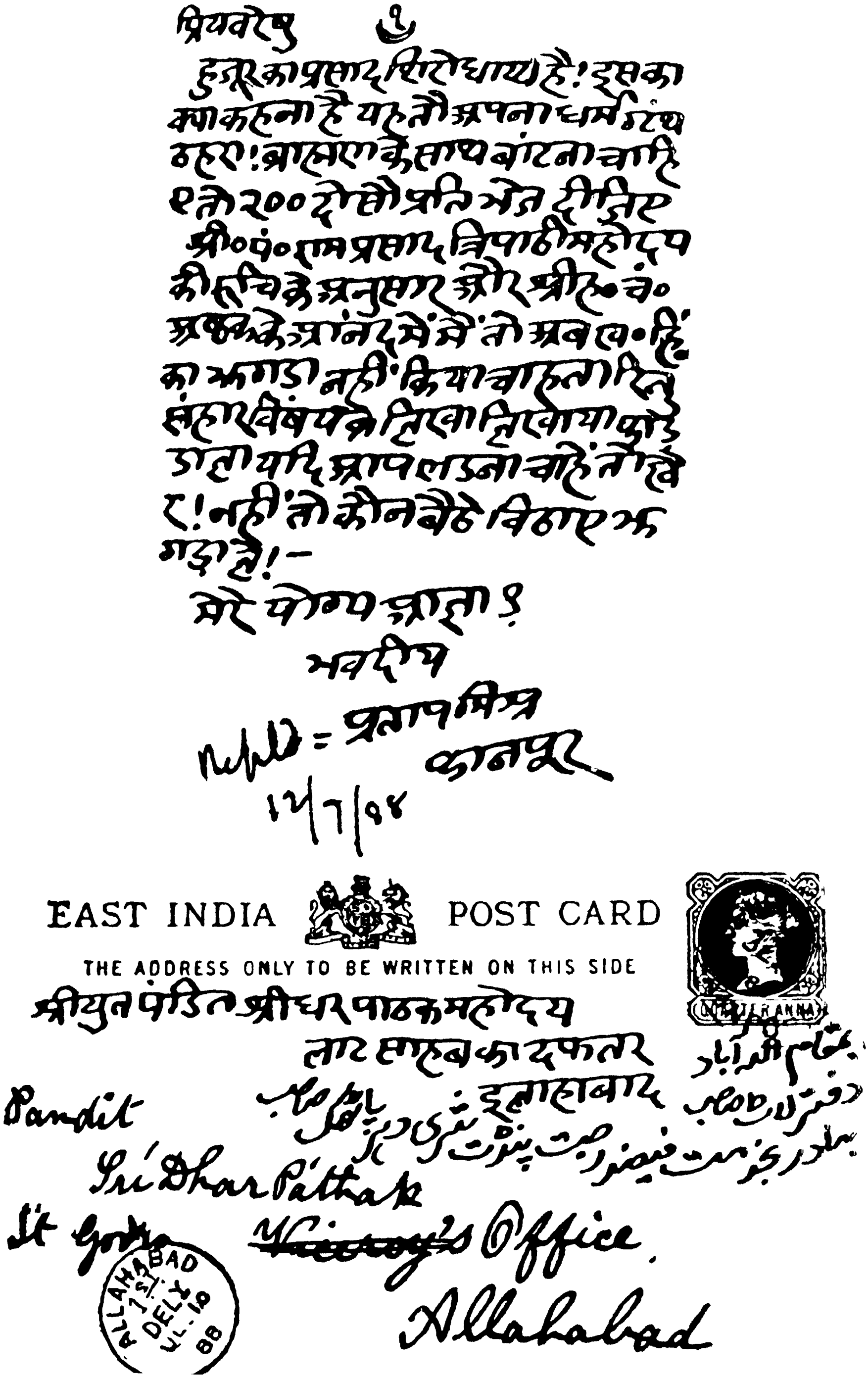


पं० प्रतापनारायण मिश्र

सन १८५६-१८९४, ई०

(नागरीप्रचारिणी सभा, काशी स्थित तैल चित्रसे)

पं० प्रतापनारायण मिश्र के एक पत्र की प्रतिलिपि



प्रियवरेषु ॐ

हुजूर का प्रसाद शिरोधार्य है! इसका क्या कहना है यह तो अपना धर्म ठहरा! ब्राह्मण के साथ बांटना चाहिए तो २०० दो सौ प्रति भेज दीजिए

श्री० पं० रामप्रसाद त्रिपाठी महोदय की रुचि के अनुसार और श्री ह० चं० [illegible] के आनंद में मैं तो अब ले० हिं० का झगड़ा नहीं किया चाहता किन्तु [illegible] विषय पर लिखो लिखोया करूं [illegible] यदि आप लड़ना चाहें तो लिखे! नहीं तो कौन बैठे बिठाए झगड़ा ले!—

मेरे योग्य आज्ञा ?

भवदीय

प्रताप मिश्र

कानपुर

१४/७/८८

EAST INDIA POST CARD

THE ADDRESS ONLY TO BE WRITTEN ON THIS SIDE

QUARTER ANNA

श्रीयुत पंडित श्रीधर पाठक महोदय

लाट साहब का दफ्तर

इलाहाबाद

Pandit

Sri Dhar Pathak

St Govt ~~Viceroy's~~ Office.

Allahabad

ALLAHABAD DELY JUL 88

हो ओ ओ ली है !

१—अरे भाई, कुछ बाकी भी है कि सभी उड़ा बैठे ? सच तो कहते हो, विद्या गई ऋषियों के साथ, वीरता सूर्यबंशी चन्द्रबंशियों के साथ, रही सही लक्ष्मी थी, सो भी अपने पिता (समुद्र) के घर भागी जाती है। फिर सब तो इन्हीं तीनों के आधीन ठहरे, आज नहीं तो कुछ दिन पीछे सही हो (तो) ली ही है।

२—अरे वाह तुम भी निरे वही हो, कहो खेत की सुनो खलिहान की। अजी आज धुलेंड़ी है ! अब समझे ?

१—हां ! हां !! आज ही पर क्या है, जब कभी कोई अन्यदेशी विद्वान वा यहीं का ज्ञानवान आगे वालों के चरित्र से हमारी तुम्हारी करतूत का मिलान करेगा तो कह उठेगा—'धुः लेंड़ी है' ! कुछ न किया, जितनी पुरुषों ने पुण्य की उतनी लड़कों ने ······क्या कहें, ह ह ह ह !

२—वाह जी हजरत वाह ! हम तो कहते हैं आज तेहवार का दिन है, कुछ खुशी मनाओ। तुम वही पुराना चरखा ले बैठे ! बाहर निकलो, देखो नगर भर में धूम है—कहीं नाच है कहीं गाना है, कहीं लड़कों बूढ़ों का शोर मचाना है, कहीं रंग है, कहीं अबीर है, कहीं फाग है, कहीं कबीर है, कहीं मदपिये बकते हैं, कहीं निर्लज्ज लोग अश्लील (फुहुश) बकते हैं, कहीं कोई जूता उछालता है, कहीं कुछ नहीं है तो एक दूसरे पर सड़क की धूल और मोहरी की कीच ही डालता है, तरह २ के स्वांग बन २ आते हैं, स्त्री पुरुष सभी पर्व मनाते हैं। सारांश यह कि अपने २ बित भर सभी आनंद हैं, एक आप ही न जाने क्यों नई बहू की तरह कोठरी में बंद हैं, न मुंह से बोलो न सिर से खेलो—भला यह भी कोई बात है ! उठो २ !

१—ह इच्छा ! आप ने तो खूब ही फारसी की छारसी उड़ाई (यह हिन्दी की चिन्दी का जवाब है), लखनौ के मियां भाइयों की काफियाबन्दी को मात किया।

२—खैर जी अब चलते भी हो कि यहीं से बातें बनाओगे ?

१—मैं नहीं जाता, यह बहेंतूपन तुम्हीं को रंजा पुंजा रहे। भला यह भी कोई तमाशा है जिस के लिये तुम्हारी तरह गली २ पड़ा फिरूं ? यह तो इस देश का सहस्रों वर्ष से तार ही है, होली ही पर क्या विलक्षणता आ रही है। आप एक नगर को लिए फिरते हैं, यह कहो कि यूरुप अमेरिका तक हमारे अतिमानुष करमों की धूम है। नाच देख के तुम्हीं प्रसन्न होते होगे, हमारी जान में तो कामाग्नि में और घृताहुती देने में रात भर आंखें फोड़ने में, सिवाय बचा खुचा बुद्धि को स्वाहा करने के क्या धरा है ? फिर यदि नाच भलेमानसों का काम नहीं तो अपनी धर्म्मपत्नी का हक वेश्याओं के भाड़ में झोंक के नाच का देखना ही किस सज्जन को सोहता है ?

२—वाह, नृत्य चौंसठ विद्या में से है, भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी नाचते हैं, उसे बुरा कहते हो !

१—फिर नाचो न ! मना कौन करता है ? अरे उन सज्जन महात्माओं को क्यों बदनाम करते हो ? हां, रासधारियों के ठाकुर जी को चाहो जो करो। भगवान कृष्णचन्द्र के और ही किसी काम का पक्ष करते। देखो महाभारत में उन के धर्मनिष्ठता, धीरता, वीरता और गंभीरतादि सद्गुणों की कैसी स्तुति है ! यदि हम एक भी उन की चाल सीखते तो लोक परलोक में कैसा कुछ आनंद होता !

२—यह पोथा फिर कभी खोलना—आज तो चलो पर्राजन (वेश्या) की तानों से कानों और प्राणों को प्रमोदित करैं।

१—क्या लज्जा की मूरत अनुसुइया (अत्रि ऋषि की पतिव्रता स्त्री) की औतार घर की अप्सरा देवी के सीठनों (ब्याह के गीतों) से तृप्ति नहीं हुई ? चलो, उसे कहोगे कि कुल परंपरा है, पर ऐसे २ गीत कि 'मिरजा परे सरग जा रे, मैं तो नागर बाम्हनी' किस कुल की परम्परा है ? रास-लीला वाले व्यभिचारोद्दीपक गीत, जिन में मजे का मजा और (हो न हो झूठ ही सही) धर्म की भी चाट है, यही क्या कम थे जो महाअपावन म्लेच्छों के साथ पूजनीय ब्राह्मणियों के इश्क के गीत गाये जायं। हाय कलियुग देवता ! वेश्या तो गावें—'चलत प्राण काया कैसी रोई' और कुलांगनाएं वह गावें ? क्या ही काल की गति है !

२—यार, सच है, मैंने भी लाला कूड़ामल के लड़के के ब्याह में एक रंडी को 'हुए दफन जो कि हैं वे कफन उन्हें रोता अब्रे बहार है' गाते सुना था।

१—फिर ले भला ! जब विवाह ऐसे मंगल कार्य में मुर्दों के गीत होते हैं तो होली में किस मनभावन गान की आशा है ?

२—हम ने जान लिया कि नाच और गाने में तो तुम जा चुके पर चलो बाहर लोगों की हा हा हू हू ही से जी बहलावें ।

१—यह शोर ही शोर तो रही गया है । देखो तो किसी काम के रहे नहीं, हल जोतने तक का तौ सलीका नहीं, तौ भी 'हम बाला के सुकुल आहिन, हम ससुर धाकर के हियां तलाये का पानी लेबे ?' 'महाराज कुछ पढ़ते हौ ?' 'का सुआ मैना आहिन ? हम तौ आहिन जगतगुरू ! हमारे पुरिखन यज्ञ कीन तीं !!!' बलिहारी—रौरे ! (कनवजियों का प्रतिष्ठा शब्द) कि विद्या के नाम तो यह बातैं पर जो कोई कह दे कि—'अविद्यो ब्राह्मणः कथम्' तो जनेऊ तोड़ने को तैयार हैं ।

२—हम तो ढैये उच्चकुल के क्षत्री (खत्री) हैं ना ?

१—ढैये हो चाहे साढ़साती हो, पर राजा साहब ! क्षत्रियत्व इसी में है कि अपने देश भाइयों की शारीरिक और मानसिक शत्रुओं से रक्षा करो । सो तो इन नाजुक हाथों से आसरा ही नहीं, हां, यह कहो कि हम मेहरे हैं, सो तो हम तुम सभी, क्योंकि सच्ची योग्यता के नाते तो ढोल के भीतर पोल, पर मुंह से सब बड़ाई कूट २ के भरी है ।

२—बाह रे गुरू ! क्यों न हो, काई कुछ कहै तुम अपनी ही राह पकड़ोगे । अच्छा ले आओ, तुम्हें बना तो दें ! और क्या, (मुंह रंग के) आए ! ये आए होली के !

१—सो सही, पर उत्तम तो यह था कि ऐसे २ कामों में सहाय देते जिन से सचमुच की सुर्खरूई होती । बाल विवाह की कुरीति उठाई होती—ब्रह्मचर्य की फिर से प्रथा चलाई होती, तौ देखते कि कैसा रंग आता है । क्या एक दिन अबीर लगवा के हनोमान जी के भाईबन्द बन गए ! जहां मुंह पर पानी पड़ा फिर वही मोची के मोची ! आए क्या सब ही ओर से गए, यह कौन किस से कहे ? यहां तो आर्यसंतानों को हिंदू, काला आदमी, बुतपरस्त, काफर, बेईमान, अधसिखिया (Half Civilized), इत्यादि अवाच्य कबीरों के सुनने की लत पड़ गई है । इन की समुझ में गाली तो खाने ही को बनी है ! जहां घर ही में जूता उछलौअल है—हम तुम्हें पोप का चेला कहैं, तुम हमें दयानन्दी गपाष्टक वाला बनाओ, फिर

भला बाहर वाले (ईसाई मुसलमान) क्यों न लथाड़ें ? अरे मतवाले भाइयो ! तुम्हें यह क्या सूझी है कि तुम शैव हो कर वैष्णव मात्र की छांह न देख सको ? ईश्वर के सच्चे प्रेमी को भी राख न लगाने के पीछे 'तन्त्यजेद्यन्त्यजम् यथा' कहो ? क्यों महाराज घटाटोप टंकार रामानुज स्वामी जी ! अर्धपुंड्र न लगावे और हाथ न दगावे पर विद्वान सज्जन हो, तौ भी वह निरा राक्षस है ? यदि श्रीमद्रामानुजस्वामी की तुम्हारी ही सी समुझ होती तो उन के उपदेश द्वारा लाखों लोगों का सुधरना सर्वथा असंभव था ! हां, मिस्टर पंचमकारानन्द साहिब से मैं डरता हू, कहीं मार न खायं ! पशु और कंटक तो बनाते ही हैं, पर इतना तो फिर कहे बिना नहीं रहा जाता कि जो 'वेद शास्त्र पुराणानि निर्लज्जा गणिका इव' हैं तो केवल आप कहते और छिप २ के मनमानी अंधाधुंध मचाने मे 'शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव' कैसे हुई जाती है ? यती जी महाराज ! जो बहुत फूंक २ पांव धरते थे उन्हों ने माहीधरी टीका देख के यह बेपर की उड़ाई कि—'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भांड़ धूर्त निशाचरा।' यह भी न सोचा कि—'अहिंसा परमोधर्म्मः', जिस के ऊपर हमारे मत की नींव है, किसी वैदिक हो का वचन है या जैनी का ? हमारे यहां के सब के सब हो यद्यपि जानते हैं कि जैनी किसी दूसरे देश से नहीं आए, चाल ढाल ब्योहार हमारा ही सा उन के यहां भी है, परंतु तौ भी—हस्तिनापीड्यमानोपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्—इस झगड़े की बात को वेद की ऋचा मान बैठे हैं ! अरे भाई ! धर्म और बात है और मतवालापन और बात है। पर तुम समझते तौ फूट और बैर तुम्हारे देश का मेवा क्यों हो जाता, जिस का यह फल है कि तुम—'निबरे की जुइया सब कै सरहज'—बन गए, अन्य देशियों की गुलामी करनी पड़ी। अस्तु, यह दुख रोना कब तक रोवें ? अब जरा स्वांगों की कैफियत सुनिए। चाहै निरक्षर भट्टाचार्य हो, चाहै कुल कुबुद्धि कौमुदी रट डाली हो, पर जहां लम्बी धोती लटका के निकले बस—'अहं पंडितं—सरस्वती तौ हमारे ही पेट में न बसती है !' लाख कहौ एक न मानैंगे। अपना सर्वस्व खो कर हमारे घाऊघप्प पेट को ठांस २ न भरै वही नास्तिक, जो हमारी बेसुरी तान पर वाह २ न किए जाय वही कृष्टान, हम से चूं भी करै सो दयानंदी। जो हम कहैं वही सत्य है। ले भला हम तौ हम, दूसरा कौन ! यह सूरत स्वामी कलियुगानंद सरस्वती शैतानाश्रम बंचकगिरि जी की, उन से भी अधिक है। क्यों न हो, ब्राह्मण—गुरु संन्यासी प्रसिद्ध ही है। जहां—'नारि मुई घर संपति नाशी मूंड़ मुंड़ाय भए संन्यासी' ! फिर क्या,

ईश्वर और धर्म के नाम मूंड़ ही मुड़ा चुके, अब तो 'तुलसी या संसार में चार रतन हैं सार । जूआ मदिरा मांस अरु नारी संग विहार' ! काशी आदि में, दिनदहाड़े बिचारे गृहस्थ यात्रियों की आंखों में धूल झोंकना ही तो लाल कपड़ों का धर्म है ! धन्य है ! जहां ऐसे २ महापुरुष हों उस देश का कल्याण क्यों न हो जाय ! भला यह रामफटाका लगाए चिमटा खटकाते कौन आ रहे हैं ? यह लंपटदास बाबा हैं । मोटाई में तो गणेश जी के बड़े भाई ही जान पड़ते हैं ! क्यों न हो—'रिन की फिकर न धन की चोट, यहु धमधूसर काहे मोंट' ! न जाने यह वे मिहनत के मालपुए कहां जाते होंगे ? यह न पूछो, जहां कोई सेवकी आई—'ह हच्छा राधाराणी, ये बड़ी भगतिण है, बोल क्या इंछा है ?'

"महाराज सन्तान नहीं होती ।'

'संतान क्या लिए बैठे हैं ?'

'हे हें बाबाजी, आप के बचनों से सब कुछ होता है । मेरी परोसिन के लड़का न होता था सो आप ही के ऐसे एक महात्मा की दया हुई, अब उस के दो खेलते हैं, आप जो करें ।"

'तेरी मणसा फलेगी रामासरे से । (हाथ देख के) संताण तो लिखी है पर किसी गिरही से नहीं दिक्खे ।'

'हे हें, फिर महाराज ?'

'अच्छा माई, विरक्त हैं पर क्या चिंता है—नर स्वारथ के कारणें संतण धरे शरीर । यह भी न सही तौ बालोपासना तो कागभुसुण्ड ऐसे महात्मा का धर्म ही है । धर्माधर्म का विचार तो किसी विद्वान को होता है, यहां तौ अपणे राम भगत ठहरे, हरे कृष्ण गोविंद जाणते हैं । और पढ़ कर क्या पंडिताइ करणी है ?' फिर पढ़े भी तो इतना कि रामायण ऐसी उत्तम काव्य से ऐसी २ बातें चुन रक्खी हैं 'राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिनहिं न पाप पुंज समुहाहीं' । फिर क्या डर है, सब के गुरु घंटाल गोस्वामीजी की और भी विचित्र लीला है । कथा बांचने के समय वुह ग्रीवां की हलन, भौंहन की चलन, अंगुरिन की मटकन, कामदानी दुपट्टा के छोरन की लटकन, मंद २ मुसिकान, बीरी का चबान, घूंघर वारे—फुलेल सों संवारे—भौंरे से कारे २ केश, मदनमनोहर वेष, किस स्त्री अथवा पुरुष के मन को नहीं

लुभाता ? दशम स्कन्ध में तो विहार वा विलास ही आदि शब्द लिखे होंगे जिन के कई उत्तम अर्थ भी हो सकते हैं, पर आपरूप उसे बहार इश्क ही (एक मसनवी) कर दिखावेंगे ! ऐसा न करें तो वह नित नए पधरावने कैसे हों, ठाकुर जी की परिक्रमा में 'अहं कृष्णाश्त्वां राधा' की कैसे ठहरे ! हाय, इन्हीं स्वांगों की बदौलत क्या २ अनर्थ हुए और होते जाते हैं, पर न जाने कब तक हमारे हिंदू भाई जीती मक्खी लीलेंगे।

२—सब को स्वांग बनाते हो, तुम किस से कम हो जो काले रंग पर भी कोट पतलून पहिन कर निरे गड्डानी ही बने जाते हो ? ऊपरी बातों की नकल और अपनी बोली में कैट पैट मिलाने के सिवा अंगरेजों का सा स्वजाति-हितैषी काम तो कोई भी न देखा। खरी कहाते हो, तुम्हारे चचा साहब दयानंदी हैं, उन्हें भी मुहीं से धर्म २ वेद २ उन्नति २ चिल्लाते पाया, करतूत कुछ भी न देख पड़ी। क्या हिंदू के बदले आर्य और सलाम प्रणाम के बदले नमस्ते कहना ही धर्म का मूल, वेद का तत्व और उन्नति की सीढ़ी है ? सच्ची बातैं चूना सी लगती हैं !

१—तुम्हारे लगती होंगी जो जग उठे, यहां तो पहिले अपनी उतार लेते हैं तब दूसरे की पर हाथ डालते हैं। पर आप निहायत सच्च कहते हैं। हम को, तुम को और सभी को अपने नाम की लाज रखना अति उचित है।

२—यार यह तो होता ही रहेगा, एकाध तान तो उड़ै।

१—हां हां, लीजिए, धी-धींता-धांता-धींता—

होली।

कैसी होरी मचाई—अहो प्रिय भारत भाई ॥
आलस अगिन वारि सब फूंक्यो विद्या बिभव बड़ाई।
हाय आपने नाम रूप की निज कर धूरि उड़ाई ॥
रहे मुख कारिख लाई ॥
आपस में गारी बकि २ कै कीन्हीं कौन भलाई।
महामूढ़ता के मद छाके हित अनहित बिसराई ॥
लाज सब धोय बहाई ॥

सर्बस खोय परे हो पर्बस तहूं न जात ढिठाई।
भावी बर्तमान दुख शिर पर ताकी शंक न राई॥
बुद्धि कैसी बौराई।
अबहूं सुन हुरिहार की बिनती तजौ निपट हुरिहाई।
सांचे सुख को जतन करौ कछु नहिं रहिहौ पछिताई॥
बीत जब औसर जाई॥

२—गाते हो कि रोते हो! तुम्हें और कुछ न आया, ले अब हमारी सुनो,

अ र र र कबीर!
जहां राजकन्यन के डोला तुरकन के घर जायं।
तहां दूसरी कौन बात है जेहमां लोग लजायं॥
भला इन हिजरन ते कुछ होना है॥ १॥
कहैं गऊ को माता तिन की दुरगति देखैं रोज।
लाज शरम और धरम करम का इन में नाहीं खोज॥
भला इस हिंदूपन पर लानत है॥ १॥

१—अरे यार, इन कोरी बातों में क्या है। देखा बहुत खेल चुके! अब खेलते २ लस्त पस्त हो चुके! तुम पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ चुका, मुंह में स्याही लगी है, अब तो स्वच्छता धारण करो, अब तो शुद्ध हो जावो! आओ हम तुम मिलें, दूसरों से भी मिलें और अपने २ काम से लगें। औरों से भी कहो, छोड़ो इन ढंगों को, इसी में सब का मङ्गल है।

धर्म ३ प्रेम ३ सब शांतिः ३
एक हुरिहार—कानपुर

खंड १, संख्या १ (१५ मार्च, सन् १८८३ ई०)

बेगार

जब हम अपने कर्तव्य पर दृष्टि करते हैं तो एक पहाड़ सा दिखाई पड़ता है, जिस का उल्लंघन करना अपनी शक्ति से दूर जान पड़ता है। सहस्त्रों विषय विचारणीय हैं, किस २ पर लिखैं और यदि लिखैं भी तो यह आशा बहुत कम है कि कोई हमारी सुनैगा। परन्तु करैं क्या ? काम तो यह उठाया है, यदि अपने ग्राहकों को यह समाचार दें कि अब गरमी बहुत पड़ने लगी, या फलाने लाला साहब की बारात बहुत धूम से उठी, या हमारे जिले के साहब मैजिस्ट्रेट, तहसीलदार साहब, और कोतवाल साहब इत्यादि धर्म और न्याय के रूप ही हैं, तो हमारा पत्र तो भर जायगा पर किसी जीव का कुछ लाभ न होगा। और यदि सच २ वह असह्य दुःख जो हम प्रजागण को हैं, वह लिखैं तो उस से लाभ होना तो बहुत दूर दिखाई देता है, पर जिन के हाथों वह असह दुःख हम को प्राप्त होते हैं वह हम पर क्रुद्ध होंगे। यही डर लगता है कि कहीं 'नेमाज के बदले रोजा न गले पड़े'। परन्तु हम भिखमंगे नहीं कि केवल ग्राहकों की खुशामद का खयाल रक्खैं, हम भाट नहीं कि बड़े आदमियों और राजपुरुषों की निरी झूठी स्तुति गाया करैं। जो हो सो हो, हम ब्राह्मण हैं, इस में हमारा धर्म नष्ट होता है और हम पतित हुए जाते हैं जो अत्यन्त दीन और असमर्थ देश भाइयों पर अत्याचार होते सैकड़ों मनुष्यों से सुनैं और फिर उसे सर्वसाधारण और सर्कार पर विदित न करैं। यही तो हमारा कर्तव्य है।

गत अंक में हम ने 'बेगारी बिलाप' लिखा था। उस का यह फल देखने में आया कि तारीख २७ एप्रिल को लाला दुर्गाप्रसाद बजाज का चुन्नी नामक कहार किसी कार्य को बाजार जाता था, राह में उस को दो तीन सिपाही, जो आदमियों के भूखे थे, मिल गए और पकड़ लिया। उन्हों ने इस निरपराधी दीन पराये नौकर को बेगार की अबाध्य अथारिटी पर पकड़ा था, उन्हें क्या डर था ? उस बिचारे बंधुए ने बहुत हाथ पांव जोड़े और गिड़गिड़ा के अपना सच्चा हाल कहा और छोड़ देने के लिये बिनती की। हे पाठकगण ! जब एक तुच्छ कहार उन से उज्र करे तौ तो उन की क्रोधाग्नि के भड़कने का

क्या ठिकाना था ! बस किसी ने खींचा, चोटैया पकड़ी, किसी ने हाथ पांव पकड़े और घसीटते हुए चौक की तरफ ले चले, फिर नहीं मालूम कि वह क्योंकर छूटा।

शोक का विषय है कि इन गरीबों को क्यों बिना अपराध ऐसी दुर्दशा के साथ पकड़ते हैं और उन को इच्छा के विरुद्ध उन से काम लेते हैं। गुलाम बनाने में और इस में क्या भेद है ? गुलाम अपनी इच्छा के बिना निरपराध बरसों परवश रह कर सेवा और टहल किया करते हैं और बेगारी लोग ठीक उन्हीं के सदृश घंटों और दिनों, बरंच कभी २ महीनों पराए बन्धन में रहते हैं।

इस बेगार का भयंकर दुःख अढ़तियों, ब्योपारियों, गाड़ी वालों, दर्जियों, राजों, कहारों आदि से पूछा चाहिए कि वे इस के नाम से कैसा थर २ कांपते हैं ? हाल में जो काबुल की मुहीम हुई थी उस के लिए सब जिलों के कमसरियट अफिसरों ने हाकिमाने सिविल से कहार इत्यादि सप्लाई करने की दर्खास्त की थी, पर लखनऊ और बरेली के सिविल हाकिमों ने, जो इस बेगार की भयङ्कर बुराइयों के जानकार थे, साफ जवाब लिख दिया था। सच है, जो उचित मजदूरी देना और किसी की इच्छा के विरुद्ध काम न लेना हो तो हर प्रकार के काम करने वाले आप से आप कमसरियट के ठीकेदारों की भांति सर्कार में एक पर एक जाके गिरैं। हिन्दुस्तान कङ्गाल देश हो रहा है, यहां मजदूरों को काम कराने वाला मिलता कहां है ? इंट्रैंस पास किए हुए बाबू लोग पंखाकुली की नौकरी करते हैं, महाजनों के अंग्रेजी पढ़े हुए लड़के तीन आने रोज की कास्टिबली करते हैं, फिर क्या मजदूर और कहार, यदि उन से पशु का सा बर्ताव न किया जाय तो, काम काज प्रसन्न मन से न करेंगे ?

खं० १, सं० ३ (१५ मई, सन् १८८३ ई०)

रिशवत

क्या कोई ऐसा भी विचारशील पुरुष होगा जो रिशवत को बुरा न समझे ? एक ने तो सैकड़ों कष्ट उठा के, मर खप के धन उपार्जन किया है दूसरा उसे सहज में लिए लेता है, यह महा अनर्थ नहीं तो और क्या है ? हमारी समझ में तो जैसे चोरी करना, डाका डालना और जुवा खेलना है वैसा ही एक यह भी है। कदाचित् कोई कहे कि चोर डाकू और जुवारी जिस का स्वत्वहरण करते हैं उस का कोई काम नहीं करते, तो हम पूछते हैं कि क्या घूस खाने वाला अपने कर्तव्य से कुछ अधिक भी करता है ? यदि करता है तो अन्याय करता है, और कुछ न सही तो अपने निज स्वामी को धोखा देता है और भोले भाले अर्थियों (गरजमन्दों) को वृथा धमकाता है और उन्हें किसी प्रकार की हानि का डर दिखलाता है। यह क्या कम अंधेर है ? बरंच चोर इत्यादि से इतनी दुष्टता और निर्लज्जता अधिक होती है कि वे डरते २ पराया घर घालते हैं और यह "उलटा चोर कुतवाले डांटै" का लेखा करता है। यद्यपि रिशवत देना भी अच्छा नहीं, क्योंकि अनर्थकारी को किसी प्रकार की सहायता देना, जिस से कि वह अपने दुष्टाचरण के लिए पुनर्बार और अधिकतर उत्साहित हो, यह भी एक अनर्थ ही है। परन्तु यह (रिशवत देने वाला) लेने वाले के समान दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह मानहानि, धनहानि आदिक के भय बिना ऐसा नहीं करता और यह सभी जानते हैं कि "आरत काह न करै कुकर्मू ।"

बहुधा रिशवत वही लोग लेते हैं जिन को अपने धर्मोपार्जित धन पर सन्तोष नहीं होता, और लोभ की अधिकता के कारण जिन्हें न्याय अन्याय का विचार नहीं रहता। और देते भी वही हैं जो या तो अपना दुष्कृत्य छिपाया चाहते हैं वा किसी को झूठा दोष लगा के पीड़ित किया चाहते हैं। अथवा यों कहो कि जिन्हें इतना साहस नहीं होता कि किसी नीतिमान सामर्थी के आगे अपना वा औरों का दुःख और दुर्गुण ठीक २ प्रगट कर सकें। सारांश यह कि नीति, बुद्धि और धर्म के यह काम निस्सन्देह विरुद्ध है।

पर हा ! बड़े खेद का स्थान है कि कुछ दिनों से हमारे देश में इस का ऐसा प्रचार हो गया है कि मूर्खों की कौन कहै पढ़े लिखे लोग भी इस

प्रकार प्रत्यक्ष पाप से किंचिन्मात्र लज्जा और घृणा नहीं करते। कितने ही सेवावृत्ती (नौकरीपेशा) लोगों के तो यह हराम की हड्डी ऐसी दांत लग गई है कि वे एक अधिक वेतन की जगह छोड़ के, मेरी तेरी खुशामद कर के, बरंच कुछ अपनी गांठ से पूज के इसी "बालाई आमदनी" के लिए थोड़े से मासिक पर नियत हो जाने ही को बड़ी चतुरता समझते हैं। हम बहुतों को प्रतिदिन ऐसी बातें करते सुनते हैं कि "कहो उस्ताद, पोस्ट तो बहुत अच्छी हाथ लगी, भला कुछ ऊपरी तरावट भी है ?"

"हां, नसीबे का है वह मिली रहता है। भला यारों की अंटी पर चढ़ा वह बिना कुछ पूजे कहां जाता है !"

जिस महकमें में देखो, जिस दफ्तर में देखो, ऐसे सत्पुरुष बिरले ही मिलेंगे जिन को इस का चसका न पड़ा हो। विशेषतः रेल पर तो रिशवत बीबी ने नौवाबी ही मचा रक्खी है। बिना कुछ चढ़ाए पिण्ड ही छूटना कठिन है। बिचारे महाजन लोग, जिन को न सर्कार से अपना दुःख कहने का साहस न आपस में एका, न कानून समझने की बुद्धि, दें न तो जायं कहां ? माल रोज ही रेल पर लदा चाहै, बाहर से रोज ही कुछ आया चाहै, फिर जल में रह के मगर से बैर करने में गुजारा है ? क्या करें, जहां राजदंड है, धर्मदंड है वहां यह समझ लिया कि एक रेलदण्ड भी सही। हमारी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रायः सभी महाजनों की बहियों में "रेलखर्च खाते नाम" लिखा मिलैगा, जो नियत महसूल से कहीं अधिक होगा।

हम वहां के बड़े हाकिमों से विनय करते हैं कि जैसे रेल के द्वारा सर्व-साधारण को और सब प्रकार का आराम दिया जाता है वैसे ही इस दुःख के निवारण का भी कुछ प्रबन्ध होना चाहिए जो कर्मचारियों के अत्याचार से इस महकमे का एक महा कलंक हो रहा है। प्रायः देखा गया है कि रेल के बड़े हाकिम अपने महकमे की बदइन्तजामी के दूर करने में और हाकिमों से अधिक तत्पर रहते हैं, इसी से यह कष्ट दिया जाता है। आशा है कि हमारे निवेदन पर बहुत शीघ्र ध्यान देंगे।

बाबू साहबो ! हम आप से भी आशा करते हैं कि आप लोग हमारे इस लेख से अप्रसन्न न होंगे, क्योंकि हमारा प्रयोजन किसी के चिढ़ाने से नहीं है और न रेल से हमारी कोई निज की हानि है, पर हां, अपने देश भाइयों का दुःख सुख ज्यों का त्यों प्रकाश करना हमारा मुख्य कर्तव्य है।

आप लोग भी तो आखिर पढ़े लिखे समझदार हैं। क्या अपने भाइयों की सहानुभूति (हमदर्दी) को आप का अन्तःकरण अच्छा न समझता होगा ? आश्चर्य है जो न समझे। हमारा काम केवल कहने मात्र का है। करना न करना आप के आधीन है। परन्तु शास्त्र के इस वचन पर ध्यान दीजिए कि "अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतंकर्मशुभाशुभम्।"

खंड १, सं० ३ (१५ मई, सन् १८८३ ई०)

दयापात्र जीव

आज हमें उस अतीव श्रेष्ठ जीव का वर्णन करना है जिस के उत्तम गुणों को सब देश के, सब श्रेणी के, सब वय के, सब मत के, सभी मनुष्य भली भांति जानते हैं। यह वह पशु है जो अपने ज्ञान, स्वामिभक्ति, धैर्य, साहस, सहनशीलता, वीरता आदि अनेक सद्गुणों में अद्वितीय है। इस जन्तु का नाम मातृभाषा में कुत्ता है। अंगरेजों में इस्की इतनी प्रतिष्ठा है कि हमारे भाई बड़े २ पण्डित, हमारे यजमान बड़े २ जमींदार, सेठ, साहूकार, महाजन, लाला लोग, बड़े २ मौलाना, बड़े २ अखबारनवीस, बड़े २ अंग्रेजीबाज, किरानी और बड़े २ बाबू लोग बड़ी २ खुशामद दरामद, भेंट पूजा करने पर भी जिन राजपुरुषों के पास तक बड़ी कठिनाई से पहुंचते हैं यह उत्तम जीव उन्हीं के बराबर बग्घी पर बैठ के हवा खाने निकलता है और प्रिय पुत्रों के समान स्त्री पुरुषों की गोद में खेलता है। हमारे प्रिय पाठक यह न समझें कि हम केवल अंग्रेजों के आदर करने से इसे आदरणीय कहते हैं। नहीं, वरंच हमारे मनु भगवान, जिन के नाते हम मनुष्य कहलाते हैं, वेद में जिन के बचनों को औषधियों का औषध लिखा है—'यत्किंचिन्मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजस्य' ऐसा कहा है, उन महर्षि की यह आज्ञा है कि गृहस्थ नित्यमेव भोजन के समय के पहिले कुत्तों का भाग निकाले। मनुस्मृति में जहां बलिवैश्वदेव का वर्णन है, 'शुनाञ्च'—यह शब्द सब से पहिले आया है। श्री गरुड़ादि पुराणों के अनुसार भी पितृश्राद्ध में श्वानबलि (कुत्ते का भाग) निकालना उचित है। हमारे आर्य भाइयों के पूज्य देवता साक्षात भगवान शिवजी के अंशावतार श्रीभैरव जी महाराज ने इसी श्रेष्ठ पशु को इस योग्य समझा है कि अष्टप्रहर अपने साथ रखते हैं। इसी जाति का एक जीव मुसल्मानों के मान्य पुरुष असहावे कहफ को ऐसा प्यारा था कि वे कयामत के दिन उसे अपने साथ बिहिश्त ले जाएंगे। जिन पुस्तकों और किताबों में बलि प्रदान और कुर्बानी चढ़ाना लिखा है, यहां तक कि नरबलि और आदमी की कुर्बानी लिखी गई, पर यह श्रेष्ठ जीव ऐसा उपयोगी समझा गया कि सब धर्मग्रंथों में इसे अबध्य ठहराया है। यदि कोई पुरुष किसी मत की धर्म पुस्तक का कायल न हो वह इस के सहस्रों गुण अपनी आंखों देख ले। इस वफादार का एक साधारण सा गुण यह है कि भयानक अंधकारमय

रात्रियों में, असंख्य प्राणनाशक पशुपूर्ण बनों में, और महा अगम्य पर्वतों और नदियों में भूख, प्यास, चोट आदि नाना प्रकार के कष्टों को सह कर बरंच कभी २ अपने प्राणों को भी खो कर यह अपने स्वामी का साथ देता है और उस की रक्षा करता है। हम निर्भय हो कर यह कह सकते हैं कि मनुष्य मात्र के लिए एक सच्चा सहायक है तो यह है। हमारे यहां के सज्जन महात्मा न्याय दृष्टि से विचार के गऊ के उत्तम गुणों के कारण उसे गऊमाता कहते हैं, हमारी समझ में लाभकारी गुणों के हेतु यदि इस का नाम कुत्ताभाई रक्खा जाय तो अत्यंत सत्य है। आदमी, जो धींगाधींगी अपने को 'अशरफुलमखलूकात' कहते हैं, उन में कोई बिरला ही सच्चा निष्कपट धर्मिष्ठ महात्मा होगा जो इस नाम के योग्य हो, पर यह पशु अपने जातिस्वभाव ही से 'अशरफुलमखलूकात' की पदवी को ग्रहण कर सकता है। इस जीव से हमारे अनेक उपकार होते हैं। उन के बदले हम जो कुछ उसका पालन पोषण और रक्षण करें सो थोड़ा है।

परंतु बड़े खेद का विषय है कि ऐसा उपकारी जन्तु बिना अपराध अत्यंत निर्दयता और पशुत्व के साथ मेहतरों के हाथ से हमारी आंखों के सामने मारा जाय और हम आर्य लोग और हमारे जैनी भाई खड़े २ देखा करें कि उसका लहू दुकान २ के आगे सड़कों पर फरियाद करता हुआ गिरे! आह! कैसी निर्लज्जता की बात है! भाइयों! क्या 'अहिंसा परमोधर्मः' केवल कहने ही मात्र को है? जिधर देखो उधर बड़े २ नाम की सभाएं स्थापित होती हैं, गज २ भर के लंबे चौड़े ल्यक्चर दिए जाते हैं, हजारों रुपये के चन्दे पर दस्तखत हो जाते हैं, पर इस शुभ कार्य में, जिस से लोक परलोक दोनों बने, कोई देशहितैषी कान तक नहीं फटफटाता!

कदाचित कोई कहे कि सर्कार से हमारा क्या वश है? तो क्या हमारे मुंह में जीभ नहीं है जो सर्कार से इतना निवेदन करें कि सरे बाजार कुत्ते न मारे जाएं। जब सर्कार ने मुंड़चिरों को इसी विचार से दण्डनीय ठहराया है कि वे रुधिर बहा के सर्वसाधारण के जी में घृणा उत्पन्न करते हैं तो क्या इस विषय में ध्यान न देगी। फिर धार्मिक लोग तो लाखों रुपये लगा के छोटे बड़े जीवों के रक्षार्थ अस्पताल और बाड़े बनवाते हैं। क्या तुम से इतना भी नहीं हो सकता कि दो चार कुत्ते, जो मुहल्ले में बिना धनी धोरी के फिरते हों, उन्हें एक ठौर बंधवा ही दो। निर्वाह उन का मुहल्ले वालों के एक २

टुकड़े से हो सकता है। हमें आशा है कि हमारे प्रिय पाठक गण इस लेख पर अवश्य ध्यान देंगे।

हे ईश्वर दयानिधे! (मे=मेरे) "यजमानस्यपशून्पाहि"—यजमानों के पशुओं की रक्षा कर। (यजुर्वेद का पहिला मंत्र)।

हमारे इस कहने को कोई अत्युक्ति न समझे, शास्त्र चिल्लाता है—
श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।

खं० १, सं० ३ (१५ मई, १८८३ ई०)

कचहरी में शालिग्रामजी

कलौ दश सहस्राणि विष्णुस्तिष्ठति मेदिनीं। तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्धं ग्रामदेवता: ।। १ ।।

यह बात लड़कपन से सुनते हैं कि कलियुग में दस सहस्र वर्ष विष्णु-भगवान और पांच सहस्र वर्ष गंगाजी पृथ्वी पर रहैंगी। पर अभी तो पांच सहस्र वर्ष भी नहीं बीते, यह क्या हुआ कि कलकत्ते में शालिग्रामजी को अदालत देखनी पड़ी और कानपुर में गंगाजी ने अमृतद्रव नाम छोड़ के चर्मवाहिनी की उपाधि धारण कर ली। कैसे खेद का विषय है कि इन दोनों बातों के कारण विशेषत: हमी लोग हैं। कलकत्ते की हाईकोर्ट के एक मुकद्मे में मुद्दई और मुद्दाअलैह के वकीलों ने श्री शालिग्रामजी की एक मूर्ति को अदालत में लाए जाने के लिए मौरिस साहिब जज से निवेदन किया, जज साहिब ने अटर्नी लोगों से। और गौरीकांत वर्मा नामक मुद्दई के कारिंदे से पूछा कि मूर्ति यहां आ सकती है? उन्हों ने कहा—हां, चटाई पर नहीं परंतु बरामदे तक आ सकती है। बेनीमाधव मुतरजिन अदालत, जो एक उच्च जाति के ब्राह्मण हैं, उन की भी इस बात में सम्मति हुई।

वाह री समझ! धन्य ब्राह्मण देवता! भला जज साहब तो विदेशी और विधर्मी थे, वह तो शालिग्रामजी की प्रतिष्ठा से अज्ञात थे, तुम्हारी समझ में क्या पत्थर पड़े कि इतना न सूझा कि जिन को ब्राह्मण लोग भी बिना स्नान किये नहीं छूते, दूसरी जाति तो दूर रही ब्राह्मणों तक की स्त्रियां स्पर्श तक नहीं कर सकतीं, उन को ईसाई मुसल्मानों के बीच में लाना कैसे उचित हो सकता है! उन लड़ाका भाइयों (मुद्दई मुद्दाअलेह) को क्या कहैं जिन को अपनी बात के हठ में धर्म जाने का भी डर न रहा! भला शालिग्रामजी कौन लाख दो लाख में आते हैं? वा किस की निज स्वाम्य (जायदात) में से हो सकते हैं जिन को अदालत में मंगाए बिना तुम्हारी नाक कटी जाती थी। क्या यही आर्यों के कर्म होने चाहिए? धिक!! इन्हीं आपस के झगड़ों में देश बंटा-ढार हो गया, अब और भी न जानै क्या होता है। खैर, जज्ज साहब की आज्ञानुसार ठाकुरजी अदालत में आए, झगड़ालुओं की बात रह गई, परंतु इस अनर्थ का फल हम भारतवासियों के आगे आया। यह तो कब संभव था कि शास्त्र जिन को प्राण प्रतिष्ठा किये बिना भी पूजा के योग्य कहता है उन की

प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई बात हो और देशानुरागी महोदयों के जी पर चोट न लगे। आखिर उसी कलकत्ता हाईकोर्ट के एक वकील "ब्रह्मो पब्लिक ओपीनियन" पत्र के संपादक महाशय से (यद्यपि मूर्ति पूजन से इन्हें कोई संबंध नहीं है) न सहा गया। इन्होंने इस वृतात को छापा। इन्हीं के लेख की (अथारिटी) पर बंगाली पत्र के एडिटर श्रीयुत बाबू सुरेन्द्रोनाथ बनर्जी ने भी अपने पत्र में लिखा। इन महाशय के लेख में ब्राह्मो पब्लिक ओपीनियन की अपेक्षा मौरिस साहब पर कुछ अधिक आक्षेप था। यद्यपि टेलर साहिब ने एक बार हाईकोर्ट के एक जज पर जैसे कठोर शब्द लिखे थे उनके देखे सुरेन्द्रो बाबू के लेख में कुछ भी न था पर वे अंगरेज होने के कारण क्षमापन मांग के छूट गये थे। हाय, हमारे काले रंग की दुर्दशा! कोई कैसा ही योग्य पुरुप क्यों न हो तौ भी इस अभागी 'नेटिव' नाम के कारण कुछ जंचता ही नहीं। हमारे बाबू साहब का क्षमा मांगना नामंजूर हुआ और हाईकोर्ट की अवमानना का दोप लगा के दो महीने के लिये कारागार भेजे गये।

प्रिय पाठकगण! विचार का स्थान है कि अपने धर्म की निंदा का हाल सुनके किस सहृदय का जी नहीं दुखता? ऐसे अवसर पर मनुष्य जो न कर उठावे सोई थोड़ा है। फिर बाबू साहब ने कौन हत्या की थी जो ऐसे कठोर दंड के भागी हों० सुरेंद्रोनाथ कोई साधारण पुरुप नहीं हैं। आनरेरी मैजिस्ट्रेट और सिविल सर्विस के मेंबर रह चुके हैं। विद्या, बुद्धि और प्रतिष्टा भी उनकी ऐसी देश भर में बहुत ही थोड़े लोगों की है० ऐसे देशानुरागी सुयोग्य व्यक्ति को ऐसी ऐसी बातों के लिये ऐसा दंड कर देने में केवल एक ही की नहीं वरञ्च आर्य मात्र की विडम्बना है। क्या यह बात महा अनुचित न हुई? निस्संदेह सबके जी पर इसका दुःख हुआ। तभी तो नगर नगर में त्राहि त्राहि मच रही है, ठौर ठौर इस विपय में सभा होती हैं। सुरेन्द्रो बाबू के पास कारागृह में हमदर्दी की चिट्ठियां पर चिट्ठियां, तारों पर तार जा रहे हैं, एक से एक धनवान विद्वान बिलला रहे हैं, पर क्या कीजिये "बलीयसी केवल ईश्वरेच्छा"। भगवान के कामों में किसी का वश नहीं है। होम करते हाथ जलना इसी को कहते हैं। कहां यह आशा थी कि ऐसा करने से पुनर्बार हमारे देवताओं की ऐसी अप्रतिष्ठा नहीं की जायगी, कहां उस देशभक्ति का यह उलटा फल देखने में आया।

हे प्रिय देशहितैपीगण! ऐसा सदा नहीं हुआ करता। इसमें भी उस सर्वशक्तिमान ने हमारे लिये कुछ भलाई समझी होगी। तुम यदि भारतमाता

के सच्चे सुपुत्र हो तो निर्भ्रम हो के देशोद्धार के प्रयत्न में लगे रहो। उत्तम जन सहस्रों दुःख उठाते हैं पर अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ते। देखो, सुरेन्द्रो बाबू वहां भी ऐसे आनंद हैं कि हमारे सुयोग्य सहकारी उचित वक्ता उनके विषय में ऐसी सम्मति देते हैं कि "ऐसा कारागार भी वांछनीय नहीं वरञ्च प्रार्थनीय है।"

खैर यह तो शालिग्राम की कथा हुई अब गंगाजी का यह हाल है कि हमारे कानपूर में एक चमड़े का कारखाना खुला है। कई दिन से उसका दुर्गंधिपूरित जल कभी २ गंगाजी में आ जाता है जिसके कारण गंगास्नान, पितृतर्पण और जलपान करने को जी नहीं चाहता और रोग फैलने का भी अधिक संभव है, पर न जाने हमारी म्युनिसिपल कमेटी किस नींद सो रही है?

खं० १, सं० ४ (१५ जून सन् १८८३ ई०)

गुप्त ठग

कपड़ा लत्ता चेहरा मुहरा देखो तो भले मानसों का सा। बातें सुनो तो साक्षात् युधिष्ठिर जी का अवतार। "झूठ बोलना और……और…… खाना बराबर है" यह जिनके तकिया कलाम हैं, "रामौराम पर" "धर्मौधरम पर" "जनेऊ कसम" "राम धै" "परमेसुर जानै" "जो तुम्हारे ईमान में आवै" "अरे भैया रुपया पैसा हाथ का मैल है, धरम नहीं तौ कुछ भी नहीं"—दिन भर यही बातैं बात २ पर निकलैंगी। गङ्गाजी के दर्शन दोनो पहर करैंगे, मन्दिर में घन्टों घन्टा हिलावैंगे, कथा में बैठे तो श्लोक श्लोक पर आँसू चले आते हैं। कोई जाने धरती के खंभ, धर्म का पुतला, प्रेम का रूप, जो हैं सो बस आप ही हैं। पर कौड़ी २ के लिए सब सतजुग वाली बातैं बिलैमान हो जाती हैं। दूकान पर आये नहीं कि "या महादेव बाबा भेज तो कोई भोला भाला आँख का अन्धा गाठ का पूरा"। अ ह ह ह ह बलिहारी २ बगुला भगत, बलिहारी! ध्यान करते देखे सो तो जाने कि ब्रह्म से तन्मय हो रहे हैं पर मछली निकली की गप। जानते होंगे कि कोई जानता नहीं, यह नहीं समझते "पापु अँटारी चढ़ि कै गोहरावत है।" भला यार लोगों से भी कुछ छिपती है! यार बुरा मानो चाहे भला पर कहेंगे वही जो तुम्हारे और सबके हित की हो। जब तक आचरण न सुधरैंगे तब तक यह सब भगतई और भलमंसी कौड़ी काम की नहीं है। अपने मुंह चाहो जो बने रहो जानि परी जब जइहौ कचहरी। 'फक्कड़ भाई यह किस पर फबतियां हो रही हैं?' दो एक थोड़ी हैं, हम कहते जांय तुम गिन चलो। पहिले चलो नाज की मण्डी। बेचारी राम तो जानते हैं भाई अच्छी सोने की चिड़िया हाथ लगी है, रुपया उधार दिया है जो मांगते तक नहीं, आओ तो कुछ नजर करैं, जावो तो कुछ भेंट धरैं, जब तक रहो आंखों पर रक्खैं, बात २ पर कहैं कि 'हमार तुम्हार घर का वास्ता है।' यह नहीं समझते कि 'बनिया का बेटा कुछ तो समझकर फिसल पड़ा।' भला रुपए की आढ़त पर यह धम २ कैसे सहे जा सकते हैं, वहां कनवां बुधिया मासा चलता है। ब्योपारी से कहा बीस सेर बिका और ग्राहक से इशारा किया 'कनवां', बस 'खग जानै खग ही की भाषा।' बिचारा गँवार ब्योपारी क्या जानै कि इस गूढ़ मंत्र का यह अर्थ है कि छंटाक रुपया तो अढ़तिया जी के बाप का हो गया। जहां कहा 'मासा' बस पौवा रुपया अलग ही अलग चित्त हुआ।

यह तो ब्योपारी का माल बेचने का हतखंडा है। जब अपना माल बेचेंगे तब बानगी और दिखाई तुलाय और दिया। 'गुरू यह तो विश्वासघात है !!' अबे चुप ! बनियई के पेंच हैं उल्लू, कहीं तुलसी सोना डालै रोजगार होते हैं।

अब घी वाले की दूकान पर देखो चलैं। गाहक के दिखाने को भंडिया पर ताजा अरण्ड का पत्ता बँधा हुआ है, मानौ अभी दिहात से आया है। जहाँ खोल के देखा, घी क्या है घी का बाबा है, आंच दिखाते ही जानोगे। 'गुरू यह पहेली सी क्या कहि गये, घी का बाबा तो मट्ठे को कहते हैं क्योंकि मट्ठे से मक्खन और मक्खनी से घी होता है'। अबे ऐसा नहीं कहते, देख तो कैसा घी धरा है। सच है, सच है, दानेदार नहीं बरुक दाने का जीव और घी का जीव एक हो गया है, तभी तो रङ्गत तक नहीं बदली। खासा भैंस का सा घी बना है। भैंस का न सही यह लेव गाय का घी है। इसमें भी गुल्लू का तेल मिला होगा। हाय ! इन रतन में जतन करने वालों की क्या दशा होगी नारायण ! चलो २ ऐसा घी खाये बिना क्या डूबा जाता है। दूध खाया करैंगे। दूध वाले ही कौन दूध के धोये बैठे हैं, वहाँ भी 'सेरुक दूध अढ़ैयक पानी। धम्मक २ होय मथानी।' की धैना है। उन्हे कुछ कम समझे हो, वह भी बकरी भेंड़ी का दूध मिला २ के एक २ के दो २ करते हैं। तभी तो घी दूध का गुन जाता रहा। हाय ! इन ठगों की खबर सर्कार क्यों नहीं लेती कि अभी दूध का दूध पानी का पानी हो जाय। सर्कार को क्या पड़ी है कि छोटी बातों में अपना समय खोवै, सर्कार को अपने लाइ-सेन्स टैक्स से काम है कि तुम्हारे धन्धों से ? फिर क्या ग्राहक लोग नहीं जानते कि राक्षसों के मारे गाय भैंस तो बचने ही नहीं पातीं घी दूध आवै कहाँ से ? ऐसी ही शरीर रक्षा करनी हो तो हिन्दू भाई यदि अधिक न हो सके तो एक गाय पाल ही लें, जिसमें शरीर रक्षा, स्वादिष्ठ भोजन और धर्म तीनों मिलैं। सर्कार से किस २ बात की शिकायत करते फिरोगे। यहाँ तो यह कहावत हो गई है कि 'पेशे में सभी चोरी करते हैं'। हलवाई की दूकान पर जाओ, सब चीज ताजी घी की बनी तैयार हैं, पर खाते ही जानोगे। जो तीन ही दिन की हो तहां तक ही कुशल समझो। सेर भर घी में पाव भर तेल मिला हो तो तब तक तो जानो बड़े ईमानदार का सौदा है नहीं तो शुद्ध एक बर्धा 'तेल गले मढ़ैगा।' अत्तार के यहां बरषों की सड़ी दवायें, सुन्दर ऊंख का शहद, खालिस शिरे का शर्बत और गङ्गा जी का अरक तो एक साधारण बात है। सम्बत् १६३६ में बीमारी बहुत फैली थी, तब बहुतेरे महापुरुषों

ने लसोरे की गुठली पर अमरस चिपकाय के आलूबुखारे बनाये थे और बड़ी कठिनाई से पैसा के तीन २ देते थे। क्यों न देश का देश निर्वीज हो जाय ? रोगी राम कहते हैं, हकीम जी की दवा से फायदा नहीं होता। फायदा कहां से हो, दवा तो यार ही लोगों के यहां से आवैगी। हाय ! यह भी तो नहीं हो सकता कि सब काम अपने हाथ ही से किये जायं। संसार में कोई किसी का विश्वास न करै तो भी तो काम नहीं चल सकता। पर विश्वास कीजिये किसका, यहां तो वही लेखा है कि 'हुशियार यारे जानी यह दश्त है ठगों का। यां टुक निगाह चूकी और माल दोस्तों का'। 'सबको ठग बनाते हो ? ऐसा न हो कि कोई बिगड़ जाय।' अरे भाई ऐसे डरने लगते तो यह काम ही क्यों मुड़ियाते ? यहां तो खरी कहना माथे के अक्षर ठहरे। कुछ हो हमसे तो बिना कहे नहीं रहा जाता कि अपने मन के धन के लिये ऐसे अनर्थ करना कि दूसरों की तन्दुरुस्ती (स्वास्थ्य) में भी बाधा लगै, केवल लोभी का नहीं बरञ्च महा अधम का काम है। इसमें परलोक ही अकेला नहीं बिगड़ता, दुनिया में भी साख जाती है। अन्य देशी लाग बेईमान बनते हैं। रोजगार जैसा सावधानी और ईमानदारी से चलता है वैसा इन अंधेरों से सपने में न चल सकेगा। हमेशा तीन खाओगे तेरह की भूख बनी रहैगी। विश्वास न हो तो जैसे अपनी रीति पर अबतक चले हो वैसे ही जी कड़ा करके कुछ दिन हमारी बूटी का भी सेवन करो तो देखो कैसा मजा होता है, कैसे २ लाभ उठाते हो। हम ब्राह्मण हैं। हित की कहते हैं। हमारी मानोगे तो धरम मूरत धरमा औतार हो जाओगे नहीं तो कोई अँगरेज सुन पावैगा तो 'डेम फूल' बना के मनवावैगा। वह मानना और तरह का होगा, बस आगे तुम जानो तुम्हारा काम जानै।

ख० १, सं० ४ (१५ जून सन् १८८३ ई०)

मार २ कहे जाओ नामर्द तो खुदा ही ने बनाया है

राम २ ! क्या मनहूसी की बात निकाल बैठे। आखिर वही हो न। मियारों के मुंह कहीं मंगल निकलते हैं ? न सूझै न बूझै मुंह में आया सो बके सिद्ध। जानते नहीं हो, हम उन लोगों के वंश के हैं जो अपने समय सारे भूगोल के शिरोमणि थे ? बस वही बाबा आदम के आगे की बातें लिये बैठे रहो "मेरे बाप ने घी खाया था न मानो मेरा हाथ सूंघ लेव"। सो तुम्हारे हाथ में रहा क्या है ? वही ढेंखुली के तीन पात ! सो भी जो यही लच्छन रहे तो कुछ दिन में देखना कि घर के धान पयार में मिल गये। फिर वही पुरानी शेखी निबुआ लोन लगा के चाटना, सो उससे होना क्या है ? मरने पर चाहे भले ही बैकुण्ठ पाओ यहाँ तो वही कौड़ी के तीन २ बने रहोगे। क्योंकि तुम्हारा तो सिद्धान्त ही यह ठहरा कि "दुनिया में हाथ पांव हिलाना नहीं अच्छा। मर जाना पर उठ कर कहीं जाना नहीं अच्छा।" वाह जी, तुम्हारे मुंह में लगाम ही नहीं है, देखते नहीं हो बंगालियों ने विद्या की कैसी उन्नति की है ? बम्बई वालों ने थोड़े दिन में कारीगरी को कैसा बढ़ाया है ? क्या यह बातें बिना हाथ ही पांव हिलाये हो गई हैं ? ह ह ह ह ! "पटानों ने गांव जीता बेहनों ने दाढ़ी फटकारी"। भला यह तो बताओ कि पश्चिमोत्तर देशियों ने क्या काट के कूड़ा किया ? इनसे तौ इतना भी न हुआ उन सच्चे देश भक्तों की कुछ सहायता करके उत्साह ही बढ़ाते। हां जबानी जमा खर्च में पक्के हैं। आपस के झगड़ों में बीर हैं। जहां किसी महात्मा ने कोई देश के हित की नई बात निकाली, जो तो आप कुछ उसे न समझे तो बस झट उसे नास्तिक किरिस्तान या दयानंदी का खिताब दे दिया। और जो कहीं जी में आ गया कि नहीं, अच्छा कहता है, तो कुछ दिन तो ऐसा मत्त चढ़ा कि कोई जाने कि अभी धरती उलटाए देते हैं, अभी सतयुग बुलाते हैं, आज सब दुःख दरिद्र हरे लेते हैं, पीछे से कुछ नहीं, फिश् ! हाथ पर हाथ धर के बैठ रहे। करम में लिखा है सो आप हो रहेगा। सो करम में यह लिखा है, बल, बुद्धि, विद्या, धन, धर्म सबको तिलांजुली दे के कोरे संठ बन बैठो, झूरे झन्नाया करो और होना क्या है ? अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने में कुछ लगता है ? कहा करो कि हम पण्डितजी हैं, हम महराज साहब हैं, हम लाला लोग हैं, हम यह हैं, हम वह हैं। होंगे अपने चेलों के लिये, अपने

यजमानों के लिये, चुटकी बजाने वाले खुशामदी मुफ्तखोरों के लिये, रंडियों के लिये, भँडुओं के लिये जो हो सो बने रहो पर भारत भूमि के लिये तो तुम्हारा होना न होना बराबर है। यदि अने गने तीन जने हुए भी तो होता क्या है, अकेला चना भाड़ फोड़ सकता है? उनकी सुनता कौन है, उनका सहायक कौन होता है? सिर पीटा करें, यार लोग अपनी बनगैली चाल छोड़ते थोड़ी हैं। यहां तो समझ लिया है कि (मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों को क्या? ऐ मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा)। फिर क्या किया जाय बाबा! जितना हो सकता है उतना करते ही हैं। बातें करते हो और करते धरते तो कुछ भी नहीं। जितना कर सकते हो उतना करते होते तो क्यों घर फूँक तमाशा देखते! देश दिन २ दीन दशा को पहुँचता जाता है। क्या सूझता नहीं कि बाप दादे कैसे बलवान होते थे कि उनमें साठा सो पाठा की कहावत प्रसिद्ध थी और तुम बीसा सो खीसा हो जाते हो! इसमें क्या करें, यह युग का प्रभाव है। अभी तो वह दिन आने वाले हैं जब बित्ता २ भर के आदमी होंगे। जो यही समझ बनी रही तो बित्ता २ भर क्या है, अंगुल २ भर के होने लगेंगे। अरे भाई, यह बाल्य विवाह का प्रभाव है, वीर्य रक्षा न करने का प्रभाव है, इसमें युग विचार का क्या दोष है? ह ह रे गुरू, लाए न वही दयानन्दी बातें! और क्या, ऐसा तो कहो ही गे। अच्छा इसे जाने दो, दिन २ दरिद्र बढ़ता जाता है, उसका क्या बंदोबस्त करते हो? यही कहोगे कि रोजगार तो करते ही हैं। पर तुम्हारे रोजगारों से पूरा नहीं पड़ता। रुपया जहाजों में लदा विलायत ढोया चला जाता है। जब तक उसके रोकने का यत्न न होगा, जब तक दूसरे मुल्कों से यहाँ रुपया न आवेगा, तब तक इस रूई बीया कपड़ा आदि बेचने या ब्याज खाने से क्या होना है, "टटकन ते कहूँ गाजैं टरती हैं?" तुम मेहनत करते मर जाओगे, कहीं कोई अँगरेज बहादुर नई चीज निकालेंगे, सब लैया पुंजिया समेट के ले जायेंगे। "तेली जोड़ै परी २ मेहमान लुड़कावै कुप्पा" की कहावत हो जायगी। बहुतेरों को बहुत ठौर सुना कि फलानी कल मंगाते, ढिकानी कम्पनी स्थापित करते हैं, यह कारखाना खोलते हैं, वह कारीगरी फैलाते हैं, अन्त को वही हिन्दुस्तानी घिस २। इसी पर क्या है, अभी कल की बात है कि गोरक्षा के निमित्त कैसी अररर मची थी। जिस समाज में देखो, जिस नगर में देखो, गोरक्षा के बिना हमारा धन धर्म बल वैभव सब निष्फल हुआ जाता है। सर्कार से निवेदन करेंगे, हाय हमारी गऊ माता को बड़े दुःख हैं। सर्कार भी न सुनेगी तो गोरक्षिणी सभा करेंगे; बड़ी २ गोशाला बनवावेंगे। धिक्कार है हमारे हिन्दूपन को, हमारे जात्यभिमान

को, मनुष्यत्व को। बेशक २, हम सब कुछ कर सकते हैं। निस्सन्देह हम सब कुछ करेंगे। फलाने श्रुति, स्मृति पारङ्गत पण्डितराजजी ने यह व्याख्यान दिया। अमुक बंश के दीपक लाला फलाने मल ने इतने हजार रुपये देने के लिये दस्तखत किये। यह होगा, वह होगा। आखिर में देखा तो "यह भी न हुआ वह भी न हुआ।" जब जी लगा के, एक मत हो के सब यह समझ ले कि "देहम्वा पातयें कार्यम्वा साधये" सो बातें यहाँ गूलर का फूल हो रही हैं। फिर कुछ हो तो क्यों कर हो। करना धरना तो दूर रहा, बहुतेरे तो ऐसे पड़े हैं जिनको देश के हिताहित के विषय की बात तक सुनने की फुर्सत नहीं है। फिर भला ऐसों से क्या आसरा किया जाय? हमने भी समझ रखा है, जैसे वे आलस्य के लतिहल हैं तैसे हम बकने के आदी हैं। उनका यह मत है कि "शतम्वद एकन्नमन्ये"। हमारा यह सिद्धान्त है कि टेढ़ी-सीधी सुनाए जाओ, गाए २ ब्याह होता है, क्या अजब कि कभी राह पर आ जायँ। शायद कभी आंख कान होंय कि हम क्या थे, क्या हो रहे हैं, क्या करें। आगे जैसा होगा वैसा देखा जायगा पर आज तो हमें यही जान पड़ता है कि मार २ कहे जाओ नामर्द तो खुदा ही ने बनाया है।

खं० १, सं० ५ (१५ जुलाई सन् १८८३ ई०)

देशोन्नति

मुसल्मानों के आने से पहिले हमारे देश में मुक्ति ऐसी सस्ती थी कि वे परिश्रम जो चाहे लूट ले। वही मुक्ति जिसके लिए बड़े २ रिषीश्वर जन्म भर बनों में तपस्या करते २ मर जाते थे, जिसके लिए शास्त्र में लिखा है कि "मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान विषवत्त्यज", वही मुक्ति जगन्नाथ जी के मन्दिर (जहां दीवारों पर ऐसी निर्लज्ज मूर्तियां बनी हैं कि होली की कबीरों को मात कर दें) में ही आने मात्र से मिल जाती थी। इसकी भी सामर्थ्य न हो तो "गंगत्यद्दर्शनान्मुक्तिः"। इसमें भी जो अलसाय तो किसी मत का दस पांच श्लोक वाला स्तोत्र पढ़ डालो, बस "मुक्तिर्भवति वै ध्रुवम्"। यह भी न सही तो "चारक नाम लेत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।" खैर इन बातों से किसी की कुछ हानि नहीं होती, पर यार लोगों ने हद्द कर दी कि "मद्यम्मासञ्चमत्स्यञ्च मुद्रा मैथुनमेव च" तक को मुक्ति का साधन लिख मारा। कहां तक कहें, ऐसा किसी चाल चलन का कोई पुरुष न था जो कहीं न कहीं, किसी न किसी महात्मा के वचनानुसार मुक्ति का भागी न हो। हमारा प्रयोजन किसी मत पर आक्षेप करने से नहीं है। क्या जाने किसी ने अपने चेलों वा लड़कों को चिट्ठी भेजी हो कि "मैं गयावाल जी की कृपा से वा भैरव स्तोत्र के फल से मुक्त हो गया, यहां सत्यलोक में आनन्द से हूं"। पर हमारी समझ में नहीं आता। क्योंकि शास्त्र देखने तथा विचार करने से यही सिद्ध होता है कि मुक्ति का परम साधन दुष्कर्मों का त्याग और परमेश्वर में सच्चा प्रेम है और मुक्ति का लक्षण सब दुखों से छूट जाना है। यदि शास्त्र सच्चा है तो इन ऊपर लिखे उपायों को शेखचिल्ली की बातों के सिवा क्या कहा जाय ?

ठीक मुक्ति ही की सी दशा आजकल देशोन्नति की देख पड़ती है। घर में देखो तो जो लाला कहैं "अरे तीण बजे से गङ्गा न्हाण क्यू जाय है" तो ललाइन आपे से बाहर हो के उत्तर दें "मैं अपणा सिर फोड़ गेरुंगी, देखो तो, धरम करम ने रोकै है।" इधर पण्डित जी आज्ञा करैं "कुछौ पढ़ा करौ" तौ पण्डिताइन खांय फेकरौं करके कहैं "काहे का अरिष्ट च्यातत हौ, बैलायगे हौ का ? कतौं मेहरियौ पढ़ती हैं ?" हमैं ऐसे देशोन्नत्यभिलाषियों पर आश्चर्य आता है कि अपने घर की उन्नति किस

किसते पर किया चाहते हैं ? बहुतेरे बाबू लोगों की दशा प्रतिदिन देखने में आती है कि परमेश्वर की दया से बुड्ढे होने आए हैं पर यह ज्ञान नहीं है कि किससे कैसे बर्तना चाहिए। विद्या तो दूर रही, बातचीत का यह हाल है कि जो अशुद्ध फशुद्ध दो चार शब्द अपनी भाषा के बोलेंगे तो बीस बड़े २ कर्णकटु अलफ़ाज अरबी अंगरेजी के, अपनी लियाकत दिखाने को, उसमें घुसेड़ लेंगे। बुद्धि की यह दशा है कि केवल नागरी जानने वाले ग्रामीण भाइयों के साथ बोलने में अपने को शेखसादी अथवा शेक्सपियर का नाती ज़ाहिर करेंगे। स्वभाव जैसा बीस बरस पहिले था वैसा ही अद्यापि वर्तमान है। गाँजा भाँग का प्रण संध्योपासन से अधिक निबाहेंगे, लावनीबाजों के फटके पर बड़े प्रेम से हँस २ के खड़े २ धक्का खाते हुए घंटों सुना करेंगे, अपनी हिस्ट्रीदानी दिखावेंगे तो ऐसी कविता करेंगे (रूसी हैं मुच्छ जिनकी मना २ हाथ की मुच्छ)। संपेड़ के नाच में रात भर खड़े रहेंगे, शतरञ्ज में दो दो पहर गँवा देंगे, दिवाली में आठ २ दिन कर्ज काढ़ के सोरही में आठों पहर मगन रहेंगे, होली में मित्रों पर एक पैसे का रंग छिड़कने के समय सभ्यता की आड़ में जा छिपैंगे, पर दिन को कचौरी और रात को भांड़ों की महफिल में बैठे हैं, हा हा हा हो हो हो करने में बीर बन जायँगे। आप दूसरों को बेवकूफ, बेईमान, पाप बनावैंगे पर दूसरा कुछ कहे तो अपने टटेर ऐसे हाथ पावों की ओर न देख कर लड़ने को तैयार हो जायेंगे। किसी की कोई वस्तु माग लावैंगे तो हजम कर रक्खैंगे या बरसों में अस्त-व्यस्त करके सत्रह कोने का मुँह बना कर फेरेंगे। अपनी चीज माँगने पर, जिसे परम मित्र कहेंगे उससे भी, झूठे वे सिर पैर के सौ बहाने गढ़ैंगे। कहां तक कहैं, जितनी सत्यानाशी बातें हैं सब करेंगे पर देशोन्नति देशोन्नति चिल्लाते फिरेंगे। इन पाँचवें सवारों से कोई पूछे कि कुछ अपनी उन्नति भी की है कि देशोन्नति ही पर मरे जाते हो ?

लोग किसी समाचार पत्र अथवा किसी समाज के सम्बन्धियों को उन्नति-कारकों की नाक समझते हैं, और हैं भी यों ही, क्योंकि ऐसों को इस बात का अधिक पक्ष होता है। सच पूछो तो इनकी शोभा, इनका मुख्य कर्तव्य, इनका परम धर्म ही यही है। पर किया क्या जाय, कुत्ते की पूँछ सीधी तो होगी नहीं। ऐसे लोग बकबक छोड़ के करेंगे क्या ? पत्र सम्पादक वा पत्र प्रेरक होंगे तो किसी नीच प्रकृति अमीर की खुशामद के मारे सबके बैरी बनेंगे, वा किसी पुरुष पर दुलत्तियाँ झाड़ैंगे। यह भी न करैंगे तो किसी सहयोगी से रंड़हाव

पुतरहात्र नांध लेंगे। ग्राहक होंगे तो पत्र लेते रहेंगे, दाम देने के समय पेट पर हाथ फेर के 'आतापी भक्षितो येन वातापी च महाबलः' पढ़के बैठे रहेंगे। कोई जल भुन के नादिहंद लिख बैठेगा तो प्रभु प्रान लगेंगे। समाजों के म्यम्बर होंगे तो या तो दूसरी सभावालों के गुण में भी दोष लगावेंगे या अहंकार के मारे अधिकारी बनने की धुन में आके अपने ही यहाँ वालों का चित्त फाड़ेंगे। भला ऐसों के किए देशोन्नति होनी है? कभी नहीं, कदापि नहीं, त्रिकाल में नहीं। देशोन्नति के लिए और ही सिद्ध मंत्र हैं, वह और ही दिव्यौषधी है।

इसका एक मात्र परम साधन क्या है? इस विषय में आजकल 'जै मुंह तै बातें' हो रही हैं। कोई कहता है धर्म २ चिल्लाये जाओ, देशोन्नति हो जायगी। कोई समझे हैं धन के बिना देशोन्नति कैसी? बिलायत यात्रा, यंत्र निर्माण, महत्कार्यालय स्थापन करनादि के बिना क्या होना है। किसी का सिद्धांत है कि बल के बिना देशोन्नति असंभव है। बाल्य विवाह उठे बिना, विधवा विवाह हुए बिना त्रिकाल में कुछ नहीं होना। किसी का मत है 'विद्या विहीनः पशुः'। दूर देश जाके विद्या पढ़ी, बड़ी २ पाठशाला स्थापित करी इत्यादि २ यही देशोन्नति के मूल हैं। पर हमारी समझ में और प्रत्येक सहृदय पुरुष के विचार में देशोन्नति तो बड़ी बात है, सचमुच आत्मोन्नति तथा गृहोन्नति भी इन ऊपर वाली बातों से होनी कठिन है। हाँ उन्नत अवस्था में यह धर्मादिक सर्व बातें सहज साध्य होकर, शाखा प्रशाखा एवं हस्तपादादिक की भाँति, उन्नति के चिन्ह मात्र तो बन जाती हैं पर उन्नति का मूल, उन्नति का जीवनास्ति दशा और प्रलयंगतावस्था में उन्नति का सृजक तथा पुनः प्रकाशक केवल प्रेम है। प्रेम के बिना कभी, कहीं, किसी प्रकार, किसी की उन्नति न हुई है, न होगी, न होती है। प्यारे देशोन्नत्याभिलाषीगण! यह न कहना कि अच्छी सबसे निराली तान अलाप रहे हैं। नहीं, रामायण खोल के देखिये, भगवान रामचन्द्रजी दण्डकारण्य को कोई सेना, कोई कोत लेकर न गये थे। सीता वियोग जनित दुःख के कारण बुद्धि भी कदाचित ठिकाने न हो (देह धारी मात्र को घोर दुःख में विद्या भूल सी जाती है, बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती)। बाह्य धर्म के निर्वाह की सम्भावना नहीं है क्योंकि 'मार्गे शूद्रवदाचरेत' नीति में लिखा है। पर हाँ वह प्रेम शक्ति ही थी जिसके बल से हमारे उस पूज्यपाद ने निरे बनचरों को अपना बना लिया। लोक रावण ऐसे शत्रु पर विजयी होकर पुनः साम्राज्य श्री को हस्तगत

किया। इधर महाभारत का अवलोकन कीजिये। एक से एक धर्म तत्वज्ञ, एक से एक महारथी योधा, एक से एक राज राजेन्द्र, केवल भ्रातृस्नेह के बिना, बाहरवाला कोई न मिला तो, आपस ही में ऐसे कट मरे कि आर्यावर्त का बटाढार कर दिया। क्या हास्यास्पद वह पुरुष है जो वृक्ष के मूल का सेवन न कर के डाल २ पत्ती २ में जल छोड़ता फिरता है। भला वह पुष्ट होगी कि और सड़ जायगी! क्या प्रेम के बिना धर्म धनादिक कभी हो सकते हैं? यदि हो भी गये तो स्थिति उनकी कै दिन? न जाने लोग मुख्य तत्त्व की ओर क्यों नहीं ध्यान देते, नहीं तो धर्म धन बल विद्यादि प्रेम के बिना हैं ही क्या? शास्त्रमें लिखा है 'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। वह अभ्युदय कब होगा? तभी न जब पंडित महाराज की विद्या, ठाकुर साहब का बल, लालजी के रुपये, महतोभाई के हाथ पांव परस्पर एक दूसरे के कार्य साधन करेंगे? चारो एकत्रित कब होंगे? जब सबके अन्तःकरण प्रेम से पूर्ण हो जायेंगे। नहीं सब बातें तो सब किसी को प्राप्त होती ही नहीं हैं। वह अपनी पोथी चाट लिया करें, वह अपनी अशरफी गला के पी जाया करें। किसान तो तुच्छ जीव है, उसका उगाया अन्न वे पृथ्वी के शिरोमणि कैसे खायेंगे? उसकी भी बला से। उसने अपने परिश्रम से जोता बोया है, तुमको क्या? ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध है कि सांसारिक अभ्युदय क्या जीवन जात्रा भी प्रेम बिना असम्भव है। रही निश्रेयस सिद्धि, सो उसके लिये भी सब ओर से चित्तवृत्ति एकत्र करके ईश्वर में लगाना भी प्रेम ही है। यदि पोथियों को सच्चा मानो तो मरणान्तर जीवात्मा का ईश्वर में मिल जाना भी प्रेम ही है। साराश यह कि यदि 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' है तो प्रत्येक देशोन्नतिकारक को मान ही लेना पड़ेगा कि 'प्रेम एव परोधर्मः'। अब कहो आस्तिकजी! जिसने परम धर्म का त्याग किया उसको भी सुख मिलना कहीं लिखा है? अधर्मी का भी मनोर्थ कभी सिद्ध होता है? धन के लिये लाख सिर पटका करो, अकेले विलायत जाओगे, भूखों के मारे रमाबाई की सी दशा होगी (वह वहां जा के ईसाई हो गई)। अकेले कारखाना खोलोगे (किसी की सहायता न लेना) घर फूँक तमाशा देखोगे। फिर क्या ही देशोन्नति होगी! विद्या के लिये गुरूजी से प्रीति न करना, चौदहो विद्या आ जायगी। बल के लिये अखाड़े वालों से जली कटी कहना, सब कसरतें सीख जओगे। बिरादरी वालों को सस्नेह समझाने की क्या आवश्यकता? संतान युवा हो पूर्णोन्नत जाति में ब्याह देना। देशोन्नति तो घर की लौंड़ी है। कहने की सौ बातें हैं पर समझे रहो कि (करनी सार है कथनी खुवार है)। बड़ी

बड़ी सभा, बड़े २ लेक्चर, बड़े २ मनोरथों से कुछ न होगा। सब बातों की उन्नति कुछ करने में ही होगी, और करना धरना सामर्थ से अधिक हो नहीं सकता। फिर कहिये तो कौन सी सामर्थ एतद्देशियों में रह गई है जो हमारे सह व्यसनी महोदय बड़े २ बंधान बांधा करते हैं? महा परिश्रम करने पर भी यह सम्भव नहीं है कि सर्व साधारण में कभी पूर्ण रीति से विद्यादि सब सद्गुण एक साथ हो सकें, और यदि किसी में कोई योग्यता हुई भी तो उस का ठीक बर्ताव न हो सकेगा। देखो राजर्षि भर्तृहरि जी क्या कहते हैं—"विद्या विवादाय धनन्मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दाताय च रक्षणाय॥" साधु वही है जो धर्म साधन करे, और धर्म का लक्षण ऊपर वर्णित हो चुका है।

अब कौन कह सकता है कि सच्चा धर्मिष्ठ अर्थात् प्रेमी हुए बिना कोई अपनी विद्यादि से किसी का उपकार कर सकेगा। अतएव सबके पहिले प्रेम शाखा विस्तृत करना चाहिये। उसके प्रभाव से सब सुख साधिनी बातें स्वतः हाथ आ जायँगी। नहीं तो यह सब कोई जानता है कि "कलि में केवल नाम अधारा।" एक माला लेके देशोन्नति २ रटा करो- जैसे सब मतवाले "दुःखेच सुख मानिन." हो रहे हैं वैसे देशहितैषी भी अपना अमूल्य समय खोया करें। आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से प्रिय पाठक चौकन्ने हुए हों कि कहाँ तौ अभी उन्नति का मूल प्रेम को कहते थे, कहाँ सब मतावलंबियों पर कह बैठे। इस असम्बद्ध प्रलाप से क्या है? महाशय, देशोन्नति का बड़ा भारी बाधक तो मत ही है। जब तक उसका भ्रम जाल लगा है तब तक सुख स्वरूप प्रेम देव से भेंट कहाँ? किसी मत का अगुवा कब चाहेगा कि मेरे अतिरिक्त दूसरे की बात जमे। कौन न चाहता होगा कि मनुष्य मात्र मेरे चेले होकर अंध भेड़ की भाँति मेरे पीछे हो लें? कौन दूसरे मत के लोगों की निंदा नहीं करता? कब कहाँ कौन अपने साथियों को छोड़ दूसरों की किसी प्रकार की बढ़ती देख सकता है? क्या इन लक्षणों से किसी देशी भाई के हित की आशा हो सकती है? सच तो यों है मत शब्द का अर्थ ही नास्ति "नेस्ती व मनहूसी" का बाचक है, इसमें क्या तत्त्व? यद्यपि सभी मतमतांतर के ग्रन्थों में लोगों के फुसलाने के लिये थोड़े से बुद्धिमानों के सिद्धान्त, जैसे ईश्वर की भक्ति, जीव पर दया, सहबासियों से प्रीति, सत्य भाषणादि सत्कर्मों का सेवन, चोरी, जारी आदि का त्याग इत्यादि २ तो लिखे हुए पाए जाते हैं और वास्तव में यह माननीय हैं, पर इन्हीं के आगे-पीछे झूठे लालच के साथ थोड़ी सी

बे सिर पैर की अंड-बंड बातें ऐसी मिलाई गई हैं जिनके कारण बिचारे सीधे-साधे विश्वासी, बुद्धि की आँखों में पट्टी बाँध कर, तुच्छ २ विषयों के लिये, स्वदेशियों से जुतहाव किया करते हैं। क्या ही अच्छी बात होती यदि हमारे आर्यसमाजी भ्रातृगण समझ लेते कि प्रतिमा पत्थर तो है ही, हमें एक पत्थर के लिये सर्वदा मान्य देश गुरु पंडितों को पोप कहके चिढ़ाने तथा अनेक कामों में परस्पर सहायता करने के बदले उनको अपना बुरा बनाने की क्या पड़ी है ?

ऐसे ही ब्राह्मण देवता विचार लेते कि मूर्ति तो साक्षात् ईश्वर की प्रतिमा है; और ईश्वर न प्रशंसा से प्रसन्न होता है न निंदा से रुष्ट होता है। अथवा वुह आप समझ लेगा, हमें क्या प्रयोजन है कि एक वेदावलम्बी भव्य युवक समाज को गाली दे देकर विरोध का मूलारोपण करें। यद्यपि वेद, धर्म और ईश्वर को दोनों मानते हैं, देशोद्धार दोनों को अभीष्ट है पर प्रेमतत्व न जानने से, मत के आग्रह के मारे, गोस्वामी तुलसीदासजी के इस बचन का उदाहरण बन रहे हैं कि 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ये नहिं बोलहिं बचन सम्हारे।' हम नहीं चाहते कि किसी मत विशेष के गुण दोष दिखाकर इस लेख को आल्हा का पंवारा बनावें, पर इतना तो चिता देना चाहते हैं कि सिवा कोरी बकवाद के और सत्यानाश का मूल परस्पर विवाद के, मत से कोई आशा मत करो। इन में कुछ भी सार होता तो क्यों दुष्ट यवन हमारी नाना जातना कर डालते और एक से एक उदरम्भर कान फूंकने वाले गुरु, एक से एक मारण मोहन करने वाले ओझा, एक से एक प्रचण्ड चामुण्डा और भयानक भैरवादि, जिनके पीछे हम ईश्वर से विमुख, देश भाइयों से विमनस्क हो गए, कोई कुछ न कर सका ? करता कौन ? विपत्ति में तो एक धर्म ही सहायक होता है। उस धर्म को हमने धर्माभास से बदल डाला। प्रत्यक्ष से बढ़ के कौन प्रमाण है ? यदि यह मत धर्म होते तो हमारी रक्षा न करते ? अब देशोन्नत्याभिलाषी सज्जन समूह स्वयं विचार देखें कि यह धर्म मंतव्य है ? पर हां यह अपने ही हैं अतएव प्रत्यक्ष में इनकी निंदा न करनी चाहिए, बरंच जिधर अपने सहवर्तियों को अधिक रुचि हो उधर का सा अपना भी रंग ढंग बना रहे, जिस में कोई घृणा करके व्यर्थ में सामाजिक प्रेम पथ का अवरोधक न बन जाय। पर अन्तःकरण से किसी मत का कट्टर (orthodox) कदापि न बनना चाहिए। क्योंकि जो सच्चे जी से स्वदेश का हित चाहते हैं उनका तो प्रेम पन्थ निरालोई है। उस धर्म के अनुष्ठान की बिधि

तो हमसे पूछो। सबसे पहिले देश भक्त को चाहिए कि दत्तचित्त होके अपनी उन्नति करे। उसके लिए मूल मंत्र तो बस यही है कि आलस्योहि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। यह कोई दुःसाध्य बात नहीं है। केवल थोड़े दिन कुछ अड़चल सी तो जान पड़ेगी पर कष्ट किंचित भी न होगा। जी कड़ा कर के नित्य कृत्यों का समय नियत कर देने से सब हो जायगा। तदनंतर हाथ पाव की भांति विचारशक्ति से भी काम लेते रहना चाहिए। इसके लिए भी केवल इतना ही कर्तव्य है कि प्रत्येक छोटे बड़े विषय में, जहां तक बुद्धि दौड़ सके, सोच लिया करे कि अमुक बात में जु यों होगा तो क्या होगा, यों होगा तो क्या होगा, बस। अपनी हानि लाभ कौन नहीं समझता। जिस में कुछ भी हानि देख पड़े उस काम को छोड़ दे। पर हाँ कोई ऐसा काम अवश्य करता रहे जिसमें अपने को वा पराए को अति कष्ट न हो और निर्वाह मात्र के लिए धन मिलता रहे तथाच किसी दशा में आय से अधिक व्यय न होने दे, नामवर व अमीर बनने के लालच में न फंसे और ऐसा धन्धा न मुड़ियावे जिस में दिन भर छुट्टी ही न मिलती हो। बारह घंटे दिन में जिसे न्यूनातिन्यून दो घंटे भी अवकाश नहीं रहता उसे हम मनुष्य कहने में हिचकिचाते हैं। उस छुट्टी के समय संसारी झगड़ों को छोड़ ईश्वर का भजन तथा निर्दोष जी बहलाव भी अवश्य ही चाहिए। निरदोष मन बहलाव से हमारा प्रयोजन है जिसमें धन बल और मान की हानि न हो। अनेक विषय की पुस्तकें (विशेषतः कविता और नीति की, क्योंकि पहिली सहृदयत्व की जननी है दूसरी बुद्धिबर्द्धिनी हैं) देखना, बाटिका तथा मैदानों में घूमना, गाना बजाना, उछलना कूदना इत्यादि जिसमें अधिक रुचि हो करना। पर शारीरिक व्यायाम, चाहे बिना रुचि भी हो, अवश्यमेव करना। कैसी ही दशा में चिन्ता को पास न फटकने देना चाहिए। सब प्रकार के, सब श्रेणी के, सब वय के, सब मत के लोगों की संगति करना पर उनके अनुगामी न हो जाना। अपने शरीर स्थान बाणी वस्त्र इत्यादि को ऐसा न रखना जिससे किसी को घृणा उत्पन्न हो। ऐसे २ और भी बहुत से काम हैं जो विचार शक्ति आप सिखा देगी, निरालसित्व और जिंदादिली आप करा देगी। उनको करते रहने से, थोड़े से काल में, आत्मोन्नति अपनी मिति तक पहुंच जायगी। रही गृहोन्नति, उस के लिए केवल इतना ही कर्तव्य रह जायगा कि अपने कुटुंबियों, आश्रितों तथा सहवासियों से ऐसे बर्ताव रखना जिसमें वे लज्जित, भयभीत, विरक्त न होने पावें। पर आप भी उनसे ऐसा न रह के मित्र भाव से रहना चाहिए। जिसके साथ निष्कपट हो के अपनपौ का व्यवहार किया जाता है वुह कुछ दिन में निश्चय

अपना हो जाता है। फिर जब तुमने उनको अपना अभिन्न हृदय बना लिया तो बस घर वाले एवं पड़ोस वाले, तुम्हारे सच्चे सहानुभावक, सच्चे सहायक, सच्चे आज्ञाकारी बन जायंगे। स्मरण रहे कि आत्मोन्नति के नियम न टूटने पावें तो गृहोन्नति कुछ बहुत कठिन नहीं है। और जो इन दोनों की उन्नति में पूर्ण समर्थ है अकेला वही देशोन्नति के लिए कटिबद्ध हो सकता है और कृतकार्य्य हो सकता है। क्योंकि हम कह चुके हैं कि प्रेम ही सब उन्नति का मूल है। जिसने अपनी देह एवं गेह से प्रेम कर लिया उसे अब प्रेम का अभ्यास हो गया। और प्रेम का अभ्यासी अपने कार्य्य सिद्धि में तथा दूसरों को अपने ढंग का बना लेने में पक्का होता ही है। जो दूसरों को अपना सा कर सकता है वुह एक देश क्या जगत् को थोड़ी कठिनता से समुन्नत कर दे।

खं० १, सं० ६, ७ (१५ अगस्त, सितंबर सन् १८८३ ई०)
खं० २, सं० २,५,६,६,१०(अप्रैल, जुलाई, अगस्त, दिसंबर सन् १८८४ ई०)

मस्ती की बड़

रामहि केवल प्रेम पियारा।
जानि लेहुं जो जाननहारा॥

वाह रज्जा वाह ! धूम है तुम्हारी ! क्यों न हो, तुम भी एक ही हो। जब कि बड़े २ पुराने खुड्ढ तुम पर मोहित हो जाते हैं, बड़े बड़े भगत् तिलकधारियों के मुंड्ड, तुम्हारी चिकनी चुपड़ी बातों में आके, दीन दुनिया दोनों के खिलाफ़ काम कर उठाते हैं, बड़े२ पोथाधारी तुम्हारी खातिर के मारे अपना धरम करम सब हाथ से गवां बैठते हैं, तो क्यों न कहिए कि तुम में मोहिनी है। वाह, तुम्हें कोई हमारी आंखों से देखे ! क्या हुवा जो समय के फेर फार में तुम ज़माने की आंखों से उतर गये हो, पर हमारी आंखों के सितारे तो फिर भी तुम्हीं हो "अपनी नजरों में तो हो रश्के गुले खंदां तुम, खूब रु चश्मे खयाल में नहीं चंदां तुम"। कुछ परवा नहीं, दुनिया हमें थूके, सब भाई बिरादरी हमें नक्कू बनावें पर, "जाने मा हम तो तुम्हारे हो चुके"। पर हाय ! तुम ने हमारी कुछ कदर न की। देखो, हमारी रोज़ी तुम्हारे पीछे गई। हमारी पुरानी इज्ज़त तुम्हारे लिए धूल में मिली। पर तुमने गैरों की खुशामद न छोड़ी न छोड़ी। मेरे प्यारे ! याद रहे कि फिर भी हमीं तुम्हारे हैं। उन लोगों के बहुतेरे साथी तुम्हें धोबी का कुत्ता बनाते हैं। क्या फिर भी तुम उन्हीं की गुलामी करोगे ? क्या फिर भी तुम हमसे फटे २ फिरोगे ? फिर भी तुम हमारे दीन दुनिया की जड़ काटोगे ? ऐसी उम्मैद तो न थी। देखो जले पर कहते हैं, यह बातें अच्छी नहीं हैं। क्या हुआ हमने कुछ न कहा, पर "सुन तो सही जहां में है तेरा फिसाना क्या। कहती है तुझ को खल्क़े खुदा ग़ायबाना क्या"। देखो बहुत थू थू न कराओ। याद रहे कि धरम की जड़ पाताल में है। जैसे हम अपने धरम में कायम हैं कि "इन जफ़ाओं प वफा करते" ऐसे तुमको भी "आशिक प अपने लुत्फ़ों इनायत चाहिए"। शिव शिव ! हम भी कैसे नादान हैं कि तुम्हारे सब ढंग जानते हैं फिर भी तुम्हीं पर मरे धरे हैं। तुम को तो क्या कहें जो इतने बड़े हुए पर अपना पराया न समझे। न जाने वे तुमको कौन सी गद्दी सौंपे देते हैं जो उन्हीं के बने जाते हो। मुंह से वे भी राजा राजा कहते हैं, हम भी। माना कि जब तुम कुछ न

थे तब उन्होंने तुम्हारे साथ सलूक किया था, पर यह तो सोचो कि तुम हो किस्के ? आखिर हमारे ही न। बड़ा ताज्जुब है कि फिर क्यों तुम में जिंसीयत की तासीर कुछ भी नहीं है। नहीं नहीं, तुम एक छंटे मतलब के यार हो। हम जानते हैं कि "बनिया किसी घात ही से गिरैगा"। पर ऐसी घात दो कौड़ी का क्या "नकटा जिया बुरे हवाल"। खैर अब भी कुछ नहीं हुआ है दिन भर का भूला रात को घर आवे तो उसे भूला नहीं कहते। बस अब बिगड़े प क्या बिगड़ैगी। लो जाने दो, मिल जाओ। कसम लो हमसे अगर य भी कहें, "क्यों, हम न कहते थे ?" सुनते हो, वह कोई समझदार दीनदा बान्दा के धनी नहीं हैं जो मुंह पर तुम्हारी हां में हां मिला देते हैं। यकीन रक्खो कि वे जिस्को कुछ तरहदार पाते हैं ऐसे ही बन जाते हैं। उन लोगों के यारों का कुछ ठिकाना नहीं है। ये निरे "पण्डित सोइ जो गाल बजावा" में से हैं। वह तुम्हारे सच्चे "अप्रियस्य पथ्यस्ववक्ता" हमीं निकलेंगे। इससे यही बिहतर है कि हमारे हो रहो। हमें अधिक न कुढ़ाओ। इसी में परमेश्वर तुम्हारा भला करेगा। इधर देखो, तुमको हिन्दू समझ के कहता हूं—"स प क्यों ले है बरहमन का ग्वूं, ए शाहे हुस्न ए बुते बेपीर। बन न ओ गज़बे आलमगीर। तू जो दिल को मेरे दुखाता है, हैफ़ है घर खुदा क ढाता है"। बस, "समझाने से था हमें सरोकार, अब, मान न मान तू मुखतार"। खैर खिसियाते हो तो जाते हैं, यहां क्या है "फकीराना आए सदा कर चले। मियां खुश रहो हम दुवा कर चले।"

खं० १, सं० ७ (१५ सितंबर सन् १८८३ ई०

जरा अब तो आंखें खोलिये

जातीय भण्डार

प्यारे पाठक ! क्या इसमें भी कुछ संदेह है कि रुपये बिना संसार का कोई काम नहीं चलता ? तभी तो लोग इसके लिये महा महा परिश्रम करते हैं, भांति भांति के असह्य कष्ट उठाते हैं, ठौर कुठौर दीनता दिखलाते हैं, नाना प्रकार के छल कपट करते हैं, अपनी प्रतिष्ठा, लज्जा, धर्म कर्म, सभी खो बैठते हैं। कहाँ तक कहें कि प्राण तक झोंक देते हैं। क्यों न हो, यह चीज ही ऐसी है। हमारे पूर्वजों ने मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के चार फल ठहराये हैं—अर्थ (धन), धर्म, काम (स्त्री सम्बन्धी सुख) और मोक्ष। देखो इसमें सबसे पहिले अर्थ ही का नाम रक्खा है। 'सर्वगुणा कांचनमाश्रयंति' 'द्रव्येषु सर्ववशाः' इत्यादि अनेक महत्माओं के वचन प्रायः छोटे बड़े सभी के मुख से प्रतिदिन सुनने में आते हैं। वाह 'क्या रुतबे हैं तलाये अल उस्सलाम के'। जिसे देखो इन्हीं की गीत गाता है। सच पूछो तो संसार में ऐसी बहुत कम आपत्ति होंगी जो रुपये से दूर न हो सकें। ऐसी बहुत थोड़ी क्या वरंच गिनती की होंगी जिनमें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। मैं इसके गुण अधिक लिख के कागज नहीं भरना चाहता। सभी जानते हैं, रुपये का काम रुपये ही से चलता है। और यह भी प्रायः सभी को भली भांति विश्वास है कि 'दिन दमाके एक से नहीं रहते'। संसार में जो आया है, एक न एक दिन उस पर विपत्ति पड़ती है। और यह तो सच ही है कि "आपद काल में कोई किसी का साथी नहीं होता"। विशेष कर इस आर्यावर्त में, जहां का मेवा फूट और बैर है, बे प्रयोजन एक दूसरे की जड़ खोदने को तय्यार रहता है। यह तो कहां संभव है कि कोई किसी के काम आवै। हां, बाजे बाजे सर्व हितेच्छुक महाशयों पर कुदिन आता है तो असंख्य लोगों को दुःख होता है। प्रायः सभी चाहते हैं कि इनका दुःख दूर हो तो अच्छा है, पर निरे चाहने मात्र से तो कुछ होता नहीं। लाखों दुःख ऐसे हैं जो रुपये बिना जा ही नहीं सकते। रुपया आवे तो कहां से आवे। आजकल हमारा देश आगे का सा समुन्नत तो हई नहीं, दिन दिन घर के धान पयार में मिलते जाते हैं। दूसरे देशों से यहां रुपया आना तो बात ही क्या है, घर की पूँजी बिलायत जाया न करे यही गनीमत है। फिर भला रूपए की मदद

कौन किसकी कर सकता है ? यदि कहीं सैकड़ों में से किसी एक उदार पुरुष ने कुछ करना बिचारा भी तो क्या करेगा, कैसे करेगा ? हमारे राजा अथच धनाढ्यों से कुछ आसरा हई न ठहरा। फिर भला जो किसी पर कोई दैवी आपदा आ पड़े तो सिवा रोने के क्या बश ! इसीलिये बंगाल के कई एक विद्वानों ने यह युक्ति निकाली है कि अपनी अपनी सामर्थ्य भर लोग कुछ रुपया इकट्ठा करके जातीय धन भण्डार स्थापित करें, जो समय पड़ने पर काम आवे। संप्रति उनका संकल्प पांच लाख रुपया एकत्र करके अपनी ओर से विलायत में एक प्रतिनिधि रखने का है। हमारी समझ में उन महाशयों का यह उद्योग अत्यंत प्रशंसनीय है। पर यदि केवल पांच ही लाख की कैद न होती, यह होता कि जहाँ तक हो सकता, प्रतिवर्ष वा प्रतिमास रुपया इकट्ठा होता और भण्डार में रखने के बदले किसी व्यापार में लगा के उसके वृद्धि का प्रयत्न होता रहता और देश में जब कभी किसी पर कोई आफत आती तो उचित रीति पर उसका सहाय किया जाता तो परमोत्तम था।

हमारे पश्चिमोत्तरवासी भ्रातृगण किस नींद सो रहे हैं ? क्या इनको नहीं मालूम कि रुपया ही सब बलायें रद्द करता है ? अथवा इन्हें यह निश्चय है कि "हमसे खिलाफ होकर करेगा जमाना क्या ?" भला हो बंगाली भाइयों का जो अधिक नहीं तो जबानी ही हौरा मचाते हैं। यहाँ तो एक का घर जले दूसरा तमाशा देखे। बड़ा भलामानुष हो तो वह राह कतरा के निकल जाय।

फिर क्यों नहीं जातीय भंडार का उद्योग नहीं करते ? भाइयों ! "अग्र सोची सदा सुखी"। जब सिर पर आ पड़ती है तब कुछ करते धरते नहीं बनता। इससे शीघ्र उठो और अपने हित का साधन करो। उपाय न जानते हो तो हमसे सुनो। प्रत्येक स्थान पर सर्वसाधारण सभा स्थापन हो जाना चाहिये। उसके मुखियाओं का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि मत मतान्तर का झगड़ा, जो बखेड़े की जड़ है, उसका तो नाम न ले। मनुष्य मात्र को अपनी सभा का मेम्बर समझे। दस वर्ष के बच्चे से लेकर सौ वर्ष के बुड्ढे तक और ब्राह्मण से लेकर चर्मकार तक को सभा में सहाय करने का अधिकार दे। हंसी की परवाह न करके, मुंह पर ताने की बातें, उनके हाथ जोड़ के, एहसान ले के, समझा बुझा के, येन केन प्रकारेण धन संचय करें, और दूसरों को भी ऐसा ही परामर्श दें। इधर के लोगों का एक यह भी स्वभाव है कि किसी अपने बराबर वाले को जो कुछ करता देखेंगे, शेखी के मारे उसमें योग देने में अपनी मान-

हानि समझ के, अंट संट दस्तखत कर देंगे। पर देती समय मुंह चुरावेंगे। इसका यह उपाय है कि इस बारे में चिट्ठा उट्ठा न बनाया जाय। एक सन्दूक रक्खी रहे, उसमें चाहे तो कोई महाराजाधिराज एक पैसा छोड़ दें, चाहे कोई भिक्षुक लाख रुपए की कोई चीज डाल दे। पर नियत साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक, जैसा समझौता हो, अवलम्ब करना चाहिये। फिर नियत समय पर दस जानकार लोगों की सन्मति से वह आमदनी किसी रोजगार में लगती रहना चाहिये। उसका अधिकार किसी एक को न सौंप देना चाहिये, बल्कि कुछ विश्वस्त लोगों की राय में उसमें से देशी भाइयों की सहायता होती रहे।

अब इस विषय को अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। बुद्धिमान पाठकगण आप विचार सकते हैं कि यह उपाय कैसा है। इसकी कैसी आवश्यकता है और कैसे लाभ का सम्भव है। परन्तु प्रिय महाशय! केवल सुनने सुनाने से इस कथा में कुछ भी फल नहीं होगा, "कल्ह करन्ते आज कर आज करन्ते अब्ब"। इस काम को एक जरा छेड़िये, फिर देखिये क्या होता है। बङ्गालियों के कुछ चार हाथ पैर नहीं हैं। तुम भी समझते होगे कि 'हिम्मते मरदां मददे खुदा'। इस प्रदेश में भी एक से एक विद्वान धनवान हैं। देखें तो कौन वीर पहले कदम बढ़ाता है।

खं० १ सं० ८ (१५ अक्टूबर सन् १८८३ ई०)

कान्यकुब्जों ही की सबसे हीन दशा क्यों है

यों तो देश का देश अवनति पर है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचार से देखा जाय तो हमारे कान्यकुब्ज भाई सबसे अधिक दीन दशा में मिलेंगे। इस पर भी बड़े खेद का स्थान यह है कि जिन बातों से इनकी दिन २ दुर्गति होती जाती है उनका छोड़ना तो जैसा तैसा, बहुतेरे उन्हीं सत्यानाशी ढंगों को ब्राम्हणत्व (कनवजियांय) समझे बैठे हैं। शास्त्र में लिखा है कि विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम् अर्थात् ब्राम्हण की बड़ाई ज्ञान से होती है। पर इन्हों ने मिथ्या कुलाभिमान, जिस का वेद शास्त्र पुराण आदि में कहीं कुछ पता ही नहीं मिलता, उसमें ऐसा बड़प्पन मान रक्खा है जिसका कुछ ओर ही छोर नहीं। हमारा प्रयोजन यह नहीं कि जातिकुलाभिमान सर्वथा अनुचित ही है। नहीं, यह होना अवश्यमेव चाहिये, पर रीति नीति से। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे पूर्वज रिषि लोग सर्वमान्य थे परन्तु किन कारणों से? विद्या, धर्म, सम, दम, आस्तिकता आदि सद्गुणों से। बस हमको भी उक्त गुणों को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि हम भी उनके वंश में हैं। यदि पूर्व पुरुषों के बराबर न हो सके तो कुछ तो उनके ढंग की सी योग्यता प्राप्त करे। यह नहीं कि सीखे चाहे गायत्री तक न हो पर 'हम तिरवेदी आहिन'। रौरे त्रिवेदी नहीं चतुर्वेदी सही, पर इस झूठे झन्नाने से हानि कितनी होती है कि दूसरे ब्राम्हण को कुछ लेखा ही नहीं लगाते। भला तुम जिसे बिना कारण के तिरस्करणीय समझोगे उसका चित्त तुम्हारी ओर से कैसा हो जायगा? क्या सम्भव है कि मिथ्याभिमानी का कोई दृढ़तर हेतु के बिना हितकारी हो? वही जो एक वेद भी पढ़ लेते वा कुछ कोई विद्या होती तो लोग बड़ी श्रद्धा से सेवा में खड़े रहते। पर किया क्या जाय, बहुतेरे बड़कुल महापुरुष कह बैठते हैं, 'हमारे बंस मा बिद्या फलति ही नाहिनु' अथवा 'का सुवा मैना आहिन?' तो इनसे कौन कहे कि विश्वामित्र महाराज आदिक महर्षि, जो हमारे वंश के शिरोमणि थे, उनको विद्या न फलती तो बड़े २ महाराज, बड़े २ अवतार क्यों उनकी प्रतिष्ठा करते? श्रीरामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम ने क्या सुवा मैना से धनुर्वेद पढ़ा था? इसी मिथ्याभिमान के कारण अनैक्य इस जाति में ऐसी हो गई कि एक भाई दूसरे भाई को तुच्छ समझता है। किसी ने सच कहा है 'आणछो

ब्राह्मणं दृष्ट्वा श्वानवत् घुर्घुरायते'। यह तो कहां हो सकता कि मिशिर जी दुबे जी को कुछ मान्य समझें। ढूंढने में कुछ नातेदारी भी निकल आवे तो "होई,नाते का नात पनाते का ठ्यांगरन" कह के मुंह फेर लेंगे। कनवजियों में किसी ने न देखा होगा कि एक ही कुल के पचास घर भी एक दूसरे के दुख सुख में साथी हों। जहां सुनो यही सुनने में आवैगा कि 'आहीं तो मयाचार पै आवाजाही छूटिगै है।'

जहां कान्यकुब्जों का अधिक वृन्द है उन गांवों में यह चाल है कि अपने से बड़ा नाऊ बारी भी हो तो उसे काका बाबा दादा इत्यादि कहते हैं। इससे जान पड़ता है, आगे के पुरुष बड़े मिलनसार होते रहे हैं। पुराणों से भी सिद्ध है कि हमारे रिषीश्वरों की किसी राजा के यहां कुछ रोक टोक न था। सबके घर का सा वास्ता था। पर हाय! हम लोग सगे भाई से भी प्रेम नहीं रखते। जब हम नीच जाति वालों को देखते हैं कि किसी भाई से कुछ ऊंच नीच बन पड़ी तो पांच पंच उससे रोटी ले के फिर मिला लेते हैं। यह देख के बड़ी लज्जा एवं दुख होता है कि हाय, हमारे यहां कुछ पूंछ ही नहीं है। जो चाहो सो किया करो। कोई कुछ कहने वाला ही नहीं। और परमेश्वर न करे किसी का कोई ऐब खुल जाय तो वह इस जन्म अपनों से मिली नहीं सकता। यदि कोई कहे कि इस फूट का कारण निरधनता है तो हम कहते हैं निरधनता भी तो इसी मिथ्याभिमान ही से हुई है। कोई धन्धा करने कहो तो कहेंगे 'का बनिया बक्काल आहिन'। जब तक मांगे जांचे एक पहर भी खाने को जुड़ता जाय तब तक घर से निकलना जानते ही नहीं। कहीं जब भूखों मरने लगेंगे तब पंखा कुली की नौकरी के लिये म्लेच्छों की खुशामद करेंगे, पर पहले टिर्र के मारे यही कहा करेंगे 'का पुरिखन कै देहरी छांड़ देन'। गांव सहाय कहीं कौन बैठा है? यदि हो भी तो यह 'कनवजिया हैं कै केहू ससुर के आगे अधीनी बतायं'। इससे कोई यह न समझे कि यह रुपये की परवाह नहीं करते। नहीं, रुपये के वास्ते तो जौने धाकर के तलाए का पानी न लेत रहे उसी के यहां बेटे का ब्याह करके कच्ची पक्की खायेंगे, पर कब? जब देखेंगे कि कहीं टिकाना नहीं रहा। पहिले से अपना हिताहित विचारने की सौगन्ध है।

खं० १, सं० ८ (१५ अक्टूबर सन् १८८३ ई०)

मुक्ति के भागी

एक तो छः घर के कनवजिए, क्योंकि वैराग्य इनमें परले सिरे का होता है। सब जानते हैं कि स्त्री का नाम अर्द्धाङ्गी है। बे पढ़े लिखे लोग तक आपस में पूछते हैं 'कहो घर का क्या हाल है ?' इससे सिद्ध हुआ कि घर स्त्री ही का नामान्तर है। उस स्त्री को यह महा २ तुच्छ समझते हैं। यहाँ तक कि 'हः मेहरिया तो आय पायँ कै पनहीं'। बरंच पनही के खो जाने से तो रुपया धेली का सोच भी होता है परन्तु स्त्री का बहुतेरे मरना मनाते हैं। अब कहिए, जिसने अपने आधे शरीर एवं गृह देवता को भी तृणवत् समझा उस परम त्यागी बैरागी की मुक्ति क्यों न होगी ?

दूसरे अढ़तिए, क्योंकि प्रेतत्व जीते ही जी भुगत लेते हैं। न मानो कानपुर आ के देख लो। बाजे बाजों को आधी रात तक दतून करने की नौबत नहीं पहुंचती। दिन रात बैपारियों की हाव २ में यह भी नहीं जानते कि सूरज कहां निकलता है। भला जिसे जगत् गति व्यापती ही नहीं, जिसे क्षुधा तृषा लगती ही नहीं है, उस जितेन्द्री महापुरुष को मुक्ति न होगी तो किसे होगी जी ?

तीसरे उपदंश रोगवाले, क्योंकि बड़े २ वैद्यों ने सिद्ध किया है कि इस रोग से हड्डियों तक में छिद्र हो जाते हैं। तो कपाल में भी हड्डी ही है। और सुनो, फारसी में इसका नाम आतशक है। शरीर को भीतर ही भीतर फूंक देती है। अब समझने की बात है कि जिसके प्राण ब्रह्मांड (शिर) फोड़ के निकलें तथा जो पंचाग्नि की परदादी प्रतिलोमाग्नि का सेवन करेगा वुह परम-योगी, वुह शरभंग रिषि के समान तपस्वी मोक्ष न पावेगा !

चौथे लंपटदास बाबा की चेलियां, क्योंकि 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' लिखा है। बरंच (राम ते अधिक राम कर दासा)। फिर क्या, जिसने अपना तन मन धन बरंच धर्म कर्म सरबस्व 'कृष्णार्पन' कर दिया उस अनन्य भक्त की मुक्ति में भी क्या कुछ संदेह है ?

हमारे पाठक कहते होंगे, कहां की खुराफात बकते हैं। खैर तो अब सांची २ सुना चले।

स्वर्ग नर्क मुक्ति कहीं कुछ चीज नहीं है। बुद्धिमानों ने बुराई से बचने के लिए एक हौवा बना दिया है। उसी का नाम नर्क है। और स्वर्ग वा मुक्ति भलाई की तरफ झुकाने के लिए एक तरह की चाट है। अथवा जो यह मान लो कि जिसमें महादुख की सामग्री हो वह नर्क और परम सुख स्वर्ग है, तो सुनिए, नर्की जीव हम गिना चुके। उन्हीं के भाई बन्द और भी हैं। रहे स्वर्ग के सच्चे पात्र, वह यह हैं—किसी हिन्दी समाचार पत्र के सहायक, बशर्ते कि वार्षिक मूल्य में धुकुर पुकुर न करते हों और पढ़ भी लेते हों। उनको जीते ही जी स्वर्ग न हो तो हम जिम्मेदार। दूसरे, देशोपकारी कामों में एक पैसा तथा एक मिनट भी लगावेंगे वे निस्संदेह बैकुण्ठ पावेंगे। इसमें पाव रत्ती का फरक न पड़ेगा। हमसे तथा बड़े २ विद्वानों से ताँबे के पत्र पर लिखा लीजिए। तीसरे, गौ रक्षा के लिए तन मन धन से उद्योग करनेवाले, अन्न धन दूध पूत सब कुछ न पावें तथा सशरीर मोक्ष का मज़ा न उठावें तो वेद शास्त्र पुराण और हम सबको झूठा समझ लेना। चौथे, परमेश्वर के प्रेमानन्द में मस्त रहने वाले तथा भारत भूमि को सच्चे चित्त से प्यार करने वाले, एक ऐसा अलौकिक अपरिमित एवं अकथ आनन्द लूटेंगे कि उसके आगे भुक्ति और मुक्ति तृण से भी तुच्छ हैं! हमारे इस बचन को जो 'ब्रह्म वाक्य सदा सत्यम्' न समझेगा वह सब नास्तिकों का गुरू है।

खं० १, सं० १० (१५ दिसंबर सन् १८८३ ई०)

फूटो सहैं आंजी न सहैं

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध का वाक्य है 'किरात हूणान्ध्रपुलिन्द-पुल्कसा आभीरकङ्कायवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥' समझने की बात है, जब असली यवनादिक शुद्ध हो सकते हैं तो नकलियों का तो कहना ही क्या है ? इसके अतिरिक्त परमेश्वर का नाम पतितपावन है। सो एक लड़का भी जानता है। पर कोई हिए कपारे का अंधा, इन्द्रियों का बन्दा, मौलवी तथा पादरियों के मायाजाल में फंस के उनसे चोटी कटा ले, फिर वह चाहे जैसा अपने किए पर रोवै, उसका हिन्दू होना असम्भव ! 'क्यों भाई शास्त्र की रीति से प्रायश्चित करा मिला न लेव।' 'वाह जी ! हमारा धर्म जाता रहेगा।' 'हूं हूं, झूठ बोलने में धर्म नहीं जाता, यवनी - गमन में धर्म नहीं जाता, गोरक्त मिश्रित विलायती शक्कर खाने में धर्म नहीं जाता, एक स्वदेशी भाई को कुमार्ग से स्वधर्म में लाने में धर्म भाग जायगा ? 'प्रेमएवपरोधर्म्मः' तो उसी दिन रफूचक्कर हो गया था जिस दिन जयचन्द पृथिवीराज में विरोध हुआ था। कहने सुनने को जाति बच रही है। सो भी जानते ही हो कि धर्म्म ग्रंथों को तकिया बनाय के देश निद्रा में कुम्भकरण की भांति खर्राटे भर रहा है और उधर वाले कमर बांधे अपनी गाथा बढ़ा रहे हैं। एक दिन होगा कि हिन्दू गूलर के फूल हो जायंगे तब बड़ा धर्म्म रह जायगा। यदि प्रायश्चित की प्रथा निकल जाती तो विधर्म्मियों के कुछ दांत खट्टे हो जाते। पर कौन किससे कहे, यहां तो 'फूटो सहैं आंजी न सहैं।'

लाला खूसटदास ने जो कुछ गरीबों की नरी काट २ के लैया पुंजियां जोरी थीं, लड़के के ब्याह में डाढ़ीवाले आतिशबाजों और रंडिका देवियों के चरणारविंदों में समर्पण कर दिया। 'भई वाह, क्या बरात निकली ! क्यों जी ऐसे रुपयेवाले तो न जान पड़ते थे ?' 'अरे यार इन हौसलों को तो देखो कि अगले ने घर फूंक तमाशा देखा है। घर सब गिरौं रख दिया, और ऊपर से कर्ज काढ़ा है। फिर जानते ही हो 'नानी मरे नाम को'। 'छिः' ऐसी फजूल-खर्ची क्या बुद्धिमानी का काम है ?' 'वाह, ऐसा न करें तो चार भाइयों में क्या मुंह दिखावें। बुजुरगों की नाक न कटै जाय !' हां हां, तीन दिन की

धूम के लिये लाख का घर लीख न करेंगे तो पुरखों की नाक कट जायगी, पर जब लहनदार दुवारे पर पिटवावैंगे, खलक खुदा का मुलक बास्सा का··· तब पुरखों की नाक ऐसी बढ़ैगी कि सरग छू लेगी ! जो एक सभा करके शक्त्यानुसार खर्च करने की रीति निकल जाय तो काम का काम निभ जाय और पीछे की खटपट न रहे। पर हां 'फूटी सहैं आँजी न सहैं' की कहावत कैसे ठीक उतरै ? दो हमने बताये अब कुछ तुम भी ढूंढ लाओ।

खं० १, सं० १२ (१५ फ़रवरी सन् १८८४ ई०)

बेकाम न बैठ कुछ किया कर

किसी ब्यवहारकुशल महात्मा का यह सिद्धांत कितना उत्तम है कि उस पर दृढ़ चित्त होकर बर्ताव करने वाला कभी न कभी अवश्य ही कृतकार्य होता है। संसार में ऐसा कोई काम ही नहीं है जो मनुष्य न कर सके। लोग कहते हैं पत्थर पर कोई बस्तु नहीं जम सकती। पर हमारी समझ में निस्संदेह जम सकती है। यदि कोई निरंतर बीज और जल छोड़ता रहे तो कुछ दिन में जल के योग से वह बीज सड़ के मिट्टी हो जायगा। उसपर क्या बात की न जमै। बहुतेरे आलसियों का मत है कि 'होइ है सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा॥' हम कहते हैं कि इस बचन का वे अर्थ ही नहीं समझते। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने जिस पदार्थ में जैसी शक्ति रक्खी है उसके बिपरीत न होगा। इससे प्रत्येक बस्तु का स्वाभाविक गुण जानने का यत्न करना चाहिये। तदनंतर उसके अनुकूल उद्योग करते रहना चाहिये। फिर निश्चय कार्य सिद्ध हो हो रहेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, ढंचरा चला जाय, तार न टूटने पावे तो उद्योग में परमेश्वर ने कार्य सिद्धि की शक्ति रखी है। मनुष्य को हतोत्साह तो कभी होना न चाहिये। जिस बात में मनसा बाचा कर्मणा जुट जाओगे, कर ही के छोड़ोगे। शिक्षा कमीशन ने देवनागरी का तिरस्कार कर दिया। कुछ परवा नहीं। उसके सच्चे रसिकों का ठेंगा निराय ही कौन नहीं जानता 'श्रेयांसि बहु बिघ्नानि।' फिर सही, दे मेमोरियल पर मेमोरियल, दे लेख पर लेख, दे चंदा पर चंदा। देखें तो सरकार कहा तक न सुनेगी! और सरकार न भी सुने, जब देशहितैशी महाशय सेतुआ बांध के पीछे पड़ जायेंगे, नगर २ ग्राम २ जन २ में नागरी देवी का जस फैला देंगे, आप ही स्वदेश भाषा की उन्नति हो रहेगी। आप ही उरदू बीबी के नखरे सबको तुच्छ जंचने लगेंगे। कहीं उद्योग भी निष्फल हुआ है? इसी प्रकार इलबर्ट ने गुड़ दिखा के ईंट मारी है। इस बात की भी सोच बृथा है। अंगरेज न हमारी जाति के, न हमारी देश के, न हमारे धर्म के। उनकी बराबरी से हमें क्या? हम ऐसे काम ही न करें जिससे उन्हें हमारा मुकद्दमा करने की नौबत आवे। उन्हें अंगरेज अपराधियों का इतना पक्ष-पात कि हिन्दुस्तानी हाकिम, बिना यूरोपियों की पंचायत बैठे, उनका न्याय ही न कर सकें! क्यों न हो 'घर का परसैया अंधेरी रात'। क्या हम किसी दूसरे के प्रजा हैं? हमें भी सरकार से निवेदन पर निवेदन इस बात के लिये

करना चाहिये कि हमारे मुकद्दमे अंगरेज हाकिम बिना स्वदेशियों की पंचायत के न कर सकें । एक बार नहीं सौ बार, एक प्रकार नहीं सहस्र प्रकार, सरकार को समझावै कि हमारा भी कुछ हक है । निश्चय है सर्कार अवश्य सुनेगी । और न सुने तो इसका उद्योग करते रहना श्रेष्ठ है कि अपने देश-भाइयों का विचार देशभाई ही कर लिया करें । अभी यह भूमि ऐसी निर्बीज नहीं हो गई कि प्रत्येक स्थान में ऐसा विद्वान विचारशील एक पुरुष भी न मिलै जो हमारा उचित न्याय कर सकता हो । यहां यह प्रश्न हो सकता है, भारतीय वादी प्रतिवादी का न्याय तो आप हुआ सही पर गौरांग महाशय ने हम पर कोई अत्याचार किया तो वही गेंद वही चौगान फिर न उपस्थित होगा ? इसका सहज उत्तर यह है कि जब हम अपने गौरव रक्षण में दत्तचित्त हो के, बद्धपरिकर हो जायंगे, तब हमारे स्वाभाविक तेज क आगे किसी का मुंह न होगा जो हमसे विरुद्ध हो । उद्योग में सब सामर्थ्य है । जिस बात के लिये कुछ करते रहो एक न एक दिन उसका फल हो ही रहता है । आज कल राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० भारत व्यवस्थापक सभा का सभादल छोड़ने वाले हैं । उनके स्थान पर यदि कोई खुशामदी टट्टू बिठा दिया गया तो फिर मानों भारतवर्ष डूबा कुएं में, गरचि भंवर से निकल गया । अतएव हमारे देशानुरागियों का परम धर्म है कि किसी सज्जन धर्मिष्ठ भारत-भक्त को लेजिसलेटिव कौंसिल का मेंबर नियत करने के लिये सर्कार से निवेदन करे और पूर्ण विश्वास है कि महात्मा लार्ड रिपन ऐसे निवेदन को अवश्य सुनेंगे । अपने सहयोगी 'उचित वक्ता' को सम्मति पूर्वक हम एक बार लिख चुके हैं और अब भी अवसर है इससे फिर चिताए देते हैं कि हिन्दुस्तानियों का एक मात्र निष्कपट हितैषी श्रीयुत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान 'न भूतो न भविष्यति' ।' यदि वे कौंसिल में विराजमान हुए तो इस देश के अहो भाग्य हैं !!! आओ भाई सम्पादकों, एक मत होके इसका उपाय करें । आओ प्यारे देशोद्धारक महाशयों, इस समय को हाथ से न जाने दें । देखो तो क्या होता है । उपाय का फल बड़ा गुणकारक है और स्वदेश हित साधन बड़ा सुकर्म है । यह न कहना कि कल की बात है, गोरक्षा में क्या कर लिया था । वह किसी दूसरे का दोष नहीं था, तुम्हीं 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैत लक्ष्मी' इस परमोत्तम बचन को भूल गए थे । फिर सही, 'बेकाम न बैठ कुछ किया कर' ।

खं० १, सं० १२ (१५ फरवरी १८८८, ई०)

वर्षारम्भ

अद्वितीय सर्वशक्तिमान भक्तवत्सल भगवान के युगल चरणारविन्द को अनेकानेक धन्यवाद है कि उसकी अपरिमित अनुग्रह से हम द्वितीय वर्ष में प्रवेश करते हैं। फिर क्यों न वह दीनबन्धु दयासिन्धु तो महा महा चांडालो नास्तिकों तक का पालन पोषण करता है, हमारी सुध कैसे न ले, हम तो उसके ठहरे। वह ब्रह्म हम ब्राह्मण, वह जगतपिता हम जगतहितैषी, वह प्रेमस्वरूप हम प्रेमावलम्बी, हम से उस से तो अगणित सम्बंध हैं। यदि वही हम को न अपनावै तो हमारा कहीं किसी प्रकार कभी निर्वाह हो न सके। हमीं ऐसे दुर्बुद्धी हैं जो इतना जान कर भी उस को भूल जाते हैं। उसके असंख्य उपकारों की संती उसका धन्यवाद भी नहीं करते। नहीं २, इतना हम में सामर्थ्य ही नहीं है कि उस अनन्त महिम का धन्यवाद कर सकें। अस्तु तो अपने प्रेमास्पद वर्ग का धन्यवाद भी अति उचित है। सबसे पहिले सम्पादक महाशयों को, विशेषतः उचित वक्ता और भारतमित्र के सम्पादकों को धन्यवाद है जिन्होंने यथोचित मित्रता का परिचय दिया, किसी प्रकार का द्वैत भाव समझा ही नहीं, हर बात में सहायक रहे। आशा है कि ऐसी ही कृपा दृष्टि सदैव रक्खेंगे। इसके अनन्तर श्रीयुत पूज्यपाद पंडितवर बद्रीदीन जी शुक्ल महोदय को जहाँ तक धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है, क्योंकि वही तो वास्तव में ब्राह्मण के जन्मदाता हैं। उन्हीं की आज्ञा के बल से तो हमारी रुचि इस पत्र के प्रकाश करने में दिन दूनी रात चौगुनी होती रही है और होती रहती है। और लाला छोटे लाल गया प्रसाद साहब तथा बाबू वंशीधर साहब को धन्यवाद न दें तो कृतघ्नता के दोषी ठहरते हैं। क्योंकि पहिले पहिल इन्हीं महाशयों के सहाय से हमारा उत्साह द्विगुणित हुआ। क्यों न हो, सृष्ट्यारम्भ से आज तक ब्राह्मण के एक मात्र सहायक क्षत्रियों के अतिरिक्त है दूसरा कौन? हमारे धन्यवाद और आशीर्वाद के सच्चे आधार तो यही हैं। हमारे पाठक कहते होंगे, सब को तो धन्यवाद आशीर्वाद है पर हमको क्या लाभ? अरे यार, तुम्हारे ही लिये तो ब्राह्मण का जन्म है। तुम्हीं तो इसके जीवन हो। तुम न हो तो सब अलल्ले तलल्ले भूल न जाते? यह न कहना कि फिर अलल्ले तलल्लों से हमें क्या? तुम को हर महीने इधर उधर की गपशप, ताजे २ लेख और

जो कहीं दो चार बातें भी गांठ बांधो तो फिर क्या, दोनों हाथ लड्डू हैं। तुम्हीं तुम तो दिखाई देने लगो। खैर इन शेखचिल्ली के से विचारों को कष्टसाध्य और देरतलब समझो तो अभी कोरे २ आशीर्वाद ही लीजिये— जब तक गंगा जमुना में पानी रहे, जब तक हिन्दुओं में फूट रहै, जब तक निरे पंडितों में पेटहलपन रहै, जब तक महाजनों में वेश्या भक्ति रहे तब तक तुम चिरंजीव रहो, बशर्ते कि हमको भी चिरंजीव रक्खो। स्मरण रहे कि दोनो हाथों विना ताली नहीं बजती। परमेश्वर करे तुम्हारे दूध पूत अन्न धन किसी बात की न्यूनता न रहे। पर निरी हमारी बातों ही में न आ जाना। दूध के लिये गोबध निवारण, पूत के लिये बाल्य विवाह दूरीकरण, अन्न के लिये कृषि विद्या की उन्नति, धन के लिये समुद्र जात्रा एवं शिल्प शास्त्राभ्यास भी करना पड़ेगा। क्यों? कैसा आशीर्वाद है? इससे भी तृप्ति न हो तो धन्यवाद के लिये भी हाथ फैलाइये। वाह साहब, बड़े भलेमानुस हो! वाह वाह, आप की क्या बात है। ले अब तो प्रसन्न हो जाना चाहिये, और क्या! य बात!!! हम तो बस इतने ही में निहाल हैं। हमारा तो केवल यही चाहना है कि हमारे सब ग्राहक आनन्दित रहें। जो मन लगा के पत्र देखते हैं और दक्षिणा श्रद्धापूर्वक हमारी भेंट करते हैं वे तो आनन्द हुई हैं, वरंच उनकी दया से ब्राह्मण देवता भी आनन्दपूर्वक अपना धर्म निभा रहे हैं। जिन्होंने अब तक रूपये नहीं भेजे उन्हें भी प्रसन्न रक्खे। जाते हैं तो कहा जाते हैं, कभी न कभी पढ़ेंहीगे। पढ़ेंगे तो कुछ देशहित सीखेंहीगे। देशहित समझेंगे तो देशी पत्र की सहायता कहां तक न करेंगे? रहे वे जिन्होंने छः छः आठ २ महीने ब्राह्मण मंगाया फिर फेर दिया और आठ दस आना के लिये देवाला निकाल बैठे। वे भी धन्यवाद के योग्य हैं क्योंकि उनसे हमें यह उपदेश मिला कि All is not gold that glitters। पीली २ पगड़ी, लाल लाल गाल, मोटे २ तोंदवाले सभी ईमानदार नहीं होते। जो व्यवहार के सच्चे होते हैं वे झूठी बनावट नहीं रखते। यहां क्या है, हमने समझ लिया दमड़ी की हंड़िया फूटी, कुत्ते की जात पहचानी। परमेश्वर करें वे भी प्रसन्न रहें, चैन करें। इमली के पत्ते पर जो रूपया धर्मोपार्जित नहीं है, हरामखोरों के हिस्से का है, हमें न चाहिये। यहाँ तो देशहितैषी विद्या रसिकों के घर में कमी क्या है जो हम आज बरस २ के दिन मनहूसों का झिखना झिख के साल भर की नसेठ करें? हमारे राम तो अब मंगल पाठ करते हैं और मंगलमय सच्चिदानन्द के चरण कमल का स्मरण करके अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होते हैं। मंगल पाठ (भूतशांति के

लिए) ओ३म् द्यौःशांतिः पुतलीघरांजन धूमाच्छादितांतरिक्षः ४ शांतिः कब्रिस्तानस्य पृथिवी शान्तिः सोडावाटरः शांतिः क्लोराफार्मः शांतिर्गांजा भांगः शान्तिर्निरेऽपंडिताः शांतिर्मुद्दमदेशाः शांतिः सर्वार्यकुलवंचकाः शांतिः शांतिरेवशांतिः सामाशांतिरेधिः ॥ १ ॥

ओ३म् शराबः शांतिरंण्डिको शांतिरंनेचरयल क्राइमः शांतिः पादरियाः शांतिर्मौलवियाः शांतिः फूटः शांतिर्लूटः शांतिरालस्यः शांतिः संतोषः शांतिः सर्वसत्यानाशी ढंगाः शांतिः मामाशांतिरेधिः । ओ३म् शांतिः २ शांतिः ।

लवेद संहिता अ ❀ मं० ❀ ❀
खं० २, सं० १ (१५ मार्च सन् १८८४ ई०)

घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधै

जरकी मेहरिया कहा नाहीं मानती, चले हैं दुनिया भर को उपदेश देने; घर में एक गाय नहीं बाँधी बाँध जाती, गोरच्छिणी सभा स्थापित करेंगे; तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है, बने हैं देश हितैषी; साढ़े तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं कर सकते, देशोन्नति पर मरे जाते हैं— कहाँ तक कहिये, हमारे नौसिखिया भाइयों को 'माली खूलिया' का आजार हो गया। करते धरते कुछ भी नहीं हैं, बक बक नाचे हैं। जब से शिक्षा कमीशन ने हिन्दी को हंट (शिकार) किया तब से एडिटर महात्मा और सभाओं के मेम्बरों के दिमागों में फितूर पड़ गया है। जिसे देखो सरकार पर ही खार खा रहा है। न जाने सरकार का यह क्या बनाये लेते हैं अरे भाई, पहिले अपना घर तो बाँधो। लाला मसजिद परिशाद सिड़ी वा सितम को समझावो कि तुम्हारे बुजुर्गों की बोली उर्दू नहीं है। लाला लखमी-दास माड़वारी से कहो कि तुम हिन्दू हो। लाला नीचीमल खन्ना से पूछो, तुम लोग संकल्प पढ़ते समय अपने को वर्मा कहते हो कि शेख? पंडित यूसुफनारायण काश्मीरी से दरयाफ्त करो कि तुम्हारे दशो संस्कार (मुंडना-दिक) वेद की रिचाओं से हुए थे कि हाफिज के दीवान से? इसके पीछे सरकार हिन्दी के दफ्तर न कर दे तो ब्राह्मण के एडिटर को होली का गुंडा बनाना। क्या सरकार जानती नहीं है कि हिन्दुस्तान की बोली हिन्दी ही है! क्या सर्कार से छिपा है कि यहाँ हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान दशमांश से भी कम हैं? क्या शिक्षा कमीशन वाले अंगरेज, जो दुनिया को चरे बैठे हैं, वे न समझते थे कि हिन्दी से प्रजा का बड़ा उपकार होगा? पर हाँ जहादी हजरत से बुरा कौन बने? फूट के लतिहल, आलस्य के आदी, खुशामद के पुतले हिन्दू नाराज ही हो के क्या कर लेंगे? बहुत होगा एक बार रो के बैठ रहेंगे। बस उरदू बीबी को कौन मुआ उठा सकता है? कुछ दिन हुए सरकार ने हर जिले के हाकिमों से पूछा था कि हिन्दी के प्रेमी अधिक हैं कि उर्दू के आशिक जिआदा हैं। इस पर हमारे यहाँ के कई एक धरम-मूरत धरमावतार कमिश्नरों ने कहा 'म्हा तो जाणुं कोयना हिन्दी कैसी और उर्दू कोण', जैसी हुजूर की मरजी होय लिख भेजो। सच भी है—सातो विद्या

निधान, काला कुत्ता कलकत्ता एक समझने वालों को शहर का बन्दोबस्त मिला है और बिचारे क्या कहते ? भला ले इन्हीं लच्छनों से नागरी का प्रचार होगा ? यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज पत्तर, लेखा जोखा, टीप तमस्सुक हैं, सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिन्दुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्ला कराते हैं उनके यहाँ पंडितों से अक्षरारम्भ कराया जाने का उपकार करो। तन मन धन लगा के हिंदू मात्र के चित्त पर सर्व गुणागरा देवी नागरी का पवित्र प्रेम स्थापन करने के लिए कटिबद्ध हो। चाहे कोई हँसे, चाहे कोई धमकावे, चाहे कोई कैसा ही डर दिखावे, जो हो सो हो, तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू को लुढ़ देने में सन्नद्ध हो। इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो, दाँत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो। एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने परो। किसी भाँति हतोत्साह न हो। हिम्मत न हारो। जो मनसा राम कच्चियाने लगें तो यह मंत्र सुना दो, 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजनान परित्यजन्ति।' बस फिर देखना पाँच ही सात बरस में फारसी छार सी उड़ जाएगी, उरदू की तो बुनियाद ही क्या है ! नहीं तो होता तो परमेश्वर के किये है, हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसै का चुकरा गावै का छीता हरन', 'घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधै'। हमारा भी कोई सुनैगा ? देखें कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है !

खं० २, सं० १ (१५ मार्च सन् १८८४ ई०)

बिस्फोटक

रसायन विद्या से जाना जाता है कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो न्यून व अधिक सभी वस्तुओं में हुआ करते हैं। जो पदार्थ बहुत ही अधिक होते हैं, जैसे जलवायु, अग्नि, वह तो हिलना, चलना, शीतलता, उष्णता, प्रकाश आदि अपने गुणों से प्रत्यक्ष ही से दीख पड़ते हैं। पर जो न बहुत न्यून न बहुत अधिक हैं, वे किसी यत्न करने से वा दैविक नियमानुसार कभी २ आप ही से प्रकट हो जाते हैं। जैसे कंडे की निर्धूम आग पर थोड़े से गेहूँ रक्खो तो थोड़े ही से काल में उनमें से एक प्रकार का तेल सा निकलेगा जो पहिले किसी भांति जान न पड़ता था, पर गेहूँ में वह था निस्संदेह। कभी २ बन के सूखे वृक्ष आप से आप जल जाया करते हैं। इसका कारण यही है कि भौतिक वायु के द्वारा वृक्षों की सूखी डालियों के आपस में रगड़ खाने से उन में की अग्नि, जो पहिले गुप्त थी, प्रकट हो जाती है। इन्हीं दूसरी श्रेणी के पदार्थों में से एक पदार्थ विष भी है जो मनुष्य और किसी २ पशु के शरीर में कुछ अधिक हुआ करता है और काल पाकर प्राकृतिक नियम के अनुसार बहुधा सभी के एक वा अधिक बार अवश्यमेव फूट निकलता है। इसी को लोग शीतला अथवा माता निकलना कहते हैं। हमारे यहां के आयुर्वेद में उसका नाम 'विषफोटक' वा विष की फुड़िया लिखा है सो सत्य भी जान पड़ता है, क्योंकि बहुधा विष वाले पदार्थों में एक रीति की चमक हुआ करती है। हीरा, अहिफेन, मोरपक्ष इत्यादि जैसे एक चमक भी लिये होते हैं वैसे ही शीतला निकलने से पहिले शरीर भी सुदृश्य होता है। यद्यपि कभी २ यह रोग युवा पुरुषों को भी होता है पर बालकों के कोमल शरीर तो इस भयानक रोग के कारण असह्य क्लेश पाते हैं और कुरूप, काने, अंधे, तुतले हो जाते हैं। कभी २ यह दुष्ट रोग प्राण का भी ग्राहक हो जाता है। आह 'नाम जिसका नहीं लेते यः वः बीमारी है।' क्यों न हमारे सदय-हृदय पूर्वज इससे पीड़ित दूध के फोहों की दशा पर माता करते। अर्थात् ऐसे अवसर पर पालने वाली, रक्षा करने वाली परमेश्वर की शक्ति का स्मरण आ ही जाता है। उपाय तो इसका कुछ न कुछ सुश्रुत चर्कादिक में ही होगा पर हमारे यहां के वैद्यराजों को क्या पड़ी है कि अपना समय पढ़ने पढ़ाने में व्यर्थ खोवैं। बैदकी

क्या सभी विद्या इस देश मे केवल आजीविका मात्र रह गई। इस बात के लिए सरकार को तो अवश्य धन्यवाद देंगे कि नगर २ गांव २ में सहस्रों रुपये खर्च करके Vaccination टीका लगाने का प्रचार करती है। नश्तर से बांह में किंचित मात्र खरोद के, गोथन शीतला की पपड़ी (खुरंड) घिसी हुई थोड़ी सी संनिवेशित कर देने को टीका लगाना कहते हैं। इससे किसी प्रकार का, सोच देखो तो किसी मत के अनुसार, दोष नहीं है। विश्वस्त लोगों से सुना गया है, दक्षिण के कई एक नगरों में ब्राह्मण लोग टीका अपने अपने हाथ से देते हैं। इस क्रिया के करने से शरीर भर की गर्मी एक ही स्थान से निकल जाती है। फिर प्रथम तो शीतला निकलने का सम्भव ही नहीं रहता, यदि निकली भी तो उतना दुःखदायक प्राबल्य तो कदापि नहीं होता। यूरप देश में जब से उसका प्रचार हुआ तब से यह व्याधि प्रायः निर्मूल सी हो गई है। पर हाय हमारे देशी भाइयों की समझ पर, जो कि इस उत्तम यत्न से जी चुराते हैं। जब छोटे २ बालक खेल में मग्न होने के कारण बुलाने पर नहीं आते वा घर से बाहर खेला चाहते हैं तो माता पिता कहते हैं 'अरे भाग' गोदना वाले आये हैं'। मानों भूत और हौआ का नाम गोदना वाले भी है। यह नहीं सोचते कि बिचारे भोले भालों के हृदय में व्यर्थ का झूटा भय प्रवेश कर देना स्याने होने पर उन्हें कैसा भीरु और डरपोकना बना देगा !

प्रिय पाठकगण ! मरना जीना तो ईश्वर के हाथ है पर प्रयत्न करना बुद्धिमानों को कर्तव्य धर्म है। आप लोगों को अवश्य चाहिए कि अपने २ प्यारे बच्चों के टीका लगवा दो। यदि एक बार अच्छा न लगे तो दो व तीन बार तक इस सहज सुलभ औषधी को काम में लाओ। टीका अच्छा लगने की पहिचान यह है कि बहुधा तीसरे दिन उस ठौर पर छोटा सा लाल दाग दिखाई पड़ता है। चौथे दिन वह दाग कुछ उभरा सा जान पड़ता है। पांचवें दिन वही छोटा सा फफोला हो जाता है। आठवें दिन तक बढ़ता रहता है। आकृति इस फफोले की गोल, किनारे उठे हुए, और ध्यान देके देखने से बीच में कुछ दबा सा और उसी दबाव से लेकर किनारे तक कई एक लकीरें सी होती हैं और अनुमान बारहें दिन से इस फफोले का सूखना आरंभ हो जाता है। इस बीच में बालकों को कुछ एक कष्ट भी रहेगा, उसका कुछ डर न करो। हां उस फफोले को फूटने से बचाये रहो। इससे आप देखोगे कि कैसा अच्छा होता है। शीतला जी का पूजन एक

विश्वास की बात है। गदहों को खिलाना और जीव मात्र की रक्षा करना पुण्य का काम है। पर इन बातों से विषफोटक रोग को कोई संबंध नहीं। इसके लिये टीका दिलाना ही परमोत्तम औषधि है। शीतला शब्द का अर्थ तो किसी पंडित से पूछते। उनसे डरने का तो कोई कारण ही नहीं है। फिर जब वे बिना औषधि सेवन के दया करती हैं तो क्या निश्चित उपाय का अवलम्बन करने से रुष्ट हो जायंगी? इससे यही योग्य है कि पूजा पाठ, हवन, ब्राह्मण भोजन, सब करो पर टीका दिलाने से मुंह न फेरो। यदि अपने सन्तानों को सच्चे जी से प्यार करते हो, उनकी रक्षा तुम्हारा अभीष्ट है, तो अवश्य इसका सेवन करो और दूसरों को भी अनुमति दो कि सब डर छोड़ के इसका सेवन करें।

खं० २, सं० २ (१५ अप्रैल सन् १८८४ ई०)

हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार होहीगा

सच है "परमेश्वर की परतीत यही, मिलो चाहिये ताहि मिलावत है"। जिस नागरी के लिये सहस्रों रिषि वंशज छटपटा रहे हैं उसका उद्धार न हो, कहीं ऐसा भी हो सकता है? जब कि अल्प सामर्थी मनुष्य को अपने नाम की लाज होती है तो क्या उस सर्वशक्तिमान को अपनी दीनबन्धुता का पक्ष न होगा? क्यों नहीं। हमारे देशभक्तों को श्रम, साहस और विश्वास चाहिये, हम निश्चयपूर्वक कहते हैं यदि हमारे आर्य भाई अधीर न होंगे तो एक दिन अवश्य होगा कि भारतवर्ष भर में नागरी देवी अखण्ड राज्य करेंगी और उर्दू देवी अपने सगों के घर में बैठी कोदौं दरैंगी। लोग कहते हैं, सर्कार नहीं सुनती। हमारी समझ में सर्कार तो सुनेगी और चार थान नाचेगी, कोई कहर सुनाने वाला तो हो। यदि मनसा वाचा कर्मणा सौ दो सौ मनुष्य भी यह संकल्प करलें कि 'देवनागरी का प्रचार में सर्वस्व का स्वाहा करिये' तो देखें तो सरकार कैसे नहीं सुनती। और सर्कार न सुनै तो कोई तो सुनैगा। कोई न सुनै तो परमेश्वर तो अवश्यमेव सुनेगा। हमारे उत्साही वीरगण कमर बाँध के प्रयाग हिंदू समाज के सहायक तो बनें। उसके सदनुष्ठान में शीघ्रता तो करैं। यदि सच्चे हिंदू हों, यदि सचमुच हिंदी चाहते हों तो मन लगा के हिंदू समाज प्रयाग की अमृत वाणी सुनैं तो सही। कुछ सच्चा रंग तो चढ़ै, तदनंतर हिंदी का प्रचार न हो तो हम जिम्मेदार। विचार हिंदू समाज का यह है कि देश देशातर के हिंदी रसिक प्रयागराज में एकत्र करके उनकी सम्मत्यानुसार यावत कार्य सिद्धि हो। किसी प्रकार प्रयत्न से मुँह न मोड़ा जाय, अर्थात् स्थान २ पर सभा स्थापित हों, लोकल गवर्नमेण्ट से निवेदन किया जाय। यदि वहां से सूखा उत्तर मिले तो उसी निवेदन पत्र में यथोचित बातें घटा बढ़ा के गवर्नर ज्यनेरल को भेजा जाय। वह भी निराश रक्खें तो फिर पार्लियामेण्ट की शरण ली जाय। न्याय अन्याय, दुख सुख, सब यथावत् विदित किये जायं इत्यादि २। इस विषय में जो कुछ धन की आवश्यकता हो उसके लिये राजा वा महाराजा, सेठ साहूकार इत्यादि सब आर्य मात्र से सहायता ली जाय। यही अपना कर्तव्य है। उस धर्मवीर सभा का यह

वचन क्या ही प्रशंसनीय है एवं सर्वभावेन ग्रहणीय है कि 'हम लोगों को केवल यही प्रण रखना आवश्यक है कि जब तक इष्ट सिद्धि न होगी तब तक हम लोग किसी रीति से चुप न होंगे।'

क्यों प्यारे पाठकगण! विचार के कहना, यदि पूर्ण रूप से ऐसा किया गया तो कोई भी सहृदय कह सकता है कि हिंदी न जारी होगी? हमारी समझ में ऐसा कोई बिरला ही गया बीता होगा जो यथा सामर्थ इस परमोत्तम कार्य में मन न लगावै। हां भाइयो! एक बार दृढ़ चित्त हो के, सेतुआ बांध कै पीछे पड़ौ तो देखौ कैसा सुख और सुयश पाते हौ। देखौ कैसे शीघ्र हमारी तुम्हारी नपुंसकता का कलंक (जो मुद्दत से लगा हुआ है) दूर होता है! इसमें अवश्य कृतकार्य होंगे। देखो शुभ शकुन पहिले ही से जान पड़ने लगे कि रीवां के राज्य में नागरी प्रचलित हो गई। हम जानते हैं, अवश्य यह हमारे मान्यवर श्रीयुत पंडित हेतराम महोदय के उत्साह का फल है। फिर क्यों न हो, इस देश के मंगलकारी सदा से ब्राह्मण तो हैं ही। सदा से, सब सदनुष्ठानों में इस पूजनीय जाति को छोड़ कौन अग्रगामी रहा है, और है? हमको निश्चय है कि हमारे सच्चे सहायक ब्राह्मण ही हैं। विशेषतः वे सज्जन जिनको विश्वास है कि हमारा धर्म कर्म, संसार परमार्थ, मान प्रतिष्ठा, जीविका, सब कुछ हिंदी ही के साथ है तथा जो और भी महाशय हैं व भी निस्संदेह ब्राह्मणों से किसी बात में बाहर नहीं। तो क्या सब मित्रगण हमारी न सुनैंगे? क्या सक भर हिंदू समाज का साथ न देंगे? क्या पंडितवर हेतराम दीवान साहब का अनुसरण किंचित मात्र भी न करैंगे? कदाचित कोई महानुभाव कहैं कि हम तो सब करैं, पर किस बल से? सामर्थवानों की तो यह दशा है कि महाराज कहाते हैं, ललाई पर मरे जाते हैं, पर सवा आने महीना का 'ब्राह्मण' पत्र लेते सिकोड़बाजी करते हैं। क्या इन्हीं से धन की सहायता मिलैगी? हमारे पास द्रव्य ही कितना है? इसका सच्चा उत्तर यह है कि 'सात पांच की लाकड़ी एक जने का बोझ' भी सुना है? सौ महा निर्धन भी यदि अपनी भर चन्दा करते रहैं तो एक दो लखपती को पिड़ी बोलावैं। दृढ़ता चाहिये फिर कोई काम होने को न रह जायगा। बड़ों २ को समझाने में कसर न करो तो कहां तक जायंगे, एक दिन समझा के छोड़ोगे, हैं तो जनेऊ चुटिया वाले ही न? कहां भागेंगे? जब होली माता की बर्षी (बुढ़वा मंगल इत्यादि) में दाढ़ी वालों को सैकड़ों दे देते हैं तो नागरी

माता के उद्धार में क्या कुछ न देंगे? जब रीवा के अल्पबयस्क महाराज ने इतनी बड़ी महत कीर्ति संचित की तो क्या हमारे यावदार्यकुलदिवाकर सूर्यवंसावतंस मेवाण देशाधिपति सरीखे सर्वसद्गुणालंकृत महाराना तथा अन्यान्य आर्येन्दगण पीछे रह जायंगे? हम तो ऐसा नहीं समझते, अतएव हिम्मत रक्खो एक दिन नागरी का प्रचार होहीगा।

खं० २ सं० २ (१५ अप्रैल सन् १८८४ ई०)

टेंढ़ जानि शंका सब काहू

वेद शास्त्र पुराण इंजील कुरान चाहे जो कहें, देवता रिषि मुनि पीर पैगंबर चाहे जो बकें, पर संसार का चलन त्रिकाल में यही है कि 'टेंढ़ जानि शंका सब काहू'। चाहे जैसा न्यायी, चाहे जैसा धर्मात्मा, चाहे जैसा सच्चा, चाहे जैसा धीर वीर गंभीर कोई क्यों न हो, फक्कड़ से सबकी कोर दबती है। जिसने समझ लिया कि हां 'जिस्तरह सब जहान में कुछ हैं हम भी अपने गुमान में कुछ हैं', उसी को सब साध्य है। वह चाहे जो करै कोई उसकी दुलखने वाला नहीं। वुह किसी मनुष्य का बध कर डाले तो नरमेध यज्ञ है, व्यभिचार करले तो गंधर्व विवाह है, विश्वासघात करे तो चतुरता (हिकमत अमल) है। उसे सब सोहता है। किसके कलेजे में बल है जो उसके आगे अलिफ से बे निकाले। गुरू जी सब लड़कों के लिये काल होते हैं पर नटखट लड़के से थरथराते हैं। वेश्याएं सीधे सादे कामियों का सर्वस्व हर लेती और अंगूठा दिखा देती हैं, पर वे हाड़े के आगे हाथ जोड़ें— "मैं तो हाजिर बंदियां तेरियां रे, क्यों बोलता यार बोलियां रे" न कहें तो जायं कहां? ऐसे २ अनेक दृष्टांत हैं जिनसे स्वयं सिद्ध है, "टेंढ़ जानि शंका सब काहू"। हिंदुस्तान में मुसलमानों की संख्या थोड़ी, धन थोड़ा, विद्या थोड़ी, फिर क्यों वे गाय मार डालें, हम अपने ठाकुर न निकाल पावें; हमारे देवताओं और रिषियों को निर्लज्ज गाली बकें, हम उनकी किताबों के अनुसार सीधा जवाब भी न दे सकें? क्या यह बात निरी खुशामद है कि "सर्कार अंग्रेजी के राज्य में बाघ बकरी एक घाट पानी पीते है?" नहीं। पर "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" भी तो बड़े महात्माओं का अनुभूत वाक्य है। कहां तक कहिये, परमेश्वर भी जो बड़े २ रिषियों के ध्यान में भी नहीं आता (ब्रह्म सदा सबही ते परे हैं), वुह सच्चे प्रेमी (दुनियां भर से टेंढ़े अर्थात् अपने प्रेमानंद के आगे संसार परमार्थ दोनों को तुच्छ समझने वाले) से पल भर न्यारा नहीं हो सकता। टेढ़ाई की सब ठौर इज्जत है। वैष्णवों में भगवान कृष्णचंद्र का नाम ही त्रिभंगी, शैवों में "गौरी बर बांके को कुटुंब सब बांको है," शाक्तों में भगवती "कालाभ्राभां कटाक्षैर-रिकुलभयदां मौलिबन्धेन्दु रेखां" सौरी में सूर्य नारायण की चाल (उत्तरायण

दक्षिणायण अर्थात् सीधी नहीं), गाणपत्यों में गणेश जी की शुंडादंडे, मुसलमानों में काबे की महिराब, ईसाइयों में क्रास, वीरों में "बड़े लड़ैया महुबे वाले जिनकै बेंडि बहै तरवारि," रसिकों में "अदा है जिसकी बांकी तिरछी चितवन चाल मस्ताना" । अब कहो सुहृदगण, "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" में क्या संदेह ? हमारे सीधे सच्चे गऊ हिंदुस्तानी इसका मजा क्या जानें। इसके लिये तो 'सूधे का मुंह कुत्ता चाटै' कहा गया है। इसका गुण तो सारग्राही अंग्रेज ही जानते हैं, जिसके बल से "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहिं करौ तुम सोई।" तथा "चारि पदारथ करतल तासू" इत्यादि वचनों का उदाहरण बन रहे हैं। उनकी प्रत्येक बात में हांजी हांजी न करना खुशामद शास्त्र के विरुद्ध है। उनके किसी काम में (कैसा ही हो) न्याय अन्याय विचारना निरा व्यर्थ है। वे हमारे राजा हैं, और "राजा करे सो न्याव है, पासा परे सो दांव"। वे सिंह हैं। सिंह को कौन कानून ? वे गोरे है, 'चाहें जिसे मारें जिसे चाहें यः जिलाएं। इन सीमश्र तनों के लिए आईन नहीं है।' उन्हे तो ईश्वर ही ने स्वतन्त्र किया है। Might is right, उन्हें कोई कुछ कह के क्या कर लेगा। इनसे डरना ही श्रेयस्कर है क्योंकि यह येन केन प्रकारेण अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना जानते हैं। फिर इनके साथ ' टेंढ़ि जानि शंका सब काहू" का बर्ताव न करना भूल है। इलबर्ट बिल का तमाशा देख चुके, शिक्षा कमीशन की लीला देख चुके, इससे यह भी खुल चुका कि हिन्दू मानव हैं (मनु के वंशज), आदमी नहीं (आदम की औलाद)। फिर डाक्टर बेकस के मुकदमे में क्यों आक्षेप करते हैं। क्या नहीं मालूम—'समरथ को नहिं दोष गोसाईं।' डाक्टर साहब उस समाज के हैं जिससे लार्ड रिपन सरीखे प्रभु तरह दे गये। फिर भला "जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं, कहहु तूल केहि लेखे माहीं।" भई हम तो यही कहेंगे कि उन्होंने जो किया सो अच्छा किया। बिचारे क्या जानते थे कि जो हिन्दू सैकड़ों गोवध होने पर नहीं जगते वह एक हिरन मार डालने पर हमारे शिकारी की बन्दूक छीन लेंगे। जूद गांव (अहमदाबाद, गुर्जर देश में है) के निवासियों ने निश्चय बुरा किया जो साहब के आदमी से छेड़ की। क्या न जानते थे कि "रोकि को सकै राम कर दूता"। जो कहो, उसके पास बंदूक का लाइस्यंस न था इस से वहां के सिपाही ने छीन ली, तो हम कहते हैं, न सही लैस्यंस, आदमी तो वह उन्हीं का था जिनकी कानून है। छीनने वाला हिन्दुस्तानी होकर ऐसा क्यों करे ? साहब बहादुर ने उन कलूटों को मारा एवं धन दंड दिया

सो बहुत अच्छा। हिन्दू तो इसी लिये बनाया गया है। काले रंग वालों को मारना कोई जुर्म है ? कौआ सभी कोई उड़ा देता है। बाल सभी कोई कटा डालता है। कबैला सभी कोई आग में झोंक देता है। इसमें साहब ने क्या बुरा किया। कदाचित् हमारे पाठक कहैं कि अभी तो "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" की प्रशंसा करते थे, अभी सब देशी भाइयों को काला कलूटा बनाने लगे। कैसी उलटी समझ है। उन बिचारों ने भी तो दया और धर्म की उमंग में आके थोड़ी टेढ़ाई ही की थी। इसका उत्तर यह है कि इनमें यदि सचमुच की दया धर्म और टेढ़ापन होता तो क्यों घर फूंक तमाशा देखते। इनकी दया कहने मात्र की है, नहीं तो गोरक्षा के लिए क्यों दुम दबाते ? धर्म बिडम्बना है, नहीं तो मनसा वाचा कर्मणा "प्रेम एव परो धर्मः" का सेवन न करते ? टेढ़ाई का तत्व ही नहीं जानते। टेंढ़ है तो केवल घर में। बाहर वाला तो, एक मड़ा सा हींग बेचने वाला भी, इनको माननीय है। तभी तो सारा भूगोल इन्हें निरा काठ का पुतला समझता है—"उठाए जिसका जी चाहे, बिठाये जिसका जी चाहे"। हम नहीं कह सकते कि गुर्जर लोग न टेढ़ाई करते तो बेंकस साहब ने भांग खाई थी जो मारे बेंतों के उनकी खाल उड़ा देते और आप ही नवाब बन के उन पर २० रु० जुरमाना भी कर देते। भागते न अपने शिकारी की तरह लेंड़ी बनके ? मारते के आगे किसी की चलती है ? सच्चा बांकपन तो साहब ही का सिद्ध है जिसकी बदौलत हिन्दुओं पर भी शेर रहे, म्यजिस्ट्रेट साहब के आगे भी धर्म का रूप, निरदोषता का पुतला ठहरे। क्यों न ठहरें, यह अंगरेज "स्वजातिपक्ष" के तत्वज्ञ हो के क्यों न कहें कि "शोक का विषय है कि डाक्टर साहब उन पर (गांव वालों पर) दावा नहीं करते, नहीं तो उन्हें डकैती के अपराध में अवश्य दंड दिया जाता।" ठीक है, कोड़े खाना और जुरमाना देना कोई दंड थोड़े ही है। हिन्दुओं को तो कोल्हू में पेर डालना चाहिए था। बलिहारी ! मजिस्ट्रेट साहब ! न्यायकारी हो तो ऐसा हो कि "जो कहुँ आपनो खोटो मिलै तो खरो ठहराय के बांधिए गांठी" एवं "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" को प्रत्यक्ष कर दिखावे। अथवा यह तो स्वयं प्रत्यक्ष है, देखो ना बम्बई गवर्नमेंट ने चाहा था कि इस विषय में सच्चा इंसाफ करे, पर क्या होता है, अंत में वही "टेंढ जानि शंका सब काहू" आंखों के आगे आया। उक्त गवर्नमेंट ने लिखा था कि सर्कार इस बात से अत्यन्त अप्रसन्न है कि डाक्टर साहब आप ही न्यायाधीश बन गए। हम कहते हैं जिसके चार जने सहाय हैं, जिसकी भुजा में बल है, जिसके दिल में

बांकपन है, उसे सब अधिकार हई हैं—सिंह के शिर पर किसने मुकुट रक्खा है, वह तो मृगराज है ही। बम्बई गवर्नमेंट के निकाले डाक्टर कैसे सर्कारी काम से निकल सकते थे जब कि अंगरेजी अखबार तथा डिफेंस ऐसोसिएशन "पानी से पानी मिलै मिलै कीच से कीच" का उदाहरण रूप उनके दिन को रात, रात को दिन कर दिखाने को समर्थ, उनके (डाक्टर के) लिए राज्य भक्ति तथा न्यायाचरण का बलिप्रदान करने को प्रस्तुत थे। "तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्तेमत्तदंतिनः" प्रसिद्ध है, फिर यहाँ तो "लंका में छोट सो बावन गज का" यह लेखो ठहरा। यहां इसके सिवाय क्या हो सकता था कि डाक्टर बेंकस अहमदाबाद से सूरत को बदल दिए जायं। इस उपाख्यान से हमें निश्चय है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के उपरोक्त बचन पर किसी को संदेह न रहा होगा। फिर भी यदि हमारे भारतीय भ्रातृगण स्वत्व रक्षण और ऐक्य बर्द्धन में कटिबद्ध न हों तो हम निरासता के साथ यही कहैंगे कि कोई क्या करे, करम ही फूटे हैं, भाग ही में लातें खाना बदा है, किमधिकम्। भाइयो! हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि अंगरेजों की भांति तुम भी राजद्वेशी बनो। नहीं "आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम् प्रथमश्य्या वरस्त्रीणामशस्त्रबध उच्यते"। इन पापों से परमेश्वर दूर रक्खै। पर हां, अपने धन, बल, विद्या, जाति, भूमि, मान, गौरवादि के रक्षणार्थ छल बल सभी कर्तव्य हैं। सदा सर्वदा भकुआ बना रहना ठीक नहीं। स्मरण रहे कि "टेंढ़ जानि शंका सब काहू। सुनि समझहु मानहु पतियाहू।"

ख० २, सं० ३ (१५ मई सन् १८८१ ई०)

मतवालों की समझ

विचार देखो तो शंकर स्वामी, रामानुज स्वामी, वल्लभ स्वामी, कबीर-साहब, नानक साहब, दादू साहब, ऋषभदेव, बुद्ध तथा मसीह इत्यादि कोई साधारण पुरुष नहीं थे, बरंच ऐसे थे कि सब लोग उनका नाम बड़ी प्रतिष्ठा से लें और उनके सदुपदेशों पर चल के अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करें, क्योंकि यह सभी महात्मा परम भक्त एवं लोक हितैषी थे। यद्यपि साधारण बुद्धि को इनके उपदेशों में कहीं २ भ्रांति प्रतीत होती है, पर सारग्राहियों को समझ लेना चाहिये कि वह विषय किस के लिये हैं, किस लिये हैं, कब के लिये हैं। यदि तब भी न संतोष हो तो जान लेना चाहिये कि मनुष्य की बुद्धि सदा सब बातों में यथावत नहीं पहुंच सकती। कदाचित भूल ही हो पर वह भूल मनुष्यत्व का जाति स्वभाव है। आग्रह से वा किसी की हानि हो इस विचार से कदापि उन्होंने नहीं कहा। यह बात भी हमको तब कहना उचित है जब हमारी बुद्धि सुनते, समझते, विचारते, सर्वरूपेण स्थापित हो जाय। नहीं तो जिन्होंने अपने जीवन का अधिक से अधिक समय प्रेमानंद तथा परोपकार ही में बिताया है उनकी बातें प्रायः निर्दोष ही हैं। उन सब का सिद्धांत केवल इतना ही रहा है कि लोग हानिकारक कर्मों को छोड़ें, अपनी तथा अपने सहवर्तियों की भलाई में तत्पर हों और डर से, लालच में चाहे प्रीति से, प्रेमस्वरूप जगदीश्वर के आश्रित बनें। यद्यपि इन महानुभावों के बचनों में कहीं २ एक दूसरे से विरोध सा देख पड़ता है पर मनस्वी की दृष्टि में वह वास्तविक विरोध कदापि नहीं है, क्योंकि "सौ सयाने एक मत" यह बात बड़े बुद्धिमानों ने बहुत सोच समझ के कही है। ऐसा कैसे हो सकता है कि जो पुरुष सैकड़ों बातें हमारे हित की कहे वह हमें धोखा देने के लिए कभी उद्यत हो। हां हम स्वयं धोखा खाएं वा हठवशात किसी के गुण में दोषारोपण कर लें तो उनका क्या दोष? इनके वाक्यों से प्रकट है कि यह किसी को अंधकार में रखना कभी न चाहते थे। तुच्छ बुद्धि कुछ का कुछ समझ लें वह दूसरी बात है, नहीं तो "व बजह गुफ्तगू नहीं मर्दे फकीर की। सीधी ही समझते अगर उलटी कबीर की।" सच तो यह है कि प्रत्येक ज्ञानी का वचन वास्तव में

कुछ भलाई ही सिखाता है। जिन्होंने कहा है "संसार झूठा है" वे निश्चय सच्चे थे। उनके इस कथन का तात्पर्य यह था कि सांसारिक विषय केवल थोड़े दिन के लिये हैं। अंत में वही "मूंद गई आंखैं तब लाखैं किहि काम की।" अतएव उनके स्वादु में हमें ऐसा न लिप्त हो रहना चाहिए कि हम एंग्लो-इण्डियन लोगों की भांति यह सिद्धांत कर लें कि "आप जियते जग जिए कुरमा मरे न हानि।" ऐसे ही जिन्होंने जगत को सत्य माना है वे भी सच्चे हैं क्योंकि वे समझते थे कि जो संसार सर्वदा मिथ्या ही मान लिया जाय तो हम भी मिथ्या हो जायंगे और हमारे अवश्य कर्तव्य धर्म कार्य भी मिथ्या ठहरेंगे। यदि किसी बुद्धि के शत्रु ने सत्कर्म मिथ्या समझ लिया तो उसने अपना तथा अपने मित्रों का जन्म ही नष्ट कर दिया, जैसा राजर्षि भर्तृहरि जी का सिद्धांत है कि 'येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः। ते मर्त्य लोके भुविभारभूता मनुष्य रूपेण मृगाश्चरंति'। अब हमारे सर्वहितैषी सज्जन विचार लें कि उपरोक्त दोनों बातें यद्यपि परस्पर विरुद्ध सी ज्ञात होती हैं पर वस्तुतः दोनों का झुकाव यही है कि यावज्जीवन मनुष्य को निरा निजस्वार्थी न होकर प्रसन्नतापूर्वक सदनुष्ठानों में लगे रहना चाहिये। यों ही जिन्होंने कहा है कि सब ब्रह्म ही है उनकी मनसा थी कि ऐसा कोई काम तथा कोई स्थान नहीं है जहां हम प्रेम चक्षु से ब्रह्म को न देख सकें; तथा जिन्होंने धर्मानुष्ठान ही के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया तथा जन्म भर 'सत्यंवद धर्मंचर' इत्यादि ही उपदेश करते रहे उनका यह तात्पर्य कदापि न होगा कि लोग निरे अनीश्वरवादी नास्तिक हो जायं। क्या जाने उन्होंने यह समझा हो कि यदि आत्मा शुद्ध नहीं है, यदि अहिंसादि सत्कर्मों में प्रीति एवं पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो केवल मुख से ब्रह्म २ चिल्लाना व्यर्थ है। ईश्वर के विषय में तो केवल गूंगे के गुड़ की भांति अनुभव के विना कुछ कहना सुनना बनता ही नहीं। अनुभव-सिद्ध लोग जो कहते हैं सब सत्य ही है। क्या यह बात झगड़ालुओं की समझ में आ सकती है? वहां तो 'एक कि दोय?' न एक न दोय। 'वही कि यही?' न वही न यही है। 'शून्य कि स्थूल?' न शून्य न स्थूल। 'जहीं कि तहीं?' न जहीं न तहीं है। 'मूल कि डाल?' न मूल न डाल। 'जीव कि ब्रह्म?' न जीव न ब्रह्म। 'तो है कि नहीं?' कुछ है न नहीं है। इसी भांति उस अतर्क्य की उपासना भी अतर्क्य है। जैसा श्रीवल्लभाचार्य स्वामी की आज्ञा है कि 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'। सोई सब महानुभावों में देख पड़ता है। शंकर स्वामी

ने 'अहंब्रह्मास्मि' कहा। सो प्रेम की पराकाष्ठा से अहंकार व नास्तिक्य से नहीं। 'अनलहक' कहने को मंसूर के कोई नहीं समझा। वह खुद को भूल जाते हैं जो उसकी याद करते हैं। पर यह बात कहने व शास्त्रार्थ करते फिरने की नहीं है, केवल आत्मा में उस आश्चर्यमय का अनुभव करो। आनंद के जोश (उमंग) में जो निकलेगा सच ही है। इसके बिना वही 'कलौ वेदान्तिनो संति फाल्गुने बालका इव' की गति होनी है। हमारे सर्वथा मान्य श्री भारतेन्दुजी ने कहा है 'जो है तुम से जुदा व' मेरे लेखे रब या राम नहीं। यार तुम्हारे सिवा दुनिया से मुझे कुछ काम नहीं।' अथवा 'प्यारे प्राण नाथ पिय प्रियतम सुनतहि हियो जुड़ात। ईश्वर ब्रह्मनाम हौ वासे कानन फारे खात'। क्या कोई सहृदय इन वचनों को नास्तिकता कह सकता है? कभी नहीं। यह भी प्रेम की सर्वोच्च पदवी में वक्तव्य है। सारांश यह है कि देशकाल तथा मनोवृत्ति के अनुसार महात्मा लोग अमृत-वाणी कह देते हैं। वह उनकी और परमेश्वर की रहस्य बातें हैं। उनका अर्थ ठीक २ वही समझ सकता है जो उस महात्माओं का सा मन रखता है। दूसरों को अधिकार नहीं है कि उन प्रेम वाक्यों का अर्थ बिगाड़े। यह बात कुछ दिन आत्मानुभव का अभ्यास करने से समझ में आ सकती है। नानक जी पंजाबी खत्री ने (उनके यहां जिसे बहुत प्यार करते हैं उसे राजा अथवा गुरु कहते हैं, सो उन्होंने) प्रेमानंद में मत्त हो के परमेश्वर की अलौकिक छवि पर रीझ के 'वाह गुरु' कहा होगा, जिस को उन के बनावटी चेलों ने तथा दूसरे मतवालों ने कुछ कुछ ठहरा लिया है। इसी प्रकार अन्यान्य भक्तों की बातों का प्रयोजन खोजने से जान पड़ता है।

कहां तक कहें, बड़ों की बात में बड़े २ अर्थ तथा बड़ी बड़ी शिक्षा होती हैं पर उनका समझना सब का काम नहीं है। वैसे ही इनके चरित्र भी अधिकतर तो उत्तम ही होते हैं। हां, यदि किसी विशेष कारण से मनुष्य की निर्बल प्रकृत्यानुसार कोई काम ऐसे हो गये जो साधारण दृष्टि में बुरे हैं तो भी उचित नहीं कि हम उन्हें नीच व कुकर्मी कहें। निर्दोष अकेला परमात्मा है। पर सर्वसाधारण लोगों के दुष्कर्मों की अपेक्षा उन लोगों में कदाचित् शतांश बुराई भी न निकलेगी। चोरी, जारी, विश्वासघात, जीव-वधादिक वास्तविक घोर पाप तो किसी के चरित्र में पाए ही नहीं जाते। फिर क्यों उन्हें तुच्छ समझा जाय। चंद्रमा में कलंक सही पर उसकी अमृतमयी किरणों तथा अपूर्व शोभा में उस कलंक से क्या हानि? यों भी न

मानो तो उनके बचन बुराई सिखाते ही नहीं हैं। रहे शारीरिक कर्म, सो अब उसमें तुम्हारी क्या क्षति ? अब उनसे तुम्हें किसी प्रकार का संबंध नहीं रहा। फिर क्यों किसी की निंदा की जाय ? कबीर जुलाहे थे तो हों, किसी कनवजिया से नातेदारी करने तो नहीं आवेंगे। हमारे इतने लंबे चौड़े कथन का सारांश यह है कि दुराग्रह छोड़ के हर एक धार्मिक एवं विद्वान के सिद्धांत देखने से शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक सहस्रावधि उपकार हो सकते हैं, जिनके लिये चाहिये कि हम उन उपदेष्टाओं को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद दें। उन्होंने अपने जीवन का अधिकतर भाग ऐसे कामों में बिताया है जो हमारे अनेक हित साधन में उपयोगी हैं। परंतु हाय, पक्षपाती कलह-प्रिय संकीर्ण बुद्धि मतवालो ! तुमने हार जीत की धुन में ऐसा अनर्थ उठाया कि अपनी सर्वस्व स्वाहा कर दिया अथच उन पूजनीय पुरुषों का महत्व मट्टी में मिलाने पर उद्यत हो गये। हाय २, क्या हमारे यतिराज श्री मद्रामानुजाचार्य, शिवस्वरूप सत्याचार्य शंकर स्वामी प्रभृति ऐसे थे कि उन्हें सड़े २ सांसारिक क्षुद्र कीट, माया के गुलाम (साधारण मनुष्य) मायावादी, पाखंडी, नास्तिक इत्यादि दुष्ट वाक्य कहें। शिव २ !! ऐसे कुवाच्य किसी को कहना महा अनुचित है, न कि ईश्वरानुरागियों को। पर किया क्या जाय, उन्हीं के संप्रदायी उन्हें गालियां खिलाते हैं। यह लोग बुद्धिमान हों तो काहे को दूसरों को कहें। क्यों अपनों को कहलावें। क्या यह भी कोई धर्म है कि किसी समाज के मान्य पुरुष को व्यर्थ दोषी ठहराना और अपने गुरुओं की अप्रतिष्ठा कराना। वही अपने दोष देखते तो सब मतावलंबी तुम्हारे मित्र हो जाते और तुम्हारा तथा तुम्हारी मातृभूमि का अमित उपकार होता। भाइयो, बहुत दिन लड़ चुके, यदि भला चाहते हो तो अब भी हमारी सुनो।

खं० २, सं० ३, ४ (१५ मई, जून सन् १८८५ ई०)

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत अगिन को, दीपहि देत बुझाय॥

जहां देखो, जब देखो, जिसे देखो यही दृष्टिगत होता है कि जो निर्बल है वही लातों का पात्र है। कैसे ही महात्मा हों उसी पर हाथों की खुजलाहट मिटावेंगे। धर्मनीति, इंसाफ मनुष्य जाति में कथन मात्र को है। केवल खुशामदी लोग जिसको बढ़ाके अपना कुछ काम निकाला चाहते हैं उसे धरममूरत धर्मावतार इत्यादि बनाया करते हैं, नहीं तो यह गुण ईश्वरके हैं, मनुष्य बिचारे में क्यों कर हो सकते हैं। लोग वृथा मुसलमान बादशाहों को बदनाम करते हैं कि जालिम थे, परस्त्रीगामी थे, स्वार्थी थे इत्यादि। हम कहते हैं जिसने जिसको किसी बात में दबा पाया वह सदा उसके साथ मनमानी घरजानी करता है और जब तक उसका प्राबल्य रहता है सभी उसकी चुटकी बजाया करते हैं। जैनी बढ़े थे तब हिन्दुओं के साथ कैसा बर्ताव करते थे? उनके समय में वैदिक लोग ढूंढ़े न मिलते थे। पर किसी ने न पूछा कि अहिंसा परमोधर्मः कंठे रहे छे? ऐसे ही आर्यों ने बढ़ती के समय जैन धर्मियों को मार मार निकालना शुरू किया। 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्' इत्यादि धरियाए धरे रहे। मुसलमानों के इतिहास में महमूद, अलाउद्दीन और आलमगीर ऐसे अधर्मों को जाने दीजिये, अकबर ने राना प्रताप सिंह उदयपुराधीश के साथ क्या किया था? मालवा के हाकिम बाजबहादुर से कौन भलाई की थी? लोग कहेंगे शत्रु का दमन करना नीति है। इसमें बुराई क्या हुई? हमारा कथन है कि शत्रु वह कहाता है जो अपने धन, बल, मान तथा प्राण हानि का उद्योग करे। उससे अपने बचाव के लिए कल, बल, छल सभी कर्तव्य हैं। पर जो बिचारा अपने घर बैठा है, किसी के लेने देने में नहीं, उससे छेड़ करना जबरदस्ती नहीं तो क्या है? पर कौन कहे? प्रबल जाति सदा से ऐसा ही करती आई है। बिचारने का स्थान है—ऐसे ही दयावान हों तो दूसरे की वस्तु पर चित्त ही क्यों चलावें। फिर भला ऐसों से अपने हित की आशा करना व्यर्थ के अतिरिक्त क्या है? कभी कहीं किसी जेता जाति ने जित के साथ भलाई की है? और कैसे भलाई कर सकता है? शास्त्र में लिखा है

'दैवोदुर्बलघातकः' । तो जिस पर दैव ही रुष्ट है उसका सहायक कौन ? यह बात और है कि अपने स्वार्थ के लिए छोटे बड़े सब के आगे बात निकालना होता है नहीं तो सौ बार भी हम मर के नहीं देख चुके हैं-- 'अपना नहीं होता कोई बेगाना किसी का' ? इस रामकहानी से हमें यह बात अभिप्रेत है कि हम आज पराधीन सर्वसाधनहीन हैं । चाहो कर्म का फल कहो, चाहो ईश्वर की इच्छा समझो, चाहो जमाने की गरदिश मानो, हम दूसरों की आँख देखते हैं और दूसरे लोग जैसे होते हैं इतिहासवेत्ताओं से छिपा नहीं है । इस से हमें अंगरेजों के अत्याचार से रोना न चाहिये और यह आशा भी न रखना चाहिये कि वह हमारी भलाई करने आए हैं । इलबर्ट बिल, शिक्षा कमीशन, बेकस साहब का मुकदमा, सब इसी बात के उदाहरण हैं कि 'सबै सहायक सबल के' इत्यादि । कोई क्यों न हो हमारी सहायता के लिए अपनी हानि तथा अपने सजातियों की रूप हानि न करेगा । जब तक हम ऐसे ही बने रहेंगे जैसे आज हैं तब तक हमारा रोना वा चिल्लाना किसी के दिल पर असर न करेगा । गत मास में आसाम देश के एक गौरण्डाधम बेब साहब ने एक कुली की युवती स्त्री को बलपूर्वक रात भर अपने शयनालय में रक्खा । उसके पति ने अपनी धर्मपत्नी का सतीत्व-रक्षण करना चाहा । उसे भी पीट उठाया । स्त्री बिचारी लज्जा और दुःख के मारे मर भी गई पर किसी ऐसे तैसे ने यथोचित न्याय न किया । कौन करे ? 'कोउ न निबल सहाय' । १० मई को अजमेर में स्टेशन पर भीड़ चढ़ी थी । एक गाड़ी में परसोतमदास नामक एक आर्य भाई (जो एकजामिनर्स आफिस के क्लर्क थे) बैठे थे । यों ही भीड़ के मारे आठ आदमियों के ठौर पर नौ जन थे तिस पर भी वहाँ के एसिस्टेंट स्टेशन मास्टर A. H. Brawar साहब ने दो और घुसेड़ने चाहे । तब बिचारे परसोतमदासजी ने कहा, साहब हमें तकलीफ होगी, अब भी तो नियम-विरुद्ध एक मनुष्य अधिक है । इतना सुनते ही चांडाल ने उनको गालियां भी दीं, पवित्र शिखा (चोटी) भी नोंची; लातें भी मारीं और पुलिस के सिपुर्द भी करा दिया । हम तो जानते हैं, वहां भी हमारा हितू कौन बैठा है जो धर्माधर्म विचारेगा । प्यारे पाठक, इसी पर इतिश्री नहीं, और भी जो न हो सो थोड़ा है क्योंकि हम तो निर्बल हैं न ? हम तो प्रजा हैं न ? जब तक हम अपनी निर्बलता का निराकरण न करेंगे हम निरे पशु समझे जायंगे । हम एक महादुर्बल पशु समझे जायंगे । यदि हम अपना पशुत्व दूर किया चाहें तो केवल सभाओं में लेकचर देना वा अखबारों में लम्बे २

लेख देना, सरकार से दुःख रोना मात्र लाभजनक न होगा। इसके लिए तो आखें मीचकर, आगा पीछा कुछ न सोचकर, जैसे हो तैसे, भातृस्नेह-वर्धन में जुट जाना चाहिए। नहीं तो कोरी बातों से कभी कुछ न होगा। हमारी निर्बल्य का महत्तम कारण केवल देशभक्ति का अभाव है। नहीं तो हम लाख गए बीते हैं तो भी कई बातों में विदेशियों से श्रेष्ठ हैं। हाय, हम अपने भाइयों के सुख दुःख में सहानुभूति करना नहीं जानते। हाय, हम देशहितैषी केवल मुख और लेखनी मात्र के हैं। नहीं तो जिस दुष्ट ने हमारे देशभाई की स्त्री का पातिव्रत भ्रष्ट किया उससे बढ़के हमारा शत्रु कौन होगा? क्या ऐसे पुरुषों के दमन करने में तन, मन, धन न लगा देना चाहिये? पर बिना सच्चे देशभक्त के यह काम हर एक का नहीं है। ऐसे ही जब अजमेर स्टेशन के बार ने परमोतम भाई की दुर्दशा की थी उसी समय 'भारतमित्र' के एक करेस्पांडेंट साहब उपस्थित थे। वह लिखते हैं—'स्टेशन के बाहर हमारे भाई को इस प्रकार मारते तो मैं और मेरा भाई उसको बाबा ही बना कर छोड़ते। परन्तु क्यों कर, दुष्ट रेलवे एक्ट हृदय में भरा था इससे रक्त का घूंट भीतर ही भीतर पिया किये'। हमारी समझ में जो साहब की सहबई उस अवसर पर निकाल डाली जाती तो पीछे की आँख कान हो जाते। Railway Act में कहीं नहीं लिखा कि लातें खाओ। होना क्या था? एक की दवा दो होते हैं। साहब की चटनी हो जाती तो सौ बिस्वा पुलिस का नाम न लेते। अरे भैया हिन्दुस्तान में अब सब बातें मौजूद हैं, पर हाय, प्रेम बिना ऋषिवंश की मट्टी ख्वार है। हाय, उसी बिना सब बल होते हुए भी हम निर्बल हैं। हाय, गवर्नमेंट को हम क्यों कुछ कहें। हम निर्बल हैं और 'सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।'

खं० २, सं० ४ (१५ जून, सन् १८८६ ई०)

समझदार की मौत है

सच है "सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हैं न व्यापै जगत गति"। मजे में पराई जमा गपक बैठना, रंडिका देवी की चरण सेवा में तन मन धन से लिप्त रहना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ त्योहार आ पड़ा तो गंगा में चूतड़ धो आना, वहां भी राह भर पराई बहू बेटिया ताकना, पर गंगापुत्र को चार पैसे देकर संत मंत में धरममूरत धरमौ औतार का खिताब पाना। संसार परमार्थ दोनों तो बन गए अब काहे की है है, काहे की खै खै है। मुंह पर तो कोई कहने ही नहीं आता कि राजा साहब लड़कपन में कैसे थे। पीठ पीछे तो लोग नबाब को भी गालियां देते हैं इससे क्या होता है। आपरूप तो "दुहू हाथ मुद मोदक मोरे"। इन ......को कभी दुख काहे को होता होगा। कोई घर में मरा मराया तो रो डाला, बस आहार निद्रा भय मैथुन के सिवा पांचवीं बात ही क्या है, जिसको झखैं? आफत तो विचारे जिंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल। जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान कहते थे "गीर्वाणवाणीषुविशालबुद्धिस्तथान्यभाषारसलोलुपोहम्"। अब आज अन्य भाषा, बरंच अन्य भाषाओं का करकट (उरदू) छाती का पीपल हो रही है। तब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटै। एक बार उद्योग किया गया सो तो हंटर साहब के पेट में समा गया। फिर भी चिंता पिशाची गला दबाए है। प्रयाग हिन्दू समाज फिकर के मारे "कशीदम नालओ बेहोश गश्तम" का अनुभव कर रही है। इरादे तो बड़े २ किये पर न जाने वह दिन कब आवै। एक से एक विद्वान एकत्र होंगे तो कुछ न कुछ भलाई ही करेंगे पर हमें यह तलवों से लगी है कि देखें कब करेंगे, देखें क्या करेंगे। इधर हमारे कई एक नरवल निवासी सहृदय महोदय इसी विषय का मेमोरियल भेजने में संलग्न हैं। चाहिए था कि स्वभाषा रसिकों को एक सत्कृत्य में तत्पर देख के खुशी होती। पर हमको यह सोच है कि नरवल कानपूर के जिले में है और यहां की आरम्भ शूरता तथा कच्चढिलापन प्रसिद्ध है। कहीं गोरक्षिणी सभा वाली न हो कि "करके छोड़ दिया और भी बुरा किया"। यही हाल सिविलसर्विस का है कि श्री सुरेन्द्रो बाबू एवं समनस्कगण इस चिंता में हैं कि हाय, हमारा सर्वस्व हरण कर

लिया तिस पर भी सर्कार हमें उच्च रीति की नौकरी पाने योग्य भी नहीं रक्खा चाहती ! हमें यह बात मारे डालती है कि सर्कार एक छंटी मतलब की यार है। वह स्वदेशियों के आगे हमारी उन्नति काहे को देख सकेगी। ग्वैर माना, रोए गाए, लड़े भिड़े, सर्कार ने १६ बरस के बदले २१ बरस का नियम कर भी दिया तो हमारे पश्चिमोत्तर देशी हिन्दू विलायत में परीक्षा देने के जने जायंगे ? इससे तो यही न बिहतर होगा कि विद्या तथा व्यापार की वृद्धि की जाय तो हम हजार सिविल सर्वेंटों से भले रहेंगे। साथ ही जी मे यह आता है कि तुम्हारी सुनता कौन है। और सुनो, रूसी धीरे २ इधर बढ़ते आते हैं। २६ जून के 'बिहार बन्धु' से ज्ञात हुआ कि उन्होंने "दरिया हरीदर को दखल कर लिया"। पढ़े लिखे लोग इस खुटका में चुरे जाते है कि सर्कार क्यों गाफिल है। हमारी समझ में दोनों तरह मरे। हमारी सर्कार लड़ेगी तो भी सब के आगे हमारे तिलंगा भाई खड़े किये जायंगे। रहे लाला भैया, उन्हें यों भी सर्कार निर्धन करके मारे डालती है। रूसी भी मारेहींगे। कुछ नजाकत पसंदी, कुछ प्रेस ऐक्ट का डर, हथियार पकड़ने का शहूर किस को है जो अपनी रक्षा करेगा वा स्वामिभक्ति दिखावैगा। हमें क्या है, गुलामी करना है, किसी की हो। न यह पूछैं न वह पूछेंगे। पर क्या कीजिये जो लोग कहते हैं "पढ़े ते मनई बैलाय जाथैं" सो ठीक भी जान पड़ता है कि "नहीं कुछ वास्ता लेकिन हरारत आही जाती है"। यह तो बड़े २ उदाहरण हैं जिनके उद्योग में दांतो पसीना आवैगा। अब रोजमर्रा की बातें देखिए। कहीं किसी पर किसी दुराचारी विदेशी ने अत्याचार किया, यहां क्रोधाग्नि भड़की। किसी को कोई दुख पड़ा यहां आंसू भर आए। यह भी न हुआ तो कोई पुस्तक ही लिए पढ़ते जाते हैं, रोते जाते हैं। किसी में कोई दुर्व्यसन देखा, आप सोच करने लगे। कहां तक कहिए, जहां समझने की शक्ति हुई कि बस बात २ में चिंता। चित्त और चिंता का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि जुदे होते ही नहीं। और चिंता की तारीफ शास्त्रकारों ने की ही है कि "चिताचिंतासमाख्याता तस्माच्चितागरीयसी"। एक बिन्दु अधिक है न। "चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवयुतंतनु" क्या ही सत्य है। शरीर की चिता रही, घर की रही, सब पर तुर्रा देश की चिंता। ग्वूशठ दास यह भी नहीं पूछते कि "क्यों मरे जाते हो"। पर देशभक्त इस लिए जीव होमे देते हैं कि इनका निस्तार हो। इसी से कहते हैं कि समझदार की मौत है।

ख० ४, सं० ५ (१५ जुलाई सन् १८८४ ई०)

कलिकोष

ब्राह्मण—'बाभन', बा इति भनति स बांभनः अर्थात् बैल —'विद्याविहीनः पशुः'' ।

गुरू—बेशर्मोहया नंगा लुच्चा दीवाना इत्यादि, काशीकोष प्रमाण्यात् ।

प्रोहत—प्रकर्षेणहतः । तथा उपरहित (उप = समीप) ''समीपे'' रहितः अर्थात् करीब-करीब सत्यानाशी ।

पंडित—पा से पापी, डा से डांकू, ता से तस्कर ।

ब्रह्मतेज—क्रोध ।

ब्राह्मणत्व—''बम्हनई''—सारे तोरे ऊपर कुआमां गिर परिवे ।

ब्रह्मज्ञान—नहीं डरने के पाप पाखंड को हम् । भजैं किसको हैं शुद्ध ईश्वर हितोहम् । कहैं हम् को इक बात कोई तो दो हम् । चिदानंदरूपं शिवोहं शिवोहम् ।

छत्री—जो बिना छतरी लगाए पयश्राव करने भी न जाय अर्थात् नजाकत का पुतला ।

राजा—''वाह रजा वाह मरे जाते हैं'' बस समझ जाओ ।

बीर—''एरी मेरो बीर जो लै आवै बलबीर'' इत्यादि प्रसिद्ध हैं ।

शूर—जलशूर ब्राह्मण इत्यादि छोड़ के समझ जावो । चाहे शूर ''हियो कपारे का आंधर'' मान लो ।

ठाकुर—रासधारियों में कृष्ण बनने वाला लौंडा, वा अंगरेज शासन रूपी डिबिया वाले ।

वैश्य—वेश्या का पुलिंग जान पड़ता है क्योंकि ''धन के हेतु त्यागि निज गौरव दास बन्यो जन-जन को ।'' परन्तु मत्सर इतनी है कि ''पर मन पर धन हरन को गनिका बड़ी प्रवीन'' प्रसिद्ध है, और यह अंगरेजों के लिये कमाते हैं ।

बनियां—जो कोऊ बनिकै आवै अर्थात् कभी झूठमूठ के भक्त, कभी व्यवहार का सच्चा, कभी जगत मित्र इत्यादि । केवल बन आवै, वास्तव में वही ''हाथ सुमिरनी बगल कतरनी ।''

लखपती—जिसने उम्र भर में लाख पति किए हों अर्थात् देखने में मर्द पर वज्र……।

महाजन—महा बड़ा और जन फारसी शब्द है अथवा भोले-भाले बैपारियों तथा गरीब कर्जदारों के हक में "महाजिन" (जिन फारसी में प्रेत को कहते हैं)।

लाला—सबसे सब प्रकार लाओ-लाओ कहने वाला अथवा सच्ची योग्यता के नाते दूध पीने वाला बच्चा। "कनवजियों" में छोटे लड़कों को कहते हैं अथवा एक प्रकार का ऊपर लाल भीतर काले दाग वाला फूल।

ब्रह्मचारी—बरहम फारसी शब्द है—उलटा, अनर्गल, विरुद्ध इत्यादि का वाचक और चारी संस्कृत में चलने वाले, बर्तने वाले आदि को कहते हैं। अर्थात् वामाचारी स्वतन्त्रचारी इत्यादि का पर्य्याय समझना चाहिए।

गिरस्त—आलसी जो गिरते २ अस्त हो जाय पर हाथ पांव हिलाने को धर्म प्रतिष्ठा कुलरीति आदि १०० बहाने करें। अथवा गृहस्थ, जो घर ही में स्थित देहली न लांघे।

वानप्रस्थ—जो घर का बना कर डाले और उसी में "प्र-खूब" स्थित रहे।

संन्यासी—अच्छे कामों को त्याग कर देने वाला, धर्म के नाम पर मूंड़ मुड़ा के खली तेल छू डालने वाला संनासी।

प्रातः संध्या—गंगा किनारे गोमुखी में हाथ डाले जनाने घाट की तरफ देख २ के, आंखें बना २ के मुसकिराहट के साथ कुछ कहना।

सायंसंध्या—ठंढी सड़क में किसी होटल को जगाना।

श्राद्ध—रंडिका भवन के पुरुषों को पिण्डदान करना "सुवर्ण वर्ण वनिता वरांगिके। रेजिरे सित तनुर्नवांकुरैः। तर्पणाय वेद मदनालसे स्वर्ण पात्र विकरास्तिला यवाः।

तरपन—जीवित माता पिता पर बात २ पर सिंहवत् तड़पना। र और ड़ का बदला है।

बलिबैश्वदेव—बलि "बकरा काट" बेसवा "रंडी" को (सर्वस्व) देव।

अग्निहोत्र—ब्याह में हजारों की आतिशबाजी फूंक के मेघमण्डल को छिन्न भिन्न एवं दुर्गंधिपूर्ण कर देना।

अतिथि सेवा—अंगरेजों को खाना देना, मुर्गांड और मांस से जनेऊ चुटिया तिलक आदि की इज्जत बढ़ाना।

धर्म—दूसरी संप्रदाय के पुरुषों को गाली देना।

वेद—आर्यसमाज और धर्मसभा की फूट का बीज।

यग्य—पुत्रउवाच "का कहन जुवा मा ५० रुपया हारि आयन" इत्या माता बोली "बड़ी जग्गि कीन्ह्यो";

दान—पीकदान इत्यादि।

देवाले—पराई जमा गपक बैठना। एक बचन "देवाला"।

सुरालय—सुरा "मदिरा" आलय "घर" अर्थात् गद्दीखाना।

शिवालय—शिवा "शृगाली" आलय स्थान। जहां सियारिन की तरह स्त्री फेकरा करें अर्थात् "कनश्जियों का घर"।

तीर्थ—बहिराइच, मकनपुर, गजनेर वगैरह।

नास्तिक—हमें छोड़ के दुनियां भर के मतावलम्बी।

जनेऊ—ताली बांधने और कसम खाने के लिए साबुन से धोया हुआ डोरा।

तिलक—दुष्कर्म छिपाने की ढाल।

आचार—शुद्ध शब्द अचार है। नीबू आम कटहल इत्यादि की खटाई।

विचार—जिहि विधि मिलै पर धन पर नारी। करिय सो जतन विवेक विचारी।

इति वर्णाश्रमधर्म:॥ थोड़ा २ पढ़ावेंगे, शेष फिर किसी प्रतिपदा को सीखना॥

× × ×

साधु—गांजा चरस अफीम इत्यादि का साधन करने वाला।

सन्त—शुद्ध शब्द संठ (निरलज्ज) है। फारसी में टवर्ग नहीं होता इससे मुसलमान लोग बिगाड़ के बोलने लगे, जैसे अरब में एक बड़े देवता का नाम लात था शुद्ध शुद्ध नाम लाट (शिवलिंग) होगा।

महन्त—मेहनत का अपभ्रंश मेहन्त, उसका भी अपभ्रंश महन्त, न करने वाला, 'हरामखोर'। अथवा बंगाली ढंग से 'मोहन्त' (काम क्रोध लोभ मोह) अर्थात् जिसके अन्त में मोह है ऐसे वर्ग चतुष्टय का पूरण पात्र।

महात्मा—महा माने बड़ा, तमा माने लालच (फारसी में) वाला।

बैरागी—वेति निश्चयेन रागी अथवा बैर की आगी (आग) का बर्द्धक।

विरक्त—विशेष रक्त मास जिस्के सबसे हो अर्थात् रिण की फिकिर न धन की चोट, यह धमधूसर काहे मोट।

जोगी—जो गिरस्त घर घालत फिरे। जो गिरस्त के काटे कान।

जंगम—फारसी शब्द है, मैं लड़ाई का रूप हूँ अर्थ हुआ।

जती—जै अर्थात् जितना तो (स्त्री) हो, इनकार नहीं।

भगतजी—मुंहमा राम बगल मौ ईटैं, भगतजी काहिन भयो·····इत्यादि प्रसिद्ध ही है। चाहो अविनाय के हबशी का नाम काफूर न्याय से समझ जाव।

गोसांई—गो गऊ अथवा इन्द्रिय तिनका साई (स्वामी)।

पुजारी—पूजा का अरि।

वैशनव—नवीन वैश (अवस्था) का खोजी।

शैव—(सवै) एक आख दबाके घोंचकोनिया के कहने से अर्थ खुल जायगा। सेव—अर्थात वही

× × ×

कचहरी—कच माने बाल, हरी माने हरण करने वाली। अर्थात् मुंडन (उल्टे छुरे से मूड़ने वाली)—जहां गये मुंड़ाये सिद्धि।

दर्बार—दर्ब द्रव्य का अपभ्रंश और अरि अर्थात् शत्रु, जैसे मुरारि मुरारि इत्यादि। भाषा में अंत वाला ह्रस्व इ की मात्रा बहुधा लोप हो जाती है।

अदालत—अदा अर्थात् छवि, उसकी लत पोशाकें चमका चमका के जो बैठने वालों का स्थान। अथवा होगा तो वही जो भाग में है पर अपने दौड़ने-धूपने की लत अदा कर लो। अथवा अदा बना के जाओ लातें खाके आओ इत्यादि।

हाकिम—दुखी कहता है हा! (हाय) तो हुजूर कहते हैं किम् अर्थात् क्या है बे! अथवा क्यों बकता है।

वकील—वुः कील जो सदा कलेजे में खटके अथवा बंग भाषा में वोः 'की' (क्या है) लाओ। अर्थात् वुह तुम्हारे पास क्या है लाओ।

मुख्तार—जिसके मुंह से तार निकलें अर्थात् मकड़ी (जाल फैलाने वाला), अथवा मुक्त्यारि (मुक्ति का अरि) जो फंदे में आवै सो छूटने न पावै।

मुअक्किल—मुआ अर्थात् मरा, किल इति निश्चयेन (जरूर मरा)।

मुद्दई—ग्राम्य भाषा में शत्रु को कहते हैं। (हमार मुद्दई आहिउ लरिका थोरे आहिउ)।

मुद्दालेह—मुद (आनन्द) आ! आ! ले! दांत! अर्थात् आव आव मजा ले (अपने कर्मों का)।

इजलास—अंग्रेजी शब्द है, इज is (है) loss (हानि), अर्थात् जहां जाने से अवश्य हानि है। अथवा ई माने यह, जला सा अर्थात् कोयला सा काला आदमी (आग में झोंकने लायक है)। अथवा फारसी तो शब्द ही है, जेर के बदले जबर अर्थात् अजल (मौत) का आस (आशा) अथवा बिना जल (पानी) के आस लगाये खड़े रहो।

चपरासी—लेने के लिये चपरा के समान चिपकती हुई बातें करने वाला! न देने वालों से चप (चुप)। रासी का अर्थ फारसी में हुआ 'नेवला है तू'। अर्थात् 'चुप रहु नेवला की तरह तू क्या ताकता है!' कहने वाला। अथवा फारसी में चप के माने बायां अर्थात् अनिष्ट के है (विधि बाम इत्यादि रामायण में कई ठौर आया है) अर्थात् तू बाम नेवला है क्योंकि कोल डालता है।

अरदली—अरिवत दलतीति भावः।

स्त्री—(शुद्ध शब्द इस्तरा) अग्नि तप्त लोह के समान गुण जिसमें। (धोबी का एक औजार)।

मेहरिया—जिसकी आंखों में मेह (बात २ पर रोना) और हृदय में रिया (फारसी में कपट को रिया कहते हैं) का वास हो।

लोगाई—जिसमें नो गौओं का सी पशुता हो। बंगाली लोग बहुधा नकार के बदले लकार और लकार के बदले नकार बोलते हैं, जैसे नुकसान को लोकशान, निर्लज्ज को निरनज्ज।

जोरू—जो रूठना खूब जानती हो।

पुरुख—पुरु कहत हैं जहमें खेतु सींचा जाथै श्रौर ख श्राकाश (संस्कृत में) अर्थात् शून्य। भावार्थ यह हुश्रा कि एक पानी भरी खाल, जिसके भीतर अर्थात् हृदय में कुछ न हो। 'मूर्खस्य हृदयं शून्यं' लिखा भी है।

मनसवा—मन अर्थात् दिल श्रौर शव अर्थात् मुरदा (श्राकारांत होने से स्त्रीलिंग हो गया) भाव यह कि स्त्री के समान अकर्मण्य मुरदादिल, बेहिम्मत।

मर्द—मरदन किया हुश्रा, जैसे लतमर्द।

खसम—अरबी में खिस्म शत्रु को कहते हैं।

सन्तान—जो सन्त अर्थात् बाबा लम्पटदास की श्रान से जन्मे।

बालक—बा सरयूपारी भाषा में 'है' को कहते हैं, जैसे 'एसनबा' अर्थात् ऐसा ही है, श्रौर लक निरर्थक शब्द है। भाव यह कि होना न होना बराबर है।

लड़का—जो पिता से तो सदा कहे 'लड़' अर्थात् लड़ ले श्रौर स्त्री से कहे, का (क्या श्राज्ञा है ?)।

छोरा—कुलधर्म छोड़ देने वाला। (रकार ड़कार का बदला)।

छोकड़ा श्रौर लौंड़ा—स्पष्टार्थ।

पुत्र—पु माने नर्क (संस्कृत) श्रौर त माने तुझे (फ़ारसी, जैसे जवाब-त् चि दिहम—तुझे उत्तर क्या दूं) श्रौर रा दाने धातु है, अर्थात तुझे नर्क देने वाला।

खं० २, सं० ६, ६-१० (१५ अगस्त, दिसंबर १८८४ ई०)
खं० ३, सं० ६-१०, ११ (१५ नवंबर-दिसंबर, जनवरी, हरिश्चंद्र संवत् १ और २)

मुनीनांचमतिभ्रमः

हमारे परम सुयोग्य मननशील 'उचित वक्ता' भाई पूछते हैं, 'क्या प्रयागराज में अंगरेजी राज्य नहीं है?' क्यों, क्या वहां चुंगी नहीं है? क्या वहां उरदू नहीं है? क्या वहां दरिद्र नहीं है? क्या वहां शराब नहीं है? क्या वहां गोरे रंग का अयोग्य पक्षपात नहीं है? अंगरेजी राज्य के यावत अवयव तो हैं फिर अंगरेजी राज्य नहीं है? आप आज्ञा करते हैं, आजकल जिधर देखो उधर अत्याचार की वृद्धि देख पड़ती है। मेरे प्यारे, बताओ तो थी कब नहीं? 'दैवो दुर्बल घातकः' कोई झुठला सकता है! कोई नेचर से लड़ सकता है? हमेशा से हत्या का नाम यज्ञ वा बलि चला आया है। अत्याचार क्या माने? हां, अब जाना!! हिन्दी प्रदीप संपादक श्रीयुत पंडित बालकृष्ण भट्ट महाशय को थोड़े से गुंडों ने मारा, यह सुनके हमारा भी कलेजा फट गया, पर क्या करें। यह तो जमाना ही ऐसा है। 'उमराव औ सूबा वजीर थके सब सान गई सब जंगिन की। बरछी तरवार छिपाय धरी चमकी चपरास फिरंगिन की।। डर छूटि गयो पदमाकर जू न रही कुलकानि अभागिन की। जब ते अंगरेज को राज भयो बनि आई है नगन नंगिन की।। १ ।। इलबर्ट बिल में हमारे लार्ड रिपन स्वामी की तो गुंडों ने अप्रतिष्ठा करी डाली (आज्ञा भंगो नरेन्द्राणां.... अशस्त्रबध उच्यते)। दूसरों का कौन? गुंडों से किसकी चलती है? उनका तो राज है। दूसरों की खबर ले, तीसरे की खबर ले, कोई मौसी गुसैंया है? सरहीं तो भले-मानुष की है जिनके इज्जत होती है। हमें यह देख के आश्चर्य होता है जब कि हमारे चतुर चूड़ामणि उचितवक्ता कहते हैं कि—'आश्चर्य का विषय है कि आज तक गवर्नमेंट ने......ध्यान न दिया?' क्या किसी के घर सोने की खान निकली है जो गवर्नमेंट ध्यान दे? क्या किसी ने ब्येंक का रुपया मारा है जो गवर्नमेंट ध्यान दे? क्या किसी गोरे को मारा है गवर्नमेंट ध्यान दे? और सुनो, 'क्यों वहां ऐसे अत्याचार होने लगे'। मान्यवर भट्ट जी लखपती अंधेरी मजिस्ट्रेट नहीं, पहलवान नहीं, शुहदे नहीं, फिर क्यों सच बोलते हैं? क्या नहीं जानते 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'। वाह वाह! 'ब्रिटिश राज्य में ऐसी अराजकता है' आप स्वप्न में नहीं सोचते थे? बेब दुष्ट का मुकद्दमा भूल गए? अरे भाई! हम 'गरीबों का खुदा फर्यादरस

है'। याद रहे अपनी इज्जत अपने हाथ है 'कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंकि बजाय'। गवर्नमेंट केवल मतलब की यार है। नहीं प्रमाण दीजिए, कब और कहां, बिना स्वार्थ, हमारे दुःख सुख में हाथ डाला है? हां यह बातें हैं, 'हम को सम्पादक की बेइज्जती में बेइज्जती समझना चाहिये'। बेइज्जती तो उसी दिन हो गई जब सुरेन्द्रो बाबू कारागार गए थे। नहीं २, कोई कुसूर करके न वह जेलखाने गए न यह कोई अपराध करके मारे गए। पीछे से बैल सींग मार दे तो बेइज्जती का कौन बात है? पर हां मौत ने घर देख लिया। अब बेशक इस विषय का घोर आंदोलन करना चाहिये। सो क्या लेखनी से के बरसे हुई सम्पादक समाज स्थापन होती है? कुछ करो धरो भी। एक बार लिखने से क्या होगा? बांधो कमर! पहिले भट्ट जी से कहो 'क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति' से काम न चलेगा। 'नेकी करनी बदों से ऐसी है जैसे नेकों से की बदी तूने' इस महा वाक्य पर ध्यान दें। 'कान्यकुब्ज प्रकाश' से कहो, रंडरोना बंद करें। भला देश भर में तो एका होगा तब होगा, सम्पादक समूह तो सहानुभूति दिखावें? जल्दी समाज का ढंचर बदल डालिए, जल्दी कीजिए नहीं निश्चय 'कुशल नहीं है'। यहीं बस एक कही तुमने मेरे मन की सी! कौन जाने कल को प्रेस एक्ट हो जारी हो जाय! परमेश्वर न करे! पर अग्रसोची सदा सुखी। सबको मालूम तो हो जाय कि इतने सम्पादक 'एक जान सद कालिब हैं'। कहते बनता है?

खं० २, सं० ८ (१५ अक्टूबर सन् १८८४ ई०)

मुच्छ

इस दो अच्छर के शब्द में संसार भरे की ऊंच नीच देख पड़ती है। इन थोड़े से बालों में उस परम गुणी ने न जाने कितनी कारीगरी खर्च की है, साधारण बुद्धि वाले बाल भर नहीं समझ सकते। सांसारिक संबंध में देखिए तो पुरुष के मुख की शोभा यही है। मकुना आदमी का चूतड़ ऐसा मुंह किस काम का? बहुतेरे वैष्णव महाशय सदा मुच्छ मुड़ाए रहते हैं और कह देते हैं कि मुच्छ में छू जाने से पानी मदिरा समान हो जाता है। यह बात सच होती तो हमारे नव शिक्षितों का बहुत सा रुपया होटल जाने से बचता। हम तो जानते हैं कोई भी उक्त वैष्णवों की समझ का होता तो यह तरह २ की निम्बूतरास मुच्छें, वृन्दावनी मुच्छें, गलमुच्छें, लाल २ काली २ भूरी २ उजली मुच्छें काहे को देखने में आतीं। यद्यपि सबके आगे मुच्छ ऐंठना अच्छा नहीं, परमेश्वर न करे किसी को मुच्छें नवानी पड़ें। परंतु बनवाए रहना, सदा दगहा (मुरदा फूंकने वाला) की सी सूरत रखना भी अशोभित होता है। मुच्छ का बाल मुच्छ ही का बाल है। यह अनमोल है। आगे लाखों करोड़ो रु० में मुच्छ गिरों रक्खी जाती थी। मुच्छ नहीं निकलती तब तक पुरु का नाम पुरुष नहीं होता—"नेक अबै मस भींजन देहु दिना दस के अलबेले लला हो"। सहृदयता का चिन्ह,समझदार (बुलूगत) की निशानी भी यही है "ह्यां इनके रस भींजत से हग ह्यां उनके मस भींजत आवैं।" इज्जत भी इन्हीं से है। मर्दों की सब जगह मुच्छ खड़ी रहती है। सबको इसका खयाल भी होता है। किसी की दाढ़ी में हाथ डाला प्रसन्न हो गया; जो कहीं मुच्छ का नाम लिया, देखो कैसा मियान से बाहर होता है। जिस की इन की इज्जत पर गैरत न हुई वुह निन्दनीय है। "काहे मुछई न मानोगे?"—सुन के कोई ऐसा ही नपुंसक होगा जो लड़ने न लगे। मुच्छें लगा के नीच ऊंच काम करते बिडंबना का डर होता है। शेख जी खेलते हैं लड़कों में, यह तो बंदर है, वुह मुछंदर है। लोगों ने सुंदर व्यक्तिकी भौंह की धनुष से उपमा दी है। हमारी समझ में मुच्छ को भी धनुष का खड़ा कहना चाहिए। पुरानी लकीर पर फकीर बुड्ढी मुच्छों वाले old fools (पुराने खूंसट) यद्यपि कुछ नहीं हैं, आज मरे कल दूसरा दिन, परंतु उनके डर के मारे न हमारे इंलाइटेंड जेंटिलमेन खुल खेलने पावैं, न देशहितैशीगण

समाज संशोधन कर सकैं। उनकी मर्जी पर न चल के किरिश्चान कौन बने। मुच्छ से पारलौकिक संबंध भी है। कोई बड़ा बूढ़ा मर जाता है तो उसकी ऊर्द्ध दैहिक क्रिया बनवानी पड़ती है। कौन जाने इसी मूल पर कुशा को बिराटलोम लिखा गया हो। पितृकार्य्य में कुशा भी काटनी पड़ती है। तैसी ही सर्वोत्तम लोम भी छेदन करना पड़ता है। कदाचित यही "जहां ब्राह्मण वहां नाऊ" वाली कहावत का भी मूल हो। उनकी जीविका कुशा, इनकी जीविका केश। परमेश्वर, हमारे प्यारे बालकों को मुच्छैं मुड़ाने का दिन कभी न दिखाइयो। प्रयागराज में जाके मुच्छैं बनवाना भी धर्म का एक अंग समझा जाता है। परंतु हमारे प्रेम शास्त्र के अनुकूल उससे भी कोटि गुणा पुण्य नाट्यशाला में स्त्री भेष धारणार्थ मुच्छैं मुंड़ाने से होता है। स्त्रियों के मुच्छ का होना अपलक्षण भी है। हिजड़ों को मुच्छ का जगना अखरता भी है। हमारे कागभुशंड बालोपासक लंपटदास बाबा के अनुयाइयों की राल टपकती है जब किसी अजातस्मश्रु सचिक्कण मुख का दर्शन होता है। वाह री मुच्छ! तेरी भी अकथ कथा है। न भला कहते बनै न बुरा कहते बनै। तुझ पर भी 'किसी को बैंगन बावले किसी को बैंगन पथ्य'की कहावत सार्थक होती है। लोग दाढ़ी को भी मर्द की पहिचान बतलाते हैं। पर कहां ऊर्द्धगामी केश कहां अधोमार्गी। मुच्छ के आगे सब तुच्छ है। यह न हो तो वुह क्या सोहै। बहुतेरे रसिकमना वृद्ध जन खिजाब लगा के मुंह काला करते हैं। यह नहीं समझते कि मुच्छ का एक यह भी रंग है जिसकी बदौलत गांव भर नाती बन जाता है। बाज मायाजालग्रस्त बुड्ढों को नाती से मुच्छैं नुचवाते बड़ा सुख मिलता है। पुपले-पुपले मुंह में तमाखू भरे हो हो हो२, अरे छोड़ भाई, कहते हुए कैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' देख पड़ते हैं! कभी किसी बूढ़े कनवजिया को सेतुआ पीते देखा है? मुच्छों से उरौती चूती है, हहहहर! सब तो हुवा पर सबकी मुच्छैं हैं कि—? मुच्छ का सविस्तर वर्णन उसीसे होगा जो बाल की खाल निकाल सके। हमारे पूज्यपाद पंडित भाई गजराज प्रसाद जी ने यह वचन कैसा नित्य स्मरणीय कहा है कि "गालफुलाउब मोछ मिरोरब एकौ काम न आई, तीनि बरे जब हुचुर करिकै रहि जैहौ मुंह बाई।" श्री गोस्वामीजी का भी सिद्धान्त है कि "पशू गढ़ंते नर भए भूलि सींग अरु पूंछ। तुलसी हरि की भगति बिन धिक दाढ़ी धिक मूंछ।" आज कल भारतवासियों की दुरदशा भी इसी से हो रही है कि यह निरे "हाथ पाय के आलसी मुंहमां मुच्छैं जायं।" धन बल विद्या सब तो स्वाहा हो गई, फिर भी एका करने में कमर नहीं बांधते। भाइयो! भ्रातृद्रोह से भागो। यह बहुत बुरा

है । मुच्छैं बिन लेगा । प्यारे पाठक, खुश तो न होगे, कैसा बात का बतंगर कर दिया । क्यों बादाकशी हमको भी क्या दूर की सूझी । बस बहुत हुआ, २७ दिसंबर को प्रयाग हिंदू समाज का महोत्सव है । तुम्हारी प्यारी मातृ-भाषा का उद्धारक प्रयत्न आरंभ होगा । अगर हिंदू कहलाते हो, अगर मुच्छैं रखते हो तो तन मन धन से इस सदनुष्ठान में सहायक हो । आज स्वामी रामानुज शंकराचार्य केशव दयानंद प्रभृति आर्य गुरुवर के अमृतोपदेश की आधार वेद से ले के आल्हा तक की आधार सब गुणाकारी नागरी देवी का काम है । इस अवसर पर लहँगा पहिनना परम लज्जास्पद है । कुछ तो मुच्छों की लाज करो ।

खंड २, सं० ६, १० (१५ दिसंबर, सन् १८८४ ई०)

रक्ताश्रु

हाय ! हृदय विदीर्ण हुवा जाता है। आंसू रुकते ही नहीं। हाय २ सुनने से पहिले ही हमारा निरलज्ज शरीर क्यों न छूट गया। हाय पापी प्राण तुम क्यों न निकल गए। हाय इस अधम जीवन का अंत क्यों न हो गया। हाय आशा की जड़ कट गई। बस अब क्या है, अभागा भारत डूब जा। अरे अब तेरा कौन है ? स्वामी दयानंद चल बसे। छाती पर पत्थर धर लिया। केशव बाबू सिधार गए, रो धो के कलेजा थाम लिया। यह दुख नहीं सहा जाता, हाय !!! अब क्या होगा ? हाय हम तो हम, हमारे प्यारे राधाकृष्णदास को कौन समझावै ? काशी ही नहीं अनाथ हुई, भारत माता के कर्म में आग लग गई। हाय देशहितैषिता विधवा हो गई। हाय हम क्या करें "एरे प्राण कौन सुख देखिबे को रह्यो जात। तूहू किन जात जित प्रातम सिधरि गो"। हा ! हा !! हा !!! "क्या नज़र जख्म अंदरू आया। चश्म से रोते खूं आया"। दम अटकते २ टूट गया। सर पटकते २ फूट गया ! हाय हमें संसार सूना देख पड़ता है। दुनिया उजड़ गई, हाय ! इससे तो महा प्रलय हो जाती। हाय प्यारे हरिश्चंद्र ! हाय भारत भूषण !! हाय भारतेंदु !!! हा हा हा हा, अरे हम भी चलेंगे—हमसे नहीं सहा जाता। मेरे पूज्यपाद ! मेरे प्रातः स्मरणीय ! मेरे प्रेम देव ! बुलावो। स्वर्ग में तुम्हारी सेवा कौन करेगा ? हा २ !!! आ ! हा ! हा ! दिल का क्या हाल करूं। खूंने जिगर होते तक, हाय कौन लिखे, कौन पढ़े। अरे बज्रहृदय कविवचन सुधारस !!! यह क्या विष उगल दिया ? अरे यह अकस्मात बज्रपात, हा ! हा ! हा ! प्रेमाचार्य तो प्यारे से जा मिले अब भारत का उद्धार कौन करे ? क्या···? अनेक देशभक्त जो हैं ? कौन ? कहां ? किसको देख के ? हा ! "राका ससि षोड़स उवै तारागण समुदाय। सकल गिरिन सब लाइये रबि बिन राति न जाय।" कौन अपना सर्वस्व निछावर कर देगा ? किस्के बचन दिल को हिला देंगे ? हा रससिद्ध कवीश्वर ! हा भारत भक्त शिरोमणि !! हा सहृदय समूहाग्रगण्य !!! हा प्रेमीजन पूजित पादपीठ !!! हाय प्यारे, तुम्हारे निवास के ठौर को बोरत हैं अंसुवां बरजोरन। हाय जनवरी की ६ तारीख चाण्डाल काल। यह क्या किया ? हाय

"कहैंगे सबैही नैन नीर भरि २ अब प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी ?" हाय मैं क्या करूं, कहां जाऊं, हा ! हा !! हा !!! हाय आजु भारत अनाथ सब भांति भयो भारती जू भूषण विहीन दीसैं मंद। हाय क्यों न प्रताप दीह ताप सों करेजो तपै भयो सुखदायक सुधा को सोत बंद। हाय भावत न हाय हाय के सिवाय कछु उरपुर रुवै है विषदन को बृंद हाय। हाय हाय हाय हाय हरि कीन्हीं अनरथ कैसी शोक हरिलोकहिं सिधारे हरिचंद्र हाय ॥ १ ॥ बानी प्रेमसानी सों पियूष बरसावै कौन कौन चहुं ओर जस चंद्रिका पसारे हाय परताप चतुर चकोरन को ताप हरि भारत की भू को तम कौन निरुवारे हाय ॥ तेरे बिन हेरत हिरात हियर कौ चैन आमुन में बूड़े जात नैनन के तारे हाय हरिचंद हाय भारत के चंद हाय बाबू हरिचंद। हरिचंद प्राणप्यारे हाय ॥ २ ॥ हा ! हा !! हा !!! ताकत तो सांस को भी नहीं आह क्या करूं। क्या बेबसी है ऐ मेरे अल्लाह क्या करूं ॥

खं० २, सं० ११ (१५ जनवरी, सन् १८८५ ई०)

बर्षारंभे मंगलाचरणम्

धन्य २ त्रैलोक्य नाथ त्रैताप विनाशन ।
धन्य २ त्रैबर्ग मुक्त हृदि प्रेम प्रकाशन ॥
धन्य २ त्रैगुण्य रहित त्रैलिंग्य विधाता ।
धन्य २ त्रैकाल एक रस त्रैकृति ज्ञाता ।
धन्योसि प्राण प्रियतम प्रभो ।
त्रिदश पूज्य बुध वन्द्य पद ।
ब्रह्मण्य देव ब्राह्मण शरण त्रितिय वर्ष मधि हर्षप्रद ॥ १ ॥

उस त्रिभुवन नायक को असंख्य धन्यवाद है जिसकी कृपा से आज हम तृतीय वर्ष में प्रवेश करते हैं। यद्यपि ब्राह्मण देवता अपने जन्म दिन ही से अपने यजमानों को हंसाने, सदुपदेश सुनाने और सर्वोन्नति-विधायक प्रेम मार्ग दिखाने के ऊपर मूंड़ मुड़ाये फिरते हैं, पर आज तो लोकरीत्यानुसार मुंडन का दिन ही ठहरा। होली की भोर है। तीसरे वर्ष का आरंभ है। क्या अपना कृत्य न करेंगे? करें और फिर करें नहीं तो पाठक महाशय तीन कोने का मुंह न बनाने लगेंगे? अच्छा तो प्रिय ग्राहकगण! लीजिए धन्यवाद, आशीरवाद और स्नेह संबाद, यह तीनों आपकी भेंट हैं। क्यों, पसंद आए? ह ह ह कैसी शीघ्र हाथ पसार दिया! स्मरण रहे कि सबके लिए नहीं हैं। आप लोगों के नाम में तीन अक्षर हैं। पहिले उनका अर्थ समझ लीजिए फिर तीनों आपस में बाँट लीजिएगा। पहिले अक्षर है 'पा' जिससे प्रयोजन है पालन करने वाला, अर्थात् पत्र को रुचिपूर्वक पढ़ना, दूसरों को उस्का तात्पर्य विदित करना और ठीक समय पर दक्षिणा भेजकर वर्ष भर के लिए निर्द्वंद्व हो जाना। पत्र का निर्वाह होता गया, उनका उत्साह बढ़ता गया, कैसा परस्पर पालन हुवा? ऐसों के लिए हमारा धन्यवाद है वरंच उपरोक्त तीनों उन्हीं के लिए हैं। दूसरा अक्षर 'ठ' जिस्का अर्थ हैं ठगई करने वाला अर्थात एक पोस्टकार्ड लिख भेजा 'कृपा करके मेरे नाम भेजा करो' वा मिल गए तो 'हम को भी पत्र दिया करो।' दिया करेंगे। कपड़ों से भलेमानस जान पड़ते हो, बोली बानी से रसिक जंचते हो, हम अंतरजामी थोड़े ही है कि तुम्हारा आंतरिक देवालिया-पन जान लें। जहाँ आठ दस महीने हो गए पत्र लौटाल दिया। लिख

दिया—'लेना मंजूर नहीं है'। पहिले क्या झख मारने को मंगाया था? झूठे, बेईमान, उठाईगीर। क्या यह ब्राह्मण क्षत्रियों का धर्म है?? नहीं, प्रच्छन्न चोरों का, जिस्का धर्म एक रूपए पर डिग गया। अंगरेजी राज्य न हो तो ऐसे ही लोग डाका मारैं। ऐसी ही बुद्धिवाले तो पराए लड़कों का गला घोंट के गहना उतार लेते हैं। भला ऐसों के लिए हमारे पास क्या है, सिवा बीच वाले शब्द (अर्थात आशीरबाद) के कि 'खुसी रहौ जजमान नैन ये दोनों फूटैं' जिसमें कोई समाचार पत्र देखने को जी न चाहे, न हमारे सहयोगियों की हानि हो। और 'राह चलत गिर पड़ौ दाँत बत्तीसौ टूटैं' जिस में तकाजा करने पर खीस काढ़ के 'मुख नहीं रहती' न कहो। नहीं २ आज वर्षारंभ की खुशी में हम और भी देंगे—बढ़ती रहे हमारे प्यारे 'भारत जीवन' की जिन्होंने प्रण किया है कि १५ अपरैल तक सब हिन्दी पत्रों के सारे नादिहंद ग्राहकों को गधे की सवारी, नील का टीका और बूक का अभिषेक यह तीनों दिये जायंगे जिसमें उन्हें तीनों तिरलोक दिखाई देंगे। अब भी न समझ जायं तो सचमुच तीन अक्षर (धिक्कार) तो उनके भाग ही में हैं हम क्या करें। पाठक शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है। उस्का तात्पर्य है कर्म करने वाला, अर्थात रुपया देके पत्र को पढ़ ही नहीं डालते कुछ उस्के अनुसार करते भी हैं। कुछ रुपया नागरी प्रचार में, कुछ काल परोपदेश में, कुछ श्रम परस्पर प्रेम प्रवर्द्धन में व्यय करते हैं। उनके लिए हम क्या परमेश्वर भी धन्यवाद और आशीरवाद करैगा। संसार में त्रिवर्ग अर्थात धर्म्मार्थ काम अथच अन्त में नित्यानन्द उन्हीं के हेतु है। सच तो यह है कि कुछ करने ही से कुछ होता है। कोरी बातों में तीन कानें के अतिरिक्त क्या धरा है? वही ढेकुली के तीन पात। अस्तु तौ हम भी बातें बनाना छोड़ के अपना कर्तव्य पालन करैं। क्यों प्यारे पाठक, करैं न? ह ह ह!!! औ३म् तद सत् नममत्रे देव्यै। श्री कलिराजउवाच। ब्राह्मणा नाम्महा बांभन् (बांइति भनति) शठानांचमहाशठः। देविनांच महा देवी माननीया सदा बुधैः॥ १॥ देवी २ देहिबी बिदेहिबो बीत मंत्रकं मद्भक्तानांमुखे नित्यं रहितव्यं प्रयत्नतः॥ २॥ पूजयंति महाशक्तिं बुढ़वाः पोप बंचिताः। तस्य वै गुप्त तात्पर्यमहं मन्येन दीगरः (दूसरा)॥ ३॥ काले हिंदुन की प्यारीं काली बोतल बासिनीं। मद्योपनाम धात्रीं तां महाकाली मुपास्महे॥ ४॥ तुच्छानां तुच्छ चित्तानां राजा बाबू बनाइनीं। खुशामदेति विख्यातां महालक्ष्मीं भजाम्यहं॥ ५॥ कुछ का कुछ करणे देयं जालिनीं (ज़ाल) संयुक्तः कायथ प्रियां। बेउर्दू इति मशहूरां महा-

बाणीं स्मरामहे ॥ ६ ॥ महा देव्या शठकं दिव्यंयः पठेच्छृणुयादपि । कर्मणी धर्मतः शर्मान् मुक्तमाप्नोति वैभ्रवम् ॥ ७ ॥ सर्वोन्नतिकरं पुण्यं सर्व सिद्धि विधायकं । गोपनीयमिदंस्तोत्रं सिब्लाइज़ड़ै महात्मभिः ॥ ८ ॥ इति श्री कलिकाल तंत्रे उन्नीसवीं सद्दी कलिराज संवादे त्रिदेव्याष्टकं समाप्तम् । खैर यह तो होली का उत्तर था, सड़े बुड्ढों का ब्यौहार था । अब सच्चा २ मंगल पाठ हो । नमो भगत बत्सल सुखद सबहि भांति भजनीय । जगत प्राणपति अति सुभग परमईश रमणीय ॥ १ ॥ अकथनीय आनंदमय सहृदय जन के प्रान । शुभ शोभानिधि परम प्रिय नमो प्रेम भगवान ॥ २ ॥ परम पूज्य प्रेमीन के सुहृद सभा सुखकंद । जग दुखहर शिवसीसमणि नमो देव हरिचंद ॥ ३ ॥ उरपुर निज परकाश करि संसय सकल नशाव । हे प्रभु आरज बंधु कहं प्रेम पंथ दरशाव ॥ ४ ॥ सिखहि नागरी नागरी नागर बनहिं सुलोय । ब्राह्मण की आशीष ते घर २ मंगल होय ॥ ५ ॥ ओ३म् धर्म । धर्म । धर्म । प्रेम । प्रेम ॥ प्रेम ॥। शांति । शांति ॥ शांति ॥।

खं० ३, सं० ? (१५ मार्च ह० सं० १)

भारत का सर्वोत्तम गुण

आजकल हम जिधर देखते हैं उधर देशोन्नति करो २ यही कहते लोग दिखाई पड़ते हैं। पर यह हमारी समझ में नहीं आता कि जो इस देश का सर्वोत्तम गुण है, जो यहां का स्वाभाविक गुण है, उसकी ठीक उन्नति हुए बिना और सब बातों की उन्नति क्यों कर हो सकती है। आज दिन हम सभी बातों में सब देशों से हीन हैं। हां कुछ एक संस्कार शेष हैं तो उसी हमारे सर्वोत्तम गुण का। और विद्या नहीं है तो भी गान विद्या में ग्वालियर वाले संसार भर से श्रेष्ठ नहीं तो किसी विदेशी गन्धर्व से न्यून भी नहीं हैं। कविता के भी यदि लिखने वाले हों तो भली भांति समझने वाले प्रायः सभी स्थानों में दस पांच विद्यमान हैं। धन नहीं है तो भी उत्साह ऐसा है कि एक २ साधारण गृहस्थ ब्याह और पितृकार्य्य में जी खोल के घर फूंक तमाशा देखता है। धर्म्म पर श्रद्धा भी इतनी स्थित ही है कि माघ की रातों को केवल एक साधारण सा कपड़ा ओढ़ नंगे पैरों कोस २ भर गंगा स्नान करने जायंगे पर विधर्मियों के आरामतलब मजहब और मरणानन्तर बिहिश्ती नियामतों और अनन्त जीवन इत्यादि के माया जाल में फंसना तो दूर रहा उनकी चिकनी चुपड़ी बातें सुनना भी न पसन्द करेंगे। एक दिन एक काली मेम साहबा हमारे कानपुर में जनाने घाट पर उपदेश (Preach) देने गई थीं। एक स्त्री की ओर हाथ का इशारा करके कहने लगी, बहेन हम तुम लोगों को मुक्ती का सच्चा रास्ता दिखाने को आए हैं। उस आर्य रमणी ने उत्तर दिया कि 'तुम बहिनी राह दिखावै नहीं साच्छात मुकुति देनै आई हो पै हमका छुयो न। हम नहाय चुकी हन। हमका तुम्हारि मुकुति न चाही'। ऐसे २ सैकड़ों उदाहरण हमारे पाठकों को दृष्टिगोचर हुवा करते होंगे जिनसे तनक ही विचारने पर ज्ञात हो जायगा कि कुछ हो हमारे यहां की सहृदयता (जिंदादिली) का लेश आज भी बना है। धर्म्म रुचि, धर्म्माभिमान, जाति गौरव इत्यादि गुण, जो आत्मा से संबंध रखते हैं, अद्यापि निःशेष नहीं हुए और सबसे पहिले इन्हीं बातों पर अधिक ज़ोर देने से कुछ हो सकता है, क्योंकि जहां अपने चित्त की प्रसन्नता, अपनी नामवरी, अपना धर्म्म इत्यादि २ की ममता है वहां अपने देश का ममत्व दृढ़तम हो जाना कोई बहुत कठिन बात नहीं है। अपना चाहे जैसा हो फिर भी अपना ही है। अपन अपनै आय, ऐसी २ कहावतें यहां वाले असंख्य लोग जानते

हैं। यदि इन्हीं का अतीव विस्तृत अर्थ बहुत दूर तक समझाया जाने का प्रयत्न किया जाय तो क्या देशोन्नति की बड़ी दृढ़ नींव पड़ जाना कठिन है? हमारे पूर्वज बड़े दूरदर्शी थे जो कहि गए हैं 'दुर्लभम् भारते जन्मः'। जिनका उपदेश है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। यदि ऐसे २ बचन खूब जोर देकर समझाए जायं तो कौन मनुष्य होगा जिसे धरती माता की सच्ची भक्ति न उत्पन्न हो उठे। जो देशोन्नति की मूल है, जिस बात का कुछ अंकुर है, वही बात सहज में फलित भी हो सकती है। पर जिस बात का चिन्ह भी अवशिष्ट न रहा उसकी नए सिरे से जड़ जमाना कैसे दांतों पसीना आने का विषय है? अतएव हमारी समझ में जो जो सज्जन देशोन्नति के इच्छुक हैं उन्हें सबके पहिले और सब झगड़ों को छोड़ के केवल इस बात पर कटिबद्ध होना चाहिये कि आपस में सच्चा प्रेम, दृढ़तम प्रेम, बढ़े। तदनंतर जिस विषय की उन्नति चाहो सहज में हो सकता है, क्योंकि यही यहां का सर्वोत्तम गुण है और यही अद्यापि सर्वथा निर्मूल नहीं हुआ।

ख० ३, सं० २ (१५ अप्रैल ह० सं० १)

बस बस होश में आइए

उचितवक्ता भाई ! वाह ! भारत जीवन साहब, धन्य ! 'सब को ज्ञान दें आप कुत्तों से चिथवावें'—तुम्हें क्या हुआ है ? जो बातें आपुस में निबट लेने की हैं उनको गोहराते फिरना। छिः ! छिः ! बच्चे हो ? लावनी वालों की सी फटकेबाजी से फायदा ! ··· ··· ··· पूज्यपाद भारतेन्दु जी के आगे हाथ जोड़ना कोई ऐब है ? रामकृष्णादिक प्रातःस्मरणीय भी तो जन्म से ब्राह्मण न थे। फिर क्यों उनके नाम पर शिर झुकाते हैं ? ब्राह्मण ही यदि बपतिममा ले ले तो उसे प्रणाम करोगे ? नैः। 'ब्रह्मजानाति ब्राह्मण:'। फिर यहां 'येषाम् सदा सर्वगतौ मुकुंदस्तेमानवाः किन्न मुकुंद तुल्याः' पर हरताल लगावोगे ? और सुनो बाबू जी नहीं हैं तो क्या बाबू गोकुलचन्द जी जिसे अधिकार दें वही हरिश्चन्द्र सर्वस्व छाप सकता है या नहीं ? लड़ा चाहो तो सौ बहाने हैं नहीं तो लिखने की सौ बातें हैं। यदि गाली गलौज ही करना हो तो हमें जो चाहो दोनो महोदय कह लो। एक बके तो दूसरा भी नंग नाच पर कमर बांधे यह कौन सभ्यता है ? अरे बाबा ! तुम सर्व साधारण के अग्रगामी हो ! तुम्हारा नमूना देख के औरों को कम उपदेश होगा ? सोचो तो ! खैर बहुत हो चुका, कब तक कर्कसा सराध रहेगी ? इसीसे कहते हैं होश में आवो। होनी थी सो हो ली आगे मे हमें विश्वास है हमारे प्यारे दोनों सहवर्ती आप समझ लेंगे। पर तुम्हारी इस बेफसली फाग की बेसुरी तान प्रेमियों के कान की झिल्ली उड़ाये देती है। न जाने सारसुधानिधि ने ३० मार्च को तुम्हारे व्यर्थ प्रलाप को क्यों स्थान दान दिया है। खैर हमने समझ लिया कि निधि ही में सुधा और विष दोनों का निर्वाह है। पर तुमने कौन सी सुरापान करके कहा है कि 'भारतेन्दु का मरना क्या होली है'। अरे राम राम ! इसी दुःखदायक समाचार में तुम्हें हंसी सूझनी थी ? छिः, तुम्हारी आधी बात का उत्तर तो हम पहिले ही दे चुके हैं पर इतना और समझ लीजिये कि यदि व्यवहार की रीति से हाथ जोड़ना दूषित समझो तो अंगरेजों के सामने (जो किसी वर्णाश्रम में नहीं) शायद एक तुम्हीं होगे जो हाथ न जोड़ते हो ! नहीं बरसों से तो यवनों की लातें खाते आये हो, अभी कौन सी स्वतंत्रता मिल गई जो हाथ जोड़ना आक्षेपनीय समझने लगे ?

और यदि प्रेम दृष्टि से देख सको तो प्रातःस्मरणीय हरिश्चन्द्र हाथ जोड़ने योग्य थे। हमने माना कि वैश्य वंशावतंस ब्राह्मणों से हाथ जुड़वाने में प्रसन्न न होते थे पर जिनको उनसे अभिन्न मैत्री थी, जो उनका तत्व जाने थे, वे कोरे शिष्टाचार का कहां तक निरबाह कर सकते ? हाथ जोड़ना भी, जुड़वाना भी, सभी चित्त की उमंग पर होता है। पर निरे आग्रही क्या जान सकते हैं। फिर जरा होश की दवा कीजिये। आपका यह कथन कि 'कोई कोई प्रेमान्ध होकर आज तक रोना कलपना की कविताई झाड़ रहा है', क्या यह गये फाग ढढ़नच नहीं है ? 'सहृदय' प्रेमी तो सदा से अपने पिय वियोग में ऐसा ही करते आये हैं। यदि गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण भी आप समझ सकते होते तो महाराज दशरथ जी का प्राण परित्याग एवम् भगवान रामचन्द्र जी का विलाप इत्यादि हम आपको दिखा देते। पर हृदयान्ध विचार प्रेमान्ध महानुभावों की रीति नीति क्या जानें ! और बाबा ऐसी ही समझ है तो 'दोनो' का प्रेमी बनके क्यों इस परम पवित्र को कलङ्कित करने की इच्छा करते हो। रही कविता, सो कविता समर्थ लोग योग्य पुरुषों के नाम पर करते ही हैं और करते ही रहेंगे, तुम्हारे रोके कौन रुकेगा ? तुम्हारे लिये तो यही श्रेयष्कर है कि इस विषय में कान ही न हिलावो। ऐसा न हो कि कोई जला भुना कह बैठे कि ऐसे स्थान के रहने वाले पाषाणहृदय चित्तद्राविणी कविता का स्वादु क्या जानें जहां केवल मृतकों के नाम पर लोगों की रोटी चलती है। भैया ! राजा मुंना ! सम्वत् देशहितैषी प्रतापी पुरुषों का चलता है, किसी जाति का नियम नहीं है, नहीं तो ईसा और मुहम्मदादिकों का सम्वत् आर्य देश में न प्रचलित होता। और सुनिये। क्षत्री उसको कहते हैं जो क्षति से रक्षा करै 'क्षतात् त्रायते'। सो गुण तो हमारे वीर वैष्णव बाबू जी में था ही। यदि आप केवल जाति से क्षत्री लेते हो तो बताइये किस गण्डिकादास वा कलहप्रिय क्षत्री का सम्वत् चला है। हमारे वाल्मीकि प्रभृति विरक्त थे और उनके समय में तद्गुण विशिष्ट राजा मौजूद। इससे उनके सम्वत् की कोई आवश्यकता न थी। भारतेन्दु को आप निरा कवि ही समझते हैं ? बलिहारी ! एक एक ग्रन्थकार को सैकड़ों रु० उठा देने वाला, विद्या और देश हित के हेतु घरफूंक तमाशा देखने वाला, केवल कवि कहने योग्य है ? धिक ! यह सम्वत् उनका नाम चलाने को नहीं है। यह सम्पादक समूह की कृतज्ञता का परिचय है अथच हमारे प्रेम का उद्गार है। रहा तसवीर का विषय सो अपनी अपनी सामर्थ्य है। यदि आप सब खरीद के सेंत मेंत बाट

दीजिये तो आपका आक्षेप सार्थक हो। बेचने वालों के प्रेम की परीक्षा हम आपको दिला देंगे कि केवल अपनी मेहनत का थोड़ा सा रुपया लेके दाम दिला दिया जायगा। ऐसा भी तो कोई हो जिस्की तस्वीरों से आपके कथनानुसार लोगों का रोजगार चला। आप तो अपनी तस्वीरें छपवा के केवल अपना ही व्यवहार सिद्ध कर लीजिये, देखिये तो कै जने लेते हैं? इसी से कहते हैं होश में आवो!

खं० ३, सं० २ (१५ अप्रैल ह० सं० १)

हुची चोट निहाई के माथे

लोगों ने सच कहा है, बहुत सीधापन अच्छा नहीं होता। हमारे हिंदू भाई यों तो आपस में बड़े काइयाँ, पर दूसरों से अपना स्वत्व रक्षण करने में निरे गावदी हैं। इसी से कोई हो, कैसा ही हो, इन्हीं के माथे देता है। हमारी सरकार बड़ी प्रजा वत्सल है, पर एतद्देशी अपनापन बचाने के योग्य नहीं है। इसी से कुछ होने पर भी कुछ नहीं समझे जाते। कुछ हो, हुची चोट निहाई के माथे। रावलपिंडी में दरबार हुआ। अमीर साहब का सत्कार हुआ। वहां भी हमारे ही महाराजों का यथोचित सन्मान नहीं। अमीर साहब से यह लोग धन, बल, साहस, प्रतिष्ठा, प्रेम, शायद किसी बात में कम नहीं, पर निरे सीधे सादे होने के कारण इन की पूछ नहीं। जहां अमीर अबदुल रहिमान साहब सौ २ नखरे से आए, देव समान पूजा हुई, हजारों की सामग्री उनकी भेंट पूजा में लगी, वहां हिंदुस्तानी राजों की क्या खातिरें हुईं? ओह, घर के हैं। इनके मानापमान से क्या हानि लाभ संभव है? काम पड़ैगा तो रुपया और फौजें इनकी स्वाहा होंगी, क्योंकि हुची चोट निहाई के माथे। और मुनिए, मिस्र में मेंहदी से उलझने को भी हिंदुस्तानी ही झोंके गए हैं। यदि रूसराज कुछ मनके तो भी हुची चोट निहाई के माथे। हमीं तोप के मुहरे पर होंगे। हमारे ही देश की लक्ष्मी का हवन होगा। जवाब इस्का यह होगा कि तुम्हारी रक्षा के लिए सब होता है। हम कहते हैं हमारी ही रक्षा किस लिए की जाती है? इसी लिए न कि हम कमाते जाएँ और आप ले-ले के अपना घर भरते जाइए? जब तक हमारी रक्षा हम स्वयं न करेंगे तब तक कुछ नहीं होना। होना केवल यही कि हुची चोट निहाई के माथे। पाठक, कुछ अपनी रक्षा का फिक्र है? हमारे लाला भैया नित्य पूछा करते हैं 'गुरू रूस की क्या खबर है?' मानौ रूसी आके इन्हीं को राजा बनावेंगे। आपस में एका नहीं, देश की भक्ति नहीं, फिर क्या है, जो पड़े सो सहना। आदमी भरती होने का हुकुम है। इस्से दिहात में नादिरशाही है। लड़ाई का सामान चारों ओर हो रहा है। बस यही खबर है। सबके हाथों लुटने को, पिटने को, कटने को हिंदुस्तानी हैं, क्योंकि यह जानते भी नहीं कि आत्मरक्षा क्या है। तन, मन, धन, लोक, परलोक, धर्म, कर्म सब अपनी मातृभूमि पर निछावर कर देना यहां वालों ने सीखा ही नहीं। इसी से सब की हुची चोट निहाई (अर्थात् इनका सिर) के माथे पड़ती रही है, पड़ रही है, पड़ती रहेगी।

खं० ३, सं० २ (१५ अप्रैल ह० सं० १)

आकाशवाणी

हमारे मिष्टर अंगरेजीबाज और उनके गुरू गौरण्डाचार्य्य में यह एक बुरा आरजा है कि जो बात उनकी समझ में नहीं आती उसे, वाहियात है (ओह नांसेंस), कह के उड़ा देते हैं। नहीं तो हमारे शास्त्रकारों की कोई बात व्यर्थ नहीं है। बहुत छोटी छोटी बातें बिचार देखिये। पयश्राव के समय यज्ञोपवीत कान में चढ़ाना इसलिये लिखा है कि लटक के भींग न जाय। तिनका तोड़ने का निषेध किया है, सो इस लिये कि नख में प्रविष्ट होके दुःख न दे। दांत से नख काटना भी इसी से वर्जित है कि जिन्दा नाखून कट जायेगा तो डाक्टर साहब की खुशामद करनी पड़ेगी। अस्तु यह रामरसरा फिर कभी छेड़ेंगे, आज हम इतना कहा चाहते हैं कि पुराणों में बहुधा लिखा है कि अमुक आकाशवाणी हुई। इस पर हमारे प्यारे बाबू साहबों का, 'यह नहीं होने सकता' इत्यादि कहना व्यर्थ है। इससे उनकी अन-समझी प्रगट होती है। क्योंकि आकाश अर्थात् पोलापन के बिना तो कोई शब्द हो ही नहीं सकता। इस रीति से वचन मात्र को आकाशवाणी कह सकते हैं। और सुनिये, चराचर में व्याप्त होने के कारण ईश्वर की आकाश से एक-देशी उपमा दी जा सकती है। वेद में भी 'खम् ब्रह्म' लिखा है और प्रत्येक आस्तिक का मन्तव्य है कि ईश्वर की प्रेरणा बिना कुछ हो ही नहीं सकता। पत्ता कहीं हुक्म बिना हिला है? तो संसार भर की बातें आकाशवत् परमात्मा की प्रेरित नहीं हैं तो क्या हैं? शब्द ब्रह्म और खम् ब्रह्म इन दोनों बातों का ठीक २ समझने वाला आकाशवाणी से कैसे चकित होगा? यदि डियर सर (प्रिय महाशय) आस्तिक न हों तौ भी यों समझ सकते हैं कि हृदय का नाम आकाश है, क्योंकि वह कोई दृश्य वस्तु नहीं है, न तत्व संमेलन से बना है। एक विज्ञानी से किसी ने पूछा था कि हृदय क्या है—(What is the mind)। उसने उत्तर दिया—no matter अर्थात् वह किसी वस्तु से बना नहीं है और यह तो प्रत्यक्ष ही है, यावत संकल्प विकल्प हैं सबका आकाश उसी में है। हमारी भाषा कवियों के शिरोमुकुट गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी हृदयाकाश माना है "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकाशा।' इस वाक्य में यदि हृदय को आकाश न कहें तो दयारूपी चंद्रमा का प्रकाश कहाँ ठहरे? अतः हृदय में हर्ष शोक चिंतादि के समय जितनी

तरंगें उठती हैं, सब आकाशवाणी (अवाजे गैब) हैं। यह तो हमारे यहां का मुहावरा है। समझदार के आगे कह सकते हैं कि अमुक पुरुष अपने प्रियतम के वियोग में महा शोकाकुल बैठा था इतने में उसे आकाशवाणी हुई कि रोने से कुछ न होगा। उस्के मिलने का यत्न करो। ठीक ऐसे ही अवसरों पर आकाशवाणी होना लिखा है। जिसे कुछ भी बुद्धि संचालन का अभ्यास है वह भली भाँति समझ सकता है। हमारे उर्दू के कवि भी बहुधा किसी पुस्तक के व किसी स्मरणीय घटना के सम्वत् लिखने (कितए तारीख) में कहा करते हैं, 'हातिफे गैब ने कहा नागाह काले साहब को मुर्खरू पाया' 'फिक्रे तारीख जब हुई दरपेश। गैब से मुझ को यह निदा आई' इत्यादि एक नहीं लाखों उदाहरणों से सिद्ध है कि एसिया के ग्रंथकार मात्र अन्तःकरण की आकस्मातिक, गति को आकाशवाणी कहते हैं। किसी देशभाषा के आर्ष प्रयोग में बिना समझे, बिना किसी विद्वान से पूछे, हंस देना मूर्खता की पहिचान है। यदि कोई अंगरेज कहे 'Belly has no eyes' तो हमारे स्कूल के छात्र भी हंस सकते हैं कि कौन नहीं जानता कि पेट में आंखें नहीं होतीं। साहब बहादुर ने कौन बड़ी विलक्षण बात कही। यह तो एक बच्चा भी जानता है। पर हा जब उसे समझा दिया जायेगा कि उक्त बात का यह अर्थ है कि गरजमन्द को कुछ नहीं सूझता तब किसी को ठट्ठा मारने का ठौर नहीं रहेगा। इसी भांति हमारे यहां की प्रत्येक बात का अभ्यान्तरिक अर्थ जाने बिना किसी को अपनी सम्मति देने का अधिकार नहीं है।

कुछ समझ में आया? अब न हमारे पूर्वजों के कथन पर कहना कि 'बेउकूफ थे, कहीं ऐसा भी हो सकता है' नहीं तो हम भी कहेंगे कि '...... है। जानै न बूझै कठौता लैकै जूझै।' हि हि हि हि!

खं० ३, सं० २ (१५ अप्रैल ह० सं० १)

रूस और मूस

पहिले साहब सैकड़ों कोस की दूरी से आने की धमकी मात्र दिखला रहे हैं पर दूसरे हज़रत 'घर का भेदिया लंका दाह' के उदाहरण बन रहे हैं। वह आर्य्यों की दृष्टि में म्लेच्छ, मुसलमानों की समझ में काफिर और अंगरेजों की जान में जालिम विख्यात हो रहे हैं इसमें उनका विश्वास अभी से नहीं किया जाता। पर यह हमारे गणेश जी के वाहन और मुसलमानों तथा अंगरेजों के एक पैगम्बर के हमनाम (नामरासी) हैं। अतएव इनसे बचना मुश्किल है। क्योंकि 'भारत हू पाय परिय तुम्हारे।' उनका रूप चित्र में देख के डर लगता है। 'फौज रूसियों की मुच्छ जिनकी हाथ २ भर की मुच्छ'। कौन उन्हें पतियायगा! पर इनके गोरे २ नन्हें २ कोमल २ हाथ पांव देख के ऐसा प्यार लगता है कि पिंजड़े में पाल कर खील और दूध खिलाने को जी चाहता है! पीछे से चाहे जैसे निकलें। वह विचारे जब कभी आवैंगे तब अंगरेजों से बचा खुचा धन ले जावैंगे वा कुछ लोगों को मार गिरावैंगे और क्या बनावैंगे? पर यह अभी से अन्न वस्त्र तक मूसे लिये जाते हैं। वह सामने होके लड़ैंगे तो कदाचित हम भी मारेंगे और मरेंगे। यह तो कहने को होगा—'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोत्र दोषः'। पर इनसे क्या किया जाय जो हानि तो करें हजार हाथ, पर खटका पाया और दुम दबा के बिल की राह ली। सर्कार की बदौलत उनका आना मुश्किल जान पड़ता है पर इनका जाना कुछ हो हमारी सामर्थ्य से तो बाहर है। उनके चरित्र अखबारों द्वारा सुनने में आते हैं तो एक कहानी का सा मजा आता है और मालूम होता है कि अपने अधिकृत लोगों के प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं। पर इनके मुलच्छन देख २ के नींद भूख उड़ी जाती है, कि रहें हमारे घर में, खायं हमारे यहां और हमारा ही सर्वस्व तहस नहस करने को मुस्तैद। सौ बात की एक बात यह है कि उनसे तौ सरकार और देशी राजा और वालंटियर बाबू हमको बचा लेंगे पर इनसे परमेश्वर के सिवा कोई बचाने वाला नहीं। त्राहि! त्राहि! 'शूलेन पाहिनो देवि पाहि खड्गे न चाम्बिके'। ऊ हू! 'किंकरोमि कुगच्छामि'। एक दिन जी ने कहा एक बिल्ली पाल लें तो सब दुख दूर हो जाय, परन्तु बुद्धि ने कहा 'मैवंवाच्यं'—बिल्ली भी मेंव २ करती है।

तुम भी आठ सौ बरस से में २ करने के लतिहल हो रहे हो। फिर भला जवान से मेल कैसे हो सकता है ? ऐसा तो वर्तमान हिंदू नीति के विरुद्ध है। दूसरे तुम म्लेच्छ नहीं हो कि किसी हानिकारक के प्राण लेना विचारो। अपनी तो शोभा यही है कि सबकी सहना पर निरे अकर्मण्य बने रहना। हमने भी समझ लिया कि ठीक है, अपना बचाव करने वाले हम कौन ? अब पाठक बतावैं कि रूस बड़ा है वा मूस।

खं० ३, सं० ३ (१५ मई-जून, ह० सं० १)

प्रश्नोत्तर

मतवाले भाई पूछते हैं—मरणान्तर जीव की क्या गति होती है ?

प्रेमी उत्तर देता है—प्रत्येक बात का यथातथ्य भेद ईश्वर के सिवा कोई नहीं जानता। पर हां जुगत से कुछ बातें ऐसी हैं जिनको ठीक २ तो नहीं कुछ २ मनुष्य ने जान लिया है। सो इस विषय में किसी की चिट्ठी नहीं आई। समाचार नहीं मिला। हम क्या जानें क्या होता है। ईश्वर से पूछो या किसी मरे हुए के नाम तार भेजो।

मत०—तुम तो हंसी करते हो।

प्रेमी—इसमें हंसी की कौन बात है ? जब हम तुम यही नहीं जान सकते कि घर में क्या हो रहा है, अपने ही सिर में कितने बाल हैं, तो जो बिलकुल इस दुनियाँ से बाहर की बातें हैं उन्हें क्या जानें।

मत०—जानते क्यों नहीं। पोथियों में नर्क स्वर्ग लिखे हैं, सो क्या झूठ है।

प्रेमी—भाई सच और झूठ का निर्णय भी या तो गोचर विषय में होता है या विचारणीय बातों में होता है। सो देखने छूने में तो न कभी नर्क आया न स्वर्ग। शायद आपको मालूम हो तो कृपा करके बताइये। हमको न तो भूगोल के ग्रंथों में मिला, न खगोल की पोथियों में। रहा बुद्धि का विषय सो हम तो इतना समझे हैं कि चतुर लोगों ने संसार का चरखा ठीक बना रहने के हेतु, निरे उजबक मनुष्यों को भले कामों में झुकाने को एक झूटी चाट बनाके उसका नाम स्वर्ग धर दिया है और बुरे कामों से बचे रहने के लिए एक कल्पित हौआ ठहरा के नर्क २ कहने लगे हैं। अथवा जो सुख दुख से प्रयोजन हो तो संसार में दोनों पाए ही जाते है। किसी दूसरे लोक की क्या आवश्यकता है ? इसके अतिरिक्त और कुछ भेद हो तो ईश्वर जाने या लिखने और मानने वाले जानें।

यह सुन के श्रोता साहब तो इतना कह के चल दिए कि 'नास्तिक हो'। दूसरे साहब कुछ समझ गए और बोले, अच्छा गुरू, एक बात हमें भी बतला दीजिए कि जिस्के लिए हिन्दू मुसलमान और क्रिस्तान प्रान खोए देते हैं वह मुक्ति वास्तव में क्या है।

प्रेमी—भाई ! इस शब्द का अर्थ तो छुटकारा है। जैसे परस्त्रीगामी बल से मुक्त रहता है, फजूलखर्च धन से मुक्त रहता है इत्यादि। ईसाई या मुसलमान हो जाने पर जाति, कुल और धर्म से मुक्ति हो जाती है। कहां तक कहिये 'मरणातर सर्वतोमुक्तिरस्ति'। पर जैसा पंडित, मौलवी और पादड़ी साहब बतलाते हैं उससे मालूम होता है कि भूत प्रेत की बहिन हैं। क्योंकि उनका भी कुछ अस्तित्व (वजूद) नहीं है पर विश्वासी झूंठ मूट के डर से सूखे जाते हैं। इसका भी किसी ने विश्वास योग्य वृतांत न बताया पर विश्वासी लोग उसकी चाह में डूबते रहते हैं।

एक दूसरे प्रेमी बैठे थे। उन्होंने कहा, 'यदि प्रेम की पराकाष्ठा का नाम मुक्ति धर लें तो क्या हानि है ? उसमें भी तो संसार परमार्थादि की चिंता का सर्वथा नाश हो के केवल परमानन्दमय प्रियतम से तन्मय होना होता है।'

तब पहिले प्रेमी ने कहा, 'निश्चय, यह तो प्रत्यक्ष विषय है और इसके आगे तो मुक्ति भुक्ति सब निरी तुच्छ हैं। पर पराये चेलों की मुक्ति तो हमारी ही समझ में नहीं वरंच भगवान कालिदास जी की समझ में भी नहीं आई। उन्होंने 'कश्चित् मोक्ष मिथ्या जगत्' कहा है।'

पूछने वाले महाशय बोले, 'बस साहब ! हमने भी समझ लिया कि मरने पर ईश्वर जाने क्या होता है। हमें मुक्ति की चिता व्यर्थ है।

प्रेमी – और क्या हमको चिंता करना चाहिए ? अपनी, अपने घर की, अपनी जाति की, अपने देश की, जो हमारा धर्म है। परंतु जिन बातों में केवल ईश्वर का ही अधिकार है, उनमें हम कौन ? मुक्ति कोई वस्तु है तो वह अच्छे लोगों को आप देगा। नहीं है तो नहीं सही। हमें ऐसी २ बातों में व्यर्थ वाद करके अपने सांसारिक कामों की हानि करना वा प्रेमामृत-पान विक्षेप करके आत्मा की शांति भंग करना निरर्थक है। सुना नहीं, 'जियत हंसी जो जगत में मरे मुक्ति केहि काज'।

पुच्छक—गुरू ! तुम्हारी बातें हमें ऐसी प्यारी लगती हैं कि जी चाहता है तुम्हारे चेले हो जायं।

प्रेमी—चेला होना हो तो किसी सफरदाई (सम्प्रदाई) के पास जावो। यहां तो गुरू बन के आना चाहिये 'मकतबे इश्क में जो है सो फलातूं हिकमत। कोई शागिर्द किसी का नहीं, उस्ताद हैं सब'। ऐसे हो तो सिर पर बैठे जो बातें न समझो हमसे पूछो। हम न समझें सो बताओ।

खं० ३, सं० ३ (१५ मई-जून सन् १८८५ ई०)

तत्व के तत्व में अंगरेज़ीबाजों की भूल है

तत्व शब्द का एक अर्थ यह भी है कि 'जिसमें किसी दूसरे का मेल न हो'। पर इसका ठीक २ भेद समझना रेखागणित के बिन्दु से भी सूक्ष्म है। यहां तक कि परमतत्व परमेश्वर का नाम है 'जोगिन परमतत्वमय भासा'। तत्व का वर्णन मोटी बुद्धि वालों की समझ में आना बहुत ही कठिन है, क्योंकि बहुत काम केवल अनुभव से सम्बन्ध रखते हैं। हम कह सकते हैं कि यद्यपि सज्जनों ने दानी, कवि, भारतभक्त इत्यादि और दुष्टों ने सर्कार का द्वेषी एवं इन्द्रियाराम इत्यादि शब्द उनके लिए प्रयुक्त किए, पर हमारे प्यारे भारतेन्दु का ठीक तत्व किसी ने न जाना। उनकी साधारण बातों के भीतर वह बातें भरी हैं जो कहने सुनने में नहीं आ सकतीं। उदाहरण के लिये इसी दोहे को देखिये—भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुयस अथोर। जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥ इस्का अर्थ कदाचित् एक बालक भी कह सकता है। पर उदार बुद्धि के लोग समझ सकते हैं (यद्यपि वर्णन न कर सकें) कि इस दोहे में स्वादु कितना है कि यदि हम इसे परमान्दमय परमात्मा का फोटोग्राफ कहें तो अनुचित न होगा। तिस में भी—घन कोऊ—यह शब्द तो ऐसा है कि बस बोलने का काम नहीं। जितना डूबते जाइए थाह नहीं! अब हमारे पाठक विचारें तो, जब कि एक व्यक्ति के एक बचन के भी केवल एक शब्द का तत्व ऐसे वैसों की समझ में आना दुरगम है तो ईश्वर की रचना का एक मुख्य कारण तत्व और तत्व का तत्व समझना बिचारे गौरंड शिष्यों का काम है? नहीं, यह उन्हीं जगन्मन्य हमारे रिषियों का काम था जो जगत् को तृणवत् गिनके मनसा बाचा कर्मणा से ब्रह्ममय हो रहे थे। यह अंगरेज़ीबाजो की भूल नहीं बरंच पागलपन है जो कह देते हैं कि 'हिंदुओं ने केवल ५ ही माने हैं। उस्में भी जल तत्व नहीं है। उस्में तो दो चीजें मिली हैं। हां, अंगरेज बड़े बुद्धिमान हैं। उन्होंने ६४ तत्व निकाले हैं।' हम यह कदापि नहीं कहते कि अंगरेज बुद्धिमान नहीं हैं। यदि बुद्धिमान न होते तो इतनी दूर हम पर राज्य करने कैसे आते? पर हां, जो खास आत्मा से समझने के विषय हैं उनको कोई बिचारा हमारे पूज्यपाद रिषियों के मुकाबिले पर कितना समझेगा? कैसी

हंसी का विषय है कि तत्व शब्द तो बड़े २ अंगरेजों के मुख से निकलता ही नहीं। लिख के किसी प्रोफेसर से पढ़ा दीजिये। कोई टट्टू कहेगा, कोई टटवा कहेगा, कोई बहुत विचित्र मुंह बनाके तत्व कह देगा। भला तत्व का तत्व समझना इनका काम है? अब समझने की बात है कि जिस बात को गुरू स्वयं नहीं समझते उसे चेले बिचारे क्या समझेंगे? हमारे यहां पांच तत्व माने गए हैं। पृथिवी—इससे यह न समझना चाहिये, जिस पर हम लोग रहते हैं, क्योंकि इसमें तो पांचों का सम्मेलन है। पर पृथ्वी तत्व उस सूक्ष्म शक्ति का नाम है जिसमें गन्ध गुण रहता है। गन्ध भी सुगन्ध दुर्गन्ध को नहीं कहते। वह वह शक्ति है जिसमें न्यून से न्यून वा अधिक से अधिक नासिका के द्वारा अनुभव किया जाने वाला गुण स्थित रहता है। दूसरा तत्व, आप जिसे स्थूल भाषा में जल तत्व करते हैं, वह घट्ट २ पिया जाने वाला पानी नहीं, बरंच रस अर्थात् द्रव गुण, जिसे महा मोटी भाषा में लचक व नज़ाकत का आधार समझना चाहिये। तेज अर्थात् अग्नि तत्व—यह भी रूप अर्थात् नेत्र से जाना जाने वाले गुण की बोधक शक्ति, वायु—अर्थात् स्पर्श (छूने) के विषय का उद्बोधक गुण, आकाश—अर्थात् यावत् दृश्य और अदृश्य वस्तु के हिलने चलने आदि की अवकाशदायक शक्ति, जिसे शब्द गुण कहते हैं। जितने पदार्थ हम देखते वा ज्ञानेंद्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, सब में प्रकाश व प्रछन्न रूप से यह पांचों गुण (कोई न्यून कोई अधिक) विद्यमान रहते हैं। ऐसी कोई दृश्य वस्तु नहीं है जिसमें पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश तत्व अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक गुण-विशिष्ट शक्ति न हो। एक लोहे का ठोस डण्डा लीजिये। उसमें छुआ जा सकने का गुण और लम्बाई मोटाई देखी जा सकने का गुण, यह दोनों। वायु और अग्नि तत्व का तो प्रत्यक्ष ही है। पृथिवी का धर्म आपको बहुत ही सूक्ष्म अनुभव से मालूम हो जायगा, क्योंकि वह उसमें महा प्रछन्न रूप से। यदि उसे किसी महा सुगन्धित व दुरगन्धित वस्तु में कुछ दिना पड़ा रख के निकाल लीजिये और बिलकुल धो के पोंछ डालिए तौ भी आपको कुछ अनुभव होगा। अब आप समझ सकते हैं कि उस डंडे में यदि सुगन्ध दुरगन्ध के धारण की शक्ति अर्थात् पृथ्वी तत्व का धर्म न होता तो वह उनको न ग्रहण कर सक्ता। यदि हमारे इस कहने पर हंसी आवै तो पृथ्वी शब्द का एक अर्थ फैलाव है। सो लम्बाई चौड़ाई मुटाई को भी हम पृथ्वी तत्व का बोधक कह सकते हैं। अब जल तत्व न होता तो उस्को गल के पानी सा हो जाने व झुकने आदि की सामर्थ्य कहां से आती? और आकाश तत्व

की परीक्षा उस पर एक ढेला मार के कर लीजिये। ठन से बोलेगा। नहीं तो ऊपर नीचे और चारों ओर तो आकाश हुई है। भीतर का हाल तब खुल जायगा जब उसमें का एक भी अणु उससे प्रथक् करोगे। क्यों, पांचों तत्व हैं न ?

खं० ३, सं० ३ (१५ मई-जून सन् १८८५ ई०)

प्रेम एव परो धर्मः

धर्म शब्द का अर्थ है, जो धारण किया जाय व जो धारण करे और प्रेम शब्द का एक अर्थ है सम्मेलन। इस रीति से एक बच्चा भी समझ सकता है कि धर्म उसी का नाम है जिसमें दो या अधिक पदार्थ ऐसे मिल जायं कि जिनका प्रथक होना प्रायः असम्भव हो। उदाहरण के लिए हम जैसे कहें कि शर्करा का धर्म है मिठाई और गरमी। इससे यह समझा जायगा कि एक दरदरा २, उजला २, बालू के समान जो पदार्थ है उसमें गरमी और मिठाई यह दोनों गुण ऐसे हैं कि यह कहना असंभव है कि मिठाई कहाँ है, कितनी है, और गरमी कहाँ है और कितनी है। अर्थात् हर दाने में, भीतर जहां देखो वहाँ मिठाई भी विद्यमान है और गरमी भी। इसी मिठाई और गरमी के सम्मेलन को, व कहो प्रेम को, अथवा कभी किसी प्रकार से अलग होने के असम्भव को, कहा जाता है कि उसका धर्म है। अब हम कह सकते हैं कि प्रेम ही का एक देशी नाम धर्म भी रख लिया है। परन्तु परम धर्म इससे अधिक है। वह कभी, कहीं, किसी भाँति, अपने धरमी से अलग नहीं हो सकता। शक्कर का परम धर्म मिठाई और गरमी नहीं है। क्योंकि जब शक्कर ऊख में छिपी थी उस समय ऊख के पत्ते में मिठाई का नाम न था। और जब गुड़ के रूप में थी तभी यदि पानी में घोल, किसी बरतन में रख दी जाती तो, वर्ष भर एक ही दशा में रक्खी रहती तो, सिरका हो जाती जिसमें मिठाई का लेश न रहता है। अग्नि का परम धर्म जला देना कहा जा सकता है। लोग सन्देह कर सकते हैं कि उसमें भी तो पानी डाल देने से दाहक शक्ति का लोप हो जाता है। पर नहीं, तब तो आग स्वयं नहीं रहती, कोयला रह जाता है। जब तक आग है, जहाँ तक आग है, वह जलाने से नहीं रुक सकती। इससे क्या पाया गया कि परम धर्म वही है जो कभी जा न सके। अब जब हम अपने हृदय से पूंछते हैं कि हमारा परम धर्म क्या है, तब चाहे करोड़ों शंका क्यों न रोकें, पर सबको लात मार के हृदस्थ कोई देवता यही कहेगा कि प्रेम ! प्रेम !! प्रेम !!! इसके दो चार युक्ति और प्रमाण भी सुन रखिये जिसमें निश्चय हो जाय कि हमारा परम धर्म प्रेम ही, स्वाभाविक धर्म प्रेम ही है। और वास्तविक (मजहबे हक्कानी व मजहबे कुदरती यानी नेचरल रिलिजन) प्रेम ही है, क्योंकि हमारा सृजनहार

परमेश्वर स्वयं प्रेम स्वरूप है। क्योंकि सब भाषा के सब धर्मग्रन्थ उसे सर्व-शक्तिमान कहते हैं। इस शब्द का अर्थ ही यह है, जिसमें सब प्रकार की सब सामर्थ्य हो वही ईश्वर है। "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः"। अथवा हम कह सकते हैं, जिसमें एक भी शब्द का ह्रास होगा वह ईश्वर ही नहीं। तो इस नाम से सिद्ध है कि हमारी उत्पत्ति का मूल कारण ही प्रेम अर्थात् यावत सामर्थ्य का ऐक्य है। साक्षात् कारण को देखिये कि माता पिता का प्रेम न होता तो किसी की सूरत भी देखने में न आती। यों चाहे भले ही स्त्री पुरुष में जूता उछलौअल बनी रहे, पर गर्भ स्थापन के समय अवश्य ही प्रेम की आवश्यकता है। शरीर की बाहरी बनावट देखिये तो पंचतत्व के ऐक्य बिना नहीं। क्या एक छोटे से छोटा लोम भी कोई दिखा सकता है जहाँ पांच में से एक का भी अभाव हो? और लीजिये, जहाँ एक का भी ह्रास होगा वहां शरीर ही किसी काम का नहीं रहेगा। भीतरी बनावट देखिये, वहाँ भी मन बुद्धि आदि तत्व कहाँ है कहाँ नहीं यह सिद्ध करना महा कठिन होगा। अब समझने की बात है, जो हमारा कारण वह प्रेममय, हम स्वयं प्रेमोत्पन्न, फिर प्रेम के बिना हमारा धर्म क्या हो सकता है? यहाँ हमें यह भी कहना अवश्य होगा कि पूजा पाठ, स्नान दानादि को हम यह नहीं कह सकते कि धर्म नहीं है। पर हां, यह स्वयं धर्म नहीं वरंच धर्म वृक्ष के एक छोटे से छोटे पत्र हैं। इनको यदि हम छोड़ भी दें तो कोई बड़ी हानि नहीं। कभी २ किसी २ स्थान पर हमें छोड़ना पड़ता है। यदि हम महा निर्बल जराग्रस्त हों तो हमें माघ स्नान श्रेयस्कर न होगा। पर अपने घर में धर्म को हम कभी, कहीं, कुछ काल के लिये, छोड़ेंगे तो दुःख पावेंगे। क्योंकि अपने Nature के विरुद्ध चलते हैं। हमारा जाति स्वभाव तो बहुतों का एक हो जाना ही ठहरा। फिर उसके प्रतिकूल होके हमें सुख कैसा? हमारा निर्वाह कहाँ? आग से यदि दाहक शक्ति निकाल डाली जाय तो वह कोयला है। शरीर से कोई तत्व पृथक हो तो वह मृतक है। इसी भांति हम में प्रेम का किंचिन्मात्र भी आदर्श न हो तो हम पापी, दुःख-भाजन और अशांत हो जायंगे।

हमारा आदि कारण ईश्वर और हमारे साक्षात् कारण माता पिता अथच उनका कार्य्य हमारा शरीर। उसकी भीतरी बाहरी बनावट सब प्रेम अर्थात् ऐक्य है। यह निश्चय हो गया तो भी जिनको वेद शास्त्रादि के प्रमाणों ही से शांति होती है, उनके लिये "ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीदित्यादि" रिचा के अभिप्राय को समझ लेना भी हमारे कथन की ओर से पूर्ण संतोष देगा।

इसमें साफ लिखा है कि जीवधारी मात्र चार वर्ण में विभक्त हैं। वे एक ही परमेश्वर, जिसे हम अपनी बोली में प्रेमदेव कहते हैं, व विराट रूप अथवा रूपक रीति से धर्म पुरुष ही के मुख हाथ इत्यादि हैं। बुद्धिमान लोग विचार सकते हैं कि हमारे हाथ पांव इत्यादि हमसे प्रथक् नहीं हैं, अर्थात् इन सबकी एकत्र स्थिति ही शरीर का शरीरत्व है। इसी प्रकार चारों वरण की एकचित्तता ही ऐहिक और अगोचर विषयक सुख का मूल है जिसको प्रेम कहते हैं। बहुतेरे सदेह कर सकते हैं कि धर्म साधन की परावस्था, जिसमें सांसारिक संबंध छोड़ के एकान्तवास करके केवल भगवताराधन ही से काम रहता, वहां किसी से प्रेम सम्बन्ध क्यों कर रहेगा? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि हमारी आत्मा का और परमात्मा का एकत्व अर्थात् आत्मिक सुख का जनक हमारा प्यारा प्रेम तो कहीं जाता ही नहीं, और जहां परमात्मा से सम्बन्ध होगा वहां तत्सम्बन्धी जगत् का सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है। इसी का प्रमाण हमारे रिषियों के उपदेश में अद्यापि विद्यमान है कि यद्यपि उन्होंने संसार के विषय छोड़ दिये थे तौ भी हम संसारी जीवों के परम कल्याणजनक व्याख्यान निर्माण करते ही रहे हैं। सतुपदेश करना भी तो भगवद्भजन ही का अंग है। फिर एकांतवासी लोग भी परम धर्म से क्यों कर न्यारे होंगे? हां यह कहा जा सकता है कि बाहरी बातों के प्रेम का निर्वाह नहीं कर सकते, सो वही बाहरी सुख भोजन वस्त्र इत्यादि से वंचित भी रहते हैं। जितने अंश में, जितना प्रेम का अभाव होगा उतने अंश में उतना सुख न भूतोभविष्यति। क्योंकि यह एक लड़का भी जानता है कि पाप से दुख और धर्म से सुख होता है। और धर्म प्रेम ही का नाम है। अतः प्रेम ही सुख का जनक है। सोई उपर्युक्त रिचा का अभिप्राय है कि जब तक विद्वान धर्मवेत्ता तथा बली योद्धा एवं व्यवहार कुशल और निरभिमानी सेवातत्पर सब भांति के लोग एक ही शरीर के अंग प्रत्यंग की भांति बरताव न करेंगे तब तक संसार परमार्थ कुछ भी सिद्ध नहीं होने का। बहुतेरे पांडित्याभिमानी शूद्रों से ऐसी घृणा रखते हैं कि उनका नाम भी मुंह बिदोरे बिना नहीं लेते। हम यह नहीं चाहते कि उनके साथ बेटी रोटी का व्यवहार किया जाय। यह तो बिचारे मधुर भाषा में समझा देने पर वे स्वयं न करेंगे। पर हां उनको अपना प्यारा आर्य्य भाई, अनंत कामों में सहायक अथच पूर्ण कृपापात्र न समझना एक पाप है बरंच ऐसी भारी मूर्खता है जैसे कोई अपने पांव को निकम्मा समझ के काट डालने का उद्योग करे। प्रेम अर्थात् ऐक्य ही परम धर्म है। इस विषय के अनेकानेक मंत्र वेद में मिलेंगे जैसा

"प्रियानांत्वप्रिय पतिग्वंहवामहे" "शन्नो मित्रः" "अहोरात्राणिविदधद्विश्वस्यमिष्तोवशी" इत्यादि मंत्रों में प्रिय और मित्र और बशी (वश करने वाला) इत्यादि ईश्वर के नाम ही प्रेम सिद्धांत वाले हैं। "संगच्छध्वं संवदध्वं" इत्यादि में उत्तम बरताव करना, प्रिय भाषा बोलने आदि की खुलासा आज्ञा है, जो प्रेम ही का प्रवर्त्तन करती है। सबसे बढ़ के गायत्री, जो वेदों में सर्वोपरि मंत्र है और वर्णों में सर्वोपरि जाति ब्राह्मणों का तो धर्म भूषण है। हमारे बैसवारे में जहां ब्राह्मणों की अधिकता है वहां देखिए तो यद्यपि अविद्या के प्रभाव से धर्म और अर्थ से सर्वथा वंचित हो रहे हैं, तथापि इतना तो कुपढ़ बालक ही नहीं वरंच पशुप्राय स्त्रियां भी जानती हैं कि "गात्री" (गायत्री) तो बाम्हन का हथियारु आय", "अरे राम ! राम ! गात्री जपे नहीं जानत ? कैस बाम्हन आय !" वह गायत्री, वह वेद माता, वह हमारे ब्राह्मण की सर्वोच्च ध्वजा भी प्रेम ही उपदेश करती है। यों आर्य परिपाटी के अनुसार उसका जप ऐसी गुप्त रीति से किया जायगा कि परम प्यारा बंधु भी जप करते हुए न सुने पर उसमें जो प्रार्थना की जाती है, "धियो योनः प्रचोदयात्" अर्थात् जो हमारी बुद्धियों को उत्तेजित करे, इसमें समझना चाहिये कि ऐसी गुप्त रीति से एकांत में प्रार्थना की जाती है तो केवल अपने लिए होनी चाहिए थी। अर्थात् "धियोयोमेप्रचोदयात्" मेरी बुद्धि को जो बढ़ावे। पर नहीं, गायत्री के उपदेष्टा, ईश्वर या रिषि जो मानो, की यही मनशा है कि अकेले भी, यदि ईश्वरीय भी, कोई काम करो तो केवल अपने लिए नहीं बरंच अपनों के लिये। यह क्या है ? उसी हमारे मूल प्रेम का दृढ़ीकरण। बस जब गायत्री स्वयं ऐक्य का उपदेश करती है तो इससे बढ़कर वैदिक प्रमाण क्या चाहिये ? पाठक अब भी "प्रेम एव परो धर्मः" में कोई संदेह है ? हमारे माननीय मनु भगवान ने आज्ञा की है, "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" यह दशों लक्षण सिवा पूर्ण धार्मिक अर्थात् प्रेमी के किस में हो सकते हैं ? सब सुख दुःखों को केवल प्यारे की इच्छा समझने वालों के अतिरिक्त धैर्य का दावा कौन कर सकता है ? क्षमा करना किसका काम है ? उसी का न जो समझ ले कि भला इनसे हम क्या बदला लें। यह तो ईश्वर के नाते अपने ही ठहरे दम भी उसी से होगा जो अपने ऊपर कुछ बीते पर ईश्वर की मंगलमयी सृष्टि में हलचल न पड़ने देने का हठी होगा। चोरी का त्याग भी वही करेगा जो निश्चय कर ले कि इस वस्तु से इनको सुख होता है, हमें पहिले हो चुका। शुद्धता भी वही ग्रहण करेगा जिसको

ईश्वर और अपने ऐहिक मित्रों से लिपट के मिलने की प्रगाढ़ इच्छा होगी। इन्द्रियां भी उसी की चलायमान न होंगी जो अपने अलौकिक आनन्द के आगे बाह्य सुखों का तुच्छ गिनेगा। बुद्धि प्रेमियों की सी किसमें होगी जो परम तत्व परमात्मा तक को अपना कर सकते हैं। यद्यपि कच्चे लोगों की दृष्टि में वे मूर्ख जचें और वे भी अपने प्रियतमजन्य सम्बन्ध के आगे बुद्धि की पर्वा न करें, पर बुद्धि का जो असली तत्व है अपना और पराया हिताहित ठीक २ समझ के, न और को ठगने की चेष्टा करना, न स्वयं ठगाना, सो उनमें प्रत्यक्ष ही है कि वे क्षणिक हानि लाभ से विकल न होके अपने ठीक सुखद मार्ग पर चले जाते हैं। विद्या का कहना ही क्या है। श्री कबीर जी ने अनुभव करके कही दिया है 'ढाई अक्षर प्रेम के पढ़ै सो पंडित होय'। एक बार एक सहृदय ने पूछा कि 'भाई तुम्हारे मत की कौन किताब है?' इस पर हमारे एक अभिन्न ने कहा 'हमारा मत तो कोई है नहीं, पर किताब को जो पूंछो तो पृथ्वी और खगोल यह दो पन्ने पहिले अच्छी तरह पढ़ लीजिये, फिर कोई बड़ी पोथी बतला देंगे।' यह सुन के पुच्छक भाई बड़ी देर तक स्तब्ध रह के, बड़ी गंभीरता से बोले कि 'हा, बेशक तुम्हारी विद्या के ग्रंथ सर्वोत्तम हैं जिनको कोई दूसरा क्या पढ़ेगा, कितना पढ़ेगा और कहां तक पढ़ेगा।' वाचक महोदय, इस बात को खूब गौर से दूर तक सोच लीजिये, प्रेमियों की विद्या का हाल खुल जायगा। सत्य का क्या पूंछना है। प्रेम मदिरा मत्त महाशयों के मुंह से जो निकलेगा वास्तव में सत्य ही होगा। कोई न समझे तो उसका दोष है। रहा अक्रोध, सो जिसकी दृष्टि में कोई क्रोध का पात्र ही नहीं है वह स्वयं क्रोध से दूर ही होगा। अब 'ब्राह्मण' के रसिक विचार देखें कि जिन मनु को वेद भी 'तद्-भेषजं भेषजताया' कहता है उनका धर्म विषयक निश्चय इसी 'प्रेमएवपरो-धर्मः' पर है या नहीं। इस के सिवा और भी श्रुति स्मृति के सहस्त्रावधि वाक्य हैं जो गुप्त वा प्रकट रूप से इसी बात को पुष्ट करते हैं। पर हम विस्तार भय से न लिख कर केवल अनुमति देते हैं कि देखिए, समझिए और हमसे चाहे और किसी से पूछिये तो आंखें खुलें।

खं० ३, सं० ३-४ और ६ (१५ मई-जून, सन् १८८५ ई० और १५ अगस्त, ह० सं० १)

मुनीनां च मतिभ्रमः

हमारे मित्रवर श्री राधाचरण गोस्वामी की योग्यता सहृदयता और विद्वता किसी से छिपी नहीं है। यह हम बिना कोई आपत्ति स्वीकार कर लेंगे कि गोस्वामी लोगों का ठौर व आजकल उन्हीं अथवा उनके से शायद दो ही चार पुरुष रत्नों पर निर्भर है। पर जब हम देखते हैं कि हमारा एक ऐसा सुयोग्य सहकारी कभी २ हंसी में आकर बाज जगह ऐसी बातें लिख बैठता है जो आक्षेपनीय एवं हास्यास्पद होती हैं, तो हम क्या करें ? इधर मित्रता तो कहती है, बोलो मत "बिगड़ने से बनता है उनका बनाव"। इधर बिचार कहता है, नहीं "रोक दो गर गलत चले कोई"। अन्त में हमें यही कहना पड़ता है "मुनिनांच मति भ्रमः"। आदमी भूलता ही है, पर क्या कीजिये जो जान बूझकर भूलता हो। उसको तो समझाये बिना जी नहीं मानता। हमारा विचार कभी किसी से झगड़ा लेने का नहीं रहता। पर सच्ची बात में क्यों न कहें कि "सबका ज्ञान दें आप···" हि हि हि क्यों कहें। श्रीगोविन्दनारायण जी कृत शिक्षा सोपान की समालोचना में श्री मुख का आज्ञा है कि "ग्रन्थकर्ता शैव मालूम होते हैं। अर्धचन्द्र पर बड़ा जोर दिया है।" भला पटन पाठन की पुस्तकों में अर्धचन्द्र क्या न रहना चाहिये ? फिर गोस्वामीजी को कौन कर्णपिशाची सिद्ध है जो ग्रन्थकार की मत बदल गई ? आप वैष्णव हैं तो क्या अर्धचन्द्र उड़ा देंगे ? ऐसा हंसोड़पन किस काम का। और सुनो, पुस्तकों की समालोचना में कुछ न कुछ दोष अवश्य ढूंढ़ लेने की आपको लत है, पर अपनी बातों में आगे पीछे की सुध नहीं रखते। अगस्त के भारतेंदु में आपने एक पुस्तिका दी है। उसका नाम प्रेम बगीची रक्खा है। क्या नाम रखने को कोई संस्कृत शब्द न जुड़ता था ? प्रेमबाटिका बुरा था जो एक अरबी का शब्द सो भी महा २ अशुद्ध रखते हैं ? गोस्वामीजी को भली भांति ज्ञात होगा कि वह शब्द बाग है जिसको बागीचा कह सकते हैं। बागीचा भी अशुद्ध है। पर खैर शहर के अपढ़ लोग बोलते हैं। परंतु बगीचा और बगैचा तो सिवाय अक्षर शत्रुओं के कोई बोलता ही नहीं। तिसमें भी बगीची ! ह ह ह ! खतरानियों की बोली। एक मात्रा अर्धचन्द्र लिखनेवालों को तो आपने शैव समझ लिया पर इस अशुद्ध और जनाने शब्द को पोथी के नाम में लाते समय यह ध्यान

न रहा कि हमें लोग क्या समझेंगे। यदि किसी गीत में यह शब्द आ जाता तो हम समझ लेते कि मैत्री के निबाहने क्या करें। पर नाम में एक उस भाषा का शब्द जिसके हम और वह दोनों शत्रु हैं, लाना, सो भी अशुद्ध! भला यह लीला देख के और आपरूप की योग्यता सोच के कौन न कहेगा मुनिनां च मतिभ्रमः। हम आशा करते हैं कि हमारे मित्र आगे से ऐसी २ बातों पर ध्यान रक्खा करें; नहीं तो यह तो कोई कह न सकेगा कि गोसाईंजी समझते नहीं, पर हां, हंसी के पीछे बनी बिगड़ी का विचार नहीं रहता, यह कहते हम भी नहीं रुक सकते। विज्ञेपुकिमधिकं।

खंड ३, सं० ७ (१५ सितंबर ह० सं० १)

कुतर्क का मुंहतोड़ उत्तर

सच्चे आस्तिकों का मन्तव्य है कि ईश्वर की आज्ञा बिना कुछ नहीं होता और वह जो चाहे सो करे। इस पर आजकल के मतवाले, जिनका धर्म केवल मुंह की हार जीत पर स्थित है, बहुधा सीधे सादे विश्वासियों से ऐसी २ कुतर्क कर उठते हैं, कि क्या वही चोरी जारी इत्यादि दुष्कर्म भी कराता है तथा वह अपने तईं मार भी डाल सकता है? इत्यादि। इन कुतर्कों से दृढ़ विश्वासियों की तो कोई हानि नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि विश्वास तो केवल हमसे और जगदीश्वर से संबंध रखता है। हम अपने प्यारे परमात्मा को कुछ मानते हैं—बाप, बेटा, बड़ा, छोटा, स्त्री, पुरुष, भला, बुरा, चाहे जैसा हम उसे मानेंगे। हमारे मन्तव्यानुसार वह हम से बरताव करेगा। इसमें किसी के बाप का इजारा नहीं है। बातों में हम लाख बार हारेंगे चाहे जीतेंगे, हमारा धर्म कच्चा रंग नहीं है कि तनक में उड़ जाय! हमें किसी से विवाद की आवश्यकता क्या है। हमको कोई नया मत नहीं चलाना। हम लावनीबाज नहीं हैं। हम तो अपने किसी के कोई हैं। पर कच्चे धर्मियों की इसमें बड़ी भारी हानि यह होती है कि उनके बरसों से जमे हुए विश्वास में हलचल पड़ जाती है। बिचारे बैठे बिठाये भ्रमसागर में डुभकूं करने लगते हैं। किसी बकवादी के चेले, अनुगामी वा सिपाही बन के परमोत्तम मार्ग से पतित हो जाते हैं उनके लिये हमने थोड़ी सी कुतर्कों का मुंहतोड़ उत्तर 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' न्याय से सोचा है। वा क्या जाने किसी अगले सज्जन ने कहीं लिखी रक्खा हो, जिससे ईश्वर चाहेगा तो कुतर्की राम को यदि पीठ न दिखाना पड़ेगी तो कुछ देर जवाब सोचने के लिये आकाश पाताल तो देखना ही पड़ेगा।

कुतर्किउवाच—क्यों साहब, तो उसकी आज्ञा बिना कुछ नहीं होता न?

धर्मी—हां हां, आज्ञा ही नहीं बरञ्च सहाय भी उसकी सब कर्मों में अपेक्षित है।

कुतर्की—तो चोरी जारी इत्यादि में भी उसकी आज्ञा और सहाय रहती है। वाह रे तुम्हारे ईश्वर!

धर्मी—उक्त कर्मों को आपही लोगों ने बुरा ठहरा लिया है अथवा इसका भी कोई प्रमाण है कि ईश्वर की दृष्टि में बुरे हैं?

कुतर्की—शायद आप ही अच्छा समझते हों, नहीं दुनियां भर तो बुरा ही कहती है।

धर्मी—मैं तो अपने और अपने मित्रों के करने योग्य नहीं कह सकता। क्योंकि हमारी शांतिभंग सम्भावित है। और दुनियां भर का आपने व मैंने ठेका नहीं नहीं लिया। केवल दो चार सभ्य देश, जिनसे हमसे संबंध रहता है, उनमें प्रकाश रीति से बुरे कहे जाते हैं। यद्यपि बड़े २ लोग भी प्रछन्न रूप से करते ही हैं। समझ जाइये! फिर कहिये भला सारा संसार वास्तव में बुरा मानता है? और यदि वास्तव में बुरा ही मानते हों तौ भी क्या ईश्वर की बुद्धि संसारियों ही की सी है? बस उसकी प्रत्येक बात अतर्क्य है। हम कह सकते हैं जो उसे कोई काम नापसंद होता तो उसे पहिले ही से नाश कर देता! फिर वह केवल एक जाति, एक संप्रदाय, एक देश, एक ही स्वभाव वालों का ईश्वर नहीं है, बरंच छोटे बड़े भले बुरे सभी उसके हैं। सभी का भरण पोषण उसे करना है। पतितपावन अधमोद्धारण आदि नामों ही से सिद्ध है कि वह उन पर भी दया करता है। इसके अतिरिक्त जितने काम संसार के बुद्धिमानों ने बुरे ठहराये हैं उनमें से एक न एक सभी में रहता है (कौन बन्दा है खुदा का जो गुनहगार नही)। इस रीति से सभी लोग उसकी आज्ञा और सहाय से बंचित रहे जाते हैं। और ऐसा न है न हो सकता है। फिर क्यों कर कहें कि कोई कुछ उसकी आज्ञा बिना करता है। क्या संसार में कोई ऐसा भी है जिसको ईश्वर जीवन, वस्त्र, अन्न, सुख, शांति, क्षमा, दया, भक्ति इत्यादि कभी भी न देता हो? फिर उसकी सहाय से कौन बंचित कहा जा सकता है?

खं० ३, सं० ६–१० (१५ नवंबर-दिसंबर ह० सं० १)

124367

गंगा जी

इन तीन अक्षरों से हमारे भारत को कितना सम्बन्ध है, यह सोचने बैठते हैं तो हमारा मन हिमालय से भी लम्बा चौड़ा, और विचारशक्ति तो गंगा नहीं बरंच महा सागर को लज्जित करने वाली हो जाती है। आहा! गंगा और भारत के सम्बन्ध को पूर्ण रूप से लिखना कोई हंसी खेल है? ऐसा भी कोई हिंदू है जो दिन भर में इस नाम को, मन वा बचन से, न्यूनातिन्यून एक बार न लेता हो? ऐसा भी कोई काम है जिसमें गंगा जी का कुछ न कुछ प्रत्यच्छ वा प्रच्छन्न लगाव न हो? ऐसा भी किसी विषय का कोई ग्रन्थ है जिसमें किसी न किसी रीति से यह अक्षर न आए हों? नहीं, नहीं, कदापि नहीं! भारत की तो गंगा प्राण हैं, शोभा हैं, बरंच सर्वस्व हैं! परमोत्तम पुरुषों के शिरोमुकुट हमारे मुनीश्वरों को ब्रह्म प्राप्ति की बड़ी सुविधा गंगा से "गंगातरङ्गकणशीकरशीतलानि विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि···।" कहा तक कहिये ब्रह्मद्रव, देव नदी इत्यादि नामों ही से टपकता है कि रिषियों को जगत् से अनिच्छा होने पर भी गंगा से ममत्व था। इधर हमारे कलियुग की मूरत, पराई बहू बेटियों पर, लोक परलोक निछावर करने वालों को भी गंगा जी में कितना सुभीता लगता है कि बस 'जानि जाय जो जाननिहारा'। अब कहिये, गंगा जी सभी की अभीष्टदायिनी नहीं हैं कि सैकड़ों मन खाद्य वस्तु गंगा जल से सींची जाती है, सहस्रों ब्राह्मण गंगा तट पर सुख से जीवनयात्रा करते हैं, लाखों जीवजन्तु गंगा में पलते हैं। फिर क्यों न गंगा माता कही जायं। इधर वेदों में 'इमं मे गंगे' इत्यादि मंत्र हैं। पुराणों में एतद्विषयक बहुत सी कथाएं हैं तो आल्हा में भी "गंगा किरिया राम दुहाई हम ना धरब पछाड़ पांव" मौजूद है। भक्तों के लिये नहाने और ठाकुर नहलाने को गंगा, व्यापारियों के लिये नावें आने जाने को गंगा, सहृदयों के लिये सायंकाल हवा खाने को गंगा, अनेक प्रकार के रोगियों के लिये जल और बालुका द्वारा व्याधि हटाने को गंगा, बेईमानों के लिये बात २ पर उठाने को गंगा, नगर भर का अघोर बहाने को गंगा, मृतकों की अन्तेष्टि बनाने को गंगा, नए मत वालों के मुंह बिचकाने को गंगा, राह में मिशनरियों के बाज सुनाने को गंगा, और हाय! निर्दई हत्यारों को मछली फंसाने के लिये जाल फैलाने को गंगा!

प्यारे पाठकगण ! दूर तक समझ लीजिये, कहां २, कैसे २, किसको २ गंगा से प्रयोजन है । यद्यपि हमारे यहां बहुत सी नदियां हैं पर ऐसा सर्व-व्यापी सम्बन्ध किसी का नहीं । जमुना जी भगवान कृष्णचन्द्र के नाते पूजनीया मानी जाती हैं, पर हमारी गंगा की छोटी ही बहिन कहलाती हैं । ऐसी कोई संप्रदाय नहीं जिसमें गंगा न मानी जाती हों । ग्रंथ के ग्रंथ गंगा जी की महिमा से भरे पड़े हैं और अब भी बनते ही चले जाते हैं । हमारे बड़े २ तीर्थ और बड़े २ नगर बहुत ही थोड़े हैं जो गंगा पर न हों । जहां से गंगाजी दूर हैं वहां कोई कुंड व कोई छोटी नदी का नाम गंगा सम्बन्धी अवश्य होगा । हमारे बैसवाड़े में एक कहतूत है कि 'का गंगै हाड़ लै जैहो ?' इसमें मालूम होता है कि कभी किसी स्थान के हिन्दू, जिनसे गंगा बहुत दूर हैं, वे अपने प्रिय मृतकों की हड्डियां गंगा में पहुंचाना बड़ा उत्तम समझते होंगे । सभी नदियों के तटस्थ ब्राह्मण घाटिया इत्यादि कहाते हैं पर गंगा के नाते लाखों ब्राह्मण गंगापुत्र के नाम से पुकारे जाते हैं, और कैसे ही क्यों न हों, पुजाते हैं । क्यों न कहिये कि गंगा हमारी एक महत्तम प्रेमाधार हैं । धन्य गंगे ! सर्वदेवमयी गंगा जिन्होंने कहा है, निहायत ठीक कहा है, क्योंकि 'श्रीहरिपद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस । ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस । शिवसिर मालति-माल, भगीरथ नृपति-पुन्य-फल । ऐरावत-गज गिरिपति हिम-नग कंठहार कल ।।' इत्यादि वाक्य स्मरण होते ही तबियत को ताजगी होती है । फिर तुम्हें अमृतमयी क्यों न मानें ? बहुत का बिश्वास है, बहुत पोथियों में लिखा है कि गंगास्नातक मरणानन्तर शिवत्व अथवा बिष्णुत्व को प्राप्त होता है । श्रीमान कबिवर अबदुल रहीम खां (खानेखाना) जो अकबर के समय में संस्कृत के और भाषा के बड़े अच्छे वेत्ता थे, उनका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है कि 'अच्युतचरणतरंगिणि ! शशिशेखरमौलिमालतीमाले । मम तनुवितरण-समये हरता देया न मे हरिता ।' अर्थात् बिष्णु बनाओगी तो मुझे कृतघ्नता का दोष होगा, क्योंकि तुम उनके चरण से निकली कहाती हो । अतएव शिव बनाना, जिसमें तुम्हें शिर पर धारण करूं । अन्य मत वाले देख लें कि अच्छे मुसलमान भी हमारी गंगा को क्या कहते हैं । फिर उन हिंदुओं को हम क्या कहें जो गंगा की प्रीति नहीं करते । हमारी समझ में मरने पर क्या होता है यह नहीं आता, पर जीते जी ब्रह्मा बिष्णु महेश बना देती है । यह तो हम प्रत्यच्छ दिखा देंगे । किनारे नहाने को खड़े हो तो पांव के नीचे गंगा बहती हैं, यह बिष्णु भगवान का चिन्ह है ।

डुबकी लगाने के समय शिर के ऊपर से धारा बहती है, यह शिवजी का अंग है। बाहर निकलते ही मुख में वेद का कोई मंत्र व वेदवेद्य परमेश्वर का कोई नाम होता है, जो ब्रह्मा का हृदय है। क्यों, तीनों हो गये। हमारे मित्र मुशी कालीचरण साहब सेवक कवि की एक सवैया इसी मतलब में है। यथा—"सेवक तीर पै ठाढ़ो भयो पद द्वै बहि विष्णुता गंग दई है। न्हात समय सिरते कढ़ी ता छन शंकर लौं शुभ शोभा भई है॥ बाहर आय पढ़े श्रुति मंत्र तबै विधि को पद सांचो हई है। आय त्रिगामिनि तीर त्रितापिहु होत सदेह त्रिदेव मयी है॥ १॥ वरंच हमारे रसिकों को इन्द्र पदवी अधिक प्राप्त होती है क्योंकि हजार आंखें मिलती हैं। (इसका अर्थ समझना मुश्किल नहीं है)। अहाहा! 'नजर आता है हरसू गर परीयो हूरो गिलमां का। मिलै है राहे गंगा में हमें रुतबा सुलेमां का।'

खं० २, सं० ९-१० (१५ नवंबर-दिसंबर ह० सं० १)

नागरी महिमा का एक चोज

हमारे यहां की बोली का एक यह भी ढंग है कि बहुत शब्दों के साथ आदि में अ, स, और कभी २ फ मिला देते हैं, जिसमे एक निरर्थक शब्द बन जाता है, पर अच्छा लगता है। रोटी ओटी, आदमी सादमी इत्यादि। इस रीति से कई भाषाओं के निरर्थक शब्द उन भाषाओं की कलई खोल देते हैं, पर हमारी नागरी देवी की महिमा ही गाते हैं। देखो न, अंगरेजी संगरेजी। 'संगरेजा' कहते हैं पत्थर का महीन टुकड़ा या कंकड़। उसका भी लघु रूप 'संगरेजी' समझ लो। न मानो तो माधुर्य का गुण ढूंढ़ो, उसमें कहीं है ? टिट्टे क्यटय्यट का खर्च है।

फ़ारसी आरसी (आलसी), सैकड़ों पोथी छान डालो, उद्योग की शिक्षा बहुत कम, ज़ोफ़ नातवानी के मज़मून लाखों !

अरबी सरबी, (मानी नदारद), उरदू सुरदू, (मानी नदारद), पर 'पिर्णी' जोड़ लो तो मुरदूपिर्णी हो जाय।

लेकिन संस्कृत अंस्कृत—जिसमें ईश्वर की महिमा या ऋषियों की उदार बुद्धि का अंश हर तरह मौजूद।

नागरी आगरी—आगर सद्व्यक्तियों का गुण अथवा सागरी। राम झूठ न बुलावै तो इस दीन दशा में भी सब गुण का छोटा सागर ही है। क्यों, कैसी कही ?

खं० ३, सं० ११ (जनवरी ह० सं० २)

बाल्यविवाह विषयक एक चोज

आर्यावर्तीय जनों को सर्वथा अनिष्टकारक होने के कारण, वेद शास्त्र, पुराण तो क्या, बाल्य विवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है। शीघ्रबोध के जिन श्लोकों को प्रमाण मान के हिन्दू भाई इस घोर कुरीति पर फ़िदा हैं, जिन के लिए नई रोशनी वाले बिचारे काशिनाथ पर फटकेबाजी करते हैं, उनका ठीक २ अर्थ ही कोई नहीं बिचारता, नहीं तो उन में तो महा २ निषेध, बरञ्च भयानक रीति से बाल्य विवाह का निषेध ही है। देखिए साहब! पुत्र का नाम आत्मा है, और लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'भाई तुमको देख लेते हैं तो मानो साक्षात तुम्हारे पिता ही को देख लेते हैं।' अर्थात वेद और लोक दोनों के अनुसार पिता और पुत्र की अभिन्नता है। अब शीघ्रबोध के बचनों पर ध्यान दीजिये—'अष्ट-वर्षा भवेद्गौरी नव वर्षा च रोहिणी' इत्यादि। आठ बर्ष की लड़की गौरी है, और गौरी साक्षात भगवान शिव जी की अर्धांगी, जगत की माता हैं! और नव बर्ष की लड़की रोहिणी है, जो साक्षात भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी के बड़े भाई श्री दाऊ जी (बलदेव) की माता हैं। इस नाते संसार की दादी हुईं। भला कौन ऐसा तैसा दुष्ट नराधम राक्षस होगा जो श्रीमती पार्वती तथा रोहिणी देवी से विवाह……! अरे राम राम! करना कैसा, करने का नाम ले उसकी जीभ में कीड़े पड़ें! कहां रोहिणी, पार्वती, कहां क्षुद्र मानव तथा उसके सन्तान! और हाय रे कुजा (कहां) बैवाहिक सम्बन्ध! अरे भाई, ऐसा तो बिचार करना महा चांडालत्व है! और लीजिए—'दशवर्षा भवेत्कन्या'। इस लेखे मनुष्यों की कन्या एवं उनके बालकों की भगिनी हुईं! कहते रोएं थर्राते हैं, कौन बेटी बहिन से ब्याह कर लेगा! हां, 'ततश्चोर्द्ध रजस्वला' तिसके (दश वर्ष के) ऊपर जब रजस्वला होय (हो होगी बारहें तेरहें वर्ष) तब ब्याह के योग्य होगी! हां, इतना विचार रक्खो, रजस्वला का छूना तक आर्य रीति के बिरुद्ध है। इस वाक्य के न मानने से यह होगा कि बीच ही में, अर्थात दश बर्ष के लगभग...होने से रजस्वला धर्म, जो सृष्टि क्रमानुसार (Natural laws से) बारह तेरह वर्ष में होता है, सो बीच ही में अर्थात ग्यारहें ही साढ़े ग्यारहें बर्ष कूद पड़ेगा। इससे बिचारी कन्या की रजस्वला संज्ञा हो जायगी। अर्थात थी वास्तव में

कन्या पर मां बाप ने जबरदस्ती रजस्वला बनाया। इस स्वभाव विरुद्ध कर्म वालों के हक में भी काशिनाथ जी ऊपर वाले श्लोक की पुष्टि करते हैं—'माता चैव पिता चैव ज्येष्ठ भ्राता तथैव च'। दयानन्द स्वामी 'तथानुजः' और जोड़ते हैं, सो भी ठीक है। ब्याह के तमाशे खूब छोटे लड़के ही देखते हैं। वरंच हमारी राय लीजिये तो पुरोहित भी, क्योंकि पढ़े न समझे, अपने भ्रम में बिचारे यजमान से पाप करावैं औ वर कन्या का जन्म नशावैं! 'ते सर्वे नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलां'। अब कहौ, श्री काशिनाथ भट्टाचार्य का दोष है कि गप्पूनाथ भ्रष्टाचार्य हिंदुस्तानियों का गदहपन है?

खं० ३, सं० ११ (जनवरी ह० सं० २)

पड़े पत्थर समझ पर आप की समझे तो क्या समझे !

अक्टूबर में जो हमने 'फतेहगढ़ पंच' को शिक्षा दी थी, हमने समझा था कि कुछ आंखें खुल जायंगी। नागरी देवी और उरदू बीबी का भेद कुछ तो समझी जायंगे। पर तबसे दो मास तक आप मुंह छिपाने पीछे आज पहली जनवरी को 'उपदेशोहि मूर्खाणां प्रकोपाय न शांतये' का उदाहरण बन के आये हैं तो कहते क्या हैं कि कोई उरदू को क्या समझेगा जैसा हम समझते हैं। क्यों नहीं साहब, तभी तो 'रसोई पज' का शब्द गढ़ा है। हजरत, रसोई हिन्दी का शब्द है। उसके साथ पकाने वाला कहते तो युक्त था—नहीं तो 'तुआमपज' कहना योग्य है। 'रसोईपज़' यह दोगली भाषा है। इससे तो आपकी उरदू में खलल मालूम होता है। खैर, हमने आपकी खातिर से मान लिया कि आप उरदू जानते हैं। फिर इससे क्या, उरदू स्वयं कोई भाषा नहीं, अन्य भाषाओं का (विशेषतः हमारी हिन्दी का) करकट है। बिचारे उसके जानने वाले हम नागरी रसिकों का सामना क्या खा के करेंगे? हां, जीभ हिलाना यह और बात है। यद्यपि बिजातीं मसखरों के मुख लगना अखिलार्यनरेन्द्रपूजित पादपीठ महात्मा 'ब्राह्मण' को शोभा नहीं देता, पर व्यर्थवादियों का दर्पदलन न करें तो भी तो अच्छा नहीं। अतः जब तक योग्य समझेंगे लेखनी चलाये जायंगे। पंच जी! हिन्दी का गौरव समझना और उसके भक्तों से शास्त्रार्थ करना आप ही की सी बुद्धिवालों का काम नहीं है। पहले उरदू ही भली भांति सीखिये, फिर किसी नागरी नागर की सेवा कीजिये। तब देखा जायगा। अभी तो जान पड़ता है कि आप इस देश ही में नए आये हैं। अथवा दिल्ली में रहे पर भाड़ झोंकते रहे हैं। नहीं तो जिस 'ब्राह्मण' को यहा मूर्ख से मूर्ख और विद्वान से विद्वान जगतगुरु, देवता और महाराज इत्यादि कहता और पूजता है उसे आपने केवल रसोईपज़ समझा है। फिर उसके गुण और उसकी बचनलालित्य क्या धूल समझेंगे? और बिना समझे किसी बात में कान पूंछ हिलाना निरा झख मारना है। ऐसी समझ पर तअरुज़ फरमाइयेगा तो अपने मन ही मन में चाहे जो फूल उठिये, पर बुद्धिमान लोग जान जायंगे कि कौन कितना है। बस मुर्तज़ा का शब्द नागरी में लिखा जा सकता है, परन्तु गणित, ब्राह्मण और मंत्रादि शब्द लिखने में उरद वाले ऐसे अक्षम हैं जैसे सन्तानोत्पत्ति में······और

आत्मविद्या में यवन। इस विषय को हम यथोचित रीत से सिद्ध कर चुके हैं पर 'पत्रन्नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य कि ?' मियां न समझें तो हम कहां तक अन्धे के आगे रोवैं अपने दीदे खोवैं। वहयायी हो तो इतनी हो कि उत्तरदाता की बात न समझने पर भी अपनी ही जीत मान ले। ऊपर से दूसरी बुद्धिमत्ता यह दिखाई है कि 'नागरी में सनअत तज़नी नहीं होती', अर्थात नतीजा में नैचा, चूना में जूता, आलूबुखारा में उल्लू बिचारा इत्यादि का धोखा नहीं होता!

हज़रत! यह उरदू का दोष है। आप ही उसे सनअत समझिये। किष्किंधा की बंदरियों ने श्री सीता जी के सौन्दर्य में इतना दोष निकाला था कि उनके दुम नहीं है! यही लेखा एडिटर करता है! हम लोग इसी लिये सरकार से प्रार्थी हैं कि यह फरेबी अक्षर कचहरी से उठ जायं तो प्रजा का अरिष्ट दूर हो। ऐसे बुद्धिशत्रुओं से शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है जो कल को कहेंगे, नागरी कविता में उरदू की भांति स्वाभाविक दुष्कर्मों का वर्णन नहीं होता। आगे से हमारे पाठक क्षमा करें, हम ऐसे प्रमादियों का उत्तर, यदि कोई विचारणीय विषय न होगा तो, बहुत कम देंगे। जो मूर्ख···उरदू की प्रशंसा और वेद से ले के आल्हा तक का आधार सर्वगुणागरी नागरी देवी की निन्दा को केवल निज का विषय समझता हो और निरर्थक हा हा ठी टी में देशसेवा गिनता हो, उसकी बकवाद पर ध्यान देना निष्फल है।

योग्य समझेंगे तो फिर कभी।

खं० ३, सं० ११ (जनवरी ह० सं० २)

इनकमटैक्स

यदि इस शब्द का यही अर्थ है कि "आमदनी पर महसूल" तो न जाने हमारी सरकार ने हम लोगों की किस आय की वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बांधा है! पुराने लोगों से सुनते हैं कि "उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान" पर इस काल में यह कहावत पूर्ण रूप से उलट गई है। खेती की दशा पर हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो चाहे दिहात में जाके देख ले, बिचारे कृषिकारों के बारहों मास दिनरात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारि भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है। क्या जाने किस भविष्यत् ज्ञानी कवि ने आजकल की दशा पहिले से सोच के मद्य और विषपान करने के बराबर ही हल-ग्रहण को भी त्याज्य समझा हो, और "हालाहल हलाहलम्" लिखा हो।

उससे उतर के व्यापार समझा जाता था, सो कुछ कहना ही नहीं। हर शहर के प्रत्येक रुज़गारी की दशा सरकार को हम यों नहीं समझा सकते, जब तक न्याय दृष्टि से स्वयं कुछ दिन किसी बाजार का वह गुप्त रूप न देखै! हम जितनी बड़ी २ दुकानें देखते हैं, सभी भांय २ होती हैं। जिन्होंने हज़ारों रुपया अटका दिया है, उनको ब्याज भी कठिन हो रहा है। दिवाले निकलना खेल सा हो गया है। अमीर कहाते हैं वे फ़ी सैकड़ा दो तीन से अधिक न होंगे, जिन्हें रोज़गार पेटे कुछ मिल रहता है, नहीं तो केवल पूर्व-सञ्चित द्रव्य ही से पुरानी साख बांधे बैठे हैं। ऐसा कोई कार ही नहीं जो सरकार ने निज हस्तगत न कर लिया हो। इस हालत में बिचार छुटभइये लाइसेन्स और चुंगी के डर से, पहिले तो कुछ करी नहीं सकते, यदि कुछ करें तो तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है!

हमारा कानपुर जो अब से दस वर्ष पहिले था, अब नहीं रहा। यह तो रोज़ सुन लीजिए कि आज फ़लाने बिगड़ गये, पर यह सुनने को हम मुद्दत से तरसते हैं कि इस साल फ़लाने इस काम में बन बैठे। जब आमदनी के इन उत्तम और मध्यम मार्गों की यह दशा है तो सेवा-वृत्तियों का कहना ही क्या? सैकड़ों पढ़े लिखे मारे २ फिरते हैं। बिना सिफारिश कोई सेंत

नहीं पूछता। कुछ मिडिल क्लास की पख, कुछ बेक़दरी के बायस से बिचारे बाबू लोग महंगी कैसे मज़दूर उतराते फिरते हैं। कहार ढूंढ़ो तो मुश्किल से मिलैं, नांच वांच के लिए वेश्या बड़े नखरे से आवे, पर हमारे 'इन्लाइटेंड' भाई से झूंठ-मूठ भी कहि देव कि फलानी जगह एक हेड की जरूरत है, बस, एक के बदले पचास, चुग़ा फलकारते, मुरैटा सम्हालते मौजूद हैं! अगले लोग जिस नौकरी को निकृष्ट वृत्ति और शूद्र का काम समझते थे उसकी लालसा बड़े २ बाजपेयी ऐसी रखते हैं जैसा मतवाले भाई मुक्ति की न रखते होंगे। वह नौकरी जिनको महादेव जी की दया से मिल भी गई है उनको बबुआई की ठसक मारे डालती है। सुनते हैं, आगे चार रुपया महीने का नौकर अपने कुटुम्ब के सिवा दो चार और आश्रितों का भरण-पोषण कर लेता था, पर हमको इसका निश्चय क्यों कर हो, जब देखते हैं कि सौ २ दो २ सौ के नौकर भी, राम झूट न बुलावै, सौ पीछे पचहत्तर तो अवश्य ऐसे होंगे जिनको हज़रत गालिब का यह वाक्य अनुभूत सिद्धान्त है—

बस कि लेता हूं हर महीने क़र्ज़
और रहती है सूद की तकरार।
मेरी तनख्वाह में तिहाई का
हो गया है शरीक साहूकार।

तौ भी धन्यवाद है कि खितिहरों और लालों से फिर भी बाबू जी बाबू तो कहाते हैं। हां, प्रोहत, पाधा, पंडा और गयावाल इत्यादि की दशा कुछ अच्छी कह सकते थे, क्योंकि उन्हें बेमेहनत घर बैठे लक्ष्मी आती है और हमारी उपर्युक्त लोकोक्ति यों भी ठीक होती है कि—

"उत्तम भिक्षा वृत्ति है, फिरि बबुआई जान,
अधम बनिज बैपार है, खेती खोंटि निदान"।

पर नहीं, जब यह विचार होता है कि कृषक, व्यापारी अथवा सेवकों की यही गति रही तो कहां से किसी को कुछ दे सकेंगे? बस, अब हमारा यह सिद्धान्त सत्य होने में किसी को कुछ सन्देह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचंड शासन द्वारा न फैला था, उतना, बरंच उससे अत्यधिक, इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है। अब बतलाओ, पाठकगण! इनकमटैक्स का कोषस्थ अर्थ ठीक है वा नहीं? नहीं, इसका अर्थ यों न लगैगा।

अंग्रेज़ी व्याकरण खोलो, उसमें लिखा है कि 'इन', 'अन' और 'डिस' किसी शब्द के प्रथम जोड़ दो तो उलटा अर्थ हो जाता है। Direct डाइरेक्ट—सीधा, Indirect इनडाइरेक्ट—जो सीधा न हो, Known नोन, ज्ञात, Unknown अननोन—अज्ञात, Mount माउन्ट—चढ़ना, Dismount डिसमाउन्ट—उतरना, इस रीति से in इन अर्थात् नहीं है, come कम—आना, आमद Tax (टैक्स) कर। भावार्थ यह हुआ कि जिस हालत में आमदनी न हो, उसमें जो टैक्स लगे वह "इनकमटैक्स" है! इस पर यदि हमारे अंग्रेजी जाननेवाले पाठक यह कहें कि उटपटांग अर्थ किया है, और केवल नागरी-नागर समझें कि अन्य भाषा का अर्थ असम्बद्ध है, हिन्दी पत्र में क्यों लिखा? उनको यों समझना चाहिए कि हमारी सरकार को ब्रह्मदेश की आमदनी अनायास हाथ लगी है, इसकी खुशी में हम पर यह टैक्स (बहुत खुश हुए तो ईंट फेंक मारी) न्यायेन लगाया गया है।

कुछ हो, हम समझें वा न समझें, पर सरकार की किसी बात में रोना चिल्लाना वा तर्क करना योग्य नहीं, केवल "डफ्रिनेच्छा बलीयसी" कहके संतोष करना चाहिए था, पर क्या करें, सम्पादक धर्म तो परम कठिन है। इसमें बिना कुछ कहे उमंग की हत्या होती है। इससे कोई सुने वा न सुने, पर हम हाथ जोड़ के, पायं पड़के, दांत दिखाके, पेट खला के यही विनय करते हैं कि अस्तु, हुआ सो हुआ, हमें क्या, जहां और सब प्रकार के राजदंड हैं वहां एक यह भी सही, बरंच और हों (परमेश्वर न करे) तो वह भी सही पर इसकी तशखीस (जांच) ज़रा न्यायशील पुरुषों को सौंपी जाय तौ भी बड़ी दया हो। हमने कई विश्वस्त लोगों से सुना है कि देहात में बिचारों की वार्षिक आय पांच सौ भी नहीं है, उनको केवल उजले कपड़ों के कारण पांच हजार का पुरुष तजवीज़ करते हैं। यदि यही दशा रही तो भारत के ग़ारत होने में कोई सन्देह न होगा। हमारी सर्कार स्वयं विचार देखें कि अब हम वह नहीं रहे।*

खं० ३, सं० १२ (१५ फरवरी ह० सं० २)

---

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

सोना

यह शब्द भी, हम जानते हैं, ऐसा कोई न होगा जिसे परम सुखदाय न हो। यदि दिन भर के श्रम से थके मांदों को यह न मिले तो दूसरे दिन काम के न रहें। दिन रात ऐश करने वालों को यदि एक दिन न मयस्सर हो तो वैद्यों की चांदी है। योगी, कामी, कवि, जुवारी, चोर—इनको लोग कहते हैं नहीं सुहाता, पर हमारी समझ में वे भी केवल अपना व्यसन मात्र निबाह लें, नहीं तो एक रीति से सोते वे भी हैं। कोई संसार से सोता है, कोई परमार्थ से ग़ाफ़िल रहता है। फिर क्योंकर कहिए कि सोने से कोई विरक्त है इसके बिना मनुष्य का जीवन ही नहीं रह सकता।

इधर दूसरे अर्थ में भी लाजिए, ऐसा प्यारा है कि स्त्रियां इसके लिए कानों को चलनी करा डालती हैं। यदि कोई ऐसा गहना हो जिसमें बरमे से हाथ पांव की हड्डियां छिदानी पड़ें तो भी, हम जानते हैं, सौ में दो ही चार इन्कार करेंगी। मर्द तो इसके लिए धर्म, प्रतिष्ठा, बरंच प्राण को भी नाश कर देते हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें इसकी इज्ज़त न हो। हमारे पुराणों में भगवान् की स्त्री का नाम लक्ष्मी है, इस नाते जगत की माता हुईं। अतः उनकी जो प्रतिष्ठा की जाय, थोड़ी है। हमारे सिद्धान्त में परमेश्वर को बिना प्रेम बेअदबी का कोई शब्द कहना महापाप है, पर एक फ़ारसी कवि ने द्रव्य (सोना) की प्रशंसा में बहुत ही ठीक कहा है कि 'हे सुवर्ण तू स्वयं ईश्वर तो नहीं, पर ईश्वर की शपथ तू प्रतिष्ठा का रक्षक, (पर्दा रखने वाला) पापों का क्षमा करने वाला (दुष्कर्मों से घृणा करने वाला) और मनोरथों का पूर्ण करने वाला है—

"ए ज़र तु खुदा नई बलेकिन बखुदा,
सत्तारो ग़ुफ़ूरो क़ाज़ी उल हाजाती।

हम भी कह सकते हैं कि मरने जीने, दुःख-सुख और नर्क-स्वर्ग की एक कुंजी भगवती लक्ष्मी (ज़रे अलेहुस्साम) के हाथ में भी है। लोग कहते हैं—"ज़न (स्त्री) ज़मीन और ज़र, सब झगड़े का घर" पर सच तो यह है कि ज़मीन तो ज़र ही का रूपान्तर है, और ज़न भी पेटभरों की अलवल हैं।

ठीक पूछो तो अनर्थ का मूल यही है। ब्रह्म-देश के विषय में हमारी सरकार ने इतनी बदनामी और मुड़धुन सह के इस बात को सिद्ध कर दिया कि रुपए के लिए बड़े बड़ों की नियत डिग जाती है। बाप-बेटे, स्त्री पुरुष, भाई २ में महा विरोध हो जाना इत्यादि अनर्थ लोग सहज कर डालते हैं। फिर "बाप बड़ा ना भइया, सबसे बड़ा रुपय्या" में क्या सन्देह है। सो अनर्थ कर डालो, एकाध मंदिर बनवा डालो, या भोजन करा दो, कोई कुछ न कहेगा, बरंच जो-चाहे सो करो, मुह पर सब चुटकी ही बजावेंगे। फिर "सारे औगुन छिपत हैं, लछमिनिया की ओट", कौन का डर है। इस दो अक्षर के शब्द से लोग ऐसा गिरे हैं कि जिससे कह दो, सो ना (सोओ मत), देखो कैसा सीक पांव होता है, कोई तुम्हारा आश्रित है जो डर के मारे तुम्हारी आज्ञा मानेगा, पर कभी २ कोई २ आज्ञा सुन के भीतरी भीतर पच जाता है, पर रात को कुछ काम देर तक करने के पीछे कह दीजिए— सो ना, (सो रहो न) देखो कैसा मगन हो जायगा।*

खं० ३, सं० १२ (१५ फरवरी ह० सं० २)

---

* 'निबंध-नवनीत' मे उद्धृत।

देशी कपड़ा

मानव जाति का, खाने के उपरांत, कपड़े के बिना भी निर्वाह होना कठिन है। विशेषतः सभ्य देश के भोजनाच्छादन, रोटी कपड़ा, नानो नकफ़ इत्यादि शब्दों से ही सिद्ध है कि इन दोनों बातों में यद्यपि खाने बिना जीवन-रक्षा ही असंभव है, पर कपड़े के बिना भी केवल प्रतिष्ठा ही नहीं, वरंच आरोग्य, एवं असंभव नहीं है कि प्राण पर भी बाधा आवै। पर खेद का विषय है कि हम अपने मुख्य निर्वाह की वस्तु के लिए भी परदेशियों का मुंह देखा करें। हमारे देश की कारीगरी लुप्त हुई जाती है, हमारा धन समुद्र पार खिंचा जाता है इत्यादि विषय बहुत सूक्ष्म हैं, उन पर जोर देने से लोग कहेंगे कि एडीटरी की सनक है, कविता की अत्युक्ति है, 'जिमि टिट्टिभ खग सुतै उताना' की नकल है; पर हमारे पाठक इतना देख लें कि जब हमको एक वस्तु उत्तम चिरस्थायिनी और अल्प मूल्य पर मिलती है तो बाहर से हम वह वस्तु क्यों लें?

गृहस्थ का यह धर्म नहीं है कि जब एक रुपया से काम निकलता है तब व्यर्थ डेढ़ उठावै। बिलायती साधारण कपड़ा नैनसुख मलमल इत्यादि तीन आने से पांच आने गज़ मिलता है, उसके दो अंगरखे साल भर बड़ी मुश्किल से चलते हैं, पर उसके मुकाबिले देशी कपड़ा (मुरादाबादी चारखाना, कासगंजी गाढ़ा इत्यादि) तीन आने गज का। कपड़ा यद्यपि, अरज़ कम होने के कारण, कुछ अधिक लगता है, पर उसके दो अंगरखे तीन वर्ष हिलाये नहीं हिलते। बाबू लोग यह न समझें कि अंग्रेज़ी फ़ैशन का कपड़ा नहीं मिलता, नहीं, बहुत से अच्छे अंगरेज़ भी अब यही पहिनते हैं। शौक़ीन लोग यह भी खयाल न करें कि देशी कपड़े में नफ़ासत नहीं होती, नहीं, ढाके की मलमल, भागलपुरी टसर और मुर्शिदाबाद की गर्द अब भी अंगरेज़ी कपड़े को अपने आगे तुच्छ समझती हैं। अब ऐसा कोई तरह का कपड़ा नहीं है जो न बनता हो, और कुछ ही दिन लोग उत्साह दिखलावें तो न बन सके। प्रयागराज में केवल इसी की एक कोठी मौजूद है। हमारे कानपुर के सौभाग्य से श्रीयुक्त लाला छोटेलाल गयाप्रसाद महोदय ने भी देशी तिजारत कम्पनी खोली है। यदि अब भी इस नगर और ज़िले के

लोग देशी कपड़े को स्वयं पहिनने और दूसरों को सलाह देने में कसर करें तो देश का अभाग्य समझना चाहिये।

हम और हमारे सहयोगीगण लिखते २ हार गए कि देशोन्नति करो, पर यहां वालों का सिद्धांत है कि 'अपना भला हो देश चाहे चूल्हे में जाय', यद्यपि जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बच न रहेंगे। पर समझना तो मुश्किल काम है ना। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहिनोहीगे, एक बेर हमारे कहने से एक २ जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज़्यादा भकुआ कौन? नहीं २ हम सबसे अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं!*

खं० ३, सं० ११ (१५ फरवरी ह० सं० २)

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

दुनिया अपने मतलब की है

यद्यपि संसार में सदा बहुत ही थोड़े ऐसे भी पुरुषरत्न होते हैं, जो निज की लाभ हानि का विचार न करके, ईश्वर तथा स्वदेश ही के लिए सर्वस्व निछावर कर देते हैं। पर निश्चय ऐसे अलौकिक लोग संसारी नहीं हैं, नहीं तो यह जगत केवल स्वार्थपर है, और कुछ नहीं। जिनको आप समझते हैं कि धर्मात्मा हैं, उनके हृदय को टटोलिए तो अधिकतः यही पाइएगा कि मुक्ति का लालच, वा नर्क का डर, वा संसारिक कीर्ति की चाह इत्यादि के मारे, अपनी समझ भर, तत्प्राप्ति का यत्न मात्र कर रहे हैं, धर्म वर्म कुछ भी नहीं है। एक प्रकार का भय तथा लोभ वह भी है। यदि यह निश्चय न हो कि संसार परमार्थ उसी की दया से बनते हैं तो कदाचित कोई परमेश्वर का नाम भी न ले। फिर संसार की स्वार्थपरता में क्या सदेह है? माता पिता की प्रीति बड़ी प्रसिद्ध है। पर आप को क्या नहीं मालूम कि वे समझते हैं, हमें बुढ़ापे में खाना पीना इसी से मिलेगा। हमारी सेवा यही करेगा। हमारा नाम यही चलावैगा। जमराज को रिशवत इशवत देके नर्क जातना से यही बचावैगा। अब कहिये, यह प्रीति है वा स्वार्थपरता? हम आप से क्यों प्रीति करते हैं? आप की विद्या बुद्धि, बचन लालित्य वा सौंदर्य से हमारा चित्त प्रसन्न होता है अथवा आप के धन बल इत्यादि से हमें सहायता मिलती है। हमें आप क्यों चाहते हैं? क्योंकि हम आप की हां में हां मिलाया करते हैं। जरा आप की भौंह चढ़ती है तो चीते की तरह मनाया करते हैं। जरा २ सी बात पर आप को चन्द्रमा सूर्य इंद्र बरुण करण व हातिम बनाया करते हैं। धिक! यह भी प्रेम है? बहुतेरे परस्पर कोई उपकार नहीं चाहते तो ठेलुहापन में दिन ही काटने को मित्र बन जाते हैं। प्रजा को दूरदर्शी राजा इसलिए राजी रखते हैं, इनको हंसाय खेलाय के दुहते रहेंगे। प्रजा राजा को इस हेतु प्रसन्न रखती है कि हमें पालन करेगा। जहां तक आंख फैला के देखिए, छोटे बड़े, दरिद्र, धनी, मूर्ख, बिद्वान, सब का यही सिद्धांत है कि जैसे बने 'स्वकार्यं साधयेद्विद्वान् कार्यभ्रंशो हि मूर्खता।' उदाहरण देने लगें तो लाख करोड़ की नौबत पहुंचे। इससे हम अपने पाठकों को केवल समझाये रखते हैं कि जितने प्रकार के लोगों को, जितने काम करते देखें, कभी यह धोखा न खायें कि इसमें कर्ता को

निज स्वार्थ से संबंध नहीं है। यदि आप निरे सच्चे, निरे सीधे, निरे न्यायी, निरे सज्जन हैं तो रिषियों की भांति बनवास स्वीकार कीजिए। यदि आप हमारी तरह अधकचरे हैं कि प्रेम सिद्धांत भी नहीं छोड़ा चाहते, काइयापन भी नहीं सीखा चाहते और निर्वाह भी चाहते हैं, तो जन्म को रोइए। आशा छोड़िये कि कभी आप के शेखचिल्ली जैसे मनोर्थ पूरे होंगे। पर हां, यदि आप गुरुघंटाल, बिरगिट के छंटे, सब गुनभरी बैतरा सोंठ हों, धर्म कर्म स्वर्ग मुक्ति देवता पितर इत्यादि को धोखे का टट्टी बना के, पराया धन, पराया बल, पराया यश मट्टी में मिला के येन केन प्रकारेण अपनी टहा जमा सकते हो। उस्तादी यह है कि भेद न खुलने पावै। तभी आप सुखपूर्वक जीवन यात्रा कर सकते हैं। क्योंकि दुनिया अपने मतलब की है। आप अपना मतलब गांठने में जितने पक्के होंगे उतना ही दुनिया के मजे आप को मिल सकते हैं।

खं० ४ सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ३)

सोने का डंडा और पौंडा

देखने में सुवर्ण दंड ही सुन्दर है। ताय देखो, सुलाख देखो तो स्वर्ण दंड ही अपनी खराई दिखलावैगा। बनाने और बनवाने, लेने तथा ताकने में उसके बड़ी कारीगरी, बड़ा खर्च, बड़ी शोभा और बड़ी चिंता का काम है। पर हम पूछते हैं, जो पुरुष भूखा है, जो भूख के मारे चाहता है कुछ ही मिलजाय तो आत्म शांति हो, उसके लिए वह दंडा किस काम है? कदाचित एक बालक भी कह देगा कि कौड़ी काम का नहीं। यदि उसको बेंचने जायं तो खरीदार मिलना मुशकिल है। साधारण लोग कहैंगे, कहां का दरिद्र एकदम से आ गया जो घर की चीजें बेंचे डालते हैं। कोई कहेगा, कहां से उड़ा लाए? इत्यादि। सच तो यह है, जो कोई ऐसा ही शौकीन, आंख का अन्धा गांठ का पूरा, मिलेगा तो ले लेगा। परन्तु क्या भूखी आत्मा को इतने की कल है कि स्वर्णदंड से परंपरा द्वारा भी अपना जी समझा सके? कदापि नहीं। इधर पौंडे को देखिए। देखने में सुंदरता व असुंदरता का नाम नहीं। परीक्षा का काम नहीं। लड़का भी जानता है कि मिठाइयों भर का बाप है। बनाने और बनवाने वाला ससार से परे है। ले के चलने में कोई शोभा है न अशोभा। ताकने में कोई बड़ा खटखट तो नहीं है। पहरा चौकी, जागना जूगना कुछ भी न चाहिए। पर कोई ताकने की आवश्यकता ही क्या है? जहां तक विचारिए यही पाइएगा कि जितनी स्वर्णदंड के सम्बंध में आपत्तियां हैं उससे कहीं चढ़ी बढ़ी इक्षु दंड के साथ निरद्वन्दता है, विशेषतः क्षुधाक्लांत के लिए। वह ततक्षण शांतिदाता ही नहीं, बरंच पुष्टिकारक, सुस्वादुप्रद भी है। पाठक महोदय, जैसे इस दृश्यमान संसार में स्वर्णदंड और इक्षुदंड की दशा देखते हो ऐसे ही हमारी आत्मसृष्टि में ज्ञान और प्रेम हैं। दुनिया में जाहिरी चमक दमक ज्ञान की बड़ी है। शास्त्रार्थों की कसौटी पर उसके खूब जौहर खिलते हैं। संसारगामिनी बुद्धि ने उसके बनाने में बड़ी कारीगरी दिखलाई है। पांडित्याभिमान और महात्मापन की शान उससे बड़ी शोभा पाती है। इससे हद है कि एक अपावन शरीरधारी, सर्वथा असमर्थ, अन्न का कीड़ा, रोग शोकादि का लतमर्द, मनुष्य उस के कारण अपने को साक्षात ब्रह्म समझने लगता है इससे अधिक ऊपरी महत्व और क्या चाहिए? पर जिन धन्यजनों की आत्म

धर्म स्वादु की क्षुधा से लालायित हो रही है, जिन के हृदय, नेत्र, हरिदरशन के प्यासे हैं, उनकी क्या इतने से तृप्ति हो जायगी कि शास्त्रों में ईश्वर ऐसा लिखा है ? जीवन का यह कर्तव्य है, इस कर्म का यह फल है, इत्यादि से आत्मा शांत हो जायगी ? हम तो जानते हैं शांति के बदले यह विचार और उलटी घबराहट पैदा करेगा कि हाय, हमें यह कर्तव्य था पर इन २ कारणों से न कर सके। अब हम कैसे क्या करेंगे। यदि यह भयानक लहरें जी में उठीं, तो जन्म भर कर्मकांड और उपासना कांड के झगड़ों से छुट्टी नहीं और जो न उठीं, तो मानो आत्मा निरी निरजीव है। भूख का बिलकुल न लगना शरीर के लिए अनिष्ट है। तो अपने कल्याण की प्रगाढ़ेच्छा न होना, आत्मा के लिये, क्योंकर श्रेयस्कर कहें। एक महात्मा का वचन है कि 'वे लोग धन्य हैं जो धर्म के लिए भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किए जायंगे'। सो तृप्त होना शुष्क ज्ञानरूपी स्वर्णदंड से कदापि संभव नहीं, क्योंकि सोना स्वयं खाद्य वस्तु नहीं है। ऐसे ही ज्ञान भी केवल सुखद मार्ग का प्रदर्शक मात्र है, कुछ सुखस्वरूप नहीं है। वरंच बहुधा दुःखदायक हो जाता है। पर हां, ईश्वर के अमित अनुग्रह से, स्व॰ रसमय, निश्चित, अलौकिक और अकृत्रिम प्रेम भी, हमारे हृदय क्षेत्र में रक्खा गया है, जिसके किंचित संबंध से हम तृप्त हो जाते हैं। आंतरिक दाह का नाश हो जाता है। ईश्वर तो ईश्वर ही है, किसी सांसारिक वस्तु का क्षणस्थाई और कृत्रिम प्रेम कैसा आनंदमय है कि उसके लिए कोटि दुःख भी सुख सह्य हो जाते हैं, और प्रेम पात्र की प्राप्ति तो दूर रही उसके ध्यान मात्र से हम अपने को भूल के आनन्दमय हो जाते हैं। जैसे यावत मिष्ठान्न का जनक इक्षुदंड है वैसे ही जितने आनंद हैं सबका उत्पादक प्रेम है। तत्क्षण शांति और पुष्टिदाता यह रसमय प्रेम ही है, जिसकी केवल एकदेशी तुच्छातितुच्छ सादृश्य गन्ने से दे सकते हैं, यद्यपि वास्तविक और यथोचित सादृश्य के योग्य तो अमृत भी नहीं है। प्रिय पाठक ! तुम्हारी आत्मा धर्म की भूखी है कि नहीं ? यदि नहीं है तो सत्संग और सद्ग्रंथावली अवलोकन द्वारा इस दुष्ट रोग को नाश करो। हाय २, आत्मश्रेय के लिए व्याकुल न हुआ तो चित्त काहे को पत्थर है ! नहीं, हमारे रसिक अवश्य हरि रस के प्यासे हैं। उनसे हम पूछते हैं, क्यों भाई, तुम अपने लिए रुक्ष स्वर्ण दंड को उत्तम समझते हो अथवा रसीले पौंडे को ?

खं॰ ४ सं॰ २ (१५ अगस्त और सितंबर ह॰ सं॰ ३)

मिडिल क्लास

जो लोग समुच्चय विद्या के रसिक हैं उन्हें तो M. A. पास करके भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या का अमृत ऐसा ही स्वादिष्ट है कि मरने पीछे भी मिलता रहे तो अहोभाग्य ! पर जो लोग कुछ क, स, घ, सीख के, पेट के धंधे से लग जाना ही इतिकर्तव्यता समझते हैं, उनके लिए यह मिडिल की भी ऐसी छूत लगा दी गई है कि झींखा करें बरसों ! नहीं तो इन बिचारे दस २ रुपया की पिसौनी करने वालों को कब जहाज पर चढ़ के जगजात्रा करने का समय मिलता है जो जुगराफिया रटाई जाती है ? कौन दिल्ली और लखनौ के बादशाह बैठे हैं जो अपने पूर्वजों का चरित्र सुन के खिलअत बख़्श देंगे जो तारीख में समय की हत्या की जाती है ? साधारण नौकर को लिखना पढ़ना, बोलना चालना, हिसाब किताब, बहुत है। मिडिल वाले कोई प्रोफेसर तो होते ही नहीं। इन बेचारे पेटार्थियों को विद्या के बड़े २ विषयों में श्रम कराना मानों चींटी पर हाथी का हौदा रखना है। बिचारे अपने धंधे से भी गए, बड़े विद्वान भी न भए। मिडिल शब्द का अर्थ ही है अधबिच, अर्थात् आधे सरग त्रिशंकु की भांति लटके रहो, न इत के न उत के ! इससे तो सर्कार की मंशा यही पाई जाती है कि हिंदुस्तानी लोग नौकरी की आशा छोड़ें, पर इन ग़ुलामी के आदियों को समझावे कौन ? यदि प्रत्येक जाति के लोग अपने संतान को सबके पहिले निज व्यापार सिखलाया करें तो वे नौकरीपेशों से फिर भी अच्छे रहें। इधर नौकरों की कमी रहने से सरकार भी यह हठ छोड़ बैठे। जिनको स्यानेपन में पढ़ने की रुचि होगी वे क्या और धंधा करते हुए विद्या नहीं सीख सकते ? पर कौन सुनता है कि "व्यापारे वसति लक्ष्मी"। यहां तो बाबूगीरी के लती भाई कुछ हो, अपनी चाल न छोड़ेंगे। भगवति विद्ये ! तुम क्या केवल सेवा ही कराने को हौ ? हम तो सुनते हैं, तुम्हारे अधिकारी पूजनीय होते थे ! अस्तु, है सो अच्छा ही है। अभागे देश का एक यही लक्षण क्यों रह जाय कि सेवा वृत्ति में भी बाधा ! न जाने हर साल खेर की खेप तयार होती है, इन्हें इतनी नौकरी कहां से आवेगी ? सरकार हमारी सलाह माने तो एक और कोई मिडिल पास की पख निकाल दे, जिसके बिना बहरागीरी, खानसामागीरी, ग्रासकटगीरी

आदि भी न मिलें। देखें तो कब तक नौकरी के पीछे सत्ती होते हैं! अरे बाबा यदि कमाने ही पर कमर बांधी है तो घर का काम काटता है? क्या हाथ के कारीगर और चार पैसे के मजूर, दस पंद्रह का महीना भी नहीं पैदा करते? क्या ऐसों को बाबुओं के से कपड़े पहिनना मना है? बरंच देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो। सरटीफिकट लिए बंगले २ मारे २ फिरने में क्या धरा है जो सरकार को हर साल इम-तिहान अधिक कठिन करने की चिंता में फंसाते हो। बाबूगीरी कोई स्वर्ण-गीरी (सोने का पहाड़) नहीं है। पास होने पर भी सिफारिश चाहिए तब नौकरी मिलेगी। और यह कोई नियम नहीं है कि मिडिल वाले नौकरी से बरखास्त न होते हों, वा उन्हें बिना फिक्र नौकरी मिल ही रहती हो। क्यों उतना ही श्रम और काम में नहीं करते?

खं० ४, सं० २ (१५ सितंबर, ह० सं० ३)

द

हमारी और फारस वालों की वर्णमाला भर में इससे अधिक अप्रिय, कर्णकटु और अस्निग्ध अक्षर, हम तो जानते हैं, और न होगा। हमारे नाति विदाम्बर अंग्रेज बहादुरों ने अपनी वर्णमाला में बहुत अच्छा किया जो नहीं रक्खा! नहीं उस देश के लोग भी देना सीख जाते तो हमारी तरह निष्कंचन हो बैठते। वहा के चतुर लोगों ने बड़ी दूरदर्शिता करके इस अक्षर के ठौर पर 'डकार' अर्थात 'डी' रक्खी है, जिसका अर्थ ही डकार जाना, अर्थात यावत् संसार की लक्ष्मी, जैसे बनै वैसे, हजम कर लेना! जिस भारत लक्ष्मी को मुसलमान सात सै वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले सके उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हंसते खेलते विलायत जा पहुंची! इधर हमारे यहां दकार का प्रचार देखिए तो नाम के लिए देओ, यश के लिए देओ, देवताओं के निमित्त देओ, पितरों के निमित्त देओ, राजा के हेतु देओ, कन्या के हेतु देओ, मजे के वास्ते देओ, अदालत के खातिर देओ, कहां तक कहिए, हमारे बनवासी ऋषियों ने दया और दान को धर्म का अंग ही लिख मारा है। सब बातों में देव, और उसके बदले में लेव क्या? झूठी नामवरी, कोरी वाह वाह, मरणांतर स्वर्ग, पुरोहित जी का आशीर्वाद, रुजगार करने की आज्ञा वा खिताब, क्षणिक सुख इत्यादि। भला देश क्यों न दरिद्री हो जाय? जहां देना तो सात समुद्र पार वालों तथा सात स्वर्ग वालों तक को तन, मन, धन, और लेना मनमोदक मात्र! बलिहारी इस दकार के अक्षर की! जितने शब्द इसमें पाइएगा, सभी या तो प्रत्यक्ष ही विषवत, या परम्परा द्वारा कुछ न कुछ नाश कर देने वाले! दुष्ट, दुःख, दुर्दशा, दास्य, दौर्बल्य, दण्ड, दम्भ, दर्प, द्वेष, दानव, दर्द, दाग, दगा, देव, (फारसी में राक्षस) दोजख, दम का आरजा, दरिंदा (हिंसक जीव) दुश्मन, दार (शूली), दिक्कत इत्यादि सैकड़ों शब्द आप को ऐसे मिलेंगे जिनका स्मरण करते ही रोंगटे खड़े होते हैं! क्यों नहीं, हिंदी फारसी दोनों में इस अक्षर का आकार हंसिया का सा होता है, और बालक भी जानता है कि उससे सिवा काटने चीरने के और काम नहीं निकलता। सर्वदा बंधन रहित होने पर भी भगवान का नाम दामोदर क्यों पड़ा, कि आप भी रस्सी से बंधे और समस्त

बृजभक्तों को दइया २ करनी पड़ी ? स्वर्ग बिहारी देवताओं को सब सामर्थ्य होने पर भी पुराणों के अनुसार सदा दनुज कुल से क्यों भागना पड़ा ? आज भी नए मत वालों के मारे अस्तित्व तक में संदेह है ! ईसाइयों की नित्य गाली खाते हैं। इसका क्या कारण है ? पंचपांडव समान वीर शिरोमणि तथा भगवान कृष्णचन्द्र सरीखे रक्षक होते हुए द्रुपदतनया को केशाकर्षण एवं बनवास आदि का दुःख सहना पड़ा। इसका क्या हेतु ? देशहितैषिता ऐसे उत्तम गुण का भारतवासी मात्र नाम तक नहीं लेते ? यदि थोड़े से लोग उसके चाहने वाले हैं भी तो निर्बल, निर्धन, बदनाम ! यह क्यों ? दम्पति अर्थात स्त्री-पुरुष, वेद, शास्त्र, पुराण, बायबिल, कुरान सब में लिखा है कि एक हैं, परस्पर सुखकारक हैं। पर हम रिपिवंशीय कान्यकुब्जों में एक दूसरे के बैरी होते हैं ! ऐसा क्यों है ? दूध, दही, कैसे उत्तम, स्वादिष्ट, बलकारक पदार्थ हैं कि अमृत कहने योग्य, पर वर्तमान राजा उसकी जड़ ही काटे डालते हैं, हम प्रजागण कुछ उपाय ही नहीं करते, इसका क्या हेतु है ? इन सब बातों का यही कारण है कि इन सब नामों के आदि में यह दुरूह 'दकार' है ! हमारे श्रेष्ठ सहयोगी 'हिंदी-प्रदीप' सिद्ध कर चुके हैं कि 'लकार' बड़ा ललित और रसीला होता है। हमारी समझ में उसी का साथ पाने से दीनदयाल, दिलासा, दिलदार, दालभात इत्यादि दस पाच शब्द कुछ पसंदीदा हो गए हैं, नहीं तो देवताओं में दुर्गा जी, रिपियों में दुर्वासा, राजाओं में दुर्योधन महान होने पर भी कैसे भयानक हैं। यह दद्दा ही का प्रभाव है। कनवजियों के हक में दमाद और दहेज, खरीदारों के हक में दुकानदार और दलाल, चिड़ियों के हक में दाम (जाल) दाना आदिक कैसे दुखदायी हैं ! दमड़ी कैसी तुच्छ संज्ञा है ! दाद कैसा बुरा रोग है, दरिद्र कैसी कुदशा है, दारू कैसा कड़वाहट, बदबू, बदनामी, और बदफैली की जननी है, दोगला कैसी खराब गाली है, दंगा बखेड़ा कैसी बुरी आदत है, दंश (मच्छड़ या डास) कैसे हैरान करने वाले जंतु हैं, दमामा कैसा कान फोड़ने वाला बाजा है, देशी लोग कैसे घृणित हो रहे हैं, दलीप सिंह कैसे दीवानापन में फंस रहे हैं। कहां तक गिनावें, दुनिया भरे की दन्तकटाकट 'दकार' में भरी है। इससे हम अपने प्रिय पाठकों का दिमाग चाटना नहीं पसंद करते, और इस दुस्सह अक्षर की दास्तान को दूर करते हैं।

खं० ४, सं० २ (१५ सितंबर, ह० सं० ३)

उरदू बीबी की पूंजी

यदि आप किसी साधारण वेश्या के घर पर कभी गए होंगे या किसी जाने वाले से बातचीत की होगी तो आपको भली भांति ज्ञात होगा कि यद्यपि कभी २ विद्वान, धनवान, और प्रतिष्ठावान लोग भी उसके यहां जा रहते हैं, और जो जाता है वह कुछ दे ही के आता है। एवं उन्हें बाहर से देखिए तो तेल, फुलेल, हार, पान, हुक्का, पीकदान, सच्चा वा झूठा गहना एवं देखने में सुंदर कपड़े से सुसज्जित हैं। कमरा भी दो एक चित्र तथा गद्दी-तकिया आदि से सजा हुआ है। उनको बोली बानी हाव भाव भी एक प्रकार की चित्तोल्लासिनी सभ्यता से भरी है। दस-पांच गीत गजल भी जानती हैं। पर उनकी असली पूंजी देखिये दो चार रंगीन गोटे पट्टे के कपड़े तथा दो ही चार सच्चे झूठे गहने अथच एक वा दो पलंग और पीतल, टीन, मट्टी आदि की गुड़गुड़ी उड़गुड़ी समेत दस पांच बरतन के सिवा और कुछ नहीं है। रुपया शायद सब असबाब मिलाके सौ के घर-घाट निकलें, चाहे न भी निकलें। गुण उनमें केवल हाथ मटका के कुछ गाना मात्र, विद्या अशुद्ध फशुद्ध दस ही बारह हिन्दी उरदू के गीत मात्र एवं मिष्टभाषण केवल इतना जिस्से आप कुछ दे आवें। बस, इसके सिवा अल्लामिया का नाम ही है। उनके प्रेमी, या यों कहिए, अपनी बुरी आदत के गुलाम उनको चाहे जैसा लक्ष्मी, सरस्वती, रम्भा, तिलोत्तमा, लैली, शीरीं समझते हों, पर वास्तव में उनके पास पूरी जमा जथा उतनी ही मात्र होगी जितनी हम कह चुके। बरंच उससे भी न्यून ही होगी। कभी २ वे कह देती हैं कि हम फकीर हैं या हम आपके भिच्छुक हैं। यह बात उनकी शिष्टता से नहीं बरंच सच ही है, क्योंकि सबसे लेती हैं तौ भी कुछ जुड़ नहीं सकता। यदि पंद्रह बीस दिन कोई न जाय तो उन्हें वह नगर छोड़ देना पड़े जहां वे कई वर्ष रही हैं। प्रिय पाठक! ठीक वही हाल उर्दू जान का भी है। यद्यपि कुछ २ संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी की भी सहाय है, और उसके चाहने वाले उसे सारे जगत की भाषाओं से उत्तम माने बैठे हैं, पर उस्की वास्तविक पूंजी यदि विचार के देखिए तो आशिक अर्थात किसी को चाहने वाला, माशूक अर्थात कोई रूपवान् व्यक्ति जिसे आशिक चाहता हो, बाग अर्थात बाटिका, गुल अर्थात फूल, बुलबुल अर्थात एक अच्छी बोली बोलने वाला और फूलों में

प्रसन्न रहने वाला पक्षी, बागबान अर्थात माली, सैयाद अर्थात चिड़ीमार, चादनी रात औ मेघाच्छन्न दिन, खिलवत अर्थात एकान्त स्थान, जिलवत या मजलिस कई एक सुंदर व्यक्तियों का समाज, शराब अर्थात मदिरा, कबाब अर्थात मांस, साकी अर्थात मद्य पिलाने वाला, मुतरिब अर्थात गवैया, रकीब दुश्मन, ग़ैर अर्थात जिसे तुम चाहते हो उस्का दूसरा चाहने वाला, नासिह अर्थात मद्य और वेश्यादि के संसर्ग से रोकने वाला, वायज़ अर्थात उपदेशक, परनिंदा, खुशामद, उलहना, आसमान अर्थात भाग्यवश, इतनी ही बातें हैं जिन्हें उलट फेर के वर्णन किया करो बस अच्छे उरदूदां हो जायंगे ! माशूक के रूप, मुख, नेत्र, केशादि की प्रशंसा, अपना सर्वज्ञता का घमंड, उसे गुल और शमअ अर्थात मोमबत्ती एवं अपने को बुलबुल और पर्वाना अर्थात पतंग से उपमा दे दिया करो, रकीब इत्यादि पर जल २ के गाली दिया करो, बस उरदू का सर्वस्व आपको मिल जायगा। चाहे गद्य हो चाहे पद्य हो, चाहे कविता हो चाहे नाटक हो, चाहे अखबार हो, चाहे उपदेश हो, सब में यही बातें भरी हैं। यदि और कोई विद्या का विषय लिखना हो तो संस्कृत, बंगला, नागरी, अरबी, फारसी, अंगरेजी की शरण लीजिए। इन बीबी के यहां अधिक गुंजायश नहीं है। और लिखना तो दरकिनार मुख्य २ शब्द ही लिखके किसी मोलवी से पढ़ा लीजिए, अरे क्या मज़ा ही न आवेगा ! हमारे एक मित्र का यह वाक्य कितना सच्चा है कि और सब विद्या हैं यह अविद्या है। जन्म भर पढ़ा कीजिए, तेली के बैल की तरह एक ही जगह घूमते रहोगे। सत्य विद्या के बतलाइए तो कै ग्रन्थ हैं ? हाय न जाने देश का दुर्भाग्य कब मिटेगा कि राजा-प्रजा दोनों इस मुलम्मे को फेंक के सच्चे सोने को पहिचानेंगे। जानते सब हैं कि पूंजी इतना मात्र है, पर प्रजा का अभाग्य, राजा की रीझ बूझ ! और क्या कहा जाय।

खं० ४, सं २ (१५ सितंबर ह० सं० ३)

बालक

यह शब्द भी क्या ही प्यारा है कि नाम लेते ही हृदय प्रमुदित हो जाता है ! 'लकार' का ललित अक्षर, जो वर्णमाला भर का अमृत है, प्रायः सभी भाषाओं में इस अर्थ के बोधक शब्द में रक्खा गया है। संस्कृत में बालक वा बाल, भाषा में लड़का, अंगरेज़ी में चयेड और फ़ारसी में तिफ़्ल प्रमाण के लिए देख लीजिए। जब कि कूकर शूकरादि के लड़के (बच्चे) को देख के एक रूप की प्रसन्नता होती है तो मानवशिशु का तो कहना ही क्या है। ऐसा भी कोई है जो अपने वा अपने मित्र के वा अपने बन्धु के वा अपने पड़ोसी के वा अपने देश के बालक को देख के प्रसन्न न होता हो ? ऐसा भी कोई है जो सर्वथा रंजा पुंजा होने पर भी बालक न होने से चिन्ताकुल न होता हो ? ऐसा भी कोई है जो निस्संतान लोगों पर तरस न खाता हो ? हम तो जानते हैं, यदि लाखों में कोई एक होगा भी तो या तो महा अलौकिक अथवा महापापाण-हृदय होगा। अहा हा ! जिनके मुख से अशुद्ध, अलज, अनमेल, अस्पष्ट अक्षर भी प्यारे लगते हैं, जिनके वे सिर पैर के काम भी अच्छे जान पड़ते हैं उनकी अच्छाई का क्या कहना ! दुनिया भर में छल, कपट, ईर्षा, द्वेष, चोरी जारी इत्यादि जितनी बुरी बातें हैं उनसे इन्हें कुछ प्रयोजन ही नहीं। भय, लज्जा, चिन्ता आदि जो जगत रूपी जाल के फंदे हैं, उन्हें यह जानते भी नहीं। शरीर रक्षा के लिए जो कुछ उदरपूर्ति मात्र को मिल जाय तो बस जीवनमुक्त हैं। सच्चा तत्त्वज्ञान जो बड़े २ महात्मा का लक्षण है वुह यही जानते हैं ! सच्चे प्रेम, सच्ची प्रतिष्ठा, सच्ची श्रद्धा के पात्र माता-पिता हैं, यह बात वैदिक, जैन, मुसलमान, क्रिस्तान, स्वतंत्राचारी और नास्तिक सब मानते हैं पर ठीक २ इसका नमूना आप इन्हीं में पाइएगा। दरिद्रिणी माता के आगे बड़े लाट साहब भी तुच्छ हैं ! आप चाहें जिसको डरें, चाहे जिसका मुलाहिजा करें, उनकी बला से ! क्या यह तत्त्वज्ञान नहीं है ! सूरज क्यों घूमता है ? चन्द्रमा परसों खरबूजे की सी फांक था, आज टोपी सा काहे हो गया ? कल तो यह फूल मुंह मूंदे था, आज काहे खिल गया ? इत्यादि प्रश्न, जो बहुधा बालकगण अपने मां बाप से किया करते हैं, क्या बुद्धि इन प्रश्नों को पदार्थ विज्ञान का मूल न कहेगी ? बिचार कर देखिए, बड़े २ विद्वान, बड़े २ वीर, जिनका आज नाम लेते हृदय साष्टांग

दंडवत करता है वुह भी कभी बालक ही थे। लड़कपन बादशाही है ! हां बेशक, तृष्णाचेह परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः। इन्हें न धन चाहिए, न स्त्री चाहिए। फिर क्या, चाहो ऋषि समझो, चाहो राजा समझो, चाहो देवता समझो, क्योंकि हमारे भगवान बालमुकुंद, भैरव, स्वामिकार्तिक, सनकादिक इसी रूप में हैं। परमेश्वर का एक सर्वोत्कृष्ट गुण भी इनमें है, अर्थात् जो इनसे प्रीति करे उसके गुण दोष कुछ न देख के यह भी प्रीति करेंगे। ईसाइयों के यहां भी इस शब्द की महिमा है। क्योंकि मसीह को खुदा का बेटा मानते हैं। ईसा ने स्वयं कहा है कि स्वर्ग का राज ऐसों ही के लिए है। हमारी समझ में संसार का राज भी ऐसों ही के लिए है। क्या जब किसी से आप निष्कपट हो के कहेंगे कि 'हम तो आपके लड़के हैं' तो वुह अपनी सामर्थ्य भर आपके हितसाधन में तत्पर न होगा ? हम तो जानते हैं देवस्वभाव वाला पुरुष इस मंत्र से अवश्य ही बरम्बृहि हो जायगा ! फिर यदि हम कहें कि बालकों का नाम, रूप, गुण, स्वभाव सभी आनन्दमय हैं तो क्या झूठ है ! दुख का तो इनके पास एक दिन भी गुजर नहीं। कोई खिलौना इलौना टूट गया, अथवा खाने को न मिला तो घड़ी भर रो लिए, जहां दूसरी ठौर चित्त चल दिया, फिर मगन के मगन ! बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि दुःख पाप का फल है, उस पाप का वे नाम भी नहीं जानते। फिर इनसे और दुःख से क्या मतलब ! कभी २ यह किसी मनुष्य अथवा बिल्ली अथवा कुत्ता के पिल्ले को छुरी आदि भी मार दें, कभी कोई बहुमूल्य वस्तु भी नष्ट कर दें तौ भी यह निर्दोष ही हैं ! कभी किसी पर मलमूत्र कर दें तौ भी निरपराध ही हैं ! क्योंकि इन्होंने तो ऐसा काम क्रीड़ा मात्र के लिए किया है ! इन्हीं कारणों से सर्कार भी इन्हें दण्ड योग्य नहीं ठहराती। बहुधा दुष्ट पुरुष वा स्त्रियां गहने के लोभ अथवा अपने व्यभिचार की बदनामी के डर से इन दयापात्रों पर राक्षसत्व दिखलाते हैं। उनको हमारी न्यायशीला गवर्नम्येंट दंड भी ऐसा ही कठिन देती है जो दूसरे चोरों और जारों को नहीं मिलता। हमारी समझ में यदि ऐसे माता पिताओं को भी कुछ दंड दिया जाय जो अज्ञान बालकों को पहिराय ओढ़ाय के बिना तकवैया छोड़ देते हैं। इसी प्रकार ऐसे लोगों की भी सज़ा ठहरा दी जाय तो कामवती बाल विधवाओं के पुनर्विवाह में बाधक होते हैं तौ सोने में सुगंध हो जाय। व्यभिचार, चोरी और और ऐसा ही कुकर्म तो स्त्री पुरुष करें, प्राण जाय बिचारे दूध के फोहों का !! ऐसे पापियों को तो कुत्तों से नुचवाना भी अयुक्त नहीं है। फांसी आदि तो सर्कार की कोमलचित्तता है ! हमारे जगत्मान्य महर्षियों ने भी

बाल हत्यारों को आततायी कहा है और 'नाततायि वधे दोषः' यह आज्ञा दी है। ईश्वर ने भी हमको भविष्यत् का ज्ञान कदाचित् इसी लिए नहीं दिया कि यदि हम जान लेंगे कि यह लड़का बड़ा होने पर अयोग्य होगा तो उसका संभार एवं प्यार न करेंगे। हमारी इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि ऐसे निष्पाप, प्रेममय, दयापात्रों की भलाई पर ध्यान न देना देशहितैषिता के विरुद्ध है, वरंच मनुष्यता से भी दूर है। अतः सामर्थ्य भर सबको तन मन धन से इस नई पौध का उत्तम पथगामी, उद्योगशील, स्वत्वाभिमानी बनाने का और आर्य जाति के अनाथ बालकों को आर्य्यधर्मद्वेषि पादरियों की रोटी खा के जन्म भर के पछिताने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिए। हमारे कानपुर में तो जैसे हिन्दुओं की गौशाला में लाखों गौएँ पलती हैं वैसे ही मुसलमानों की अनाथशाला में करोड़ों मातृपितृ हीन बालकों की रोटी चलती है। यदि कोई अन्य नगरवासी पुरुषरत्न कुछ उद्योग करें तो भी हम यह समझ के कृतकृत्य होंगे कि घर वालों ने न सुना तो पड़ोसियों ही ने हमारी बात पर ध्यान दिया। अरे भाई शीघ्रता में कुछ अधिक न हो सके तो अकबरपुर की गोरक्षिणी सभा अथवा फ़रुखाबाद के अनाथालय ही को कुछ सहायता दो!

खं० ४, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ३)

भौं

निश्चय है कि इस शब्द का रूप देखते ही हमारे प्यारे पाठकगण निरर्थक शब्द समझेंगे, अथवा कुछ और ध्यान देंगे तो यह समझेंगे कि कार्तिक का मास है, चारों ओर कुत्ते तथा जुवारी भौं भौं भौंकते फिरते हैं, संपादकों की सनक में शीघ्रता के मारे कोई और विषय न सूझा तो यही 'भौं' अर्थात भूंकने के शब्द को लिख मारा ! पर बात ऐसी नहीं है। हम अपने वाचकवृंद को इस एक अक्षर में कुछ और दिखाया चाहते हैं। महाशय ! दर्पण हाथ में लेके देखिए, आंखों की पलकों के ऊपर श्याम बरण विशिष्ट कुछ लोम हैं ? बरुनी न समझिएगा, माथे के तले और पलकों के ऊपर वाले रोम समूह ! जिनको अपनी हिंदी में हम भौं, भौंह, भौंहें कहते हैं, संस्कृत के पंडित भ्रू बोलते हैं ! फारस वाले अबरू और अंग्रेज लोग 'आईब्रो' कहते हैं, उन्हीं का वर्णन हमें करना है। यह न कहिएगा कि थोड़े से रोएं हैं, उनका वर्णन ही क्या ! नहीं ! यह थोड़े से रोएं सुवर्ण के तारों से अधिक हैं। हम गृहस्थ हैं, परमेश्वर न करे, किसी बड़े बूढ़े की मृत्यु पर शिर के, दाढ़ी के और सर्वोपरि मूंछों तक के भी बाल बनवा डालेंगे, प्रयाग जी जायंगे तौ भी सर्वथा मुंडन होगा, किसी नाटक के अभिनय में स्त्री भेष धारण करेंगे तौ भी घुटा डालेंगे, संसार विरक्त होके सन्यास लेंगे तौ भी भद्र कराना पड़ेगा, पर चाहे जग परलौ हो जाय, चाहे लाख तीर्थ घूम आवें, चाहे दुनिया भर के काम बिगड़ जायं, चाहे जीवनमुक्त ही का पद क्यों न मिल जाय, पर यह हमसे कभी न होगा कि एक छूरा भौंहों पर फिरवा लें ! सौ हानि, सहस्र शोक, लक्ष अप्रतिष्ठा हो तौ भी हम अपना मुंह सबको दिखा सकते हैं, पर यदि किसी कारण से भौंहें सफाचट्ट हो गई तो परदेनशीनी ही स्वीकार करनी पड़ेगी ! यह क्यों ? यह यों कि शरीर भरे की शोभा मुखमंडल है और उसकी शोभा यह हैं ! उस परम कारीगर ने इन्हें भी किस चतुरता से बनाया है कि बस, कुछ न पूछो ! देखते ही बनता है ! कविवर भर्तृहरि जी ने 'भ्रूचातुर्यं, कुंचिताक्षा, कटाक्षा, स्निग्धा, वाचो लज्जिता चैव हासः, लीला मंदं प्रस्थितं च स्त्रीणामेतद्भूषणं

चायुधंच ।' लिखकर क्या ही सच्ची बात दिखलाई है कि बस, अनुभव ही से काम रखती है ! कहे कोई तो क्या कहे, निस्संदेह स्त्रियों के लिए भूषण हैं, क्योंकि उनकी परम शोभा है और रसिकों को वशीभूत करने के हेतु सुंदरियों का शस्त्र है ! यह बात सहृदयता से सोचो तो चित्त में अगणित भाव उत्पन्न होंगे, देखो तौ भो अनेक स्वादु मिलेंगे। पर जो कोई पूछे कि वह क्या है तो भ्रूचातुर्य्य अर्थात् भौंहों में भरी हुई चतुरता से अधिक कुछ नाम नहीं ले सकते। यदि कोई उस भ्रूचातुर्य का लक्षण पूछे तो बस चुप। हाय २ कवियों ने तो भौंह की सूरत मात्र देख के कह दिया है, पर रसिकों के जी से कोई पूछे ! प्रेमपात्र की भौंह का तनक हिल जाना मन के ऊपर सचमुच तलवार ही का काम कर जाता है। फिर भृकुटी-कृपाण क्यों न कहें। सीधी चितवन बान ही सी करेजे में चुभ जाती है ! पर इसी भ्रूचाप की सहाय से श्री जयदेव स्वामी का यह पवित्र वचन—"शशि मुखि ! तव भाति भंगुर भ्रू, युवजन मोह कराल काल सर्पी"—उनकी आंखों से देखना चाहिए, जिनके प्रेमाधार कोप के समय भौंह सकोड़ लेते हैं ! आहा हा ! कई दिन दर्शन न मिलने से जिसका मन उत्कंठित हो रहा हो उसे वुह हृदयाभिराम की प्रेमभरी चितवन के साथ भावभरी भृकुटी ईद के चांद से अनंत ही गुणा सुखादायिनी होती है। कहां तक कहिए, भृकुटी का वर्णन एक जीभ से तो होना ही असंभव है ! एक फारसी का कवि यह वाक्य कहके कितनी रसज्ञता का अधिकारी है कि रसिकगण को गूंगे का गुड़ हो रहा है—'भृकुटी रूपी छंद पंक्ति के सहस्रों सूक्ष्म अर्थ हैं, पर उन अर्थों को बिना बाल की खाल निकालने वालों अर्थात महातीव्र बुद्धि वालों के कोई समझ नहीं सकता*'। जब यह हाल है कि महा तीव्र बुद्धी केवल समझ सकते हैं तो कहने की सामर्थ्य तो है किसे ? संस्कृत, भाषा, फारसी, उर्दू में काव्य का ऐसा कोई ग्रंथ ही नहीं है जिसमें इन लोमराशि का वर्णन न हो। अतः हम यह अध्याय अधिक न बढ़ा के इतना और निवेदन करेंगे कि हमारे देशभाई विदेशियों की वैभवोन्माद रूपी वायु से संचालित भृकुटी लता ही को चारो फलदायिनी समझ के न निहारा करें, कुछ अपना हिताहित आप भी विचारें। यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत

---

*हज़ारां मानिए बारीक बाशद बैते अब्रूरा। वगैरऽज मूशिगाफां कस न फ़हमद मानिए ऊरा।

छोड़ दें, आपस में बात २ पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध हो के वीरता से भौंहें तान के देशहित में सन्नद्ध हो जायं, अपनी देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व पुरुषों के रुजगार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उसके सहज भृकुटी विलास में अनंत कोटि ब्रह्मांड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।

खं० ४, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ३)

दिवाली में उपासना

हे परमानंदमय! प्रेमस्वरूप! प्राणप्रिय! तुम्हारे प्रेम की झलक मात्र से हमारे हृदय मंदिर की चिर संचित पाप मलिनता एक साथ दूर होती है। हम चाहे कोटि यत्न करें तौ भी न हो सके, पर तुम्हारी सहज अनुग्रह से हमारा आत्मभवन स्वच्छ हो जाता है, प्रकाशपूर्ण हो जाता है और नवीन शोभा-युक्त हो जाता है। हे परम सुन्दर! तुम्हारे सान्निध्य से तदीय समाज को नित्य त्यौहार, सदा दिवाली ही रहती है। हमारी सांसारिक चिन्ता की तो खील २ हो जाती है। तुम्हारे आगे सारा जगत लड़कों का घिरौंदा सा दिखाई देता है। तुम्हारे भक्ति पथ में बाधा करने को संसार चाहे कोटि रूप धरे पर तुम्हारे ज्ञानी को खिलौना ही सा जान पड़ेगा। अहा! तुम्हारे गुणानुवाद में वुह मिठाई है जिसके स्वादु की अपेक्षा अमृत भी तुच्छ है। लक्ष्मीपते![1] तुम्हारे सच्चे पूजक क्या कभी सार्वभौमिक राजश्री पर भी ललचाय सकते हैं? नाथ! जिन्होंने तुम्हारी अलौकिक लीला देखी है, तुम्हारे अकथनीय खेल देखे हैं, वे केवल तुम्हारे साथ हार जाने को अपना सर्वस्व दांव पर लगा देंगे। उन्हें तो केवल तुम्हीं लुभा सकते हो। आहा! जगत में चोर, जुवारी, और इससे बुरा कहला कर भी तुम्हारे साथ तन मन धन सब हार बैठने में वुह आनंद है जिस के आगे त्रैलोक्य की जीत भी तुच्छ जंचती है! प्रभो! तुम्हारी सभी बातैं अतर्क्य हैं। यद्यपि तुम सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ हो पर हमारा विश्वास यही है कि तुम प्रेमियों के साथ प्रेमद्यूत में हार के, अपनी प्रभुता छोड़ के उनसे स्नेह करते हो। अतः हे विचित्र्य, हम तुम्हारे शरणापन्न होते हैं! शांतिः शांतिः शांतिः।

खं० ४ सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ३)

१—शुभ लक्षणमयी शक्ति का स्वामी।

दिन थोड़ा है, दूर जाना है,
यहां ठहरूं तो मेरा निबाह नहीं है

परमाश्चर्यमय परमेश्वर जिसे दुतकार देना चाहते हैं उस अभागे की पाषाण सदृश बुद्धि में वेद शास्त्र पुराणादि के महा २ वाक्य भी अपना आधिपत्य (असर) नहीं कर सकते। क्योंकि उसे तो अपने नर्कमय पाप जीवन में ही जन्म बिताना है। उसके चित्त में सदुपदेश क्यों कर चुभें। पर जिसे अपनाते हैं उसके लिए साधारण लोगों की साधारण बातें भी माधारण तथा अमृतमयी शिक्षा का काम दे जाती हैं। पाठक! यदि तुम अपनी आत्मा का सच्चा हित चाहते हो तो अपनी विद्या बुद्धि, ज्ञान वैराग्य, तीर्थ ब्रतादि का अभिमान छोड़ो। नम्र भाव से, अकृत्रिम भाव से, प्रेम भाव से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें अपनावै। एक सच्चा आख्यान जिसको हुए अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते, जिस महात्मा के पौत्र प्रपौत्र अभी भारत में विद्यमान हैं, उनकी कथा चित्त लगा कर सुनो तो निश्चय हो जायगा कि ईश्वर की इच्छा पर अपना जीवन छोड़ दो तो आश्चर्य नहीं कि वह तुम्हें सहज में अपनावै। एक तीस बत्तीस वर्ष की अवस्था का युवा पुरुष, जिसको सांसारिक भोग विलास छोड़, न कोई चिन्ता है न काम है, संध्या के कुछ ही पहिले के समय अपनी ऊंची अट्टालिका पर दो एक चंद्रबदनी, चंपकबरणी, नवयौवना बारललनाओं के साथ हाथ में हाथ दिए मदनमदमत्त टहल रहा है। उनके हाव भाव, उनकी मीठी २ बातें, उनकी सहज शोभा आदि में उसका चित्त मगन हो रहा है। नीचे गृह वाटिका है। वहां से नाना पुष्पों की सुगंध लखा कर पवन उसके आनंद को दुगुण कर रहा है। सूर्यदेव मानो कह रहे हैं कि हमारा उत्पात तुम्हारे मन को न भाता हो, तुम्हारी आनन्द क्रीड़ा में बाधा करता हो, तो लीजिए हम अपने अस्ताचल की राह लेते हैं। तुम सुखपूर्वक विहार करो।

भला कोई भी निश्चय करेगा कि जिसे यौवन, धन, प्रभुता सभी चढ़ी बढ़ी है वुह कभी स्वप्न में भी संसार के भ्रम जाल से छूट सकेगा? देव मन्दिर समान घर कोई सहज में छोड़ देगा? लाखों की सम्पत्ति, अपनी चलते, दूसरों की छीन लेने को जी चाहता है, अपनी निज की तौ किससे

छुटती है। सुंदरता ने बड़े २ रिषि, मुनि, देवता, पीर, पैगम्बरों का मन डिगाय दिया है। जिन्हें भोजनाच्छादन कठिनता से प्राप्त होता है उनकी भी लावन्यमयी मधुर छवि देख के राल टपकती है। मास दो मास की आय (आमदनी) घर की कोई वस्तु देके खट्टे मीठे को जी चलता है। फिर भला जिसे भगवान ने सब भाति माना है, जिसे कोई कुछ कह नहीं सकता, जिसे मिथ्या प्रशंसक लोग बात २ पर धरममूरत धर्मावतार बनाते हैं, वुह और सुंदरी संसर्ग छोड़ दे ! वाह, यह तो धन पाने की शोभा है। हमारे बाबू साहब तो कन्हैया हैं। छोड़ दें ? क्या कोई कलंक है जो छोड़ दें ? पर नहीं, संसार की अनित्यता समझ ली वुह अपने आप ही को छोड़ देगा, धन, जन, कुटुम्ब और रमणी की तो क्या बात है। पर संसार की अनित्यता समझाने कौन आया। ऐसे इंद्रियलोलुपों के पास क्या कोई रिषि, मुनि, महात्मा उपदेश करने गए। फिर वुह जगजाल से कैसे छूट भागा। वुह अपनी प्यारी का रुखसार (किताब चेहरे की) देखने में लगा हुवा है, कुछ भर्तृहरि जी का वैराग्यशतक नहीं पढ़ रहा, जो घर छोड़ भागने को जी चाहे। पर नहीं, बैद्य वही है जो महारोगी को अच्छा करे। यदि शुद्ध मायाच्छन्न हृदय को न अपनावैं तो पतितपावन अधमोद्धारण कैसे। इसी इंद्रियारामत्व के कीच के बीच से निकाल के अपने प्रेमानंद में ले जायं तब न आश्चर्यमय कहलावें ! हमारे लिए भ्रमजाल है, उनकी दृष्टि में तो मकड़ी का जाला मात्र है। जो मूल ही नाश कर सकता है उसे पत्र पुष्प नाश करना कौन बड़ी बात है। संसार का दृश्य जिसके सहज भ्रकुटिविलास में लुप्त हो जाता है उसे सांसारिक कुबासना दूर करते क्या विलम्ब। देखो न द्वार पर कोई कुछ कहता है। तनक सुनो तो क्या कहता है। ओह कहता कौन क्या है, जैसे बाबू साहब रसिया हैं वैसे ही उनके सेवक भी रसीले हैं। वही किसी से कह रहे, "जानी, आज तो कई दिन पीछे दर्शन दिए हैं। अरे साहब तुम्हीं से कहते हैं। जरा गरीबों की भी••हहुर क्या गजब रे यह रुखाई ?" भई ऐसी बातें हो रही हैं तो जरूर कोई परीजाद होगी। उः जैसे रसिक हैं वैसे ही उनकी प्रीति का आधार भी कोई ऐसी ही वैसी होगी। तौ भी क्या जाने कभी २ गूदड़ में छिपे हुए लाल भी मिल जाते हैं। आओ छज्जे पर से झुक के देख तो लें। पर हमारी जान साहब क्या कहेंगी। अरे कहेंगी क्या। एक दिल्लगी है। कुछ हो देखना तो अवश्य चाहिए। कौन है, कैसी है, जिससे दरबान छेड़खानी कर रहा है।

है है युवावस्था भी क्या ही वस्तु है ! जब कि नीम का फल भी मीठा

हो जाता है तो यह तो स्त्री है। इसका रूपमाधुर्य किसी को भाय जाय तो क्या आश्चर्य। यद्यपि बहुत सुंदर नहीं है, न चंद्रमा सा मुख है, न कमल से अरुण एवं बड़े २ और खंजरीट से चंचल नेत्र हैं, न चंपा का सा रंग है न सगधसनी अलकावली है न वस्त्र और आभूषण ही सराहना योग्य हैं केवल एक मैली सी धोती पहिने साधारण अहीरी है पर "लैला को मजनू की आंखों से देखना चाहिए।" दर्बानी राम यदि प्रेममुग्ध न भी हों तो भी न्याय से यही कहेंगे कि 'खूबरू सबकी निगाहों में नहीं चन्दां तुम अपनी नजरों में तो हा रश्के गुले खन्दां तुम।' जानी, प्यारी, प्राण, इत्यादि शब्द केवल हंसी से नहीं किन्तु मन से निकल रहे हैं। पर प्रेमपात्र की बेमुरौती तो प्रसिद्ध ही है। जब कि भगवान श्रीकृष्णचंद्र ही ने मथुरा से केवल तीन कोस आना अस्वीकार किया, गोपियों की विरह वेदना पर ध्यान न दिया फिर साधारण स्नेहभाजनों का क्या कहना है। यदि आपने कभी कुछ दिन के लिए किसी को चाहा होगा तो जानते होंगे कि इधर तो तन, मन, धन, धर्म प्रतिष्ठा, वरंच प्राण तक देने में नहीं नहीं है और उधर से मुंह दिखाने में भी नहीं २ है। इसी न्याय से अनुमान कर लीजिए कि उस दही वाली ने द्वारपाल की खुशामद भरी बातों का क्या उत्तर दिया होगा। उत्तर कैसा, प्रेम प्रमादी की बात का उत्तर ही क्या। हजार मनुहार का जवाब इतना काफी है कि 'पागल हो'। सच है, केवल मनःकल्पित आशाओं पर अपना सर्वस्व दूसरे पर निछावर कर देना ज्ञानवान का काम है? अंततोगत्वा बहुत पीछे पड़ने पर, वरंच लाज छोड़ पीछे दौड़ने पर, अपना पीछा छुड़ाने के लिए, आप नखरे के साथ कहती क्या हैं, "ना भाई! हमको न छेड़ो! दिन थोड़ा है दूर जाना है। यहां ठहरूं तो मेरा निर्वाह नहीं।" आहा, किस पवित्र समय में, किस धन्य घड़ी में, किस भाग्य भरे क्षण में, यह हृदयस्पर्शी बचन निकले थे कि बस, हमारे श्रद्धास्पद वर्णनीय बाबूजी का चित और से और हो गया है। हा इतनी आयुष्य बीत गई, सहस्त्र वर्ष नहीं जिएंगे, दिन थोड़ा नहीं तो क्या है। बड़े २ महर्षि जन्म भर सदद्मादि कर के जिस तत्व को नहीं जानते उसको प्राप्त करना परमावश्यक हुई। आज तक कभी सच्चे जी से नाम स्मरण भी नहीं किया फिर किस बिरते पर कहें कि दूर जाना नहीं है! इतने दिन धन, जन, कुटुम्बादि में फंसे रहे। व्यर्थ की आशा, निष्फल चिन्ता के अतिरिक्त कर क्या लिया। और अब भी रह के क्या बना लेंगे। राजर्षि भर्तृहरि और इब्राहीम अदहम (बलख बुखारे के बादशाह) मूर्ख न थे। कुछ तो मजा है जिस के लिए उन्हों ने राज्य सुख को तुच्छ समझा था। यह सुख हमीं को

नहीं सुख देते, उन्हें भी फूलों की सेज काट न खाती थी। पर नहीं, उनकी समझ में आ गया था कि 'कोटिन क्यों न करो इतमाम पै हौ बिन राम छदाम के नाहीं'। बेशक अब यहां ठहरूं तो मेरा निबाह नहीं है! बस अब क्या है। बीबी अपने घर जावो। बीबी गई। मन ने कहा, क्या यही कपड़े पहिने रहोगे। बुद्धि ने उत्तर दिया, क्या वुह कपड़े देख के रीझेंगे? मन ने कहा, कुछ दो चार दिन के खाने को तो लेते चलो। बुद्धि ने कहा, 'जान को देत, अजान को देत, जहान को देत, सो तोह को देहै।' ज्ञान ने कहा, दूर जाना है कुछ राह खर्च तो ले लो। प्रेमदेव ने कहा, राजा! तुम्हारे धन तो हम हैं। तुम्हें क्या चिन्ता। अब सोच विचार को लात मारो। प्रेम की रेल पर चढ़ा है, उसे इंद्र का नन्दन बन भी दूर नहीं, वृंदावन तौ इसी लोक में है। पांव चलने ही को बने हैं। यह परमेश्वर की बनाई जोड़ी (दो घोड़े की बग्घी), किसी काम में तो लावो। भगवान प्रम की आज्ञा पाते ही श्रद्धा, विश्वास, बैराग्य, उत्साह आदिक देव सैनिकों के साथ 'अब यहां कदम न लो। बस चलो, चलो, चलो!' गाते हुए, धर्म्म का डंका बजाते हुए प्रयाण कर दिया।

रेल तो हुई नहीं कि चार दिन में सैकड़ों कोस हो आइए। और यदि हो भी तो यहां धन के नाते केवल लक्ष्मीपति का नाम है। बग्घी घोड़ा आदि भी रजोगुण के चिन्ह हैं। वुह किस विरागशील को भाते हैं। बंगभूमि से बृजमंडल निकट भी नहीं है। फिर पयादे पांव अकेले इतनी दूर जाने पर कौन कटिबद्ध होगा? वही, जिस की बुद्धि धन से, कुटुंब से, अथवा धर्म से अधिक प्राणों को न चाहती होगी। नहीं धन का लोभी, कुटुंब का आशक्त एवं धर्म का संचयी भी अपनी बश में नहीं जाता। वुह लोभ के, मोह के, व परलोक भय के प्राबल्य से परबश है। इसी से जाते समय एक २ से मिलता है। एक पग आगे धरता है, फिर घर की ओर देखता, सभों को परमेश्वर के हाथ सौंपता है तौ भी चित्त निश्चित नहीं होता। नाना भांति के निराश संकल्प बिकल्प उठते हैं। पर प्रेम पथिक की मंगल यात्रा ऐसी नहीं है। शुक जैसे पिंजरे से उड़ जाता है, हरिण जैसे जाल से छूट जाता है, वुह फिर कर क्यों देखेगा। जो यह समझता है कि अभी तक जन समुदाय से मिले रहने में क्या मिल गया, वुह चलती बेर किसी से काहे को मिलेगा। परमात्मा जिस के साथ ही है, जो उन्हीं की प्रेरना से उनकी ओर जा रहे हैं वे किस

बात की चिन्ता करें। यावत चिन्ता तो प्रेमाग्नि में तभी स्वाहा हो गई जब 'दिन थोड़ा है' इस मंत्र का उच्चारण हुवा। संशय संसारियों के लिए हैं। यहां इस झंझट से क्या प्रयोजन। आनन्दमय से मिलने निकला है वुह कभी काहे को किसी रीति का शोच करे। शोच ही के बन्धन से मुक्त होने तो जाते हैं। बड़ा भारी अभ्यासी दिन भर में १०, १५ कोस चलता है और कहता है चलते २ मर गए। परन्तु प्रेम यात्री यद्यपि कभी सवारी छोड़ के नहीं चला, तौ भी उसकी चाल और है। वुह प्यारे के घर को दूर नहीं मानता। उसे थकावट नहीं होती। उसे प्रेम बल है इस से प्रतिक्षण 'कहे है शौक कि चलिए कदम बढ़ाए हुए'। इधर रात्रि हुई, "बाबू ब्यारू करने नहीं आए"। आते होंगे। घंटा भर हुआ, दो घंटे हुए, प्रहर बीता। 'अब न आवेंगे। जान पड़ता है किसी कमरे के मजे मे फंस गए।' 'मोर भैया अब आते होंगे।' पहर दिन चढ़ा, दुपहर हुई, तीसरा पहर लगा है। 'काका कहां,' 'भैया कहां,' 'बाबू कहा' का कोलाहल मच गया। यह तो नई बात है। यह कौन जानता है कि उनको नव जीवन प्राप्त हुआ। उनकी सभी बातें नई हैं। अब वुह बाबू नहीं रहे जो गृह बंधन में पड़ने फिर आवें। यहा ढूंढ़ा, वहां ढूंढ़ा, इसके घर ढूढ़ा, उसके घर ढूंढ़ा, बाबू कहीं नहीं है। सच है वे झगड़े के स्थानों पर कहीं नहीं हैं। अब तो यह भी दौड़ा, वुह भी दौड़ा। मैं चल तू चल की चलाचली पड़ गई। अन्त को कोई दिन की दौड़ धूप में मिलें तो क्यों न मिलें 'जिन ढूंढ़ा तिन पाइयां'। पर मिले भी तो क्या, कोटि उपाय किए गए, सब व्यर्थ। यह कहा संभव है कि हाथी के दांत जब बाहर हो गए तब फिर भीतर हो सकें। यह भी कहां हो सकता है कि जिस ने जिस को तुच्छ जान के तिरस्कार कर दिया वुह उसे फिर ग्रहण करे। सवारी शिकारी पर उसका चित्त चल सकता है जिसे प्रेम विवान न मिल सके। जब घर ही हमारा नहीं है तो घर के हाथी घोड़ों से हमें क्या काम। अस्तु, फिर अपना क्या बस है। हां, वे हमें अपना नहीं समझते पर हम तो उन्हीं के हैं। जहां तक हम से होगा उन्हें मार्ग में कष्ट न होने देंगे। पर वुह न जानने पावैं कि उनके खान पान इत्यादि का प्रबंध हमारी ओर से है, नहीं तो उन्हें आत्म कष्ट होगा। समझेंगे कि अब भी पीछा नहीं छोड़ते। पाठक देखो, जब सच्चे जी से कोई संसार सुखों का त्याग कर देता है तो सुख उस के पीछे २ सेवक के भांति चलता है। नखरा तो लक्ष्मी रानी उससे करती हैं जो उन्हें चाहे। कथा संक्षेप, बड़े आनन्द के साथ यात्रा हुई, और आज नहीं कल, कल नहीं परसों, परसों नहीं मास भर में, चाहे जब अभीष्ट स्थान पहुंचे,

अवश्य ही उस आनन्दकानन शांतिधाम भगवद्विहार स्थल में जा ही पहुंचे।

धन्य प्रेम का आनन्द! जो पुरुष उच्च अट्टालिकाओं को छोड़ के आया है वह साधारण झोपड़ी में अधिक सुखी है। षटरस विंजनों का जिस ने त्याग कर दिया है उसे भिक्षा के टुकड़ों में अधिक स्वादु है। गद्दी तकियाओं से, पुरानी खाट के जंगले अथवा टाट के टूक अथवा पृथ्वी पर लोट रहने में अधिक आनन्द न होता तो इतनी दूर क्यों आते। एकाकी रहना अच्छा न होता तो कुटुम्ब, परिवार, हितू, परिजन, सेवक, रमणी आदि को क्यों छोड़ भागते हैं। एक वुह हैं जो इसी बाह्य वैभव की आशा मात्र के लिए आठों पहर तेली के बैल की भांति बहा करते हैं, एक वुह भी हैं जिनको सब सामग्री विद्यमान हैं पर मन की शांति की सन्ती सदा की उलझन रहती है। कोई मर गया, सब सुख दुःखवत् प्रतीत होने लगे। किसी का वियोग हुवा, नींद भूख का स्वादु मट्टी में मिल गया। कोई रोग लग गया, जीवन मरण के समान हो गया। और एक यह हैं जिन्हों ने सब प्रकार के ऊपरी सुखों को लात मार दी है। सब झंझट से अलग हो गए हैं। एक महा दरिद्री की भांति जीवन जात्रा करते हैं और आनन्द मग्न हैं। क्यों नहीं, वैभवग्रस्त विचार बंधन में, यह जीवन मुक्त—फिर इनकी प्रसन्नता को वे क्या प्राप्त हो सकते हैं। अहा हा, 'तीन टूक कोपीन के अरु भाजी बिन लोन। तुलसी रघुबर उर बसें इन्द्र बापुरो कौन।' इस प्रेमानन्द को जिसने पाया है वुह संसार के तुच्छ सुख दुःख को क्या समझता है। हरि रस के आगे अमृत भी तुच्छ है, दुनिया के मजे तो क्या। कहते हैं, यह महात्मा भिक्षा मांग लाते थे, सो भी पूरी रोटी किसी से न लेते थे, केवल टुकड़ा। सो श्री सूर्यसुता के शुद्ध सलिल में धो के, क्षुधा शांत कर लेते थे और विचारा करते थे। थक जाने पर एक छोटी सी कोठड़ी थी, उस में पुराना खटोली का जंगला पड़ा रहता था। उस पर पड़ रहते थे और अष्ट प्रहर भगवद्भजन में मत्त रहते थे। एक बार कुछ लोग इनके दरशन करने आए। उनमें एक बुढ़िया थी। उसने कोठरी में झुक के देखा तो आप न थे। कहीं भ्रमण करने गए थे। लोग बैठ गए कि आते होंगे। इतने में वृद्धा की दृष्टि महात्मा के बिछौने पर पड़ी। देखा कि कई खटकीड़े उस पर रेंग रहे हैं। उसे दया लगी कि काटते होंगे, इस से झार फटकार के बिछुर (बिस्तर) को खटमलों से साफ कर दिया। फिर सब बैठे रहे। पर बाबू को दफतर की हाजिरी तो बजाना ही न

था कि साहब के डर से नियत समय पर (बरंच कुछ पहिले) पहुंचते। इनके साहब तो सदा इनके साथ रहते हैं और इन के प्रत्येक आवश्यक काम का सभार करते हैं। अपने सेवकों पर क्रुद्ध होने का स्वभाव ही नहीं रखते, फिर इन्हें काहे की चिन्ता। चाहे जब जहां आवें, चाहे जब जहां जायं। घर आने की फिकर क्यों हो, जब यह विश्वास है कि उसकी रखवाली बड़े भारी सर्वशक्तिमान कर रहे हैं। चोर आ ही के क्या ले जायंगे। दर्शनाभिलाषियों ने देखा कि उनके आने का ठीक नहीं है तो चले गए।

जब श्रीयुत महानुभाव घूम घाम कर आए तो कुछ थके से थे। अपनी खटा खंड पर लोट गए और खटमलों के न होने के कारण कुछ निद्रा सी आ गई। पर साथ ही हृदिस्थित देव ने जगा दिया तो कुछ देर अवाक रहने के उपरांत, बड़े खेद के साथ उच्च स्वर से रो २ कर कहने लगे, हाय, मेरे उन सच्चे हितकारक मित्रों का वियोग किसने करा दिया। हाय, मेरे वे प्यारे मित्र कहां हैं जो मुझे उस समय भगवद्भजन के लिए चैतन्य कर देते थे जब मैं निद्रा में ग्रस्त हो जाता था! हाय, आज मैंने सोकर भजन का अमूल्य समय खो दिया। मेरे सुहृद होते तो ऐसा क्यों होता " साधारण लोग कहते होंगे कि तुच्छ खटमलों के लिए इतना शोक करना कौन बुद्धिमानी है। पर जिनको प्रेमामृत का स्वादु प्राप्त हुआ है, जो भजन रस को पानकर्ता है, उनकी गति न्यारी है। हम में यदि इतनी सामर्थ्य होती कि किसी छोटे बालक से बातचीत करा सकते तो हम पुछवा देते कि माता की गोदी में निद्रा का सुख अधिक है कि मखमल की नरम सेज पर। जननी जिस समय धीरे २ थपक २ कर 'सोय जाय मोर ललवा। आवरी सुख निंदिया' कहती है उस समय अधिक सुख मिलता है कि रसीली कहानियों के सुनने के समय? प्रेमी को वही प्यारा है जो प्रेम मार्ग में सहायक हो। ईश्वर ने निष्प्रयोजन कोई वस्तु नहीं बनाई। यदि खाने, पीने, सोने आदि में ही सुख की पूर्णता है तो और बात है, पर यदि किसी ओर चित्त का लगाव है और कुछ सहृदयता का तत्व जानते हो तो निश्चय उपर्युक्त बचनों की महिमा करोगे। जब कि संसारी जीव भी नींद और आलस्य को हानिजनक जानते हैं तो दैवी पुरुष क्यों न बुरा समझें। उनकी तो महा हानि होती है। उन्हें एक २ स्वांस में भजनामृत का अकथ्य आनन्द मिलता है। उसमें विक्षेप होगा। कुछ न्यूनाधिक सौ वर्ष हुए कि यह महात्मा संसार के साथ शारीरिक सम्बन्ध छोड़ गए। पर प्रेम समाज में आज भी देवताओं की भांति प्रतिष्ठित,

विद्यमान हैं। अपने जीवन में वे बहुधा आप ही आप, और कभी २ तरंग आती थी तब अपने कृपापात्रों से यही पवित्र वचन कहा करते थे कि 'दिन थोड़ा है, दूर जाना है, यहां ठहरूं तो मेरा निर्वाह नहीं।" अब भी कभी २, किसी २ के अन्तःकरण के कर्णों में यही शब्द सुनने में आते हैं। धन्य हैं वे लोग जिनको इस बात का तत्व समझ पड़े। यह कथा कलकत्ता निवासी श्री लाला बाबू की है, जिनके सुविशाल मन्दिर को वृन्दावन में बहुत लोगों ने देखा होगा। यद्यपि उनके विषय में बहुतेरों के मुख से बहुत सी बातें सुनने में आई हैं, पर यह चरित्र उनका ऐसा है जो उनके सौ दोषों को दूर कर सकता है। सर्वथा दोष रहित केवल भगवान है, पर सारग्राहिणी बुद्धि का धर्म है कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस वचन को भी सब बातों के साथ ध्यान रक्खे। जिनसे हमें अब प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा उनके औगुण ढूंढने में क्या धरा है? वह बुरे हों तो पर उनके सद्गुण हमारे लिए सन्मार्ग में चलाने को दीपक का काम दे सकते हैं। प्रिय पाठक, क्या तुम्हारे जी में भी कभी "दिन थोड़ा है" इत्यादि वचन सुनाई देते हैं? यदि न सुनाई देते हों तो अब सुन रक्खो कि जीवन का समय थोड़ा है, और संसार में आके केवल खाने सोने का काम नहीं है। यदि अपनी आत्मा की ओर देखो, अपने देश की ओर देखो तो समझ सकते हो कि तुम्हारे कर्तव्यों की गिनती नहीं है। निज कल्याण और भारत हित के मार्ग में तुम्हें बहुत दूर जाना है। यदि इसी दशा में बने रहे जिसमें अभी हो तो निश्चय तुम्हारा निर्वाह नहीं है। हम यह कभी नहीं चाहते कि हमारे सुहृदगण भी घर छोड़ के भिक्षा के टुकड़ों पर दिन काटें। नहीं अपना घर, अपना मनोमन्दिर, अपने बंधु बांधव, इष्ट मित्र, परोसी और स्वदेशी भाइयों के घरों को देखो और निज का घर समझ के उनके अभावों को दूर करो। सब गृही भाइयों के लिए सुख का उपाय करो, पर आज ही से, इसी क्षण से, सन्नद्ध हो जाव क्योंकि ढिल्लरपन से निर्वाह न होगा। मृत्यु पुकार रही है, 'संभल, शीघ्र संभल, तेरी आंखें मुंदने में विलम्ब नहीं है। एक पल भर में सब मनोर्थ विलीयमान हो जायंगे। अपना भला चाहता है तो केवल चाहने से कुछ न होगा, जो करना है करने में जुट जा, दिन थोड़ा है।' भारत माता रो २ कह रही है कि मेरी गति क्या से क्या हो रही है, मेरे हितार्थ, यदि तुम मेरे सच्चे सपूत हो तो, तुम्हें दूर जाना है। क्या तुम्हारा मन इन

बातों को सोच के नहीं कहने लगता कि अब मेरा यहां अर्थात् आलस्य के साथ रहने में निब्राह नहीं है !

ख० ४, सं० ३, ४, ५, ६, ७, ८
(१५ अक्टूबर, १५ नवम्बर, १५ दिसम्बर, १५ जनवरी, ह० सं० ३ और १५ फरवरी, १५ मार्च, ह० सं० ४)

युवावस्था

जैसे धरती के भागों में वाटिका सुहावनी होती है, ठीक वैसे ही मनुष्य की अवस्थाओं में यह समय होता है। यदि परमेश्वर की कृपा से धन बल और विद्या में त्रुटि न हुई तौ तो स्वर्ग ही है, और जो किसी बात की कसर भी हुई तो आवश्यकता की प्राबल्यता यथासाध्य सब उत्पन्न कर लेती है। कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी विचार न रख के आवश्यकता देवी जैसे तैसे थोड़ा बहुत सभी कुछ प्रस्तुत कर देती है। यावत पदार्थों का ज्ञान, रुचि और स्वाद इसी में मिलता है। हम अपने जीवन को स्वार्थी, परोपकारी, भला, बुरा, तुच्छ, महान जैसा चाहें वैसा इसी में बना सकते हैं। लड़काई में मानो इसी अवसर के लिए हम तयार होते थे, बुढ़ापे में इसी काल की बचत से जीवन यात्रा होगी ! इसी समय के काम हमारे मरने के पीछे नेक-नामी और बदनामी का कारण होंगे। पूर्वपुरुषों के पदानुसार बाल्यावस्था में भी यद्यपि हम पंडित जी, लाला जी, मुन्शी जी, ठाकुर साहब इत्यादि कहाते हैं, पर वह ख्याति हमें फुसलाने मात्र को है। बुढ़ापे में भी बुढ़ऊ बाबा के सिवा हमारे सब नाम साप निकल जाने पर लकीर पीटना है। हम जो कुछ है, हमारी जो निजता है, हमारी निज की जो करतूत है वह इसी समय है, अतः हमें आवश्यक है कि इस काल की कदर करने में कभी न चूकें। यदि हम निरे आलसी रहे तो हम युवा नहीं जुवां है अर्थात् एक ऐसे तुच्छ जन्तु हैं कि जहां होंगे वहां केवल मृत्यु के हाथ से जीवन समाप्त करने भर को ! और यदि निरे ग्रह धंधों में लगे रहे तो भी बैल की भांति जुवा (युवाकाल) ढोया। अपने लिए श्रम ही श्रम है, स्त्री पुत्रादि दस पांच हमारे किसान चाहे भले ही कुछ सुखानुभव कर लें। यदि, ईश्वर बचाए, हम इद्रियाराम हो गए तौ भी, यद्यपि कुछ काल के लिए, हम अपने को सुखी समझेंगे। कुछ लोग अपने मतलब को हमारी प्रशंसा और प्रीति भी करेंगे, पर थोड़े ही दिन में उस सुख का लेश भी न रहेगा, उलटा पश्चात्ताप गले पड़ेगा, बरंच तृष्णा पिशाची अपनी निराशा नामक सहोदरा के साथ हमारे जीवन को दुःखमय कर देगी। काम, क्रोध, लोभ मोह, मद, मात्सर्य यह षड्वर्ग यद्यपि और अवस्थाओं में भी रहते ही हैं, पर इन दिनों पूर्ण बल को प्राप्त हो के आत्म मन्दिर में परस्पर ही युद्ध

मचाए रहते हैं, बरंच कभी २ कोई एक ऐसा प्रबल हो उठता है कि अन्य पांच को दबा देता है और मनुष्य को तो पांच में से जो बढ़ता है वही पागल बना देता है। इसी से कोई २ बुद्धिमान कह गए हैं कि इनको बिल्कुल दबाए रहना चाहिए, पर हमारी समझ में यह असंभव न हो तो महा कठिन, बरंच हानिजनक तो है ही। काम शरीर का राजा है (यह सभी मानते हैं) और क्रोधादि पांचों उसके भाई वा सेनापति हैं। यदि यह न होने के बराबर हो तो मानो हृदय, नगर, अथवा जीवन, देश ही कुछ न रहा। किसी राज-वर्ग के सर्वथा वशीभूत होके रहना गुलाम का काम है। वैसे ही राज-परिषद का नाश कर देने की चेष्टा करना मूर्ख, अदूरदर्शी अथवा आततायी का काम है। सच्चा बुद्धिमान, वास्तविक वीर वा पुरुषरत्न हम उसको कहेंगे जो इन छहों को पूरे बल में रख के इनसे अपने अनुकूल काम ले! यदि किसी ने बल नाशक औषधि आदि के सेवन से पुरुषार्थ का और "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का दृढ़ विश्वास करके कामनाओं का नाश कर दिया और यावत् सांसारिक सम्बन्ध छोड़ के सबसे अलग हो रहा तो कदाचित षड्वर्ग का उसमें अभाव हो जाय! यद्यपि संभव नहीं है पर उसका जीवन मनुष्य जीवन नहीं है। धन्य जन वे हैं जो काम शक्ति को अपनी स्त्री के पूर्ण सुख देने और बलिष्ठ संतान के उत्पन्न करने के लिए रक्षण और वर्धन करने में लगावें। कामना अर्थात् प्रगाढ़ इच्छा प्रेममय परमात्मा के भजन और देशहित की रक्खें। क्रोध का पूर्ण प्राबल्य अपने अथच देश भाइयों के दुःख अथच दुर्गुण पर लगा दें। (अर्थात् उन्हें कच्चा खा जाने की नियत रक्खें) लोभ सद्विद्या और सद्‌गुण का रक्खें। मोह अपने देश, अपनी भाषा और अपनेपन का करें। जान जाय पर इन्हें न जाने दें। अपने आर्यत्व, अपने पूर्वजों के यश का पूर्ण मद (अहंकार) रक्खें। इसके आगे संसार को तुच्छ समझें, दूसरे देश वालों में चाहे जैसे उत्कृष्ट गुण हों उनको कुछ न गिन के अपने में ऐसे गुण संचय करने का प्रयत्न करें कि दूसरों के गुण मंद पड़ जायं। मात्सर्य का ठीक २ बर्ताव यह है। जो ऐसा हो जाय वही सच्चा युवक, सच्चा जवान और सच्चा जवांमर्द है। उसी की युवावस्था (जवानी) सफल है। पाठक! तुम यदि बालक वा वृद्ध न हो तो सच्चा जवान बनने का शीघ्र उद्योग करो।

खं० ४, सं० ४ (१५ नवंबर ह० सं० ३)

नारी

यह शब्द जितने अर्थ रखता है उन सब में यही प्रभाव है कि सदा सावधान रहो। ठीक नियम में रक्खो तौ तो भलीभलाई और जहां तनक असावधानता हुई कि जीवन को दुखमय कर दिया। एक इस नाम का तुच्छ शाक (नारी का साग) है, जिसमें गुण तो यह है कि कैसा ही अफीम (अहिफेन) के विष से विकल हो, जहां थोड़ा सा उसका रस पिलाया कि सब दुख दूर। दीन निर्धनों के लिए सुलभ स्वादिष्ट खाजी। अकाल मृत्यु से मरे हुए असंस्कृत लोगों की नारायण बलि में उपयोगी। पर यदि उक्त गुणों पर भूल के कुछ दिन खाइए तो बात रोगों का लक्ष्य (निशाना) बना दे। ऐसे ही घर और सड़कों का नारी (नाली, मोरी) नित्य शुद्ध होती रहें तो दुर्गन्ध पदार्थों को दूर करें। यदि कुछ भी उनकी ओर से असावधानता हो तो क्षण भर में गंध के मारे माथा भिन्ना दें। और लीजिए, हाथ की नारी (नाड़िका) ठीक समता पर चली जाय तभी तक कुशल है, नहीं तो चिता पर न सुलावै तो खटिया सेवन तो अवश्य ही करावे। अर्द्धांगिनी नारी (स्त्री) का तो कहना ही क्या है, संसार की उत्पत्ति, गृहस्थी का सुख, रसिकों का प्रमोद इन्हीं के हाथ में है। पर परमात्मा न करे कहीं रुक्माबाई ऐसी हों कि सात पीढ़ी की नाक कटावैं। कर्कशा हों तो जीना भारी कर दें। अरबी में नारी कहते हैं अग्नि संबंधी को, उसका भी अर्थ अप्सरा (परी) और नर का संबंधी दोनों हो सकते हैं। चाहे हृदय संलग्न होने पर सुखदायिनी समझ लो, चाहे वियोग द्वारा संतप्त कारिणी मान लो, चाहे मुसलमानों और क्रिस्तानों के मतानुसार सदा के लिए आत्मा को फूंकने वाली ठहरा लो! हेर फेर के सिद्धांत यही निकलेगा कि यह न हो तो हमारा निर्वाह न हो या यों कहो कि न हो तो अल्ला मियां की कुदरत को वर्तमान कानून बदलनी पड़े। हों और नियमबद्ध न हों तो हमारी जीवन यात्रा नर्कमय हो जाय। इस लिए यही उचित है कि जैसे बने वैसे हिकमत के साथ इनसे बर्ताव रक्खें। न का अर्थ है नहीं और अरि कहते हैं शत्रु को, भावार्थ यह हुआ कि न यह शत्रु हैं न इनसे अधिक कोई शत्रु है। जहां तक हो इन्हें स्वतंत्रता न सौंपो। अच्छे वैद्यों के द्वारा, पथ्यापथ्य विचार द्वारा, म्यूनिसिप्यलिटी द्वारा, सदुपदेश द्वारा नारी मात्र को

अनुकूल रखना ही श्रेयस्कार है। तनिक भी व्यतिक्रम पाओ तो वैद्यराज से कहो, महाराज नारी देखिए, मुहल्ले के मेहतर से कहो कि चिलम पीने को यह पैसा लो और नारी अभी साफ़ करो, घर की लक्ष्मी से कहो ना री! ऐसा उचित नहीं! कोई अफ़ीम खा गया हो तो उसके संबंधी से कहो कि नारी का साग खिलाना चाहिए। इसी प्रकार सदैव नारी का विचार और भगवान मदनारी (कामदेव के नाशक शिव) का ध्यान रक्खा करो, नहीं महाअनारी हो जाओगे।

खं० ४, सं० ४ (१५ नवंबर ह० सं० ३)

ऊंच निवास नीच करतूती

बंगाली ब्राह्मण अपने को कान्यकुब्जों का वंश बताते हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि जो लोग आज भी कान्यकुब्ज देश ही के इधर उधर रहते हैं, और कान्यकुब्ज ही कहलाते हैं, वे अधिक श्रेष्ठ हैं। क्योंकि देश, भेष, भाषा, आचार, व्यवहार, सभी कुछ बना है। भला यह श्रेष्ठ न होंगे तो क्या वे होंगे जिनका नाम भी और हो गया! पर जब हम देखते हैं कि बंगाली माशा (महाशय) एक शूद्र, निर्धन, अविद्य और उदासीन (न मित्र न शत्रु) बंगाली के हितार्थ एतद्देशीय अत्युच्च ब्राह्मण, बड़े भारी अमीर, महा पंडित, एवं परम मित्र को कुछ माल नहीं गिनते, बरसों की मित्रता छोड़ नए परिचयी की ओर हो जाते हैं, यहां तक कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द ही को वे अन्तःकरण से तुच्छ समझते हैं पर हमारे रौरे जी (कनौजिया भाई) की अकिल पर ऐसे पाथर पड़े हैं कि दुनिया भर की चाहे लातैं खाय आवैं, पर अपने को अपना समझें तो शायद पाप हो। कनौजियांय में बट्टा लग जाय! धाकर तो धाकर ही हैं। अच्छे झकझकौआ षट्कुल का भी पक्ष करना नहीं सीखे। यही कारण है कि विद्या में, बुद्धि में, राजद्वार में, प्रतिष्ठा में बंगाली भद्रो पुरुष हैं। (यदि आज न हों तो कुछ दिन में अवश्य बाबू लोग बनाय लेगा) और यह कुलीन दादा कुली नहीं तो मजदूर अवश्य ही हैं। इधर क्षत्रियों में देखिए तो हम यह नहीं कह सकते कि खत्री और कायस्थ क्षत्री नहीं हैं, पर डील डौल, नाम काम, पहिरावे उढ़ावे में नज़ाकत आ जाने से और यज्ञोपवीत तथा सामयिक राजभाषा के अभ्यास के अतिरिक्त और कोई लक्षण क्षत्रियत्व का देख नहीं पड़ता। पर हमारे ठाकुर साहब के नामों में, चेहरे मोहरे में एक प्रकार की वीरता आज भी झलकती है। इससे हम क्या एक विदेशी भी कह देगा कि यह बहादुर कौम है। पर विचार के देखो तो स्वजातिहितान्वेषण के मैदान में जितना मुंशी जी का और खत्री साहब का क़दम आगे बढ़ा हुआ है उतने ही राजपूत महाशय पीछे पड़े हैं! इनमें जाति हितैषियों की संख्या कदाचित उंगुलियों पर गिनी जाय। इसी से इनके देखे वे समुन्नत हैं। वैश्यों में हमारे ओमर दोसर जो हम कान्यकुब्जों हो की जिह्वा से नहीं बरञ्च जगत् के मुख से बनिया ही के नाम से लक्षित हैं, वे फूट का मूलारोपण और फलास्वादन में हमारे मुख्य शिष्य हैं। पर अग्रवाल

महोदय, जो समय के फेरफार तथा पश्चिमीय जलवायु के संस्कार से कुछ २ मियां भाइयों की लटक पर आ गए हैं, वे अपने चार भाइयों की दया संपादन करके ऐक्य के मधुर फल को पूर्ण रीति से नहीं तो भी कुछ तो पा ही रहे हैं। मारवाड़ी भाई यद्यपि विद्या से वंचित और दोनों प्रकार के वैश्यों से अलग हैं पर एका उनमें ऐसा है कि ओमर, दोसर और अगरवाले महेसरी तो क्या, हम मनाते हैं, परमेश्वर हमारे ठाकुर साहब और रौरे को भी सिखावै। धन्य है, देश से आते देर नहीं और सेठ जी बन जाते देर नहीं। चाहे नित्य दिवाला निकले, पर 'अपणा भईयारो कौड़ी ने रक्खागा'। हम तो इस बुद्धि को देवताओं ही की बुद्धि कहेंगे। रहे शूद्र, जो सबकी दृष्टि में नीच हैं, पर पांच पंच का डर, सहायता, स्नेह का पूर्ण सुख भोगते हैं। इसी से कहते हैं कि 'ऊंच निवास नीच करतूती, तेहि ते लगी बड़ेन महं छूती'।

खं० ४, सं० ५ (१५ दिसंबर ह० सं० ३)

पादरी साहब का व्यर्थ यत्न

परमेश्वर की दया और स्वामी दयानन्दादि सत्पुरुषों के उद्योग से अब वह दिन तो नहीं रहे कि नीलकंठ, किस्टोमोहन, माइकेल मधुसूदन सरीखे विद्वान, अब भारत के पुरुषरत्न न बन के ईसा की···में शरीक हो जायं। यह बात सैकड़ों बार देख ली गई है कि छोटे २ अजातश्मश्रु बालकों से भी अच्छे २ पादरी मतवाद के समय सिर से झगड़ा टालने के लिए सौ बहाने गढ़ के भी जब न बच सकते तो अवाक हो जाते हैं। एक बार एक बड़े पादरी जी चौक में खड़े एक ग्रामीण भाई को समझा रहे थे कि रामायण खरीद के क्या करोगे? उसमें ईश्वर और मुक्ति का रास्ता कहां है? इतने में हमारे मित्र मदनचन्द्र खन्ना उधर जा पड़े और इस विषय में उलझ पड़े, कि रामायण न सही तो ईश्वर की पुस्तक आप ही बतलाइए। पादरी साहब इधर उधर की हांक चले, पर बाइबिल की ईश्वरीयता सिद्ध करना सहज न था, क्योंकि प्रतिवादी पढ़े लिखे क्षत्रिय का लड़का था। जब और बातों में न जीते तो यह कहने लगे, तुम लड़के हो, तुम्हारी बुद्धि चंचल है, तुम न समझोगे, इत्यादि। इस पर खन्ना साहब भी पीछे पड़ गए कि मसीह ने स्वयं लड़कों का गौरव किया है। आप लोग भी लड़कों को बपतिस्मा देते हैं, फिर मुझे समझाने में क्या हानि है? इसका उत्तर तो कुछ आया नहीं, मैं (प्रताप मिश्र) पीछे खड़ा था, मेरी ओर देख के पादरी साहब ने कहा, इनको समझा दीजिए कि शास्त्रार्थ और बात है पर लड़कों को धर्मतत्व समझाना सहज नहीं है। मैंने बड़ी नम्रता से कहा कि औषधि की आवश्यकता रोगी ही को होती है। यदि लड़कों और अज्ञानियों ही को न समझाएगा तो किसे समझाइएगा? आप का काम ही यह है। इसके उत्तर में साहब अंगरेजी बोल चले कि गो मेरा यही काम है पर इतना बड़ा विषय सहज में तो नहीं समझा सकता। मैंने कहा, कृपा करके हिन्दी ही में कहिए, नहीं तो यह सब जो खड़े हैं न समझेंगे। अब तो उन्हें और भी उलझन पड़ी। खैर दो चार बातें और कह के बोले कि बंगले पर इन लड़के भाई को भी ले के आइए, मैं बखूबी समझाऊंगा। मैंने कहा कृपा कर के यहां समझाइए तो इन चालिस पचास भाइयों का और उपकार हो। वहां हमीं तीन जन होंगे। इस पर जब सा० ने देखा कि किसी भांति पिंड नहीं छोड़ते, तो बोले कि

बाबा, मिहरबानी करो, अब जाने दो, और चल दिए। श्रोता लोग हंसने लगे। पाठक गण! ऐसे २ अवसर सैकड़ों हुवा करते हैं जिन से सिद्ध हो गया है कि मसीही धर्म का गौरव तो पढ़े लिखे हिन्दुओं में जमना असम्भव है। मतवाद में जीतना डबल रोटी का कौर नहीं है। हम महात्मा मसीह और उनके धर्म के उतने बिरोधी नहीं हैं जितने राम परीक्षा, कृष्ण परीक्षादि के लेखक कट्टर ईसाई हमारे धर्म के बिरोधी हैं। हम से कोई धर्मतः मसीह के बिषय में पूछे तो धर्मशील भगवद्भक्त, सदाचारी कहने में न रुकेंगे। उनके उपदेशों को माननीय और आदरणीय कहेंगे। पर निज धर्म, निज कुटुंब, निजाचार और निजता को तिलाजली दके भक्ष्याभक्ष्य भक्षने वाले और गुरू घंटालों के माया जाल में फंस के जन्म खोने वाले को कदापि बुद्धिमान बिचारशील न कहेंगे। चित्त में मसीह की प्रतिष्ठा न करना हमारी समझ में अन्याय है और पादरियों की चिकनी चुपड़ी बातों में आके उनका गुलाम बन जाना भी आत्महिंसा है। मसीह के बचन मनुष्य की आत्मा के लिए अमृत हैं पर यह अमृत अकेले उन्हीं पर समाप्त नहीं हो गया। उनके पहिले भी लोगों को मिला था और सदा अधिकारियों को मिलता रहेगा। यह बिश्वास हमारा ही नहीं है, लाखों पढ़े लिखों का है और परमेश्वर करे सब का हो। पर केवल मसीह ही मुक्तिदाता है, यह बात इस जमाने में युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर देना पादरियों की सामर्थ्य से लाखों योजन दूर है। रहा सांसारिक महत्व, सो भी सब ठौर, सब जाति के बिद्वान, बुद्धिमान और सच्चरित्र ही की प्रतिष्ठा है, कुछ ईसाई ही हो जाने से सिर में सुर्खाब का पर नहीं खुस जाता। हर शहर में सैकड़ों क्रिस्तान हैं जिन्हें कोई क्रिस्तानों का मुखिया भी सेंत नहीं पूछता। इससे मुसलमानी राज्य में ही अच्छा था कि मुहम्मदीय धर्म स्वीकार करते ही दुख दरिद्र टल जाते थे। आज दिन तो बड़ी स्वाद यह है कि धर्म भी छोड़ो और बड़ी भारी योग्यता भी रक्खो तो भी गोरा रंग न होने से नेटिव का निंदित एव शापित नाम बना ही रहता है। नाम, भाषा, भेष चाहे जैसा अंगरेजी हो पर कहलाते बिचारे नेटिव क्रिश्चियन ही हैं। जब तक जार्डन नदी का पानी सिर पर नहीं डालते तभी तक प्यारे भाई कहलाते हैं। जहां शिर पर पानी पड़ गया वहीं जाति पर, वंश पर, नाम पर और प्रतिष्ठा पर पानी पड़ गया। हिन्दुओं की दृष्टि में भी घृणित हुए और पादरियों ने भी कोई बिशेष रूप से गौरव न किया। बिचारे न इधर के हुए न उधर के हुए। बहुत से देशी भाइयों की दशा देख के हम को बहुधा शोक होता है जिन्हों ने पहिले तो साहब बनने के चाव से धर्म

छोड़ दिया है, पर अब पछिताते हैं, क्योंकि जिस जाति में उत्पन्न हुए थे वहां अब कोई पास नहीं बैठने देता और जहां जाकर मिले हैं वे भी घर नहीं भरते। रही खाने पीने की स्वतंत्रता, सो भी मनमोदक मात्र। सज्जन ईसाई भी कुत्सित मांस एवं मदिरा नहीं छूते, अच्छे हिन्दुओं की तो क्या कथा है। निर्धन हिन्दू भी इन स्वादों से वंचित हैं, ईसाई भी। प्रत्यक्ष में मद्यपान करने वाले मसीही की भी अपकीर्ति होती है, प्रच्छन्न रूप से हिन्दू भी होटल-भोक्ता हुई हैं। बरंच हिन्दू बने रहैं तो बाममार्गी हो के, मद्य मांस तो क्या है, अघोरी होके, और भी घिनही चीजें खा सकते हैं। ऊपर से कुछ सम्पन्न हों तो ओझाजी और नाथजी कहला के पुजा सकते हैं। किरिस्टान होने में क्या धरा है? कोई खास मजा नहीं। ऊपर से महा हानि ये है कि आप किसी काम के न रहे। स्त्रियों की लज्जा जाती रहे, वंश हो वुह बुजुर्गों का नाम न चलावै, देश और जाति का हित दमड़ी भर न हो सके। हिन्दू रह के भ्रष्ट भी कहलाते तो भी सभाओं में बुलाए जाते। कभी २ पैसा टका दान करते सो भी किसी ब्राह्मण के घर जाता। ऐसी २ अनेक बातें हैं जिनको सहस्रों लोग जानने लगे हैं और इन्हीं विचारों से क्रिस्तानता की उन्नति में ऐसा पाला पड़ गया है कि कहीं बरसों में, किसी ठौर पर, कोई ही भूखा टूटा क्रिस्तान होता होगा। सो भी उच्च जाति के पढ़े लिखे, खाते पीते घर का तो शायद लाखों में एक होता हो तो होता हो। तिस्पर भी आर्यसमाज, थियोसोफिक्यल समाज वुह विघ्न हैं कि अपनी चलते किसी प्रकार दूसरों की टट्टी जमने ही नहीं देते। ब्राडला साहब के साथी और भी आस्तीन का सांप हो रहे हैं, जिनके मारे ईश्वर ही का होना हास्यास्पद हो रहा है, ईसा तो कहां रहते हैं। इधर पतित पावन अधमोद्धारण की दया से कुछ लोग प्रायश्चित कराके फिर भी हिन्दू बना लिए गए हैं, और परमेश्वर ने चाहा, ऐसी ही चर्चा बनी रही, तो यह रीति चल निकलेगी। इससे हम कहते हैं कि अब पादरी साहब का श्रम व्यर्थ है। नाहक सैकड़ों रुपया प्रचारकों को दे देते हैं। निरर्थक भैयाजीयों को देते हैं और अपनी बिडम्बना कराते हैं। इससे तो यदि वही धन और मन भारत के हित में दें तो यश भी हो। हम लोग भी उनके शुभचिन्तक हों और बेबिल के अनुसार भी धर्म ही हो। हम भी तो आदम के नाते, महारानी के नाते, उनके भाई ही हैं। नहीं तो एशिया और यूरप, एक ही गोलार्द्ध में होने से, पड़ोसी तो बने बनाए हैं। बरंच मसीह की जन्मभूमि हमारी और भी पड़ोस है। अथवा यह न हो सके तो मुक्ति फौज के सिपाहियों की भांति भगवान का भजन करें जिसमें सचमुच

जन्म सुधरे। इस व्यर्थ के प्रयत्न का तो कुछ अर्थ न होगा। हिन्दुओं भर के वकील हमारे गोस्वामीजी का वचन अब सार्थक हो रहा है कि "चहौं करौ किन कोटि उपाया। इहां न व्यापिहि रावरि माया।" ईशपरीक्षादि में महात्मा मसीह की महिमा के विरुद्ध लेख आते हैं। इस पाप का मूल भागी कौन है ? आप ही का व्यर्थ प्रयत्न।

खं० ४, सं० ६ (१५ जनवरी ह० सं ३)

जवानी की सर

मनुष्य का शरीर पांच तत्व से बना है-- छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा'। और तीन अवस्था हैं—बाल्य-अवस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था। इस क्रम से दो अवस्थाओं में दो २ तत्व और तीसरी में केवल एक तत्व का आधिक्य रहता है। लड़कपन में पृथ्वी और जल तत्व का प्राबल्य होता है। इसी से बहुत छोटे बालक धूल में खेलना, मट्टी खाना, खिलौनों मे प्रसन्न होना अथच पानी छपछपाना, बरसते में भींगना, तनक २ सी बात पर रो देना आदि बहुत चाहते हैं। और बुढ़ापे में केवल आकाश तत्व रह जाने से, बल से, बुद्धि से, पौरुष से, अर्थात् सभी रीति से शून्य हो जाना पड़ता है। पर जवानी वुह अवस्था है कि जो कुछ करना है, जो कुछ होना है सब इसी में कर सकते हैं; क्यों कि अग्नि तत्व जाज्वल्यमान रहता है और वायु तत्व प्रचंड। शरीर क्या है मानो रेल का अंजन है। जिधर झुका, पूरी सामर्थ दिखला दी। पूरा जोर हर बात का अभी है। इसी से लोग लड़कों से कहा करते हैं, अभी तुम क्या जानते हो, क्या समझते हो, क्या कर सकते हो? अभी तो 'नेक अहो मस भींजन देहु, दिना दस के अलबेले लला हौ'। और बुड्ढों से कहने में आता है कि अब चार दिन के लिए व्यर्थ हाय २ करते हो। पानी भरी खाल का क्या भरोसा है। आज मरे कल दूसरा दिन। खाव और पड़े २ राम २ किया करो। अर्थात् बूढ़ों और बालकों को दुनिया से कुछ संबंध नहीं। जगत के जितने सुख दुख, भोग बिलास, ऊच नीच व्यवहार हैं, सब जवानों के लिए हैं। इन्हें कोई नहीं कह सकता कि तुम अभी क्या हो, वा तुम्हें इस जगत के भ्रमजाल से क्या? यदि महा धन्य-जन्मा हुए और सब तज, हरि भजन में लग गए अथवा निरे तुच्छजीवी हो के, किसी काम ही के न हुए तौ तो और बात है (इन दोनों प्रकार के लोग बिरले ही होते हैं) नहीं तो इस अवस्था वालों का क्या कहना है! दुनिया में जितने मजे हैं, जितने रस हैं, जितने स्वादु है, सब इन्हीं को तो हैं। मिलना न मिलना परमेश्वर के हाथ है। पर बुद्धि सदा यही कहा करती है 'सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहां। जिंदगानी भी हुई

तो यह जवानी फिर कहां।' मन देवता बिराट रूप धारण करे रहते हैं। मिले चाहे न पर हौसिला यही रहता है कि कुबेर का खजाना, इंद्रलोक की अप्सरायें, स्वर्ग भरे के भोग, सब अपनी ही मूठी में कर लें। परमेश्वर सहृदयता दे तो मजों की कमती नहीं है। यदि आप सतोगुणी हैं तो भगवान के भजन, सज्जनों के समागम में, सद्ग्रंथों के श्रवण मनन में कैसा आनन्द पावेंगे! यदि रजोगुणी हैं तो अच्छे से अच्छा कपड़ा, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन, उमदा से उमदा घर साजने का असबाब, एक से एक सुन्दर व्यक्ति, रस भरी कविता, राग भरे गान, बागों की सीतल मंद सुगंध पवन, मादक वस्तुओं की तरंग इत्यादि में कैसा कुछ प्रमोद प्राप्त करेंगे। यदि तमोगुणी हैं तो बराबर वालों को हर बात में नीचा दिखा के, हर एक को खरी सुना के, इधर की उधर लगा के और दूसरों में जूता चलवा के, क्या एक तरह के मस्त नहीं हो जाते? जो देश हितैषी हैं तो बड़ी २ सभाओं में बड़े २ व्याख्यान दे के, बड़े २ पत्रों में बड़े २ लेख छपवा के, बड़े २ चन्दे एकत्र करके, गोशाला पाठशाला नाट्यशाला अनाथालय चिकित्सालय देवालय इत्यादि स्थापन करके, अपने चित्त में स्वर्ग सुखानुभव कर सकते हैं। यदि निरे स्वार्थी हुए तो बड़े २ राजपुरुषों की चुटका बजा के, बड़े २ खिताब पा के, इनआम पा के, वा गरीबों की नली काट के, अमीरों की आंखों में धूल झोंक के, दुनिया थूंका करे पर येन केन प्रकारेण अपनी टही जमा के, 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' हो सकते हैं। कहां तक कहिए, धरती पर जितने जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र और शरीर में जितनी उमंगें तरंगें हैं, सभी के संसर्ग में एक प्रकार का मजा है और वह मजा पूर्ण रूप से केवल जवानों को मिल सकता है। यद्यपि किसी बात का व्यसन पड़ जाना बुरा होता है, विशेषतः काम क्रीड़ा, अपव्यय, मादक सेवनादि का व्यसन जीते ही जी एक दिन नर्क भुगवाता है, पर तौ भी इस उमर में जिसने भला या बुरा, कुछ न किया उसने भी कुछ न किया। एक दिन मरना अवश्य है, और लोगों ने कहा है कि जिदंगी चार दिन की है। इसका अर्थ हमारी समझ में यह है कि एक लड़काई के दिन, दूसरे युवा के दिन, तीसरे बुढ़ापे के दिन, चौथा मरने का दिन, इनमें पहिले और तीसरे दिन तो कुछ हई नहीं, दूसरे ही दिन में जो कुछ हो सकता है वह हो सकता है। उसी में कुछ निंदा व स्तुति के काम कर चलना चाहिए। 'चाल वह चल कि पसे मर्ग तुझे याद करें। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे।' धन्य है उन पुरुष रत्नों को, जो देशहित और निज जाति हित में कुछ नाम कर

जाते हैं। धिक्कार है उन नराधमों को, जो स्वार्थ के लिए पराया अनिष्ट उठाते डूब नहीं मरते। महा महा धिक्कार है उन्हें जो केवल भय, निद्रा, मैथुन और आहार ही में पशुओं की भांति, युवावस्था गवां कर, अपने तुच्छ जीवन को समाप्त कर देते हैं। नर जन्म पा के, जवानी के बाग में आ के, जिसने कुछ भी सैर न देखी वह हियोकपार का अंधा नहीं तो क्या है ?

खं० ४, सं० ६ (१५ जनवरी ह० सं० ३)

भारत पर भगवान की अधिक ममता है

यद्यपि उनका नाम जगदीश्वर है, वे अकेले एक देश वा एक जाति के ही ईश्वर नहीं हैं। सकल सृष्टि पर उनकी कृपा दृष्टि आवश्यक है। एक बार वे सभी को पूर्णोन्नति न दें तो पक्षपाती कहावें। इतिहासवेत्ताओं को यह बात प्रत्यक्ष है कि एक दिन भूमंडल भर में आर्यों की जयध्वजा उड़ती थी। एक समय यवनों की फतेह का नक्कारा बजा। आज अंगरेजों की तूती बोलती है। संसार की यही रीति है कि एक की आज उन्नति है, कल अवनति, परसों और की बढ़ती है। इसी से यह सिद्धान्त हो गया है कि ईश्वर सभी की सुध लेता है। पर हमारे प्रेमशास्त्र और प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुकूल इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कोई कैसा ही क्यों न हो, यदि हम उससे सच्ची प्रीति करेंगे तो वुह भी हमारा हो जायगा। इस न्याय से विचार देखिए तो हमारे देश को जितना परमात्मा के साथ सम्बन्ध सदा से है, औरों का कभी न रहा है, न है, न होने की आशा है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः', 'सब तज हरि भज' इत्यादि वाक्यों का तत्व समझना तो दूर रहा, ऐसे महामान्य वचन ही अन्य देशीय धर्म-ग्रन्थ में कठिनता से मिलेंगे। इसी भरोसे पर हम यह दावा कर सकते हैं कि हम ईश्वर से अधिक मेल रखते हैं, और इसी से ईश्वर भी हमसे अधिक ममत्व रखता है। इसका प्रमाण भी हमें लेने नहीं जाना, हम सिद्ध कर देंगे कि जितने काल, जितनी श्रेणी तक सर्वभाव से आर्य देश की उन्नति रह चुकी है, वैसी अभी तक किसी ने सुनी भी न होगी। आजकल अवनति है सही, पर ऐसी अवनति भी नहीं है जैसी इतरों की किसी समय थी। और परमेश्वर ने चाहा, एवं धीरे २ ऐसे ही उद्योग होते रहे जैसे गत बीस पचीस वर्ष से देखने सुनने में आते हैं तो आशा होती है कि इन दिनों की सी दुर्दशा भी हजार दो हजार वर्ष तक न रहेगी! सब से अधिक राम की दया का चिन्ह यह है कि इन गिरे दिनों में, जब कि हमारे गुण भी प्रायः दुर्गुण से होते रहे हैं, अब भी सहनशीलता, सरलता, धर्मदृढ़ता, स्वच्छता, यश-प्रियता, सूक्ष्म विचार आदि कई एक बातें जो विचारशीलों ने माननीय मानी हैं, उनमें हम अनेक देशों से चढ़े बढ़े हैं। अभाव हमारे यहां आज भी किसी बात का नहीं है। जो बात अच्छी तरह समझा दी जाती है उसके मानने वाले

मिली रहते हैं। हां, अपनी ओर से लाभकारक बात सर्वसाधारण को सूझती नहीं है। पर सुझाने के साथ ही उस विषय में हम औरों से बढ़ नहीं जाते तो बराबर तो भी हो जाते हैं। क्या यह लक्षण भले नहीं हैं? इसे जाने दो, यहां की जलवायु और पृथ्वी भी ऐसी है कि सब हालत में गुजारा चल सकता है। हां, संसारचक्र के "पतनांत समुच्छ्रय:" के नियमानुसार यह बात अवश्य होनी है कि रहंट का ऊपरवाला खटोला जब तक नीचे न हो जाय तब तक ऊपर फिर नहीं चढ़ता। इस न्याय से कुछ दिन अधःपतन योग्य था। पर प्यारा लड़का कोई अपराध करै तौ भी दयालु पिता अधिक काल तक उसे कष्ट में न देख सकेगा। वुह दिन अब बहुत दूर नहीं है कि हमारी दुरवस्था पूर्ण रीति से दूर हो जाय। विश्वास के साथ देशहित में लगे रहना हमारा काम है। सब बातें जाती सी रही हैं, तौ भी यदि हम अपना निजता को न जाने दें तो हमारे दिन फिरने में शंका नहीं है। क्योंकि संसार का नियामक जो है उसके साथ हमारा अधिक अपनपौ है। यदि ईश्वर कोई जाग्रत एवं चैतन्य गुण वाले का नाम है तो हमारे पूर्वज रिषियों का नाता सर्वथा भुला दे, यह संभव नहीं। और यह भी असंभव है कि हमारे साढ़े तीन हाथ के पुतले में उनका कुछ भी अंश न हो। हां, हम अपने ही को भूल जायं तो और बात है। नहीं तो यह बात अधिक प्रमाणीभूत है कि हमारी उन्नति औरों की उन्नति से अधिक थी और अधिक काल तक रही है। हमारी अवनति औरों की अवनति से न्यून है और उतने दिन रहना बिचार से दूर है जितने दिन औरों की रही है। क्योंकि इस बात में सन्देह नहीं है कि ईश्वर से हमको और हमसे ईश्वर को औरों से अधिक अपनायत है। यदि यह बात युक्ति और प्रमाणों से न भी सिद्ध हो सके (यह केवल अनुमान कर लो) तौ भी यदि हम आस्तिक हैं तो हमें विश्वास कर्तव्य है कि 'मोपर करहिं सनेह बिसेखी। मैं करि प्रीति परीच्छा देखी।'

खं० ४, सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ४)

खड़ी बोली का पद्य

इस नाम की बाबू अयोध्याप्रसाद जी खत्री मुजफ्फरपुरवासी कृत पुस्तक के दो भाग हमें हमारे सुहृद्वर श्रीधर पाठक द्वारा प्राप्त हुए हैं। लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना योग्य है पर साथ ही असम्भव भी है। सिवाय फारसी छंद और दो तीन चाल की लावनियों के और कोई छंद उसमें बनाना भी ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुन्दरी को कोट बूट पहिनाना। हम आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दु जी से बढ़के हिन्दी भाषा का आग्रही दूसरा न होगा। जब उन्हीं से यह न हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल है। बांस को चूसने से यदि रस का स्वाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था। हां उरदू शब्द अधिक न भर के उरदू के ढंग का सा मजा हम पा सकते हैं और उरदू कविताभिमानियों से हम साहंकार कह सकते हैं कि हमारे यहां का काव्य भी कुछ कम नहीं है। यद्यपि कविता के लिए उरदू बुरी नहीं है, कवित्व रसिकों को वह भी बारललना के हावभाव का मजा दे जाती है, पर कवि होते हैं निरंकुश, उनकी बोली भी स्वच्छंद ही रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है। जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावन्य कवियों की उस स्वतन्त्र भाषा में है जो बृजभाषा, बुंदेलखंडी, वैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चन्द्र से ले के हरिश्चन्द्र तक प्राय: सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं। छोटे मोटे कवि हम भी हैं और नागरी का कुछ दावा भी रखते हैं, पर जो बात हो ही नहीं सकती उसे क्या करें। बहुतेरे यह कहते हैं कि बृजभाषा की कविता हर एक समझ नहीं सकता। पर उन्हें यह समझना चाहिए कि आप की खड़ी बोली ही कौन समझे लेता है। यदि सब को समझाना मात्र प्रयोजन है तो सीधी २ गद्य लिखिए। कविता के कर्त्ता और रसिक होना हर एक का काम नहीं है। उन बिचारों की चलती गाड़ी में पत्थर अटकाना, जो कविता जानते हैं, कभी अच्छा न कहेंगे। बृजभाषा भी नागरी देवी की सगी बहिन है, उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छुरी फेरना है। हमारा गौरव जितना इसमें है कि गद्य की भाषा और रक्खें, पद्य की और,

उतना एक को बिल्कुल त्याग देने में कदापि नहीं। कोई किसी की इच्छा को रोक नहीं सकता। इस न्याय से जो कबिता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कबि लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर हुकुम चलाके उसकी स्वतन्त्र मनोहरता को नाश नहीं करने के। जो कबिता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कबियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।

खं० ४, सं० ७ और ८ (१५ फरवरी और मार्च, ह० सं० ४)

परीक्षा

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी को पड़े! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी जिसको आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं। उसमें एक यह भी भाव है कि 'हमें परीक्षा में न डाल बरंच बुराई से बचा'। परमेश्वर करे सब की मुंदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहिले कांप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु सब छितर बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तौ तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है! हमारे पाठकों में कदाचित कोई ऐसा न होगा जिसने बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो। महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते जागते, उठते, बैठते हर घड़ी एक चिन्ता चित्त पर न चढ़ी रहती थी? पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तौ भी दिन रात देवी देवता मनाते बीतता था। देखिए, क्या हो, परमेश्वर कुशल करे! सच है यह अवसर ही ऐसा है। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग में नहीं है! जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, बड़ा धनी, बड़ा बली, महा देश हितैषी, महा सत्यसंध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनको ठीक २ परीक्षा करने लगें तो कदाचित् फी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें। वेश्याओं के यहां यदि दो चार मास आप की बैठक रही हो तो देखा होगा, कैसे २ प्रतिष्ठित, कैसे २ सभ्य, कैसे २ धर्मध्वजी, वहां जा कर क्या २ लीला करते हैं! यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी देख पड़ती है वह गुप्तरूपेण कै जनों में कहां तक है! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है, उनके अंतःकरण की गति पर हमें दया आती है! हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वांतरयामी से छिपा नहीं है! हम पापात्मा, पापसंभव, भला उसके आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे! संसार में संसारी जीव निस्संदेह एक दूसरे की परीक्षा न

करें तो काम न चले पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय संभव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है और यह बात यदि निस्संदेह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा सौ बार कर लीजिए, उसकी ओर से संदेह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं। थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है। थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडंबर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचंभा है! सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है। अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग्य! हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, सैकड़ों हानियां सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गए, उनके दोष अपने ऊपर ले लिए और वे भी सदा हमारी बात २ पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहां तेरा पसीना गिरेगा वहां हमारा मृत शरीर पहिले गिर लेगा, पर जब समय आया कि गैरों के सामने हमारी इज्जत न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने कर्री उंगली पर न मूता! यदि कोई कहे कि तुम कौन बड़े बुद्धिमान हो जो तुम्हारे तजरिबे (अनुभव) पर हम निश्चय कर लें, तो हम मान लेंगे, पर यह कहने का हमें ठौर बना है कि मुद्दत तक राजा शिवप्रसाद जी को सहस्रों ने क्या समझा, और अन्त में क्या निकले। सैयद अहमद साहब का पहिले बहुतेरों ने निश्चय किया कि देश मात्र के हितैषी हैं, पीछे से यह खुला कि केवल निज सहधर्मियों के शुभचिंतक हैं। यह भी अच्छा था, पर नेशनल कांग्रेस में यह सिद्ध हो गया कि 'योसिसोसि तव चरण नमामी'। 'हिंदी प्रदीप' से ज्ञात हुआ कि दिहाती भाई भी सैयद बाबा पर मधुर बाणी की शीरीनी चढ़ाते हैं! हम भी मानते हैं कि कांग्रेस अभी तीन बरस की बच्ची है, उस पर रक्षा का हाथ रखना ही उन्हें योग्य है। क्योंकि यह हिंदू मुसलमान दोनों की हितैषिणी है। ऐसे २ बहुत से दृष्टांत, अनुमान है कि, सभी को मिला करते होंगे, जिनसे सिद्ध है कि परीक्षा का नाम बुरा! राम न करे कि इसकी प्रचंड आंच से किसी की कलई खुले! एक आर्य्य कवि का अनुभूत वाक्य है—'परत साबिका साबुनहिं, देत खीस सी काढ़ि।' एक उरदू कवि का यह वचन कितना हृदयग्राही है कि—'इस शर्त पर जो लीजे तो हाजिर है दिल अभी। रंजिश न हो, फरेब न हो, इम्तिहां

न हो।' कहां तक कहें, परीक्षा सबको खलती है! क्या ही अच्छा होता जो सब से सब बातों में सच्चे होते और जगत में परीक्षा का काम न पड़ा करता। वुह बड़भागी धन्य है जो अपना भरमाला लिए हुए जीवन यात्रा को समाप्त कर दे!

खं० ६, सं० ८ (१५ मार्च ह० सं० ४)

बलि पर विश्वास

इस बात का विश्वास मसीही धर्म का मूल है कि ईसा हमारे पापों के लिए बलि हो गए हैं। अर्थात् हमें पाप जनित दुःख से छुड़ाने के निमित्त अपने प्राण दे दिए हैं। सच्चे ईसाई इस कारण से उनकी कृतज्ञता प्रकाशनार्थ अपना तन, मन, धन, जाति, कुटुम्ब, बरंच प्राण तक निछावर कर देने में ईश्वर को प्रसन्न करना मानते हैं और अपने अज्ञात दशा में किए हुए पापों के फल भोग से निश्चित रहते हैं। यदि विचार के देखो तो प्रत्येक स्थान पर कोई २ ईश्वर को प्यारे होते हैं जो लोकोपकारार्थ बलि हो जाते हैं, और कृतज्ञ समुदाय को योग्य है कि ऐसे उपकारियों का गुण मान के उनके लिए एवं उनके नाम पर जहां तक हो कुछ प्रत्युपकार करें। यदि प्रणपूर्वक उनकी किसी बात का कुछ लोग अनुसरण करें तो संसार का महोपकार संभव है। खीष्टीय धर्म प्रचार के आरंभ में बहुत से लोग महा २ विपत्ति झेल चुके हैं, यहां तक कि जीते जला दिए गए हैं पर यह कहने से नहीं रुके कि ईसा ने हमारे लिए प्राण दिए हैं, हम उसका उपकार क्यों न मानें। उन्हीं की दृढ़ता का फल है जो पृथ्वी के प्रत्येक भाग में ईसा का मत गौरव के साथ फैल रहा है। बड़े २ बादशाह, बड़े २ विद्वान, बपतिसमा लिए बैठे हैं। बरंच हम यह भी कह सकते हैं, उन्हीं के धर्मदाढ्र्य का फल है (प्रत्यक्ष हो या परंपरा द्वारा) कि कई असभ्य देश सभ्य हो गए। हमारा तात्पर्य इस कई जित समाज जेता हो गए—लेख से वह नहीं है कि हमारे प्रिय पाठक भी सत्य सनातन धर्म छोड़ निज कुल से मुंह मोड़, पादरियों के पछलगुआ बन बैठें। पर अच्छी बातें जिसके यहां से मिलें, लेना श्रेयस्कर है। क्या हमारे धर्म में उपकारी का कृतज्ञता बर्जित है? जब कि कुत्ता भी अपने टुकड़ा देने और चुमकारने वाले के साथ प्रीति निभाता है तौ मनुष्य क्या उससे भी गए बीते हैं कि अपने हितैषियों के अनुग्रहीत न हों? जिनको हम विधर्मी और निंद्य कहते हैं, उनमें इतनी कृतज्ञता है तो क्या हमको कृतघ्न होना चाहिए? अन्य सम्प्रदायी जिन बातों को करते हों उनके ठीक विरुद्ध चलना हमारे यहां कहीं नहीं लिखा। फिर हम इतरों की भली बातों को क्यों छोड़ दें? यदि विचार के देखिए तो मसीह कोई धनी और विद्वान् न थे कि कोई बड़ा उपकार कर सकते। उपदेश भी

केवल अपने शिष्यों ही को देते थे। जिन विचारों ने ईसा के नाम पर अनेक दुःख सहे उनका कभी ईसा ने नाम भी नहीं लिया। हमारे यहां तो पुरुष रत्नों ने अपना तन, मन, धन, विद्या, प्रतिष्ठा, सब कुछ केवल हमारी उन्नत्यर्थ लगा दिया, और हमारे लिए हाय २ करते २ दुष्ट काल का कौर हो गए! पर हम उनका मानों भूल गए! दयानन्द स्वामी घर की तहसीलदारी छोड़ के फकीर भए थे, विद्या भी साधारण न थी, रूप भी दर्शनीय था, बुद्धि में भी चमत्कार था। क्या वुह चाहते तो दस बीस राजाओं को भी न मूड़ते, दो चार गांव भी अपनी मुट्ठी में न कर लेते, दो चार वारांगना भी नित्य सेवा में न रखते अथवा विशुद्ध विराग धारण करके देवता न बन जाते। केशव बाबू क्या कहीं के जज वा बड़े बारिस्टर बन के लाखों का द्रव्य और लाखों सुख न भोग डालते? हमारे भारतेन्दु क्या दस पांच कोठियों के स्वामी न बन सकते थे? सर्कार के यहां से श्री ईसाई (सी० एस० आई०) अथवा अनार्यरी मजिस्ट्रेट न हो सकते? पर उन्हें तो यह धुन थी कि आर्य वंश हमारे होते डूबने न पावे। इसी लिए अपना बहुत सा धन, बहुत सा समय, बहुत सा सुख त्याग दिया, बहुतेरों की गालियां सहीं और हमारी ही चिन्ता की चिता पर सो गए! क्या न्याय यह नहीं कहता कि यह लोग हिन्दुओं के लिए, शिर मुंडा के, घर फूंक तमाशा देख के, बलि हो गए? बहुतेरों का स्वभाव होता है कि कैसी ही बात कहो, कोई पख जुरूर निकालते हैं। ऐसे जन कहते हैं कि उक्त स्वामी जी एवं बाबू जी अपना नाम चाहते थे। इसका सहज सा उत्तर यों है कि नाम तो विषयासक्ति और अपव्यय से भी लोग पा सकते हैं। देश की फिकर क्यों करते? यदि मान ही लो कि नाम ही चाहते थे, तो विचारों ने खोया अपना सर्व्वस्व, सो भी परार्थ, और चाहा केवल नाम। आप को इसमें भी ईर्षा है तो नाम भी न लीजिए। गालियां दिया कीजिए। पर विचारशीलता यदि कोई वस्तु है तो वुह अंतःकरण से यही कहेगी कि—'पर हित लागि तजै जो देही। सन्तत सन्त प्रशंसहिं तेही।' यदि कृतज्ञता कोई पदार्थ है तो वुह अवश्य कहेगी कि ऐसों का गुण मानना, ऐसों की प्रतिष्ठा तन-मन-धन से करना धर्म है और अपने तथा देश के लिए श्रेयस्कर है। भारत सन्तान मात्र इनके ऋणी हैं। इनके नाम पर अपना जो कुछ वार दे वुह थोड़ा है। कृतघ्नता के पाप से तभी हम मुक्त होंगे जब इनकी महिमा दृढ़ रखने का प्रयत्न करें। नहीं शास्त्र के अनुसार जिसका धन लिया है उससे बिना दिए

उद्धार नहीं होता। जिसका सब जीवन ही हमारे हेत लग गया है उससे कैसे उऋन होंगे, जब तक जन्म भर उसके लिए अपना सर्व्वस्व न लगाते रहें। ऐसा करने से ही भारत का गौरव है। नहीं तो स्मरण रहे कि पृथिवी है भगवती क रूप और भगवती बलि प्रदान से संतुष्ट होती है। हमारे ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि बिचारे अनबोल बकरे की हत्या करने से भगवती प्रसन्न होती हैं। यों होता तो उनका नाम जगदम्बा न होता बरंच जगद्भक्षिणी होता। सच यों है कि ईश्वर की तीन महाशक्ति हैं—श्रीशक्ति, भूशक्ति, लीला शक्ति। उन तीनों के दो २ रूप हैं—दैवी और आसुरी, तिस्में भूशक्ति के आसुरी सम्प्रदाय वाले कुछ लोग तो पराए मांस से तुष्ट होते हैं पर श्रीशक्ति का दैवी अंश उन दुश्चरित्रों तथा तद्गुण विशिष्ट जीवों के रक्त-प्लावन से संतुष्ट होती है जो संसार के लिए अनिष्टकारक हों अथवा सत्पुरुषों के उस रक्त मास से संतुष्ट होती है जो जगद्धितैषिता की चिन्ताग्नि में धीरे २ वा कभी २ एकबारगी स्वाहा होता है! सो भगवती भारत-धरित्री ने हाल में उपर्युक्त तीन बलि ली हैं। निश्चय है कि यह विशुद्ध रक्त उनको साधारणतया न पच जायगा। अवश्यमेव कुछ अच्छा रंग दिखावेगा। पर भारत संतान को भी योग्य है कि इस बलि पर विश्वास लावें कि इन पुरुषरत्नों ने हमारे लिए प्रान दिए हैं, हम भी यदि कृतघ्नता के पाप से बचा चाहें और अपना एवं अपने वंश का भला चाहें तो अंतःकरण से इनके महानुपकार के कृतज्ञ होके यथासामर्थ्य इनका अनुकरण करें, जिसमें इनके नाम की महिमा हो और कुछ लोग और भी आत्मबलि के लिए प्रस्तुत हों।

ख० ४, सं० ८ और ९ (१५ मार्च और अप्रैल ह० सं० ४)

मरे का मारैं साह मदार

चार वर्ष से हम देख रहे हैं कि देशी समाचारपत्रों में, विशेषतः हिंदी के पत्रों में, जो कुछ धन लाभ होता है, बिचारे सम्पादकों का जी ही जानता है ! दुःख रोना नीति ग्रंथों में वर्जित है, पर हम सम्पादक हैं, जब दूसरों के दुःख सुख, गुण औगुन छाप डालते हैं तो अपने क्यों न कहें ? जो सम्पादक अखबार की आड़ में भिक्षा-भवन करते नहीं शरमाते, धनिक मात्र की झूटी प्रशंसा से पत्र भर के सहायता के नाम से मांग जांच कर अपना घृणित जीवन भी निभाते हैं उनकी तो हम कहते नहीं, पर जिन्हें अपनी लेखनी के बल का घमंड है, और यह सिद्धान्त है कि "को देहीति वदत्स्वदग्ध जठरस्यार्थे मनस्वी पुमान" उनको राम ही से काम पड़ता है। 'रसिक पंच' 'भारतेन्दु' 'उचित वक्ता' इत्यादि उत्तमोत्तम पत्र इसी घाटे की छूत के मारे थोड़े ही दिन चल के बंद हो गए। हमारे 'ब्राह्मण' का यह हाल है कि हृदय का रक्त सुखा २ के अब तक चलाए जाते हैं। वर्ष भर में डेढ़ सौ रुपया छपवाई और डाक महसूल को चाहिए और आमदनी इस वर्ष आठ मास में केवल २०) रू०की हुई है। चार वर्ष में दो सौ का कर्जा हुवा है। उसे कुछ भुगता चुके हैं, १५०) भुगताना बाकी है। महीनों से तगादा करते हैं, ग्राहक सुनते ही नहीं। बाजे २ महापुरुषों ने चार बरस में कौड़ी नहीं दी, बाजे २ दस-दस पंद्रह-पंद्रह रुपए यों लिए बैठे हैं। महीना दो महीना और देखते हैं, नहीं तो सबकी नामावली छापनी पड़ेगी। कहां तक मुलाहिजे के पीछे भार सहें। प्रेस वाले जानते हैं संपादक जमामार है। संपादक बिचारा नादिहंदों की हत्या अपने सिर मुड़ियाए है ! छापने वालों का तगादा सुनके लज्जा, क्रोध और चिंता खाए लेती है। अपनी गृहस्थी के खर्च में हर्ज सह २ के कुछ देते जाते हैं और झूठे वादे तथा मन को मार के खुशामद से टाले जाते हैं। भविष्यत का ज्ञान परमेश्वर को है, क्या जाने उसकी इस लीला में कौन गुप्त भेद है। पर हमारा विचार यह है कि जैसे-तैसे यह वर्ष पूरा हो तो ब्राह्मण को ब्रह्मलोक भेजें और यथासाध्य नादिहंदों से रुपया वसूल करें, फिर वर्ष छः महीने में ऋणहत्या छुड़ावें। खुशामद होती नहीं, मांगना आता नहीं, फिर यह आशा कैसे करें कि कोई हमारा बोझ हलका करेगा। हंसी खुशी हमारा मूल्य ही दे दें तो उन्होंने

मानों सब कुछ दे दिया ! यह संपादकों की महा कथा का एक अध्याय संक्षेप से इसलिए सुनाया है कि हम लोगों की दशा सबको बिदित हो जाय। हम गंगा में पैठ के कह सकते हैं कि यह झूठ नहीं है। जब कि हमारे छोटे से पत्र की केवल चार वर्ष में यह गति है तो हमारे मान्यवर 'हिन्दी-प्रदीप' का हाल, हम समझते हैं, हमसे भी बुरा होगा ! 'ब्राह्मण' से दूना उसका आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके सम्पादक श्री बालकृष्ण भट्ट हैं, वुह हम से भी गई बीती दशा में ठहरे। कुटुम्ब बड़ा, खर्च बड़ा, सहायक सगा बाप भी नहीं। स्पष्टवक्तापन के मारे जवानी दोस्त भी कोई नहीं। ऐसी हालत में सरकार ने १०) रु॰ टैक्स के लै लिए। हम क्यों न कहैं—'मरे को मारैं शाह मदार !' वुह बिचारे कौन धंधा करते हैं, जो उन पर टिक्कस ! दस रुपए में क्या सर्कार का खजाना भर गया ! कर्मचारियों की कौन बड़ी नेकनामी हो गई। कौन तनख्वाह बढ़ गई ! कौन पदवी (खिताब) मिल गई ! हाय क्या जमाना है कि राजा प्रजा कोई गरीबों की हाय से नहीं डरता ! चार बरस हुए कुछ बदमाशों ने हमारे भट्ट महोदय पर अपनी बदमाशी दरसाई थी तब सहायता किसी ने न की। आज रुपया चूमने को सब तैयार हो गए। इंसाफ यदि कोई वस्तु है तो हम लोगों का रजिस्टर देख लिया जाय। पर कौन सुनता है ! हमारी समझ में यह किसी धूर्त कर्मचारी ने किसी गुप्त बैर का बदला लिया है।

खं० ४, सं० ६ (१५ अप्रैल, ह० सं० ४)

ककाराष्टक

ज्योतिष जानने वाले जानते हैं कि होड़ाचक्र के अनुसार एक अक्षर पर जितने नाम होंगे उनका जन्म एक नक्षत्र के एक ही चरण का होगा और लक्षण भी एक ही सा होगा। व्यवहार संबंधी विचार में ऐसे नामों के लिए ज्योतिषियों को बहुत नहीं विचारना पड़ता। बिना विचारे कह सकते हैं कि एक राशि, एक नक्षत्र, एक चरण के लोग मिल के जो काम करेंगे वुह सिद्ध होगा। लोक में भी नामराशी का अधिक संबंध प्रसिद्ध है। इसी बिचार पर सतयुग में सत्य, सज्जनता, सद्धर्मादि का बड़ा गौरव था। हमारे पाठक जानते होंगे श्री महाराजाधिराज कलियुग जी देव (फारसी में) भी तो बड़े छंटे, बड़े नीतिनिपुण हैं। वे काहे को चूकते हैं। जब द्वापर के अंत में इस देश की ओर आने लगे तो अपना नामराशी नगर समझ के इस कानपुर को अपनी राजधानी बनाया और बहुत से ककार ही नाम वाले मुसाहब बनाए, जिनमें से छः सभासद हम पर बड़ी कृपा करते हैं। अतः हम ने सोचा कि अपने रत्न दयालु जजमानों की स्तुति न करना कृतघ्नता है। छः मुसाहब, एक महाराज, एक उनकी राजधानी की स्तुति में अष्टक बना डालें तो संसारी जीव धर्म कर्मादि से शीघ्र मुक्ति पा सकेंगे। हमारे छः देवता या कलिराज के मुख्य सहायक यह हैं—एक कनौजिया, यद्यपि कान्य-कुब्ज मंडली इत्यादि की कार्रवाइयां उन्होंने महाराज की मरजी के खिलाफ की हैं। पर महाराज तो बड़े गंभीर हैं। वे बहुत कम नाराज हुए हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी पैदाइश विराट भगवान के मुख से है, और मुख ऐसा स्थान है जहां थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा वुह कहां तक थुकैलपना न करेगा। दूसरे कायस्थ हैं। इन पर भी कायस्थ सभा, कायस्थ पाठ-शाला का इलजाम लग सकता है। और बाजे लोग वैष्णव हो जाते हैं इस से कलियुग जी नाखुश हो जायं तो अजब नहीं। पर चूंकि कलिराज की माशूका बी उरदू जान की सिफारिश है, इससे कोई डर नहीं रहा। तीसरे मुसाहिब कलवार हैं। इनमें बेशक वही लोग हजूर के कृपापात्र हैं जो कलवरिया के कार्याध्यक्ष हैं। चौथे कहार, पांचवें कसाई, छठे कसबी। यह बेशक बे ऐब हैं। इन छहों मुसाहिबों में इतना मेल है, एक दूसरे के मानों अंग

प्रत्यंग हैं। एक के विना दूसरा निर्बल है, और उन्हीं के एका का फल है कि कलिदेव राज करते हैं। यह परिचयस्तोत्र पाठकों की श्रद्धा बढ़ाने मात्र को दिया है! स्तोत्र फिर।*

खंड ४, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ४)

* स्तोत्र इस ग्रन्थावली के काव्य-खंड मे देखें।

आलमे तसवीर (१)

इस नाम का एक साप्ताहिक पत्र उरदू भाषा में यहां से निकलता है। इसके एडिटर साहब को बिचारी गौओं से और गोरक्षिणी सभा से न जाने कहां का बैर है कि जब कभी इसका आंदोलन कानपुर में होता है तभी आप बिन बात का बतंगड़ बढ़ा के, सीधे सादे हिंदुओं का जी दुखा देते हैं। हम अरबी के विद्वान नहीं हैं कि कुरआन हदीस के वचनों का अखंडनीय अर्थ जान सकें, पर जहा तक नागरी, बंगला, फारसी के ग्रंथों में देखा और सज्जन मौलवियों से सुना है वहा तक कह सकते हैं कि महात्मा मुहम्मद ने कहीं यह आज्ञा न दी होगी कि बिना मतलब झूठ-मूठ छेड़खानी करके अन्य धर्मियों को कुढ़ाओ और खामखाह दो समाजों का चित्त फाड़ो। इसके सिवा यह भी सब जानते हैं कि हिंदू धर्म में गाय की रक्षा परम धर्म है और मुहम्मदीय धर्म में यह बात कहीं नहीं लिखी कि गाय के प्राण लिए बिना धर्म रही नहीं सकता। फिर गोरक्षा का विरोधी बनना, हिंदुओं को निष्प्रयोजन आत्मपीड़ा देना और हिंदू मुसलमानों में फूट फैलाने के सिवा और क्या फल देगा। जब गोरक्षा का कोई बंदोबस्त होता है तब आलमे तसवीर में उसके खिलाफ जरूर लिखा जाता है और बहुत से हिंदू भाई हमारे पास आ के करुणा के साथ कहते हैं कि जवाब लिखो। पर हमने कई बार देखा है कि यहां के लोगों की दया और धर्म केवल दो एक दिन के लिए होता है। पीछे से अपने कामों में थोड़ा सा भी हर्ज करके कोई काम करना नागवार हो जाता है। और यह तो कभी न देखा न सुना कि किसी पर, परमेश्वर न करे, कोई आफत आवे और कोई उसका शरीक हो। यही समझ के हम सदा अपने फरियादी भाइयों से कह देते रहे हैं, नाहक तकरार लेने से क्या होगा, तुम गोशाला और गोरक्षिणी सभा कायम कर दो, सब बातों का जवाब यही है। और सच भी यही है। निर्बल निस्सहाय ब्राह्मण को तकरार लेना नहीं सोहता। इस बार छः अप्रैल के आलमे तसवीर को भी हम जवाब नहीं देते, केवल एक नगर में रहने के कारण, साधारणतः समझाए देते हैं कि ऐसे लेखों से कोई लाभ नहीं है। गौएं बचेंगी तो मुसलमानों को कड़वा दूध न देंगी। कई शहरों में बहुत से प्रतिष्ठित और विद्वान मुसलमान गोरक्षा में शरीक हैं। उनको कोई पाप नहीं लग गया बरंच अपने हमवतनों (स्वदे-

शियों) की सहायता का पुन्य ही होता है। सरकार भी गोवध गुप्त रीति से करती है। और आज तक कभी गोरक्षा पर कहीं अच्छे लोग नहीं लड़े। फिर कभी शरीफ मुसलमान गो मांस लोलुप नहीं होते। फिर आप ही व्यर्थ बाद क्यों करते हैं ? आप फरमाते हैं "इस हफ्ते में चंद हिंदू गोरक्षिणी सभा पर बाजार बाजार लेक्चर देते फिरते हैं। पुरजोश अलफाज से हिंदुओं की मुतवज्जेह करते हैं कि तुम गाय के जबीहे में हाजिर हो।" जब कि गोरक्षा का उपदेश देना और उसका यत्न करना हिंदुओं के धर्म का मूल है, और सरकार की मनशा है कि सब लोग अपने धर्म की रीति निर्द्वंद्वता से करें एवं इसमें किसी अन्य धर्म की निंदा व हानि नहीं होती तो बाजार २ लेक्चर देने में कौन पाप है। रहा पुरजोश अल्फाज, सो जहां तक देखा गया है किसी को लेक्चर देने की तमीज तो हुई नहीं, जोश इनके ल्येक्चरों से किसी को क्या होगा। बिचारे हिंदी उरदू के लेखों से देख-दाख के कुछ कह सुन लेते हैं। जिसे कुछ दया धर्म का ख्याल है वुह यथासामर्थ्य कुछ चंदा दे देता है। और यदि अच्छा लेक्चर हो, उसके कथन से लोगों को पूरी उमंग हो जाय, तो अपनी सामर्थ्य से बाहर ब्याह-बरात की तरह कुछ लोग बहुत सा रु० दे गुजरें इसके सिवा गोरक्षा के जोश का फल ही क्या हो सकता है। सो भी आज तक देखा सुना नहीं जाता फिर ताने के साथ 'पुरजोश अल्फाज' का हम नहीं समझते क्या अर्थ है ? "जा बजा से कुरआन की आयतें गलत तौर पर पढ़ कर उसके मानी झूठी ताबीलों से गढ़ के मुसलमानों को हिदायत करते हैं कि तुम्हारे मजहब में गाय का खाना दुरुस्त नहीं।" यह तो सच है कि बिना अरबी पढ़े कुरआन की आयतें क्या साधारण शब्द भी अरबी का शुद्ध नहीं उच्चरित होता, और हिंदुस्तान भर में शायद दो एक अरबी जानने वाले हिंदू और संस्कृत जानने वाले मुसलमान निकलें। इस हालत में गलती होना असंभव नहीं। पर मानी (अर्थ) का गढ़ना बिना पढ़ी भाषा में असंभव है। जैसा अरबी पढ़े हुओं से सुना वैसा कह देने या लिख देने में हिंदुओं का क्या दोष है ? कई एक प्रसिद्ध मौलबियों से सुना गया है और शरीफ मुसलमानों को गो मांस से पक्का परहेज देखा गया है। इससे स्वयं सिद्ध है कि गाय खाना मुसलमानों को परमावश्यक नहीं है। "इस हफ्ते में कई एक नाटक भी इसी गाय के मुतअल्लिक खेले गए" यह सरासर झूठ है। दास अपने शहर की खबर, और एडिटर हो के, झूठी छापे ! यह बात का बतंगड़ नहीं तो क्या है ? नाटक कहीं कोठरी में नहीं होते, सैकड़ों लोगों के सामने सरकारी नाट्यालय में होते हैं। इस हफ्ते में क्या इस मास में केवल एक

नाटक गोरक्षा विषयक एम० ए० क्लब ने खेला है। '३१ मार्च को एक बछड़ा खड़ा करके चंद मुसलमान लड़कों से, जिनको पेश्तर से तालीम कर रक्खा था, गाय की अस्तुत गवाई' यह वाक्य भी निरे झूठ है। पंच क्लब (जिसमें केवल दो ब्राह्मण शेष सब मुसलमान हैं) ने गऊ की विनती गाई थी। इसमें उक्त क्लब की उदार चरित्रता और हिंदू-मुसलमानों में प्रीति दृढ़ होने की इच्छा प्रत्यक्ष दृष्टि पड़ रही थी। देखने वाले गाय के दुःख सुन के दुखी ही न हुए थे वरंच पंच क्लब की मुहब्बत से भर गए थे। यहां तक कि M. A. क्लब की तरफ से श्री बाबा हरनाम सिंह ने और श्री भारत मनोरंजनी सभा की ओर से प्रताप मिश्र ने तथा दर्शकों में से एक साहब ने बड़े स्नेह से धन्यवाद दिया था और हकीकत में उन्होंने तारीफ का काम किया था। आलमें तसवीर का भ्रम है कि पंच क्लब के मेंबरों को लड़का बनाता है। दस बारह बरस वाले लड़के कहाते हैं। वैसा उनमें शायद एक भी नहीं है। होता तो स्त्री भेष में अवश्य दिखाई देता। इसके विरुद्ध दो तीन मित्र पढ़े लिखे उरदू के कवि हैं और उमर में एडिटर से बड़े न होंगे तो छोटे भी नहीं हैं। उन्हें लड़का कहने के न जाने क्या माने हैं। उन्हें तालीम करके कौन गवा सकता था। किसी दूसरे क्लब का मेंबर उन्हें तालीम दे के अपना हंसी कराने से रहा। रुजगारी गवैया नचैयों से वे सीखने से रहे। चलो छुट्टी हुई। नाच गा के हिंदुओं को खुश करके इनाम लेना इनका पेशा कदापि नहीं है। फिर कौन बुद्धिमान उनके गा विषयक गीत सर्व साधारण के आगे गाने को केवल सहृदयता और ऐक्यप्रियता (सुलह पसंदी) न कहेगा। "ऐसे हालात से मुसलमानों में किसी कदर तशवीस फैलती जाती है।" परमेश्वर की दया से कानपूर में न हिंदू झगड़ालू हैं न मुसलमान। विचारशील हिंदू मुसलमान इस बात से अवश्य प्रसन्न होंगे कि अब कुछ भी दिन आ चले कि मुसलमानों का एक समाज हिंदुओं के प्रसन्न करने को अपना धन और समय लगा देता है तथा हिंदुओं का एक समाज गदगद स्वर से मुसलमानों को धन्यवाद आशिरवाद देता है। सज्जन लोग तो मनावेंगे कि नित्य ऐसा हो। धन्य भाग्य उस स्थान के जहां अनेक धर्म के लोग एक मत के हों। हिंदू मुसलमान तो क्या सज्जन नास्तिक भी इसमें आनंद होंगे। पर जिन दुष्टों का धर्म-कर्म केवल दो समूहों में बैर बढ़ाना अथवा अपनी जथा के सिवा दूसरे को न देख सकना मात्र है उनकी हम नहीं कहते। "देखिए नतीजा क्या गुदर्ना है।" होनहार का भेद परमेश्वर जाने पर अहंकारी से हम कह सकते हैं कि यदि ऐसा ही शीघ्र २ होता रहा तो गोरक्षा पर लोगों

की रुचि बढ़ेगी, हिंदू मुसलमानों में प्रेम दृढ़ होगा, नगर को सुख सुयश प्राप्त होगा, सरकार की नीति और प्रजावत्सलता प्रत्यक्ष होगी। यदि कुछ न होगा तो विदेशी कानपुर पर ताली बजा के टांय २ फिस के गीत गावेंगे। जो अदूरदर्शी प्रजागण को लड़ाई के लिए उभाड़ेंगे वे लोक परलोक के राजा के संमुख अपने किए का फल पावेंगे। इतनी बातों में एक ही बात "शुदनी" है। अंत में हम अपने सहयोगी को सम्मति देते हैं कि अखबारों का धर्म मेल बढ़ाना और सद्गुण फैलाना है। इससे हमारे इस बचन पर ध्यान दें कि "हिंदू मुसलमान दोनों भारतमाता के हाथ हैं। न इनका उनके बिना निर्बाह है न उनका इनके बिना। अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों। इसमें दोनों का कल्याण है। कोई दहिने हाथ से बायां हाथ अथवा बाएं से दहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता।

खं० ४, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ४)

आलमे तसवीर (२)

यह हज़रत गोरक्षा ही के द्वेषी नहीं हैं, हमारे कांग्रेस के भी द्वेषी हैं। गत मास में हम दिखा चुके हैं कि गोरक्षा विषयक साधारण व्याख्यान पर आपने कितनी झूठ के साथ कैसा २ अमूलक झगड़ा रोपा था। आज उससे बढ़ के कांग्रेस विषयक प्रपंच लीजिए। २७ अप्रैल के पत्र में मेरठ का हाल लिखते हैं, जिसका भावार्थ यह है कि 'बाबू रघुबरसरन वकील ने कांग्रेस के लाभ वर्णन करके सैयद मीर मुहम्मद को कांग्रेस का हमदर्द बताया पर सैयद ने कांग्रेस के विरुद्ध कहा। खैर यह तो बाबू रघुबरदयाल साहब की कोई बड़ी भूल भी न थी, वे सैयदजी के अंतरयामी न थे। इसके आगे लिखते हैं 'करीब था कि फौजदारी की नौबत पहुंच जाय' पर साफ २ लिखना चाहिए था कि किसकी तरफ से फौजदारी की नौबत पहुंचने के आसार थे। कांग्रेस के अनुकूल लोग तो केवल सब में मेल बढ़ाना चाहते हैं। हां, बहुधा विरोधी लोग झूठ और प्रपंच से काम ले रहे हैं जिसके उदाहरण अभी लिखे जाते हैं, जैसा लिखते हैं 'अब की साल रंग अच्छा नहीं है। हामियाने कांग्रेस कुछ जियादा बौखलाहट से काम ले रहे हैं'। यदि सैयद अहमद और उनके संप्रदायियों की खुदगरज, खुशामदी······बातों को बिना समझे वा समझ बूझ के अपने विचार शक्ति का खून करके उनका पछलगा न बन जाना ही बौखलाहट है तो और बात है, नहीं तो आ० त० को हमारी बौखलाहट का कोई उदाहरण देना था। और सुनिए 'जैसे १८५७ का गदर मेरठ से शुरू हुआ था वैसे कांग्रेस की भी शकररंजी (झमेल) वहीं से शुरू हुई।" तीन बरस से कांग्रेस होती है, कभी शकररंजी न हुई केवल अब की बेर सर सैयद अहमद सा० के बहकाने से कुछ नासमझ लोग कांग्रेस के सहायकों से वैमनस्य मानते हैं। पर उस एकतरफी वैमनस्य को सन् ५७ के गदर से उपमा देना निरी बौखलाहट है। हम हिन्दू मुसलमानों के सामने सैयद साहब के अनुगामी बहुत ही थोड़े हैं। तिसपर भी जिन्हें कांग्रेस से कुछ सम्बन्ध है वे नेचरियों की गालियां तक सुन के चुप रहने और मधुर उत्तर देने का इरादा किए हैं, फिर ५७ को याद करना हम नहीं जानते क्या गुप्त अर्थ रखता है ? यह तो एडिटोरियल नोट का हाल हुआ, अब २१ एप्रिल को श्रीयुत पंडितबर अयोध्यानाथ वकील महोदय ने नाच घर में

कांग्रेस सम्बन्धी लेक्चर दिया था, उसपर मियां आलम तसवीर फरमाते हैं, 'मुसलमान शायद दश से कुछ ही जियादा थे'। शायद अपनी या अपने आगे पीछे की कुरसी की गिनती की है, नहीं मुसलमान बेशक सौ के लगभग थे, पर कांग्रेस के विरोधी दस भी न थे। जाहिरा केवल तीन थे, शायद दो एक गुप्त भी हों। आगे चलिए। 'अनुमान दो सौ आदमी जमा थे'। वाह! ऐनक लगाने पर भी यह हाल! इसके आगे श्री पंडित जी के परमोत्तम हृदयग्राही लेक्चर पर खूब उखाड़ पछाड़ की है जिसका उत्तर देना निरा समय खोना है। बुद्धिमान इतने ही से विचार सकते हैं कि कांग्रेस के विरोधी सत्य को कहां तक आदर देते हैं। उन्हीं के एक पत्र प्रेरक, जो लखनऊ के हैं, इस पर तो बिगड़ते हैं कि उक्त पंडित जी ने २० ता० को लेक्चर दिया, उसमें कुरआन की आयतें पढ़ीं। पर इसका बयान उड़ाए जाते हैं कि एक मुसलमान ने भरी भीड़ में बुरी तरह पर गायत्री पढ़ी। यदि नियत देखी जाय तो पं० जी ने केवल एकता की पुष्टि के लिए कुरान शरीफ का प्रमाण दिया था। इसमें यदि श्री मुहम्मदीय धर्म की अप्रतिष्ठा होती तो शेष रजाहुसेन खां साहब (जो उस दिन सभापति थे) और 'अवध पंच' के एडिटर मुंशी सज्जाद हुसेन सा० इत्यादि सज्जन जो वहां बैठे थे अवश्य अप्रसन्न होते, क्योंकि वे भी मुसलमान ही हैं। पर शायद कांग्रेस के विरोधी काग्रेस के अनुकूल मुसलमानों को मुसलमान नहीं समझते। क्या आलमे तसवीर इसी पर कहता है कि 'मुसलमानाने हिन्द ने नै० का० की मुखालफत में निहायत इत्तिफाक जाहिर किया।' परमेश्वर ऐसे अनैक्यवर्द्धकों को सुमति दे जो निज धर्म ग्रन्थ के वचन कोई प्रमाणार्थ कहे तो भी अपनी तौहीने मज़हबी समझते हैं और दूसरों के धर्म वाक्य को खुद जलन के साथ कहने में नहीं लजाते। ऊपर से राजा प्रजा दोनों का हित चाहने वालों को दोष लगाते हैं, पर स्वयं न्यायशील ब्रिटिश सिंह के राज्य में अपने 'सुस्त और कमजोर हाथों से काम लेना' चिताते हैं। न जाने इसमें क्या लोक या परलोक का लाभ समझे हैं।

खं० ४, सं० १० (१५ मई ह० सं० ४)

न्याय

सवार साहब तो घोड़े की पीठ पर चढ़ें, उसे कोड़ा मारें, पांव से एंड़ मारें, मुंह में लगाम लगावें, जब चाहें तब बांधें, जब चाहें तब दौड़ावें पर यह कोई न कहेगा कि सवार कठोर हृदय है, अन्यायी है। हां, यदि घोड़ा कहीं लात फटकार दे या काट खाय या सवार को पटक दे तो सबके मुंह से सुन लीजिए, घोड़ा बदलगाम है, कटहा है, लतहा है। वाह रे न्याय! सिंह व्याघ्र इत्यादि बलवान जीव होते हैं। ये जैसे हरिणादि को मार गिराते हैं वैसे ही कभी २ मनुष्य पर भी चोट कर देते हैं, इस लिए वे दुष्ट जन्तु हैं। उनको मार डालना पाप नहीं है, बहादुरी है। पर मनुष्य महाशय बकरा मार खायं, मछली हजम कर जायं, चिड़ियों को भोग लगा जायं, यह कहने वाला कोई न हो कि निर्दयी हैं। वाह रे इंसाफ! यदि नौकर बिचारा कोई वस्तु उठाना भूल जाय और मालिक साहब ठोकर खा के गिर पड़ें तो तो फरमावेंगे, 'अंधा है, नालायक है, चीज को ठीक ठौर पर नहीं रखता, पैर तोड़ डाला'। पर जो कहीं मालिक साहब की वैसी ही असावधानता से नौकर ठोकर खा जाय तो भी आप यह न कहेंगे कि 'भाई हमें क्षमा करो, हमारी गफलत से तुम्हें चोट लग गई। वरञ्च झुंझला के कहेंगे, 'अंधा है, देख के नहीं चलता।' कहां तक कहिए, यदि हम कभी दुःख पा के, झिझला के ईश्वर को कोई बात भी कह बैठें तो मूरख, नास्तिक, पापी इत्यादि की पदवी पावें और आप हमारे बाप, भाई, बंधु, बांधव, इष्ट मित्रादि का वियोग करा दें। धन, मान, आरोग्य अथवा प्राण तक हर लें तौ भी हमारे ही कर्मों का फल है। वुह तो जो करेंगे हमारे भले ही को करेंगे! ऐसे २ लाखों उदाहरण सब काल, सब ठौर में मिला करते हैं जिस से हम ऐसे मुंहफट्टों का सिद्धांत हो गया है कि न्याय या इंसाफ या जसटिस एक शब्द मात्र है, जो खुशामदी लोग समर्थ व्यक्तियों के लिए कहा करते हैं। वास्तव में क्या न्याय, क्या दया, क्या बात्सल्य, सब प्रेमस्वरूप परमात्मा के गुण हैं, मनुष्य बिचारा उनका हठ कहां तक करेगा? महाराज भरत (जिन्होंने प्रजा को सताने के अपराध में अपने नौ लड़कों का शिर काट लिया था), बादशाह नौशेरवां (जिन्होंने एक बुढ़िया की फरियाद पर अपने पुत्र को बध की आज्ञा दी थी) इत्यादि

नाम केवल उपमा के लिए हैं। यदि यह लोग कभी हुए भी हों तो उन्हें हम संसारियों में नहीं गिन सकते। जगत की रीति यही है कि यदि आप असमर्थ हैं तो दूसरों को न्यायी, धर्मात्मा, गरीबपरवर बना के अपना मतलब गांठते रहिए। यदि कभी परमेश्वर की दया, नसीबे के जोर या हिकमत की चाल इत्यादि से आप भी कुछ हो जाइएगा तो हम लोग इन्हीं विशेषणों के साथ आप का नाम लिखा और कहा करेंगे। यकीन है यह शब्द धरती की पीठ पर इसी भांति धाराप्रवाह रीति से बना रहा है वैसे ही बना रहेगा। यदि सचमुच न्याय कोई वस्तु है और उसको साक्षी दे के हम से पूछिए तो उत्तर यही पाइएगा कि सब के इतिहास देख डाले, सिद्धांत केवल यह निकला कि दुनिया अपने मतलब की है। उस मतलब के लिए जहां और बहुत बातें हैं, एक यह भी सही। मतलब निकलने में कोई अड़चन न पड़े तब तक आप मुझको कहते रहिए, मैं आप से कहता रहूंगा कि न्याय के विरुद्ध चलना ठीक नहीं है। इंसाफ को छोड़ना दुरुस्त नहीं है। पर जो कोई पुरुषरत्न अपने हानि लाभ, मानापमान, जीवन मरण, सुख दुःख इत्यादि की पर्वा न कर के, कठिन परीक्षा के समय, न्याय का साथ देता रहे उसे हम मनुष्य तो कह नहीं सकते, हां, देवता वरंच ईश्वरीयगुणविशिष्ट कहेंगे !

ख० ४, सं० १० (१५ मई ह० सं० ४)

ट

इस अक्षर में न तो 'लकार' की सी लालित्य है न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्वबोधक गुण है, पर विचार करके देखिए तो शुद्ध स्वार्थ परता से भरा हुवा है। सूक्ष्म विचार के देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न हो के मरना मारना जानते हैं, जबरदस्त होने पर निर्बलों को मनमानी रीति पर सताना जानते हैं, बड़े प्रसन्न हों तो तन मन धन से सहाय करना जानते हैं। जहां और कोई युक्ति न चले वहां निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे २ हंसा खिला के अपना मतलब गांठना, जो नीति का जीव है, उसे बिल्कुल नहीं जानते। इतिहास ले के सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में टवर्ग हई नहीं! किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुंह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती! टट्टी की ओट में शिकार करना जानते हों नहीं उन बिचारों के यहां 'टट्टी' का अक्षर कहा से आवे! इधर हमारे गौरांगदेव को देखिए, सिर पर हेट (टोपी), तन पर कोट, पावों में प्येंट (पतलून) और बूट। ईश्वर का नाम आल्माइटी (सर्वशक्तिमान), गुरू का नाम टिउटर या मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे प्रीति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का नाम बेनीफिट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टेक्स। कहां तक इस टिटिल टेटिल (बकवाद) को बढ़ावें, कोई बड़ी डिक्शनरी (शब्दकोष) को ले के ऐसे शब्द ढूंढ़िए जिसमें टकार न हो तो बहुत ही कम पाइएगा! उनके यहां 'ट' इतना प्रविष्ट है कि तोता कहाइए तो टोटा कहेंगे। इसी टकार के प्रभाव से नीति में सारे जगत के मुकुटमणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक २ न समझा सकेगा। इससे बढ़ के नीति-निपुणता क्या होगी कि रुजगार में, ब्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में, लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं!

रीझेंगे तो भी जियाफत लेंगे, नजर लेंगे, तुहफा लेंगे, सौगात लेंगे, और इन सैकड़ों हजारों के बदले देंगे क्या, 'श्री ईसाई' (सी० एस० आई०) की पदवी, या एक कागज के टुकड़े पर सरटिफिकेट अथवा कोरी थैंक (thank) (धन्यवाद), जिसे उरदू में लिखो तो टेंग अर्थात् हाथ का अंगूठा पढ़ा जाय ! धन्य री स्वार्थसाधकता ! तभी तो सौदागरी करने आए, राजाधिराज बन गए ! क्यों न हो, जिनके यहां बात २ में 'टकार' भरी है, उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है ! नीति इसी का नाम है। 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत ढो ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ २ आंखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहिले अच्छी तरह आंखें खोल के देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अंगरेजों के यहां है वैसे ही हमारे यहां भी है, पर भेद इतना है कि उनकी 'टी' की सूरत ठीक एक ऐसे कांटे की सी है कि नीचे से पकड़ के किसी वस्तु में डाल दे तो जाते समय कुछ न जान पड़ेगा, पर निकलते समय उस वस्तु का दोनों हाथों अपनी ओर खींच लावेगा। प्रत्यक्ष देख लो कि यह जिसका स्वत्वहरण किया चाहते हैं उसे पहले कुछ ज्ञान नहीं होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का ! और हमारे वर्णमाला का 'ट' एक ऐसे आकड़े के समान है जिसे ऊपर से* पकड़ सकते हैं और हर पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींचें तो तो कुशल है नहीं तो कोरी मिहनत होती है ! इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरंभ करते हैं उनमें 'टकार' के नीचे वाली नोक की भांति पहिले तो हमारी गति खूब होती है, पर पीछे से जहां दृढ़ता में चूके वही संठ के संठ रह जाते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि अंगरेजों के यहां T सार्थक है और हमारे यहां एक रूप से निरर्थक ! अंग्रेजी में 'टी' के माने चाह के हैं जो उनके पीने की चीज है, अर्थात् वे अपना पेट भरना खूब जानते हैं ! पर हमारे यहां ट का अर्थ कुछ नहीं है। यदि 'टट्टा' कहो तो भी एक हानिकारक ही अर्थ निकलता है ! घर में टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। आवैं भी तो

* नीचे से पकड़ना अर्थात उसके मूल को ढूंढ़ के काम मे लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात दैवाधीन समझ कर उठाना।

हमारे भाई चोर २ कह के चिल्लायं ! यह अनर्थ ही तो है। तीसरा फर्क लीजिए, जितना उनके यहां 'ट' का खर्च है उतना हमारे यहां नहीं है। तिस पर भी हम अपने यहा के 'ट' का बर्ताव बहुधा अच्छी रीति से नहीं करते। फिर कहा से पूरा पड़े ! 'टकार' का अक्षर नीतिमय है ! उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है। हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घंटों बिता देते हैं। यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था। हमें चाहिए था, वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते। यदि हम क्षत्री हैं तो टंटा बखेड़ा में पड़े रहते हैं। यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना, न कि आपस में। यदि हम वैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफा विचारेंगे। इसमें सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमीर हैं तो सैकड़ों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेमू बने बैठे रहेंगे। इसमें तो यह रुपया किसी देश हित-कारी काम में लगाते तो अच्छा था। पढ़े लिखे हैं तो मतवाद में टिलटिलाया करेंगे। कोई काम करेंगे तो अंटसंट रीति से, सरदार होंगे तो टाल मटोल किया करेंगे। इस अटपटांग कहानी को कहा तक कहिए, बुद्धिमान विचार सकते हैं कि जब तक हमारा यह टेव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर फैली रहेगी, तब तक हमारे दुख दरिद्र भी न टलेंगे। दुर्दशा यों ही टेंटुआ दबाए रहेगी। हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी फूटी दशा सुधारने में जुट जायं। विराट भगवान के सच्चे भक्त बनें। जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है वैसे ही हमें भी चाहिए कि जहां से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें, सब अपने पेट के पिटारे में भर लें और देश भर को उनसे पाट दें ! भारतवासीमात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें। अपने २ नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी कायम करें। ऐंटी कांग्रेस वालों की टांय २ पर ध्यान न दें। बस, नागर नट की दया से सारे अभाव झट पट हट जायंगे और हम सब बातों में टंच हो जायंगे ! यह 'टकार' निरस सी होती है, इससे इसके संबंधी आर्टिकल में किसी नटखट सुंदरी की चटक मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आंखों के साथ हट ! अरे हट ! की बोलचाल का सा मजा तो ला न सकते थे, केवल टटोल टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेंक निभा दी है ! आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस रखियेगा तो टका पैसा भर गुण ही करेगी ! बोलो टेढ़ी टांग वाले की जै !

खं० ४, सं० ११ (१५ जून ह० सं० ४)

पतिव्रता

इस नाम का हमारे यहां सदा से बड़ा गौरव है। हमारे वेद - शास्त्र-पुराणों में सहस्रों वचन पतिव्रताओं की महिमा के हैं। हमारी परम पूज्या-जगदंबा श्री पार्वतीजी, श्री सीता जी, श्री अनुसूया जी इत्यादि का बड़ा महत्व विशेषतः इसी कारण है कि वे पतिव्रता थीं। निश्चय स्त्री के लिए पतिव्रत से बढ़ के कोई धर्म नहीं है, न पति से बढ़ कर कोई देवता है। अद्यापि साधारण स्त्रियां बोला करती हैं कि "हमार पति परमेश्वर आहीं !" सच तो यों है कि जिस स्त्री ने मन वचन कर्म से सत्य और सरलता के साथ पति प्रेम का निर्वाह किया वुह महत्पूजनीया है। दक्ष प्रजापति की पुत्री सती देवी का चरित्र परम प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने प्यारे प्राणनाथ भगवान भोलानाथ का अपमान देख के पिता का, देवताओं का, रिषियों का, अपने प्राण का भी कुछ सोच संकोच न किया। फिर क्यों न हम लोग सती शब्द को पतिव्रता का पर्याय समझें। भारत की पूर्णोन्नति का एक बड़ा भारी कारण यह भी था कि स्त्रिया बहुधा पतिव्रता होती थीं। संसार रूपी रथ के दोनों पहिए स्त्री और पुरुष हैं और व्यभिचार को तो व्यभिचारी लोग भी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक अवनति का मूल मानते हैं। फिर जिस देश में स्त्रियां विशेषतः पतिव्रता हों और पुरुष एकस्त्रीव्रत हों, उस देश की उन्नति में क्या बाधा हो सकती है। जिस गाड़ी के दोनों पहिए दृढ़ हों, उसके चलने में भी कोई अड़चन है ? प्रेम में यह सामर्थ्य है कि प्रेम पात्र कैसा ही हो, पर प्रेमिका की दृढ़चित्तता से वह अवश्य प्रेमिका के रंग ढंग का हो जाता है। पुरुष कैसा ही कुकर्मी और कर्कश हो पर स्त्री सच्ची पति-देवता हो तो पुरुष निलज्ज व्यभिचारी न रहेगा। ऐसे ही पुरुष सचमुच स्त्री से प्रीति रक्खें तो स्त्री का सुधर जाना असंभव नहीं है। इसी से कहते है कि पतिव्रता स्त्री दोनों कुल को सुशोभित करती है। जिस घर में पतिव्रता हो वह घर, वह कुल, वह देश धन्य है ! चित्तौर का राजवंश भारत के इन गिरे दिनों में भी इतना प्रतिष्ठित है, इसका मुख्य कारण यही है कि इस घोर कलिकाल में भी वहां सहस्रों शूर और सती थीं। इस ज़माने में हम देखते हैं कि शूरता का तो प्रायः लोप ही सा हो गया है, पर सती भी बहुत कम रह

गई हैं, बरंच न होने के बराबर कह सकते हैं। सती से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि ख्वामखाह पति के साथ जल जाना चाहिए। मुख्य सती वुह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दुख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान। पर हाय! एक वुह दिन थे कि हमारे यहां सतीत्व उस पराकाष्ठा को पहुंचा हुवा था कि जीते जल जाना तक रिवाज हो गया था, और एक वह दिन है कि पतिव्रता ढूंढ़े मिलना कठिन है। हम यह तो नहीं कह सकते कि सारी स्त्रियां रुक्माबाई की साथिनी हो रही हैं, पर इसमें भी संदेह नहीं है कि पति के दुख सुख में अपना सचमुच दुख सुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह निभाने वाली स्त्रियां भी हजारों में दस ही पांच हों तो हों! इसके कई कारण हैं। एक तो यही कि स्त्री शिक्षा की चाल उठ सी गई है। यदि कोई २ लोग पढ़ाते भी हैं तो मेमों से या मेम दासियों से। भला वे ईसा के गीत और लिबरटी सिखावेंगी अथवा पतिव्रत! दूसरे थोड़ा बहुत पढ़ भी गईं तो घर का ठीक नियम नहीं है। बहुत सी दो २ चार २ पैसे की ऐसी पुस्तकें छप गई हैं, जो पुरुषों के लिए तो खैर, जी बहलाने को अच्छी सही, पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं। बाबू साहब बाजार से ले आए, घर में डाल दिया। बबुआइन साहिबा ने खोल के पढ़ा तो 'जोबन का मांगे दान कान्ह कुंजन में।' भला कौन आशा करे! तीसरे, मरदों को तो सभाएं भी हैं, अखबार भी हैं, पुस्तकें भी हैं, पर स्त्रियों के लिए उपदेश की कोई चाल ही नहीं है। हम आशा करते हैं कि श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी (रतलामवासिनी) अपनी 'सुगृहिणी' नामक पत्रिका में पतिव्रत पर अधिक जोर देंगी जिसमें सर्वसाधारण स्त्रियों को वास्तविक लाभ हो। फोटोग्राफी आदि का अभी हमारी गृहदेवियों के लिए अधिक आवश्यकता नहीं है। नवीन ग्रंथकारों को भी चाहिए कि जहां और बहुत सी बातें लिखते हैं, कभी २ इधर भी झुकते रहें। व्याख्यानदाता लोग कभी २ स्त्रियों को भी परदे के साथ स्त्री धर्म की शिक्षा दिया करें। यही सब पतिव्रत प्रचार की युक्तियां हैं। इधर हमारे गृहस्थ भाइयों को समझना चाहिए कि दोनों हाथ ताली बजती है। उन्हें पतिव्रता बनाने के लिए इन्हें भी स्त्रीव्रत धारण करना होगा। एक बात और भी है कि स्त्रियां अभी विशेषतः मूर्ख हैं। अतः साम, दाम, दंड, भेद से काम लेना ठीक होगा। निरे न्याय और धर्म से वे राह पर न आवेंगी। ऐसी युक्ति से बर्तना चाहिए कि वे प्रसन्न भी रहें और कुछ डरती भी रहें। तभी प्रीत करेंगी। कनौजियों की तरह निरी डंडेबाजी से वे केवल डर सकती हैं, प्रीति न करेंगी। अगरवालों, खत्रियों की भांति निरी

स्वतंत्रता सौंप देने से भी वे सिर चढ़ेंगी। अतः भय और प्रीति दोनों दिखाना, स्वतंत्र, परतंत्र दोनों बनाए रहना। मौके २ से उन्हें अनुमति और शिक्षा भी देते रहना, और कभी २ उनकी सलाह भी लेते रहना। बस इन उपायों से संभव है कि भारत कन्याएं पुनः पतिव्रत की ओर झुकने लगेंगी और पतिव्रताओं के प्रभाव से फिर हमारी सौभाग्यलक्ष्मी की वृद्धि होगी।

खं०, ८, सं० १२ (१५ जुलाई ह० सं० ४)

दबी हुई आग

यदि किसी ठौर पर आग लगे, धधक उठै तो हम अनेक उपाय से तुरन्त उसे बुझा सकते हैं। पर जो आग किसी वस्तु में दबी हुई सुलग रही हो और कोई उसे बतलाने वाला न हो तो उस अग्नि से अधिक भय है। आजकल परमेश्वर की दया से हमारे धर्म रूपी भवन के अग्निवत् ईसाई मत का प्रत्यक्ष प्राबल्य तो शांत होने के लगभग है, पर अभी ईसाइयों की एक कारवाई ऐसी फैली हुई है कि यदि उसका उपाय अभी से कमर बांध के न किया जायगा तो एक दिन दबी हुई आग की भांति वह महा अनिष्ट करेगी। अभी पचास वर्ष भी नहीं हुए कि हमारे अभाग से भारत में ईसाईपन की आग पूरे जोर शोर के साथ धधक रही थी। माइकेल मधुसूदन दत्त, कृष्ण-मोहन बनुरजी, नीलकंठ इत्यादि विद्वानों का स्मरण करके हमको आज तक खेद होता है कि हाय यह लोग यदि हमारे समाज से बहिष्कृत न हो जाते तो कितना उपकार न करते। पर हाय कुछ समय हो ऐसा दुस्समय था कि लोग पढ़ने लिखने के साथ ही पादरियों के जाज्वल्यमान अग्निसमूह में स्वाहा हो जाते थे। परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानंद, बाबू केशवचंद्र, मुंशी कन्हैयालाल आदि पुरुषरत्नों को उत्पन्न कर दिया, जिनके वचनरूपी वरुणास्त्रों से क्रिस्तानों की भयानक अग्नि बहुत कुछ शांत हो गई। अब अधिकतः यह संभव नहीं है कि पढ़े लिखे, प्रतिष्ठित, कुलीन··· भेड़ों में शामिल हो के दुर्दैव साहब के दस्तरखान में धर दिए जायें। हम एक बार अनेक विद्वानों के मतानुकूल लिख चुके हैं कि हजरत ईसा एक पूजनीय पुरुष थे और उनके उपदेश भी मानव जाति के महाहितकारक हैं। पर ईसाई हो जाना या यों कहो कि पादरियों के मायाजाल में फंस जाना ऐसा अनिष्टकारक है कि मनुष्य देशहित और जातिहित से सर्वथा वंचित हो जाता है। हमारे ईसाई भाई जिस जाति और जिस देश के भए उपजे हैं, उससे न उन्हें कुछ ममता रहती है न प्रेम, फिर उनसे क्या आशा की जाय। इस बात को हम्हीं नहीं समझते, ईश्वर के अनुग्रह से सहस्रों लोग समझने लगे हैं। यह बात अब समझदारों की समझ में आना दुर्लभ है कि महात्मा मसीह ने मुक्ति का ठेका ले लिया है। विश्वास की महिमा से तो ईसा क्या हम चौराहे की ईंट पूजने वालों की भी प्रतिष्ठा करते हैं, पर मतवाद

में हिन्दुओं से अब पादरी साहबों का जीतना डबल रोटी का गस्सा नहीं है! ऊपर से पादरी लोग हमारे ईसाई भाइयों का पक्ष नहीं लेते। बहुत से मसीही दाने २ को मुहताज हैं। इससे और भी सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो गई है। पर छोटे २ कोमल प्रकृति वाले नासमझ बालकों को बचाना हम हिन्दू मुसलमानों का परम कर्तव्य है। उन्हें, परमेश्वर न करे, पादरियों की चिकनी चुपड़ी बातें असर कर जायं तो हमारी नई पौध निकम्मी हो जायगी। यही दूरदर्शिता सोच के अनेक सज्जन मिशन स्कूल में अपने लड़कों को नहीं पढ़ाते। क्योंकि वहां और पुस्तकों के साथ इंजील भी अवश्य पढ़नी पड़ती है। हम इंजील को बुरा कदापि नहीं कहते, वुह भी एक धर्म का ग्रंथ है, पर उसके पढ़ने वाले यदि अन्य धर्म के द्वेषी न हों! पर हम खेद के साथ प्रकाश करते हैं, कहीं २ मिशन स्कूलों में चंदन लगाना और गंगा नहाना तक निन्दनीय गिना जाता है। अभी हाल ही में मद्रास के एक मिशनरी साहब ने अपना जूता दिखा के बिचारे आर्य बालकों से कहा था, 'यह तुम्हारे देवता हैं'। भला ऐसे २ अनर्थ देख सुन के किसको मिशन स्कूलों की शिक्षा से घृणा न होगी? महा अभागी वुह नगर है, जहां मिशन स्कूलों के सिवा दूसरा स्कूल न हो। हम अपने कानपूर की इस विषय में प्रशंसा करते हैं कि यहां बालकों की शिक्षा मिशन ही पर निर्भर नहीं है! लोग गवर्नमेन्ट स्कूल और जुबली स्कूल के आछत अपने सन्तान को हिन्दू धर्म का अश्रद्धालु बनावें तो दूसरी बात है, पर सुभीता परमेश्वर ने दे रक्खा है कि धर्म में भी बाधा न डालो और राजभाषा भी पढ़ा लो। हमारी समझ में हर शहर के लोगों को चाहिये कि अपने २ यहां कम से कम एक पाठशाला ऐसी अवश्य स्थापित करें जिसमें केवल हिन्दू मुसलमानों का अधिकार रहे और अन्य शिक्षा के साथ धर्म तथा नीति भी सिखाई जाय। इससे क्रेशचानिटी की प्रत्यक्ष आग का रहा सहा प्राबल्य भी जाता रहेगा। पर एक दबी हुई आग अभी ऐसी पड़ी है जिस पर कोई ध्यान नहीं देता। अभी उसका बुझाना सहज है, नहीं पीछे बड़ी भारी हानि करेगी! स्कूलों में बहुधा स्याने लड़के भेजे जाते हैं और वहां की आग भी धधकती हुई है। इससे इतना डर नहीं है पर महाजनी पढ़ाने वाले भइया जी के यहां सदा बहुत ही छोटे लड़के पढ़ते हैं, वहां ईसाइयों का घुसना किसी तरह ठीक नहीं। लड़के तो लड़के ही रहे, बहुधा गुरूजी स्वयं नहीं जानते कि इन महापुरुषों से क्या हानि संभव है!

ईसाई साहब वहां बिन रोक टोक कह सकते हैं कि "लड़का तो लड़का मास्टरन के उड़ाई ला"। वहां ईसा की भेड़ों ने यह लीला फैला रक्खी है कि प्रायः सब महाजनी शिक्षकों को दो चार रुपया महीना देते हैं, और बहुत सी मीठी २ बातों में उन्हें फुसला के प्रति सप्ताह में दो या एक दिन हिन्दू बालकों को पादरिहाई शिक्षा देने जाया करते हैं। कभी २ छोटी २ तसवीरें, कभी किताबें, कभी मिठाई आदि बाटते हैं, जिससे नादान बच्चे और भी मोहित होके लालच के मारे और भी ध्यान देके उनकी बातें सीखें और अपनी रीति नीति, धर्म कर्म, देव पित्रादि को तुच्छ समझने लगें। मैने स्वयं देखा है कि जिन बालकों के माता पितादिक नीच जाति के हिन्दू को छूके न्हाते हैं उन बालकों को गोद में बिठाके करंटे साहब ने मुंह चूमा! लड़के बिचारे को तो यह तालीम दी गई है कि सब एक मा बाप से पैदा हुए हैं, जात पात मानना पाप है। और तालीम भी किसी यूरोपवासी ने नहीं दी कि वुह हमारे आचार से अज्ञात हो, बरंच उन साहब ने शिक्षा दी है जिनके माता पिता भंगी चमारादि नीच थे! भला शिक्षा देने वाला यह और शिक्षा यह कि—"माला लक्कड़,ठाकुर पत्थर, गंगा निरबक पानी। राम कृष्ण सब झूठे भैया चारो बेद कहानी।" तो बतलाइए इसका असर हमारे दुधमुंहे बच्चों के जी पर कैसा २ अनर्थ न मचावैगा! लड़कपन की सीखी बातों का सस्कार जन्म भर बना रहता है, यह बात सब जानते हैं। क्या यह उपदेश, यह ईसा के गीत, यह ईसाइयों का मिथ्या प्रेम, हमारी नई पौध के हक में छिपी हुई आग नहीं है? हमारी समझ में सब बातों से पहिले इसके बुझाने का यत्न होना चाहिए। हम अपने देशहितैषी भाइयों से आशा करते हैं कि जहां मेलों और बाजारों में ईसाइयों का मुकाबिला करते फिरते हैं वैसे महाजनी पढ़ाने वालों को भी समझावें कि दो चार रुपए के लालच से यह अनर्थ न करें। कभी २ लड़कों के सामने भी करंटे साहबों को शास्त्रार्थ में निरुत्तर करते रहें जिसमें लड़कों को उनकी पोल पाल मालूम होती रहे। लड़कों के मातापितादि को भी समझावें कि जहां चार आने, आठ आने महीना देते हैं, वहां दो चार पैसे भैया जी को और दे दिया करें, जिससे उन्हें क्रिस्तानी धन का घाटा भी न पड़े और प्रसन्नता-पूर्वक उन्हें अपने यहां न आने दें। यदि इतने पर भी उन्हें लोभदेव न छोड़ें तो लड़कों को वहां भेजना बंद कर दें! बस यही उपाय है जिससे यह अनर्थकारिणी दबी हुई आग बुझ जायगी! नहीं तो याद रहे कि खजूर की ईंटें ऊपर २ नहीं जातीं। एक दिन वह अवश्य आवैगा कि जिस

नई पौध के लिए हम अनेक पत्र, अनेक पुस्तकें, अनेक सभा, अनेक लेक्चर, अनेक प्रीच करते हैं, जिस नई पौध से हमें बड़ी २ आशा है, वह नई पौध इस दबी हुई आग में झुलस के रह जायगी और हमारा इस काल का सारा परिश्रम व्यर्थ होगा ! स्वर्ग में भी हमारी आत्मा पछतायेगी कि "समय चूक फिर का पछिताने।"

खं० ४, सं० १२ (१५ जुलाई, ह० सं० ४)

पक्ष

यह दो अक्षर और तीन अर्थ का शब्द भी ऐसा उपयोगी है कि इस के बिना कोई काम ही नहीं चल सकता। यदि पक्षी पक्ष जाते रहें तो उस का जीना भारी हो जाय। यदि महीने में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष न हों तो ज्योतिषियों को गणित में बड़ी गड़बड़ी पड़े। यदि किसी का पक्ष करनेवाला कोई न हो तो वुह एक पक्ष क्या एक क्षण भी सुख से नहीं बिता सकता। सच पूछो तो मनुष्य का मनुष्यत्व पक्ष ही से है, नहीं तो 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना'। जिसे अपनी बात का पक्ष नहीं उसको किसी बात का ठीक नहीं। बात औ बाप एक होते हैं (चाहे उरदू में लिख के किसी से पढ़ा देखो!)। महाराज दशरथ जी की इतनी प्रतिष्ठा है कि भगवान रामचन्द्र जी के पिता कहलाते हैं। मनुष्य, क्षत्रिय, राजा, वीर, धीर, धर्मिष्ठ लाखों लोग हो गए पर दशरथ जी की समता किसी को नहीं हो सकती। इस का कारण, इस अचल कीर्ति का हेतु, केवल यही है कि वे बाचा के धनी थे। उन्हें अपनी बात का पक्ष था—'प्रानन ते सुत अधिक हैं सुत ते अधिक परान। सो दशरथ दोनौं तजे, बचन न दीन्हों जान।' राम, युधिष्ठिर, हरिश्चंद्र, भीष्म, हम्मीर आदि के जीवन चरित्र देखिए तो यही पाइएगा कि उनकी महान महिमा का कारण यही था कि बड़े २ कष्ट उठाए, बड़ी हानि सही, पर अपने कहे को निबाहा और अपने कामों से जगतवासियों के लिए यह सिद्धांत नियत कर गए कि 'विचलति नहिं वाक्यं सज्जनानां कदाचित्'। हम देखते हैं तो हम संसारी लोगों के औगुणों का ठिकाना नहीं है। यदि सचमुच न्याय किया जाय तो ऐसे लोग बहुत थोड़े निकलेंगे जो कठिन दण्ड के योग्य न हों। और जितने मतवादी हैं, सब कहते हैं कि ईश्वर न्यायी है, पर यह कभी देखने सुनने में नहीं आया कि सौ दो सौ पापी पुरुष यथोचित यातना के साथ अपने किए को पहुंचा दिए जायं। इस का कारण क्या है? यदि हठ छोड़ के विचारिए तो निश्चय हो जायगा कि जगदीश्वर यह समझ के हमारे दुर्गुणों को देखता हुवा भी हमारे पालन पोषणादि से मुंह नहीं मोड़ता कि यह सब हमारे हैं! संसार अपने दुराचारों से कब का नाश हो गया होता यदि करुणामय भगवान उसे अपना न समझते। हम पापी हैं चाहे अधर्मी पर

परम पिता जानते हैं कि 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। इस से सिद्ध होता है कि जगत के कर्त्ता धर्त्ता को भी अपनी प्रजा का पक्ष है। फिर हम नहीं जानते वुह लोग कितने मूर्ख हैं जिन्हें पक्ष का पक्ष नहीं। हमारा भारत इसी से दिन २ गारत होता जाता है कि यहां के लोगों को अपनी बात का, अपनी जाति का, अपने देश, का, अपने धर्म का, अपनी मर्यादा का, अपनी भाषा का पक्ष नहीं है। यह तक सरासर देखते हैं कि ईश्वर न्यायी, समदर्शी, सब कुछ, पर अपने निज भक्तों का पक्ष अवश्य करता है। यहां तक कि पतितपावन अधमोद्धारण दीनबंधु आदि उसके नाम पड़ गए हैं। हमारे रिषि मुनि संसार से कुछ प्रयोजन न रखते थे तौ भी अपने संतान अर्थात ब्राह्मणों को जगत गुरु तथा देवता बना गए हैं। ईसा मूसा मुहम्मदादिक महात्मा भी अपने निज धर्मियों को अन्य मतावलंबियों से अधिक आशा दे गए हैं। हमारी वर्तमान गौर्नमेंट भी प्रजापालन, न्याय-परायणतादि सब बातों का मुकुट धारण करे है तौ भी अपने देशवासियों का पक्ष अधिक करती है। फिर भी हमारे हिंदूदास पक्ष की महिमा नहीं जानते! बात के पक्ष में कह देते हैं कि 'मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है।' जाति के पक्ष में समझ लिया है कि हमें क्या, जो जैसा करेगा वुह वैसा भुगतैगा। यों चाहे दिन भर झूठ बोलें पर जो किसी भाई का काम आ पड़े तो बस युधिष्ठिर का औतार बन जायंगे—'अरे भाई अपना दीन धरम तो न छोड़ेंगे'। छिः! तुम्हारा दीन धरम तो तुम्हारी कुबुद्धि ने उसी दिन छुड़ा दिया जिस दिन तुम्हें यह ज्ञान दिया था कि पक्षपात करना अधर्म है। यदि पक्षपात अधर्म होता तो बड़े २ क्यों करते? पर यह बातें तो वुह समझे जिसे समझ हो! नहीं तो लड़के भी समझते हैं कि धर्म करने से सुख और अधर्म से दुख मिलता है। और यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जिस जाति के लोग दूसरों के मुकाबिले में आपस वालों का पक्ष करना जानते हैं वे अपक्षियों के देखे अधिक सुखी होते हैं। फिर बताइए कि पक्षपात पाप है अथवा पुण्य? बिचार के देखिए तो जान जाइएगा कि उन्नति की सीढ़ी और सौभाग्य का मार्ग पक्ष ही है। अतः हमारे पाठकों को चाहिए कि इस मूल मंत्र को न भूलें कि अपना अपना ही है। दूसरों की अच्छाई से हम अच्छे न कहावेंगे जब तक अपनों को अच्छा न समझेंगे। क्या ही अच्छा होता जो हमारे बन्धुवर्ग और सब झगड़े छोड़ के केवल स्वदेशियों के पक्ष को अपना परम धर्म जानते! नीति का यह वाक्य पक्ष का क्या ही अच्छा समर्थन करता है कि 'उत्तुंगशैलशिखर-

स्थितपादपस्य काकः कलशोपि फलमालभते सपक्षः। सिंहोबलीगजविदारण-दारुणोऽपि सीदत्यधस्तरुतले खलु पक्ष हीनः'। अर्थात् शैल शिखर थित अति उतंग तरुवर के मृदु फल। खात बुद्धि बल रहित काग केवल पच्छहि बल। महाबली मृगराज नितहि करि कुंभ विदारत ! छुधित पक्ष बिन बृच्छ ओर रहि जात निहारत ॥ यह समुझि बूझि अनबूझ नर,पच्छपात पथ नहिं गहत। ते पच्छ अघति मम सदा सहत रहत संकट महत ॥ १ ॥ हे मयूरपक्षा-पीड़धारी बृजभूमिचारी भगवान हृदयविहारी हमारे देशभाइयों को सुमति दान करो जिसमें यह लोग अपनों का पक्ष सीखैं। प्रभो ! यह उन्हीं के सन्तान हैं जिनका तुम सदा पक्ष करते रहे हो। यदि हमारे पाप तुम्हारी करुणा से अधिक न हो गए हों तो अपनी इस कीर्ति का स्मरण करो कि — पातरी छांछ निछीछी महा अहिरी गुहिराय के चेंचत आंटी। मीन जो ताल खुतार भई गोड़िया कहि ताहि पुकारत टाँटी (ताजी) ॥ शम्भु कहैं प्रभु ऐसोई चाहिए दास के औगुन झोंकिबो भाटी। जो कहुं आपनो खोटो मिलै तो खरे ठहराय कै बांधिए गांटी ॥ १ ॥ क्योंकि 'दीन मीन बिन पक्ष के कहु रहीम कहं जाहिं ?' अतः हमारा पक्ष करो जिससे हम अपनों का पक्ष करने योग्य हों।

खं० ५ सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ४)

स्त्री

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें केवल गुण ही गुण अथवा दोष ही दोष हों। घी और दूध स्वादु और पुष्टि के लिए अमृत के समान हैं, पर ज्वरग्रस्त व्यक्ति के लिए महा दुखदायक है। संखिया प्रत्यक्ष विष है पर अनेक रोगों के लिये अति उपयोगी है। इस विचार से जब देखियेगा तब जान जाइयेगा कि साधारण लोगों के लिये स्त्री मानों आधा शरीर है। यावत सुख दुखादि की संगिनी है। संसार पथ में एक मात्र सहायकारिणी है। पर जो लोग सचमुच परोपकारी हैं, स्वतंत्र हैं, महोदारचरित हैं, असामान्य हैं, जगत बंधु हैं, उन्नतिशील हैं, उनके हक में मायाजाल की मूर्ति कठिन परतंत्रता का कारण और घोर विपत्ति का मूल स्त्री ही है। आपने शायद देखा हो कि धोबियों का एक लोह यंत्र होता है जिसके भीतर आग भरी रहती है। जब कपड़ों को धोकर कलप कर चुकते हैं तब उसी से दबाते हैं। उस यंत्र-विशेष का नाम भी स्त्री है। यह क्यों? यह इसी से कि धोये कपड़े के समान जिनका चित्त जगत चिंता रूपी मल से शुद्ध है उनके दबाने के लिये उनकी आर्द्रता (तरी वा सहज तरलता) दूर करने के लिये लोहे के सरिस कठोर अग्निपूर्ण पात्र सदृश उष्ण परमेश्वर की माया, अर्थात् दुनियां भर का बखेड़ा, फैलाने वाली शक्ति स्त्री कहलाती है। अरबी में नार कहते हैं अग्नि को, विशेषतः नरक की अग्नि को और तत्संबंधी शब्द है नारी। जैसे हिंदुस्तान से हिंदुस्तानी बनता है वैसे ही नार से नारी होता है, जिसका भावार्थ यह है कि महादुख रूपी नर्क का रूप गृहस्थी की सारी चिंता, सारे जहान का पचड़ा, केवल स्त्री ही के कारण ढोना पड़ता है। फारसी में ज़न (स्त्री) कहते हैं मारने वाले को—राहज़न, नकबज़न इत्यादि। भला अष्ट प्रहर मारने वाले का संसर्ग रख के कौन सुखी रहा है। एक फारस के कवि फर्माते हैं, 'अगर नेक बूदे सरंजामे जन, मजन नाम न जन नामें जन', अर्थात् स्त्रियों (स्त्री संबंध) का फल अच्छा होता तो इनका नाम मज़न होता (मा मारय)। अंग्रेजी में वीम्येन (स्त्री) woman शब्द में यदि एक ई (E अक्षर) और बढ़ा दें तो woe (वो) शब्द का अर्थ है शोक और म्येन (Man) कहते हैं मनुष्य को। जिसका भावार्थ हुवा कि मनुष्य के हक में शोक का रूप। धन्य! दुष्टा कटुभाषिणी कुरूपा स्त्रियों की कथा जाने दीजिये। उनके साथ तो प्रति-

क्षण नर्क जातना हुई है, यदि परम साध्वी महा मृदुभाषिणी अत्यंत सुंदरी हो तौ भी बंधन ही है। हम चाहते हैं कि अपना तन, मन, धन, सर्वस्व परमेश्वर के भजन में, राजा के सहाय में, संसार के उपकार में निछावर कर दें। पर क्या हम कर सकते हैं? कभी नहीं! क्यों? गृहस्वामिनी किसको देख के जिएंगी। वे खायंगी क्या? हमारा जी चाहता है कि एक बार अपनी राजराजेश्वरी का दर्शन करें! देश देशांतर की सैर करें! घर में रुपया न सही सब बेच-खोच के राह भर का खर्च निकाल लेंगे। पर मन की तरंगें मन ही में रह जाती हैं, क्योंकि घर के लोग दुख पावेंगे। हम पढ़े-लिखे लोग हैं। प्रतिष्ठित कुल के भये उपजे हैं। एक तुच्छ व्यक्ति की नौकरी करके बातें कुबातें न सुनेंगे। स्थानांतर में चले जायंगे, दो चार रुपये की मजदूरी करके खायंगे। गुलामी तो न करनी पड़ेगी। पर खटला लिए लिए कहां फिरेंगे? घर वालों को किसके माथे छोड़ जायंगे? यही सोच साच के जो पड़ती है सहते हैं। इन सब तुच्छताओं का कारण स्त्री है जिसके कारण हम गिरस्त कहाते हैं, अर्थात् गिरते गिरते अस्त हो जाने वाला! भला हम अपनी आत्मा की, अपने समाज की उन्नति क्या करेंगे। एक रामायण में लिखा है कि जिस्समय रावण मृत्यु के मुख में पड़े थे, 'अब मरते हैं, तब मरते हैं' की लग रही थी, उस समय भगवान रामचंद्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि रावण ने बहुत दिन तक राज्य किया है, बहुत विद्या पढ़ी है, उनके पास जाओ। यदि वे नीति की दो चार बातें बतला देंगे तो हमारा बड़ा हित होगा। हमें अभी अयोध्या चल के राज्य करना है। लक्ष्मणजी भ्रातृ-चरण की आज्ञानुसार गये और अभीष्ट प्रकाश किया। रावण ने उत्तर दिया कि अब हम परलोक के लिये बद्धपरिकर हैं। अधिक शिक्षा तो नहीं दे सकते पर इतना स्मरण रखना कि तुम्हारे पिता दशरथ महाराज बड़े विद्वान और बहुद्रष्टा थे, पर उन्होंने कैकेयी देवी का वचन मानने के कारण पुत्र वियोग और प्राण हानि सही! और हम भी बड़े भारी राजा थे पर मंदोदरी रानी की बात कभी नहीं मानते थे। उसका प्रत्यक्ष फल तुम देख ही रहे हो। सारांश यह है कि स्त्री को मुंह लगाना भी हानिजनक है और तुच्छ समझना भी मंगलकारक नहीं है। हमारे पाठक समझ गये होंगे कि स्त्री सम्बन्ध कितना कठिन है। यदि हम इन्हीं के वश में पड़े रहें तो किसी प्रकार कल्याण की आशा नहीं है। जन्म भर नोन तेल लकड़ी की फिक्र में दौड़ना होगा। और यदि छोड़ भागे तौ भी लोक में निन्दास्पद और परलोक में पापभागी होंगे। इससे उत्तम यही है कि विवाह केवल वर

और कन्या ही की इच्छा से होना ठीक है नहीं तो दोनों की जीवन जात्रा में बाधा पड़ना संभव है। ईसाई और मुहम्मदीय ग्रंथों में लिखा है कि ईश्वर ने आदम को अति पवित्र और प्रसन्न उत्पन्न किया और स्वर्ग की बाटिका में रक्खा था परन्तु जब उसे अकेला समझ कर हौवा को साथ कर दिया उसके थोड़े ही दिन पीछे आदम ने शैतान से धोका खाया, ईश्वर की आज्ञा उलंघन की, और वैकुन्ठसे निकल कर दुनियां की हाव २ में पड़े। जब परमपिता जगदीश्वर की इच्छा से विवाह का परिणाम यह है तो साधारण माता पिता की अनुमति से ब्याह होने पर कौन अच्छे फल की संभावना है? जगत में लाखों मनुष्य ऐसे हैं कि यदि उन्हें घर के धंधों से छुट्टी मिले तो पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग मंगलमय कर दें। पर भवबंधन में पड़े हुए अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं। ऐसों के लिये स्त्री क्या है? एक स्वेच्छाचारी सिंह के लिये हाथ भर का जंजीर जो आधी उस अभागी के गले में बंधी हो और आधी खूंटा में। हमारे रिषि लोग बहुधा अविवाहित थे। महात्मा मसीह भी अविवाहित थे। आज उनके नाम से लाखों आत्माओं का उपकार हो रहा है। यदि वे भी कुटुम्ब की हाव २ में लगे रहते तो इतना महत्व कभी न प्राप्त करते।

सीता जी के समान स्त्रियां पूजनीया हैं जो पति प्रेम निभाने को बरसों के कठिन दुख को सुख से शिरोधार्य कर लें, राज्य सुख को पतिमुखदर्शन के आगे तुच्छ समझें। सती जी सी गृहदेवी माननीया हैं जो पति का अपमान न सह सकें चाहे सगे बाप का मुलाहिजा टूट जाय, चाहे प्राण तक जाते रहें। पर ऐसी गृहेश्वरी होती कहां हैं। सतयुग त्रेतादि में भी एकही दो थीं, अब तो कलिकाल है! यदि मान लें कि कदाचित कहीं कोई ऐसी निकल आवैं तो उस पुरुष का जीवन धन्य है! वुह चाहे जैसा दीन हीन हो पर आत्मपीड़ा से बचा रहेगा और जो लोग साम दाम दंड भेद से अपनी अनुकूला बना सकें वुह भी धन्य हैं। पर वह दोनों बातें असंभव न हों तो महा कठिन हई हैं। पहिली बात तो 'राम कृपा बिन सुलभ न सोई'। दूसरी बात के आसार भारत की वर्तमान दशा से कोसों दूर देख पड़ते हैं। न जाने इतने देशभक्त, इतने व्याख्यानदाता, इतने पत्र सम्पादक स्त्रियों के सुधार में बरसों से क्यों नहीं सन सकते। पुरुषों के लिए सब कहीं पाठशाला, इनके लिए यदि हैं भी तो न होने के बराबर। यदि आज सब लोग इधर झुक पड़ें तो शायद कुछ दिन में कुछ आशा हो, नहीं आज दिन के देखे तो हमें यही जान पड़ता है कि अर्धांगी स्त्री का नाम इसलिए रक्खा गया है कि जैसे अर्धांगी नामक बीमारी से स्थूल शरीर आधा किसी काम का नहीं रहता

वैसे ही इस अर्धांगी के कारण मन, बुद्धि, आत्मा, स्वातंत्र्य, उदारचित्ततादि आधी (नहीं, बिलकुल) निकम्मी हो जाती है ! मनुष्य केवल भय निद्रादि के काम का रह जाता है, सो भी निज बस नहीं।

खं० ५ सं० १ और २ (१५ अगस्त, सितंबर ह० सं० ४)

कलि महं केवल नाम प्रभाऊ

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी रामायण में कहते हैं कि कलिकाल में केवल भगवान का नाम स्मरण करते रहो, बस इसी में सब कुछ है। हमारी समझ में यह बचन अत्यन्त सत्य है। यदि प्रभु के किसी नाम का स्मरण हमें सब काल बना रहे तो हम अशेष बुराइयों से बचे रहें। सर्वव्यापक नाम के स्मरण से किसी गुप्तातिगुप्त स्थान पर भी वुह काम करने का साहस न पड़ेगा जिसे अनेक विद्वानों ने बुरा ठहराया है। सर्वशक्तिमान के स्मरण से हम को चाहे जैसी ऊंच नीच आ पड़े, कभी घबराहट न होगी, क्योंकि वुह हमारे सब अभाव को दूर कर सकेंगे। प्रेमस्वरूप के स्मरण से हमारे चित्त को एक प्रकार की मस्ती बनी रहेगी और जगत् आनन्दमय देख पड़ेगा। ऐसे ही राम, कृष्ण, शिवादि अगणित नामों से असंख्य भलाई हो सकती है पर जब हम अर्थविचारपूर्वक भगवन्नाम स्मरण करेंगे तब नाम के प्रभाव से कलियुग का प्रभाव नहीं रहेगा। इस मे ऊपर कहे हुए बचन का ठोस अर्थ यह है कि भक्ति का प्रभाव, श्रद्धा का प्रभाव, लुप्तप्राय हो गया है। केवल नाम का प्रभाव रह गया है, अर्थात् सरल चित्त से प्रेम के साथ परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, ध्यान करने वाले कदाचित लाखों में एक भी न मिले पर मुख से रामा रामा कहने वाले हजारों देख लीजिये। घंटों लेकचर दे के वेद, पुराण, कुरान,इंजील को चर डालने वाले हजारों ले लीजिये। यदि आप को यह शंका हो कि उपरोक्त वाक्य के अक्षरार्थ से केवल नाम प्रभाव निकलता है, भगवान के नाम का वर्णन कहां है, तो हमें क्या दुनियां भर के नाम लेते जाइये, वास्तविक अर्थ शायद कहीं न पाइएगा। पण्डित का अर्थ है सत और असत का विवेक करने वाला, पर बतलाइये तो इन ढीली धोती और चौड़ी पगड़ी वालों में कै जने हैं जो सदा सत्यासत्य ही के निर्णय में लगे रहते है। ब्राह्मण का अर्थ है वेद और ईश्वर को जानने वाला, पर कहिये तो कै जने आप ने देखे हैं जो त्रिवेदी कहा के गायत्री अच्छी तरह जानते हैं, औ कै जने नोन तेल की चिंता का शतांश भी उस नित्य स्मरणीय की चिंता रखते हैं। कितने वैश्य हैं जो दूसरे देश से कभी सौ रुपये भी कमाय लाए हों ? कितने अमीर हैं जो मुंदी भलमंसी लिए न बैठे हों ? कितने मित्र हैं जो काम पड़ने पर कटी उंगली पर मूतने का भी दृढ़

संकल्प किए बैठे हैं। कितनी स्त्रियां हैं जो चौराहे की ईंट के बराबर भी पति की प्रतिष्ठा करती हों ? कितने उपदेशक हैं जिनके गुप्त चरित्र अपने बचनों के षोड़शांश भी मिलते हों ? कितने राजा हैं जो प्रजा के हितार्थ निज स्वार्थ को दमड़ी भर भी त्याग सकें ? कितने देश हितैषी हैं जो अपना धन मान प्रतिष्ठा देश के लिये वार दें ? परमेश्वर करे किसी का भरभाला न खुले नहीं तो घर घर मिट्टी के चूल्हे हैं। यह कलियुग का जमाना है। वास्तव में कहीं कुछ तंत है नहीं। सब किसी का नाम ही नाम सुन लीजिये, क्योंकि महात्माओं का वचन झूठ नहीं होता, और वे कहि चुके हैं कि 'कलि महं केवल नाम प्रभाऊ।'

खं० ५ सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ४)

कानपुर और नाटक

अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहां के हिन्दुस्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत पण्डितवर राम नारायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य्य का बनाया हुवा 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'वैदिकी हिंसा' खेला था! यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक के अभिनय के मूलारोपक यही प्रभाकर जी हैं, और श्रीयुत बिहारीलाल जी परोपकारी उनके बड़े भारी सहायक हैं! यद्यपि द्वेषियों ने बहुत शिर उठाया, और लज्जा के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि इस पत्र का सम्पादक भी उन्हीं में से एक था, पर उस देशाभिमान रूपी आकाश के प्रभाकर ने परम धीरता के साथ अपना संकल्प न छोड़ा। रामाभिषेकादि कई बड़े २ अभिनय ऐसी उत्तमता से किये कि किसी से अद्यापि हुए नहीं। पर जब त्रिपाठी महाशय उद्यमवशतः गोरखपुर चले गये तब से कई वर्ष तक इस विषय में सूनसान रही! केवल ८२ के सन में प्रताप मिश्र की दौड़ धूप से 'नील देवी' और 'अंधेरनगरी' खेली गई थी! फिर लोगों के अनुत्साह से कई वर्ष कुछ न हुवा। हां, ८५ के सन् में 'भारत दुर्दशा' खेली गई और भारत एनटरटेनमेंट क्लब स्थापित हुवा जिसके उद्योग से दो बेर 'अंजामें बदी' नाटक (फारसी वालों के ढंग का नाटकाभास) खेला गया! कुछ आशा की गई थी कि कुछ चल निकलेंगे, पर थोड़े ही दिन में मेम्बरों के परस्पर फूट जाने से दो क्लब हो गये! फूटी हुई शाखा M. A. क्लब के नाम से प्रसिद्ध है और पहिली का नाम दो एक हिन्दी रसिकों के उत्साह से श्री भारतरंजनी सभा हो गया है! इसका वृतांत पाठकगण इसके नाम से और प्रताप मिश्र की शराकत से समझ सकते हैं। सिवा इसके श्री बाबू पथनलाल प्रेसीडेन्ट और बाबू राधेलाल मैनेजर भी उत्साही पुरुष हैं। इन दोनों सभाओं की देखा देखी कई क्लब और भी खड़े हुए पर कई उगते ही ठिठुर गये, कई एक आध बेर जाग के सो गये! जागे तो भी इतना मात्र कि फारसियों की शिष्यता की इतिकर्तव्यता समझ के। सो भी न कर सके। बड़ी भारी छूत इस शहर के लोगों में यह है कि यदि कोई पुरुष अच्छा काम करना बिचारे, और अन्य लोग उसे समझ भी लें कि अच्छा है, तो भी उनके सहायक हो के उन्नति न देंगे।

अपनी नामवरी के लालच में कुछ सामर्थ न होने पर भी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकावेंगे। इसमें दोनों की ही हानि होती है! यदि यह सभायें एक हो के वा परस्पर सहायता करके सुयोग्य कवियों के बनाए हुए वा बनवा के नाटक खेला करें तो क्या कहना है! पर कहे कौन? वर्ष भर से एक A. B. club और हुआ है जिसने कई बेर उलट फेर खाए, अन्त में एक परोत्साही रत्न की शरण ले के रक्षित रहा। ६ अगस्त को इस क्लब ने अभिनय किया पर हम यह मुक्त कंठ से कहेंगे कि यदि हमारे प्रिय मित्र श्री भैरवप्रसाद वर्मा तन मन धन से बद्धपरिकर न होते तो यह दिन कठिन था। नाटक पहिले पहिल था और भाषा भी उरदू थी, पर पात्रगण चतुर थे, इमसे अभिनय सराहने योग्य था इसमें शक नहीं। M. A. club के कई सभासद नाराज हो के उठ गये। यह अयोग्य किया! और बहुत से अशिक्षित जन कोलाहल की लत भी दिखाते रहे, पर हमारे कोटपाल अलीहुसेन साहब के परिश्रम और प्रबन्ध से शांति रही। 'सदमए इश्क' और 'गोरक्षा' निर्विघ्न खेला गया। सुनते हैं कि इस क्लब में उत्तमोत्तम नागरी के नाटक भी खेले जाया करेंगे। परमेश्वर इस किम्बदन्ती को सत्य करे। हम अपने सुहृद्वर भैरवप्रसाद (मोलो बाबू) से आशा रखते हैं कि नाटक का असली अमृतरस चरितार्थ करने में सदैव प्रोत्साहित रहेंगे।

खं० ५, सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ४)

कनौज में तीन दिन

गत मास में श्री स्वामी भास्करानंद जी के साथ तीन दिन के लिए कनौज जाना पड़ा था। यद्यपि कलकत्ता, बंबई, मद्रास सब मंझाए बैठे हैं, पर यह नगर हमारा मुख्य नगर है। हम किसी दशा में, कहीं क्यों न हों पर कनौजिया हैं। हम कान्यकुब्ज हैं तो फिर कान्यकुब्जपुर से ममता क्यों न रक्खें। यदि जात्याभिमान कोई वस्तु है तो हम यह कहने से नहीं रुक सकते कि कनौज हमारा है हम कनौज के। किसी समय हमारे पूर्वज विश्वामित्र बाबा, कश्यप शांडिल्य भरद्वाजादि बाबा जगत के शिरोमणि थे। वे इसी कान्यकुब्ज नगर रूपी खानि के रत्न थे। हम इन दिनों दुनिया के कूरा करकट हैं तो भी इसी घूरे के करकट हैं जिस का नाम कनौज है। यद्यपि अदृष्ट के पवन हमें इधर उधर फेंक दिया है पर हमारे दिमाग से कनौज की बू कहां जाती है। इन भारत के गिरे दिनों में भी कनौज का इत्र (अतर) दूर २ सराहा जाता है, फिर कनौज की बू हमारे दिमाग से कैसे दूर हो। बरसों पीछे जो कोई अपने नगर में आता है उसको हर्ष अवश्य होता है एवं अपने आत्मीय को दुर्दशाग्रस्त देख के शोक भी होता है। फिर कनौज जात्रा में हमको हर्ष शोक क्यों न होता। हम आशा करते हैं कि हमारे पाठकगण इस जात्रा का वृतांत पढ़ के मनोरंजन के अरिरिक्त कई एक उपदेश भी ग्रहण करेंगे। हमारे प्रिय मित्र हरिशंकर बर्म्मा एवं श्याममुंदर बर्म्मा तथा कबिबर गदाधर के कारण रेल के तीन घंटे तो ऐसे आनन्द से बीते कि मीरांसराय स्टेशन पर उतरने को जी न चाहती। वह मार्ग में हरियाली का दृश्य, जल की बृष्टि, कबिता की छटा, यारों का जमघटा, हम तो हमीं हैं अन्य जात्रियों को भी मस्त कर रहा था। रेल से उतरे तो इक्कों पर चढ़े। डाक्टर श्री दुबरीप्रसाद जी से भेंट कर आगे बढ़े। कुछ ही दूर चल के कनौज के खंडहर शुरू हुए जिन्हें देख के अनुराग औ बिराग ने हृदयांगण में द्वन्द्वयुद्ध मचाया। कभी तरंग आती थी। धन्य यह अवसर कि पुरखों की पुन्य भूमि का दर्शन हो रहा है। कभी यह छंद स्मरण होने से कि 'जलता है आज क्या खसो खाशाक(?) में मिला, वुह गुल जो एक उम्र चमन का चिराग था। गुजरूं हूं जिस खरावे में कहते हैं बांके लोग। है चंद दिन की बात यह घर था यह बाग था।'

संसार से जी हट जाता था। जब मुख्य नगर में आए तो धर्म भगवान ने कहा, तीर्थ में सवारी पर न चलो। प्रेमदेव ने कहा, यह तो महा तीर्थ है। यहा वे अदबी २ बस उतरे। उस पुन्य भूमि की धूलि मस्तक पर धारण कर प्रसन्नतापूर्वक मित्रो से संलाप करते फर्श नामक मुहल्ले में आ पहुंचे जहा ठहरना था। प्रियवर स्याममुंदर का स्थान खाने पीने उठने बैठने सोने जागने का सब दिव्य स मान। यहा के सुख का क्या कहना। ऊपर से श्री मास्टर देवीदीन जी की आर्य की धर्मनिष्ठता एवं दृढ़चित्तता, डाक्टर दुबरी-प्रसाद जी की उद्योगशीलता, श्रीयुत बाबू बिश्वेश्वरनाथ की सहृदयता, श्रीयुत लाला काशीप्रसाद जी का प्रेम देख के अकथनीय आनन्द प्राप्त हुवा। इस बात से और भी संतोष हुवा कि यहा अभी तक पुरानी मर्यादा बनी है। पुरुष मिलनसार हैं, स्त्रियां लज्जावती हैं। यह और भी सौभाग्य का विषय है कि मुसलमान सज्जन सुलहपसंद एवं हिंदुओं के दुख सुख में साथी हैं। दूसरे दिन गोरक्षा पर प्रताप मिश्र औ स्वामी जी के व्याख्यान शुरू हुए।

व्याख्यान का अधिक हाल लिखने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना हम कहेंगे कि स्वामी जी महाराज की भाषणशक्ति अवश्य ऐसी ही श्लाघ्य है कि एक प्रकार की जादू कहना चाहिये। इससे अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा कि श्रीमुख के उपदेशों से समझदार बधिकों को भी दया उत्पन्न हो जाती है। हसनू कसाई ने गोवध छोड़ दिया! सच्च पूछो तो उन हिंदुओं के मुंह पर थूक दिया जो ऊपर से धर्मात्मा रूप कहते हैं पर भीतर २ बूचरों का लेन देन करते हैं, गोरक्षा के लिए पहिले तो शरमाशरमी चंदा लिख देते हैं पीछे से बहाने सोचा करते हैं जिस में देना न पड़े। धिक! ऐसे हिंदुओं की अपेक्षा हसनू प्रशंसनीय है जिन्हें स्वामी जी के बचनों का असर हुवा, पर इन नीचों को बड़े २ रिषियों तथा निज मत के आचार्यों के वाक्य असर नहीं करते। सच्च है "फूलै फलै न बेंत जदपि सुधा बरषें जलद। मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलें बिरंचि सम।' कनौज में एक बात देख के और भी प्रसन्नता हुई कि हिंदी कविता के समझने वाले और उस का आनन्द लेने वाले कानपुर लखनौ आदि बड़े २ नगरों से अधिक हैं। 'ब्राह्मण' सम्पादक ने एक दिन "बां बां करि तृण दाबि दांत सौं दुखित पुकारत गाई है" इस लावनी को तनक शोक मुद्रा से गाया था, इस पर सैकड़ों की आंखें डबडबा आई थीं। बहुतों के आंसू ही निकल पड़े थे। यह बात हमारे नगर में कम है क्योंकि लोग हिंदी के रसिक कम हैं। पंडितवर

पुत्तूलाल मिश्र और श्री हरिशंकर शास्त्री भी कान्यकुब्जपुर के सूर्य चंद्रमा कहने योग्य हैं, उच्चकुल और श्रेष्ठ विद्या वाले लोग हर कहीं होंगे, पर धर्म्म कार्य में कटिबद्ध और सभ्यता सौजन्यादि गुणविशिष्ट बहुत थोड़े दृष्टि पड़ते हैं। 'विद्या ददाति विनयं' का ठीक नमूना हमें इन्हीं दोनों व्यक्तियों में देख पड़ा। हम आशा करते हैं कि यह दोनों महात्मा कनौज गोशाला तथा गोरक्षणी सभा के कामों में सब लोगों को सदैव प्रोत्साहित रक्खेंगे। हम ने सुना है कि कई लोग कचियाते हैं। यदि ईश्वर न करे कहीं ऐसा ही हुवा हो हमें इन्हीं मिश्र जी से और त्रिपाठी जी से अधिक उलहना होगा क्योंकि यह भी कनौजिया हैं। और खास कनौज में कोई सदनुष्ठान हो हुवा के रह जाय तो अचम्भा है और उन के लिए अधिक लज्जा है जिन के नाम से कनौज का संबंध हो।

(अपूर्ण)

खं० ५, सं० १, २ (१५ अगस्त, सितंबर ह० सं० ४)

काम

'हिंदीप्रदीप' के संपादक विद्या, बुद्धि, वय और स्नेह आदि की रीति से हमसे ऐसे श्रेष्ठ हैं कि सनातन शिष्टाचार (श्रेष्ठ रिषियों का आचार) के अनुसार हम उन्हें अहंकारपूर्वक गुरु वा पिता समझ सकते हैं। उन्होंने एक बार मन के वर्णन में अपने कलम की कारीगरी दिखलाई थी, और हमारे आर्य्य कवियों ने काम का नाम मनोभव अर्थात् मन का पुत्र लिखा है, अतः हम अपने निज अधिकार (रुतबा दर्जा) के अनुसार काम का बखान करते हैं। काम का अर्थ चाहे स्त्री संबंध समझिये, चाहे क्रिया मानिए, चाहे कामना या इच्छा, चाहे फारसी में गरज (जैसे खुदकाम का अर्थ है खुद-गरज), सब की उत्पत्ति मन से है और मन का ईश्वर के साथ बहुत गहिरा संबंध है। इसी मूल पर भगवान कृष्णचंद्र के पुत्र प्रद्युम्न को कामदेव का अवतार कहते हैं और शास्त्रों में लिखा है कि ईश्वर से मन की उत्पत्ति है, और मन से काम की उत्पत्ति है, एवं सब कोई जानता है कि ईश्वर के रूप, गुण, स्वभाव सब अनंत हैं, कि उनका वर्णन असंभव है। फिर भला ईश्वर के नाती काम का वर्णन क्या सहज होगा ? यदि अनत न कहिये तो भी महा दुष्कथ्य तो हुई है। नहीं तो कहिये, देखें कहां तक कहोगे। जितनी वस्तु भूगोल खगोल में देख पड़ती है सब ईश्वर अथवा मनुष्य के काम हैं। जितनी बातें आप कहते, सुनते, विचारते हैं, सब काम हैं। करना, कहना, सुनना, विचारना स्वयं काम है। काम से खाली कहीं कोई नहीं। जो मनुष्य, जो जीव, जो पदार्थ आपके समझ में निकम्मे हैं वे भी, यदि मान ही लीजिये कि सचमुच निकम्मे हैं तो भी, निरर्थक पड़े ही रहते हैं, पृथ्वी का थोड़ा सा भाग ही रोके हैं। क्या पड़ा रहना और रोकना काम नहीं है ? फिर काम से शून्य कौन है, क्या है ? सबसे अच्छी बातें, जिनको रिषियों ने मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का फल माना है, जिनके लिए बड़े २ लोग ईश्वर से याचना करते हैं, वे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हैं। और सब से बुरी सर्वथा त्याज्य बातें भी काम, क्रोध, लोभ, मोह हैं। इसमें भी विचार के देखो, अर्थसंचय, अर्थभोग, धर्म्माधर्म्म, कल्पमोक्षसाधन, मोक्षप्राप्ति, क्रोध करना, लोभ करना, मोह करना, सब काम ही के भेद हैं, एक प्रकार के काम ही हैं। और तो और, व्याकरण की रीति से काम अर्थात् क्रिया

(Verb) के बिना कोई वाक्य ही नहीं बन सकता। फिर भला काम के बिना 'क्या बने बात जहां बात बनाए न बने'। जब कि जन्म लेना, खाना पीना, सोना जागना, चलना फिरना, अन्त में मर जाना, फिर शरीर का कृमिवत् भस्म होना, जीव का नर्क स्वर्गादि भोगना, सब काम ही हैं तो फिर कैसे कहें कि दुनिया में किसी भांति, कभी, किसी को, काम से छुटकारा है। हम दुनियादार हैं, हमारी बातें जाने दो, महात्मा मुनि लोग दुनिया के सब झगड़े छोड़ के, बन में जा बैठते हैं, उनका दुनिया छोड़ना और बैठ रहना भी काम ही है। खैर, हठतः कह दीजिए कि नहीं है, भगवद्भजन, धर्मसाधन, योगाभ्यास, यह सब क्या है? बहुतेरे झूटमूठ कह देते हैं, काम से छुट्टी पावैं तो ऐसा करैं। वाह! भला काम से किसे छुट्टी है? हमारे शरीर की उपज काम ही से है। शरीर स्वयं काम का विकार है। फिर भला कहीं अंगूठी सुवर्ण से छुट्टी पा सकती है? हम तो हमी हैं, ईश्वर स्वयं सर्वशक्तिमान अर्थात् सब काम कर सकने वाला है। हम लोग प्रेम सिद्धांती उसे 'कोटि काम कमनीय' मानते हैं तो हमारे शुष्कवादी वेदान्ती भाई भी उसे पूर्णकाम अथवा निष्काम कहते हैं। वाहरे काम! सर्वथा निर्लेप, निरंजन, नारायण को भी न छोड़ा! हमारी समझ में नहीं आता है कि शिव जी ने कामदेव का नाश क्यों किया! संसार की उत्पत्ति, पालन, प्रलय, भक्तों की मनोरथ पूर्ति, पार्वती जी का विवाह, गणेश जी का जन्म, सब बात तो बनी ही हैं, फिर भोला बाबा की इस लीला में क्या गुप्त भेद है! काम के भेद भी परमात्मा के भेद से कुछ ही कम हैं। भला काम, बुरा काम, मजेदार काम, भद्दा काम, मोटा काम इत्यादि काम का स्वरूप कोई नहीं कह सकता कि कैसा है। पर काम के काम सब जानते हैं। काम बनता है, काम बिगड़ता है, काम चलता है, काम अटकता है, काम पड़ता है, काम आता है, काम होता है, काम लगता है, काम छुटता है, काम बढ़ता है, काम निकलता है, काम फैलता है, काम निपटता है, काम जमता है, काम उखड़ता है इत्यादि, कहां तक कहें, एक न एक काम सभी को जगतकरता ने सौंप रक्खा है। किसी का काम खुशामद, किसी का स्वार्थपरता, किसी का लोकनिन्दा, किसी का परधनहरण, किसी का जातिद्वेश, किसी का कपट, किसी का बेशरमी, किसी का डरपोकनापन, किसी का शुकलोचनत्व (तोताचश्मी), किसी का लहू लगा के शहीदों में मिलना। अस्तु, ऐसे गंदे काम वालों का नाम लेके कौन मुंह गन्दा करे। कौन खरी कह के बैरी बने। इससे हमें प्रेमाशक्ति, ईश्वरभक्ति, काव्यरसिकता, सरलता, सहृदयता, स्वधर्माभिमान, देश-

ममता, जातिहितैषिता, निजभाषाभावुकता, जगतमित्रतादि कामों में तत्पर रहने वालों की स्तुति प्रिय है, जिसमें अपना मन शांत हो, वाणी पवित्र हो तथा दूसरों को उपदेश हो, सत्कर्म में रुचि हो। सिद्धान्त यह कि 'कोऊ काहू में मगन कोऊ काहू में मगन' है। जड़ चेतन, पशु पत्ती, कीट पतंग, सभी काम में संलग्न हैं तो हम भी संसार से बाहर नहीं हैं। हम भी नित नई बातें बना के तुम्हें रिझाने का काम मुड़िआए हैं। तुम मानो न मानो, कुछ हमारे कहे पर चलो न चलो, तुम्हें यख्तियार है। हम अपने काम से न चूकेंगे, तुम्हारी तुम जानो तुम्हारा काम जाने, पर इतना याद रहे कि अपना काम देखे रहोगे तो सब तरह अच्छा है, नहीं तो निकम्मे कहलाओगे।

खं० ५, स० २ (१५ सितंबर ह० सं० ४)

हम राजभक्त हैं

इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहां जितने धर्मप्रचारक हो गये हैं उनमें से ऐसा कोई न था जो संसारीय वैभव को चाहता हो, प्रत्युत राजर्षि लोग स्वयं अपना राज्य छोड़ कर वैराग्य लेते थे। इसी से उन्होंने कहीं राजा से ढिटाई करने का उपदेश नहीं दिया। क्योंकि वे जानते थे कि आज जो गद्दी पर बैठा है वुह हमारा ही लड़का व छोटा भाई व मंत्री है, फिर मनुष्य जाति स्वभाव क्योंकर चाहेगा कि लोग हमारे एक आत्मीय से गुस्ताखी करें। रहे ब्रह्मर्षि, सो वे जानते थे कि सूर्यवंशी चंद्रवंशी सब हमारे प्रिय शिष्य हैं। उनसे यदि कोई धृष्टता करेगा तो संसार का प्रबंध बिगड़ेगा। इसी कारण से हमारे प्राचीन इतिहासों में एवं धर्मग्रंथ में यह कहीं न पाइएगा, अमुक राजा से प्रजागण बिगड़ गए। प्रत्युत यह आशय सैकड़ों ठौर लिखा है कि राजा प्रजा का पिता पुत्र का सा संबंध है। राजा ईश्वर का अंश है। गीता में तो साफ लिखा है कि मनुष्यों में राजा भगवान का रूप है। भगवान का रूप क्या साक्षात भगवान होने का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मुसलमान, ईसाई, ब्राह्म, आर्य्य सब हमको ईश्वरविमुख कहते हैं, पर हम अपने अयोध्याधिपति भगवान रामचंद्र को अपना इष्टदेव, मुक्तिदाता और धर्मसर्वस्व मानते हैं। इससे अधिक हमारी राजभक्ति का नमूना और क्या होगा। जिस राजा ने हमको तनक अच्छी तरह रखा हम उसी के उपासक हो जाते हैं। अकबर को मुसलमान इतिहासवेत्ता चाहे जो कहें पर हमारे यहां के बड़े उच्च कुल के अभिमानी वीर राजपूतों ने उन्हें दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा कहा है। हम साहंकार कह सकते हैं कि हम निस्संदेह सच्चे राजभक्त हैं। हमारे समान कोई बिरली ही जाति राजभक्त होगी। राजा की जाति, धर्म्म, आचार व्यवहार, कुछ ही क्यों न हो हम उसे मान्य करते हैं। मान्य ही नहीं वरंच यदि हमें प्रसन्न रक्खे तो हम उसे पूजने लगें। ईश्वर का नाम पढ़ेलिखों में जगन्नाथ इत्यादि और बिना पढ़ों में दई राजा आदि से प्रत्यक्ष है कि हम ईश्वर और राजा को पर्याय समझते हैं। हम अपने धर्माचार्य ब्राह्मणों को भी महाराज कहते हैं। इससे हमारे यहां का एक लड़का भी जान सकता है कि राजा को हम क्या समझते हैं। फिर जो कोई हमारी राजभक्ति में संदेह करे वुह अवश्य न्याय के गले में छुरी फेरता है। हमारे इस सिद्धांत का

खंडन आधुनिक गवर्नमेंट के झूठे खुशामदी सन् १८५७ के बलवे के सिवा और कोई दोष नहीं लगा सकते। पर उन्हें भी समझना चाहिए कि वुह अपराध प्रजा का न था, किसी प्रतिष्ठित हिंदू मुसलमान का दोष न था, केवल थोड़े से अदूरदर्शी···के कारण हमारे भारतीय नेशन मात्र को कलंक लगाना बुद्धिमत्ता से दूर है। यदि मान ही लें कि वुह अपराध हिंदुस्तानियों ही का था तो भी इसका क्या उत्तर है कि उस घोर समय में हमारी सर्कार को सचमुच सहायता किसने दी थी? हमी ने। क्योंकि हम राजभक्त हैं। राजभक्ति हमारा सनातन धर्म है। इतर उपधर्मों का हम तभी तक विचार करते हैं जब तक हमारी राजभक्ति में हानि न हो। खानेपीने में छुवाछूत, जहाज पर से विदेशजात्रा, बिना स्नान किए हुए भोजन इत्यादि हमारे धर्म के अंग हैं। पर राजा का काम लगे तो हमें उनमें किंचित आग्रह नहीं है। यह बात हम कई बेर दिखा चुके हैं फिर भी हमारी राजभक्ति में कोई संदेह करे तो लाचारी है। शरीफ हिंदू मुसलमानों से ऐसा संदेह करना दूरदर्शिता की हत्या लेना है।

खं० ५, स० २ (१५ सितंबर ह० सं० ४)

प्रतापचरित्र

इस नाम से निश्चय है कि पाठकगण समझ जायेंगे कि प्रतापनारायण मिश्र का जीवनचरित्र है पर साथ ही यह भी हास्य करेंगे जन्म भर में स्वांग लाए तो कौड़ी का। प्रताप मिश्र न कोई विद्वान, न धनवान, न बलवान, उसके तुच्छ जीवनवृतांत से कौन बड़ी मनोरंजना व कौन बड़ा उपदेश निकलेगा। हां, यह सच है। पर यह भी बुद्धिमानों को समझना चाहिए कि परमेश्वर का कोई काम व्यर्थ नहीं है। जिन पदार्थों को साधारण दृष्टि से लोग देखते हैं वे भी कभी २ ऐसे आश्चर्यमय उपकारपूर्ण जंचते हैं कि बड़े २ बुद्धिमानों की बुद्धि चमत्कृत हो रहती है। एक घास का तिनका हाथ में लीजिए और उसकी भूत एवं वर्तमान दशा का विचार कर चलिए तो जो २ बातें उस तुच्छ तिनके पर बीती हैं उनका ठीक २ वृतांत तो आप जान ही नहीं सकते, पर तो भी इतना अवश्य सोच सकते हैं कि एक दिन उसकी हरातिमा (सब्जी) किसी मैदान की शोभा का कारण रही होगी। कितने बड़े २ रूप-गुण-बुद्धि-विद्यादि विशिष्ट उसके देखने को आते होंगे, कितने ही क्षुद्र कीटों एवं महान् व्यक्तियों ने उस पर विहार किया होगा, कितने ही क्षुधित पशु उसे खा जाने को लालायित रहे होंगे, अथवा उसे देख के जाने कौन डर गया होगा कि इसे शीघ्र खोदो नहीं तो वर्षा होने पर घर कमजोर कर देगा; सुख से बैठना कठिन पड़ेगा। इसके अतिरिक्त न जाने कैसी मंद प्रखर वायु कैसी अघोर वृष्टि, कैसी कोमल कठोर चरण प्रहार का सामना करता २ आज इस दशा को पहुंचा है। कल न जाने किसकी आंखों में खटके, न जाने किस ठौर के जल व पवन में नाचे, न जाने किस अग्नि में जल के भस्म हो इत्यादि। जब तुच्छ वस्तुओं का चरित्र ऐसे २ भारी विचार उत्पन्न करता है तो यह तो एक मनुष्य पर बीती हुई बातें हैं। सारग्राही लोग इन बातों से सैकड़ों भली बुरी बातें निकाल के सैकड़ों लोगों को चतुर बना सकते हैं। सच पूछो तो विद्या, जिसके कारण बड़े २ विद्वान जन्म भर दूसरे कामों से रहित होके केवल विचार करने व ग्रन्थ लिखने में संलग्न रहते हैं, जिसके कारण मर जाने पर भी हजारों वर्ष तक हजारों बुद्धिमान उनकी महिमा गान करते हैं, उस विद्या का मूल बालकों के और पागलों के विचार हैं। हरी २ डाल में लाल २ पीले २ फूल कहां से आये, पीला और नीला मिल के हरा क्यों

बन जाता है, इत्यादि प्रश्नों का ठीक २ उत्तर सोच के निकालना ही पदार्थ विद्या है। फिर मनुष्य कहां जन्मा, क्या २ किया, क्या २ देखा, किस २ से कैसा २ बर्ताव रक्खा, इन बातों का वर्णन क्या लाभशून्य होगा ? विद्या जानकारी का नाम है, फिर क्या मनुष्य का वृतांत जानना नहीं है ? हमारी समझ में तो जितने मनुष्य हैं सबका जीवन लेखनीबद्ध होना चाहिए। इसका बड़ा लाभ एक यही होगा कि उसकी भलाई को ग्रहण करके, बुराइयों से बच•के, दूसरे सैकड़ों लोग अपना भला कर सकते हैं। हमारे देश में यह लिखने की चाल नहीं है इससे बड़ी हानि होती है। मैं उनका बड़ा गुण मानूंगा जो अपना वृतांत लिख के मेरा साथ देंगे, जिसके अनेक मधुर फल लेखकों को यदि न भी मिलें तो भी बहुत दिनों तक बहुत से लोग बहुत कुछ लाभ उठावेंगे। देशभक्तों के लिए यही बात क्या थोड़ी है। इसमें कोई गुण व दोष घटाने बढ़ाने का व कोई बात छिपाने का विचार नहीं है। सच्चा २ हाल लिखूंगा। इसमे पाठक महोदय यह न समझें कि किसी पर आक्षेप व किसी की प्रशंसादि करूंगा। यदि किसी स्थान पर नीरसता आ जाय तो भी, आशा है क्षमा कीजिएगा, क्योंकि यह कोई प्रस्ताव नहीं है कि लेखशक्ति दिखाऊं। यह जीवनचरित्र है।

अपना जीवनचरित्र लिखने के पहिले अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देना योग्य समझ के यह बात सच्चे अहंकार से लिखना ठीक है कि हमारे आदि पुरुष भगवान विश्वामित्र बाबा हैं! जिनके पिता गाधि महाराज और पितामह कुशिक महाराजादि कान्यकुब्ज देश के राजा थे। पर हमारे बाबा ने राज्य का झगड़ा छोड़ छाड़ के निज तपोबल से महर्षि की पदवी ग्रहण की और यहां तक प्रतिष्ठा पाई कि सप्त महर्षियों में चौथे रिषि हुए। कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, वशिष्ठ यह सप्तर्षि हैं। राज्य छोड़ने पर भी राजसी ढंग नहीं छोड़ा! यदि सातों रिषियों की मूर्ति बनाई जाय तो क्या अच्छा दृश्य होगा कि तीन रिषि इस पार्श्व में तीन उस पार्श्व में होंगे और बाबा मध्य में! निज तपोबल से उन्होंने स्वर्ग में बहुत से तारागण एवं पृथिवी पर बहुत से अन्न और पशु भी उत्पन्न किए थे! यह बात अन्य मतावलंबी अथच आजकल के अंग्रेजीबाज न मानें तो हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि सभी के मतप्रवर्तक और वंशचालकों के चरित्रों में आश्चर्य कर्म पाए जाते हैं, फिर हमीं अपने बाबा की प्रशंसा में यह बातें क्यों न मानें। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह अपने निज के लोगों को चाहे जैसी

सामर्थ दे सकता है। भगवान कृष्णचंद्र का पर्वत उठाना, महात्मा मसीह का मुरदे जिलाना, हजरत मुहम्मद का चन्द्रमा काटना इत्यादि यदि सच हैं तो हमारे बाबा का थोड़ी सी सृष्टि बनाना भी सत्य है। यदि उन बातों का गुप्तार्थ कुछ और है तो इस बात का भी गुप्तार्थ यह है कि जगत के अनेक पदार्थों का रूप, गुण, स्वभाव आदि पहिले २ उन्होंने सबको बतलाया था इसी से उस काल के लोग उन पदार्थों को विश्वामित्रीय सृष्टि अर्थात् विश्वामित्र की खोजी और बताई हुई सृष्टि कहने लगे! यही बात क्या कम है! भगवान रामचंद्रजी को हमारे बाबा ने धनुर्वेद और योगशास्त्र भी सिखाया था। यदि आजकल हमारे भाई आकिन, मांझगाव आदि के मिश्र इस महत्व पर कुछ भी ध्यान दें, तनिक भी विचारें कि हम किनके वंशज हैं और अब कैसे हो रहे हैं तो क्या ही सौभाग्य है! इनके उपरांत कात्यायन और किल के सिवा और किसी महर्षि का नाम हमें नहीं मिलता जिन्हें हम अपने पुरखों में बतलावें। हां परमनाथ (या पवननाथ) बाबा अनुमान होता है कि तीन हो चार सौ वर्ष के लगभग हो गए हैं। वह बड़े यशस्वी थे। उनके साथ हमारे कुल का बहुत घनिष्ठ संबंध है! कान्यकुब्जपुर (कनौज) छोड़ के विजयग्राम (बैजेगाव) में कौन बाबा, किस समय, क्यों आ बसे थे इसका पता नहीं मिलता क्योंकि हमारे यहां इतिहास एवं जीवनचरित्र लिखने की चाल बहुत दिन से नहीं रही। यदि किसी भाई के यहां शृंखलाबद्ध नामावली न हो तो उसका मिलना कठिन है।

अतः हम अपने अगले पुरखों के साथ इससे अधिक अपना विवरण नहीं लिख सकते कि विश्वामित्र बाबा के वंश में कात्यायन बाबा के गोत्र में परमनाथ बाबा के असामा (वंशज) हैं। उनाव के जिले में पूर्व की ओर पांच कोस पर बैजेगांव नामक स्थान है, वहां के हम मिश्र हैं। यद्यपि अब बैजेगांव एक साधारण सा गांव है पर अनुमान होता है कि किसी समय वह बड़ा दर्शनीय स्थान, विद्वानों (मिश्रों का) गांव, होगा। उसके निकट बृहस्थल (बेथर) और उससे कुछ ही दूर पर विग्रहपुर (बिगहपुर) गांव है। इन विजयग्राम, बृहस्थल और बिग्रहपुर नामक नामों में प्रकट होता है कि इस प्रांत में किसी वीर पुरुष ने अपना पराक्रम दिखाया होगा पर यह बातें अभी तो अनुमान मात्र हैं, कोई पुष्ट प्रमाण सहित लिखें तो बड़ा उपकार होगा! हमारी कुलदेवी गार्गी, कुलदेवता बूढ़े बाबू, कुलपुरोहित सत्य शुक्ल, यजुर्वेद, धनुरउपवेद, शिव इष्ट देवता हैं। हमारे पिता श्री संकटाप्रसाद मिश्र, पितामह श्री रामदयाल मिश्र, प्रपितामह सेवकनाथ मिश्र, बृद्धपितामह श्री

सयसुख मिश्र हैं। इनके आगे कौन महात्मा थे यह नहीं मालूम। हम समझते हैं कि बहुत ही कम लोग होंगे जो वृद्धपितामह के पिता का नाम जानते होंगे फिर हमारा ही क्या दोष है जो न लिख सके! हमारे पितामह रामदयाल बाबा के एक भाई शिवप्रसाद बाबा थे, वुह दूसरे घर में रहते थे। उनके पुत्र जयगोपाल काका और रामसहाय काका हमारे पितृचरण से बड़े थे और हित भी बहुत करते थे। जयगोपाल काका के पुत्र रामकृष्ण दादा भी पिताजी के हितैषी और उदार पुरुष थे। उनके दो पुत्र शिवरतन (यह भी व्यवहारकुशल और पिताजी के भक्त थे) दूसरे रामभरोसे हैं जिनसे भाईचारा मात्र है। रामसहाय काका के केवल एक कन्या (अनंतदेवी) थी वह विधवा स्वर्गवासिनी हुई अतः उनका वंश उन्हीं से समाप्त हुआ। जयगोपाल काका के दूसरी स्त्री से गुरदयाल, शिवदयाल, गौरीशंकर। उनमें से शिवदयाल दादा का वंश नहीं है। उक्त दोनों भाइयों का वंश है, पर अधिक स्नेह संबंध न होने के कारण उनकी कथा लिखना भी कागज रंगना मात्र है। अतः हम अपने निज बाबा रामदयाल मिश्र से आरंभ करते हैं। इनके दर्शन हमने नहीं पाए क्योंकि हमारे पितृचरण केवल नौ वर्ष के थे जब उन्होंने परलोकजात्रा की थी। सुनते हैं कि वुह कवि थे पर काव्य देखने में नहीं आया। भारत के अभाग्य से नगरों में तो काव्यरसिक और कवियों के सहायक मिलते ही नहीं, जो अपना रुपया लगा के उत्तमोत्तम कविता का प्रकाश किया करते हैं उन्हें तो अभागे भारतीय हतोत्साह कर ही देते हैं। यदि एक साधारण गांव में एक साधारण गृहस्थ का परिश्रम लुप्त हो गया तो आश्चर्य ही क्या है। भगवान तुलसीदास, सूरदासादि को हम कवियों में नहीं गिनते। वे अवतार थे कि उन्होंने जमीन की छाती पर लात मार के अपनी शक्ति दिखाई है, नहीं तो कवि, पंडित, प्रेमी, देशभक्त यह तो दुनिया से न्यारे रहते हैं, इन्हें दुनियांदार क्यों पूछने लगे? हमें शोच है कि अपने बाबा की कविता नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि पिताजी नौ वर्ष की आयु में पितृहीन हुए, १४ वर्ष की आयु में उन्हें गांव और घर छोड़ के कुटुंब पालनार्थ परदेश आना पड़ा। ऐसे कुसमय में कवितासंग्रह करना कैसे संभव था? इससे हमें अपने पिता ही का ठीक २ चरित्र थोड़ा सा लिखने की सामर्थ्य है।

हमारे पितृचरण के दो बड़े भाई और थे। १. द्वारिकाप्रसाद काका, यह निस्संतान स्वर्ग गए, २. यदुनंदन काका, इनका विवाह मदारपुर के सामवेदियों के कुल में हुवा था। इस नगर के परम प्रतिष्ठित श्री प्रयागनारायण तिवारी

स्वर्गवासी हमारे दादा थे क्यों कि हमारी चाची उन के चाचा श्री द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी की कन्या थीं। उनके एक पुत्र अम्बिकाप्रसाद दादा थे, वुह हमारे पितृचरण के बड़े भक्त थे पर चौदह वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारे। हमारी दोनों चाची भी पिता जी से बड़ी प्रीति करती थीं पर एक चाची का हमें दर्शन नहीं हुवा। दूसरी चाची सदा पुत्र की भांति हमारे जन्मदाता को जानती थीं। पर हमारे अभाग्य से हम तीन वर्ष के थे तभी परमधाम जात्रा कर गईं। यह श्री रामानुजस्वामी के सम्प्रदाय की थीं क्यों कि इनके पितृकुल का यही धर्म था। इसी से हमारे घर में बहुत सी रीतें हमारी चाची के पितृकुल की प्रचारित हुईं। मेरा नाम भी उसी ढंग का हुवा! हमारे पिता नौ वर्ष के थे तब निज पिता से वियुक्त हुए थे। फिर थोड़े ही काल में उन की माता भी बैकुंठ गईं। अतः हमको यह लिखना एक गौरव है कि हमारी चाची के हम भी वात्सल्यपात्र थे हमारे पिता भी। यह महात्मा बाल्यावस्था में पिता माता का वियोग, घर की निर्धनता के कारण जगत चिंता में उसी समय फंस गए जिस समय खेल कूद के दिन होते हैं। विजय ग्राम से डेढ़ कोस सबैया गाव है, वहा एक पं० दयानिधि (बाबा) रहते थे। उनसे पढ़ने लगे। वर्ष दिन पढ़ा, फिर एक पेड़ पर से गिरे, पांव टूटा नहीं पर लड़खड़ाने लगा इससे कई महीने पड़े रहे, फिर कानपुर चले आए। यहां यों शिवप्रसाद जी अवस्थी और श्री रेवतीराम जी त्रिपाठी (प्रयागनारायण जी के पिता) ने उन पर बड़ी कृपादृष्टि रक्खी। कुछ दिन पीछे अवध के बादशाह श्री गाजीउद्दीन हैदर के दरोगा जनाब आजमअली खां साहब के दीवान श्री महाराज फतेहचंद जी के यहां नौकर हुए और अवध प्रांत के इब्राहीमपुर नामक गांव में काशीराम के बाजपेयी वंश में विवाह किया। हमारी माता श्री मुकताप्रसाद जी वाजपेयी की कन्या थीं। यह ब्याह और यह नौकरी इन्हें ऐसी फलीभूत हुई कि

(अपूर्ण प्रकाशित)

खं० ५ सं० २, ३, ४ (१५ सितंबर, अक्टूबर, नवंबर ह० सं० ४)

सब की देख ली

परमेश्वर न करे कि किसी को परीक्षा का सामना पड़े नहीं तो घर २ मिट्टी के चूल्हे हैं। यह जमाना भारत के गिरे दिनों का है, जिस को परीक्षा में न उतरना पड़े उसके धन्य भाग ! साधारण पुरुषों की हम नहीं कहते, जो लोग देशहित का बाना बांधे हैं, जिन की जिह्वा व्याख्यान देने के समय घंटो रेल की अंजन हो जाती है, जिन की लेखणी अखबारो के कालम रंगते समय पृथ्वी और आकाश को एक कर डालती है, उन सम्पादकों और पत्र प्रेरकों की कथा भी विचित्र ही है। यद्यपि हम भी उन्हीं में से एक हैं और औवल नम्बर के बेफिकरे गिने जाते हैं, पर हां यह अहंकार के साथ दावा करते हैं कि और बातों म चाहे जो हो पर दोस्ती का हक निभाने और कृतज्ञता दिखाने में कभी न चूके हैं न चूकेंगे ! जिन्हें काम पड़ा है उन्हीं ने देख लिया, जिन्हें जब इच्छा हो देख लें कि हम उक्त दो बातों में चूकने वाले नहीं हैं। बेमुरौवता, छुटापन और तोताचश्मी पहिले दूसरी ही ओर से आरम्भ हुई होगी, पर हमें ईश्वर ने इन ऐबों से आज तक पाक रक्खा है और पूर्ण भरोसा है कि सदा पाक रक्खेगा इसी शेखी पर हम कई एक विषयों में मुंहफट्ट होके कहेंगे कि सब की देख ली।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि हिन्दुओं को देशहित, सहृदयता, निजता आदि गुण सिखलाने और हिन्दी का असली गौरव दिखलाने में श्री हरिश्चन्द्र ने अपना तन मन धन खो दिया था। अब परमेश्वर की इच्छा से उनके साथ हमारा दैहिक सम्बन्ध नहीं रहा, पर उनकी कृतज्ञता न करना मनुष्यता से दूर है। यही समझ के यहां के कई एक उत्साही पुरुषों ने "श्री हरिश्चन्द्र पुस्तकालय" स्थापित किया है जिससे सर्वसाधारण को उनका स्मरण भी होता रहे और नाना भांति की पुस्तकें एवं पत्र देखने का सुभीता भी रहे जो पढ़े लिखे लोगों के लिए जी बहलाने का एक जरिया है। पर यह सब समझदार जानते हैं कि ऐसे बड़े २ काम बिना बहुत से लोगों की सहायता से नहीं हो सकते। यही समझ के जाने २ बड़े २ सम्पादकों, ग्रन्थकारों और देशहित के मरीजों को पत्र लिखा था। कोई हमारा निज का लाभ नहीं है, बहुत से लोग सहायक होंगे तो बहुत ही से लोगों का हित भी है, पर और सहायता तो दूर रही 'सार सुधानिधि' 'प्रयाग समाचार' 'भारतवर्ष'

और 'मित्र' के सिवा किन्ही साहब ने उसका विज्ञापन भी नहीं छापा ! हमारे प्रेमास्पदवर श्री बा० भगवानदास तथा बाबू रामदास और बा० रामकृष्ण खत्री तथा दो चार निज मित्रों के सिवा पुस्तक और धन की क्या कथा है पत्र का उत्तर भी बाजे बाजों ने नहीं दिया । हाय, जो लोग भारतेंदुजी के जीवन काल में उनके परम प्रेमी बनते थे, उनके गोलोक प्रयाण में कागज काले करते थे, आज भी जिन्हें निज भाषा, निज धर्म, निज देश ही का आल्हा गाते सुनाते हैं, उनके किए यदि सड़ी मड़ी बातें न हो सकें तो क्यों न कहिए कि सब की देख ली ।

खं० ५, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ४)

नास्तिक

संसार की गति बड़ी बेड़ी है। इस में सत्य बड़ी कठिनता से ढूंढ़े मलता है। जैसे सच्चा आस्तिक कहीं लाखों में कोई बिरला मिलता है वैसे ी सच्चे नास्तिक का मिलना भी सहज नहीं है। पुराने ढरें के लोग नास्तिक ाब्द को निंदित समझते हैं और आजकल के अंगरेजीबाज बहुधा नास्तिक ानने में अपनी शोभा समझते हैं पर हमारी समझ में जो लोग अपने को ास्तिक समझे बैठे हैं उन में नास्तिकों की संख्या बहुत है और नास्तिकता ा दावा तो बहुत ही मुशकिल है क्योंकि मनुष्यात्मा का जातिस्वभाव है कि नेतात परवशता में सहारा ढूंढ़ती है। यदि कोई नास्तिक भाई किसी अत्युच्च र्वत से गिर पड़े, जहां कोई बचाने वाला देख न पड़ता हो, तो गिरते समय या उनका चित्त किसी बचाने वाले को न चाहेगा ? उस समय बुद्धि ठिकाने ा रहेगी कि वुह बिचार सके कि यहा बचाने वाला कौन है। आंखों से यह ा सूझेगा कि बचाने वाला वुह बैठा है। जिह्वा में यह शक्ति न रहेगी कि ाचाने वाला यदि कोई बैठा भी हो तो उस से कहे कि भाई कृपा करके हमारी क्षा करो ! हाथ पाव तो किसी काम ही के न होंगे कि कुछ पुरुषार्थ कर ाकें ! पर अन्तःकरण एक बचाने वाले का आसा करेगा। वुह इन्द्रियों भर ; अगोचर पर्वत पर से गिरे हुए नितांत असमर्थ को बचाने में समर्थ बचाने ाला कोई मनुष्य नहीं है क्योंकि मनुष्य वहां दिखाई नहीं देता। यदि दखाई भी दे तो जिस समय हमारे पांव उखड़ गए हैं, पृथ्वी पर आ के ीवन समाप्त होने में केवल दो चार पल की देर है, उस समय मनुष्य मारी रक्षा में क्या उपाय कर सकता है ? केवल मुख से इतना कह सकता ! 'अरे ! राम २ !' पर वुह कौन है जिसकी आशा हमारा चित्त करेगा ? ही हमारी नास्तिकता का नाशक ह्देश्वर ! फिर भला नास्तिक होना क्या ाहज है ? हमें सहस्त्रों ऐसे लोगों से काम पड़ता है जो शास्त्रार्थ के समय श्वर का अस्तित्व खंडन करने में पूर्ण योग्यता दिखलाते हैं पर विपत्ति ाल में ईश्वर ही ईश्वर चिल्लाते हैं। हमें एक नास्तिक मित्र की दशा सदैव मरण आती है जिस ने जीवनकाल में कभी ईश्वर नहीं माना पर मरने ; कई महीना पहिले अत्यन्त रुग्ण रह के, असह्य कष्ट सह के, वैद्य हकीम ाक्टरों से पूर्णतया निराश हो के, मरने के लिए मिनिट गिन रहा था।

हम लोग उसकी दशा पर आहि २ कर रहे थे। उस अवसर पर उसकी अल्पवयस्का पत्नी, जिसने संतान का मुख ही न देखा था, जिस का रक्षक संसार में केवल पति था, वह आई और करुणासागर में डूबी हुई, आंसुओं से भीगी हुई, टूटी हुई वाणी से कहा, 'हाय ! अब मैं क्या करूं !' फिर लिपट के चिल्लाई कि 'मुझे किसके हाथ सौंपे जाते हो ?' उस समय हमारे मित्र के मुख से यही निकला था कि 'ईश्वर !' हमें निश्चय है कि हमारे पाठकों में भी बहुतों ने ऐसे वा इसी ढंग के दृश्य देखे होंगे। फिर भला हम कैसे मान लें कि नास्तिकता सहज है। यों तो जितने लोगों के मुख पर अष्ट प्रहर ईश्वर २, धर्म २, स्वर्ग २ इत्यादि रहता है उन में आस्तिक बहुत थोड़े हैं। क्योंकि एक सम्प्रदाय वाला दूसरे समस्त सम्प्रदायियों को इसी नाम से पुकारता है। अनुमान करो कि संसार में सौ मत प्रचलित हैं तो निन्नानवे मत वाले एक २ मतावलम्बी की नास्तिकता पर साक्षी देने के लिए अपने आचार्यों और ग्रंथों की दुहाई देते हुए प्रस्तुत हैं। 'एक मत कीजे मूरख पण्डित रंक नृप नीच ऊंच को नेम। मेटि सबहिं इक सो करे अहो धन्य प्रिय प्रेम ॥ १ ॥ जिहि केवल मतवाद की रुचति वृथा बकवाद। सो॰ निदरत प्रेम को बिन पाए कछु स्वाद ॥ २ ॥ नरक अग्नि को आंच अरु इन्द्र अराम (बाग) अराम। जानहिं जाननहार जग प्रेमहि के दोउ नाम ॥ ३ ॥ बिरले ही मन जानहीं कछुक प्रेम की बात। मुख ते रूप गुमान गुन कैसेहु कहे न जात ॥४॥ अगनित जन नित मरत हैं याके कारन हाय। प्रीति महामारी आहे धौं कछु और बलाय ॥ ५ ॥ जो कोउ ब्रह्म अरूप को देख्यौ चहै सरूप ! नेह नयन सों लेहिं लखि जग के सुन्दर रूप ॥ ६ ॥ जदपि प्रेम वह रोग है जाकी औषदि नाहि। पै या के परभाव ते आधि व्याधि सब जाहिं॥ ७ ॥ मन की आंख उघारि के देखि सकहि मतिवान। गूढ़ रूप सब के हृदय बसहिं प्रेम भगवान ॥ ८ ॥ श्री भारत शशि सरिस ऋषि उपदेशो जब मर्म। प्रेमहिं गनै प्रताप किन सब धर्मन को धर्म ॥९॥ रची प्रेम एकादशी(?) प्रेमिन हित परताप ! प्रेम बुद्धि जिन के नहीं सो न समुझिहैं आप' ॥ १० ॥ यदि आप सच्चे आस्तिक हैं तो सम्पूर्ण संसार आप के ईश्वर का है। उसमें जितने भले बुरे, जीव निर्जीव हैं सब की सृष्टि और पालन का भार ईश्वर के आधीन है। इसके लिए किसी की निन्दा और किसी से द्वेष करना आप के हक में महापाप है। यदि आप ऐसा करने का विचार भी करें तो अपने जगत पिता के अपराधी होंगे। क्योंकि यह आप को मालूम ही क्या है कि उस सर्वेश्वर ने किस को किस लिए जिला रक्खा है। और सुनिए,

यदि आप आस्तिक हैं तो अपने निज के लिए कारस्तानी भी छोड़िए। तुम्हारे लिए जो कुछ मुनासिब है वुह परमेश्वर स्वयं कर लेगा। आप क्या उससे अधिक हैं जो अपनी अकलमंदी छौंकते हैं? आप उसके सलाहकार हैं क्या? वुह जो समझेगा करेगा। यदि आप उसकी इच्छा में हस्तक्षेप करें तो कठिन बेअदबी है। आप से तो नास्तिक ही अच्छा क्योंकि वुह दूसरे को मानता ही नहीं जिस का सहारा ले! नास्तिक जानते हो किसे कहते हैं कि उस की निन्दा ही सीख ली है? देखिए 'न आस्तिको विद्यते यस्मात्परं सनास्तिकः' अर्थात् जिससे बढ़ के कोई आस्तिक न हो क्या यह सहज है। बहुतेरे आस्तिक केवल लोकनिंदा और परलोक जातना के भय से तथा संसार के सुख, परमार्थ के कल्याण की लालसा से ईश्वर को मानते हैं पर नास्तिक उस भय और लालच की पर्वाह नहीं करता। फिर कहिए डरपोक लालची अच्छा या निर्भय निर्लोभ अच्छा? हमारे शास्त्रकारों के शिरोमणि मनु भगवान नास्तिक का लक्षण यों कहते हैं—'नास्तिको वेदनिंदकः', अर्थात् वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है। पर हमारे आस्तिकों के परमाराध्य श्री कृष्ण भगवान कहते हैं—'त्रैगुण्यविषया वेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' और सच भी है, जब तक हम कर्म ज्ञानादि के झगड़ों में पड़े हैं, जब तक लोक वेद के बंधन में पड़े हैं तब तक हम अपने प्रमदेव का साक्षात जीवित सम्बन्ध कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इस रीति से मनु जी की आज्ञा का यह अर्थ होना चाहिए कि नास्तिक (नहीं हैं) को (कौन) वेद निंदकः (वेद का निंदक) अर्थात् सभी सच्चे आस्तिक कर्म, उपासना, ज्ञान के निंदक हैं, क्योंकि उन्हें प्रतिक्षण ईश्वर से तन्मय रहने में आनन्द आता है, वे भुक्ति मुक्ति की युक्ति के खटराग में क्यों पड़ने लगे! जो सच्चे जी से किसी संसारी जीव को चाहता है वुह तो दीन दुनिया, लोक परलोक की पर्वा करता ही नहीं। परम सुन्दर परमात्मा का चाहने वाला क्या इन झगड़ों को चाहेगा? आप अपने वेद, इंजील, कुरान को मानिए, परलोक को मानिए, हमें क्या। हम अपने जिस को मानते हैं उस को मानते हैं। ईश्वर कुछ आप ही का प्रभु तो हई नहीं, हमारा भी है। फिर क्या, हम अपने ईश्वर को चाहे मानेंगे चाहे न मानेंगे, आप को क्या! आप कहीं के काजी हैं? यदि आप कहें कि हम तुम्हें इसलिए सिखाते हैं कि वेद कुरान आदिक ईश्वर की पुस्तकें हैं, उन का न मानना नास्तिकता है, तो हमारे भी मुंह है, हम भी कहेंगे कि ईश्वर की यही पांच छः पुस्तकें हैं अथवा और भी हैं? यदि यही हैं तो आप के ईश्वर को दूर ही से दंडवत है! हम तो उसे अनन्त विद्यामय कहते

हैं और आप चार संस्कृत की, एक अंगरेजी की, एक अरबी की पुस्तकों पर उसके विद्वत्ता की इतिश्री किए देते हैं! और यदि उसकी और भी कोई पुस्तक है तो आप को क्या प्रमाण है कि हम नहीं मानते। हम मानते हैं अपने अन्तःकरण की पुस्तक को, सृष्टिक्रम की पुस्तक को। क्या यह उस की पुस्तकें नहीं हैं! वरंच वह तो खास उसी की लिखी पुस्तकें हैं! पर इन झगड़ों से हमें क्या है। हम तो मानेंगे तो उसे मानेंगे, पुस्तक उस्तक क्यों मानें। यदि हम आपको चाहते होते तो हम मतलबी यार नहीं हैं कि आप के रूप गुण धन आदि को चाहते! यदि इसपर आप का जी निन्दा किए बिना न रहे तो कीजिए साहब, हम तो नास्तिक हुई हैं—काफिरे इश्कम मुसलमानी मरा दरकार नेस्त। हमें आप की बनावटी आस्तिकता पसंद नहीं है! हम एक सच्चे दृढ़ नास्तिक की प्रतिष्ठा असंख्य कृत्रिम आस्तिकों से अधिक करते हैं।

खं० ५, सं० ३ और ५ (१५ अक्टूबर, दिसंबर ह० सं० ४)

जुवा

मनुष्य तो मनुष्य ही है, बैल भी इस नाम से कांपता है! छोटा सा कीड़ा इसी नाम की बदौलत सुन्दरी स्त्रियों की सुन्दरता और प्रेमपात्र बच्चों की सुघरता तथा निद्रा मिट्टी में मिला देता है। फिर न जाने दिवाली में लोग क्यों ऐसे बौखला जाते हैं कि दिन रात जुवा जुवा हुवा हुवा किया करते हैं। यों देखो तो पेट भर रोटी नहीं है, कमर पर लंगोटा नहीं है पर उनसे भी पूछो तो कोई कहता है 'सौ हारे,' कोई कहता है 'पचास हारे'! धन्य री धन्य परम्परा! मनु जी जो हमारे शास्त्रकारों के शिरोमणि हैं, वे हंसी के लिए भी इसका खेलना वर्जित करते हैं, पर तुम मनु जी से भी बढ़ गए जो कहते हैं दिवाली में न खेले तो गदहा का जन्म पाता है। आज २ बुद्धि के शत्रु शिव, युधिष्ठिर, बलदेव, नल आदि का नाम लेके कहते हैं कि वे खेले हैं तो हम क्यों न खेलें! सच है, युधिष्ठिरादि के से सभी काम कर चुके हैं तो एक यही क्यों रह जाय! ऐसी ही समझ ने बुद्धि हर ली है नहीं तो पुराणों में जिन का प्रमाण मान के आप जुवा की लत अपने पीछे लगाते हैं उनमें दो बातें हैं, एक इतिहास, दूसरी आज्ञा। और हम युधिष्ठिरादि के वचनों को मानने वाले हैं न कि उनके निज चरित्रों में दखल देने वाले। यदि बड़ों से कोई भूल हो तो उसका अनुकरण हमको श्रेयस्कर नहीं है। वेद का वाक्य है कि "यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" अर्थात् बड़े लोगों के अच्छे काम हमें सीखना चाहिए न कि जुवा आदि बुरे काम। उन्होंने यदि खेला तो उसका फल भी क्या पाया? शिवजी ने अपने स्त्री पुत्रों में झगड़ा फैलाया। नल ने राज्य खोया। युधिष्ठिर ने भारत का सर्वनाश ही करा दिया! बलदेव जी ने रुक्म (कृष्णचन्द्र जी के साले) का प्राण लिया। जब कि बड़े बड़ों की यह गति जुवा के पीछे हुई तो तुम कौन जग जीतने की आशा रखते हो। हम तो यही कहेंगे कि उन्होंने हमें जुवा की बुराई दिखलाने के ही लिए खेला था। यह बात भी प्रसिद्ध है कि बड़े जो कुछ करें सो न करना चाहिए। उन्होंने खेला है पर हमें खेलने की आज्ञा कहीं नहीं दी। यदि कहीं किसी पुराण अथवा उपपुराण में प्रगट वा प्रच्छन्न आज्ञा हो भी तो उसके पात्र विचारना चाहिए। हमारी दृष्टि में ऐसा वचन नहीं आया पर लोग यह कहते हैं कि राजा को योग्य है। खैर राजाओं के

लाखों का धन होता है, वे हजारों रु० दूसरों को दे सकते हैं। वे खेलैं पर तुम्हें परमेश्वर ने आंखें दी हैं, तुम्हें क्या सूझी है कि दस पन्द्रह की तो नौकरी करो, दो चार सौ अपने पराए लगाकर रूजगार करो, पर हारने के समय चार २ सौ नसाय देव ! भला वर्ष दो वर्ष खाने कपड़े में कष्ट उठाए बिना अथवा अपने दीन आश्रितों को सताए बिना यह गढ़ा क्योंकर पूरा हो सकता है। बुद्धिमानों ने इसे सब दुर्गुणों का घर कहा है सो बहुत ठीक है। घर से चलते ही जुवारियों का यह विचार होता है कि सबका धन बिना परिश्रम, बिना उस धन के स्वामी का कुछ काम किए मेरे हाथ आ जाय। खेलने के समय चाहे जैसा मित्र बैठा हो उसे भी यही कहेंगे, 'बेईमानी करते हो' 'रोए देते हो' इत्यादि। जब इसका भूत चढता है तब दिन रात मन वचन कर्म से ईर्षा में संलग्न रहते हैं। यों तो सभी पर्व आमोद प्रमोद करने के लिए नियत किए गए हैं, क्योंकि गृहस्थों को बारहो मास गृहधन्धों की चिन्ता चढ़ी रहती है; और चिंता शरीर की शोषण करनेवाली है इससे हमारे दयालु पूर्वजों ने प्रत्येक मास में एक दो दिन ऐसे नियत कर दिए हैं जिनमें निश्चिन्त हो के भगवद्भजन या और किसी रीति से आत्मपोषण किया जाय। उसमें भी तो होली दिवाली विशेष हैं जिनमें लड़के, बूढ़े, धनी, दरिद्री, विद्वान, मूर्ख, स्त्री, पुरुष सभी यथासामर्थ दिल खुश कर लेते हैं। पर बिचारे जुवारियों की दशा पर खेद है कि अपनी बुद्धि से चार २ दिन खाना और सोना अपने ऊपर हराम कर लेते हैं। खास पर्व के दिन बाजे २ घरो में दिया जलाना और खील मिठाई खिलौना आदि से कुटुंब को तथा दीपश्राद्ध से पित्रों को एवं पूजन से देवताओं को प्रसन्न करना तो दूर रहा, उलटा स्त्रियों पर इसलिए डंडेबाजी होती है कि 'गहना क्यों नहीं उतार देती' ! बाजे २ इतने में भी नहीं संतुष्ट होते तो चोरी तक करके धन लाते हैं, पर दिन रात छै ! छै !! छै !!! हांकने में कोताही नहीं करते। यदि दैवयोग से जीत गए तो यह कहना तो व्यर्थ है कि वुह जीतना जिसमें पराई आत्मा कलपा के अपनी जेब भरे, अनुचित है, पर इस में संदेह नहीं कि हराम का धन भले काम में नहीं लग सकता। प्रत्यक्ष व हेर फेर के साथ वुह उन्हीं के घर जायगा जिनसे देश का सत्यानाश होने में कुछ न कुछ सहायता होती है। यह भी नहीं कि इन्हीं तीन चार दिनों या इसी महीने में खेल के छुट्टी हो जाय। जीतने पर अधिक लालच और हारने पर घटी पूरी करने की उमंग में बाजे २ बारामासी द्यूतकार होने के लिए भी इसी शुभ दिन में आरम्भ कर देते हैं जिसका फल बदनामी, निर्धनता, चोरी की लत, न्यायी हाकिम के यहां झाड़बाजी, बड़ा

घर, ईश्वर के यहां दंड इत्यादि बने बनाए हैं ! वरंच हमारा तो यह सिद्धांत है कि अपनी बुरी आदतों का गुलाम हो जाना ही महा नर्क है ! और यह बड़े २ बुद्धिमानों ने दृढ़ता से सिद्ध कर दिया है कि बुरे कर्म पहिले बहुत थोड़े जान पड़ते हैं पर धीरे २ मन में स्थिर हो के अनेक बुराइयों को उत्पन्न करके सर्वनाश का कारण होते हैं। फिर भला जुवा को सब बुराइयों का उत्पादक कहें तो क्या झूठ है ? पाप का बाप लोभ प्रसिद्ध है और उसी का मूल कारण जुवा है जिसका सर्वोत्तम फल यह है कि सहज में पराया धन हाथ में आवे, फिर इसकी बुराइयों का ओर छोर क्या हो सकता है ? अतः जहां तक हो बुद्धिमानों को इससे सदा बचना चाहिए। क्या होली क्या दिवाली, बुरा काम सदा सब ठौर बुरा ही है। हमारे कानपुर ही की एक सच्ची कथा है कि एक बनिया साहब खेल में तन्मय हो रहे थे, घर से खबर आई कि लड़का मर गया। उत्तर दिया कि फिर हम क्या चल के जिला लेंगे ? डाल आओ, हमें फुरसत नहीं है। भला ऐसे परम निर्मोही महर्षियों को तो हम क्या कहें ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते। पर हमारे पाठक कुछ भी इसकी ओर से मुंह फेरेंगे तो उन्हीं के लिए अच्छा है।

खं० ५, सं० ४ (१५ नवंबर ह० सं० ४)

खुशामद

यद्यपि यह शब्द फारसी का है पर हमारी भाषा में इतना घुलमिल गया है कि इसके ठीक भाव का बोधक कोई हिन्दी का शब्द ढूंढ़ लावे तो हम उसे बड़ा मर्द गिनें। 'मिथ्या प्रशंसा' 'ठकुरसुहाती' इत्यादि शब्द गढ़े हुए हैं। इनमें वुह बात ही नहीं पाई जाती जो इस मजेदार मोहनी मंत्र में है। कारण इसका यह जान पड़ता है कि हमारे पुराने लोग सीधे, सच्चे, निष्कपट होते रहे हैं। उन्हें इसका काम ही बहुत कम पड़ता था। फिर ऐसे शब्द के व्यवहार का प्रयोजन क्या? जब से गुलाब का फूल,.. .... उरदू की शीरीं जबान इत्यादि का प्रचार हुवा तभी से इस करामाती लटके का भी जौहर खुला। आहाहा! क्या कहना है! हुजूर खुश हो जायं और बन्दे को आमद हो। यारों के गुलछर्रे उड़ें। फिर इसके बराबर सिद्धि और काहे में है? आप चाहे जैसे कड़े मिजाज हों, रुक्खड़ हों, मक्खीचूस हों, जहां हम चार दिन झुक झुक के सलाम करेंगे, दौड़ २ आप के यहां आवैंगे, आप की हां में हां मिलावेंगे, आपको इन्द्र, वरुण, हातिम, करण, सूर्य्य, चन्द्र, लैली, शीरीं इत्यादि बनावेंगे, आपको जमीन पर से उठा के झंडे पर चढ़ावेंगे, फिर बतलाइए तो आप कब तक राह पर न आवैंगे? हम चाहे जैसे निर्बुद्धि, निकम्मे, अविद्वान, अकुलीन क्यों न हों, पर यदि हम लोकलज्जा, परलोक भय, सबको तिलांजुली दे के आपही को अपना पिता, राजा, गुरु, पति, अन्नदाता कहते रहेंगे तो इसमें कुछ मीन मेख नहीं है कि आप हमें अपनावेंगे और हमारे दुख दरिद्र मिटावेंगे। अजी साहब, आप तो आप ही हैं, हम दीनानाथ, दीनबन्धु, पतितपावन कह २ के ईश्वर तक को फुसला लेने का दावा रखते हैं, दूसरे किस खेत की मूली हैं। खुशामद वुह चीज है कि पत्थर को मोम बनाती है। बैल को दुह के दूध निकालती है। विशेषतः दुनियादार, स्वार्थपरायण, उदरंभर लोगों के लिए इससे बढ़ के कोई रसायन ही नहीं है। जिसे यह चतुराचरी मंत्र न आया उसकी चतुरता पर छार है, विद्या पर धिक्कार है और गुणों पर फिटकार है। कोई कैसा ही सज्जन, सुशील, सहृदय, निर्दोष, न्यायशील, नम्रस्वभाव, उदार, सदगुणागार, साक्षात सतयुग का औतार क्यों न हो पर खुशामद न जानता हो तो इस जमाने में तो उसकी मट्टी ख्वार है, मरने के पीछे चाहे भले ही ध्रुवजी के मुकुट का मणि

बनाया जाय। और जो खुशामद से रीझता न हो उसे भी हम मनुष्य नहीं कह सकते। पत्थर का टुकड़ा, सूखे काठ का कुन्दा या परमयोगी, महाबैरागी कहेंगे। एक कवि का वाक्य है कि, 'बार पचै माछी पचै पाथर हू पचि जाय, जाहि खुशामद पचि गई ताते कछु न बसाय'। सच है खुशामदी लोगों की बातें और घातें ही ऐसी होती हैं कि बड़े बड़ों को लुभा लेती हैं। सब जानते हैं कि यह अपने मतलब को कह रहा है, पर लच्छेदार बातों के मायाजाल में फंस बहुधा सभी जाते हैं। क्यों नहीं! एक लेखे पूछो तो खुशामदी भी एक प्रकार के ऋषि मुनि होते हैं। अभी हमसे कोई जरा सा नखरा करे तो हम उरद के आटे की भांति ऐंठ जायं। हमारे एक उजड्ड साथी का कथन ही है कि 'वरं हलाहल पानं सद्यः प्राण हरं विष। नहि दुष्ट धनाढ्यस्य भ्रूभङ्ग कुटिलाननः'। पर हमारे खुशामदाचार्य्य महानुभाव सब तरह की निन्दा, कुबातें सहने पर भी हाथ ही जोड़ते रहते हैं। भला ऐसे मन के जीतने वालों के मनोरथ क्यों न फलें। यद्यपि एक न एक रीति से सभी सबकी खुशामद करते हैं, यहां तक कि जिन्होंने सब तज हर भज का सहारा करके बनवास अंगीकार किया है, कन्द मूल से पेट भरते हैं, भोजपत्रादि से काया ढंकते हैं उन्हें भी गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करनी पड़ती है। फिर साधारण लोग किस मुंह से कह सकते हैं कि हम खुशामद नहीं करते। वरंच यह कहना कि हमें खुशामद करनी नहीं आती यह आला दरजे की खुशामद है। जब आप अपने चेले को, अपने नौकर को, पुत्र को, स्त्री को, खुशामदी को नाराज देखते हैं और उसे राजी न रखने में धन, मान, सुख, प्रतिष्ठादि की हानि देखते हैं तब कहते हैं क्यों? अभी सिर से भूत उतरा है कि नहीं? अक्किल ठिकाने आई है कि नहीं? यह भी उलटे शब्दों में खुशामद है। सारांश यह कि खुशामद से खाली कोई नहीं है पर खुशामद करने की तमीज हर एक को नहीं होती। इतने बड़े हिन्दुस्तान भर में केवल चार छः आदमी खुशामद के तत्ववेत्ता हैं। दूसरों की क्या मजाल है कि खुशामदी की पदवी ग्रहण कर सकें। हम अपने पाठकों को सलाह देते हैं कि यदि अपनी उन्नति चाहते हो तो नित्य थोड़ा २ खुशामद का अभ्यास करते रहें। देशोन्नति फेशोन्नति के पागलपन में न पड़ें नहीं तो हमारी ही तरह भकुआ बने रहेंगे।

खं० ५, सं० ५ (१५ दिसंबर ह० सं० ४)

बालशिक्षा

इस विषय पर लिखने का हमने कई बेर विचार किया पर कई बातें सोच के रह गए। इन दिनों हमारे परम सहायक श्री स्वामी मंगलदेव संन्यासी महानुभाव की आज्ञा और कई एक मित्रों के अनुरोध से फिर इच्छा हो आई कि लिखा करें पर बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं कि यह विषय अत्यन्त आवश्यक है, बहुत सोच समझ के लिखने का है। क्योंकि और लोगों को शिक्षा करना शिक्षा नहीं है केवल उनका मन बहलाना मात्र। जिन्हें उस विषय की रुचि अथवा ज्ञान नहीं है वे न सुनेंगे न देखेंगे और जो रसिक हैं वे स्वयं उन बातों को जानते ही हैं। उन्हें शिक्षा की क्या आवश्यकता है? हा, हमारी बहुत सी बातों में से जो दस पांच बातें उन्हें रुचेंगी वे प्रसन्न हो जायंगे वा उनमें दृढ़ हो जायंगे। तो शिक्षा काहे को जी बहलाव ही ठहरा। पर बालकों के साथ ऐसा नहीं है। वे अभी किसी शिक्षा सम्बन्धी विषय को नहीं जानते और जो बातें उनसे, जिस रीति से, जिन शब्दों में, कही जायंगी वे उन्हें ज्यों का त्यों सुनें समझेंगे। अतः शिक्षा के मुख्य पात्र बालक ही हैं। इसके अतिरिक्त सयाने लोगों को कुछ न कुछ सारग्राहिणी बुद्धि होती है, उनसे चाहे जैसी टेढ़ी सीधी औरेबी भाषा में कोई बात कह दीजिए वे उसका मुख्य तात्पर्य यथाशक्ति समझ सकते हैं। पर बालक बहुधा बात की ध्वनि को न समझ के केवल शब्दार्थ ही समझ सकते हैं। यदि किसी बालक से कहा जाय कि पृथिवी का आधार गऊ है तो वुह यह न समझेगा कि पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ निवासी मनुष्य को खाना कपड़ा गऊ ही के दूध घी तथा गऊ के पुत्र के उपजाए अन्न, रुई आदि से मिलता है, पर वुह बालक समझेगा कि धरती को कोई गऊ अपनी पीठ अथवा सींग पर साधे है। अतः बालकों को जो बात समझाना हो वुह बहुत सरल रीति से कहना चाहिए। इसके सिवा बालक अभी अपने माता पिता तथा मुख्य साथियों के सिवा अपना घर मुहाल तथा दो चार सड़कों के सिवा दुनिया क्या है जानते भी नहीं हैं, इसलिए उन्हें सभी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। धर्मशिक्षा, नीतिशिक्षा, व्यवहारशिक्षा, शिष्टाचारशिक्षा, उपयोगी भाषाओं की शिक्षा, इतिहास, गणित, इत्यादि ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जो उनके लिए आवश्यक

न हो। और हम देखते हैं तो पूर्ण रूप से उपयुक्त पुस्तकें अभी हमारे देश के अभाग्य से यहां बहुत ही थोड़ी हैं, अतः यह कर्तव्य (बालशिक्षा) यदि अकेले हमीं लिखें (क्योंकि दूसरे लेखक अभी इस ओर बहुत ही कम झुके हैं) तो कितनी कठिनता पड़ेगी। दुनिया भर की बातें लिखना और अति ही सरल भाषा और भाव में लिखना थोड़े दिन का काम और सहज काम नहीं है। यही बातें सोच के अब तक इस विषय में हाथ नहीं डाला। पर अब इधर मित्रगण हुलियाते हैं कि लिख। और हम भी समझते हैं कि इसी नई पौध की भलाई के लिए हमारी और हमारे सहयोगियों की मुड़ धुन है, फिर इन प्यारे बालकों के उपयुक्त बातें क्यों न लिखी जायं। अस्तु हम लिखेंगे। पर बहुत दिन तक थोड़ी २ बातें लिखेंगे क्यों कि यह विषय अन्य विषयों की भांति नहीं है। दूसरे ग्रन्थकारों, सम्पादकों और कवियों से भी विनय है कि हमारा साथ दें, क्योंकि वे स्वयं विचार सकते हैं कि इसकी कितनी अधिक आवश्यकता है। भगवान बाल-मुकुन्द, नन्दअजिरबिहारी, जानुपाणिचारी, दधिमाखन आहारी हमारी सहाय करें। जानना चाहिए कि बालकों की सम्पूर्ण शिक्षा उनके माता पिता और गुरु पर निर्भर है। लिखा भी है कि 'मातृमान्पितृमानाचार्यमान्पुरुषो-वेद'। अतः हम पहिले माता, पिता और आचार्य के लिए कुछ उपयोगी बातें लिखते हैं। बालकों को पहिले २ और अधिकाधिक काम माता से पड़ता है अतः माता का परम धर्म है कि अपने संतान को सुशिक्षित करे। पर खेद है कि हमारे देश में स्त्री शिक्षा का अभाव सा है अतः माता स्वयं अशिक्षिता हैं, वे लड़कों को क्या शिक्षा देंगी। पर हां, पिता को योग्य है कि बालक पर भी ध्यान रक्खें और उनकी माता पर भी। (यदि) हमारी आर्यललनागण जब तक लड़का दूध पिए तब तक मिरच खटाई तेल इत्यादि रोगवर्धक पदार्थ न खाया करें। बहुधा स्त्रियां मिट्टी को भून के बहुत खाती हैं यह महा औगुन है। न खाया करें। घी दूध आदि पुष्ट वस्तु खूब खाया करें। लड़के को रोने के डर से अफीम बहुत न खिलाया करें। तेल और काजल लगाने में न अलसाया करें। कपड़, बिछौने आदि स्वच्छ रक्खा करें। लड़का कुछ स्याना हो तो रीछ, भूत, हौवा, गोदनेवाले का नाम ले के उसे डरपोक न बनाया करें। बोलने लगे तो गालियां न सिखाया करें। बहुत पहिराय उढ़ाय के अकेले न छोड़ा करें। पढ़ाने वाले से यह न कहा करें कि "जाव, हमार बच्चा भीख मांग खाई, न पढ़ी।" जिन स्त्रियों से उन्हें हंसी करने का नाता है उनके पास अधिक न रक्खा करें। यही बहुत कुछ है।

पिता का कर्तव्य मुख्य तो यह है कि यदि माता अपने कर्तव्य (जो पहिले लिखे गए हैं) न निभा सके तो यथावकाश स्वयं उन पर ध्यान रक्खें, नीति के साथ उन्हें (स्त्रियों को) निज कृत्य के योग्य बनाने की चेष्टा करते रहें। नोचेत् न्हाने खाने सोने के अतिरिक्त उनकी संगति ही से दूर रक्खें। भोजन, वस्त्र, शरीर और गृह की स्वच्छता पर ध्यान रखना परम कर्तव्य है। भोर सांझ के समय निर्मल वायु सेवन, समयानुकूल व्यायाम कसरत, सोने जागने का नियत काल, सबसे सरल व्यवहार, भले लोगों का संग, भले कामों में रुचि, भली बातों में श्रद्धा, मधुर भाषण इत्यादि भी पिता ही सिखा सकते हैं। लड़कों के बिगड़ने का हेतु बहुधा यही होता है कि उनके पितृचरण उनके आचरण पर या तो ध्यान ही नहीं देते हैं या उनको बात बात पर इतना दबाव रखते हैं कि वे निरे दुर्बल हो जायं। घर में आके स्त्री से अथवा बाहर निज मित्रों से स्वच्छंद वार्ता करते हैं। इसमें लड़कों का चित्त भी बिगड़ैल हो जाता है। अतः पिता को योग्य है कि ऐसे २ अवसरों पर संतान का इतना ही संकोच रक्खें जितना संतान को बड़ों के आगे रखना चाहिए। इसके सिवा पुस्तकादि की असावधानता, पढ़ने से जी चुराना, नशा, जुवा, झगड़ा, बड़ों की वेअदबी इत्यादि से बचाने में पूर्ण प्रयत्न रखना चाहिए। जो नौकर उनके (लड़कों के) साथ रक्खे जायं उनके स्वभाव की परीक्षा भी अवश्य कर लेनी चाहिए। ढीठ, मुंहलगे, दुरभाषी, दुराचारी न हों नहीं तो लड़कों का बिगड़ना बहुत सहज है। साथ के लड़कों को भी देखते रहना चाहिए कि कौन कैसा है। संगति का गुण बड़े बड़ों को लग जाता है, लड़के तो लड़के ही हैं। मामूली खर्च तथा मेले ठेले का खर्च भी सामर्थ्यानुसार विचार के इतना देना चाहिए जिसमें उन्हें अपव्ययी बनने की संभावना न हो अथच निज मित्रों से रिण लेने का भी अवसर न आवे। उत्तम तो यह है कि उन्हीं से पूछ के तथा उन्हें भली बुरी रीति समझा के दिया जाय। बड़ी सभाओं तथा विद्या सम्बन्धी कौतुको (इल्मी जलसों) एवं जिन तमाशों में कुवाच्य और कुकृत्यों की शिक्षा संभावित न हो उनमें जाने से कभी रोकना न चाहिए। बहुत प्रकार के बहुत से लोगों की बहुत सी बातें देखने सुनने से सहृदयता आती है। वरंच ऐसे स्थान पर अपने साथ ले जाके प्रत्येक विषय को समझाते रहना चाहिए। जहां तक हो पुत्र से सुमित्र का सा बर्ताव रखना योग्य है जिसमें उसे अपनी कोई बात छिपाने की इच्छा स्वयं न हो। ऐसा होने से दृढ़ाशा है कि संतान के सुधरने का मार्ग खुला रहेगा। जो कुछ गुरु का कर्तव्य है वह भी ठीक २ तभी चरितार्थ

होगा जब पिता स्वयं गुरू की परीक्षा कर लें। यह कलियुग है। इसमें बहुत ही थोड़े से ऐसे लोग हैं जो पराए लड़के को अपना लड़का समझ के केवल पोथी ही पढ़ा देना मात्र अपना कर्तव्य न समझते हों। अतः गुरू जी के चाल चलन को देख के उनके पास लड़के को पढ़ाने भेजना पिता का मुख्य धर्म है। शास्त्र का यह वाक्य कि 'माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः' अत्यन्त सत्य है। पर यदि पाठक सुपठित और सच्चरित्र न हुवा तो पढ़ाना भी दुर्व्यसन मोल लेना है। इससे तो यदि संभव हो तो पिता आप ही पढ़ावे, नहीं तो यह समझ ले कि पढ़े लिखे कुमारगी से बिन पढ़ा सज्जन अच्छा। जिन युवा पुरुषों को हम स्वतंत्राचारी देखते हैं उन्होंने बहुत सी बातें पाठशाला ही में सीखी हैं, अतः पिता को योग्य है कि लड़कों को पढ़ने पीछे भेजे, पहिले कुछ दिन तक यह निश्चय कर ले कि पढ़ानेवाले कैसे हैं।

पढ़ाने वाला मतवाला न हो नहीं तो अन्य मत के बालकों को आफत होगी। यह दोष जिस मनुष्य में होगा वुह दूसरों का सच्चा हितेच्छु कभी नहीं हो सकता। यदि पढ़ाने में श्रम भी करेगा तो निज मत के आग्रह के मारे सदैव शिष्यों के कुलाचार की निंदा करेगा, जिसका फल यह होगा कि या तो लड़के अपने पूर्वजों की रीति नीति को तुच्छ समझने लगेंगे या गुरू जी की गुरुआई ही को मकड़ी की तरह झाड़ डालेंगे या सदा मन ही मन कुढ़ा करेंगे या सभी प्रकार की बातें कुबातें सह लेने के लती हो जायंगे। यह चारों बातें बुरी हैं। क्षमाशीलता के हम द्वेषी नहीं हैं, पर बहुत सी बातें ऐसी भी होती हैं जिनका सहन करना निरी नीचता, महा बेगैरती है। मतवाले का दूसरा अर्थ नशेबाज है। यह भी यद्यपि सबके लिए दूषित है पर शिक्षक के लिए महा दुर्गुण है। इसके होने से गुरू जी पढ़ाने में चाहे जी भी लगावें पर 'खरबूजे को देख के खरबूजा रंग पकड़ता है', क्या आश्चर्य है शागिर्द साहब भी गुरू जी के आचरण देखते २ भंगड़ सुलतान अथवा होटलगामी हो बैठें। हमारे पुराने ढंग के हिन्दू भाई लड़कों को मिशन स्कूल में भेजना नहीं पसंद करते। यह उनकी भूल नहीं है बरंच बड़ी दूर-दर्शिता है। हम यह नहीं कह सकते कि वहां जाके सब क्रिस्तान हो जाते हैं पर इसमें संदेह नहीं है कि अपने सनातनाचार को वे उतना आदरणीय नहीं समझते जितना कि चाहिए। यही कौन भलाई है। बहुधा पढ़ानेवालों में यह दोष भी होता है कि चेले में औ नौकर में भेद ही नहीं समझते। चिलम

भरना, तरकारी खरीदना, पंखा खींचना, सभी काम शिष्य ही के माथे । यह भी बड़ा हानिकारक बर्ताव है । हां, पढ़ने वाले का धर्म है कि गुरु सेवा में तत्पर रहे पर गुरू का भी यह धर्म है कि शिष्य को पुत्र की भांति समझें । यह बात और है कि संथा दे दी गई है, छुट्टी का समय है, कोई ऐसा ही आवश्यक काम है अथवा और कोई कार्यकर्ता नहीं है तो शिष्य ही से कह दिया, पर यह क्या अंधेर है सारे काम लड़के ही के सिर पटक दिए जायं । हिन्दू विद्यादाता तो खैर यह विचार भी रखते हैं कि अमुक काम करने योग्य है अमुक नहीं है, पर बहुतेरे मौलवियों के यहां हमने द्विज जाति के बालकों को चिलम भरते और पांव दबाते, पंखा खींचते और झाड़ू देते देख के खेद-पूर्वक यही विचार किया है कि लड़के तो अजान हैं औ शिक्षक भी विधर्मी होने से इतना दोषास्पद नहीं है, पर माता पिता निश्चय तुच्छ एवं स्वार्थान्ध हैं । उनके न इज्जत है न गैरत । हमने ऐसा शोकजनक दृश्य देख के कई घर बालकों के माता पिता से कहा पर उन निर्लज्जों से यही उत्तर पाया कि उस्ताद का दर्जा बड़ा है । यह सच है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मण क्षत्रियों के लड़के इतने तेजभ्रष्ट कर दिए जायं । हम आशा करते हैं कि हमारे पाठकगण ऐसे गुरुओं से अपने प्यारे बच्चों को दूर रक्खेंगे ।

काम, क्रोध, लोभ और मोह को बुद्धिमानों ने बहुत बुरा ठहराया है पर हमारी समझ में पढ़ाने वाले के लिए मोह कोई औगुण नहीं है, क्योंकि वह प्रवृत्ति-मार्ग का पथदर्शक है और प्रवृत्तिरूपी रेल का अंजिन यही मोह है । यदि शिष्य के साथ सरल चित्त से गुरु जी पुत्र का सा बर्ताव रक्खें तो अहोभाग्य । क्रोध भी यदि काम और लोभ का सहवर्ती न हो तो कोई दोष नहीं वरंच गुण ही है । चेले डरते रहेंगे तो बहुतेरी बुराइयों से बचेंगे । बहुधा देखा गया है कि क्रोधी गुरू के चेले पढ़ने में आलसी और ढीठ नहीं होते पर काम और लोभ निश्चय महा कुलक्षण हैं । बहुतेरे पंडित मौलवी और मास्टरों को हम देखते हैं कि जो लड़के उनकी भेंट पूजा नहीं करते उनकी ओर वे बहुत कम ध्यान रखते हैं । हमने स्वयं कई वर्ष स्कूलों में पढ़ाया है और कई लोगों की परीक्षा भी कर ली है कि बाजे २ मास्टरों ने लड़के से कहा कि 'हमें एक रुपया दो तो तुम्हारा प्रोमोशन कर दें' । भला इस दशा में लड़के बिचारे क्या सीख सकते हैं ? इसके सिवा कानपुर में कई शिक्षक ऐसे भी हैं कि जिनके लक्षण किसी से छिपे नहीं हैं । हम यदि उनके सच्चे २ चरित्र लिखने बैठें तो एक अच्छी खासी लंबी चौड़ी बहार-

इश्क के ढंग की मसनवी बन जाय। पर सभ्यता बाधक होती है और यह भी जी में आता है कि सत्य का जमाना नहीं है, क्यों नाहक बिरोध बढ़ाइए। पर उन माता पिताओं को चाहिए कि यदि सचमुच अपने प्यारे बच्चों के शुभचिंतक हैं तो ऐसे तृणाच्छादित कूपवत गुरुघंटालों से उन्हें बचावें। वहां उनके पढ़ने की आशा थोड़ी है, बिगड़ना प्रत्यक्ष है। हमारे प्यारे देशभक्तों का धर्म है कि अपने २ नगर में ऐसे पढ़ानेवालों को सुशिक्षा दें अथवा शिक्षा विभाग के ऊंचे अधिकारियों द्वारा उन्हें ठीक रखने का प्रयत्न करते रहैं। परमेश्वर की दया से हमारी वर्तमान सर्कार ऐसी नहीं है कि प्रमाण-पूर्वक निवेदन पर ध्यान न दे। हम स्वयं अपने दुखों को न प्रकाश करें तो हमारी भूल है। बहुतेरे पाठकों में यह भी अपलक्षण होता है कि वे अपने शिष्यों को उन सभाओं में जाने से भी रोकते हैं जो सभा वास्तव में अच्छी बातें प्रचार करती हैं। पर उनमें कोई एक आध व्यक्ति ऐसा है जिस से सकारण व निष्कारण मास्टर साहब को द्वेष है। यह नहीं समझते कि एक पुरुष की ईरषा के कारण किसी समूह को देशोपकारी शिक्षा से बंचित रखना अन्याय नहीं तो क्या है?

खं० ५, सं० ५, ६, ७, ८, (१५ दिसम्बर ह० सं० ४ और १५ जनवरी, १५ फरवरी, १५ अप्रैल ह० सं० ५)

आल्हा आह्लाद

रसिकों के लिए संसार रसमय है अतः हम दिखाया चाहते हैं कि आल्हा में भी क्या मधुर रस है। जिस छन्द में आल्हा गाया जाता है वुह यद्यपि किसी प्रसिद्ध पिंगल में हमने नहीं देखा पर अनेक विद्वानों का मत है कि वह कड़खा छंद है जिसका प्रस्तार यों है कि पहिली यदि १६ मात्रा पर होती है दूसरी १५ पर और अन्त का अक्षर अवश्य लघु एवं उसके पहिले का एक अवश्य गुरु होगा। मात्रा छंद होने से कुछ अधिक बन्धन नहीं है। युद्ध में वीरों को उत्साह दिलानेवाले गीतों को कड़खा कहते हैं। और आल्हा में विशेषतः वीरों ही का वर्णन होता है। कहते भी मंगलाचरण (संवरनी) में हैं कि 'बीर पंवारो मैं गावत हौं भूले अच्छर देव बताय'। इसी मूल पर इस छन्द का नाम भी कड़खा पड़ गया है, नहीं कड़खा छन्द का रूप और है और आल्हा (कदाचित यह नाम अल्हन सिंह हो) का चरित्र ही इस छन्द में बहुधा गाया जाता है अतः इस गीत को भी आल्हा कहते हैं। जिन दिनों इस देश में मुसलमानों का आना लगातार आरंभ हुवा था, हिन्दुओं में आपस का विरोध फैला हुवा था, दिल्ली में पृथ्वीराज अर्थात् पिथौरा, कनौज में जयचन्द (कनौजी) राज करते थे वही आल्हा के जन्म मरण का समय था। इनके पिता देशराज, माता देवकुमारी (देवैं) थीं। महोबे के चन्द्रवंशी राजा प्रमल्ल (परिमाल) के यह सेनापतियों में थे। यह घोर उपद्रव के समय में थे और परिमाल भीरु राजा था इससे इनके जीवन का अधिक अंश लड़ाई भिड़ाई में बीता था। यह एक चतुर और नीतिज्ञ पुरुष थे और इनके छोटे भाई उदयसिंह वीर स्वभाव के थे। इतिहास आल्हा में इतना ही है। पर आल्हा का पंवारा (गीत) एक ऐसी अकृत्रिम ग्राम भाषा में और ऐसे सरल और हृदयग्राही भाव में होता है कि मूर्ख और बुद्धिमान सभों को प्रिय है। जिस टाइप के लोग संस्कृत न जानने पर भी भाषा कविता के निंदक होते हैं (बाजे २ बज्र मूर्ख भाषा में होने के कारण रामायण और सतसई को भी तुच्छ समझते हैं) ऐसे ही बहुत से पुराने ढंग के मुंशी यद्यपि फारसी कुछ ही जानते हैं पर उरदू को निंदनीय ही कहते हैं। सिवा ऐसों के और जिसने घंटे दो घंटे आल्हा सुना होगा वुह प्रशंसा ही करेगा यदि ग्राम्य भाषा समझता हो, क्योंकि कानपुर,

फतेहपुर, बांदा, फर्रुखाबाद के जिले की ग्राम्यभाषा स्वभावतः ऐसी मधुर होती है कि ब्रजभाषा की कविता में मिला देने से खड़ी बोली की तरह निरस नहीं जंचती।

हमें जहां तक स्मरण है वहां तक कहेंगे कि समाचारपत्रों में हमारे पूर्व शायद इस गान को किसी ने स्थान नहीं दिया। पर यह कविता रसास्वादियों के अनुकूल समझ के जब हमने 'ब्राह्मण' में आल्हा लिखा तो किसी सहृदय को निस्वादु नहीं जंचा प्रत्युत हमारे माननीय पंडितवर रामप्रसादजी त्रिपाठी, जो प्रयाग के एकमात्र भूषण हैं, उन्होंने 'हिन्दोस्थान' में उस छन्द को लिख के हमें प्रोत्साहित किया। यह इस बात का एक पुष्ट प्रमाण है कि आल्हा भी स्वादु से शून्य औ टकसाल से बाहर नहीं है। इससे हम आशा करते हैं कि हमारे दूसरे सहयोगी भी इस मधुर ध्वनि को अपने पत्रों में लिखके रसिकों को आनन्द देते रहें। विशेषतः जिन महाशयों को हिन्दी कविता का अच्छा अभ्यास नहीं है वे दूसरे छन्दों तथा ब्रजभाषा की टांग न तोड़ के अपने प्रांत की बोली में इस छंद को लिखा करें तो उन्हें अधिक सुभीता हो। क्योंकि यह सीधा छंद है, अशुद्धि का बहुत भय नहीं है। तुक के मिलने की भी इसमें विशेष चिन्ता नहीं होती क्योंकि यह हमारा शून्य वृत्त (ब्लैंकवर्स) है। बड़े २ व्याख्यान लिखने के लिए दोहा, चौपाई, लावनी और आल्हा से अधिक और छन्दों में सुभीता नहीं होता। इन्हें जितना चाहे बढ़ा सकते हैं। पर सिवाय सादी दिहाती बोली के इसका मजा और भाषा में न आवेगा। विशेषतः आजकल परिष्कृत हिन्दी और 'प्रास' 'व्यास' 'समास' आदि कठिन काफिए इसका मजा और भी बिगाड़ देते हैं। 'हिन्दोस्थान' में कांग्रेस आदि का आल्हा यद्यपि बहुत अच्छा है पर यदि सीधी गंवारी और बिना काफिया होता तो सोने में सुगन्ध हो जाती अथच उसका मुख्य उद्देश्य भी बहुत ही अधिक फलता। हमारे यहां लोगों के जीवनचरित्र नहीं लिखे जाते इससे बड़ी हानि होती है। यदि यों होता तो हम यह भी लिख सकते कि पहिले पहल आल्हा को किसने वा किन्होंने प्रचार दिया। पर अनुमान यह कहता है कि मुसलमानी राज्य के आरम्भ ही से इसका अधिक प्रचार हुवा और प्रचारक बड़े चतुर और रसिक थे। उनने जानबूझ के अपठित समुदाय को सामाष्टिक उद्देश्य की ओर झुकाने के लिए ऐसी बोली और ऐसा ढंग स्वीकार किया था। बहुत से पद अति गम्भीर आशय से पूर्ण हैं, जो प्रत्येक अल्हइत के गाने में आते हैं, जिनमें कुछ हम यहां लिख के अपने पाठकों को काव्यानन्दयुक्त उपदेश किया चाहते

हैं। कई एक पोथियां जो आल्हखण्ड के नाम से छपी हैं, उनमें आल्हा ऊदल का इतिहास मात्र है, आल्हा की रसीली बातें कम हैं और सब अल्हैत भी उन सब बातों को नहीं गाते। इसका कारण चाहे जो हो पर हम उन्हीं बातों को आल्हा का जौहर, अतर, रस या जो कहो समझते हैं।

पहिले वे पद (मिसरे) लिखे जाते हैं जो आल्हा में बहुधा नियत ठौर पर आया करते हैं। जो कोई प्रस्ताव इस धुन में लिखा चाहें उन्हें चाहिए कि यह पद स्मरण रक्खें और अपने लेख में जहां देखें कि आशय (मजमून) नहीं मिलता और छन्द पूरा ही करना है वहां रख लिया करें। इन पदों के बिना लिखे प्रस्ताव वाले का अधिज्ञानता झलकता है—१. 'मैं तुम्हें हालु देव बतलाय'। २. 'ज्यानों सुनियों कान लगाय'। ३. 'भैया सुनियों बात हमारि'। ४. 'सुनो हकीकत अब (कोई चार मात्रा का नाम) कै'। ५. जहां से दूसरे विषय का आरम्भ हो वहां, 'हियां की बातें तो हियवैं रहिं अब आगे की सुनौ हवाल।' 'आगे' के ठौर पर कोई चार मात्रा का नाम भी रख सकते हो ६. 'और बयरिया डोलन लागी औरै होन लाग व्योहार।' पांचवा और छठवां पद दोनों एक संग भी ला सकते हो। ७. जहां कोई बात संक्षेप में कहना हो वहां यह पद रखना चाहिए—'ज्यादा कौन करै बकवादि।' ८. मंगलाचरण में यह पद अवश्य लाने चाहिए—'भूले अक्षर देव बताय', अथवा ६. 'जो २ अच्छर मात्रा भूलौं मोरे कण्ठ बैठि लिख जाव।' १०. गावन वारे को गरु दीजौ औ बजवैए दीजो ताल, नाचन वारे को नैना देव मरद को देव ढाल तरवारि' अथवा, ११. जो सुर बांधे ढोलन को बांधे ताल मंजीरन क्यार, गरो गवैया को जो बांधै तेहिका खांय कालिका माय।' १२. जहां शीघ्रता का वर्णन हो वहां 'बीतै घरी २ कै बेरि।' १३. उत्सुकता, संदेह, शोक, अधीर्यादि के वर्णन में, 'हाय दैया गति जानि न जाय।' १४. उपदेश, उद्बोधन तथा साहसप्रदान में 'राम बनैहै तौ बनि जैहैं बिगरी (तथा 'भैया') बनत २ बनि जाय।' १५. किसी अच्छे काम का फल सूचित करने में, 'कीरति चली जुगाधिन जाय।' १६. सब कर्म विमुखता पर भय दिखाने में, 'वहिं परे खटोली मा सरि जैहो घर में तिरिया देहै फुंकाय' अथवा १७. 'कौवा गीध मांस न खाय।' १८. अपना साहस दिखाने में, 'खटिया पर मिले बलाय' तथा १६. 'पांव पछाड़ी हम धरिबे ना (चाहे) तन धंजी २ उड़ जाय' तथा २०. चाहे इन्द्र बरूसैं सांगि, तथा २१. 'चाहै मान रहै चहै जाय।'

२२. कार्यदृढ़ता में, 'दुइ मां एक अंकु रहि जाय', तथा २३. 'सब महना-मथु जाय पटाय' ।' २४. जहां यत्न करने पर भी कार्यसिद्धि न हो वहां, 'जो हरि हरै तौ राखै कौन' तथा 'हम पर ('तुम पर' या 'वहि पर' जैसा मौका हो) रूठि गए भगवान ।' २५. किसी बैठक के वर्णन में, 'बिछे गलीचा उइ मखमल के जहं मोरवन लग पायं समायं ।' २६. किसी नृत्यसभा के वर्णन में, 'तबला ठनकै बृजबासिन को (बृजबासिनके बदले चाहे जिस देश के बाद्यकार का नाम हो) बंगला (अथवा जो स्थान हो) मां होय परिन का नाचु । अथवा २७. बारा जोड़ी नचै पतुरिया सोरह जोड़ भवैयन क्यार (कुछ बारह सोलह का नियम नहीं है) । २८. नृत्यबिसर्जन में, 'नचत कंचनी ठाढ़ी रहि गई भंडुअन तबला धरे उतारि ।' २९. बीर सभा, 'तेगन के संग तेगा रगरैं ढालैं रगर २ रहि जायं ।' ३०. अथवा, 'मछरी बीधनि धरी कटार ।' ३१. वा, 'टिहुना धरे नगनि तरवारि ।' ३२. ऐसी सभा वा युद्ध की समाप्ति में, 'ज्वानन खोलि धरे हथियार ।' ३३. राजसभा में, 'लगी कचहरी प्रथीराज (वा नुनि आल्हा अथवा पर मालिक तथा च कोई नाम) की बैठे बड़े २ उमराय ।' ३४. अथवा, 'भरमाभूत लगे दरबार ।' ३५. वा, 'जिन घर भारी लगे दरबार ।' ३६. ऐसे दरबार में कोई प्रस्ताव उठने पर, 'कलस सोबरन को मंगवाओ तेहि पर बीरा दओ धराय । है कोई जोधा मेरी नगरी (मजलिस, सेना वा कोई स्थान का नाम) मां जो महुबे (दिल्ली वा कोई नगर तथा कार्य) पर पान चबाय ।' ३७. किसी दूत का आगमन, 'तब लग दाखिल हैगा झुकि २ करै बंदगी लाग ।' ३८. अथवा, 'सात कदम ते करी बंदगी धावन हाथ जोरि रहि जाय ।' ३९. वा, 'सात कुन्नसैं (कोरनिश) तेरह मोजरा जस कुछु राजन के व्यवहार ।' ४०. सभा की समाप्ति, 'उठी कचेहरी भरौं परिगा औ बरखास भए दरबार ।' ४१. पत्र पढ़ने की रीति, 'खोलि कदरनी तें बंद काटैं आंकुइ आंकु नजरि करि जायं'; आजकल होना चाहिए, 'फारि लिफाफा रे चुटकी से ।' ४२. और, 'पहिले बाचैं (वा लिखि गए) उइ सिरनामा औ पाछे कै दुवा सलाम ।' ४३. रसोई का वर्णन, 'चढ़ी रोसैयां रजपूतन की बटुवन पकै हरिन को मांसु (यदि प्रस्तावना अन्य प्रकार की हो तो 'रजपूतन की' के ठौर पर, 'है बह्मन की' और 'हरिन को मांसु' के स्थान पर 'भातु और दालि' कहना दूषित नहीं है) ४४. किसी बीर की चाल, 'जूता लपेटा मरकत आवै खटकत आवैं ढाल तरवारि ।' ४५. व, 'खट-

कत आवै भुजा पर ।' ४६. अथवा गैंड़की चाल, 'रातिउ दौरैं औ दिन दौरैं बटिहा कहुं न करैं मुकाम ' ४७. गाड़ी की चाल, 'खररररररर पैया बाजैं रव्वा चलैं पवन के साथ ।' ४८. किसी सुंदरी की चाल, 'रुनुक झुनुक पग धरति धरनि पर कम्मर तीन बे लौचा खाय ।' ४६. तलवार की चाल, 'आंवाझूवार चलै तरवारि ।' ५०. वा, 'रे तरवारि चलै पति-भारु ।' ५१. किसी का क्रोध, 'कारी पुतरियां लाली परि गई नैना अगिन-ज्वाल ह्वै जायं ।' ५२. सोच, 'तरे की सासैं तरेहे रहि गईं उपरै ऊपर की रहि जायं ।' ५३. अथवा, 'राजा (वा कोई नाम) रहे सनाका खाय ।' ५४. दुःख, 'मल्हना (वा किसी स्त्री अथवा पुरुष का नाम) छांड़ि दई डिंड-कार ।' ५५. पुरुष की लज्जा, 'लटक कै मुच्छैं पिडरी होइगै ।' ५६. वा, 'औझुकि गए मुच्छ के बार ।' ५७. प्रसन्नता, 'फूलि कै ऊदन (वा कोई नाम) गरगजु हैगे ।' ५८. अथवा, 'गजु भरि छाती भै ऊदन के (वा 'उदया' के) ।' ५६. युद्धयात्रा, 'हाहाकारी बीतत आवे ।' ६०. अथवा 'डंका होत गोल में जाय ।'

खं० ५, सं० ५, ६, १२ (१५ दिसंबर ह० सं० ४ और १५ जनवरी १५ जुलाई ह० सं० ५) तथा खं० ७, सं० १, २ (१५ अगस्त, सितंबर ह० सं० ६)

कांग्रेस की जय

श्रीयुत भीम जी जिस समय प्रयागराज में आकर सुशोभित हुए थे, इस वाक्य को प्रेमपूर्ण हो के कई बेर उच्चारण किया था। कांग्रेस के मध्य में भी सैकड़ों सज्जनों के मुख से यही मंत्र उच्चरित हुवा था और अंत में इलाहाबाद स्टेशन पर तो यह शब्द आकाश को भेद गए थे ! अहाहा ! आज तक हमारे कानों और प्रानों में यही ध्वनि गूंज रही है, और रह रह के मुंह से यही निकलता है कि 'कांग्रेस की जय' ! क्यों न हो, कांग्रेस साक्षात् दुर्गा जी का रूप है क्योंकि वह देशहितैषी देवप्रकृति के लोगों की स्नेह-शक्ति से आविर्भूत हुई है, 'देवानां दिव्य गुण विशिष्टानां तेजो राशि समुद्भवा' है ! फिर हम ब्राह्मण हो के इसकी जय क्यों न बोलें। प्रत्यक्ष प्रभाव यही देख लीजिए कि इसके द्वेषियों ने अपनी सामर्थ्य भर झूठ, प्रपंच, छल, कपट, कोई बात उठा न रक्खी थी पर 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दुगुण कपि रूप दिखावा।' अंत में 'सत्यमेव जयते' इस वेद वाक्य के अनुसार कांग्रेस का अधिवेशन हुवा, और ऐसा हुवा जैसी आशा न थी। स्वयं कार्याध्यक्ष लोग कहते थे कि हमने समझा था बड़ी हद हज़ार डेलीगेट आवेंगे, उसके ठौर पर डेढ़ हजार मौजूद हैं। धन्य है, लोग समझे थे कि मुसलमान उसमें कभी शरीक न होंगे, सो एक से एक प्रतिष्ठित विद्वान, धनिक मुसलमान अनुमान तीन सौ के विराजमान थे। बरंच बाजे नगरों से हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक आए थे ! भला इन बातों को आंखों देख के वा विश्वासपात्रों से सुन के कौन न कह उठेगा कि 'कांग्रेस की जय'। सच तो यह है कि तीर्थराज में ऐसा समागम शायद भारद्वाज बाबा के समय में हुवा हो, बीच में तो सुनने में नहीं आया। यों कुंभादि के मेलों में हजारों की भीड़ होती है 'पर कहां रेशम के लच्छे कहां झौवा भर झोथर'। कहां कुपढ़ उजडु बैरागियों के जमघट, कहां श्री अयोध्यानाथ, श्री मदन मोहन, श्री राम-पाल, उमेश, सुरेन्द्र सरीखों का देव समाज ! आहा ! इस अवसर पर जिसने प्रयाग की शोभा न देखी उसने कुछ न किया। लूथर साहब के हाते का नाम हमने प्रेम नगर रक्खा था क्योंकि लड़के, बूढ़े, हिंदू, मुसलमान, जैन, क्रिस्तान, पश्चिमोत्तर देशी, बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती, सिंधी, मद्रासी, फारसी, इंगलिस्तानी, सब के सब प्रेम से भरे हुए दृष्टि आते थे। किसी

प्रकार की कोई वस्तु किसी समय आप को चाहनी हो, किसी कार्यकर्ता से कह दीजिए बस मानों कल की लाई धरी है ! सब के एक से पट मन्दिर (डेरे), सबका एक विचार (देशहित), आमोद प्रमोद, संलाप-समागम के सिवा किसी को कुछ काम नहीं। व्याख्यानालय में पहुंचने के सिवा कोई चिन्ता नहीं, हज़ारों की वस्तु अकेले डेरे में डाल आइए, सुई तक खो जाने का डर नहीं, नहाने खाने सोने बैठने सैर करने आदि की किसी सामग्री का अभाव नहीं। तनिक सिर भी दुखे, बैद, हकीम, डाक्टर सब उपस्थित हैं। पास ही कांग्रेस के बाजार में दुनिया भर की चीजें ले लीजिए ! पास ही तम्बू के तले दुनिया भर के समाचार (अखबार) जान लीजिए ! पास ही डाक के बम्बे (लेटरबाक्स) में लिख के डाल दीजिए, आप का सारा हाल आप के संबन्धियों को पहुंच जायगा। उसके पास ही डेरे में चले जाइए, अपने घर नगर का वृत्त जान लीजिए। जहां व्याख्यान होते थे वुह स्थान ऐसा सुदृश्य और नाना वस्तु तथा एक रंग रूप की कुर्सियों से सुसज्जित था कि देखते ही बनता था। विशेषतः महात्मा ह्यूम इत्यादि पुरुषरत्नों के आने पर तथा किसी के उत्तम व्याख्यान में कोई चीज की बात आ जाने पर कर-तल ध्वनि और आनन्दध्वनि के एवं नाना रंग रूमालनर्तन की शोभा देख के यही ज्ञात होता था कि हम सुरराज के मंदिर में देव समूह के मध्य बैठे हुए आनन्द समुद्र की लहरें ले रहे हैं। २६ से २९ ता० तक कांग्रेस का महाधिवेशन रहा। इस अवसर में प्रतिदिन प्रतिछिन आनन्द की वृद्धि रही। पर वुह आनन्द केवल भारतभक्तों के भाग्य में था। इतर लोग तो जो वहां जा भी पहुंचे तो कोरे के कोरे ही आए ! एक दिन एक मियां साहब किसी से टिकट मांग के हमारी प्रेम छावनी के भीतर पहुंच भी गए, पर इधर उधर अपनी अंटीबाजी फैलाने से बाज न आए। अतः दूध की मक्खी की भांति दूर कर दिए गए ! २५ ता० को हमारे राजा शिवप्रसाद साहब भी प्रयाग जो में आए, और डेलीगेट होने का दावा किया, बरंच फीस भी जमा कर दी, एवं अपने पूर्व कृत्यों का अनुताप भी प्रकाशित किया। पर किसी को विश्वास न हुवा। विश्वास तो तब होता जब आप कभी किसी देशहित के काम में शरीक हुए होते। लोग नाना प्रकार के तर्क वितर्क करने लगे। किसी ने कहा—'राज जुवति गति जानि न जाई'। किसी ने कहा, चतुर तो हई हैं, कौन जाने—'चौथे पन नृप कानन जाहीं' का उदाहरण दिखावें। किसी ने कहा, अभी यही तो कांग्रेस वालों को दंडनीय ठहराते थे, एक-बारगी क्यों कर बदल जायंगे। जरूर कुछ दाल में काला है। इनका यहां

आना भेद से खाली नहीं है। अवश्य 'कोई माशूक है इस परदए जंगारी में'। अस्तु, बहुत कहने सुनने से मिला लिए गए। पर २६ तारीख को कुछ बोले चाले नहीं। इससे सबको निश्चय सा हो गया कि दिन भर का भूला सांझ को घर आ गया होगा। पर २७ तारीख को लीला दिखाना आरंभ ही तो किया ! आप जानते हैं शिवजी गरलकंठ तो हई हैं। उसकी झार हम मनुष्यों से कहां सही जाती है। आप बोलते जाते थे, लोग हिचकी ले ले के रद्द करते जाते थे ! अंत में जब श्रोतागण बिलकुल उकता गए तो 'गच्छ गच्छ सुर श्रेष्ठ' वाला मंत्र पढ़ने लगे। अस्तु, आप विराजे और हमारे परमाचार्य (सभापति) श्रीयुत जार्जयूल तथा श्री नवलविहारी बाजपेयीजी ने उस विष की शांति के लिए मंत्रपाठ किए। दूसरे दिन हमारे सी० एस० आई० महाशय अपनी काशी को पधार गए और कांग्रेस रूपी कलानिधि का ग्रहण छूटा ! सबको आनंद हुवा, जिसका वर्णन करने को बड़ा सा ग्रंथ चाहिए ! जहां स्कूल के छात्रों तक को देशभक्ति का इतना जोश था कि रेल पर से डेलीगेटों को बड़ी प्रीति के साथ लाते थे, और डेरों पर सारा प्रबंध बड़ी उत्तमता से करते थे, तथा चपरास पहिन पहिन के व्याख्यान-मंदिर का इंतजाम करते थे, और प्रतिपल प्रेम प्रमत्त रहते थे, प्रतिनिधियों की सुश्रूषा में ही अपना गौरव समझते थे (परमेश्वर करे कि हमारी राज राजेश्वरी इन वालंटियरों को शीघ्र वालंटियर बनावें और अपनी कीर्ति तथा हमारी राजभक्ति बढ़ावें) वहां दूसरों के आनंद का क्या कहना है ! तीस तारीख को सामाजिक व्याख्यान हुए थे और उसी दिन बहुत से लोग विदा भी हो गए थे। उस दिन अवश्य सब सहृदयों को वैसा ही खेद हुवा होगा जैसा रामचंद्रजी को चित्रकूट में छोड़ के श्री पादुका लिए हुए भरत जी के साथ अयोध्यावासियों को घर लौटती समय हुवा था ! पर हम उसका वर्णन करके अपने पाठकों को वियोग कथा नहीं सुनाया चाहते। १८८९ में बंबई की कांग्रेस के लिए सन्नद्ध होने का अनुरोध और दूसरे अंक में प्रयाग की कांग्रेस के कर्तव्य सुनाने का इकरार करके इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं। बोलो 'कांग्रेस की जै !' बोलेगा सो निहाल होगा। बोलो 'महारानी विक्टोरिया की जै ३ !'

खंड ५, सं० ६ (१५ जून ह० सं० ५)

अहह कष्टमपंडितता विधेः

हाय भारत ! न जाने तुम से दैव कब तक रुष्ट रहेगा। हा भगवति देवनागरी ! तुम्हारे भाग्य न जाने कब तक ऐसे ही रहेंगे। हाय वेद से ले के आल्हा तक की आधार हमारी प्यारी सर्व गुणागरी नागरी के अदृष्ट में न जाने क्या लिखा है कि इस बिचारी की वृद्धि के लिए हम चाहे जैसा हाय हाय करें पर सुनने वाला कोई देख ही नहीं पड़ता ! हाय, राजा अन्य-देशी होने के कारण इसके गुण नहीं समझते। प्रजा मूर्ख और दरिद्र होने से इसकी गौरवरक्षा नहीं कर सकती पर परमेश्वर को हम क्या कहें जो सर्वज्ञ अंतर्यामी, दीनबंधु इत्यादि अनेक विशेषणविशिष्ट होने पर भी हमारी मातृभाषा को भूला बैठा है। हा जगदीश ! क्या तुम्हारी दया से भी हमारे पाप बढ़ गए। हाय हिंदुस्तान ! क्या तुम्हारी स्थिति कागज पर भी दुष्ट दैव को अखरती है। अरे भाग्यहीन हिंदुस्तानियो ! क्या तुम्में अपनी भाषा तक का इतनी ममता नहीं रही कि दस बीस छोटे मोटे समाचारपत्रों को कायम रख सको ! हाय ! जब हम अन्य भाषाओं में सैकड़ों पत्रों के इसी देश में बहुत मूल्य होने पर भी हजारों ग्राहक देखते हैं तब हिंदी के अभाग्य पर रोना आता है कि इसी बिचारी ने न जाने क्या अपराध किया है कि किसी भाषा से किसी बात में कम न होने पर स्वयं अपने देश में इसके थोड़े से अत्यल्प मूल्य के पत्र नहीं तिष्ठति निपाते। पांच ही सात वर्ष के बीच में 'उचितवक्ता', 'भारतेन्दु', 'भारतोदय' आदि कई उत्तमोत्तम पत्र स्मृतिपथ को सिधार गए। जो थोड़े से एडिटरों के रक्त से सिंचित हो के बच भी रहे हैं उनके भी जीवन में हजार व्याधि लगी हुई हैं ! क्या यह भारत के लिए महाशोक और हिंदुओं के हक में बड़ी भारी लज्जा का विषय नहीं है ? हम समझे थे हमारे 'ब्राह्मण' ही के ग्रह मध्यम हैं पर तीन जनवरी का 'हिंदुस्थान' देख के और भी खेद हुवा कि यह बिचारा फरवरी से समाप्त ही हुवा चाहता है। केवल एक सौ बीस ग्राहकों के आसरे दैनिक पत्र कै दिन चले ? तीन वर्ष चला भी तो कुछ हिंदुस्तानियों की करतूत से नहीं केवल श्रीमान विशेनवंशभूषण समरविजयी राजा रामपाल सिंह महोदय के उत्साह से चला। यदि वे प्रतिमास सैकड़ों रुपए की हानि सह के इसे जीवित न रखते तो अब तक कब का हो बीता होता। पर वे कब तक इस नित्य की हानि को

अंगेजें। इसी से हतोत्साह हो के विज्ञापन दे दिया है कि यदि ४०० ग्राहक जनवरी भर में हो जायं तो इसे रख सकते हैं नहीं तो बंद कर देंगे। हमारी समझ में एक मास में इतने सच्चे ग्राहक होना असमंजस है अतः अब हमारी भाषा के एकमात्र दैनिक पत्र के रहने की आशा नहीं है। हा भारत! ना जाने तुम्हारे संतान निज भाषा का गौरव कब तक न जानेंगे? क्या बीस कोटि हिंदुओं में से १०) साल खर्चने वाले चार सौ लोग भी नहीं हैं! हा! हा!! हा!!!

खं० ५, सं० ६ (१५ जून ह० सं० ५)

प्रश्नोत्तर

अमूर्तिवादी उवाच—'हम नहीं जानते आप लोग कैसे मूर्ख हैं कि एक जड़ पदार्थ को समझ लेते हैं कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर है।' प्रतिमा प्रेमी उवाच—'साहब यदि हम पत्थर के टुकड़े ही को ईश्वर जानते होते तो बाहर जाती समय ठाकुरद्वारे में ताला कभी न लगाते क्योंकि सर्वशक्तिमान की आंखों के आगे से चोर चहार को कोई वस्तु उठा ले जाने की सामर्थ्य नहीं है। इससे यह तो प्रत्यक्ष है कि हम जड़ को कभी चैतन्य नहीं समझते रहा यह कि हम मूर्ख हैं। बड़े २ रिषि मुनि पीर पयगम्बर हो गए किसी ने यह न बताया कि ईश्वर का रूप गुण स्वभाव बस इतना मात्र है; जहां बड़े बड़ों की यह दशा है वहां हमारी क्या चलाई। हम तो मूर्ख हुई हैं 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहौ तूल केहि लेखे माहीं?' पर आश्चर्य और आक्षेप के लायक तो यह है कि आपको ईश्वर मालूम होता है साधारण स्त्रियों और छोकड़ों की सी अकिल भी नहीं रखते (हम तो अपने पूज्य परमात्मा को सर्वान्तर्यामी मानते हैं, पर प्रतिमापूजन के विरोधियों की बातें सुन २ ऐसी शंका हो सकती है) क्योंकि जब हम उनमें से (स्त्री आदि में से) किसी को चाहते हैं, पर लोक लाज से, डर से, सब ठौर सब बात, सब प्रकार की बातें कहने सुनने में असमर्थ होते हैं इस दशा में बहुधा ऐसा होता है कि जब हमारा प्रेमपात्र किसी निज सम्बन्धी के साथ दिखाई देता है तब हम अपने किसी साथी से कहते हैं कि यार तुम्हारे तो दर्शन ही नहीं होते! क्या नाराज हो? हम कई दिन से तरस रहे हैं इत्यादि। यह बातें यद्यपि दूसरे से कही जाती हैं पर हमारा प्रणयभाजन भली भांति समझ लेता है कि यह हम पर बौछार है। पर अफसोस कि आप का ईश्वर इतना भी नहीं समझता कि यह मूर्ति को, बरंच मूर्ति के मिस, हमें पूज रहा है! हम तो ऐसे ईश्वर को दूर ही से दंडवत करेंगे (ईश्वर हमारे प्रेम के आधार हैं, वुह हमारे सब संकेत समझते हैं)।

खं० ५, सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ५)

समझने की बात

यह बात ठीक है कि हमारे पूर्व पुरुष बल, बुद्धि, विद्या, धन, धैर्यादि की पराकाष्ठा को पहुंचे और बड़े २ काम अकेले कर लेते थे। इसका प्रमाण पुराणों ही में नहीं वरंच पुरानी बस्तियों में प्रत्यक्ष भी कुछ २ दिखाई देता है। इससे उनके मुंह से यह कहावत शोभा देती थी कि 'सिंह को किसी की सहायता न चाहिए'; क्योंकि जिस समय में समर्थ व्यक्तियों की संख्या अधिक थी उस समय एक मनुष्य सब कुछ कर सकता था। दूसरे की मदद मांगना क्या जरूरी था। पर अब वुह समय नहीं। अब कहने मात्र को उनके वंशज हैं; किसी करतूत के योग्य नहीं हैं। समय का फेर, ईश्वर की इच्छा, कर्मों का फल, चाहे जो कहिए पर इसमें संदेह नहीं है कि हमारे दिन गिरे हुए हैं। हम रिषियों के वंशज बन के केवल उनकी विडम्बना मात्र करते हैं, कुछ कर धर नहीं सकते। अतः हमारे मुख से यह कहना शोभा नहीं देता कि साझे की खेती गधा भी नहीं खाता। इस कहतूत का गूढ़ अर्थ कुछ ही क्यों न हो पर है हमारे लिए हानिकारक! जहां हमने शास्त्रों का पठन पाठन एवं शस्त्रसंचालन छोड़ दिया है वहां इस कहावत को भी छोड़ देना चाहिए। आपके इस कहने से छुटकारा न होगा कि यह हमारी चिरकालिक कहावत है। जब कि आपने सहस्रों लाभदायक पुरानी बातें छोड़ दीं तब एक लोकोक्ति का छोड़ना कोई बड़ी बात नहीं है। अंगरेजों के यहां ऐसे मनहूस मसले का बर्ताव नहीं है, इससे वे कोई छोटा सा काम भी होता है तो बहुत से लोग थोड़ी २ सहायता करके उसे कर उठाते हैं और भली भांति उसका फल भोगते हैं। पर हमारे यहां छोटे बड़े, दिहाती शहराती सब के मुख पर दिन रात यही कहावत रक्खी रहती है कि साझे की खेती गधा भी नहीं खाता। इसी को कहते २ सुनते २ लोगों के संस्कार ऐसे बिगड़ गए हैं कि कोई काम करते हैं तो अकेले ही मरा पचा करते हैं। कष्ट, हानि सब सहते हैं पर पीछे से अपना सा मुंह ले के रह जाते हैं। रुजगार, व्यवहार, देशोपकार, सुरीतिसंचार, कोई काम हो यदि बहुत से लोग मिल के किया करें तो परिश्रम कम हो, पर समझने वाला चाहिए। अंगरेज ऐसा ही करके लाखों के वारे न्यारे करते हैं। हमारे नीतिकार ऐसे भी बहुत से उपदेश कर गए हैं कि 'अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्य साधिनी',

"सात पांच की लाकरी एक जने का बोझ' इत्यादि, पर इन पर कोई ध्यान नहीं देता। जानते सब हैं पर उदाहरण कोई नहीं दिखाता। पाठक ! कोई काम ऐसा कर तो उठाओ। इसका मजा थोड़े ही दिनों में पाइएगा। पर बातों से कुछ न होगा, कुछ करने ही से कुछ होगा। देखें तो कौन साहब आगे कदम बढ़ाते हैं। हम भी उसमें शरीक होने को तैयार हैं। पर आप सोचिए तो कि क्या कीजिएगा। इस मास में सोच रखिए नहीं तो हमीं बतावेंगे।

खं० ५, सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ५)

किस पर्व में किसकी बनि आती है

श्री रामनौमी में भक्तों की बन आती है। व्रत केवल दुपहर तक का है, सो यों भी सब लोग दुपहर के इधर उधर खाते हैं। इससे कष्ट कुछ नहीं और आनंद का कहना ही क्या है, भगवान का जन्मदिन है। अनुभवी को अकथनीय आनंद है। मतलबी को भी थोड़े से शुभ कर्म में बहुत बड़ी आशा है।

बैशाख में कोई बड़ा पर्व नहीं होता तो भी प्रातः स्नान करने वालों को मजा रहता है। भोर की ठंढी हवा, सो भी बसंत ऋतु की। रास्ते में यदि नीम का वृक्ष भी मिल गया तो सुगंध से मस्त हो गए। ऊपर से एक से एक चंद्राननी का दर्शन!

जेठ में दशहरा को गंगापुत्रों की चांदी है। गरमी के दिन ठहरे, बड़ा पर्व ठहरा, नहाने कौन न आवैगा और कहां तक न पसीजेगा। आषाढ़ी को चेला मूंड़ने वाले गोसाइयों के दिन फिरते हैं। गरीब से गरीब कुछ तो भेंट धरेईगो!

नागपंचमी में लड़कियों का, (परमेश्वर उनके माता पिता को बनाए रक्खे)।

भादों में हलषष्ठी को भुजरियों के भाग जगते हैं, जिसे देखो वही बहुरी-बहुरी कर रहा है। हमारे पाठक कहते होंगे, जन्माष्टमी भूल गए। पर हम जब आधी रात तक निर्जल रहने की याद दिला देंगे, तब यकीन है कि वे भी सब आमोद प्रमोद भूल जायंगे, क्योंकि 'भूखे भगति न होय गुपाला।'

कुंआर का कहना ही क्या है! प्रोहित जी पित्रपक्षों भर सबके पिता पितामहादि के रिप्रिजेंटेटिव (प्रतिनिधि) बने हुए नित्य शष्कुली खाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं! फिर दुर्गापूजा में बंगाली मासा पेट भर २ मांस खाते और तोंद फुलाते हैं। कार्तिक में यों तो सभी को सुख मिलता है पर हमारे अटीबाजों को पौबारह रहती है। 'न हाकिम का खटका न रैयत का गम।' सरे बाजार मतलब गांठना, विशेषतः दिवाली में तो देश का देश ही उनकी 'स्वार्थसाधिनी' सभा का मेंबर हो जाता है! पीछे से 'आकबत की खबर

खुदा जाने', आज जो राजा, बाबू, नवाब, सर (अंग्रेजी प्रतिष्ठावाचक शब्द), हजरत, श्रीमान् सब आप ही तो हैं !

अगहन और पूस हिंदुओं के हक में मनहूस महीने हैं । इनमें शायद कोई त्योहार होता हो । पर बड़ा दिन बहुधा इन्हीं में होता है । इससे मेवाफरोशों तथा हमारे गौरांग देवताओं का मुंह मीठा होता है !

माघ में स्नानादि अखरते हैं, इससे धर्मकार्य ही कम होते हैं, परबें कहां से हों ! पर हां बसंतपंचमी के दिन धोबिनों की महिमा बढ़ जाती है । घर २ श्री पार्वती देवी की स्थानाधिकारिणी बनी पुजाती फिरती हैं । हम नहीं जानते कि यह चाल कब से चली है और कौन उत्तमता सोच के चलाई गई है ।

फागुन के तो क्या २ गुन गाइएगा, होली है ! ऐसा कौन है जो खुशी के मारे पागल न हो जाता हो ? जब जड़ वृक्ष आम भी बौराते हैं तब आम-खास सभी के बौराने की क्या बात है ! पर सबसे अधिक भंडुओं का महत्व बढ़ जाता है ! बड़े २ दरबारों में उनकी पूछ पैठार होती है, बड़े २ लोगों को उनकी पदवी मिलती है । 'आ आ आए होली के भंडुआ', बस सिर से पांव तक तर हो गए !

खं० ५, सं० ८ (१५ मार्च, ह० सं० ५)

किस पर्व में किस पर आफत आती है

नौरात्र (चैत्र और कुंवार दोनों) में बकरों पर। हमारे कनौजिया भाई एवं बंगाली भाई उन बिचारे अनबोल जीवों का गला काटने ही में धर्म समझते हैं।

बैशाख, जेठ, असाढ़, बरी हैं तौ भी छोटी मछलियों को आसनपीड़ा है! जिसे देखो वही गंगाजी को मथ रहा है।

सावन में, विशेषतः रक्षाबंधन के दिन, कंजूस महाजनों का मरन होता है। इनका कौड़ी २ पर जी निकलता है पर ब्राह्मण देवता मुसकें बांधने की रस्सी की भांति राखी लिए छाती पर चढ़े घर में घुसे आते हैं।

भादों में स्त्रियों की मरही होती है। हरतालिका पानी पीने में भी पाप चढ़ाती है! बहुत सी बुढ़ियां तमाखू की थैली गाले पर धर के पड़ रहती हैं। सभी तो पतिव्रता हुई नहीं, दिन भर पति से खांव २ करती हैं। कहीं पावें तो उस ऋषि की दाढ़ी जला दें जिसने यह व्रत निकाला है!

पितृपक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते २ सूख जाते होंगे। 'हाय हम सभा करते, लेक्चर देते मरते हैं, पर पोप जी देश भर का धन खाए जाते हैं।'

कातिक में, खास कर दिवाली में आलसी लोगों का अरिष्ट आता है! यहां मुंह में घुसे हुए मुच्छों के बाल हटाना मुशकिल है, वहां यह उठाव, उह धर, यहां पुताव, वहां लिपाव, कहां की आफत!

अगहन पूस तो मनहूस हुई हैं, विशेषतः धोबियों के कुदिन आते हैं। शायद ही कभी कोई एकाध दुपट्टा उपट्टा धुलवाता हो।

माघ का महीना कनौजियों का काल है। पानी छूते हाथ पांव गलते हैं। पर हमें बिना स्नान किए फलाहारी खाना भी धर्मनाशक है! जलसूर के माने चाहे जो हों, पर हमारी समझ में यही आता है कि सूर अर्थात् अंधे बन के, आंखें मूंद के लोटा भर पानी पीठ पर डाल लेने वाला जलसूर है!

फागुन में होली बड़ा भारी पर्व है। सबको सुख देती है। पर दुख भी कइयों को देती है। एक माड़वारी दिन भर खाना है न पीना, डफ पीटते २ हाथ रह जाता है। हौंकते २ गला फटता है। कहीं अकेले दुकेले शैतानचौकड़ी

(लड़कों के समूह) में निकल गए तो कोई पाग उतारै छै, कोई धाप मारै छै, कोई कीचड़ उछारै छै ! क्या करें बिचारे एक तो हिंदू, दूसरे कमजोर, तीसरे परदेशी, सभी तरह आफत है ! दूसरे नई रोशनी वाले देशभाइयों की बैलच्छ देख २ जले जाते हैं। यह चाहते हैं सब ज्येंटिलमैन बन जायं, वहां आदमी बनना भी नापसंद है। मुंह रंगे हनुमानजी की बिरादरी में मिले जाते हैं ! तीसरे......चौथे दाढ़ी वाले हिंदू दिन भर रंग अबीर धोओ पर ललाई कहां जाती है ! जो किसी ने गंधा पिरोजा लगा दिया तो और भी आफत है ! लो, इतने हमने बता दिए, कुछ तुम भी सोचो ! अक्किल है कि चरने गई है।

खं० ५, सं० ८ (१५ मार्च, ह० सं० ५)

एक विचार

गत मास में हमने 'समझने की बात' लिखी थी। उसमें अपने पाठक महाशयों को महीने भर तक कोई देशहित का काम सोचने की मुहलत दी थी पर किसी सज्जन ने कुछ न बताया कि क्या कर उठाना चाहिए, अतः हमी अपनी प्रतिज्ञानुसार लिखते हैं। पर याद रक्खो 'खान पियन अरु लिखन पढ़न सो काम न कछू चलो री। आलस छांड़ि एक मत ह्वै कै सांची वृद्धि करौ री। समय नहिं नेक बचौ री। भारत में मची है होरी'। भाई, इस होली में जहां चार डेरे नचवाओगे वहां समझ लो पांच नचाए। जहां दस बोतलें ढलती हैं वहां बारह सही। पर थोड़ा २ रुपया जमा करके एक अनाथालय कानपूर में भी कायम करो। देखो हर साल सैकड़ों लोग मोरिशस टापू (मिर्च के मुल्क) को चल देते हैं। सैकड़ों हिंदू मुसलमानों के अनाथ लड़के या तो भूखों मर जाते हैं या पादरी साहब के यहां पल के तुम्हारे किसी काम के नहीं रहते। क्या तुम्हें इन बिचारों पर कुछ दया नहीं आती? क्या अनाथालय स्थापित होने से तुम्हारे देश का भला न होगा? तुम्हें सच्चा पुन्य न होगा? एक समूह का समूह तुम्हारी दया से भूखों मरने और भ्रष्ट होने से बच के तुम्हारा सहायक रहेगा औ जन्म भर गुण मानेगा। फिर क्यों नहीं इसका आज ही उद्योग करते? गोरक्षा में कई एक अड़चलें हैं तौ भी परिश्रम के बल से कुछ चल ही निकली और उसके अगुआओं को कुछ लोक परलोक का भय, लज्जा, विचार होगा तो चाहे हजार दिक्कतें पड़ें पर जैसे तैसे चलाए ही जायंगे। पर इसमें तो कोई अड़चल नहीं है। हमारी सर्कार भी अवश्य सहायता करेगी क्योंकि यह मनुष्यरक्षिणी सभा है। ईसाइयों के पाले हुए हर एक अनाथ बालक और बालिका को सर्कार दो रुपया महीना देती है। क्या तुम अच्छा प्रबंध दिखाओगे तो तुम्हारे पालितों को न देगी? अवश्य देगी। कई अनाथालयों को (जो हिंदू मुसलमानों के हैं) देना स्वीकार किया है। विशेषतः इस नगर के लिए तो एक बड़ा भारी सुभीता यह है कि श्रीयुत पंडित अमरनाथजी स्वर्गवासी (जिनके द्रव्य से यहां का गवर्नमेंट स्कूल चलता है) का रुपया ऐसे ही ऐसे देशहित के कामों में उठाने को रक्खा हुआ है। पर खेद है कि जिस धर्मबीर पुरुष ने अपनी गाढ़ी कमाई हमारे हेत लगाई है

उसका हमारे बहुत से भाई नाम भी नहीं जानते। गवर्नमेंट स्कूल या जिला स्कूल इस नाम से उनका नाम स्मरण कहां होता है। हां, यदि (अमर अनाथालय) स्थापित हो तो उनका यश भी कायम रहे, हमारी स्थानीय गवर्नमेंट को घर से कुछ बहुत न देना पड़े, राजा प्रजा दोनों को पुन्य और देश का एक बड़ा भारी काम हो। कुछ दिन हुए कि कुछ लोगों ने इसकी चर्चा छेड़ी थी पर वुह चर्चा गोरक्षा तथा हिंदुओं के विरोधियों की ओर से थी, इससे कुछ न हुआ। हमें पूरी आशा है कि हमारे नगर के कोई प्रतिष्ठित पुरुष इसमें अग्रसर होंगे तो बहुत से सज्जन हिंदू और माननीय मुसलमान उनका साथ देने को उद्यत हो जायंगे और यह सदनुष्ठान ऐसी अच्छी रीति से चल डगरेगा कि दश ही पांच वर्ष में कानपुर कुछ का कुछ दिखाई देने लगेगा। देखें कौन माई का लाल विप्रबचन परमान कर दिखाता है। हे अनाथनाथ किसी को तो प्रेरणा करो !

खं० ५, सं० ८ (*१५ मार्च ह० सं० ५*)

संसार की अदभुत गति है

यह एक प्रसिद्ध नियम है कि जो व्यक्ति जैसा होता है उसके काम भी वैसे ही होते हैं। कोई पुस्तक ले बैठिए, उसके आशय देख के बनाने वाले के स्वभाव का बहुत कुछ परिचय हो जायगा। कोई वस्तु देखिए तो यह जरूर विदित हो जायगा कि उसका निर्माण करने वाला चतुर है अथवा गाउदी। इस नियम के मूल पर इस दुनियां पर दृष्टि फेंकिए तो स्पष्ट हो जायगा कि इस की विचित्र गति है। आप कैसे ही बुद्धिमान क्यों न हों पर संसार की किसी बात का दृढ़ निश्चय नहीं कर सकते। जब कि इसका बनाने वाला परमेश्वर ही ऐसा है कि उसके रूप गुण स्वभाव सर्वथा अकथनीय, अतर्कनीय, अचिंतनीय हैं, यहां तक कि बड़े २ आचार्यों ने उसका एक लक्षण ही 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः' निश्चित किया है तो उस की सृष्टि ऐसी क्यों न हो? आप यह सिद्धांत रक्खा चाहें कि दिन में प्रकाश होता है तो कभी २ ग्रहण पड़ने पर ऐसा अंधकार देख पड़ेगा कि छोटी मोटी रात्रि भी उसके आगे क्या है? यह निश्चय कीजिए कि रात में अवश्य अंधेरा होता है तो कभी २ लाखों तारे टूट के इतना उजियाला कर देंगे कि दिन की क्या गिनती है। सब लोग कहते हैं, 'दो दिन खाने को न मिले तो अच्छे अच्छों को जीना कठिन हो जाय।' हम देखते हैं महानिर्बल रोगी भी दो २ सप्ताह तक दाना नहीं घोंटते। सब जानते हैं कि घर तथा वाटिका के वृक्ष बिना सींचे मुरझा जाते हैं, पर हम ने देखा है कि बन और पर्वतों में एक से एक कोमल पौधे पड़े हैं जिन पर कभी कोई बूंद भर पानी डालने नहीं गया पर उनकी एक पत्ती भी नहीं सूखती। रीछ भेड़िया आदि बनैले जीव मनुष्यों के भक्षक प्रसिद्ध हैं पर उनके बिल से १०-१० बरस के लड़के जीते जागते निकले हैं। सब को निश्चय है कि सज्जनों को अच्छी मौत मिलती है। इसके विरुद्ध राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्यादि की कथा देख लीजिए, जन्म भर लोकोपकार ही में रहे पर अंत समय कोई फांसी चढ़ाया गया, किसी को विष दिया गया। सब जानते हैं कि 'जो कल्पावैगा वुह क्या फल खावैगा' पर आंखें खोल के देखो तो वही लोग जो अपने पापी पेट को भरना और झूठी खुशामद करना जानते हैं, देश भर अन्याय से पीड़ित हो के मर जाय तो उनकी बला से, वही बड़ी २ पदवी, बड़ी २ प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

खं ५, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ५)

ठगों के हथखंडे*

ठग वे कहलाते हैं जिनके कपड़े लत्ते, चिहरे मुहरे से यह कोई न कह सके कि यह नीति, धर्म एवं भलमंसी के विरुद्ध कुछ भी करते होंगे। बात-चीत भी उनकी ऐसी सभ्यतापूर्ण होती है कि हर कोई ठगे जाने के पहिले उन्हें बड़ा साधुस्वभाव समझता है। प्रत्यक्ष में अपने नगर के दो एक प्रतिष्ठित पुरुषों से ऐसे लोग हेलमेल भी बनाए रखते हैं पर उनकी गुप्त लीला ऐसी होती है कि दूसरे का धन, मान, उचित प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य (तंदुरुस्ती), धर्म, चाहे जो नाश हो जाय पर उनका स्वार्थ सिद्ध होता रहे। यद्यपि हमारी नीतिव्रती सर्कार ने हमारे अनिष्टकारकों के दमन करने में बड़े २ बंदोबस्त कर रक्खे हैं पर इनकी करतूतें हमारी सर्कार के कानों तक बहुत कम पहुंचती हैं, इससे सर्वसाधारण को बड़ी हानि होती है। पराया झगड़ा अपने शिर कौन ले। थोड़ी सी बात के लिए हौव २ में कौन पड़े। अदालत में बहुधा ऊपरी कर्मचारियों की बदौलत झूंठ का सच, सच का झूंठ हो जाता है। घरके धंधे छोड़कर दौर धूप करनी पड़ेगी। जिनकी हम शिकायत करते हैं उनके साथी जबरदस्त हैं। सर्कार तो जब न्याय करेगी तब करेगी, पहिले वही लेव देव कर डालेंगे! यही विचार हमें सच कहने से रोकते हैं। इसके सिवा सब कोई कानून नहीं जानता और उन्हों (ठगों) ने अपने बचाव की सूरत निकाल रक्खी होगी, ऐसी ही ऐसी बातें सोच के लोग पेट मिसूसा मार रह जाते हैं पर हमें सत्य का विश्वास एवं सर्कार से न्याय की आस है, इससे सर्वसाधारण के हितार्थ ठगों के हथखंडे, जो आंखों देखे और विश्वासियों से सुने हैं, धीरे २ प्रकाश करेंगे। कभी तो कोई सुने-हीगा! और कुछ न होगा तो हमारे पाठकगण ऐसे लोगों के मायाजाल से बचे रहेंगे, यही कहां का थोड़ा है। यह हथखंडे बहुत प्रकार के होते हैं और सब लोग सब बातें नहीं जान सकते इस्से जहां तक हमें मालूम है हम लिखेंगे, जो और लोग जानते हों वे 'ब्राह्मण' या और किसी पत्र में सचाई के साथ प्रकाशित करते रहें तो देश का बड़ा उपकार हो।

---

* कई अंकों में प्रकाशित प्रस्तुत लेख के उपलब्ध अंश यहां संकलित है।

एक यह हथखंडा है कि जहां किसी ग्रामीण बैपारी को देखा कि माल बेंचे हुए रुपया लिये बाहर जा रहा है वहीं दो यारों ने उसका पीछा किया। एक ने तो मुलम्मे का कोई गहना किसी थैली या पोटली में बांधा और बैपारी राम के आगे २ कुछ अंतर से चला तथा दूसरा उसके पीछे हो लिया। जब शहर से कुछ दूर पहुंचे और देखा कि इधर उधर कोई नहीं है तो आगे वाले ने अपने गहने वाला वस्त्र ऐसे मजे से राह में डाल दिया मानों गिरने की उसे खबर ही नहीं है, और चला गया। अब बैपारी साहब ने उसे पड़ा हुआ देखा और उठा लिया। खोलते हैं तो सोना पड़ा मिला है! इस खुशी का क्या कहना! इतने में दूसरे ठग भाई ने उसके पास झट आके कहा, 'क्या है जी? वाह, यह तो सोने की है! यह तो ५०) रुपये से कम नहीं है। सुनते हो, तुमने परा पाया है, उठाते बखत हमने देखा है। इससे इसमें आधे का साझी हमें भी करो नहीं तो यह शहर है, यहां तुम्हारी कुछ न चलैगी और हम तुम्हें फंसा देंगे।' ऐसे २ साम, दाम, दंड भेद से उसके साझी बन गये अथवा आप ही ने उसे उठा लिया। चार बैपारी से कहा, 'देखो वह आदमी (जो जा रहा है) इसे गिरा गया है। भाई उसको न बतलाना, चलो हम तुम साझी सही।' संक्षेप यह कि ऐसी पट्टी पढ़ा के उसके सुखमना बने! अब थोड़ी दूर चल के; 'कहो कौन बाजार में बेंचने जायं। यह शहर है, यहां के लोग बड़े कांइया होते हैं, उनके साथ मुड़ धुन कौन करेगा। गांव भी हम जल्दी जाया चाहते हैं, इससे अच्छा होगा या तो आधे दाम हमसे ले लेव, चीज दे देव। पर रुपया हमारे पास नहीं है, शहर चलो तो फलाने (किसी अमीर का नाम) के यहां दिला दें, या चलो हमारे गांव तक, वहां दे देंगे। नहीं तो तुम्हीं यह चीज ले लेव। है तो ५०) रुपये की, आधे दाम २५) रुपये होते हैं पर तुम्हें हम २०) रुपए ही की दे देंगे। अरे हां, कौन खटखट में पड़े।' अब पाठकगण सोच सकते हैं, शहर लौट जाने तथा दूसरे गांव जाने में एक तो तकलीफ दूसरे प्राप्ति ... ...
... ...

एक हथखंडा यह है कि कोई लम्बे चौड़े नाम की सभा स्थापन कर ली जिसका उद्देश्य लिखने मात्र के लिए देशहित अथवा मनोरंजन हो, जिसमें नई अवस्था के अनजान देशहितैषी एवं कौतुकी (शौकीन) फंसते रहें और एक अथवा दो नियम ऐसे नियत कर लिए जिनसे दूसरों को कुछ कहने सुनने का ठौर न रहे, यथा—यदि पांच वा सात सभासद

भी बने रहेंगे तो सभा तोड़ी न जायगी और जो सभासद सभा से निकल जायंगे उनका फिर किसी वस्तु पर अधिकार न रहेगा तथा जो पदार्थ सभा-स्थान की शोभा के लिए अथवा सभासदों के आराम के लिए कोई वा कई मेम्बर लावेंगे उसका मूल्य सभा सम्बन्धी पिछला ऋण वर्तमान सभासदों को देना होगा अथच अधिकारियों की बात में सभासदों को बोलने का तब तक अधिकार न होगा जब तक सभी सभ्य एक मत न होंगे, इत्यादि। यद्यपि इस प्रकार के नियम दूषित नहीं हैं पर दुष्ट प्रकृति वाले इनमें भी अपनी चाल यों चलते हैं कि सभास्थान अपने तथा किसी निज सम्बन्धी के घर पर नियत कर देते हैं और चार पांच मेम्बर ऐसे बना लेते हैं जिनमें विद्या, योग्यता, उदारतादि गुण चाहे एक न हो पर हों कोई अपने ही नातेदार भैयाचार और जहां तक हो मुखियापन इन्हीं में रहे। जैसे चचा प्रेसीडेण्ट है तो भतीजा सेक्रेटरी है। मामा कोषाध्यक्ष है तो भान्जा पुस्तकाध्यक्ष है। साला प्रतिनिधि सभाध्यक्ष है तो बहनोई कार्याध्यक्ष है, इत्यादि। कहने सुनने को छोटे मोटे अधिकार दो एक बाहर वालों को भी दे दिए। बस, सभा घर में है, सब सामग्री (असबाब) अपने हाथ में है। जितने लोगों से सभा कायम रह सकती है वे घर ही के हैं, विश्रब्ध भोलेभालों के ठगने का ठान ठना सभा में होता हुवाता कुछ नहीं, पर चन्दा हर महीने देते जाव। बाजार से कोई वस्तु मैनेजर साहब चाहे घर के लिए भी लावें पर सभा की है। अतः सभासदों को दूने चौगुने दाम देना चाहिए। जब कभी महीनों में अंतरंग अधिवेशन (प्राइवेट मीटिंग) होगा तो बरसों के ऋण का भी कुछ २ भाग सभासदों के माथे मढ़ा जायगा क्योंकि जो सभासद निकल गये हैं वे बेईमान थे इससे वर्तमान ही सभासदों का आसरा है। बस इस रीति से कुछ दिन सभ्य बने रहो, चन्दा इत्यादि सब देते रहो, सामान बनवाने के लिए रुपया दे देकर सभामन्दिर के स्वामी का घर भरते रहो। यदि बरस दो बरस में कोई बहिरंग कार्य हो तब उत्साह दिखलाने को और भी अधिक देना, पर अन्त में इसका नतीजा यह होना है कि एक न एक दिन कोई न कोई झगड़ा खड़ा करके आज मैं, कल तुम, परसों अन्य, सभा से निकाल दिया जायगा अथवा आप ही घर बैठ रहेगा और असबाब सभा के अध्यक्ष, सेक्रेटरी अथवा मैनेजर के बाप का हो जायगा। इस रीति से बहुतेरे बहुतों को ठगा करते हैं। हमारे पाठकों को चाहिए कि इस प्रकार की चालबाजियों से सावधान रहें और यदि एक आध बार ठग गये हों तो अपने मित्रों तथा सर्वसाधारण को उक्त ठगों के

नाम ग्राम काम की सूचना दे दिया करें जिसमें दूसरे लोग धोखा न खायें। इस प्रकार के बंचक बहुधा कुछ पढ़े लिखे शिष्टों के भेष में हुवा करते हैं। अतः ऐसों की करतूत बहुधा दो एक बेर ठगाए बिना नहीं जान पड़ती, पर तो भी जहां उपर्युक्त चाल ढाल की सभा हो वहां कभी २ ऐसा ही रंग होता है, एवं वहां के उन आने जाने वालों से कुछ २ भेद मिल सकता है जो कभी सभासद थे पर अब नहीं है, अथवा हैं भी तो अफसरों के सम्बन्धी वा गहिरे मित्र नहीं हैं।

खं० ५, सं० ८, १० (१५ अप्रैल, १५ मई ह० सं० ५)
खं० ६, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ५)

दांत

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी सी छोटी २ हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि किसके मुंह में दांत हैं जो पूरा २ वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत २ रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है। जब दांतों के बिना पुपला सा मुंह निकल आता है और चिबुक (ठोढ़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मट्टी में मिल जाती है। नैनबाण की तीक्ष्णता, भ्रूचाप की खिचावट और अलक-पन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता। कवियों ने इसको उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है वह बहुत ठीक है बरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मजा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ को चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया भर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शन मात्र हमसे सुन लीजिए। १. श्रृंगार का तो कहना ही क्या है। ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली तथा उनके गोरे गुदगुदे गोल कपोल पर रदछद (दन्तदाग) के वर्णन में अपने कलम की कारीगरी न दिखाई हो ! आहा हा ! मिस्सी तथा पान रंग रंगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले दांत जिस समय बातें करने तथा हंसने में दृष्टि आते हैं उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूंगे की मिठाई है। २. हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब तक हंसते २ दांत न निकल पड़ें। (पर देखना कहीं मक्खी लात मार न जाय) ३. करुणा और ४. रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दांत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं। एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरे को करुणा उपजाने में दांत दिखाए जाते हैं। रिस में भी दांत पीसे जाते हैं। ५. सब प्रकार के

बीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथवा दुखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दांत लगा रहता है। ६. भयानक रस के लिए सिंह व्याघ्रादि के दांतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। ७. वीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दांत देख लीजिए जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है। ८. अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख सुन के दांत बाय, मुंह फैलाय के हक्का बक्का रह जाते हैं। ९. शान्त रस के उत्पादनार्थ श्री शंकराचार्य स्वामी का यह पद महामंत्र है—'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम्। कर धृत कम्पित शोभित दंडं तदपि न मुंचत्याशापिंडम्। भज गोविंद भज गोविंदं गोविंदं भज मूढ़मते।' सच है जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन ? 'दांत खियाने खुर घिसे पीठ बोझ नहिं लेइ। ऐसे बूढ़े बैल को कौन बांध भूसा देइ।' जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुवे, मछली, स्थल के कौवा, कुत्ता आदि दांत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया ? आप की हड्डियां हाथी के दांत तो हई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवैंगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दांत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दंतावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहां तक कि बड़े २ कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े २ सुन्दर मुखारविंदों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—'मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़'। हम नहीं जानते कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिंदू मुसलमानों का साथ तन, मन, धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते। याद रखिए, 'स्थान-भ्रष्टा न शोभंते दंता केशा नखा नराः।' हां, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिंदुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आप की भूल है। हंसने के समय मुंह से दांतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता बरंच एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेशचिंता के लिए कुछ काल देशांतर में रह आएं तो आप की बड़ाई है। पर हां, यदि वहां जा के यहां की ममता ही छोड़ दीजिए तो आप का जीवन उन दांतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा

किसी कारणविशेष से मुंह के बाहर रह जाते हैं और सारी शोभा खो के भेड़िए के से दांत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दांतों का परदा है, जिसके परदा न रहा अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निरलज्ज जिंदगी व्यर्थ है। कभी आप को दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देशभाई पर सदा हमारे देश, जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं। परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख है हम तो उनकी जैजैकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांतकाटी रोटी का बर्ताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिंदू मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दांतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—'कायर कपूत कहाय, दांत दिखाय भारत तम हरौ'। कोई हमारे लेख देख दांतों तले उंगली दबा के सूझ बूझ की तारीफ करे अथवा दांत बाय के रह जाय या अरसिकतावश यह कह दे कि कहां की दांताकिलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दांत जिस ओर लगा है वह लगा रहेगा। औरों की दंतकटाकट से हमको क्या। यदि दांतों के सम्बन्ध का वर्णन किया चाहें तो बड़े २ ग्रंथ रंग डालें और पूरा न पड़े। आदिदेव श्री एकदंत गणेश जी को प्रणाम करके श्रीपुष्पदंताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिव जी की महिमा, दंतवक्त्र शिशुपालादि के संहारक श्री कृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटि जन्म पार न पावें। नाली में गिरी हुई कौड़ी को दांत से उठाने वाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तौ भी लिखते २ थक जायं! हाथीदांत से क्या २ वस्तु बन सकती है? कलों के पहियों में कितने दांत होते हैं, और क्या २ काम देते हैं, गणित में कौड़ी २ के एक २ दांत तक का हिसाब कैसे लग जाता है, वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है, पद्धतिकारों ने 'दीर्घदंता क्वचिन्मूर्खा' आदि क्यों लिखा, किस २ जानवर के दांत किस २ प्रयोजन से किस २ रूप गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं? मनुष्यों के दांत उजले, पीले, नीले, छोटे, मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुड़हे कै रीति के होते हैं, इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। बरंच यह भी कहना ठीक है कि यह बड़ी २ विद्याओं के बड़े २ विषय लोहे

के चने हैं, हर किसी के दांतों फूटने के नहीं। तिस पर भी अकेला आदमी क्या २ लिखे ? अतः हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दांतों के बोच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दांतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास योग्य नहीं हैं। हाथी के दांत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

खं० ५, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ५)

धरतीमाता

आजकल हमारे देश में गौ माता के गुण तथा उनकी रक्षा के उपाय एवं तज्जनित लाभ की चर्चा चारों ओर सुनाई देती है। यद्यपि दुष्ट प्रकृति के लोग उसमें बाधा करने से नहीं चूकते, और बहुत से कपटी रक्षक बन २ के भी भक्षक का काम करते हैं, अथवा कमर मजबूत बांध के तन मन धन से इस विषय का उद्योग करने वाले भी श्री स्वामी आलाराम, श्रीमान् स्वामी और पंडित जगतनारायण के सिवा देख नहीं पड़ते। नामवरी का लालच, आपस की वैमनस्य, सर्कार की स्वार्थपरता या बेपरवाई इत्यादि कई अड़चनें बड़ी भारी हैं, पर लोगों के दिलों पर इस बात का बीज पड़ गया है तो निश्चय है कि कभी न कभी कुछ न कुछ हो ही रहेगा। पर खेद का विषय है कि हमारी धरती माता की ओर अभी हमारे राजा प्रजा किसी का भी ध्यान नहीं है। हम अपने दिहाती भाइयों को देखते हैं तो सदा स्वच्छ वायु में रहते और परिश्रम करते एवं अनेक बलनाशक दुर्व्यसनों से बचते हुए भी अधिकांश निर्बल ही पाते हैं। यह बुद्धिमानों का महानुभूत सिद्धांत है कि 'उत्तम खेती मध्यम बान, निषिद्ध चाकरी भीख निदान', पर आजकल कृषिजीवी ही लोग अधिक दरिद्री पाए जाते हैं। कितने शोक की बात है कि जिनके घर से हमारे नगरवासी भाइयों को अन्न वस्त्र मिलता है उन्हीं को रोटी, लंगोटी के लाले पड़े रहते हैं। हमारे बुद्धिमान डाक्टर और हकीम जिन बातों को स्वास्थ्यरक्षा का मूल बताते हैं उन्हीं कामों को दिन रात करने वाले यथोचित रीति से हृष्ट पुष्ट न हों, इसका कारण क्या है? ईश्वर की इच्छा, काल की गति, वर्तमान राजा की नीति, चाहे जो कह लीजिए, पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि हमारे नाश का मुख्य कारण हमारी ही मूर्खता है! नहीं तो कुत्ते भी जहां बैठते हैं वहां पूंछ हिला के बैठते हैं। पर हमने अपनी चाल उनसे भी बुरी कर रक्खी है कि जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसीके बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते! हमारे पूर्वज मूर्ख न थे जिन्होंने धरती को माता एवं शिव जी की आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति कहा है, तथा उसके पूजने की आज्ञा दी है। वे भलीभांति जानते थे कि संसार में जितने पदार्थ हैं सबकी उत्पत्ति और लय इसी में और इसी से होती है। हम सारे धमधम इसी पर करते हैं, हमारे सुखभोग की सारी सामग्री

हमें इसी से प्राप्त होती है। फिर इसके माता होने में क्या सन्देह है ? यदि इस माता के प्रसन्न रखने में उद्योग न करते रहेंगे तो हमारी क्या दशा होगी ? अब इस समय के अनेक विदेशी विद्वानों को भी निश्चय हो गया है कि यदि कोई पुरुष नित्य शरीर पर साफ चिकनी मट्टी लगाया करे वा प्रतिदिन कुछ काल उसमें लोटा करे तो शरीर, मस्तिष्क एवं हृदय को बड़ा लाभ पहुंचता है। हमारे यहां के अपठित लोग भी जानते हैं कि 'मट्टी देही को पालती है' पर यदि हम मट्टी को शुद्ध न रक्खें, उसके अशुद्ध करने वालों को न रोकें, शुद्ध मट्टी प्राप्त करने में आलस्य अथवा लोभ करें तो हमारा ही अपराध है कि नहीं ? और उस अपराध से मट्टी लगाने तथा उसके लाभ उठाने से हम वंचित रहेंगे कि नहीं ? ऐसे ही मट्टी की तथा यावत् वस्तुओं की खानि हमारी धरती माता निर्बीजा होती रहेगी (जैसी आजकल हमारी बेपरवाई से होती जाती है) तो इसमें भी कोई आश्चर्य है कि एक दिन हमारी जीवन-यात्रा ही कठिन हो जायगी , और जिन गऊ माता के लिए आप इतनी हाय २ कर रहे हैं उनका पालना भी महा दुर्घट हो जायगा ? क्योंकि सबसे बड़ी तो यही धरती माता है। जब यही खाने को न देगी तब किसको कहां ठिकाना है। इसलिए देशवासी मात्र को चाहिए, यदि अपना और आगे आने वाली पीढ़ियों का सचमुच भला चाहते हैं तो सब बातों से पहिले धरती माता के प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें। फिर दूसरे काम तो सहज में हो जायंगे। •आज हम देखते हैं कि हमारी भारतभूमि ऐसी बलहीन तन-छीन हो रही है कि जिधर देखो उधर 'खेती ना किसान को, भिखारी को न भीख कहूं। बनिया को बनिज न चाकर को चाकरी। जीविकाविहीन दीन छीन लोग आपस में, एकन सों एक कहैं कहां जाई का करी।' की दशा हो रही है ! इस दशा में बड़े २ मनसूबे बांधना शेखचिल्ली के इरादे हैं ! नहीं तो सम्पादकों, व्याख्यानदाताओं, लेखकों को चाहिए कि जहां और बातें सोचा करते हैं वहां धरती के पुष्ट रखने के उपाय भी सर्वसाधारण को विदित करते रहें। जड़ पदार्थ की पूजा के द्वेषी नेक विचारें कि यदि इस पूजा से विमुख रहेंगे तो सारा धर्म और देशहितैषिता पोथियों ही में रह जायगी। मुख में बोलने की सामर्थ्य रहेगी नहीं, उस हालत में करते धरते कुछ न बनेगा। नहीं तो हमारे इस वाक्य पर विश्वास करो कि धरती है भगवती का रूप, इसके प्रसन्न रखने ही में सबका निर्वाह है। विश्वस्त बूढ़ों से सुनने में आया है कि अभी ४० ही ५० वर्ष हुए, जिन खेतों में सौ २ मन अन्न उपजता था उनमें अब ५०-६० मन मुशकिल से होता है ! यह धरती माता

की पूजा न होने ही का फल है। यदि हम अब भी न चेतैंगे तो आगे को और भी अनिष्ट की सम्भावना है। अतः अभी से धरती माता की पूजा का उद्योग कीजिए। दूसरों को उपदेश दीजिए, जी में बिचारिए कि इनके प्रसन्न रखने को कैसी पूजा चाहिए। फिर उस पूजा की विधि का सब में प्रचार कीजिए। यही परम कर्तव्य है। हमने जो कुछ सोचा, समझा और सुना है उसे आगामी अंक में प्रकाश करेंगे। हमारे दूसरे भाई भी सोचें तो क्या बात है। पर सोचने समझने के साथ यह भी बिचार लेना चाहिए कि 'करनी सार है कथनी खुआर'।

खं० ५, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ५)

धरतीमाता की पूजा

जिन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेकचर सुने होंगे उनको स्मरण होगा कि संस्कृत में वृक्ष को पादप कहते हैं, जिसका अर्थ है पांव से पीने वाला अर्थात् उनके पाव (जड़) में जल डालो तो वे पी लेते हैं। जैसे हम मुंह से जल दुग्धादिक पीते हैं तो वह सारे शरीर को शीतल कर देता है वैसे ही पेड़ की जड़ में पानी डालो तो उसके डाल पात आदि को शीतल कर देता है, और पानी का जितना भाग पृथ्वी में होता है उसको वे स्वभावतः खींचा करते हैं। बड़े २ आम, पीपल, महुआ आदि के पेड़ों को देखो वह बिना सींचे हरे रहते हैं। इसका कारण यही है कि वे धरती के स्वाभाविक जल को मूल द्वारा पीते रहते हैं इसी से जीवित रहते हैं और यह बात तो सब को विदित है कि पृथ्वी पर जितना जल है उसे सूर्यनारायण खींच लेते हैं। वही वर्षा में बरसा देते हैं। पर धरती में मिला हुआ या धरती के नीचे का जल सूर्य नहीं खींचते, क्योंकि धरती उस जल की आड़ है। इससे धरती के नीचे का जल खींचने में सूरज को वृक्षों से सहायता मिलती है। उन्होंने खींच के अपने पत्रपुष्पादि में भर लिया और पत्रादि पर सीधी सूर्य की किरणें पड़ीं, बस धरती के नीचे का जल भी मेघमंडल में पहुंच गया! बिचार के देखिए तो नदी, ताल आदि से भी वृक्षों का जल शीघ्र सूर्यनारायण तक पहुंचता है, क्योंकि वह उनके अधिक पास हैं। अब वाचकवृन्द बिचार लें कि वृक्षों से धरती को कितनी तुष्टि होती है। वृष्टि के लिए वृक्षों से कितनी अधिक सहायता होती है! वृक्षों के निकट पवन भी शीतल और आरोग्यदायक होती है। यह बात अनपढ़े लोग भी देखते हैं कि जहां कई वृक्ष होते हैं वहां जाने से ग्रीषम का महा कठिन ताप भी बहुत शीघ्र जाता रहता है। फिर इस बात में क्या सन्देह है कि धरती माता के लिए वृक्षों की बड़ी आवश्यकता है। इसी विचार पर पुराने राजा लोग नगरों के आस पास बड़े २ जंगल रखते थे। खुशामदी टट्टू कह देते हैं, अगले राजा बन्दोबस्त करना न जानते थे, इससे उनके शहरों के इर्द गिर्द जंगल पड़े रहते थे। यह नहीं जानते कि जंगलों से लाभ कितना होता था। लाखों प्रकार की औषधि बिन जोते बोये हाथ आती थीं। शिकार खेलने का बड़ा सुभीता रहता था, जिससे शस्त्रसंचालन का

अभ्यास रहता था। नित्य दौड़ने धूपने तथा स्वच्छंदचारी पूरे तंदुरुस्त मृगों का मांस खाने से बलवीर्य बढ़ता था। पत्ते, फल फूल, छाल, लकड़ी का किसी को दरिद्र न रहता था। यदि जंगलों से क्या फल होता है, यह लिखने बैठें तो यह लेख बहुत ही बढ़ जायगा। बुद्धिमान पाठक स्वयं समझ लें कि धरती माता को वृक्षों से क्या सुख मिलता है। पर खेद है कि हमारी गवर्नमेंट ने हमारे देश के बन उजाड़ने पर कमर बांध रक्खी है और उसकी देखादेखी हमारे छोटे २ जमींदार भी अपनी भूमि में बीघा भर धरती भी पड़ी हुई देखते हैं तो किसानों को उठा देते हैं। जब से हमारे देश में वृक्षों का नाश होने लगा, तभी से हमारी धरतीमाता जीर्ण हो गई। वर्षा की न्यूनता और रोगों की वृद्धि हो गई। यदि अब भी हमारे देशहितैषी भाई धरती का भला चाहते हैं तो वृक्ष और घास का नाश होना रोकें। लोगों को उपदेश देना, अपनी जमीन पर के पेड़ों को न काटना, सदा उनकी संख्या बढ़ाते रहना, सरकार से भी इस विषय में प्रार्थना करते रहना, इत्यादि ही उपाय हैं। पीपल का वृक्ष पोला होता है, वह औरों से अधिक जल खींचता है, इसी से उसका काटना बर्जित है। जहां तक हो सके उसको तो काटने से अवश्य ही बचाइए। बरगद, आंवला इत्यादि दूध वाले वृक्ष (जिनमें दूध निकलता है) से और भी अधिक उपकार है। आप जानते हैं पानी की अपेक्षा दूध अधिक गुणकारी होता है, सो भी वृक्षों का दूध! जिसका प्रत्यक्ष फल यह है कि बरगद का दूध, गूलर के फल निर्बलों के लिए बड़ी भारी दवा हैं! भला उनसे सूर्यनारायण कितनी सहायता पाते हैं, तथा उनके काटने से कितना धरती माता को दुख होता है, इसको हम थोड़े से पत्र में कहां तक लिख सकते हैं? हमारे रिखियों ने जेठ में बट पूजन एवं अन्यान्य मासों में दूसरे वृक्षों का पूजन कहा है। इसका हेतु यह था कि सूरज की प्रखर किरणें उनका दूध सुखा देती हैं, वह घाटा उनकी जड़ में दूध डाल के तथा फूल और अष्टगंध की सुगंध से पूरा करना चाहिए। पर शोक है नए मतावलम्बियों की बुद्धि पर कि उन्होंने मूर्खता से ऐसी हिकमतों को जड़ वस्तु की उपासना समझा है! अरे भाई, अपना भला चाहो तो मतवाले न बनो। प्रत्येक वृक्ष की रक्षा, वृद्धि और सनातन रीति से जल दुग्धादि द्वारा उनको सींचना स्वीकार करो।

खं० ५, सं० १० (१५ मई, ह० सं० ५)

समय का फेर

अभी वह लोग बहुत से जीते हैं जो सन् ५७ के बलवे के दस पांच बरस पहिले का हाल अपनी आंखों देखा बतलाते हैं। और उनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं जिनकी बातें विश्वास करने के योग्य हैं पर इस वर्तमान काल के लोगों को वे बातें बहुधा कहानी सी जान पड़ती हैं, क्योंकि उस जमाने और इस जमाने से इतना फरक है कि बुड्ढे लोग उसे सतयुग कहते हैं और इसे कलयुग मानते हैं। हमारे एक वृद्ध मित्र का कथन है कि भैया तुम्हीं लोग कहो कि इन दिनों देश की दशा सुधरने लगी पर हमारी समझ में सिवाय इसके कि तुम्हें बातें बनाने का अधिक अभ्यास हो गया और अठए दसए दिन थोड़े से नौसिखियों को इकट्ठा करके आपस की बकवास निकाल डालते हो, यह बातें तो बेशक हमारी जवानी में न थीं, पर जो आनन्द हमने भोगा है वह तुम्हें सपने में भी दुर्लभ है। तुमने देखा होगा कि धामर बनियों के यहां ब्याह में बरातियों को जो सीधा (भोजनसामग्री) दिया जाता है उसमें धेला कौड़ी घी के लिये देते हैं। इस बात को तुम लालच अथवा दरिद्रता समझ के हंसते होगे पर हम सौगन्द खा के कहते हैं कि हमारी जवानी में धेले का घी एक आदमी के लिये बहुत होता था। यह प्रत्यक्ष देख लो कि हममें अब भी वह बल और पौरुष है कि तुम्हें हम कुछ नहीं समझते। इसका कारण यही है कि हमने १८ या २० रुपए मन घी और रुपए का २२ तथा २० सेर दूध ऐसा खाया है जैसा तुम्हें डेउढ़े दूने दामों पर भी मिलना कठिन है। भैया, यह उसी खिलाई पिलाई का फल है कि हम साठा सो पाठा बने हैं। जिन रोगों से तुम बारहो मास घिरे रहते हो उनका हमने कभी नाम भी नहीं सुना था। तुम अपनी सभाओं में बाल्यविवाह बाल्य-विवाह झींखा करते हो पर हम लोगों के भी ब्याह बारह ही तेरह बरस की अवस्था में होते थे तौ भी निर्बलता क्या है, यह हम जानते भी नहीं। क्योंकि लड़काई में ब्याह होता था तो क्या हुवा, गौना तो सात वर्ष, पांच वर्ष अथवा कम से कम तीन वर्ष ही में होता था। इसके सिवा हम अपने बड़े बूढ़ों की लाज से अपनी स्त्री के साथ खुल के बात भी बहुत कम करते थे। इसके सिवा धर्म का डर और अपने जमाने की चाल के अनुसार अपने अड़ोस पड़ोस, गांव देश की स्त्रियों को उनकी उमर देख के किसी को चाची, किसी

को दीदी, किसी को बिटिया कहते थे और सचमुच वैसा ही मानते थे। हम तो न भी मानते पर यह डर था कि हम बुराई करेंगे तो कोई मूंड़ काट लेगा या मारते २ अधमरा कर डालेगा। वेश्याओं के यहां लोकलाज के मारे न जाते थे। कोई देख लेगा या सुन पावेगा तो चौधरी होगी। यही सब बातें थीं कि हमारा बल अब भी तुमसे अधिक है। यह बातें तुम में कहीं हई नहीं। तुम चाहते कि हम अपनी बबुआइन को लेके सैर करने पावें तो मानो बैकुंठ मिल जाय। गांव नगर की स्त्रियां तुम्हारे हिसाब कुछ हैं ही नहीं। यदि घर की सनातन रीति के मारे मुंह से चाची बहिनी इत्यादि कहते भी हो तो जी में यह जरूर समझते होगे कि न हमारे चाचा की विवाहिता है न हमारे बाप की बेटी है, फिर डर ही क्या है, कोई जान ही जायगा तो क्या होगा, अदालत के वास्ते सुबूत ही क्या है, और हो भी तो क्या फांसी हो जायगी? वेश्या के यहां जाना तुम अमीरी और जिंदादिली समझते हो। धिक्कार है इस बुद्धि को! यदि परमेश्वर करे देश में यही चाल चल जाय कि ब्याह २४-२६ वर्ष में हुआ करे तो भी तुम में वह लक्षण नहीं हैं कि तुम्हारा बूता बना रहे! बल की रक्षा के सिवा धन का यह हाल था कि आगरमऊ की अद्धी, लखनऊ की छींटें, कन्नौज का गाढ़ा, ढाके का मलमल इत्यादि हमारे कपड़े ऐसे थे कि कम से कम बरस दिन तक तो टसकाए न टसकते थे। वरंच गरीब गुरबा के कपड़े की यह दशा थी कि एक गाढ़े का थान ले लिया, दो वर्ष धोती पहिनी फिर रंगा के रजाई बनवा ली। तीन चार वर्ष की फिर छुट्टी हुई। भला यह तो बताओ तुम्हारे लंकलाट और तंजेब के अंगरखे कै महीने चलते हैं? अभी बरतनों पर गुसैयां की दया है। अधिकतर देशी ही हैं, जो टूट फूट जाने पर भी तांबे पीतल के भाव बिकी जाते हैं। पर तुम्हारी कुबुद्धि ने काच के गिलास औ लंप इत्यादि की भक्ति उपजाय दी है जिनमें दाम तो दूने चौगुने लगते हैं पर फूट जाने पर शायद ५) की लंप एक रूपये को भी न बिके। कहां तक कहैं, सबसे तुच्छ जूता होता है, सो अमीर लोग भी ३, ४ का पहिनते थे और टूट जाने पर नौकरों को उठा देते थे। वे पहिन पहिना के रुपए बारह आने भर चांदी उसमें से निकाल लेते थे, पर तुम्हारे पांच रूपए के बूट में बताओ तो कितनी जरी होगी? रुजगार की यह गति थी कि हमारी देखी हुई बात है, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मिरजापुर आदि में कंचन बरसता था। पर हाय आज धूल उड़ती है, और राम न करे यही हाल कुछ दिन और रहा तो यह शहर के नाम से पुकारे जाने योग्य न रहेंगे, क्योंकि स्त्री का पति है पुरुष और पुरुष का पति रुजगार।

उसका इस जमाने में कहीं ठीक ही नहीं है। आगे सौ पचास रुपए लगा के छोटा मोटा धंधा कर उठाता सो भी चैन से दिन बिताता था। पर आज हम देखते हैं जो हजारों अटकाए बैठे हैं वे भी झींखते रहते हैं। हजारों गरीब लोग केवल एक लढ़िया से घर भर का पालन करते थे। उनका रेल ने सर्वनाश कर दिया। हजारों अनाथा विधवा पिसौनी कुटौनी कर खाती थीं, उनकी रोटी पनचक्कियों ने हर ली। हजारों कोरी कम्बल, खेस गजी गाढ़ा बना के निबाह कर लेते थे। उन्हें सत्यानास में मिलाने को पुतलीघर खड़े हुए हैं। विपत्ति आती है तो एक ओर से नहीं आती। उधर विदेशियों का यह दांव है कि अन्न औ जल भी हम इनके हाथ बेंचा करें और इधर हिन्दुस्तानियों की यह इच्छा है कि मट्टी और हवा भी विलायत से आवे तो खरीदना चाहिए, दाम चाहे जो लगे। रुपया हिन्दुस्तान में अब नहीं रहा। मुसलमानों ने सात सै बरस राज्य किया, उसमें भी बाजे २ बादशाहों ने हजारों आदमी मार डाले, सैकड़ों नगर लूट लिए, तौ भी अन्न वस्त्र सबको मिलो रहता था। पर इस सुराज्य में सौ ही बरस के बीच यह दशा हो गई है कि देश भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं, सो भी पेट भर नहीं। तिस पर भी जिनको रामजी ने खाने भर को दिया है उन्हें अपने धन की ममता नहीं है। विलायती मट्टी भी (चीनी के बर्तन दवात आदि) प्यारी लगती है, अपने यहां का सोना भी अखरता है। जिनके घर में देखो सारा सामान तौ भी रुपए में बारह आने भर सामग्री विलायत ही की बनी पावोगे, जिसमें दाम तो एक २ के चार लगे हैं पर ठहरती देशी की अपेक्षा आधे दिन भी नहीं और तनक बिगड़ जाने पर सब स्वाहा ! इस सत्यानाशी पसंद की कथा कहां तब कहें, केवल दो एक बातों से समझ लेना चाहिए। शरीर की रक्षा के लिए वैद्य और औषधि का काम पड़ता है, उसमें भी अच्छे से अच्छे वैद्य को एक रुपया भेंट (सो भी मुलहिजे में काम चले तो और भी अच्छा) पर डाक्टर साहब को सूरतदिखौनी चार रुपया (न दें तो नालिश करके ले लें)। दवाई का यह हाल है कि वैद्यराज मोती की भस्म दें तो मूली गाजर सा भाव करेंगे पर अंगरेजी दुकान से मशक का पानी भी कम से कम आठ आने का उठा लावेंगे। सौंफ, धनियां, ककड़ी, खीरा के बीज आदि की ठंढाई थोड़े दाम में बने, रुचिकारक हो, कई छोटे मोटे रोगों का नाश करे, सो तो काटती है पर सज्जी, नींबू आदि का वीर्यनाशक पानी, छत्तिसों जात की उच्छिष्ट, बोतल में भरा हुआ चार पैसे को भी सस्ता है। जहां ऐसी समझ है

वहां धन कैसे बचे और देशियों को अपनी बिद्या बढ़ने का उत्साह कहां से हो। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि देश ने तरक्की की है और कर रहा है। तरक्की तो विलायत ने की है, यहां तो चारों ओर से सारी बात नाश हो रही है और हिन्दू बीच में बैठा हुआ नाश होने के कारणों को सहायता पहुंचा रहा है। अगले अमीरों को यह ध्यान रहता था कि जो लोग हमारे पास आ बैठते हैं उनका किसी रूप से कुछ उपकार होता रहना चाहिए पर आजकल के धनिकों में बिरला ही होगा जिसे अपने आश्रितों का कुछ विचार रहता हो, नहीं तो खुशामद और सेवा कराने के लिए तो अमीर हैं, कोई प्रशंसा में कविता बना दिया करे या समाचारपत्रों में तारीफ छपवा दिया करे तो और भी अच्छा (बरंच बाजे २ अमीर प्रगट वा प्रच्छन्न शब्दों में इस बात की फरमाइश भी किया करते हैं)। दून की लेने और गरीबों को धमकी देने में भी राजा करण का अवतार है पर जो कोई यह चाहे कि इनके धन तथा बचन से कुछ मेरा भला होगा वह बिचारा बज्र मूर्ख चाहे न भी हो पर गरजमन्दी के सबब बावला तो हुई है। आगे मालिक को अपने नोकरों का यहां तक ममत्व होता था कि सदा उसके दुख सुख में साथी रहते थे। इसी कारण तीन चार रूपए के नौकर आनन्द से जीवन बिताते थे और निमकहराम को बहुत बुरी गाली समझते थे। पर अब के मालिकों को यह बिचार सदा रहता है कि अमुक को दस रूपया मासिक देना पड़ता है। यदि उसके स्थान पर कोई पांच रू० का आदमी मिल जाय तो अति उत्तम हो। योग्यता को क्या अंचार धरना है? इसी से नौकरराम भी यह समझे रहते हैं कि मुरदा चाहे बिहिश्त जाय चाहे दोजख, हमें अपने हलुए मांड़े से काम है। जब तक जिस रीति से बने अपनी टही जमाते रहो फिर तो एक दिन यह होना ही है कि यह कहेंगे हर तरफ। जनमभर का देना न इन्होंने हमारा लिया है न हमने इनका। हाय, वह दिन कहां गए जिनमें छोटे २ रोजगारी और साधारण २ कर्मचारी भी यह आशा रखते थे कि जिस दिन परमात्मा की दयादृष्टि तथा मालिक की लहर बहर हुई उसी दिन हमारा सारा दुख दरिद्र टल जायगा।

अब तो हम देखते हैं कि किसी को संतुष्टता हुई नहीं। छोटे धंधेवालों का तो कहना ही क्या है, बड़े २ कोठीवाल हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। यह तो बहुधा सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, आज ढिकाने का

दिवाला निकल गया, पर यह बरसों से सुनने ही में नहीं आता कि फलाने २ रुजगार में बन बैठे। यों ही नौकरी करने वालों की कौन कहे, उनकी जड़ तो धरती से सवा हाथ ऊपर (अघड़ में) रहती ही है, जो रईस कहलाते हैं, जिनके यहां दस बीस जने नौकरी करते हैं, वे स्वयं हाय २ में फंसे रहते हैं। करें क्या बिचारे, आमदनी आगे की सी रही नहीं, खर्च कम करें तो चार जने उंगली उठावें, पुरुखों का नाम धरा जाय। 'सम्पति थोरी पति बड़ी यहै बिपति इक आय'। ज्यों त्यों भरमाला बांधे बैठे रहते हैं। पता लगावो तो ऐसा बिरला ही अमीर होगा जो कर्ज में न डूबा हो। लोगों की नीयत का यह हाल है कि आगे कौन किसके यहां से कितना रुपया कब उधार ले आता है, कब दे आता है, कोई जानता भी न था। लेने वाला समझता था कि न देंगे तो पांच पंच में मुंह कैसे दिखावेंगे। मर के भी परमेश्वर के यहां देना पड़ेगा। ऋणहत्या न मुच्यते। इससे चाहे जो हो लहनदार से पीछा छुड़ा ही लेना चाहिये। यहां तक कि बाप दादे के हाथ की बीसियों बरस का देना निपटा के जो गया कर आता था वह समझ लेता था कि अब सुचित हुए। इसी भांति लहनदार समझता था कि फलाने भले-मानस हैं, जब उनके पास होगा बेईमानी न करेंगे, चार जने के आगे थुक्का फजीती से क्या फायदा; भाग का होगा तो मिली रहैगा, नहीं तो पुरबुले में एक २ के सौ २ मिलेंगे। और जो हमीं अगले जनम के ऋणी होंगे तो उरिण हो गए। पर इस जमाने में पुरुषों का कर्ज तो कौन देने आता है (बरुक गया गदाधर पूर्वजन्म इत्यादि पाखंड समझे जाते हैं) खास अपने हाथ का लिखा तमस्सुक तीन बरस बीत जाने पर रद्दी कर देते हैं। गवाही को झूठा बताते हैं। बीच में मांगने वाला मांगे तो आंखें दिखलाते हैं। मुकद्दिमा होने पर बारिस्टर ढूंढते हैं जिसमें कोई राह निकल आवे औ जमा हजम हो जाय। इधर पाने वाला जिस समय उधार देता है तभी सोच लेता है कि बियाज का छियाज जोड़ के एक २ के छः २ लेने चाहिये। यदि कोई सूरत निकल आवै तो इसका घर और जेवर भी हाथ लग जायगा। कहीं किसी तरह १५ दिन को बड़े घर भेज सकें तो सदा आंख नीची रक्खैगा। भला इन नीयतों से कभी किसी का भला हुवा है? अविश्वास इतना फैल गया है कि हम अपनी जवानी में अमुक सज्जन से हजारों का गहना गुरिया माग लाते थे और दे आते थे, हमारे घर की सारी चीजें सदा आज इसके यहां पड़ी हैं कल उसके यहां पड़ी हैं पर कभी एक चांदी के छल्ले की भी भूल न पड़ी। पर आज कल तो किसी को कुछ दे दीजिए, यदि मार न

रक्खेगा तो भी अस्तव्यस्त अवश्य ही कर देगा। और जो किसी के यहां कुछ मांगने जाओ तो दी हुई वस्तु के अवयवों की गिनती करेगा, चार जनों के सामने लिख लिखा के देगा तथापि जी में समझेगा कि किसी प्रकार कुछ भी बिगड़े तो एक २ के दो २ लेना चाहिए, ऊपर से कायल करना चाहिए। इस कलजुगहापन का कारन यह है कि सभी लोग अपनी और पराई इज्जत एक समझते थे पर अब जिसे देखो अपनी २ पड़ी है, दरिद्र दिन २ बढ़ता जाता है, लोगों के दान धरम का ठिकाना नहीं है, फिर किस का कौन होता है ? तुम लोग एका २ चिल्लाया करते हो पर हम जानते भी न थे कि एका किसे कहते हैं। तिस पर भी अपने गांव की लड़की जहां ब्याही होती थी वहां के कुएं का पानी न पीते थे। किसी का समधी दमाद आता था तो उसे अपना निज संबंधी समझ के तन मन धन से सेवा में हाजिर रहते थे। गांव में जिस के यहां बरात आती थी उसे आटे की तो चिंता ही न होती थी, सभी भलेमानस दस २ पांच २ सेर पिसवा के भेज देते थे। घी दूध जिसके यहां होता था वह पहुंचा देता था, बरंच कभी २ रुपये की जुरूरत पड़ने पर भी कोई कानोंकान न जानता था, लड़की वाले के यहां पहुंच जाता था। इसी से एक दूसरे के लिये जी देने को तैयार रहता था। क्या तुम भी ऐसा करते हो कि छाती ठोंक २ के लेकचर ही देना जानते हो। गाढ़ा समय आने पर रांध पड़ोसी हेती ब्यौहारी की धूल न उड़ावौ यही गनीमत है। काम पड़ने पर अपने पास से देना दूर रहा दूसरे की गांठ न टटोलो यही बहुत है। इसीसे कोई तुम्हारे किसी अवसर पर भी साथ नहीं देता। कौन साथ दे, कहीं एक हाथ से ताली बजती है ?

और सुनो, अगले दिनों में सब भलेमानस ही न होते थे। बेहाड़े फक्कड़ भी बहुत से थे, जिन्हें कमाने धमाने की कुछ फिकर न रहती थी, पुरखों की कमाई अथवा जजमानी प्रोहिती की आमदनी से गुजारा चला जाता था। हर घड़ी दो चार टेलुहों को लिये गपशप हांका करते थे या चंग बजाया करते थे। सांझ सबेरे बूटी छानने तथा गांजा चरस उड़ाने के सिवा कुछ काम न रखते थे। आम लोग उनकी सोहबत को अच्छा न समझते थे पर हमारी जान में इस जमाने के भलेमानसों से उनकी जिन्दगी लाख दरजे अच्छी थी क्योंकि उनको अपने कुल के आचार का इतना ध्यान रहता था कि ब्राह्मण क्षत्री का लड़का चाहे जितना बिगड़ जाय पर नशा वही खाता पीता था जो उसकी जाति में चला आया हो। इसके विरुद्ध इन दिनों (जिसे तुम सुधरा हुआ समय कहते हो) कहो जितने बाजपेयी और उनसे भी बढ़ के

संन्यासी हम दिखला दें जो जाहिरा में तो बड़े २ पाखंड रचते हैं पर छिप २ के होटलों में छत्तिसो जाति के साथ एक ही गिलास में मदिरा पीते और सब खज्ज अखज्ज खाते हैं तथा इस कपट रीति से सारे मित्रों और नातेदारों का धरम लेते हैं। यह बात उन फक्कड़ों में लाख कोस न थी। इसके सिवा बंधु-भाव उनमें इतना था कि यद्यपि बहुधा किसी को कुछ माल न गिनते थे तौ भी अपने पड़ोस के तथा जाति के वृद्ध पुरुषों को, जिन्हें चचा ताऊ इत्यादि कहते थे, उनका इतना संकोच करते थे कि वे नाराज होके चाहे जैसी कहनी अनकहनी कहलें पर उत्तर देना कैसा, आखें सामने न करते थे तथा जिन्हें अपना मित्र संगी भाइ हितैषी इत्यादि मानते थे उनके लिये जान तक देने को तैयार रहते थे। बरंच बिचार के देखो तो उनके फक्कड़पन का उद्देश्य ही यह पावोगे कि अपने तथा अपनायत वालों के साथ विरोध करने वाले को जैसे बने वैसे नीचा दिखाये रहना। क्या यह उत्तम गुण इस काल के भद्र पुरुषों में भी है? हम तो देखते हैं नई उमर के पढ़े लिखे लोग पड़ोसी बुड्ढे की क्या सगे बाप की भी झिड़की, अपना सौभाग्य समझ के, आदर के साथ नहीं सहते एवं चाहे जैसा गहिरा मित्र अथवा उपकारी क्यों न हो पर उसकी बात अटकने पर टालमटोल ही करते हैं। सामर्थ्य होने पर भी किसी आत्मीय के धन मानादि की रक्षार्थ अपने लिये थोड़े फंसाव में डालना भी बेवकूफी समझते हैं। सच है नई २ अकिल के आगे पुरानी बातें बेवकूफी तो हई हैं। पर याद रक्खो, जिस बेवकूफी से अपने धन धर्म एकता प्रतिष्ठा बल बड़ाई का अनुका बना रहे वह बेवकूफी ऐसी समझदारी से लाख बिस्वा अच्छी है जिससे ऊपर वाली सभी बातों पर पानी फिरता है। जैसा इस समय में देख पड़ता है कि आगे के बेवकूफ, भले बुरे, खोटे खरे चाहे जैसे थे पर अपनी बात निभाने के लिए किसी हानि तथा कष्ट से मुंह न मोड़ते थे। साधारण लोग भी कहा करते थे कि बात और बाप एक है पर आजकल के अक्लमंदों ने इसके विरुद्ध यह कहावत निकाली है कि मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है। यह बात कहते ही नहीं हैं वरंच सौ में नब्बे प्रत्यक्ष दिखा देते हैं कि आज उसी से दांतकटी रोटी है कल उसीसे हड़परई की ठहर जायगी। मुंह से मित्र, भाई, चचा क्या कहते बाप बना लें पर जी में यही रहता है कि किसी तरह इसको छकाना चाहिये। अपनी अटी जमाना चाहिये। आगे के लोग कही हुई बात से लिखी हुई का और भी अधिक ध्यान रखते थे। सब बहुधा कहा करते थे, भाई सुफेदी पर स्याही चढ़ा के धरम तौ न छोड़ेंगे। चार जनों के आगे झूठा बनने से मर जाना अच्छा है।

पर अब बड़े बड़ों से चाहे जो लिखवा लो पर काम पड़ने पर सिवा टाले वाले के कुछ न देखौगे। लोकलज्जा तौ कोई बात ही नहीं रही। अपने जी में जो जैसा चाहे समझा करे, कोई मुंह पर कहने थोड़ी आवैगा। बस छुट्टी हुई। इसी भांति परलोक का भी खयाल है। अगले लोग समझते थे कि और बातों में चाहे जो करना पड़े पर गऊ ब्राह्मण के बीच में बेईमानी करैंगे तो नर्क में भी ठौर न मिलेगा। अब इसके विरुद्ध ब्राह्मणों की निन्दा करना बाजे २ समुदायों का धार्मिक कृत्य हो गया है और उनका धन हरना कुशूलधान्य, मान हरना बुद्धिमत्ता एवं येनकेनप्रकारेण नीचा दिखाये रहना परम चातुर्य है। तथा गौवें बोल नहीं सकतीं इससे और भी दुर्दशा सहती हैं। सैकड़ों ब्राह्मण बैश्य उन्हें प्रत्यक्ष वा हेर फेर के साथ बधिकों के घर पहुंचाते हैं। बीसियों धर्मध्वजी उनकी रक्षा के बहाने चंदा समेट २ अपना पेट भरते और अपनी दुराशा की पूर्ति करने वाले समुदाय के आगे भेंट धरते रहते हैं। यह हम नहीं कह सक्ते कि आगे छल, कपट, अधर्म, अन्याय का कहीं लेश न था। नहीं, अच्छे बुरे लोग सतयुग तक में थे, पर तौ भी दुराचार और कुव्यवहार की एक हद्द थी जिसका उल्लंघन करना वे लोग भी अच्छा न समझते थे जिनका निर्वाह ही बुरी रीति पर निर्भर था। यहां तक कि डाकू और लुटेरे भी ब्राह्मणों, दुर्बलों और अबलाओं को बचा देते थे। पर अब तौ हम देखते हैं स्वतंत्रता की धुन ऐसी समाई है कि किसी को ईश्वर और धर्म का कुछ डर ही नहीं रहा। यद्यपि स्वतंत्रता गधे के सींगों के समान कहने ही मात्र को है, वास्तव में अस्तित्व इतना ही रखती है कि धाय धूप के मंहगा सस्ता, मोटा महीन खा पहिन लो और रात को सो रहो। इतने में बहुधा कोई प्रत्यक्ष बाधा न पड़ेगी। पर इतने ही पर लोगों के दिमाग इतने ऊंचे चढ़ गए हैं कि मानो अब इन्हें कुछ करना ही नहीं है। कोई इनके ऊपर हुई नहीं। कोई अभाव रहा ही नहीं। नहीं तो जिसके पुरखों की सहस्रों वर्ष की प्रगट एवं प्रच्छन्न पूंजी नाश हो गई हो और बची खुची भी सैकड़ों द्वार से दिन २ नष्ट हो रही हो उसे निश्चित हो बैठना चाहिये ? सौ काम छोड़ अपने उद्धार का मार्ग न ढूंढ़ना चाहिये ? पर क्या कीजिए यहां तो जो कोई सुधार की युक्ति बताता है वही सहायता पाने के स्थल पर नक्कू बनाया जाता है, उसीके विरुद्ध उद्योग किये जाते हैं अथवा स्वयं कहता कुछ है, करता कुछ है। इन्हीं लक्षणों से हमें जान पड़ता है कि सब समय का फेर है जिसके मारे अवनति होती जाती है पर तुम लोग उन्नति समझते हो। नहीं तो जो सुख, सम्पत्ति, सुचाल हमारे देखे हुए काल में थी वह भी अब नहीं रही तो उन्नति

कैसी । हां यह कहो कि परमेश्वर की बड़ी २ बांहें हैं, उन्हें सब सामर्थ है, वे चाहेंगे तो कभी दिन फेर देंगे पर आज तो सब कुछ देख सुन, सोच समझ के यही कहते बनता है कि समय का फेर है ॥ शुभमस्तु ॥

खं० ५, सं० १०, ११ (१५ मई, जून ह० सं० ५)
खंड ६, सं० ८, ६, १० (१५ मार्च, अप्रैल, मई ह० सं० ६)

मतवादी अवश्य नर्क जायंगे

हमारी समझ में बड़ी २ पोथियां देखने और बड़े २ व्याख्यान सुनने पर भी आज तक न आया कि नर्क कहां है और कैसा है, पर जैसे तैसे हमने मान रक्खा है कि संसार में विघ्न करने वालों की दुर्गति का नाम नर्क है। मरने के पीछे भी यदि कहीं कुछ होता हो तो ऐसे लोग अवश्य कठिन दंड के भागी हैं जो स्वार्थ में अन्धे होके पराया दुख सुख, हानि लाभ, मान अपमान नहीं बिचारते। अगले लोगों ने कहा है कि 'बैद चितेरी जोतिषी हर निंदक औ कब्बि, इनका नर्क बिशेष है, औरन का जब तब्बि'। पर इस बचन में हमें शंका है, काहे से कि बैद और चितेरे आदि में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग पाये जाते हैं फिर यह कहां संभव है कि सबके सभी नर्क के पात्र हों। वह वैद्य नर्क जाते होंगे जो न रोग जानैं न देश काल पात्र पहिचानैं, केवल अपना पेट पालने को यह सिद्धांत किये बैठे हैं कि 'यस्य कस्य च पत्राणि येन केन समन्वितं। यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति'। पर वह क्यों नर्क जायंगे जो समझ बूझ के औषधि करते हैं और रोगी के दुख सुख का ध्यान रखते हैं अथवा अपनी दवा और मेहनत का दाम लेने में संकोच नहीं करते। चित्रकारों से किसी की कोई बड़ी हानि नहीं होती वरंच उनके द्वारा भूत और वर्तमान समय के अच्छे बुरे लोगों का, अन्य लोगों का स्मरण होता है। अतः औरों की अपेक्षा इनमें से नर्कगामी थोड़े होने चाहिए— हां, ज्योतिषियों में बहुत लोग ऐसे हैं जो पढ़े लिखे राम का नाम ही हैं पर सबके अदृष्ट बतलाने तथा अनमिल जोड़ी मिलाने और वर कन्या का जन्म नशाने एवं बैठे बिठाये गृहस्थों के जी में शंका उपजाने का बीड़ा उठाये बैठे हैं। वे अवश्य नर्क के भागी हों। पर जो अपनी विद्या के बल से भूगोल खगोल को हस्तामलक किए बैठे हैं उन्हें कौन नर्क भेज सकता है? अथवा यह कह देते हैं कि अमुक ग्रंथ के अनुसार हमारे विचार में यों आता है कि आगे क्या होगा क्या नहीं यह प्रश्न ईश्वर से जाके करो। यह कहने वाले भी नर्क से दूर हैं। रहे हरनिंदक, उन्हें नर्क से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि परमेश्वर सदा एकरस आनंदमय है। उनकी निंदा से न उनकी हानि न जगत की हानि है। हां, निंदक अपना पागलपन दिखाता है, सो पागलपन एक रोग है, पाप नहीं। यदि हरनिंदक का अर्थ अनीश्वरवादी ही लीजिए तो भी नर्क को उससे क्या संबंध है? एक बात

उसकी समझ में नहीं आती, उसे वह नहीं मानता, बस ! वरंच हम देखते हैं तो सब की स्वत्व रक्षा, सब से न्यायाचरण आदि गुण बहुधा नास्तिकों ही में पाये जाते हैं। कपटी उनमें बहुत कम हैं। भला ऐसे लोग नर्क जायंगे ? हां हरि की वास्तविक निन्दा किसी मत के कट्टर पक्षपाती अवश्य करते हैं। उनका नर्कवास युक्तिसिद्ध है (यह बात आगे चल के खुलेगी)। कवियों के लिये बेशक यह बात है कि वे अकेले क्या चाहें तो एक बड़े समूह को लेके नर्क की यातना का स्वाद लें, चाहे बड़ी जथा जोड़ के जीवन के मुक्ति का आनंद भोगें, क्योंकि उन्हें अपनी औ पराई मनोवृत्ति फेर देने का अधिकार रहता है ! सिद्धांत यह कि ऊपर कहे हुए सब लोग अवश्य नर्क ही जायंगे यह बात विचारशक्ति को कभी माननीय नहीं हो सकती। पर हा, हमारे मतवाले भाई, अफसोस है कि, नर्क के लिये कमर कसे तैयार हैं ! क्योंकि इन महापुरुषों का उद्देश्य तो यह है कि दुनिया भर के लोग हमारे अथवा हमारे गुरू के चेले हो जायं, सो तो त्रिकाल में होना नहीं। और लोगों का आत्मिक एवं सामाजिक अनिष्ट बात २ में है। यदि ऐसा होता कि आर्यसमाजियों में आर्य, सनातनधर्मियों में पंडित महाराज, मुसलमानों में मुल्ला जी, ईसाइयों में पादरी साहब इत्यादि ही उपदेश करते तब कोई हानि न थी, वरंच यह लाभ होता कि प्रत्येक मत के लोग अपने २ धर्म में दृढ़ हो जाते। सो न करके एक मत का मनुष्य दूसरे सम्प्रदायियों में जाके शांति भंग करता है। यही बड़ी खराबी है क्योंकि विश्वास हमारे और ईश्वर के बीच निज सम्बंध...... ।

एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा प्रेम के मारे उसे अपना पुत्र कहता है। इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है कि पहिले के विश्वास में खलल डाले। वास्तव में ईश्वर सबसे न्यारा एवं सबमें व्याप्त है। वह किसी का कोई नहीं है और सबका सब कोई है। दृढ़ विश्वास और सरल स्नेह के साथ उसे जो कोई जिस रीति से........ कल्याण, शांति, दान अथच परित्राण करता है। इस बात के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिसका जी चाहे वह चाहे जिस रीति से भजन करके देख ले कि ईश्वर उसे उसी रीति में आनन्द देता है कि नहीं। पर मत विषयक शास्त्रार्थ के लती स्वयं भजन नहीं करते वरंच दूसरे की भजन-प्रणाली में विक्षेप डालने का उद्योग करते हैं, बहुत वर्षों से अथवा बहुत पीढ़ियों से जो विश्वास एक जी पर जमा हुवा है उसे उखाड़ कर उसके ठौर पर अपना विचार रक्खा चाहते हैं। भला इससे बढ़ के हरिविमुखता क्या

होगी ? और ऐसे विमुखों को भी न नर्क हो तो ईश्वर के घर में अंधेर है। संसार में जितनी पुस्तकें धर्मग्रंथ कहलाती हैं सब के लिखने वाले भगवान के भक्त एवं जगत के हितैषी मनुष्य थे। अपने २ देशकाल अथच निज दशा के अनुसार सबों ने ही अच्छी ही अच्छी बातें लिखी हैं। रहा यह कि मनुष्य की बुद्धि सब बातों में और सब काल में पूर्णतया एक रूप में नहीं रहती इससे संभव है कि प्रत्येक मत के प्रवर्तक से कुछ बुराई हो गई हो या उसके लेख में कहीं भ्रम या दोष ही रह गया हो, पर हमें अधिकार नहीं है कि उनके काम या वचन पर आक्षेप करें। यदि आप यह न भी मानें कि हमारे दोषों से उनके अल्प थे तौ भी इसमें संदेह नहीं है कि आपके भी सब काम और बातों में अशुद्धि का संभव है। फिर आप किस मुख से दूसरों को बुरा कहें; जब कि भलाई बुराई सबमें है तो मतवालों को यह अधिकार किसने दिया कि दूसरे की बुराई गावैं। यह उनकी शुद्ध दुष्टता नहीं है तो क्या है! श्री रामानुज, श्री शंकराचार्य, श्री मसीह, श्री मुहम्मद, सब मान्य पुरुष थे (इस बात के साक्षी लाखों लोग हैं)। इन में से किसी के जीवनचरित्र में ऐसी बात नहीं पाई जाती जैसी आजकल के लोग मुंह से बुरी बताते हैं पर करते अवश्य हैं! इसी प्रकार वेद, पुराण, बाइबिल, कुरआन, सब धर्मग्रंथ हैं क्योंकि चोरी, जारी, विश्वास-घात आदि की आज्ञा किसी में नहीं है। फिर इनकी निन्दा करने वाला स्वयं निन्दनीय नहीं है तो क्या है ? यदि परमेश्वर संसार भर का स्वामी है और सभी की भलाई का उद्योग करता है एवं उद्योग यही है कि आचार्यों के द्वारा धर्मपुस्तकों का प्रचार करना, तौ यह कैसे हो सकता है कि एक ही भाषा की एक ही पोथी और केवल एक ही आचार्य सब देशों और सब काल के लिए ठीक हो सकें! हर देश के लोगों की प्रकृति, स्वभाव, सामर्थ्य, भाषा, चाल ढाल, खाना, पहिनना आदि एक सा कभी नहीं हो सकता। फिर ईश्वर की एक ही आज्ञा सब कहीं के सब जन कैसे पालन कर सकते हैं ? आज भारतवर्ष का कौन राजा अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ कर सकता है ? अरब (या अपने ही यहां बंगाल) के रहने वाले मांस के बिना कै दिन सुख से रह सकते हैं ? चालिस २ दिन का व्रत राजा, निर्बल और कोमल प्रकृति वालों से कब निभ सकता है ? फिर यदि ईश्वर एक ही लाठी से सब को हांके तो उसकी जगदीशता का क्या हाल हो ? कभी किसी वैद्य को हमने नहीं देखा कि सब को एक ही औषधि सब प्रकार के रोगियों को दे देता हो! जब जिसके लिए जो बात ईश्वर योग्य समझता है तब तिसको तौन ही बतला देता है। उससे बढ़ के बुद्धिमान कोई नहीं है। वह अपनी

प्रजा का हिताहित आप जानता है। वेद[1], बाइबिल, कुरान बना के मर नहीं गया, न पागल हो गया है कि अब पुस्तक रचना न कर सके। यदि एक ही मत से सब का उद्धार समझता तो अन्य मतावलंबियों के ग्रंथ, मनुष्य और सारे चिन्ह नाश ही कर देने में उसे किसका डर है? इन सब बातों को देख सुन और सोच के भी मतवादीगण सब को अपनी राह चलाने के लिए हाव २ करते हैं, फिर हम क्यों न कहें कि वे परमात्मा से अधिक बुद्धिमान बन के उसकी चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाते हैं। भला इससे बढ़ के हरिनिन्दा और नर्क का सामान क्या होगा? जैसे हमारी प्रतिमा न पूजने वालों को कभी एक फूल उठा देती हैं न निंदकों को एक थप्पड़ मार देती है, वैसे ही आपके निराकार भी न किसी उपासक को प्यार की बात कहते हैं न गाली देने वाले का सिर दुखाते हैं। फिर हम आपकी अथवा आप हमारी पूजा पद्धति पर आक्षेप करें तो सिवाय परस्पर विरोध उपजाने के और क्या करते हैं? यदि वेद, बाइबिल, कुरानादि की एक प्रति अग्नि तथा जल में डाल दी जाय तो जलने अथवा गलने से कोई बच न जायगी। फिर एक मतवाला किस शेखी पर अपने को अच्छा और दूसरे को बुरा समझता है? आपको जिस बात में विश्वास हो उसको मानिए, हम आप की आत्मा के इजारदार नहीं हैं जो यह कहें कि यों नहीं यों कर! यदि आप दृढ़ विश्वासी हैं तो हम अपनी बातों से डिगा नहीं सकते पर डिगाने की नीयत कर चुके, फिर कहिए विश्वास डिगाने की मानसाही कौन धर्म है? जो आपका विश्वास कच्चा है तो हमारी बातों से आप फिसल जायंगे पर यह कदापि संभव नहीं है कि पूर्ण रूप से अपनी मुद्दत से मानी हुई रीति को छोड़ के एक साथ हमारी भांति हो जाइए। इस दशा में हम और भी घोर पाप करते हैं कि अपनी राह पर तो भली भांति ला नहीं सकते पर आप जिस राह में आनंद से चले जाते थे उस से फिर गए। भला धर्ममार्ग से फेर देने वाला या फेरने की इच्छा रखने वाला नर्क के बिना कहां जायगा?

खं ५ सं० १०, ११ (१५ मई, जून ह० सं० ५)

एक

इस अनेकवस्त्वात्मक विश्व का कर्त्ता, धरता, भर्ता, हर्ता परमेश्वर एक है! उसके मिलने का मार्ग प्रेम ही केवल एक है। आदिदेव श्रीगणेश जी के दांत एक है। अंकशास्त्र का मूल एक है! सत्पुरुष की बात एक है! उनका वचन यही है कि बात और बाप एक है। परमपूजनीय स्त्री के पति एक है। दिन का प्रकाशक दिवाकर एक है। रात में भी यावत तेजधारियों का राजा निशानाथ एक है। सब की उन्नति का कारण दृढ़ोद्योग एक है। सब के नाश का मूल आलस्य एक है। जहां तक विचार करते जाइए यही सिद्ध होगा कि तीन काल और तीन लोक में जो कुछ है सब एक ही तंत में बंधा है! कोई बात विचारना हो, जब तक एक चित्त होके, एकांत में बैठ के, न बिचारिएगा कभी न बिचार सकिएगा। यदि किसी एक पदार्थ को अनेक भागों में विभक्त कर डालिए तो उसका नाम रूप गुण कुछ भी न रहेगा। सौ रूपए का लैंप है, यदि उसके प्रत्येक अवयव को अलग २ कर दीजिए तो किसी अंग का नाम चिमनी है, किसी खण्ड का नाम कुप्पी है, कोई भाग बत्ती कहलाता है, कोई तेल बोला जाता है। ल्यंप कहाने के योग्य कोई अंश न रहेगा। वह सुंदरता भी जाती रहेगी। एक टुकड़ा कांच किसी चिलम सा है, एक चपटा गोला सा है। बत्ती अलग लत्ता सी पड़ी है, तेल अलग, दुखियों के से आंसू बहा २ फिरता है। मुख्य काम अर्थात अंधकार मिटाना तो सर्वथा असंभव है। यदि एक २ अवयव को भी अनेक खण्ड कर डालिए तो और भी दुर्दशा है। जिसे महफिल की शोभा समझते थे वुह राह में फेंकने योग्य भी न रहेगा (ऐसा न हो किसी को गड़ जाय)। और आगे बढ़िए तो धूल ही हाथ लगेगी। इस छोटे से उदाहरण को सामने रख के संसार भरे की वस्तुओं को देख जाइए, यही पाइएगा कि एक का अनेक होना ही नाश का हेतु है। इसके विरुद्ध छोटे से छोटा राई का दाना और बड़े से बड़ा पर्वत अपनी बोली में यही कह रहा है कि अनेक परमाणुओं का एक हो जाना ही अस्तित्व की सफलता है! एक की सामर्थ्य यह है कि एक औ एक ग्यारह होते हैं। यदि देशकालादि की सहायता न पावैं तौ भी दोनों बने बनाए हैं! उन एक और एक में एक और मिल जाय तो एक सौ ग्यारह हो

जांयगे अथवा इक्कीस तथा बारह नहीं तो हारे दरजे तीन तौ हुईं। फिर न जाने आप एक को क्यों नहीं दृढ़ता से चाहते। असंख्य तक गिन जाइए अन्त में यही निकलेगा कि सब एक की माया है। हमारे यहां पंचपरमेश्वर प्रसिद्ध है सो बहुत ठीक है। पांच मनुष्य एक मत हो के जिस बात को करें उसे मानों सर्वशक्तिमान आप कर रहा है। ऐसा कोई काम नहीं है जो बहुतों की एकता से न हो सके। चारि जने चारिहू दिशा से एकचित्त ह्वै कै मेरु को हलाय कै उखारैं तो उखरि जाय पर जिसके भाग में सुख नहीं है उसके समझ में, एकता क्या है, कभी आवैहीगा नहीं। समझ में भी आवैगा तौ बर्ताव में लाना कठिन है। नहीं तो जमात से करामात होती है। आपके पास विद्या, बल, धन, बुद्धि कुछ भी न हो पर एका हो तो सब हो सकता है। वह देश धन्य है जहां ऐक्य की प्रतिष्ठा हो। बहुत से लोग एक हो के पाप भी करें तो भी पुण्य फल पावैंगे। बहुत लोग एक हो के मर जायं तो भी अनैक्यदूषित जीवन से अच्छा है। एक का वर्णन एक मुंह से हम कहां तक करें। एक तो भगवान का नाम है—एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, और वह सर्वसामर्थी है। फिर भला उसके किए क्या नहीं होता ? उसकी श्रीमुख आज्ञा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। शास्त्रार्थ को बड़ी गुंजाइश है पर हम तो प्रत्यक्ष प्रमाण से कह सकते हैं कि आप एक हो के देख लीजिए कि सब कुछ हो सकता है या नहीं। पाठक ! क्या तुम्हें सदा 'ब्राह्मण' के मस्तक पर एक का चिन्ह देख के उसका महत्व कुछ अनुभव होता है ? तौ फिर क्यों नहीं सब झगड़े छोड़ के सत चित्त से एक की शरण होते ? क्यों नहीं एक होने और एक करने का प्रयत्न करते ?

खं० ५ सं० ११ (१५ जून ह० सं० ५)

लत

(चलती फिरती बोली में)

अहा ! इन द्वै अखरानऊ में कैसो सवाद है कै कछू बोलते चालत नाय बने ! एक बार हमारे प्यारे 'हिंदीप्रदीप' ने लिखी ही कै 'ल' (लकार) सगरी वर्णमाला को अमृत है और व्याकरण वारे कहैं हैं कै 'त' ('तकार') और 'लकार' दोऊ मुख के एकई स्थान सों कढ़ै हैं—'लृतुलसा दंत्या'। फेर यामें कहा संदेह रह्यो कै या शब्द में द्वै २ अमृतन को मेल है (काऊ समय 'त' कार केऊ गुण लिखैंगे)। जब एक अमृत को सवाद मनुष्यन को दुर्लभ है तब द्वै अमृतन की तो बात ही कहां रही ? जा काऊ कों काऊ बात की लत पड़ जाय है वाय अपनी लत के आगे लोक परलोक, हानि लाभ, निंदा बड़ाई आदि को नेकऊ बिचार नायं रहै है। लोग बड़े २ कष्ट उठावैं हैं, सारे संसार सों आप को हंसावैं हैं, पै लत को निभावै हैं। यासों सिद्ध है कै लत मैं कछू तौ मिठास है जाके लिए सब प्रकार के दुख सुख सों सहे जाय हैं। पारसी में ऐसे नाम बहुत से हैं जिनके पीछे लत की लगी है। पै सब के वर्णन को या छोटे से पत्र में ठौर कहां ? तहूं द्वै चार को नमूनों दिखाय दिंगे। दौलत (धन) कों तौ कहनोई कहा है। नारायण की घर वारी (लक्ष्मी) ही ठैरी ! सारे जगत को काम याई सों चलै है। भांति २ के पाप पुण्य याई के हेत करे जायं हैं। बड़े २ अधमन को याई के लए धरमावतार बनायबे परै है। जाय देखौ याई के कारन हाय २ कियो करै है। सौलत (दबदबा, प्रताप)—याऊ के निमित्त बड़े २ बीर अपनी जान जोखौं में डारे हैं। अदालत की कथा ही अकथ है। भाई २ की बात नायं सहै पै एक २ चपरासी की लातऊ प्यारी लगै। सारी कमाई एक बात पै स्वाहा ! सब जानै हैं कै जीत्यो सो हार्‌यौ और हार्‌यौ सो मर्‌यौ पै अदालत की बुरी लत बहुतेरन को। कछु निज को काम नायं होय है तौ औरन को तमासाई देखबे को धूप मैं धावै हैं। इत उत मां ऊ 'कहा भयो कहा गयो' करत डोलै हैं। फजीलत (विद्वत्ता) की चाट पै लोग सारे सुखन को होम करि कै पढ़वेई मैं जीवन बिताय देतु हैं। जिल्लत (बदनामी), सगरो धन और सारी प्रतिष्ठा खोयबेई सों मिलै है। कहां लौं कहिए, जा शब्द मैं लत को जोग होय वामैं बड़ी ही बड़ी बातैं दीखैं हैं। फेर 'लत' को वर्णन सहज कैसे कह्यौ जाय। संसार में बड़ी २ बातन को मूल लतई है ! बड़ो नाम, बड़ो जस, बड़ो धन, बड़ो पद, बड़ो सुख, बड़ो दुख, बड़ो अजस, सब

लत सोई प्राप्त होय है। परमेश्वर को नाना प्रकार की सृष्टि रचने की लत है। उन को कुछु प्रयोजन नायं पै एक को बनावै हैं, एक को नसावैं हैं। याई लत के मारे ज्ञानीन में जगतपिता, प्रेमीन में जगजीवन कहावै हैं। पढ़े लिखेन में पूजे जाय हैं। गवांरन की गारी खाय हैं। पानी बहुत बरसै तौ मूरख कहिंगे, 'सारे के घर मैं पानी ही पानी है गयो हैं'। जब नायं बरसे तब कहे हैं कै 'नपूतो सूख गयो है।' धन्य रे नंद के छोरा! गारिऊ खाय है पै लत नायं छोड़े है। हमारे रिसीन कों भगवान के भजन और जगत के उपकार की लत परी ही, जाके मारे सारे सुखन को छोड़ि, संसार सों मुख मोड़ि, कंद मूल खाय २ बन में जाय रहे हे। याई के फल सों ब्रह्ममय कहावें हे। आज ताऊं हम उनके नाम सुन नार (ग्रीवा) नमावें हैं और उनके उपदेशन पर चलन बारे अपनो जनम बनावें हैं। हमारी सरकार और माड़वारीन को कमायबेई की लत है। कोई कछु कहे पे वे एक न एक रीति सो अपनोई घर भरिंगे। जिनको खुशामद की लत है वे हजूर की हां में हां मिलायोई करिंगे, देश सारी चाहे आज धूर में मिल जाय, प्रजा चाहे याई घरी नास है जाय, राजा चाहे भलेई अजस पावे, संसार चाहे कछू कहे कहावै पै लत तौ मरवेई पै छूटे तौ छूटे। हमारे हिंदू भाईन कों आलस की ह्यां ताऊं लत है के लाख समभावो पे सोयबो छोड़ेई नायं। चौबेन भांग की है, गुसांइन को मरकबे की लत है। धनीन को टेंटई [वेश्या] की लत है, बाबून को अंगरेज बनबे की लत है। कहां लौं कहैं, एक २ लत सब को परी है, पे हाय, देशसुधार की लत सांची २ काऊ को नायं दीखे। तन, मन, धन, धर्म, कर्म, लजा, प्रतिष्ठा सब सों अधिक भारत को माने जमाना, मैया जा दिना देशहित के लती उपजावेगी, वाई दिना सब संकट कटेंगो। हे दऊदयाल! हमारे भाई कहा मुख ही सों देशहित के गीत गायो करिंगे। इन्हें ऐसी बुद्धि कब देउगे के सगरो धन खोय के, जात बाहर होय के, देश विदेश जाय के, सबन की गारी लौं खाय के, देसी बिदेसी राजा प्रजा सब के कड़ुवे बनेंगे पे प्रान लौं देके भारत के हेत सब कुछ करिंगे। हम कौ लिखबे की लत है, खायवे को चाहे भलेई न मिलौ, साल में घटी कितनिई परौ, कोई रीझौ तौ वाह २, खीझौ तौ वाह २, पे कलम रांड़ चले बिना मानेई नायं! कोई सुनौ के न सुनो पे हमें तौ बलवे की लत है, यासों कहेई जायंगे के जाय भले कामन की लत परेगी, राधारानी वाई को भलो करेंगी। सब सों भली देश-भक्ति है, जाय याकी लत नायं वाके जीवन पर नालत (लअनत) है।

खं० ५, सं० ११ (१५ जून ह० सं० ५)

उपाधि

यद्यपि जगत में और भी अनेक प्रकार की आधि व्याधि है पर उपाधि सब से भारी छूत है। सब आधि व्याधि यत्न करने तथा ईश्वरेच्छा से टल भी जाती हैं पर यह ऐसी आपदा है कि मरने ही पर छूटती है। सो भी क्या छूटती है, नाम के साथ अवश्य लगी रहती है। हां, यह कहिए सताती नहीं है। यदि मरने के पीछे भी आत्मा को कुछ करना धरना तथा आना जाना या भोगना भुगतना पड़ता होगा तो हम जानते हैं उस दशा में भी यह रांड पीछा ना छोड़ती होगी। दूसरी आपदा छुट जाने पर तन और मन प्रसन्न हो जाते हैं, पर यह ऐसा गुणभरा हंसिया है कि न उगलते बने न निगलते बने। उपाधि लग जाने पर उसका छुड़ाना कठिन है। यदि छूट जाय तो जीवन को दुखमय कर दे। संसार भर में थुड़ २ हो और बनी रहे तो उस का नाम भी उपाधि है। हमारे कनौजिया भाइयों में आज विद्या, बल, धन इत्यादि कोई बात बाकी नहीं रही, केवल उपाधि ही मात्र शेष रही है। ककहरा भी नहीं जानते पर द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, त्रिपाठी आदि उपाधि बनी है। पर इन्हीं के अनुरोध से बहुतेरे उन्नति के कामों से वंचित हो रहे हैं। न विलायत जा सके न एक दूसरे के साथ खा सके, न छोटा मोटा काम करके घर का दरिद्र मिटा सके। परमेश्वर न करे, यदि इस दीन दशा में कोई कन्या हो गई तो और भी कोढ़ में खाज हुई। घर में धन न ठहरा, बिना धन बेटी का ब्याह होना कठिन है। उतर के ब्याह दें तो नाक कटती है। न ब्याहैं तो इज्जत, धर्म, पुरुषों के नाम में बट्टा लगने का डर है। यह सब आफतें केवल उपाधि के कारण हैं। शास्त्रों में उपाध्याय पढ़ाने वाले को कहते हैं। यह पद बहुत बड़ा है पर उपाधि और उपाध्याय दोनों शब्द बहुत मिलते हैं, इससे हमारी जाति में उपाध्याय एक नीच पदवी (धाकर) मान ली गई है। इस नाम के मेल की बदौलत एक जाति को नीच बनना पड़ा। पर नीच बने भी छुटकारा नहीं है। वे धाकर हैं, उन्हें बेटी ब्याहने में और भी रूपया चाहिए। बरंच बेटा ब्याहने के लिए भी कुछ देना ही पड़ता है। यह दुहरा घाटा केवल उपाधि के नाम का फल है। हमारे बंगाली भाई भी कानकुबज ही कुल के हैं पर उन्होंने मुखोपाध्याय चटोपाध्याय इत्यादि नामों में देखा कि

उपाधि लगी है, कौन जाने किसी दिन कोई उपाधि खड़ी कर दे इस से बुद्धिमानी कर के नाम ही बदल डालें; मुकरजी चटरजी आदि बन गए। यह बात कुछ कनौजियों ही पर नहीं है, जिसके नाम में उपाधि लगी होगी उसी को सदा उपाधि लगी रहेगी। आज आप पंडित जी, बाबू जी, लाला जी, शेख जी आदि कहलाते हैं, बड़े आनंद में हैं। चार जजमानों को आशीर्वाद दे आया कीजिए या छोटा मोटा धंधा या दस पांच की नौकरी कर लिया कीजिए, परमात्मा खाने पहिनने को दे रहेगा। खाइए पहनिए, पांव पसार कर सोइए, न ऊधव के लेने न माधव के देने। पर यदि प्राज्ञ, विद्यासागर, बी० ए०, एम० ए०, आदि की उपाधि चाहनी हो तो किसी कालेज में नाम लिखाइए, परदेश जाइए, 'नींद नारि भोजन परिहरही' का नमूना बनिए, पांच सात बरस में उपाधि मिल जायगी। घर में चाहे खाने को न हो पर बाहर बाबू बन के निकलना पड़ेगा। चाहे भूखों मरिए पर धंधा कोई न कर सकिएगा। नौकरी भी जब आप के लायक मिलेगी तभी करना नहीं तो बात गए कुछ हाथ नहीं है। एक प्रकार की उपाधि सर्कार से मिलती है। यदि उसकी भूख हो तो हाकिमों की खुशामद तथा गौरांगदेव की उपासना में कुछ दिन तक तन, मन, धन से लगे रहिए। कभी आप के नाम में भी सी० एस० आई० अथवा ए० बी० सी० से किसी अक्षर का पुछल्ला लग जायगा अथवा राजा, रायबहादुर, खां बहादुर अथवा महामहोपाध्याय की उपाधि लग जायगी। पर यह न समझिए कि राजा कहलाने के साथ कहीं की गद्दी भी मिल जायगी अथवा सचमुच के राजा भी आप को कुछ गनै गूंथैंगे। हां, मन में समझे रहिए कि हम भी कुछ हैं, पर उपाधि की रक्षा के लिये कपड़ा लत्ता, चेहरा मुहरा, सवारी शिकारी, हजूर की खातिरदारी आदि में घर के धान पयार में मिलाने पड़ेंगे। अपने धर्म, कर्म, देश, जाति आदि से फिरंट रहना पड़ेगा, क्योंकि अब तो आप के पीछे उपाधि लग गई है! इसी से कहते हैं, उपाधि का नाम बुरा। उपाधि पाना अच्छा है सही पर ऐसा ही अच्छा है जैसा बैकुण्ठ जाना, पर गधे पर चढ़ के!

खं० ५, सं० १२ (१५ जुलाई ह० सं० ५)

त

यह अक्षर भी कैसा मधुर और रसीला है कि 'लकार' का भाई ही समझना चाहिए। हमारे इस कहने पर कोई संदेह हो तो किसी व्याकरणी से पूछ देखिए, वुह पाणिनि जी के 'लृतुलसानां दन्ताः' के प्रमाण से बतला देंगे कि 'तकार' की भी उत्पत्ति वहीं है जहां से 'लकार' निकली है। बरंच विचार के देखिए तो जान जाइएगा कि 'लकार' का रूप 'तकार' से पृथक नहीं है। 'तकार' ही को दुहरा कर देने से 'लकार' बन जाती है। अतः यह कहना भी झूठ नहीं है कि दोनों एक ही हैं। न मानिए तो स्वयं सोच लीजिए, जितने शब्दों में 'तकार' का योग होगा वे अवश्य प्यारे लगेंगे। छोटे २ बच्चों के कोमल मुख की तोतली बातें कैसी भली लगती हैं। प्रेमपात्र के मुंह से 'तू' कहना कैसो सुहावना जान पड़ता है। मनुष्य का तो कहना ही क्या है, कुत्ते से भी 'तू तू' कहो तो स्नेह के मारे पूंछ हिलाने लगता है। गाने में ताना दिरना, तथा नाचने में 'ता तत थेइया' इत्यादि पद इसीलिए रक्खे गए हैं कि यह दोनों बातें मनोहारिणी होती हैं। कवियों के नव रसों में शृंगार और वीर रस प्रधान हैं। उनके उद्दीपनार्थ तंत्री (वीणा) और धनुष के लिए तांत की आवश्यकता होती है। पाकशास्त्र के तो छहों रसों में तवा और तई (कढ़ाई) ही सबसे मुख्य प्रयोजनीय वस्तु है। सब प्रकार के संबंधियों में पिता सबसे श्रेष्ठ प्रेम और प्रतिष्ठा का पात्र है। उसमें तो 'ता' हई है पर ताऊ उससे भी अधिक माननीय है, क्योंकि उसके आदि में 'ता' है। हमें अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय है, उसी के मारे उसके नाम में भी इस अक्षर को मिला के 'तन' शब्द व्यवहार में लाते हैं। इस की रक्षा के लिये कपड़े पहनने पड़ते हैं। वे भी सूत से बनते हैं और ताना तान के बनाए जाते हैं। यावत देहधारियों को अपने घर से बड़ी प्रीति होती है। कहीं हो आवैं अन्त को घर आ जाते हैं। उस घर का नाम भी 'आयतन' है। जीवन की तीन अवस्थाओं में भी तरुणता ही बड़ी मजेदार होती है। उसमें भी तरुणी ही बड़ी सुखदा जान पड़ती है। उसकी भी शोभा की अधिकाई तैल तथा ताम्बूल ही से होती है। यदि ऐसे शब्द गिना चलें तो लाखों तक गिनती पहुंचे। तितलियों के रूप रंग, तोते

तथा तूतियों की मधुर ध्वनि, तरुवरों के नाना जाति ज्ञात स्वादु, सौरभ संयुक्त फलफूल इत्यादि अनेक बातें ऐसी ही हैं कि 'जहां जाइ मन वहीं लुभाई'। पृथ्वी पर की वस्तुओं को छोड़ आकाश की ओर दृष्टि कीजिए तो वहां भी तपन (सूर्य), तमीपति (चंद्रमा) और तारागण हैं । दिन रात देदीप्यमान रहते हैं। सारांश यह कि उस त्रिभुवनपति ने जगत का चित्त आकर्षित करने के हित जितने उत्तम पदार्थ बनाए हैं, सब में 'तकार' का योग पाया जाता है। यदि कोई हमारे विरुद्ध तूतिया, तिताई, तातापन, तमाचा, इत्यादि शब्द सोच के 'तकार' की मधुरता में कटुता दिखाया चाहे तो उसके लिए दन्तत्रोटक उत्तर यह है कि तूतिया भी डाक्टरों की हाथ से महौषधि का काम देती है, तिताई भी वुह स्वादु देती है कि छहों रस उसके आगे दब जाते हैं, तातापन भी वह है जो मोटे अन्न को स्वादिष्ट करता है, तमाचा के डर के मारे धृष्टों की धृष्टता जाती रहती है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि तकार भी वर्णमाला का अमृत नहीं है। जब त्रिपथ-गामिनी भगवती भागीरथी, तुलसी, त्रैलोक्यनाथप्रिया आदि के नाम का स्मरण, शोभा का दर्शन, महिमा का विचार एवं तपोधन महर्षियों के उपदेशों के अनुकूल आचार ग्रहण करने से त्रिताप के नाश हो जाने का पूर्ण निश्चय हो जाता है तब तक तो 'तकार' का संबंध बना ही रहता है और समयों की क्या कथा है। क्यों न हो, जब जगतत्राता, विश्वविधाता तक का नाम परमतत्व है—'योगिन परम तत्वमय भासा', वेदों तक में उसके लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'तत्वमसि' 'ततसत' इत्यादि, जिसका नाम रूप गुण स्वभाव सभी गूंगे के गुड़ का सा स्वादु रखते हैं तब हम कहां तक इस अक्षर के स्वादु को लिख सकेंगे। अतः अपने रसिकों को केवल इतनी सम्मति देते हैं कि जैसे बने तैसे अपने देश, जाति, भाषा, आदि के हित में नित्य दत्तचित्त रहा करें तथा दिन रात एतद्विषयक सभा कमेटियों में उत्साह के साथ कृत्य करने को तत्पर रहें। नेशनल कांग्रेस ऐसी समाजों की ताज है और सत्य के प्रताप से प्रतिवर्ष उसकी वृद्धि होती रहती है। इसका अधिवेशन अब की साल बंबई में होगा। अतएव सब देशहित के तत्ववेत्ताओं को चाहिए कि अभी से उसकी चिंता में लगे रहैं जिसमें समय पर हर ओर से डेलीगेटों का तांता बंध जाय। हे तात, नरतन का कर्तव्य यही है।

खं० ५, सं० १२ (१५ जुलाई, ह० सं० ५)

राम

आहा ! यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक संबंध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी को नहीं है। जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं। यह दोनों अर्थ राम नाम में पाए जाते हैं। हमारे भारत में सदा सर्बदा राम जी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण कहीं ढूंढ़ने नहीं जाना है। आकाश में रामधनुष (इन्द्र धनुष), धरती पर रामगढ़, रामपूर, रामनगर, रामगंज, रामरज, रामगंगा, रामगिरि (दक्षिण में); खाद्य-पदार्थों में रामदाना, रामकोला, (सीताफल), रामतरोई, चिड़ियों में रामपाखी (बंगाली में मुरगी), छोटे जीवों में रामबरी (मेंढ़की); व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुंगौड़े) तथा जहांगीर ने मदिरा का नाम रामरंगी रक्खा था कि, 'राम रंगिए मा नश्शए दिगर दारद'; कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुनके कौन न मान लेगा कि जल, स्थल, भूमि, आकाश, पेड़ पत्ता, कपड़ा लत्ता, खान पान, सब में राम ही रम रहे हैं। मनुष्यों में भी रामलाल, रामचरण, रामदयाल, रामदत्त, रामसेवक, रामनाथ, रामनारायण, रामदास, रामप्रसाद, रामदीन, रामगुलाब, रामबक्श, रामनवाज; स्त्रियों में भी रामदेई, रामकिशोरी, रामपियारी, रामकुमारी इत्यादि कहां तक कहिए, जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं, जिधर सुनिए रामही नाम सुन पड़ता है। व्यवहारों में देखिए, लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत, जनेऊ, ब्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम २', दुःख में 'हाय राम', आश्चर्य अथवा दया में 'अरे राम', महाप्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा, स्त्री का विशेषण रामा (रामयति), मदिरा का नाम रम (पीते ही पीते नस २ में रम जाने वाली)। यहीं नहीं, मरने पर भी 'राम २ सत्य है'। उसके पीछे भी गया जी में राम शिला पर श्राद्ध। इस सर्वव्यापकता का कारण यही है कि हमारे पूर्वज अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे। कोई बात, कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी, सर्वस्थान में रमण करने वाले को भूल जायं। अथच राजभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानन्दवर्द्धन जानकीजीवन अखिलार्यनरेंद्रनिसेवित पाद-

पद्म महाराजाधिराज माया मानुष भगवान रामचन्द्र जी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे। इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे कि हमारे दशरथराजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, अवश्य प्रेम राज्य में पैठने लायक नहीं हैं। पर यहां पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्य वंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं। यहां तक कि सहृदय समाज को 'रामपाद-नखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किंचित् संकोच नहीं होता। इसका कारण यही है कि राम के रूप, गुण, स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम, भक्ति, सहृदयता, अनुराग का महासागर उमड़ न उठता हो। आज हमारे यहां की सब सुख सामग्री नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्षों से हम दिन २ दीन होते चले आते हैं, पर तौ भी राम से हमारा संबंध बना है। उनके पूर्वपुरुषों की राजधानी अयोध्या की दशा देख के हमें रोना आता है। जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय आज वुह फैजाबाद के जिले में एक गांव मात्र रह गया है। जहां एक से एक धीर, धार्मिक महाराज राज्य करते थे वहां आज बैरागी तथा थोड़े से दीनदशादलित हिंदू रह गए हैं। जो लोग प्रतिमा पूजन के द्वेषी हैं, परमेश्वर न करे, यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा। थोड़े से मन्दिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे पहाड़ हैं। पर हां, रामचन्द्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है। हमारे इतिहास को हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी। पर भगवान रामचन्द्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र (जो बचे बचाए मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) से सर्वोपरि, श्रेष्ठ, महा-रसपूर्ण, परम सुहावन है। जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथच यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं। हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें अपना लेंगे। बानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावेंगे! यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण में सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं (इसका वर्णन फिर कभी)। हमारे कविवर बाल्मीक ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात नहीं छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रक्खी है कि थोड़ी

सी संस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है। यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिंदी जानने वाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानन्द पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्वप्रकार हितसाधन कर सकते हैं। केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा। रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचारशक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकता, सरसता का कारण क्या है, तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्यशक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना। पर यह भी बात अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है, फिर इस सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता, वुह संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्त चित्त होते हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उस पर बड़े २ कवीश्वरों ने श्रद्धा की है और अपनी पूरी कविताशक्ति उस पर निछावर करके हमारे लिए ऐसे २ अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं, इस हीन दशा में भी काव्यानन्द के द्वारा परमानन्द का स्वाद पा सकते हैं, और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं। खेद है यदि हम भारत सन्तान कहा कर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर न करें और जिनके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुए हैं उन का उपकार न मानें, तथा ऐसे राम को, जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा, गौरव एवं मनोविनोद की नींव थी अथच हमारे लिए इस गिरी दशा में भी सच्चे अहंकार का कारण औ आगे के लिए सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायं अथवा किसी के बहकाने से राम नाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तौ कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक, यदि सब भांति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा, सब ठौर, सब दशा में, राम का ध्यान रक्खो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो। बस इसी में तुम्हारे लिए सब कुछ है। इस रकार और मकार का वर्णन तो कोई त्रिकाल में करी नहीं सकता, कोटि जन्म गावें तौ भी पार न पावैंगे। इससे यह लेख अधिक न बढ़ा के फिर कभी इस विषय पर लिखने की प्रतिज्ञा एवं निम्नलिखित आशीर्वाद के साथ लेखनी को थोड़े काल के लिए विश्राम देते हैं। बोलो, राजा रामचन्द्र की जै!

कल्याणानान्निधानं, कलिमलमथनं पावनंपावनानाम्
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजन्धर्म्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतांभूतये राम नामः ॥ १ ॥

भावार्थ

कुलि कल्याननिधान सकल कलि कलुख नसावन। सज्जन जीवन प्रान महा पावन जन पावन ॥ अखिल परम प्रद पथिकन हित मारग कर संबल। कुशल कवीशन की बर बानी को बिहार थल ॥ सदधर्म्म बिटप कर बीज यह, राम नाम सांचहु अमृत। तव भवन भरे सुख सम्पदा सुमति सुयश नित २ अमित।१।

ख० ६ सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ५)

ईश्वर का बचन

जब कि ईश्वर संसार भरे का स्वामी है तो यह कैसे संभव है कि उसका बचन केवल एक देश के लोगों की भाषा में हो। जब कि ईश्वर अनंत विद्यामय है तो यह कहां हो सकता है कि ईश्वर की बनाई केवल एक ही दो पुस्तकें हों। हम वेद, बाइबिल और कुरआन का तिरस्कार नहीं करते, वह मनुष्य मात्र के मानने योग्य पुस्तकें हैं, पर यह कहना कि केवल यही ईश्वर का बचन है, हमारी समझ में नहीं आता। जब कि वेद में लिखा है 'अनन्ता वै वेदा:' तो क्या इन्हीं ऋग्यजुः सामथर्व पुस्तकों को अनन्त मान लें, जिन के मंत्र क्या अक्षर भी गिने जा सकते हैं ? ईश्वर के बचन में इतनी झूठ ? यदि कहिए कि उसका आशय अनन्त है तौ भी "अनन्ताशया वै वेदा:" होना चाहिए। ईश्वर के बचन में भ्रांति ? बिशेषत: ऐसे बचन में जो सब के उपदेशार्थ प्रकाश किया गया हो ? बाइबिल तथा कुरआन के दोष दिखाना हमें अभीष्ट नहीं है पर इतनी शंका हमारे जी से नहीं जाती कि ईश्वरप्रणीत ग्रन्थों में इतना गड़बड़ क्यों हुआ कि मनुष्य उनमें दोष लगा सकें ? इसके सिवा इन पोथियों में जितनी बिधि और निशेध बर्णित है, मानव मंडली अधिकत: उनके विरुद्ध ही आचरण करती है, यह क्यों ? एक छोटे से संसारी राजपुरुष की मौखिक आज्ञा को तो कोई भंग ही नहीं कर सकता, ईश्वर की लिखी हुई आज्ञा क्या उससे भी गई बीती है कि मानौ तौ वाह २, न मानौ तौ वाह वाह ! फिर हम क्योंकर मान लें कि यही पांच छः किताबें, जिनका अर्थ कोई कुछ बतलाता है, कोई कुछ, यही थोड़े से कागज जो अंजुली भर पानी में गल के हलुवा और एक दियासलाई में जल के राख हो सकते हैं, ईश्वर का बचन है। हां, हम अपने लड़के को गोद में लिए बैठे हों और कोई प्रिय मित्र पूछे 'क्या यह आपका चिरंजीव है?', तो हम उत्तर देते हैं 'जी हां, आपही का है'। यह कहना सभ्यता की रीति से झूठ नहीं है। ऐसे ही अपने मान्य पुरुषों (जिन्हें हम ईश्वर का अभिन्न मित्र, इकलौता बेटा अथवा प्यारा स्नेही समझते हैं और वास्तव में उनके बहुत से काम इन पदवियों के योग्य थे) उनके बनाए ग्रन्थ को ईश्वर का बनाया कहें तो कोई दोष नहीं है। जैसे हम कहा करते हैं कि 'इस विपत्ति में परमेश्वर ही ने बचाया अथवा यह योग्यता परमात्मा ही ने दी,

नहीं तो हम में क्या सामर्थ्य थी', ऐसे ही यदि ईसा, मूसा, मुहम्मदादि ने कहा हो कि 'अमुक ग्रन्थ ईश्वर ही ने बनाया नहीं तो हमारा क्या साध्य था' तो कोई अपराध नहीं है बरंच उनके महा निराभिमान की पराकाष्ठा है। पर बास्तव में ऐसी पोथियों को ईश्वरकृत मानना, जिनमें कहीं लिखा है, ईश्वर ने छः दिन में जगत बनाया, कहीं कहा है, मरने के पीछे कयामत के दिन तक सब जीवों के पाप पुन्य का मुकदिमा ईश्वर की अदालत में भी दौरा सुपुर्द ही रहेगा, कहीं वर्णन किया है, एक स्त्री ग्यारह पति करले तौ भी पाप नहीं है, अंधेर है। यदि बुद्धि कोई बस्तु है तो दूषित पुस्तकों को अथवा ऐसी पुस्तकों को, जिनके अर्थ में भ्रांति संभव है या झगड़े के लिए स्थान है, ईश्वरलिखित कभी न मानेंगे। हां, जिस पोथी में कहानियां अथवा गीत कबित्त आदि होते हैं वह गीत कवित्त आदि की पुस्तक कहाती है वैसे ही जिस पुस्तक में ईश्वर का बर्णन हो उसे ईश्वर की पुस्तक अथवा ईश्वर सम्बन्धी बचन कह लेना दोषास्पद नहीं है। पर बास्तव में बुद्धिसंगत ईश्वर का बचन क्या है, इसका समझना सहज नहीं है। यों तो संसार ईश्वर का है अतः तदंतःपाती बचन मात्र ईश्वर ही के बचन हैं। कुत्ते की भौं भौं अथवा गधे की सींपों से लेके हमारी तुम्हारी गपशप और बड़े २ पोथाधारियों की बक्त्रिता सब ईश्वर ही के बचन हैं, पर ईश्वर अनादि, अनन्त और अकथनीय स्वभावविशिष्ट है अतः ईश्वर के बचन या उसकी आज्ञा तथा उसकी बनाई पोथी कैसी है, क्या है, कै हैं, यह हम लोग नहीं बतला सकते। हां, थोड़ी सी उसकी बातें बहुत से बिद्वानों द्वारा बिदित हुई हैं, वह सुन रखिये। जिन बातों की इच्छा होने के साथ ही हमारे अंतःकरण को यह बिश्वास हो जाता है कि इसमें ईश्वर अवश्य सहायक होंगे, संसार भर का अथवा हमारे देश जाति कुटुंब का अवश्य हित होगा, चाहे कोटि बिघ्न पड़ें, चाहे अर्बुद कष्ट एवं हानि हों पर सिद्धि में शंका नहीं है, अथवा सिद्धि चाहे जब हो पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका अनुष्ठान आनन्दपूर्ण है—जैसे गौरवरक्षा, धर्मश्रद्धा, सुरीति-संचार, विद्याप्रचार, सच्चे भ्रातृभाव का उद्गार, यह सब ईश्वर ही के बचन हैं। जब हम ईश्वर के साथ सच्चा प्रेम अथच ईश्वर की सृष्टि के साथ अकृत्रिम स्नेह करते हैं तब हमारा हृदयबिहारी सदा हमें ऐसी बातें बतलाया करता है जिनसे प्राणहानि होने पर भी अकथ्य आनन्द लाभ होने का दृढ़ निश्चय रहता है। पर यह बातें केवल ईश्वर के अभिन्न मित्र ही सुन समझ सकते हैं। साधारण लोगों को परमात्मा केवल कमाने खाने, गृहस्थी चलाने आदि की युक्तियां बतलाया करता है जिससे उनकी जीवनयात्रा में कोई

बड़ा बिघ्न न पड़े। महात्मा कबीर कहते हैं 'हरि जैसे को तैसा है'। संसार में जितने जीवधारी हैं उनको ईश्वर उन्हीं के अनुकूल उपदेश करता रहता है। चोर के जी में ईश्वर चोरी करने की बातें बतलाता है, धन के स्वामी को अपना माल ताकने की युक्ति समझाता है। जो साह जो ईश्वर का बचन न मान के धन से गाफिल रहेंगे तो चोर साहब सारी पूंजी उड़ा ले जायंगे और जो चोर राम परमेश्वर की बातों पर ध्यान न दे के जागने वाले के घर जायंगे तो अपने किए का फल पावेंगे। ऐसे २ अनेक उदाहरणों से आप समझ सकते हैं कि ईश्वर का बचन वही है जो हर एक के हृदय में उसकी भावना के अनुसार हर समय गूंजा करता है। यही ईश्वर की आज्ञा, वुह स्वाभाविक वृत्ति है। जब भोजन करने की आज्ञा होती है तब किसको सामर्थ्य है कि न खाय ? न खाय तो आज्ञा भंग करता है और उसी समय दंड पाता है। अर्थात् भूख के मारे तिलमिला जाता है। नींद, भूख, प्यास, दुःख, सुख इत्यादि उसकी जीवंत आज्ञा हैं, जिनका पालन करना ही सबके लिए श्रेयस्कर है, नहीं तो जीवन दुःखमय हो जाता है। अपने निज मित्रों को परमेश्वर देशोद्धार और प्रेम प्रचारादि की आज्ञा दिया करते हैं जिनके माने बिना उन सत्पुरुषों का भी क्षण भर निर्बाह नहीं है। ऐसी २ उसकी अनंत आज्ञा हैं जिन का वर्णन तो कोई कर नहीं सकता, इशारा मात्र हमने कर दिया है। जितना अधिक सोचिएगा उतना ही आप को ज्ञात होता जायगा। यों ही उसकी बनाई पुस्तकें भी अगणित हैं पर हमें केवल दो पोथियां उसने दी हैं। एक का नाम है दृश्यमान जगत अर्थात् भूगोल खगोल और दूसरी का नाम है आंतरिक सृष्टि अर्थात् मन, बुद्धि, आत्मा, स्वभाव आदि का संग्रह। इन्हीं दोनों पुस्तकों को लाखों बरस से, लाखों लोग बिचारते आए हैं पर किसी ने इतिश्री नहीं की। अस्तु जितना हो सके उतना आप भी बिचारते रहिए, इसी में कल्याण है। हां, हमारे इतने लिखने पर यदि कुछ रुचि उपजी हो तो कृपा करके यह बतलाइए कि आपको ईश्वर बहुधा कैसी बातें बतलाया करते हैं ? आपको किस प्रकार की आज्ञा दिया करते हैं ? आपने उनकी दोनों पुस्तकों को कितना समझा है ?

खं० ६, सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ५)

दान

यदि इस शब्द को सुन के हमारे पाठकों का चित्त पानदान, पीकदान इत्यादि की ओर न चला जाय तो हम दिखलाया चाहते हैं कि हमारे महर्षियों ने इन दो अक्षरों में भी दोनों लोक की भलाई भर रक्खी है। यदि किसी को यह शंका हो कि 'द' (दकार) तो वर्णमाला भर में सब से बुरा अक्षर है (यह बात ब्राह्मण के चौथे खंड की दूसरी संख्या में देखो) फिर वुह शब्द जिसकी आदि में दकार ही है, क्योंकर अच्छा हो सकता है? तो इसका सहज उत्तर यह है कि अंत में जो नकार है वुह प्रायः सब भाषाओं में निषेध वाचक है। संस्कृत में न अथवा नहि, हिंदी में नहीं, फारसी में ने, अंगरेजी में नो या नाट, सबका अर्थ एक ही है। इससे इस बात की सूचना होती है कि 'दान' में दकार की दुरूहता नहीं है। 'दान' शब्द में दकार केवल इसलिए रक्खी गई है कि अपने पास से किसी को कुछ देना पहिले तनिक अखरता है, नहीं तो वास्तव में दान कोई बुरी बात नहीं है। यह बात इस शब्द के अक्षरार्थ ही से प्रकाशित है, अर्थात् द (दुःख, दुस्सहपन, दुरूहता आदि) और न अर्थात् नहीं, भाव यह हुआ कि दान में कोई दोष नहीं है। मोटी बुद्धि वाले न समझें अथवा कपटपूर्ण विदेशी उसका अर्थ कुछ का कुछ समझावैं तो और बात है, नहीं तो दान है बहुत अच्छी बात। यह सब मत सब देश, सब काल के लोग मानते हैं कि धर्म को ईश्वर के साथ बड़ा भारी, बड़ा गहिरा, बड़ा घनिष्ठ संबंध है। क्योंकि ईश्वर की दया प्राप्त करने के लिए सब महात्माओं ने धर्म करना बतलाया है। जिसे ईश्वर की भक्ति अथवा ईश्वरकृत जगत की प्रीति होती है वह सदा धर्म ही का आचरण किया करता है। उसी धर्म अथवा यों कहिए ईश्वर के परम मित्र के (हमारी पुराणों में लिखा है कि) चार चरण हैं—१—सत्य, २—शौच, पवित्रता, ३—दया, ४—दान। उनमें से एक २ युग में एक २ चरण टूट जाया करता है। सतयुग में सत्य, शौच, दया, दान सब विद्यमान थे पर तौ भी सत्य का पूरा सन्मान था। श्री महाराज हरिश्चंद्र के चरित्र विदित हैं कि उन्होंने राजपाट, स्त्री, पुत्र सब त्याग दिया पर सत्य को न छोड़ा। त्रेता में धर्म के तीन ही चरण रह गए अर्थात् सत्य का प्राबल्य जाता रहा। महाराजा दशरथ ऐसे धर्मात्मा का मन श्री रामचन्द्र

की बनयात्रा के समय डावांडोल हो गया। यद्यपि कैकेयी जी से बचन हार चुके थे पर यह कभी न चाहते थे कि भगवान बन को चले जायं। जब ऐसों की यह दशा हुई तो दूसरों को सत्य का आग्रह क्या हो सकता था? हां, शौच का उस काल में अधिक आदर था। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदिक जो उस समय भारत के मुकुट के महा अमूल्य रत्न थे, उनके चरित्र में हमारे द्वेषी भी, चाहे कोटि दोष लगावें पर, अपवित्रता की गन्धि नहीं बतला सकते। द्वापर में केवल दो ही चरण रह गए। अर्थात् सत्य और शौच का बल इतना घट गया कि युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी ने 'नरो वा कुंजरः' कहा। पराशर ऐसे धर्मज्ञ का योजनगन्धा पर चित्त चल आया। पर हां, दया की उस काल में इतनी श्रद्धा थी कि भगवान बुध ने हिंसा प्रचार करने वाले वेद मंत्रों तक को तिरस्कार करके 'अहिंसा परमो धर्मः' का डंका बजाया। अब कलियुग में न सत्य का बल है, न शौच का निर्बाह है, न दया में जीव है। पर दान का अब भी अभाव नहीं है। धर्म का यह चरण इतना दृढ़ है कि कलियुग के तोड़े भी न टूट सका। इसको धर्म का चरण क्या यदि धर्म का रूप ही कहैं तौ भी बिरुद्ध न होगा। आप चाहे जैसे खोटे कर्म करते रहिए कुछ चिंता नहीं, परन्तु अवसर पर चार पैसे किसी ब्राह्मण के हाथ धरिए उसी समय धर्ममूर्ति, धर्मावतार की पदवी पा जाइएगा। जब ग्रहण पड़ते हैं तब भड्डुरी और डोम भी यही कहते हुए फिरा करते हैं कि 'धरम करो'। इसका तात्पर्य यही है कि कुछ देव। अब बिचारने की बात है कि सर्वोच्च ब्राह्मण से लेके अस्पर्श्य डोम तक जिसको धर्म कहते हैं वुह धर्म क्यों न होगा? हमारे यहां यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है कि 'दया धर्म को मूल है, नर्कमूल अभिमान। तुलसी दया न छोड़िए, जब लग घट में प्रान।' इसमें भी दया से यही अभिप्राय है कि दीन दुःखियों को कुछ देना। सब प्रकार की पवित्रता (शुद्धता) भी दान ही से होती है। घर साफ न हो, दो आने मजदूर को दीजिए, झक कर देगा। कपड़े मैले हो जायं, धोबी को चार पैसे दीजिए, स्वच्छ कर देगा। शरीर मैला हो, नाई अथवा कहार को दो पैसे दीजिए, नहला धुला के शुद्ध कर देगा। मन शुद्ध न हो, कोई धेली रुपये की 'बैराग्य शतक' या 'तदपि सर्वस्व' आदि पुस्तक मंगवा के पढ़िए या किसी महात्मा पंडित को कुछ भेंट दे के उपदेश सुनिए, सब दुबिधा जाती रहेगी। तबियत रंजीदा हो, किसी चन्द्रबदनी को दो एक रुपया दे के घंटे आध घंटे उसके हाव भाव गान तान का स्वादु लीजिए, सब दुःख जाता रहेगा। सत्य की परीक्षा भी रुपए ही

पैसे के मुआमिले में होती है। ठीक समय पर लेन देन बेबाक रखिए। देने लेने में चार पैसे की समाई रखिए। सब कोई आप को सच्चा समझेगा। सारांश यह है कि सत्य, शौच और दया सब दान ही के अंतर्गत हैं। फिर दान को धर्म का स्वरूप कहना क्या अत्युक्ति है? अब यह वर्णन करना रह गया कि यदि दान ही धर्म है तो दान से और ईश्वर से क्या संबंध है? हां, दान ईश्वर को इतना प्रिय है कि ईश्वर दिन रात दान किया करता है। कौन आस्तिक है जो देह, प्राण, अन्न, वस्त्र, ज्ञान, बुद्धि, पुत्र, मित्र, भक्ति, मुक्ति आदि को ईश्वर ही का प्रसाद न मानता हो? ईश्वर के सिवा जन्मदाता, अन्नदाता, सहायदाता दूसरा है कौन? ईश्वर ही तो महादानी है। उसी का दिया हुआ तो सब पाते हैं एवं उसी की दी हुई वस्तु हम तुम दान करते हैं। वुह महादाता दाताओं को प्यार भी करता है, कि जो कोई अपना मन परमेश्वर को दे देता है, परमेश्वर उसे प्रेमसुधा का दान करते हैं। जब जगदीश्वर स्वयं दानी हैं और दानियों के हितकारक हैं तो संसारी जीवों का तो कहना ही क्या है? ऐसा कौन है जो दान पा के आनंदित न होता हो अथच दान दे के यश और सुख न पाता हो? पर दान के योग्य पदार्थ और दान के पात्र का विचार न रख के दाता को ठीक फल नहीं होता, क्योंकि प्रेम के बिना जितनी बातें हैं सब में बिना बिचारे हाथ डालना कष्टकारक होता है। इससे यदि दान का पूरा आनन्द चाहो तो सोच समझ के दान किया करो। हमारे पूर्वजों ने जो देश काल वर्णन किए हैं वुह सब ठीक हैं, पर इस काल में न इतने श्रद्धालु दानी हैं न इतनी विद्या है, इससे हम देश का अर्थ केवल भारत और इंग्लिस्थान समझते हैं, जिन से सदा काम रहता है, और काल के लिए कोई नियम नहीं समझते हैं। सदा सब काल देते रहना ठीक है। रहा दान का फल, सो अगले लोगों ने अधिकतः स्वर्गप्राप्ति के लिए दान करना बतलाया है। पर हमारी समझ में स्वर्ग का अर्थ सुख है अर्थात् जिसमें अपने मन, कुटुंब, जाति, और देश को सुख मिले वैसा ही दान करना ठीक है। मरने पर जो कुछ होता है तो उन्हीं लोगों को स्वर्ग, मुक्ति, कैलाश, बैकुंठ सब मिलेंगे जो देश के लिए दान करते हैं। इससे अधिक लिखना व्यर्थ है। केवल दान्य वस्तु और दान पात्र सुनिए।*

खं० ६, सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ५)

*देखिए आगे 'देयवस्तु' और 'दान-पात्र' शीर्षक रचनाएँ।

देय वस्तु

संसार में जितने पदार्थ देखे सुने और समझे जाते हैं सब परमात्मा ने मनुष्य को दान किए हैं, और मनुष्य की सामर्थ्य है कि जितनी वस्तु अपने अधिकार में रखता है दूसरों को दान कर दे। सच्ची उदारता भी यही है कि अपना तन, मन, धन दूसरों को देता रहे। यदि विचार के देखिए तो वास्तव में जगत का एवं तदंतःपाती समस्त सामग्री का स्वामी सच्चिदानंद है। सब को सब कुछ दिया भी उसी ने है। अतः मनुष्य को देने में आगा पीछा करना व्यर्थ है। भाई, जो तुम्हारी निज की वस्तु हो वुह न दो, पर यह तो बताओ कि तुम्हारा है क्या ? शरीर पंचतत्व का है, रुपया पैसा खनिज पदार्थ का है, वस्तु रुई ऊर्णादि के हैं, मूल में सब कुछ परमेश्वर का है। फिर देने में हिचिर-मिचिर क्या—"पूंजी पूरे साह की जस कोऊ करि लेय"। लड़का पैदा होता है तो कटिसूत्र तक नहीं पहिने होता। पास कौड़ी भी नहीं होती। मनुष्य मरता है तब भी वैसे ही पृथिवी, जल अथवा अग्नि के मुंह में चला जाता है। हाड़े की कौड़ी साथ ले जाता है न तांबे का पैसा। हां जब तक यहां रहता है तब तक थोड़े बहुत पदार्थों का भोग कर लेता है। इससे यह तो प्रत्यक्ष है कि 'आदि संग आई नहीं, अंत संग नहिं जाय। बीच मिली बीचै गई, तुलसी भखै बलाय'। हम चाहे कोटि उपाय करें पर ऐसा कभी किसी ने न सुना होगा कि जितना, जो कुछ, हम चाहते हैं उतना प्राप्त हो जाता हो। कौन नहीं चाहता कि जगत भर की संपत्ति, सुख, सुजस, मुझे मिल जाय ? कौन नहीं चाहता कि मेरे बराबर किसी बात में कहीं कोई न देख पड़े ? यदि सभी लोग संसार भरे के स्वामी हो जाते तो सेवा करने वाले (जिन से स्वामित्व की शोभा है) कहां से आते ? इससे यह प्रत्यक्ष है कि कहीं कोई एक महासामर्थ्यवान शक्ति अथवा व्यक्ति है। ईश्वर, भाग्य, इत्तिफाक, चाहे जो मान लीजिए, उसी की इच्छा वा उसी के द्वारा हमें, जितना हमारे मिलने के योग्य है, मिलता है। फिर क्या, जब हम स्वयं दूसरे का दिया पाते हैं तो देने में हिचिर-मिचिर क्यों ? जब कि दूसरे की वस्तु दूसरे को देना है तो सोच ही विचार क्या ? आखिर एक दिन हमारे हाथ से जाती रहेगी। फिर क्यों न अभी से उसका मोह छोड़ के सेंत मेंत में कीर्तिलाभ करलें। क्यों न सारे संसार एवं जगतकर्तार के मुख से—'भीख में से भीख दे, तीनों

लोक जीत ले', कहलाने का उद्योग करें ? स्मरण रखिए, जो कुछ आपके पास है वुह यदि अपने काम में ले आइए तो कोई बुराई नहीं है, पर भलाई भी क्या है ? हां, यदि अपने और यथासाध्य पराए कार्य में भी लगाते रहिए तो बुद्धिमानी है। पर यदि अपनी हानि करके भी पराया हित कर सकिए तौ तो सच्ची कीर्ति के पात्र हो जाइएगा। लक्ष्मी जी (धन, बल, विद्यादि) संसार में तीन रूप से बिचरती हैं। किसी के यहां कन्या के रूप में जाती हैं, उसे निंदास्पद बनाती हैं। जो न अपने लिए उठाता है न औरों को देता है वुह सूम कहलाता है। अंत में दूसरे लोग उसका धन भोगते हैं, पर कुछ प्रशंसा नहीं करते। हमें आशा है 'ब्राह्मण' के रसिक अपनी लक्ष्मी से ऐसा बर्ताव न करते हैं न करेंगे। लक्ष्मी जी बहुतों के पास पत्नी स्वरूप से जाती हैं। अर्थात् जिसकी कहलाती हैं उसी के काम आती हैं, दूसरों से कुछ प्रयोजन नहीं। यद्यपि यह रीति बुरी नहीं है पर कोई उत्तमता भी नहीं है। हां, जिन के पास वेश्या बन के जाती हैं अर्थात् अपने पराए सब के सुख साधन में आती हैं वहाँ उदार, यशी, जगत हितैषी कहलाता है। अतः बुद्धिमान को चाहिए कि परस्वारथ के लिए प्राण तक दान कर दे। पर सबसे पहिले चाहिए कि इस बात पर दृष्टिदान करें कि दान वस्तु और दान का पात्र दोनों दान के योग्य हैं कि नहीं। यह बिचार रक्खे बिना दान निष्फल है, बरंच बहुधा दुष्फल-जनक हो जाना भी संभव है। हमने पुराने ढंग के लोगो से सुना है कि बाजे २ लोग तीर्थों के पंडों को स्त्री दान करते थे। उसे हम दान नहीं कहेंगे। वुह बिना सोचे विचारे धन और धर्म का सत्यानाश करना था। यदि किसी वेद अथवा शास्त्र में प्रत्यक्ष वा हेर फेर के साथ ऐसी आज्ञा भी हो तो माननी चाहिए। स्त्री का नाम अर्द्धांगी इसलिए रक्खा गया है कि सांसारिक अथच परमार्थिक कामों में साथ दे सकती है। पर वुह कोई वस्तु अथवा पशु नहीं है कि जिसे चाहें उसे दे डालें। हां, जिसे हम हाथ पांव धन अन्नादि से सहाय दान करते हैं हमारी अर्द्धांग स्वामिनी भी करे, पर यह क्या है कि दानपात्र का कोई विशेष हित अथवा उसकी योग्यता देखे बिना 'ओम् विष्णुर्विष्णुः' कर दिया जाय। दान का मुख्य प्रयोजन यह है कि जिसे जिस बात की आवश्यकता हो और उस आवश्यकता के पूर्ण करने की सामर्थ्य न हो उसे यथोचित अथवा यथासामर्थ्य सहायता देना। इस दशा में भी यदि यह शंका हो कि लेने वाला ले के उचित रीति से काम में न लावेगा तो दान करना पाप है। बस, इस नियम पर दृष्टि रख के सदा सकल पदार्थ दान करते रहिए, पूर्ण फल के भागी हो जाइएगा।

बिना जी दुखाए फेर लेने की इच्छा से उचित ब्याज पर गरीब भले-मानस को ऋण देना भी दान है। कोमलता के साथ काम कराने की इच्छा से किसी को नौकर अथवा मजदूरी पर रख लेना भी दान है। अपने पास खाने का सुभीता न हो तो साधारण लोगों से कुछ ले के (जितना देते उन्हें अखर न हो) उनके बालकों को विद्या पढ़ाना एवं कोई गुण सिखाना भी दान है। किसी निर्बल व्यक्ति को एक अथवा अनेक अत्याचारियों के हाथ से कल बल छल कुछ ही करके बचा लेना दान है। किसी की कोई बुरी लत छुड़वाना दान है, क्योंकि ऐसे २ कामों से दूसरों को उचित सहायता मिलती है। कहां तक कहिए, समझ बूझ के साथ जाति, धर्म, प्रतिष्ठा, धन, मान, प्रान, सर्वस्व तक दान करना उत्तम है। कोई गाय, भैंस, बालक, वृद्ध, अंधा, पंगु मोहरी में पड़ा हो और बिना हमारे निकाले न निकल सकता हो तो कपड़ों समेत नाली में घुस के उसे उबार लेना, देश में विद्या गुण कला कौशल फैलाने के लिए जहाज पर चढ़ के, सब छुवाछूत गंवा के, विलायत जा के, जातिहित साधन करना इत्यादि तो हई क्या लोक परलोक सब त्याग के पराया भला करना दान है। स्वामी रामानुज जी ने गोष्ठी पूर्णाचार्य जी से ब्रह्मविद्या सीखी थी। उस समय आचार्य से प्रतिज्ञा करा ली थी कि किसी को न बतावेंगे पर ज्यों ही सीख चुके त्यों हीं समस्त शिष्यमंडली को बतलाना आरंभ कर दिया। यह समाचार पा के पूर्णा-चार्य क्रुद्ध होके कहने लगे कि "तुमने गुरु के वाक्य उल्लंघन किए हैं अतः नर्क जाओगे"। इस पर परमोदार शेषावतार श्रीयतिराज ने कहा 'पतिष्ये एक एवाह नरके गुरु पातकात्। सर्वे गच्छन्तु भवतां कृपया परमंपदः'। सच है, दान इसी का नाम है कि परोपकारार्थ नर्क से भी न डरना। जब हमारे माननीय महात्मा यहां तक उदाहरण दिखला चुके हैं तो दूसरी वस्तु कौन सी है जो पात्र के देने योग्य न हो। हमारे पूर्वजों ने बड़ी भारी बुद्धिमानी से जाड़े में तिल, कम्बल, इन्धनादि का दान, ग्रीष्म ऋतु में जल, छत्र, उपान-हादि का दान बतलाया है। इनमें बहुधा योग्यायोग्य का बिचार नहीं भी अपेक्षित है। उस ऋतु में वे बस्तुएं जिसे दीजिएगा वही सुख पावेगा। पर उसमें बिना बिचारे बहुत से दानपात्रों का बिमुख रह जाना एवं जिन्हें आवश्यकता नहीं है उनका उड़ा ले जाना संभव है। विशेषतः कन्या और गऊ तो कुपात्र को देना ही न चाहिए। इसी से हमारे प्रेमशास्त्र की आज्ञा है कि सब से बड़ा मन का दान है। प्रत्येक दान में मन लगा के देख लिया कीजिए कि देय वस्तु और दान पात्र दोनों ठीक हैं कि नहीं। बस

सारे दान सुफल हो जायंगे। यदि कुछ देने की सामर्थ्य न भी हो तो भी सेंत मेंत में मानसिक पुन्य मिलता है। पर देखिए, दान दे के अपने लिए फल की आशा करना वणिग्वृत्ति है। धर्म चाहो तो केवल पराया भला करने में दत्तचित्त रहो। इसी में सब कुछ है। जब मन दे दीजिएगा तो कोई वस्तु देते हुए न अखरेगी। मन दे के यदि और कुछ न भी दे सकिए तो भी दानपात्र परम संतुष्ट रहेगा। अतः सब दशाओं में दानपात्रों की दशा पर दृष्टि देते रहो। इससे इतना महान् पुन्य होगा कि 'नर को बस करिबो कहा, नारायण बश होय'। बस दृष्टि और मन दे दीजिए फिर दान का सर्वस्व आपके आधीन हो जायगा। दूसरी वस्तु यदि आप न दें सकें तो आप के कहने से दूसरे लोग देना सीख जायंगे। उस दशा में आप को विश्वास हो जायगा कि मन का दान करने वाला दाता ही नहीं बरंच दाताओं का गुरू है। और उसी दशा में हम आप से कहेंगे कि अमुक को कुछ दान कीजिए और कुछ न हो सके तो बचन मात्र से उपदेश ही का दान करते रहिए। इसमें भी एक न एक दिन बड़ा उत्तम फल प्राप्त होगा। इस समय अधिक न हो सके तो हमारे इस बचन पर केवल कान दीजिए (यदि ध्यान दीजिए तो अत्युत्तम) कि दान अति उत्तम कृत्य है, उसमें भी मन दान सब दानों का मूल है। उसके कारण सारा संसार दान में देने के योग्य दिखलाई देगा। यहां तक कि दाता लोग परम पद का दान कर सकते हैं, पात्र होना चाहिए। एक प्रेमी का बचन है कि एक महात्मा ने हमें परमतत्व परमात्मा दान में दे दिया। यह बात यदि अभी न समझ में आवे तो कुछ दिन कुतर्क छोड़ के प्रेमशास्त्र पढ़िए, तब निश्चय हो जायगा कि परमेश्वर तक दान में दिया जा सकता है दूसरी बात की तो बात ही क्या है। पर इतना स्मरण रखिए कि वुह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' है, इससे दाता, दानपात्र एवं दान का विषय सब हो जाता है, पर पात्र मिलने पर। पर यह विषय गूढ़ है इससे इस विषय में तो हम इतनी अनुमति मात्र दे सकते हैं कि एकाग्रचित्त होके प्रेमदेव से प्रार्थना करो तो कदाचित वुह प्रेम-सिद्धांतियों के दान का ज्ञान दें। हां, यदि हमारे लेख से दान की सामग्री समझ में आ गई हो तो दान के पात्र भी ध्यान में धर रखिये।

खं० ६, सं० २ (१५ सितंबर ह० सं० ५)

स्वार्थ

इस गुण को हमारे पुराने ऋषियों ने बुरा कहा है, पर हमारी समझ में इस विषय में उनका कहना अप्रमाण है, क्योंकि जो जिस बात को जानता ही नहीं उसके बचनों का क्या प्रमाण ? बन में रहे, कन्द मूल खाए, भोजपत्र पहिने, पोथियां उलटते व राम २ स्याम २ करते जन्म बिताया। न कभी कोई धंधा किया, न किसी की नौकरी की, न किसी विदेशी से काम पड़ा, फिर उन्हें स्वार्थ का मजा क्या मालूम था ? यदि कहिए कि नवीन ऋषियों में महाराज भर्तृहरि ने भी तो 'तेमीमानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्तिये' लिखा है, तो हम कहेंगे उन्होंने केवल पुराने लोगों की हां में हां मिलाई है, या जान बूझ के धोखा दिया है, नहीं तो स्वार्थ कोई बुरी बस्तु नहीं है। सदा से सब उसी का सेवन करते आए हैं। हिंदुओं का राज्य था तब ब्राह्मण चाहे जो करें अदंड्य थे, क्योंकि राजमंत्री तथा कवि यही होते थे, इससे अपने को सब प्रकार स्वतंत्र बना रक्खा था। यह स्वार्थ न था तो क्या था ? मुसलमानी अमलदारी में भी राजा करै सो न्याव था। बादशाह का जुल्म भी ऐन इंसाफ समझा, उसमें भी स्वार्थ ही का डंका बजता था। आजकल अंगरेजी राज्य में तो ऐसा कोई काम ही नहीं है जो स्वार्थ से खाली हो, नहीं तो दो चार बातें बतलाइए जो केवल प्रजा ही के हितार्थ की गई हों। कोई काम बतलाइए जिसमें हिंदोस्तान की महान हानि के लिए इंग्लिश जाति का छोटा सा लाभ भी उठा रक्खा गया। चाहे जितना सोचिए अंत में यही कहिएगा, कोई नहीं। फिर हम क्या बुरा कहते हैं कि 'स्वार्थ में बुराई कोई नहीं, सभी सदा से करते आए हैं।' यदि महिदेवों (ब्राह्मणों) और दीन दुनियां के मालकों (बादशाहों) हमारे गौरांग प्रभुओं को मनुष्य समझिए तो रामायण में देवताओं का चरित्र पढ़िये। रामचंद्र लक्ष्मण सीता को चौदह बर्ष बन २ फिराया, भरत जी को अयोध्या में रख के उपवास कराया, दशरथ जी के प्राण हो लिए। क्यों ? स्वार्थ के अनुरोध से। गोस्वामी जी ने खोल के कही दिया है 'आए देव सदा स्वारथी।' जब देवताओं की यह दशा है तब मनुष्य स्वार्थपरता से कैसे पृथक रह सकता है। सच पूछो तो जो लोग स्वार्थ की निंदा करते हैं वे स्वार्थ ही साधन के लिए दूसरों को

भकुश्रा बनाते हैं। दूसरों को दया, धर्म, सत्य, न्याय, निःस्वार्थ इत्यादि के भ्रमजाल में न फंसावें तो अवसर पर अपनी टही कैसे जमावैं। इससे हमें निश्चय हो गया है कि चतुर बुद्धिमान नीतिज्ञ पुरुषों के लिए स्वार्थ कभी किसी दशा में अत्याज्य नहीं है। जो लोग दूसरों को परस्वारथ सिखाते हैं वे तो खैर अपना काम चलाने के लिए लोगों फुसलाते हैं पर जो उनकी बातों में फंस कर परस्वार्थी बनने का उद्योग करते हैं वे नेचर के नियम को तोड़ते हैं अथच अपने सुख, सम्पत्ति, सौभाग्य से मुंह मोड़ते हैं। नहीं तो बड़े बड़ों में निःस्वार्थी है कौन ? क्या देवता लोग राक्षसों का भला चाहते हैं ? क्या महात्मा लोग नास्तिकों की खैर मनाते हैं ? क्या स्वयं परमेश्वर अप्रेमिकों से प्रसन्न रहें ? फिर परस्वारथ कहां की बलाय है ? सब स्वार्थतत्पर हैं। हा, अपने २ कुटुंब, अपनी जाति, अपने देश की जूठन काठन थोड़ी सी इतरों को भी देना चाहिए, जिसमें यश हो। परस्वार्थ ऐसी मजेदार चीज को बुरा समझ के उससे दूर रहना निरी मूर्खता है। जो लोग बड़े त्यागी बैरागी, भक्त विभक्त होते हैं वे तो स्वार्थ का छोड़ते ही नहीं। वे दुनिया के सुखों को छोड़ के महासुख स्वरूप सच्चिदानंद को चाहते हैं अतः बड़े भारी स्वार्थ-साधक हैं। फिर गृहस्थी कर के, दुनियां में रह के, निःस्वार्थ या परस्वार्थ पर मरना कहां की बैलच्छि है। स्वार्थ न हो तो संसार की स्थिति ही न हो। बड़े २ परिश्रम करके जिन उत्तम बातों को लोग संचित करें वुह दूसरे को सौंप दें, दूसरा तीसरे को सौंप दे, इसी तरह होते २ थोड़े दिन में किसी के पास कुछ रही न जाय। इसी से कहते हैं "स्वार्थ समुद्धरेत्प्राज्ञः"। हा बहुत ही न्यून स्वार्थ बुरा है, "आप जियंते जग जिये कुरमा मरे न हानि" का आचरण निंदित है। इससे अधिक से अधिक स्वार्थ बढ़ाते रहना चाहिए। अपने ही लिए स्वार्थी न हो के अपने संबंधी मात्र का स्वार्थ करना चाहिए। अपने देश के स्वार्थ के लिए दुनिया भर को कैसी ही हानि हो, कैसा ही कर्तव्याकर्तव्य कर उठाना चाहिए। क्योंकि इसके बिना निर्वाह नहीं है। परस्वार्थी मरने पर चाहे बैकुंठ जाते हों पर दुनियां में सदा दुखी रहते हैं और हमारे महा मंत्र के मानने वाले दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति किया करते हैं। भारत और इंगलैंड इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर भी न जाने कब हमारे देशी भाई स्वार्थ की महिमा जानेंगे। हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं, जो कोई स्वार्थ साधन के लिए निंदा स्तुति, पाप पुन्यादि का विचार न करेगा वुह थोड़े ही दिन में सब प्रकार संपन्न हो जायगा और अंत में किसी को उसकी निंदा करने का साहस न होगा। महात्मा कह गए हैं 'समरथ को नहिं दोष

गुसांई'। स्वार्थसाधन में दक्ष होने से बेईमान मनुष्य चतुर कहलाता है, हत्यारा बीर कहलाता है, परनिंदक स्पष्टवक्ता कहलाता है। जिस पर परमात्मा की दया होती है वही स्वार्थसाधन तत्पर होता। इससे हे भाइयो, ब्राह्मण के वाक्य को वेद की रिचा समझ के दिन रात, सोते जागते, स्वार्थ २ रटा करो। इसी में भला होगा, नहीं सदा यों ही अवनति होती रहेगी जैसी महाभारत के समय से होती आई है।

खं० ६ सं० २ (१५ सितंबर ह० सं० ५)

भलमंसी

यदि भलमंसी यही है कि नाना भांति के क्लेश और हानि सहना पर पुरानी लकीर के बाहर एक अंगुल भी बाहर न होना, बिरादरी में दो दिन की वाह २ के लिए ऋण काढ़ के सैकड़ों की आतिशबाजी छिन भर में फूंक के संतान के माथे कर्ज मढ़ जाना, केवल नाई और पुरोहित की प्रसन्नता के लिए साठ बरस और आठ बरस के बर कन्या की जोड़ी मिलाना तथा दोनों का जन्म नशाना, पांच बरस की विधवा का यौवनकाल में व्यभिचार एवं भ्रूणहत्या टुकुर २ देखते रहना, बरंच छिपाने का यत्न करना, पर विधवा विवाह का नाम लेने वालों से मुंह बिचकाना, भूखों मर जाना पर अपना पराया धन लगा के छोटा मोटा धंधा तथा दश पांच की नौकरी न करना, लड़कियों का जवान बिटला रखना, उनका मनोवेदनाजनित शाप सहना पर बराबर वाले अथवा कुछ अठारह बीस बिशुध वंशज के साथ विवाह न करना, दहेज की दुष्ट प्रथा के मारे नई पौध की उन्नति मट्टी में मिलाना, बंध बांधव होटलों में खाया करें, विधर्मिनी स्त्रियों के मुंह में मुंह मिलाया करें अथवा कोटि १ कुकर्म कर २ जेल में जाया करें, कुछ चिंता नहीं, पर विद्या पढ़ने और गुण सीखने के लिए विलायत हो आवैं तो उन्हें जाति में न मिलाना। क्यों ? रीति नहीं है। ऐसा करने से नाम धरा जायगा। पुरखों की नाक कटैगी। भलमंसी में बट्टा लगेगा। न जाने कोई रीत पहिले पहिल किसी के चलाए बिना आप से आप चल गई थी, या आप का अभी तक नाम ही न धरा गया, अथवा ऊपर कहे हुए कामों के अंत में नाम धरा ही न जायगा, वा पुरखों की नाक ऐसी मोम की नाक अथच ककड़ी खीरा की बतिया है, या भलमंसी कोई ऐसा बड़ा परमेश्वर से भी चार हांथ ऊंचा देवता है जिसके डर से पाप को पुन्य, हानि को लाभ, दुःख को सुख कह रहे हो। एक कल्पित शब्द के पीछे बुद्धि की आंखों में पट्टी बांधना, अपने हाथों पांव में कुल्हाड़ी मारना, देख सुन के, सोच समझ के, जान बूझ के, अनर्थ करना और दुःख पर दुःख सहते रहना ही यदि भलमंसी है तो ऐसी भलमंसी को दूर ही से नमस्कार है। पास आवे तो जूती है, पैजार है, उस पर और उसके गुलामों पर धिक्कार है। हमें तथा हमारे मित्रों को परमेश्वर भलमंसी से दूर रक्खे। मनुष्य को चाहिए अपना भला बुरा बिचार के, देश

काल की दशा देख के, अपना तथा अपने कुटुंब, जाति, देश का जैसे बने वैसे हितसाधन करे। लोक परलोक की लज्जा, चिंता, भय को लात मार के, उल्टा सीधा, छोटा मोटा, जैसा आ पड़े वैसा काम करके, अपना और अपने लोगों का धन, बल, विद्या, वैभव इत्यादि बढ़ाते रहना ही मनुष्य का परम कर्तव्य, मुख्य धर्म और सच्ची भलमंसी है। इतिहास हमें सिखलाता है कि जिन लोगों ने अपनी दशा को उन्नत किया है उन्होंने ऐसा ही किया है। कविवर राजर्षि भर्तृहरि जी भी ऐसी ही आज्ञा करते हैं—'क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयनं, क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः। क्वचित् कंथा-धारी क्वचिदपि च दिव्यांबरधरो मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्' नीतिविदांबर चाणक्य जी भी यही कहते हैं "अपमानंपुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः। स्वकार्य्यं साधयेद्धीमान् कार्य्यभ्रंशोहि मूर्खता"। बस वास्तविक भलमंसी यही है। बरंच ऐसे ही बर्ताव से भलमंसी उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त सब भलेमानस सदा दिन २ दूनी दीनता के दास होते हैं और यार लोग चपत मार के, टोपी उतार के, उनकी भलमंसी झाड़ते रहे हैं। जो आज भलेमानसों के देवता, पितर, ऋषि, मुनि, पीर पैगंबर, मान्य पूज्य कहलाते हैं वे यदि अपने समय में आज कल की भांति भलमंसी निभाते तो कभी यह गौरव न पाते। इससे हमारे पाठकों को उचित है कि भलमंसी की ममता छोड़ें, शेखचिल्ली के विचार समझ के उससे मुंह मोड़ें और येन केन प्रकारेण स्वार्थ साधन का आराधन करें। यही भलमंसी है, इसी में भलमंसी है। भलमंसी चाहो तो स्मरण रक्खो कि भलमंसी वलमंसी कुछ नहीं, अपने काम से काम रखना ही भलमंसी है।

खं० ६, सं० २ (१५ सितंबर ह० सं० ५)

धर्म और मत

धर्म वास्तव में परमानंदमय परमात्मा एवं उनके भक्तों से प्रेम तथा संसार में क्षेमस्थापन का नेम मात्र है। जितने महात्मा हो गए हैं सब का यही सिद्धांत रहा है। इसी के अंतर्गत वेद, शास्त्र, पुराण, बाइबिल अथवा कुरआन आदि किसी धर्म ग्रन्थ अथच किसी आचार्य की सत्यता पर विश्वास रखना, यथा-साध्य उन कामों से बचे रहना जिन्हें बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है, पक्षपात को दूर रख के जिससे पूछियेगा यही उत्तर पाइयेगा कि वास्तव में धर्म यही है, और हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि यदि इस सर्वसम्मत धर्म पर सब मतों के मानने वाले चलते होते तो कभी, किसी देश में, कुछ भी, विघ्न न होता। पर जिन्हें लड़ना होता है वे अच्छी बातों में भी एक न एक बुराई निकाल लेते हैं। जब जहां कोई अनर्थ होने वाला होता है तब वहां उपर्युक्त धर्म के स्थान पर मत का आदर होता है। प्रत्येक समूह को यही सूझता है कि केवल हमारे यहां की पोथी और मतप्रवर्तक एवं आन्तरिक बाह्यिक व्यवहार अच्छे हैं, सारे संसार के बुरे। अन्तःकरण चाहे अन्यों की किसी बात में कोई उत्तमता भी समझे पर कोई न कोई युक्ति ऐसी निकालना चाहिए जिसमें दूसरे के मुख से बात न निकले और जगत् भर के लोग हमारे ही चेले हो जायं। कोई आग्रह के मारे माने वा न माने पर हम दृढ़ता सहित कह सकते हैं कि मत का लक्षण एवं मत वालों का हार्दिक मनोर्थ इतना ही मात्र है, जिसका फल यह होता है कि जिन महात्माओं ने जन्म भर सबको सदुपदेश दिया है वे गाली पाते हैं। जिन ग्रंथों ने देश के देश पवित्र एवं उन्नत किये हैं वे कलुषित ठहराए जाते हैं और भाई २, पड़ोसी २ में सदा जूता उछला करता है। बश होता है तो तलवार चला करती है नहीं वाक्यबाण तो चला ही करते हैं। किसी का किसी से मन नहीं मिलता। इसी से समुदायों की सारी बातें वस्तुतः सत्यानाश होती रहती हैं। पाठक महाशय, कृपा करके यह तो बतलाइये कि इन दोनों बातों में आप ग्रहण करने योग्य किसे सम-झते हैं? जो धर्म की रुचि हो तो इस बात को गांठ बांधो कि अपने विश्वास को आखें मूंदे मानते रहो, दूसरों के सिद्धांतों से प्रयोजन न रक्खो। कोई इस विषय में झगड़ने आए तो हार मान लो, और जो मत प्यारा हो तो मरकहा बैल की नाईं बेझते फिरो औ जीवन को ऐसा व्यर्थ बना लो जैसा अनंता (बाहु भूषण) का सुवर्ण होता है। मत की बदौलत न तुड़ाने के काम का न गलाने के।

खं ३, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ५)

दान पात्र

तन, मन, धन एवं सर्वस्व दान कर देने के सच्चे और सर्वोत्तम पात्र अपने कुटुम्बी, सजाती एवं स्वदेशी हैं। जिस रीति से जब जो कुछ देना हो इन्हीं को देना चाहिये। तिसमें भी जिससे जितना अधिक निकटस्थ और गम्भीर सम्बन्ध हो उसी को अधिक देना चाहिये। जब स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बहिन, चचा, ताऊ, फूफा, मामा आदि का भलीभांति भरण पोषण होने से उबरे तब अपने गोत्र वालों, उनके पीछे जाति वालों, उनके भी पश्चात् अपने ही देश के अन्य जाति वालों को देना उचित है। इसमें भी अन्धे, लूले, लंगड़े आदि का, धर्म विद्यादि के प्रचारकों को, गुणियों को, कारीगरों को, देने से विशेष फल है, पर हों अपने ही देश के। "उदारचरितानातु वसुधैवकुटुम्बकम्' के हम विरोधी नहीं है, पर यह कभी न करना चाहिये कि 'बाहर वाले खा गये घर के गावें गीत'। नामवरी के लालच में निज के लोगों का हक अन्यों को देना दान नहीं है, बरंच ऐसी मूर्खता है जिसका फल थोड़े ही दिनों में प्रत्यक्ष हो जाता है। जिन दिनों यहां अंग्रेजी राज्य का आरंभ और ईसाई धर्म की प्रबलता थी उन दिनों गुरूघंटालों ने प्रसिद्ध कर रक्खा था कि तीथ के सन्डे मुसन्डे पंडों तथा पितृकार्य में हट्टे कट्टे महापात्रों अथच गयावालों को एवं ब्याह बरात में कहार, बाजदार, आतशबाजी, फुलवारी बनाने वालों तथाच भांड़ वेश्याओं को देना वृथा है। पर हमारी समझ में यदि अपने तथा कुटुम्ब एवं जाति वालों से बचे तो इन्हें भी अवश्य देना चाहिये। इससे अपना धन अपने ही देश में रहता है तथा देश भाइयों को अपने २ काम में उत्साह मिलता है। परन्तु विद्या और कारीगरी तथा झुठी चमकदार वस्तुओं के मोह में फंस के घर का धन विदेश में फेंक देना निरो मूर्खता जतलाना तथा दरिद्र बुलाना है। यदि उन दिनों हमारे देशी भाई कपट मित्रों के मायाजाल में न फंस जाते, केवल राजा को कर मात्र देते, अन्य बातों में अपने स्वदेशीय मनुष्यों तथा पदार्थों एवं गुण विद्या आदि की ममता न छोड़ते, तो यह दशा कभी न होती जो आजकल भोगनी पड़ती है। मुसलमानी राज्य में अपव्यय का इतना तिरस्कार न था जितना इन दिनों है। पर उस समय देश के चौथाई से अधिक निवासी भूखों न मरते थे। कारण यह था कि देश का धन घूमघाम के देश ही में बना रहता

था। पर खेद है कि लोगों के हृदय पर इस बात का दृढ़ संस्कार न था कि 'पहिले धन देहु स्वदेशिन को, उबरे तब नेक बिदेशिनको।' हां, जो लोग धन पा के अपने कर्तव्य में न लगावें उन्हें देना आलस्य अथच दुर्व्यसन की वृद्धि करना है। पर इसमें भी इतना स्मरण रखना चाहिये कि अपना अपना ही है। दूसरे देवताओं से भी अपने यहां के बुरे लोग अच्छे। इनका देना एक दिन फलेगा पर औरों को देना निरा व्यर्थ है। धन के अतिरिक्त विद्या दान के पात्र स्वदेशीय बालक मात्र हैं। उपदेश दान सर्वसाधारण के लिये है। जो किसी बात में अपने से बड़े हों वे सुश्रूषा के भाजन हैं। जो कुटुम्बी अथवा एकाकी वस्तु के बिना उचित रीति से निर्वाह न कर सक्ते हों वे उस वस्तु के दान पात्र हैं। पर गऊ और कन्या के देते समय यह विचार कर लेना उचित है कि गृहीता उसे किसी प्रकार का कष्ट अथवा अनादर तो न करेगा एवं उसमें उसके पालन पोषण आस्वासन की सामर्थ्य है कि नहीं। यदि न हो तो अपनी ओर से निर्वाह के योग्य सहायता करना चाहिये। नहीं तो केवल कुल देख के कभी दान पात्र न मान लेना चाहिये। जो एक अथवा अनेक जन देश की भलाई का प्रयत्न कर रहे हों वे सर्वस्व दान के पात्र हैं। पर उनके भेष में जो केवल अपना पेट पालने और मजा उड़ाने के लिये देशहितैषिता के गीत गाते हों उन्हें एवं अपने स्वार्थ के हेतु अपनायत का रूप रूमते हों वे चाहे अपने सगे बाप अथवा गुरू ही हों, कुपात्र हैं। ऐसों में जिनका भेद एक आध बार खुल गया हो, वे चाहे बीस बातें बनावें पर कुछ मांगें तो धक्के के सिवा कुछ न देना चाहिए। हां, यदि यह निश्चय हो जाय कि सचमुच महादरिद्र है तो एक दिन के साधारण भोजन भर को दे देना दोषास्पद नहीं है। पर उसके योग्य काम ले के तथा अपनी दया और उसकी बनावट जता के। इसी प्रकार संतमंत में अथवा धोखा खा के यथासामर्थ्य किसी को कुछ न देना चाहिये। हां, जो निरा असमर्थ हो उसे इतना मात्र देना चाहिए जितने में उसकी जीवन रक्षा हो जाय। यों देने से दान पात्र को ऐसी युक्ति बता देना उत्तम है जिसमें वह अपना निर्वाह आप कर सके। बस, इससे अधिक दान पात्रों की व्याख्या व्यर्थ है। केवल इतना और स्मरण रखिये कि जिसने अपना प्राण बचाने में सचमुच उद्योग किया हो उसके लिये यदि सारा धन काम आवे तो दे देना उचित है, एवं जिसने मान, संभ्रम (इज्जत) बचाया हो उसके लिये धन और प्राण दोनों खो देना योग्य है। तथा जिसने अपने साथ सच्चा स्नेह किया हो उस पर धन, प्रान और इज्जत सब वार देना महादान है।

इन दिनों हिन्दुओं के लिए भारत धर्म महामंडल और हिन्दोस्थानी मात्र के लिए नेशनल कांग्रेस से बढ़ के दान पात्र कोई नहीं है जिन पर सारे देश का सुख सौभाग्य निर्भर है। यों सभाएं कई एक हैं पर वे यदि एक समुदाय का भला चाहती हैं तो दूसरियों के साथ स्पर्धा करती हैं। बरंच कभी २ परस्पर द्वेष फैलाती हैं अतः उनकी सहायता केवल उन्हीं को योग्य है जो उनमें फंसे हुए हैं। पर यह दोनों उपर्युक्त समाजें वर्षों से सर्व-साधारण के लिये प्रयत्न कर रही हैं। इससे सब का परम धर्म है कि इन के ऊपर तन मन धन निछावर कर दें। जो हमारे दान विधान को मन लगा के समझेंगे एवं दूसरों को समझावेंगे तथा ब्राह्मण के बचन बर्त्ताव में लावेंगे वे वह फल पावेंगे जिसका वर्णन वृथा है। कुछ दिन में आप प्रत्यक्ष हो जायगा।

खं० ६ सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ५)

स्वप्न

यह सपना मैं कहौं बिचारी।
ह्वैहै सत्य गए दिन चारी॥

ज्यों ज्यों कांग्रेस के अधिवेशन का समय निकट आता जाता है त्यों त्यों देशभक्तों के हृदय में नाना भांति के विचार उत्पन्न होते रहते हैं। हमारे पाठकों को यह तो भली भांति विदित ही है कि 'ब्राह्मण' का संपादक बल, बुद्धि, विद्या और धन के नाते केवल रामजी का नाम ही रखता है तिस पर भी प्रेमदेव की दया से प्रत्येक विषय में पांचवां सवार समझा जाता है। विशेषतः अपने मन से तो धुआं के धौरहर बनाने में कोई नहीं चूकता, फिर यही क्यों चूके? अतः जहां बड़े २ लोगों को देशहित की बड़ी २ चिंता उपजती रहती है वहां इसके जी में भी अनेकानेक तरंगें उठा करती हैं। विशेष कर के जब से सैकड़ों सहृदयों के द्वारा यह निश्चय हो गया है कि राजा प्रजा दोनों का सच्चा हित कांग्रेस के उद्योगों की सफलता ही पर निर्भर है तब से इसी का ध्यान अधिकतर आया करता है। तिस पर भी जब यह समझा जाता है कि अब आगामी समारोह के थोड़े ही दिन रह गये हैं तब दूसरी बातों का अधिक विचार होना जाति स्वभाव के विरुद्ध है। अतः कभी यह उमंग उठती है कि अब अवश्य भारत के दिन फिरेंगे क्योंकि चारों ओर चतुर लोगों में देशोद्धार ही की चर्चा रहा करती है। कभी यह सूझती है कि 'बारह बरस पीछे घूरे के भी दिन फिरते हैं', फिर हम तो मनुष्य हैं और पृथ्वीराज (बरंच कौरवों पांडवों के युद्ध) के समय से दिन २ दुर्गति ही भोग रहे हैं। अतः यदि 'सुखस्यानन्तरन्दुःखन्दुःखस्यानन्तरं सुखम्' सत्य है तो अब परमात्मा अवश्यमेव हमारी सुध लेगा। कभी यह सनक चढ़ती है कि अभी थोड़े दिन हुए, जो लोग (आस्ट्रेलिया वाले) सभ्यता में पशु पक्षियों से अधिक न थे वे भी आज विद्यादि सद्गुणों में उन्नति कर रहे हैं, हम तो इतने गिर भी नहीं गए, हमारा उठना क्या असम्भव है? कभी यह तरंग आती है कि मरणानन्तर कल्पित सुखों की आशा पर हमारे बहुत से भाई सहस्रों की सम्पति और समस्त वर्तमान सुखों का मोह छोड़ देते हैं तो क्या हमें अपने देश के भावी सुखों की दृढ़

आशा पर अपने तन मन धन का लोभ करना चाहिये ? कदापि नहीं। कभी यह विश्वास आता है कि हमारे प्रेमशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के लोगों का कुछ एकमत हो जाना ही अभ्युदय का मूल है। और कांग्रेस में यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है कि सैकड़ों कोस से सैकड़ों भांति के लोग आते हैं और सारी भिन्नता छोड़ के परस्पर भ्रातृत्व दरसाते हैं एवं एक स्वर से देश दुर्दशा निवारण एवं राजा प्रजा में सरल स्नेह संचारण के गीत गाते हैं। इसका फल क्या कुछ न होगा ? अवश्य होगा। कभी ध्यान आता है कि महात्मा ह्यूम जो न हमारे देश के हैं न जाति के, पर हमारे भले के लिये तन मन धन अर्पन कर दिया कर रहे हैं, करेंगे, क्या इनके उपकारों को हम कभी भूल जायंगे ? क्या इनके साहस में हमारे देशबन्धु योग न देंगे ? जब कि कुत्ते भी अपने हितैषी के लिये प्राण दे देते हैं तो क्या भारत संतान उनसे भी गये बीते हैं कि केवल धन का मुंह देख के ऐसे निष्कपट शुभाकांक्षी को कुंठित कर देंगे ? नहीं ह्यूम बाबा, हम लोग कभी तुम्हारे उद्देश्य से जी न चुरावेंगे। हम भारतमाता के पुत्र हैं जो अपने उपकारियों की प्रतिमा पूजन में परम धर्म समझते हैं। सारा संसार हंसा करे, कुछ पर्वा नहीं, पर जिसे हम समझ लेंगे कि हमारा है उससे विमुख होंगे तो मुख दिखाने योग्य न रहेंगे। अतः कभी किसी दशा में तुम्हारा जी छोटा न होने देंगे। हम जानते हैं कि तुम्हारी प्यारी तथा हमारी हितसाधनहारी भारत की जातीय महासभा एवं इंगलिश एजेंसी को चालिस सहस्र रुपया वार्षिक व्यय निश्चय चाहिये। इसके बिना यह दोनों महत्कार्य नहीं चल सकते। पर परमेश्वर न करे जो कहीं इनमें कुछ भी बाधा हुई तो फिर सौ पचास वर्ष हिन्दोस्तान का संभलना कठिन है। यह भी हम मानते हैं कि हमारे पूजनीय बुढऊ (ह्यूम महोदय) ने बित बाहर धन लगा के अब तक कांग्रेस का काम चलाया है और यहां वालों से यथोचित सहारा नहीं पाया है बरंच बंबई वालों ने रुपये के लोभ से हमारे ह्यूम का जी कुढ़ाया है। पर क्या चिंता है—उद्योगिनम्पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः। बंबई की महासभा में जब इसका आन्दोलन होगा तो अवश्य कोई उत्तम राह निकल आवेगी। अपने सच्चे उपकार के लिये तीन सौ पैंसठ दिन में चालिस सहस्र रुपया एकत्र होना कठिन चाहै हो, असंभव नहीं है। यदि एक बार बीस लक्ष मुद्रा एकत्रित हो जाय तो उनके ब्याज से सारे दुःख दरिद्र टल जायंगे। हर साल की हाव २ मिट जायगी। हम बीस कोटि भारतवासी यदि धेला २ इकट्ठा करेंगे तो २०००००० रुपया हो सकता है। बहुत से लोगों ने वर्ष भर तक एक

रुपया प्रति मास देने का एवं अन्य लोगों को इसी निमित्त कटिबद्ध करने का प्रण कर लिया है। इसके अतिरिक्त अभी ग्रामों में एतद्विषयक चर्चा भली भांति नहीं फैली। यदि सौ पचास लोग अपने आसपास के ग्रामों में फिरने और उचित रीति से सर्वसाधारण को कांग्रेस की उत्तमता एवं आवश्यकता समझाने तथा उनसे सहायता लेने का उद्योग करें तो बहुत सहज में सब कुछ हो सकता है। उपाय में न चूकना चाहिए सिद्धि तो ईश्वर आप ही देगा—मनुष मंजूरी देत है कब राखैंगे राम। हमारे प्यारे ह्यूम हतोत्साह क्यों होते हैं, धैर्य और साहस से क्या नहीं हो सकता? जिस कांग्रेस के लिए हिन्द और इंगलिस्थान के एक से एक विद्वान सज्जन छटपटा रहे हैं उसमें कभी त्रुटि होगी यह कैसे हो सकता है। इसी प्रकार के विचार करते २ एक दिन आंख लग गई तो क्या देखते हैं कि दुपहर का समय है, सूर्यनारायण की प्रखर किरणें शीत के प्राबल्य को ललकार २ के साहस दिला रही हैं, पर उसे भागते हुए कुवां खाता भी नहीं सूझता। ऐसे में हम और हमारे नगरनिवासी एक नवयुवक मित्र न जाने किस काम से निवृत्त हुए घर आ रहे हैं और सड़क पर एक ग्रामीण भाई वृत्त के नीचे विश्राम ले रहे हैं। इनकी अवस्था चालीस वर्ष के लगभग है और अंबौआ की मिरजई, गुलाली से गहरी रंगी हुई मारकीन की धोती, शिर पर ढाई तीन आने गज वाली मलमल का मुरेठा, पास ही गठरी के ऊपर बिछौरी चढ़ी हुई मोटी लाल रंग की बनात और एक अधोतर के अंगोछे में बंधी हुई लुटिया डोर तथा पान की थैली देखने से स्पष्ट विदित होता था कि किसी गांव के साधारण भलेमानस हैं। कई कोस की सफर किए आ रहे हैं इससे शरीर शिथिल हो रहा है, पैरों में धूल चढ़ रही है, अभी २ जूता उतार के बैठे हैं। पर मुख पर एक प्रकार का उत्साह दिखलाई दे रहा है जिससे जान पड़ता है कि अपने विचार के आगे थकावट की कुछ चिंता नहीं करते। इस जमाने में इस वय के पुरुष में ऐसी दृढ़ता देख के हमारा कौतुकी चित्त इन महाशय से बातचीत किए बिना न माना अतः पास जा के वार्तालाप छेड़ा।

वह बातें फिर सुनावैंगे।

खं० ६, सं० ५ (१५ दिसंबर ह० सं० ५)

मूलन्नास्ति कुतः शाखा

हमारे अनेक देशभक्तगण अनेकानेक उत्तम विषयों के प्रचार के लिये हाय २ किया करते हैं। समाचार पत्रों के सम्पादक तथा सम्वाददाता और सभाओं के अधिष्ठाता एवं सभ्य सदा समाजसंशोधन, राजनैतिक उद्‌बोधन, धर्म प्रचार, विद्या, सभ्यता, उद्योग एकतादि के संचार के लिये दिन रात उपाय किया करते हैं, पर हमारी समझ में पश्चिमोत्तर देश वालों की भलाई के लिये शिर पटकना निरा व्यर्थ है। सच पूछिये तो पशु और मनुष्य में बड़ा भारी भेद केवल भाषा का है। भय प्रीति क्रोधादि हार्दिक भाव पशु पक्षी भी अपने सजातियों को भली भांति समझा लेते हैं। यदि इतनी ही विशेषता मनुष्य में भी हुई तो कौन विलक्षणता है? भर्तृहरि जी के इस वाक्य में कोई सन्देह नहीं है कि 'साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः'। फारसी के विद्वान भी मानते हैं कि हैवाने नातिक—हैवाने मुतलक से केवल भाषा ही के कारण श्रेष्ठ होते हैं। उस भाषा का एतद्देश-वासियों को कुछ भी ममत्व नहीं है। इसका बड़ा भारी प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अंग्रेजी और उरदू (जो यहां की भाषा न हैं न होंगी) के पत्रों की तो बड़ी २ पूंछ है, पर देवनागरी, जो त्रिकाल में इनकी भाषा है, और किसी बात में किसी बोली से न्यून नहीं बरंच हम तथा हमारे सहयोगी अनेक बार सिद्ध कर चुके हैं और काम पड़े तो दिखला सकते हैं कि सबसे सरल, सब से सरस, सब से शुद्ध होती है, उसका मोह तथा अभिमान करने वाले यदि हैं भी तो उंगलियों पर गिनने लायक, सो भी नितांत निस्सहाय एवं निरुत्साह। जिसने कोई समाचारपत्र चलाया होगा उसका जी ही जानता होगा। भला इस दशा में क्योंकर आशा हो सक्ती है कि इस देश के लोग कभी सुधरेंगे। कब कहां किस जाति ने अपनी भाषा का गौरव बढ़ाए बिना किसी बात में उन्नति की है? कोई बतावे तो हम दृढ़ता-पूर्वक कहते हैं और कोई हठी हमारे बिरुद्ध कुछ कहेगा तो प्रमाणित कर देंगे कि हिन्दू समुदाय, हिंदी के स्वादुग्राही, जब तक हिन्दी की ममता एवं सहानुभूति में तन मन धन से सच्चे उत्साही न होंगे, देशी बिदेशी, प्राचीन नवीन सुलेखकों के समस्त भाव हिंदी में न भरेंगे, तब तक कभी किसी के किये कुछ न होगा। अभी तो यह इतना भी नहीं जानते कि हमारी भाषा

क्या है, कैसी है। उसके सम्बन्ध में हमें क्या कर्तव्य है, उसके द्वारा हमारा क्या हित हो सकता है तथा अपने हितैषियों के साथ हमें कैसा आचरण रखना चाहिये? जब तक यह लोग इन बातों में पक्के न हो जांय तब तक अन्य बातों का उद्योग करना ऐसा है जैसे बिना जड़ के वृक्ष को सींच के फल की आशा करना। जिन महात्मा हरिश्चंद्र ने हिन्दी और हिन्दुओं के उद्धारार्थ अपना लाख का घर खाख कर दिया, बरंच मरते २ भी हिन्दोस्थान ही के अभ्युत्थान की चिन्ता करते २ लीला बिस्तार गये, उनका तो अभागे हिन्दुओं ने कुछ गुण ही न जाना, उनकी परमोत्तम पुस्तकों को तो कुछ आदर ही न किया, दूसरे लोग क्या आशा कर सक्ते हैं कि हमारे परिश्रम से यह कुछ उपकार लाभ कर सकेंगे। जो भली बात की महिमा ही नहीं जानते, भलाई करने वालों को माननीय ही नहीं मानते, उनसे वे लाभ उठा सकेंगे? हाय, कहते हुए कलेजा फटता है कि श्री बाबू हरिश्चंद्र के अमूल्य ग्रंथों को महाराजकुमार श्री रामदीन सिंह (खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के स्वामी) ने प्रकाशित करके दो वर्ष तक सहस्रों रुपये खोये, महान् परिश्रम किया पर अंत में जब देखा कि केवल बारह ग्राहक हैं तो निराश हो के बैठ रहे। क्या भारत भूमि इतनी निर्बीज हो गई कि उसके बीस कोटि संतान में से हरिश्चंद्र कला के लिये दो तीन सौ मनुष्य भी वर्ष भर में ६ रुपये न दे सकें। बाबू रामदीनसिंह को हम कुछ नहीं कह सकते, उन्होंने बित बाहर साहस दिखलाया, सर्कार को भी कुछ कहना व्यर्थ है कि उसने ८० कापियां खरीदने से क्यों मुंह मोड़ा। उसे हमारी भाषा से ममता ही क्या है। दो वर्ष सहायता दी वही क्या थोड़ा अनुग्रह था। पर जिन लोगों को हिन्दी की रसिकता का अभिमान है, जिन के बिचार में हरिश्चंद्र का सन्मान है उन्हें इससे बढ़ के लज्जा का विषय क्या होगा कि उनके जीते जी उनकी प्यारी भाषा के परमाचार्य, उनके प्रेम के परमाधार, नहीं २ परमाराध्य के जन्म भर का परिश्रम इस दशा को पहुंचे। हा धिक! या कोई कमर बांधने वाला नहीं है? फिर किस बिरते पर बड़े २ मनमोदक बनाये जाते हैं? यदि किसी को कुछ भी पक्ष हो तो सब से पहिले 'कला' के पुनः प्रकाश का उद्योग करे अथवा अन्य बातों का नाम लेना छोड़ दे नहीं तो संसार उपहासपूर्वक कहेगा कि मूलन्नास्ति कुतः शाखा!

खं० ६, सं० ५ (१५ दिसंबर ह० सं० ५)

सोश्यल कान्फरेन्स

जैसे राजनैतिक विषयों के संशोधनार्थ नेशनल कांग्रेस की आवश्यकता है वैसे ही सामाजिक सुधार के निमित्त सोश्यल कान्फरेन्स की भी आवश्यकता है। पर परमेश्वर की दया से हमारी जातीय महासभा ने तो पांच वर्ष में बहुत कुछ (आशा से अधिक) योग्यता प्राप्त कर ली और निश्चय है कि यों ही उत्तरोत्तर वृद्धि करती रहेगी। इसके द्वेषियों ने जब प्रसिद्ध किया कि यह केवल बाबू कांग्रेस अथवा हिन्दू कांग्रेस है तब इसने एक से एक प्रतिष्ठित मुसलमानों को संग लेके दिखला दिया कि यह कथन निरा निर्मूल है। जब यह उड़ाया कि सर्कारी कर्मचारियों में से कोई इसका सहानुभूति करनेवाला नहीं है तब अब की बार श्रीमान् सर डब्ल्यू वेडर बर्न महोदय ने सभापति के आसन को शोभित करके इस कुतर्क की भी जड़ काट दी। पारसाल जब इसके विपक्षी बरसात के मेढकों की भांति ऐसे बढ़े थे कि जान पड़ता था कि कुछ होने ही न पावेगा तब महासमाज ने—'जस २ सुरसा वदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा'—का उदाहरण दिखला दिया। अबकी बार रुपये के अभाव से बहुतेरे द्वेषी दांत बाते थे और हितैषी भी चिंता में थे कि चालीस सहस्र मुद्रा प्रति बर्ष व्यय के लिये न मिलेंगी तो काम चलना कठिन है। पर बम्बई में आध घन्टे के बीच तिरसठ हजार रु० इकट्ठे हो गये। इससे प्रत्यक्ष हो गया कि कांग्रेस 'सर्वेषामपिदेवानान्तेजोराशिसमुद्भवाम्' दुर्गा ही नहीं बरंच क्षण भर में सारे दुःख दरिद्र हरनेहारी लक्ष्मी भी है। इन लक्षणों से विश्वास होता है कि एक दिन इसके समस्त उद्देश्य सफल हो के राजा प्रजा दोनों का वास्तविक हितसाधन करेंगे और इसके कारण महात्मा ब्रैडला एवं ह्यूम बाबा की सत्कीर्ति भारत और इंगलैंड में सूर्य चन्द्रमा की स्थिति तक कृतज्ञता के साथ गाई जायगी। पर समाज संशोधनी महासभा, (जो गत दो वर्ष से कांग्रेस ही के मंडप के नीचे अंतिम दिन एकत्रित होती है) जो इसकी सगी बहिन है, अभी निरी भोली है। यद्यपि इसके संचालक भी वही लोग हैं जो जातीय सभा के शक्तिदाता हैं पर यतः समाज का सुधारना राजकाज के संशोधन से भिन्न विषय है और सब बातों की पूर्ण योग्यता प्रत्येक पुरुष में नहीं होती। अतः सोश्यल कान्फ-

रेन्स की कृतकार्यता के लिये वर्तमान प्रणाली हमारी समझ में ठीक नहीं है और इसी कारण इसके लिये दूसरे मार्ग का अवलम्बन अत्यावश्यक है। समाज में किसी नवीन बात का प्रचार करना उन सज्जनों को अधिक सुख-साध्य होता है जिनके चरित्र समाज की रीति नीति से विरुद्ध न हों तस्मात जो लोग विलायत हो आए हैं अथवा यहीं रह के खान पानादि में बिलायत वालों का अनुकरण करते हैं व सामाजिक धर्म छोड़ के विदेशी धर्म ग्रहण कर लिया है वे अपनी विद्या बुद्धि एवं लोकहितैषिता के लिये चाहे जैसे समझे जायं पर समाज की दृष्टि में आदर नहीं पा सक्ते अथच उनके बड़े २ विचार पढ़े लिखे लोगों के चित्त को चाहे जैसे जचैं पर समाज में प्रचलित होना निरा असम्भव चाहे न हो किन्तु महा कठिन अवश्य है। इसके अतिरिक्त यह भी बहुत ही सत्य है कि जिन बातों की ओर जिस समाज के अधिक लोगों की अरुचि है वह चाहे जिस प्रतिष्ठा के लोग चलाया चाहें सुख से नहीं चल सक्तीं। इन उपर्युक्त बातों पर पूरा ध्यान दिये बिना कान्फरेन्स कभी फलवती न होगी। यह यद्यपि कांग्रेस की बहिन है और प्रभाव भी उसी का सा रखती है पर स्वभाव इसका अन्य प्रकार का है। यह कांग्रेस की भांति हिन्दू मुसलमान क्रिस्तानादि सब धर्म के लोगों का एक होना नहीं चाहती। इसे केवल इतना ही अभीष्ट है कि हिन्दू हिन्दुओं की रीति नीति सुधारें, मुसलमान मुसलमानों की चाल ढाल ठीक करें। इनके कामों में वे हस्तक्षेप करें न उनकी बातों में ये बोलें। क्रिस्तानों के विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है क्योंकि उनके यहां इंगलैंडीय जाति का सा बर्त्ताव है जिसमें बाल्यविवाहादि कुरीतियां हई नहीं। फारसियों के सामाजिक व्यवहार का हमें पूरा ज्ञान नहीं है इससे कुछ कह नहीं सक्ते। रहे हमारे हिन्दू मुसलमान भाई, उनके विषय में हम प्रण पूर्वक कहते हैं कि अपनी ही जाति के उन लोगों के विचारांश का आदर न करेंगे जो भोजनाच्छादनादि में प्रथकता रखते हैं फिर भला दूसरों की तो क्यों मानने लगे। अब की बार कान्फरेन्स की कार्य प्रणाली से अधिकतर लोग प्रसन्न नहीं हुए। इसके बड़े कारणों में में एक तो यह था कि सत्यानन्द स्वामी और पंडिता रामाबाई ने हिन्दुओं के विषय में वक्तृता की जब कि आर्यसमाजी, जो वेद को भी मानते हैं और खाद्याखाद्य का भी विचार रखते हैं, वे ही समाज में पूर्णरूपेण आदरणीय नहीं है, मूर्ति पुराणादि के न मानने कारण दुरदुराये जाते हैं तो उपर्युक्त स्वामी जी तथा पंडिता जी की बातें किसी को क्या रुच सकती थीं। दूसरा कारण यह था कि चार रिजोल्यूशन पास हुए चारों में 'मारूं घुटना

फूटै आंख' का लेखा था। पहिला रिज़ोल्यूशन था कि १४ वर्ष की अवस्था तक दूल्हा दुलहिन का संग न होने पावे। यदि कोई इस नियम के विरुद्ध चले वह सर्कार से दंडित किया जावे। हम पूछते हैं सर्कार किस २ के घर में पहरा बिठलावैगी? यदि माता पिता इस अवस्था में ब्याह ही न करें तो ऐसा अनर्थ क्यों हो? सर्कार की दुहाई देने का क्या काम है? दूसरा प्रस्ताव यह था कि यदि कोई पुरुष समाज संशोधन का प्रण करके और इस सभा का मेम्बर हो के नियम विरुद्ध चले तो दंड पावै। खैर यह एक मामूली बात है, कोई विशेषता नहीं है। तीसरा प्रस्ताव १८५६ वाले विधवा विवाह आईन के सुधार पर था। यह निरा व्यर्थ था। अच्छे हिन्दू मुसलमान अभी विधवा विवाह के समर्थक ही नहीं हैं। जो इने गिने हैं भी वे समाज में सम्मानित नहीं हैं। और यदि बाल विवाह की प्रथा उठ जाय तो विधवा विवाह की बड़ी आवश्यकता ही न रहे। फिर यह कुसमय की रागिनी छेड़ना समय की हत्या करना न था तो क्या था? सच तो यह है कि मरे हुए पति की सम्पत्ति अन्यगामिनी विधवा को दिलाने के लिये सर्कार का आश्रय लेना देश में दुराचार के आधिक्य में सहाय देना है। इसमें समाज का क्या भला होगा? चौथा प्रस्ताव अति ही विचित्र था, अर्थात् विधवा होने पर जब तक स्त्री पंचों और मजिस्ट्रेट के सामने अपने केश कटवाने की सम्मति न दे दे तब तक उसके बाल न काटे जायं। यदि कोई उसकी इच्छा के बिना ऐसा करै तो राजनियम का अपराधी हो। वाह री नई सभ्यता! भारतीय विधवा न ठहरी बीरांगना ठहरी! इसमें उसे कष्ट क्या होता है? हानि क्या होती है? सड़ी २ बातों के लिये कानून बनवाने से देश का क्या हित होगा? जो बातें प्रजा स्वयं कर सक्ती है उनमें राजा को हाथ डालना कहां की नीति है? यदि यही सुधार है तो अगले वर्ष एक यह बिचार होगा कि ब्याह के समय लड़कों को रंगीन जामा पहिनना पड़ता है इससे वे लिल्ली घोड़ी का सा स्वांग बन जाते हैं, व स्कूल के पढ़ने तथा कोट पतलून पहिनने वाले लड़कों की रुचि के विरुद्ध है, इससे कानून बनना चाहिये कि जब तक लड़का कई लोगों के सामने मजिस्ट्रेट के आगे सम्मति न प्रकट करै तब तक माता पिता उसे झंगवा पहिना के स्वांग न बनावैं नहीं तो सजा पावेंगे। भला ऐसी बातों से समाज का कौन सा अभाव टल जायगा? हमारे राजनैतिक प्रतिनिधियों को चाहिये कि इस विषय में चुने २ पंडितों और मौलवियों को उत्तेजना दें कि वे प्रत्येक समुदाय के मुखिया लोगों को इस ओर झुकाते

रहें। कांग्रेस की भांति समय २ पर ठौर २ यतद्विषयक व्याख्यान दिये जायं। समाचारपत्रों में लेख लिखे जायं। चंदा एकत्र किये जायं। छोटी २ पुस्तकें थोड़े मूल्य पर वितरित हों। अवसर पर नगर २ समूह २ से प्रतिनिधि भेजे जाया करें। तब कुछ हो सकेगा। नोचेत् जो बात कांग्रेस ने पांच वर्ष में प्राप्त कर ली है वह कान्फरेन्स को पचास वर्ष में भी दुर्लभ रहेगी। स्मरण रहे कि समाज को जितना सम्बन्ध ब्राह्मणों तथा मौलवियों से है उतना गवर्नमेन्ट से कदापि नहीं है। गवर्नमेन्ट यदि कुछ लोगों को या धन को एकत्र किया चाहे तो बीस उलझाव पड़ैंगे, बीस वाद विवाद उठैंगे, तब कहीं जबरदस्त का ठेंगा शिर पर समझ के लोग सहमत होंगे। पर यदि हमारे पंडित महाराज आज्ञा कर दें कि अमुक दिन अमुक पर्व है, उसमें अमुक स्थल पर स्नान दानादि का महात्म होगा, फिर देख लीजिये ठीक समय पर उसी ठौर कितनी प्रसन्नता से कितने लोग तथा कितना कुछ इकट्ठा हो जाता है। यह प्रत्यक्ष महिमा देखकर भी जो लोग विप्र बंश का आश्रय न लेकर अन्यान्य रीतियों से समाज के सुधार का यत्न करते हैं वह भूलते नहीं तो करते क्या हैं? इस विषय में जितनी शीघ्रता और सुन्दरता के साथ ब्राह्मणों के द्वारा कार्यसिद्धि होगी उतनी गवर्नमेन्ट एवं तत्स्थापित कानून द्वारा कभी न हो सकेगी। यों बात २ में पराधीनता का प्रेम फसफसाता हो तो और बात है। इसके निमित्त यदि आदरणीय पंडित अयोध्यानाथ जी, मान्यवर पंडित मदनमोहन मालवीय महोदय, श्रीमान पं० दीनदयालु तथा भारतधर्म महामंडल एवं विप्रवंश महोत्सव के अन्यान्य उत्साही सद्व्यक्ति कटिबद्ध होंगे और तन मन धन से उद्योग करेंगे तभी कुछ हो सकेगा, नहीं तो कान्फरेन्स में सदा खिलवाड़ ही होता रहेगा। हम इन सज्जनों से अनुरोधपूर्वक विनय करते हैं कि शीघ्र इस ओर दत्तचित्त हों। इसमें कांग्रेस का का भी बहुत भारी उपकार सम्भावित है। हमें पूर्ण आशा और महान अभिलाषा है कि उपर्युक्त महानुभावों के प्रसाद से आगामी वर्ष में कान्फरेन्स को भी सर्वगुणसम्पन्ना देखेंगे।

खं० ६, सं० ६ (१५ जनवरी, ह० सं० ६)

तिल

(चलती फिरती बोली में)

हमार जजमान मनमां कहत हैं कि आजु काल्हि मांह का महीना आय, बाह्मन देउता तिलवन का डौलु डार रहे हैं। पै हम इन दुइ अच्छरन मां औरुइ कुछु अखावा चाहित है। याक दांय हमरे पराग वाले पुरिखें ('हिंदी-प्रदीप' संपादक) कहा ता कि लकार ककहरा भरे का अमितु आय, औ हमरे राम लिखा तेइन कि तकार तेंही कै बहिनी आय। फिरि भला जेहमां ल औ त दूनौं होयँ तेंहका ऐसे वैसे समझबु कहां कै भलमंसी आय हो? परु मथुरा कैति की बोली मां लत कै कथा लिखी गैती, आर्सी तिलन का महातमु न लिखतेन तौ कैसे बनत, यहू मां तो वोई अच्छर हैं। बाह रे तिल, जेह के बिना पितर पानी नाहीं पावति, देउतन का होमु नाहीं होत, तेहि कै बड़ाई मनई कैसे कर सकत है? ई अखई का छोट होत हैं पै गुन बड़े २ भरे हैं। भ्यनहीं के पहर उठि कै पैसा ध्याला भरि चबाय लोन करै कीतौ नेनू (मक्खन) के साथ खाय लीन करे तो कौनौं रोगु दोखु नेरे न आवै। तेलु एहिका अस दूसर होतै नाहींना। सब फुलेल एही में बनत हैं, जिन के बिन बड़े २ रसिया और बड़ी २ मुन्दरिन का चिकनपटु नाहीं होत। फुरी पूछौ तौ तेल फुलेल भे अक्याल सिंगारुइ नाहीं होत, आंखिन कै जोतिउ बाढ़ति है। माथे मा जुड़वनिया होति है और आंह भरि निरदोखिल ह्वै जाति है। हम जानित रहे पारसी पढ़ैया तेले का रोगनु औ रोसनाई झूटुइ मूठु कहत हैं पै जब हमरे हियां के बैदउ कहत हैं कि तिल खाय मां औ तेल लगावै मां बड़े २ गुन हैं तौ कैसे न कहन कि यौ बड़ा भारी पदारथु आय। तेलु बहुती बस्तुन मां निकरत है पै जो पंडित महराज ते पूछौ तौ यहै बतैहैं कि तिलाज्जायते तैलं। फिर हमरे कहै मां का झूठ है कि मुक्खि चिकनई ये ही में होति है। न मानौ कुछ दिन खाय लगाय कै देखि लेव। काया दिपौं २ होय लागै तब मान्यो। नाहीं जानित उइ कैस मनई हैं जो कहा करत हैं कि 'तिल गुर भोजन तुरुक मिताई, पहिल मीठ पाछे करुआई।' ऐसेहैं कोनौ रोगु होय तौ बात दूसरि है, नाहीं तिलवा के ऊपर पानी न पियौ तौ कचौं औगुन करिबै न करी। औ आगे

के दिनन मां जो पारी बिस्वासु बढ़ाय कै घटिहई करत रहैं उनकी बातैं जाय देव तौ अकबर ऐसेन कै तौ मिताई का पुजारा होति रहै। आजौ कालिह ऐसै कौनौ बेहना ओहना, जोलहा सोलहा चहै तुरकई करत होय पै ऊंची जाति के औ बड़े बंस के मुसलमान भलेमंसे हात हैं। याख्यौ न दुइ बर्स ते बड़केवा सभा (कांग्रेस) मों कस तन मन ते यास की भलाई मों लाग हैं। तेह ते हमरी जान मां कोहू का द्वाखबु नीक नाहीं होत। नीक औरु नागा सब जातिन मा होत हैं। हिन्दुनौं मां सैकरन ऐस परे हैं जिनका भोरहों नाउं लेब तौ दिन भरि अन्न ते भ्यांट न होय। ऐसे सब बस्तुनों का ल्याख्या है। रीति २ ते खाब तौ संखिया लगे गुन करति है तिलन का तौ कहई का है ? हमरे कहै का परोजनु यो है कि ऊपर वाली कहावति सब ठांय न लगावा चही। मुसल्मान हमार भाई आयं। उनते बिगारु करत हैं तो नीक नाहीं करत। औ तिल बड़ी भारी निधि आयं। उनहुन कै निंद्या करबु अक्किल का कामु न आयं। बरह्मा बाबा जा कुछु बनावा हैनि अनइस नाहीं बनायनि, हमहों पंच अपनी बैलच्छि ते चहै जेहका अनइस कै लेन। नाहीं तौ तिल कै महिमा एतो बड़ी है कि बरम्हैं उनका हमरी तुम्हरी आंखिन मां धरा है। भुइं औ बदरे पर जौनु कुछु देखि परत है आंखिन वाले तिलै के सहारे देखि परत है। जिनकी आंखी क्यार तिलु तनकौ बिगरि जात है उनका चारिउ खूंट अंधियार लागत हैं, कबौं कुछु सुझिही नाहों परत। राम करै सब के आंखी दीदा बने रहैं, इनहिन में सब कुछ है। और सुनौ जिन का दई अपने हाथ गढ़ा है, जिनका रूपु देखिकै मेहरियन मंसवन कै भूख पियास हरति है उनके गोरे २ गाले पर बौधां करिया २ बुंदका अस होत है, वहौ तिलुई कहावत है, जेहिके ऊपर रसिया जिउ परान काढ़त है औ बड़े २ कबेसुर याक २ जीभ लाख २ बड़ाई करते हैं। कहौ तौ याक सैर सुनायू देन पै तुम कहै लगिहौ कि अलबी तलबी ब्वालत है येहते अरथुइ कहे देइत है—'तुम्हारे गाले वाला करिया तिलु हमरी आंखी क्यार तिलु आय काहेते कि एह के बिना दिन दुपहरी हमरे लेखे अंधेरिया राति रहति है।'* हमका नेहचौ है कि ऐसी २ बातन कैतो मन दौरैहौ तौ कबौं तिलन का निदरैहौ न बरुक यौ समझे रहिहौ कि मनुक्खि का जलम बार २ नाहीं मिलत एहते जौनी बातन मां अपने गांव यास के मनइन का भला होत होय उन मां तिलौ भरि कसर मसर न कीन चही और कौनौ नीक कामु करै मां यौ न

* रोजे रौशन भी है मुझको शबेतार इस के बग़ैर। आंख का तिल है तेरा खाले सियह बर आरिज़॥

बिचारा चही कि 'तिल च्वराऊ तौ पापु गुरु च्वराऊ तौ पापु'। जैसै बनै तैसे अपने लरिका बालेन का, अपने भैयाचारेन का, कुछु सुभीता कै जावा चही। यहे मन्सई का धरमु आय और जैतरै बड़े २ ह्वैगेहैं सबहिन ऐसै कीन हे। एहते हमारि बात मानौ औ या बात गांठी बांधौ कि हमरी जाति पाति मां जेते लरिका पुरिखा हैं हम सब के करिया तिल खाए हैं। जलम भर इनकै सेवा न करिबे तौ जमराज के हियां तिल २ मांसु न्वाचा जाई। एहते जहां लगे अपने बूते होय अपनेन का भला कीन चही। यौ न स्वाचा चही कि अकेले हम कहां लेग का २ करिबे, नाहीं तिल २ जोरे पर्वतु होत है। कालिह का तुम्हरी हिसकन और चार जने त्यांव ढैंग लगि जैहैं तौ सब दुख दलिद्र टर जाई। तिलुआ लगाय कै हमरे बताये कामन का करत रहिहौ तौ याक दिन देउतन की नाहीं पूजै जैहौ नाहीं तौ पीना अस मुंह बनाए बैठ रहिहौ। कबौं इन तिलन मों तेल न निकरी। कहौ कुछ तिलौ भरि मनमां बैठ है? जो बैठ होय तौ आजु ते यौ समुझि राखौ कि हम सकटन क्यार तिलबोकुन आहिन कि चहै एकु लरिकौ दूब के बौंडा में मूड़ी काटि ले, हमते मिमिआतौ न बनी। नाहीं हम धरम के तिलगां आहिन। अपने ग्राम की नितिनि और अपनी सरकार की नितिन काम परे पर 'पांव पछाड़ हम धरिबे ना चाहै तन धंजी २ उड़ि जाय'—येही मां तिलोकीनाथ हमार मरतौ जियत भला करिहैं।

खं० ६, सं० ६ (१५ जनवरी ह० सं० ६)

काल

संसार में जो कुछ देखा सुना जाता है सब इन्हीं दो अक्षरों के अंतर्गत है। इसका पूरा भेद पाना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। क्योंकि यदि—'नृपति सेन संपति सचिव, सुत कलत्र परिवार। करत सबन को स्वप्न सम, नमो काल करतार ॥' के अनुसार उसे ईश्वर का रूपांतर न मानिये तौ भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि अनादि और अनंत एवं अनेक रूपधारी तथापि अरूप यह भी है। इसी कारण बहुत से महात्माओं ने परमात्मा का नाम महाकाल रखा है। पर हमारी समझ में जो स्वयं महत्त्व विशिष्ट है उसके नाम में महा का शब्द जोड़ना व्यर्थ ही नहीं, किंतु एक रीति से हंसी करना है। ब्राह्मण को महाब्राह्मण कहने से कोई प्रशंसा का द्योतन नहीं होता। केवल काल ही कहने से पूरी स्तुति हो जाती है। जिन्होंने परमात्मा को अकाल कहा है वे भी न जाने क्या समझे थे नहीं तो जो सब काल में विद्यमान है वह अकाल क्यों ? उसे तो नित्य कहना चाहिये। काल से यहां हमारा अभिप्राय मृत्यु से नहीं किंतु समय से है। मृत्यु का यह नाम केवल इस लिये पड़ गया है कि उसके लिये एक निश्चित और अटल काल नियत है। पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो सभी बातें काल के अधीन हैं। वृक्ष लगा के सींचते २ सिर दे मारिये, जब तक उसके फलने का काल न आवेगा तब तक फल का दर्शन न होगा। इसी प्रकार जिधर दृष्टि फैलाइये यही देखिएगा कि सब कुछ काल के अधीन है। बिना काल कभी कहीं कुछ हो ही नहीं सक्ता। यों उद्योग करना पुरुष का धर्म है। उसमें लगे रहो। आलस्य बड़ी बुरी बात है। उसे छोड़ो पर यह भी स्मरण रक्खो काल बड़ा बली है। वह अपने अवसर पर सब कुछ करा लेता है। या यों कहिए कि आप कर लेता है। आप बड़े उद्योगी हैं पर तन मन धन सब निछावर कर दीजिये हम आपकी ओर दृष्टि भी न करेंगे, साथ देना कैसा ? हम बड़े भारी आलसी हैं, पर जब पास पल्ले कुछ न रहेगा और स्वाभाविक आवश्यकताएं सतावैंगी तब विवश हो, हाथ पांव अथवा जिह्वा किसी काम में लगावैंगे, जिससे निर्वाह हो। इसी से बुद्धिमान लोग कह गये हैं कि मनुष्य को काल का अनुसरण करना चाहिए—जमाने के तेवर पहिचानना चाहिये। जो लोग ऐसा नहीं करते वे या तो बीते हुए काल की दशा पर घमंड करके अपने लिये कांटे

बोते हैं अथवा आगामी काल की कल्पित आशा में पड़ के हानि सहते हैं। पर यह दोनों बातें मूर्खता की हैं। हमें चाहिए कि जो कुछ करना हो वर्तमान की गति के अनुसार करें। जो लोग अपने काल के अनेक पुरुषों की चाल ढाल परिवर्तित कर देने के लिये प्रसिद्ध हो गए हैं वे वास्तव में साधारण व्यक्ति न थे। उन्हें मूर्ख समझिये चाहे मनीषी कहिये, पर वे थे बड़े। किंतु उस बड़प्पन का कारण काल ही के अनुसरण पर निर्भर था। जिन्होंने यह विचार कर काम किया कि हमारे पूर्व इतने दिनों से जनता इस ढर्रे पर झुक रही है, अतः इधर ही के अनुकूल पुरुषार्थ दिखाना उत्तम होगा। उनकी मनोरथ सिद्धि बड़ी सरलता से हुई। क्योंकि जिस बात को वे चलाना चाहते थे, उसके अवयव पहिले ही से प्रस्तुत थे। इस कारण वे अपने काम में बड़े संतोष के साथ कृतकार्य हुए, पर जिन्होंने कालचक्र की चाल और सहकालीन लोगों की रुचि न पहिचान कर, अपना काम फैलाया, वे मरने के पीछे चाहे जैसे गौरवास्पद हुए हों, उनके उत्तराधिकारियों ने चाहे जितनी कृतकृत्यता प्राप्त की हो, पर अपने जीवनकाल को उन्होंने अपमान, कष्ट और हानि ही सहते २ बिताया। वे आज हमारी दृष्टि में प्रतिष्ठास्पद तो हैं पर विचारशक्ति उनमें यह दोष लगा सक्ती है कि या तो उनमें जमाने के तेवर पहिचानने की शक्ति न थी या जान बूझ कर नेचर के साथ लड़ाई ठान के वे उलझेड़े में पड़े! उपर्युक्त दोनों प्रकार के उदाहरण प्रत्येक देश के इतिहास में अनेक मिल सक्ते हैं, पर उन्हें न लिख के भी यदि हम अपने पाठकों से पूछें कि इन दोनों में आपको कौन मार्ग रुचता है तो हम निश्चय यही उत्तर पावेंगे कि काल की चाल के अनुकूल चलनेवाला! क्योंकि सदा सब देशों में बड़े २ लोग थोड़े होते हैं जो प्रत्येक कष्ट और हानि का सामना करने को बद्ध परिकर रहें, पर ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है जो साधारण रीति से संसार के नित्य-नियमों का पालनमात्र अपनी सामर्थ्य का निचोड़ समझते हों और ऐसे लोगों के लिये यही ढर्रा सुभीते का है कि जिधर अनेक सहकालियों की मनोवृत्ति झुक रही हो, उधर ही ढुलके रहना। इसमें हानि अथवा निंदा का भय नहीं है, वरञ्च यदि कम परिश्रम, सहनशीलता आदि में थोड़ी सी विशेषता निभ जाय तो अपना तथा अपने लोगों का बड़ा भारी हित हो सक्ता है, महाबली काल की सहायता मिलती रहती है। इससे जिन्हें हमारे उपदेश कुछ रुचिकारक हों, उनसे हम अनुरोध करते हैं कि बड़े २ विचार छोड़ के यदि वे सचमुच देश जाति का भला चाहते हों, तो तन मन धन (कुछ न

हो सके तो) वचन से थोड़ा बहुत कोई ऐसा काम नित्य करते रहैं जो वर्तमान समय के बहुत से लोगों ने अच्छा समझ रक्खा हो। बस इसी में बहुत कुछ हो रहेगा। जिस काल में यह सामर्थ्य है कि सारे जगत के सर्वोत्कृष्ट प्रकाशक सूर्य को आधी रात के समय ऐसा अदृश्य करते हैं कि दूरबीन लगाने से भी न देख पड़े, जिसमें यह शक्ति है कि जड़ चेतन मात्र को प्रफुल्लित करनेवाले, सबके जीवन के एक मात्र आधार प्रातः पवन को जेठ बैसाख की दुपहरी में ऐसा बना देते हैं कि लोग उससे जी चुराते हैं, वह यदि तुम्हारा साथी होगा अथवा यों कहो कि तुम यदि उसके अनुगामी होगे, तो क्या कुछ न हो रहेगा ? इसकी वह महिमा है कि जो बातें कभी किसी के ध्यान में नहीं आतीं वरंच सोचने से असंभव जंचती हैं उनके लिये ऐसे २ योग लगा देता है कि एक दिन वैसा ही हो रहता है। ऐसे महासामर्थी से यह तो बिचारना ही नहीं चाहिये कि अमुक बात न हो सकेगी। जो बित्ताभर के बालक को बली, धनी, विद्वान मनुष्य और बड़े से बड़े मनुष्यरत्न को राख का ढेर बना देता है, वह क्या नहीं कर सक्ता ? उसके तनिक से भ्रूसंचालन में जो न हो जाय सो थोड़ा है। आपके शरीर में चाहे सहस्त्र हाथियों का बल हो, पर काल भगवान एक दिन की अस्वस्थता में लाठी के सहारे उठने बैठने योग्य बना सक्ते हैं। किसी के घर में लाखों की संपत्ति भरी हो, पर एक रात्रि में चोरों के द्वारा यह भिक्षा मांगने के योग्य कर सकते हैं। फिर इनके सामने किसका घमंड रह सक्ता है ? जो लोग समझते हैं कि हमारा देश अमुक २ विषयों में दुःखी है उन्हें विश्वास रखना चाहिये कि कालचक्र (समय का पहिया) प्रतिक्षण घूमता ही रहता है और उसका नियम है कि जो आरा ऊपर है वह अवश्य नीचे आवेगा तथा जो नीचे है वह अवश्य ऊपर जायेगा। अतः रात्रि में यह सोचना कि दिन होहीगा नहीं, वज्र मूर्खता है। आप कुछ न कीजिये तो भी सब कुछ हो रहेगा, पर यदि हाथ समेटे बैठा रहना न भाता हो, तो अनेक काम हैं जिनमें से एक २ में अनेक २ लोग हुए हैं। आप भी किसी में जुट जाइए, पर इतना स्मरण रखिएगा कि जिस काम में काल की गति परखने वाले लगे हों, उसी में लगने से सुभीता रहेगा, विरुद्ध कार्यवाही में अनेक विघ्नों का भय है। यदि उन्हें झेल भी जाइये तो भी अपने जीते जी तो पहाड़ खोद के चूहा ही निकालियेगा, पीछे से चाहे जो हो, उसमें आपका इजारा नहीं। वह काल भगवान की इच्छा पर निर्भर है। इसी से अगले लोग कह गए हैं कि काल का स्मरण सब काल करते रहना चाहिये। यदि यह वाक्य नीरस जान पड़े तो गोस्वामीजी

का यह परम रसीला बचन कण्ठ रखिये—'लव निमेष परमान-युग, वर्ष कल्प शर चंड। भजसि न मन तेहि राम कहं, काल जासु कोदंड॥' इसके द्वारा लोक परलोक दोनों सुधर सकेंगे और काल की अमूल्यता आपसे आप समझ में आती रहेगी, जिसका समझना मुख्य धर्म है।

खं० ६; सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ६)

वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सन्मान करें और इनके थोड़े से बचे खुचे जीवन को गनीमत जानें। क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो, कभी किसी का कोई काम इनसे न निकला हो तथापि संसार की ऊंच नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है। इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिये माननीय है। यदि हम में बुद्धि हो तो इन से पुस्तकों का काम ले सक्ते हैं। बरंच पुस्तक पढ़ने में आंखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना अथवा अपनी बुद्धि को दौड़ाना पड़ता है, पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हां बाबा फिर क्या हुआ? हां बाबा ऐसा हो तो कैसा हो? बाबा साहब यह बात कैसी है? बस बाबा साहब अपने जीवन भर का आंतरिक कोष खोल कर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिये उचित है कि हम क्या हैं हमारे पूज्य पिता चाचा ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें तो किस की कलई नहीं खोल सक्ते? किस के नाम पर गट्टा सी नहीं सुना सक्ते? इन्हें संकोच किस का है? बकी के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सक्ता है? जब यह आप ही चिता पर एक पांव रक्खे बैठे हैं, कब्र में पांव लटकाये हुए हैं तो इनका कोई करी क्या सक्ता है? यदि इनकी बातें कुबातें हम न सहें तो करैं क्या? यह तनिक सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायंगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े तीक्ष्ण शस्त्र की भांति अनिष्टकारक होगा। जब कि महात्मा कबीर के कथनानुसार मरी खाल की हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तो इन की पानी भरी खाल (जो जीने मरने के बीच में है) की हाय कैसा कुछ अमंगल नहीं कर सक्ती। इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करैं। क्योंकि समस्त धर्म ग्रंथों में इनका आदर करना लिखा है। सारे

राजनियमों में इनके लिये पूर्णतया दंड की विधि नहीं है। और साच देखिये तो यह दयापात्र जीव हैं, क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं। केवल जीभ नहीं मानती, इससे आंय बांय शांय किया करते हैं या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं। इसके सिवा किसी का बिगाड़ते ही क्या हैं। हां, इस दशा में भी दुनिया के झंझट छोड़ के भगवान का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिये झूठी हाय २ में कुढ़ते कुढ़ाते रहते हैं, यह बुरा है। पर केवल इन्हीं के हक में, दूसरों को कुछ नहीं। फिर क्यों इनकी निंदा की जाय? आज कल के बहुतेरे होनहार एवं यत्नशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता। यह अपनी पुरानी सड़ी अकिल के कारण प्रत्येक देशहितकारक नव विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं। पर हमारी समझ में यह कहने वालों की भूल है। नहीं तो सब लोग एक से नहीं होते, यदि हिकमत के साथ राह पर लाये जायं तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे जिनसे अनेक युवकों को अनेक भांति की मौखिक सहायता मिल सक्ती है। रहे वे बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं। वे प्रथम तो हई कै जने? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलक्षण किसी से छिपे हों, फिर उनका क्या डर? चार दिन के पाहुन, कछुआ मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खा के आये ही नहीं, कौआ के लड़के हईं नहीं, बहुत जिएंगे दश वर्ष। इतने दिन में मर पच के, दुनिया भर का पीकदान बन के, दस पांच लोगों के तलवे चाट के, अपने स्वार्थ के लिये पराये हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी? सो भी जब देशभाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर तो थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है। फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें। जब वह थोड़ी सी घातें की जिंदगी के लिये अपना बेढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी बृहज्जीवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें। हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी सुश्रूषा करते रहें क्योंकि भले हों या बुरे पर हैं हमारे ही। अतः हमें चाहिये कि अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथच ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बन्धु वात्सल्य की सत्यता का निश्चय कराते रहें। सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो अगले दिनों के ऋषियों की भांति विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भांति 'आपन पेट हाहू, मै ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी क्या, वृद्धता के नाते बाबा ही हो। पर इतना स्मरण रक्खो कि अब

जमाने की चाल वह नहीं रही जो तुम्हारी जवानी में थी। इससे उत्तम यह है कि इस वाक्य को गांठी बांधो कि—'चाल वह चल कि पसे मर्ग तुझे याद करें। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे।' नहीं तो परलोक में बैकुंठ पाने पर भी उसे थूक २ के नर्क बना लोगे, इस लोक का तो कहना ही क्या है। अभी थूक खखार देख के कुटुम्ब वाले घृणा करते हैं, फिर कृमि-विट भस्म की अवस्था में देख के ग्रामवासी तथा प्रवासी घृणा करेंगे। और यदि वर्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत सदा थुड़् २ करेगा। यों तो मनुष्य की देह ही क्या जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनाने वाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाती है, नोचेत् निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है। तिस्पर भी इस अवस्था में जब कि 'निवृता भोगेच्छा पुरुष बहुमाना विगलिताः समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः। शनैर्यष्टियुत्थानं घन तिमिररुद्धेऽपि नयने अहो दुष्टा काया तदपि मरणापाय-चकिता।' यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं, राह चलने वाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि—'कहा धन धामैं धरि लेहुगे सरा मैं भए जीरन जरा मैं तहू रामैं ना भजत हौ।' यदि समझ जाओगे तो अपना लोक परलोक बनाओगे, दूसरों के लिये उदाहरण के काम आओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनी वाली किये देते हैं, तुम्हीं अपने किये का फल पाओगे और सरग में भी बैठे हुए पछिताओगे। लोग कहते हैं बारह बरस वाले को वैद्य क्या? तुम तो परमात्मा की दया से पंचगुने छगुने दिन भुगताए बैठे हो। तुम्हें तो चाहिये कि दूसरों को समझाओ पर यदि स्वयं कर्तव्याकर्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहैं, हमारी समझ को धिक्कार है जो ऐसे वाक्यरत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करते हैं।

खं० ६, सं० ८ (१५ मार्च ह० सं० ६)

पौराणिक गूढ़ार्थ

अंग्रेजी ढंग की शिक्षा पाने वालों में न जाने यह दोष क्यों हो जाता है कि जो बातें सहज में नहीं समझ पड़तीं उन्हें मिथ्या समझ बैठते हैं। यदि इतना ही होता तो भी इसके अतिरिक्त कोई बड़ी हानि न थी कि थोड़े से लोग कुछ का कुछ समझ लें। पर खेद यह है कि वे अपनी अनुमति देने में अपने पूर्वजों का प्रतिष्ठा का कुछ भी ध्यान न करके बिन समझी बातों के विषय में भी बहुधा ऐसी निरंकुश भाषा का प्रयोग कर बैठते हैं जिसमें विद्वानों को खेद और साधारण लोगों को क्षोभ उत्पन्न हो के परस्पर की प्रीति में बड़ा भारी धक्का लगता है। आजकल सब समाजें आपस के हेल मेल को आवश्यक समझती हैं एवं विचारशील लोग सारे धर्म कर्मादि से एकता को श्रेष्ठ समझते हैं। पर इन ऐक्यभावुकों में भी बहुत से लोग ऐसे विद्यमान हैं जो अपने यहां के महाविरे और प्राचीन काल के रंग ढंग से अनभिज्ञ होने के कारण जब तब कह बैठते हैं कि पुराण मिथ्या हैं, प्रतिमा पूजन वाहियात है, यह सब पंडितों के ढकोसले हैं। ऐसी २ बातें आदि में पादरियों ने प्रचार की थीं पर यतः उनका मुख्य अभिप्राय इस देश के भोले भाले लोगोंको अपनी जथा में मिलाना मात्र था। हमारे देश, जाति, धर्म, भाषादि से ममता न थी इससे उनके कथन पर हमें कोई आक्षेप नहीं है। विशेषतः इस काल में जब कि उनका प्राबल्य बहुत कुछ क्षीण हो गया है और काल भगवान से आशा है कि कुछ दिन में कुछ भी न रक्खेंगे। इसके अनन्तर दयानन्द स्वामी तथा उनके सहकारियों ने ऐसा ही उपदेश करना स्वीकार किया था। पर उन्हें भी हम कोई दोष न देंगे क्योंकि उनका मुख्य प्रयोजन भारत संतान को घोर निद्रा से जगाना था, जिसकी युक्ति उन्होंने यही समझी थी कि कुछ कष्ट देने वाली तथा कुछ झुंझलाहट चढ़ाने वाली बातें कह के चौकन्ना कर देना चाहिये। पर इस काल में परमेश्वर की दया से कुछ चैतन्यता आ चली है। अपना भला बुरा सूझने लगा है। इससे हमारे भाइयों को उचित है कि अब विरोध बढ़ाने वाली बातों को तिलांजुली दें और अपने को अपना समझें। हम देव प्रतिमा पर सारा धन चढ़ा दें तौ भी घर का रूपया घर ही में रहेगा। ब्राह्मणों को सर्वस्व दान कर दें तौ भी देश का धन देश ही में रहेगा। फिर इसमें क्या हानि है? श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को देखिये कि न

कभी किसी मंदिर में दर्शन करने जाते हैं न मूर्ति पूजकों का सा व्यवहार बर्ताव रखते हैं पर सन् १८८३ में एक शालग्राम शिला के पीछे कारागार तक हो आए क्योंकि वे भली भांति समझते हैं कि अपने गौरव का संरक्षण इसी में है। प्रतिमा पूजन के निषेधक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती उन दिनों जीते थे पर सुरेन्द्रो बाबू के विरुद्ध एक अक्षर भी न कहा। वरंच काम पड़ता तो मुंशी इंद्रमणि की भांति इनकी सहायता में भी अवश्य कटिबद्ध हो जाते क्योंकि गौरव संस्थापन का तत्त्व उन्हें अविदित न था। यदि इन आदरणीय पुरुषों के ऐसे २ कामों से हम शिक्षा ग्रहण करें तो बतलाइए क्या हानि है? फिर अपनी बातों को बुरा कहके अपने भाइयों में बुरा बनना कौन सी भलाई है? पुराण यदि सचमुच दूषित हों तो भी हमारे आदरणीय पूर्वजो के बनाए हुए हैं अतः माननीय हैं। कुछ न हो तो भी उनके द्वारा संस्कृत के अनेकानेक महाविरे मालूम होते हैं। फिर क्यों उनकी निन्दा की जाय? क्या चहारदर्वेश और राबिन्सन क्रूसो की कहानियों के समान भी वे नहीं हैं, जिन के पढ़ने में लोग महीनों आंखें फोड़ते हैं? जिन्हें विचारशक्ति से तनिक भी काम लेना मंजूर न हो उन्हें भी यह समझ के पुराणों की प्रतिष्ठा करना चाहिये कि सैकड़ों ब्राह्मण भाइयों की गृहस्थी उन्हीं से चलती है, सैकड़ों हिन्दू भाइयों को लोक परलोक बनने का विश्वास उन्हीं पर निर्भर है। फिर एक बड़े समूह को कुंठित करना कहां की बुद्धिमानी है? विशेषतः जो लोग चाहते हैं कि देश में एका बढ़े और देशहित के कामों में सर्वसाधारण से सहायता मिले उनके लिये अभाग्यवशतः हमारे संस्कार बिगड़ गये हैं। विदेशी भाषाओं के मारे संस्कृत का पठन पाठन छुट गया है। अपने यहां की उत्तम बातो का खोजना अनभ्यस्त हो रहा है। नहीं तो हम समझा देते, वरंच सब लोग आप समझ जाते, कि जिन सज्जनों ने संसार के सारे झगड़े केवल परमेश्वर का भजन अथवा जगत का उपकार करने के लिये छोड़ दिये थे, जिन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग विद्या पढ़ने और ग्रंथ बनाने में बिताया था, उनकी कोई छोटी से छोटी बात भी निरर्थक नहीं है। फिर पुराण तो बड़े २ ग्रंथ हैं। उनमें ऐसी बातें क्योंकर हो सक्ती हैं जा आत्मिक, सामाजिक अथवा शारीरिक लाभदायिनी न हों। इस लेख में हम थोड़ी सी उन्हीं बातों का मुख्य अभिप्राय दिखाया चाहते हैं जिन्हें लिखने वालों ने बड़ी बुद्धिमत्ता से हमारे ज्ञान, मान, कल्याण की वृद्धि के लिये लिखा है, पर कविता न पढ़ने के कारण हम समझते नहीं हैं और बिना समझे बूझे दांत बाया करते हैं। ईश्वर, धर्म, विद्या, वीरतादि का

वर्णन, शिव दुर्गा इत्यादि के चरित्र यद्यपि हम मनुष्यों के रूप रंग चाल व्यवहार से विलक्षण हैं पर ऐसे नहीं है कि उनके श्रवण मननादि से कोई न कोई उपदेश न प्राप्त हो। हां, यदि हम उधर ध्यान ही न दें, बरंच हठ के मारे हंसी उड़ावें तो पुराणों का क्या दोष, है हमारी ही मूर्खता है। यदि कुछ दिन काव्य पढ़िये और कल्पनाशक्ति से काम लेना सीखिये अथवा हमारी निम्नलिखित पंक्तियों को ध्यान से देखिये और ऐसी ही ऐसी बातों में बुद्धि दौड़ाइये तो निश्चय हो जायगा कि पुराणों की कोई बात मिथ्या नहीं है, बरंच जहां २ मिथ्या की भ्रांति होती है वहां गूढ़ार्थ भरा हुवा है, जिसे अंगीकार किये बिना भारत का कल्याण नहीं हो सक्ता।

यह सब पौराणिक भलीभांति जानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि नाम भिन्न २ हैं, पर हैं वास्तव में सब एक ही परमात्मा का स्वरूप और उनके हस्तपदादि भक्तों को उमंग एवं कवियों की कल्पना मात्र है किंतु है सब निरवयव जगदीश्वर का वर्णन। इसी प्रकार दुर्गा, काली इत्यादि देवियां भी ईश्वर की शक्ति हैं जो किसी भांति प्रथक नहीं हैं। जैसे पंडित जी का पांडित्य, मौलवी साहब की लियाकत इत्यादि पंडित जी तथा मौलवी साहब से भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं वैसे ही सरस्वती (विद्या शक्ति) दुर्गा (वीरताशक्ति) इत्यादि भी ईश्वर से पृथक् कोई सावयव पदार्थ नहीं हैं। रहे इनके रूप एवं काम सो यद्यपि कभी २ ऊपरी शब्दों में सृष्टि क्रम से विलक्षण जान पड़ते हैं, पर उनके विषय में तर्क वितर्क उठाना निरी मूर्खता है। क्योंकि किसी भाषा के मुहाविरे तथा किसी देश के कवियों की कविता का ढंग एवं उनकी मनसा को जाने बिना झट से कह उठना कि 'झूठ है', 'ऐसा नहीं हो सक्ता', अथवा ऐसी २ कुतर्कें उठाना कि 'ब्रह्मा के चार मुंह हैं तो सोते क्योंकर होंगे', एवं 'सहस्र शीर्षा' वाली ऋचा पर कहना कि 'शिर भी सहस्र और आंखें भी सहस्र ही हैं तो सावयव उपासकों का ईश्वर काना ठहरता है क्योंकि एक शिर के साथ दो आंखें होने का नियम है' इत्यादि निरी नीचता है। ऐसी बातों से लाभ तो केवल इतना ही मात्र है कि कच्चे विश्वासी तथा बुद्धिहीन लोग अपने धर्म को अप्रमाण समझ के हमें सच्चा समझने लगें तो असंभव नहीं। पर हानि इतनी होती है कि कहते जी थर्राता है। कहने वाले की दुष्टता का प्रकाश, सुनने वाले को निज धर्म से अविश्वास अथवा आपस के हेल मेल का सत्यानाश, सभी कुछ हो सक्ता है, पर मतवादी लोगों की बुद्धि में न जाने कहां से पत्थर पड़े हैं कि जिन बातों से न अपने लाभ की संभावना है न पराये हित की आशा है उन्हीं को सोच २ निकाला करते

हैं और देश के भाग में लगी हुई आग पर घी डाला करते हैं। नहीं तो ऐसी किस सभ्य देश की भाषा है जिसमें ऐसे वाक्य न होते हों जिनके शब्दों का अर्थ और है पर उस वाक्य का तात्पर्य और है। (ऐसे सैकड़ों उदाहरण पाठकगण आप सोच सक्ते हैं इससे लिखना आवश्यक नहीं समझा)। पर जिन्हें दूसरों के मान्य पुरुषों को गालियां देने और पलटे में अपने बड़े बूढ़ों को गालियां दिलवाने ही में धर्म सूझता है उन्हें समझावे कौन ? हमारी सभझ में यदि ऐसे लोगों को, जो सभाओं में बैठ के तथा मेलों और बाजारों में खड़े हो के किसी के मत पर आक्षेप करते हैं, सर्कार की ओर से दंड नियत हो जाय तो अति उत्तम हो। पर यतः यह काम उन्हीं लोगों का है जो सचमुच देश के सामाजिक एवं राजनैतिक सुधार के लिये बद्धपरिकर हैं। इससे हम इन्हें इस बात का स्मरण दिलाने के अतिरिक्त विशेष बातों पर जोर दें तो हमारे प्रस्तुत विषय में विक्षेप पड़ेगा। अतः कुतर्कियों को केवल कविता पढ़ने और संस्कृत के मुहाविरे सीखने की पुनः अनुमति दे के तथा इतना समझा के कि यदि मान ही लिया जाय कि सचमुच इंद्र के सहस्र नेत्र हैं और तुम्हारे कथानानुसार उनको आंखें उठती होंगी तो क्या करते होंगे, कीचड़ के मारे सारी देह भिनकने लगती होगी, तो भी जब तुम्हें (मतवादी जी को) न उनकी आंखें धोनी पड़ती हैं न अंजन पीसने का कष्ट सहना पड़ता है न डाक्टर की फीस देनी पड़ती है, फिर मुख क्यों गंदा करते हो ? अपनी बुद्धि भ्रष्ट एवं पराई आत्मिक शांति नष्ट करने का वृथा उद्योग क्यों करते हो ? अब अपने मुख्य विषय पर आते हैं जिससे बुद्धिमानों को पुराण-कर्त्ताओं की बुद्धिमत्ता का परिचय और तद्द्वारा अपने सुधार का कुछ आश्रय प्राप्त हो।

१. देवताओं अर्थात् निराकार के पौराणिक रीति से साकार कल्पनामय स्वरूपों के बहुधा चार अथवा आठ भुजा होती हैं। यह उनकी महासामर्थ्य का द्योतन है। हिंदी में मुहाविरा है कि जब कोई बड़ा काम शीघ्रता के साथ पूर्ण रूप से कोई नहीं कर सक्ता तो अपने उपासकों से बहुधा कहता है कि भाई, अपनी सामर्थ्य भर कर तो रहे हैं, कुछ हमारे चार हाथ तो हई नहीं कि एकबारगी कर डालें। हमें उन लोगों पर आश्चर्य आता है जो आप तो दिन भर चार हाथ २ कहते सुनते रहते हैं पर प्राचीन विद्वानों की लेखनी से चार हाथ (चतुर्भुज) लिखा हुआ देख सुन के आक्षेप करने दौड़ते हैं। यदि कुछ भी बुद्धि हो तो स्वयं समझ सक्ते हैं कि चार अथवा आठ हाथ वाले का अर्थ महासामर्थ्यवान है। इसमें तर्क वितर्क का क्या प्रयोजन ? इससे हमें यह उपदेश भी प्राप्त होता है कि यदि हम दो अथवा चार मनुष्य मिल

के अर्थात् चार वा आठ हाथ एकत्रित करके किसी काम को आरम्भ करें तो अकेले की अपेक्षा अधिक सहज और सुन्दर रीति से कर सक्ते हैं, जैसा कि कविवर ठाकुर का बचन है 'चारि जने चारि दिशा ते एक चित्त ह्वै के मेरु को हलाय के उखारें तो उखरि जाय।' हमारे मित्रों में बहुत लोग कहा करते हैं, 'भाई हमारे अकेले दो हाथों के किये क्या हो सक्ता है?' इसी मूल पर पंच परमेश्वर वाली कहावत प्रसिद्ध हुई है। अर्थात् पांच जने जिस काम को करते हैं उसे मानों परमेश्वर स्वयं कर रहा है। फिर यदि हम तथा हमारे पुराण कर्ताओं ने भी कहा कि परमेश्वर (विष्णु, शिव, दुर्गादि) चतुर्भुजी, अष्टभुजी, अथवा दशभुजी हैं तो क्या झूठ है? कौन नहीं मानता कि परमात्मा महान् शक्तिमान है?

२. इसी भांति पुराणों में सिंह, वृषभ, मूषकादि देवताओं के बाहन लिखे हैं। इस पर भी नये मतवाले ठट्ठा किया करते हैं पर यह नहीं विचारते कि संस्कृत में वाहन उसे कहते हैं जिसके द्वारा कोई चले वा जो किसी के द्वारा चलाया जाय। जैसे वैद्यक शास्त्र के परमाचार्य धन्वंतरि का नाम जलौका-बाहन है। इसमें यह तात्पर्य नहीं है कि वे जोंक पर चढ़ते हैं, किंतु यह अभिप्राय है कि वे जोंक के चलाने वाले अर्थात् रक्त बिकार के हरणार्थ जोंक लगाने की रीति चलाने वाले हैं। इसी प्रकार सिंहवाहिनी का अर्थ है कि जो बीर पुरुष हैं, जिन्हें सब भाषाओं में सिंह का उपनाम दिया जाता है उनका काम, नाम एवं यश ईश्वर की वीरता शक्ति ही चलाती है। हमारे पाटक विचार तो करें कि ऐसी बातों को झूठ, गप्प, हास्यास्पद कहना विद्या और बुद्धि से वैर ही करना है कि और कुछ? वाहन अनेक हैं पर यदि सब का वर्णन किया जाय तो लेख बहुत बढ़ जायगा इससे मुख्य २ स्वरूपों के बाहनों का मुख्यार्थ लिखते हैं।

३. विष्णु भगवान के बाहन गरुड हैं जिनका वेग पवन से सैकड़ों गुणा अधिक है। इसका अर्थ यह है कि जिनका काम काज विश्वव्यापी परमेश्वर चलाता है या यों कहो, जो लोग केवल उसी के आसरे सब काम करते हैं अथवा सब कामों में उसकी प्रेममयी मूर्ति हृदय में धारण किये रहते हैं वे पवन की गति से भी अधिक शीघ्र कृतकार्य होते हैं अथवा प्रेमदेव अपने लोगों के सहायार्थ पवन से भी शीघ्र आ सक्ते हैं। गरुड़ जी सांपों के भक्षक हैं, अर्थात् ईश्वर के निकटवर्ती लोग ऐसे कपटी जीवों के जानी दुश्मन हैं जो ऊपर से कोमल २, चिकना २ स्वरूप रखते हैं पर भीतर विष भरे रहते हैं।

४. गणेश जी अर्थात् समस्त सृष्टि समूह के स्वामी, विद्या वारिधि, बुद्धि विधाता, जगत्राता मूषक वाहन हैं। अर्थात् ऐसे जीवों (मनुष्यों) के हृदय में आरूढ़ होते हैं अथवा ऐसों का कार्य संचालन करते हैं जो (लोग) देखने में छोटे अर्थात् साधारण संसारियों से भी बाह्याडम्बर में न्यून हैं पर वास्तव में अभी ऐसे हैं कि जब सारा संसार सोवे तब भी अपना कर्तव्य साधन न छोड़ें। बुद्धिमान और खोजी ऐसे हैं कि सात पर्दे की वस्तु को ढूंढ ही लावैं और उसके छोटे से छोटे अंश को भी प्रथक् कर दिखावैं तथा चतुर इतने हैं कि शत्रु लाख मेंबमेंब करने वाला हो तो भी उससे सावधान ही रहे, इत्यादि। चूहे के अनेक गुण हैं जिन्हे विचार लेने से भगवान उंदुरु वाहन की अनन्त महिमा का बहुत कुछ भेद खुल सक्ता है।

५. भगवान भोलानाथ के वाहन भूषणादि का वर्णन पुरानी संख्याओं में लिखा जा चुका है और शैवसर्वस्व नामक पुस्तिका में प्रथक् छप रहा है, इससे बार २ लिखने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य और इन्द्र के वाहन घोड़ा और हाथी हैं। उन पर किसी का दोष देने का ठौर ही नहीं है फिर लिखें हीं क्यों। दुर्गा जी के वाहन का तात्पर्य लिखी दिया गया। सरस्वती जी का वाहन हंस है जिसे सभी जानते हैं कि दूध का दूध पानी का पानी करने वाला है। चित्रों में पाठकों ने देखा होगा कि जिस हंस पर भगवती भारती देवी आरूढ़ होती हैं उसके मुंह में मोती की माला रहती है। इसका भावार्थ वह लोग भलीभांति समझ सक्ते हैं जो जानते हैं कि मधुर मनोहर कोमल बचन रचना को हमारे देश के लोग मुक्तमाल से सादृश्य देते हैं। बहुधा सभी लोग कहते हैं कि फलाना बातें क्या करता है अथवा काव्य क्या रचता है मानों मोती पिरोता है। इस कहावत से भी जिसने यह न सोचा कि सरस्वती जी के कृपा पात्र को क्षीर नीर विभेदक एवं मधुर कोमल कांत पदावली उच्चारक होना चाहिये उसे हम क्या समझावेंगे, ब्रह्मा जी तो समझा लें।

६. चन्द्रमा का बाहन मृग है। इस से एक तो ज्योतिष की यह बात सूचित होती है उसकी गति अन्य सब ग्रहों से तीव्र है (मृग की चाल तेज होती है न)। जहां अन्य ग्रह अपनी चाल समाप्त करने में ढाई वर्ष तक लगा देते हैं वहां यह सताईस ही दिन में सारा राशि मडंल नाप डालते हैं। दूसरी बात यह निकलती है कि चन्द्रमा शब्द "चदि आह्लादे" के धातु से बना और आह्लाद के लिये मृग एक उपयोगी वस्तु है। रसिकों के लिये मृगनैनी,

विरक्तों के लिये मृगाकीर्ण वन, तपस्वियों के लिये मृगचर्म, संसारियों के लिये मृगशिरा की तपन (मृगशिरा के अधिक तपने से वृष्टि अच्छी होती है और वृष्टि की अच्छाई से समस्त गृहस्थोपयोगी पदार्थ पुष्कल होते हैं) तथा अनेक व्यापारियों और परिश्रमियों के लिये मार्गशीर्ष (अगहन) कैसा सुखद होता है ! फिर जगत के विश्रामदाता औषधीश के साथ हमारे सहृदय शिरोमणि पूर्वज मृग का सम्बन्ध क्यों न वर्णन करते ?

७. लक्ष्मी देवी का बाहन उलूक है, अर्थात् जो लोग यही चाहते हैं कि सारा जगत अंधकारपूर्ण हो जाय तो अपना काम चले, जो लोग सब को मुआ २ (अर्थात् सर्व सामर्थ्य शून्य हो के मर मिटो) पुकारते रहते हैं एवं दिन दहाड़े (सबको जना के) कुछ भी करना नहीं पसन्द करते, कोई लाख उल्लू कहे, अशुभ रूप समझे अथवा चोंचे चलाया करे पर अपनी चाल में नहीं चूकते तथा अजरामरवत् जीवन समझ के धन संचय करने में लगे रहते हैं वही रुपया जोड़ सकते हैं। इन भगवती का नाम समुद्रकन्या है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो लोग समुद्र में गमनागमन करते रहते हैं, देश देशांतर में आते जाते रहते हैं अथवा समुद्र की भांति चाहे लाख नदियों को पेट में डाल लें पर वृद्धि का चिन्ह भी न जतावें (घर भरने से तृप्त कभी न हों) चाहे रत्नाकर (रत्नों की खान, जिसके घर में लाखो रत्न हों) ही क्यों न हो जायं पर दूसरे के लिये बूंद भर पानी के काम न आवैं, पृथ्वी पर पड़े हुए भी आकाश के चंद्रमा तक पर हाथ लपकाते रहें, वही लक्ष्मी को पैदा कर सकते हैं।

८. भगवान मनोभव का बाहन तथा ध्वजाचिन्ह (जिस देवता का जो बाहन होता है बहुधा वही ध्वजा में भी रहता है) मत्स्य है। इसका तात्पर्य वैद्यक के मत से यह है कि मछली खाने तथा काडलिवर आइल (मछली का तेल) पीने से यह बहुत वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ज्यौतिष के मत से मीन राशि के सूर्यों में अधिक उन्नत होते हैं। कर्मकांड की रीति से मछलियों को चारा देने से अनेक कामना सिद्ध होती है तथा हमारे सिद्धांत में—'मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पियास। तुलसी प्रीति सराहिये मुयेहु मीत की आस।' — इस महावाक्य का अनुसरण करने से कोटि काम सुंदर भगवान प्रेमदेव बड़े ही प्रसन्न होते हैं। इनके कुसुमायुध नाम का अभिप्राय यह है कि नाना जाति के पुष्पों का अवलोकन और घ्राण करने से मन्मथ का उद्दीपन तथा विज्ञान दृष्टि से देखने से अनेक सुख संतोषजनक विचार

ऐसे उत्पन्न होते हैं कि उनका अनुभव करो तो जान पड़ता है कि किसी ने बाण मार दिया। संसारियों को फूल बूटा तथा मछलियों के चित्र काढ़ने से कीर्ति एवं धन का लाभ होता है जिससे सारी कामना सफल होती है और सदा निशाने पर तीर लगता रहता है। अर्थात् निर्वाह योग्य वस्तुओं का मनोरथ निष्फल नहीं होने पाता। रसिकों के लिये कुसुम कोमल अवयव वालों का दर्शन स्पर्शन तथा मीन चंचल नेत्रों का अवलोकन बाण के समान हृदयस्पर्शी होता है। ऐसे २ अगणित भाव अनुभव करके इस देवता के साथ मत्स्य और पुष्प का संबंध रक्खा गया है।

९. युद्ध के देवता स्वामिकार्त्तिकेय जी का बाहन मयूर, जिसे सभी जानते हैं कि उड़ता भी है और नाचता भी है। जिन्हों ने हमारे यहां का आल्हा सुना होगा वे इस पद से इनके बाहन का तत्व खूब समझ सकेंगे कि—'कबहुं बेंदुला भुइं मां नाचै कबहूं जोजन भरि उड़ि जायं', अथवा—'घोड़ा बेंदुला नाचल आवै जैसे बन मां नचै पुछारि।' जब कि युद्धप्रिय मनुष्यों के बाहन की उपमा पुछारि से दी जाती है तो युद्धदेव का बाहन पछारि के अतिरिक्त और क्या कहा जाय। इसके सिवा उसका सर्वभक्षण एवं नखचंचु दोनों के द्वारा प्रहार भी रणक्षेत्र के लिये बड़ा उपयोगी है तथा च उनके छः मुख भी यही सूचना देते हैं कि शत्रु सेना में प्रवेश करने वाले को पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण, नीचे (सुरंग तथा कपट दीनता संपन्न) और ऊपर (घमंडी अथवा व्योमयानादि पर आरूढ़) के शत्रुओं पर दृष्टि रखनी उचित है। इनके जन्म काल में छः युवती पुत्रैषणा से इनके पास आईं और सबों ने दुग्धपान कराने की इच्छा प्रकट की तो इन्हों ने एक साथ छहों का स्तन पान करके सबकी रुचि रक्खी। यह आख्यायिका भी सच्चे बीरों का स्वाभाविक गुण विदित करती है कि जितनी स्त्री दृष्टि पड़ें सबको मातृवत् संमान करे। बहुतों के मत से यह सदा छः वर्ष के रूप में रहते हैं अर्थात् काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेष, छल, कपटादि से न्यारे केवल माता पिता के सहारे बने रहते हैं। यदि विचार के देखिये तो प्रकृत बीर के यही सब लक्षण हैं जो हमारे सुर सेनाध्यक्ष में वर्णन किए गए हैं।

१०. धनाध्यक्ष कुबेर जी नरबाहन हैं जिसका भावार्थ सब जानते हैं कि रुपये वाले लोग सदा आदमियों के शिर पर सवार रहते हैं। यदि इसमें हंसी समझिये तो यह अर्थ समझ लीजिए कि जो धनपति मनुष्य बाहन होते हैं अर्थात् अनेक मनुष्यों का कार्य संचालन करते हैं, बहुत लोगों को

सहायता की दृष्टि से काम में लगाये रहते हैं वे देवता समझे जाते हैं और शिव जी को प्रिय होते हैं।

११. यमराज का वाहन महिष है। अर्थात् जो लोग भैंसा के समान केवल खाने और कीचकांदो (विषय बासना) में पड़े रहने ही में प्रसन्न रहते हैं, सांसारिक एवं पारमार्थिक कर्तव्यों में मथर २ करते हुए चलते हैं (अग्रसर नहीं होते), थोड़ा सा काम करने पर हांफने लगते हैं, साहस छोड़ बैठते हैं तथा पराए सुख दुःख से निश्चिंत रह के निर्लज्जता से फूले रहते हैं अथच अपनी भी देह (स्वत्व) खोद २ कर खाने वालों से असावधान बरंच सुखित रहते हैं उन पर मृत्यु का देवता सदा सवार रहता है, अर्थात् उनके जीवन का उद्देश्य मृत्यु ही है, जभी मर गए तभी। और ऐसों ही के लिये ईश्वर न्यायी हैं नोचेत् वह परम कृपालु अपने सेवकों के छोटे २ कर्मों का विचार किया करे तो किसी का कहां ठिकाना है? पर ऐसे बैशाख-नंदनो के लिये मरना और न्याय में फंसना हो तो सहस्रों आलसी इन्हीं के आचरण ग्रहण कर बैठें क्योंकि कुछ करना धरना सब का काम नहीं है। इसी से ऐसों के शासन और इनकी दशा के द्वारा दूसरों को उपदेश मिलने के आशय से पौराणिक महात्माओं ने भगवान का नाम न्यायकारी और प्राणहारी लिखा है।

१२. इंद्र के सहस्र नेत्र हैं अर्थात् राजा ऐसा होना चाहिए जो सब प्रकार के लोगों के समस्त भाव पर सदा दृष्टि रख सके। जिस राजा के कान होते हैं, आंखें नहीं होतीं, अर्थात् जिसने जो कह दिया वही मान लिया, स्वयं कुछ न देखा, उसका राजत्व चिरस्थायी नहीं रह सकता, यही शिक्षा देने के लिये देवराज अर्थात् दिव्यगुणविशिष्ट राजा अथवा विद्वान समूह पर राज्य करने वाले का नाम सहस्राक्ष रखा गया है। सहस्राक्ष होने का कारण यों लिखा है कि अहिल्या के साथ छल करने के अपराध में गौतम जी ने जब शाप दिया तो इंद्र को बड़ा खेद, क्षोभ और लज्जा हुई। उसके निवारणार्थ बृहस्पति जी ने तप, वृत, पूजनादि करा के उन चिन्हों को नेत्र बना दिया। इस आख्यान पर शास्त्रार्थी लोग चाहे जो तर्क वितर्क किया करें पर सच्चे आस्तिक अवश्य मानेंगे कि सच्चे जी से भजन करने पर सर्वशक्तिमान की दया से ऐसा क्या इससे भी अधिक अघटित घटना हो सकती है एवं दोष भी गुण हो जाते हैं। पर यह सच्चे विश्वास का विषय है जो लेखनी की शक्ति से दूर है। इससे हम केवल लौकिक शिक्षा देते

हैं कि इन्द्र की उक्त कथा से यह बात (ध्वनि) निकलती है कि इस प्रकार के लोग यद्यपि गौतम सरीखे धर्मचारियों के द्वारा शापभागी और पीछे से अपने कृत्य पर अनुतापकारी होते हैं किंतु सहस्रनयन अर्थात् दूरदर्शी और अनुभवी अवश्य हो जाते हैं जैसा कि नीतिज्ञों ने 'देशाटनम्पण्डितमित्रताच' इत्यादि वाक्यों में कहा है। इस पर यदि कोई प्रतिमा पुराणादि के छिद्रान्वेषी कहें कि वाह रे पौराणिकों के उपदेश, तो हमारे पास यह उत्तर विद्यमान है कि किसी पुराण में इंद्र की कथा के साथ यह नहीं लिखा कि उन्होंने दुराचार किया अथवा किसी को करना उचित है। फिर पुराणों को वा इद्र को दोष लगाना अपनी बुद्धिमानी दिखलाना मात्र है। यदि मान ही लें कि देवराज का विचार ऐसा ही था तो भी पुराणकर्ता दोषी नहीं ठहर सकते बरंच उनकी अनुभवशीलता विदित होती है। अर्थात् उन्होंने यह दिखलाया है कि श्रीरामचन्द्र ऐसे ईश्वर तथा युधिष्ठिर ऐसे अनेक अवतारों को छोड़ के राज्याभिमानी लोग, यहां तक कि देवलोक तक के राजा, बहुधा ऐसे ही होते हैं (यह बात सब कहीं के इतिहासों से प्रत्यक्ष है)। इस से शुद्ध धर्म जीवन के प्रेमियों को राज्य तृष्णा त्याज्य है। यदि आप कहें कि इन्द्र निर्दोष थे तो गौतम ने शाप क्यों दिया, तो हम कहेंगे कि पुराणों में गौतम को कहीं नहीं लिखा कि ईश्वर हैं, फिर उनका धोखा खाना कौन आश्चर्य है! धर्मात्माओं को जिस पर ऐसी शंका होती है उस पर क्रोध आता ही है बरच 'क्रोधोपि देवस्य बरेण तुल्यः' के अनुसार उन्हों ने अहिल्या को श्री रामचरण पंकज रज प्राप्ति के योग्य और देवेन्द्र को सहस्रलोचन बना दिया। इससे पुराण निंदकों का यह कहना व्यर्थ है कि उन में देवताओं और ऋषियों की निंदा लिखी है। यह अपनी अपनी समझ का फेर है।

सहस्रनयन (इन्द्र) का शस्त्र वज्र है जिसको सब जानते हैं कि बड़े २ पर्वतों तक को चूर्ण कर सकता है और वुह दधीचि मुनि की हड्डियों से बना हुआ है, जो उक्त मुनीश्वर ने देवताओं की याचना से संतुष्ट हो के अपने देह का स्नेह छोड़ के दे दी थीं। इस आख्यान का यह अर्थ है कि संसार से विमुख ईश्वर और धर्म के लिये जीवन को उत्सर्ग कर देने वाले महात्माओं की हड्डियां (आहार विहार त्याग देने से रक्त मांस रहित शरीर) बज्र हैं, जो उन्हें तोड़ना चाहता है (सताने का उद्योग करता है) वुह आप अपने शस्त्रों (जीवन रक्षणोपयोगी उपायों तथा पदार्थों) का नाश करता है—'तुलसी

हाय गरीब की हरि ते सही न जाय'। पर जो उन हड्डियों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् धर्मानुरागियों को सेवा सुश्रूषा से इतना प्रसन्न रखता है कि वे प्रीति की उमंग में अपनी देह तक देने पर प्रस्तुत हो जायं वुह इंद्र के समान सौभाग्यशाली हो सकता है।

१३. जल और मदिरा के देवता बरुण का शस्त्र पाश है, अर्थात् जो जल की भंवर में पड़ जाता है अथवा मद्यपान की जल जिसके गले पड़ जाती है वह फांसी पर लटके हुए मनुष्य के समान जीवन के सुखों से निराश और काल सर्प का ग्रास हो जाता है।

१४. ब्रह्मा के चार मुख हैं, अर्थात् चारों वेद तथा उपवेद का तत्व, चारों वर्ग (अर्थ कर्म काम मोक्ष) के साधन का उपाय, चारों दिशा की सचराचर सृष्टि का वृत्तांत उन के मुख पर धरा रहता है। अर्थात् वर्णन करने के समय सोचना ही नहीं पड़ता या यों समझ लो कि चार बड़े बूढ़े चतुर लोगों का बचन ब्रह्मवाक्य के समान यथार्थ होता है, अतः 'सांचेहु ताको न होत भलौ कही मानत जो नहिं चारि जने की'। हमारी समझ में निरभिमानी, मिष्टभाषी और स्नेही हुए बिना ब्रह्मा जी के साथ साक्षात् सम्बन्ध कोई नहीं लाभ कर सकता।

१५. शेष जी अथवा विराट भगवान के सहस्र मुख हैं, अर्थात् जो परमेश्वर समस्त संसार के नाश हो जाने पर शेष (बाकी) रहता है, जो विविध विश्व का आधार औ यावत् सृष्टि का प्रकाशक सदा एकरस बिराजमान रहता है वह सहस्र अर्थात् सहस्रों शिरों का अधिष्ठाता है। सहस्रों शिर बनाता और उनमें से एक २ शिर में सहस्रों भाव उपजाता तथा अंत में धूल में मिलाता रहता है। सहसानन का शब्द पुरानकर्ता ही नहीं वरंच वेदवक्ता भी मानते हैं—'सहस्रशीर्षापुरुषः' इत्यादि। फिर जब किसी शब्दों (जिन में सैकड़ों उलट फेर के अर्थ निकल सकते हैं) के लिखने वालों के हाथ सहस्रशीर्षा से अधिक अभ्रांत पद नहीं लिख सके तो मूर्ति रचना (वा कल्पना) करने वाले (जिन का मनोभाव केवल अनुभव से जाना जाता है, शब्दों से नहीं) हजार मूड़ बना दें तो कौन सा अपराध करते हैं ? शेष जी की सांप की मूर्ति देख के बहुतेरे स्थूल बुद्धी हंस पड़ते हैं और कह देते हैं, 'भली परमात्मा को पोप जी ने क़द्रदानी की', पर बुद्धिमान समझ लेते हैं कि सब गुण और सब पदार्थ उसी के हैं, अतः चाहे जिस गुण रूप स्वभाव को

मानो, आत्मा के लिए कल्याण ही है। यदि सृष्टि को संहार कर के शेष रहने वाले को हमने, प्राणनाशकता के गुण का सादृश्य देख के, सर्प से उपमा दे दी तो क्या अनर्थ हुआ ? भयानक रूप के मानने वाले दुष्कर्मों से भयभीत एवं अपने विरोधियों से निर्भय रहते हैं। फिर ऐसे रूप की पूजा में क्या पाप है ? पर शेष जी तो भयंकर हैं भी नहीं, नहीं तो स्यामसुंदर चतुर्भुज रूप से अपनी प्यारी कमला समेत उन पर शयन क्योंकर करते। पर यह बातें कोई उन्हें क्योंकर समझा सकता है जिन का मत केवल परछिद्रान्वेषण (सो भी मोटी समझ के शास्त्रार्थ द्वारा) पर निर्भर है।

खंड ६, सं० ८, ९, १०, १२ (१५ मार्च, अप्रैल, मई, जुलाई ह० सं ६)
खंड ७, संख्या १, २ (१५ अगस्त, सितंबर, ह० सं० ६)

दो

दकार की दुरूहता हमारे पाठकों को भली भांति विदित है और यह शब्द उसी में और एक तुर्रा लगा के बनाया गया है। इससे हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह भी दुःख दुर्गुणादि का दरिया ही है। क्योंकि सभी जानते हैं—'नहिं विष बेलि अमिय फल फरहीं', पर इतना समझ लेने ही से कुछ न होगा। बुद्धिमान को चाहिए कि जिन बातों को बुरा समझे उन्हें यत्नपूर्वक छोड़ दे किन्तु यतः संसार की रीति है कि जब कोई जानी बूझी बात को भी चित्त से उतार देता है तो उसके हितैषियों को उचित होता है कि सावधान कर दें। इसी से हम भी अपना धर्म समझते हैं कि अपने यजमानों को यह दुर्गतिदायक शब्द स्मरण करा दें, क्योंकि 'ब्राह्मण' के उपदेश केवल हंस डालने के लिये नहीं है वरंच गांठ बांधने से अपना एवं अपने लोगों का हित साधने में सहारा देने के लिये हैं। फिर हम क्यों न कहें कि 'दो' पर ध्यान दो और उसे छोड़ दो। इस वाक्य से कहीं यह न समझ लेना कि वर्ष समाप्त होने में केवल तीन मास रह गए हैं इससे दक्षिणा के लिये बार २ दो २ (देव २ करते हैं। हां, इस विषय पर भी ध्यान दो और हमें ऋण हत्या से शीघ्र छुड़ा दो तो तुम्हारी भलमंसी है, पर हम यद्यपि अपना मांगते हैं, अपने पत्र का मूल्य मांगते हैं, तो भी पांच वर्ष में अनुभव कर चुके हैं कि देने वाले बिन मांगे ही भेज देते हैं और नादिहंद सहस्र बार मांगने, सैकड़ों चिट्ठी भेजने पर भी दोनों कान एवं दोनों आंख बन्द ही किए रहते हैं। इससे हमने इस दुष्ट 'दो' के अक्षर का बोलना ही व्यर्थ समझ लिया है। हां, जो दयावान हमारे इस प्रण के पूरा करने में सहायता देते हैं अर्थात् 'दो दो' कहने का अवसर नहीं देते उनको हम भी धन्यवाद देते हैं। पर इस लेख का तात्पर्य 'दो' शब्द का दुष्ट भाव दिखलाना और यथासाध्य छोड़ देने का अनुरोध करना मात्र है न कि कुछ मांगना जांचना। यदि तनिक भी इस ओर ध्यान दीजिएगा कि 'दो' क्या है तो अवश्य जान जाइएगा कि इसको मन वचन कर्म से त्याग देना ही ठीक है। क्योंकि यह हई ऐसा कि जिससे कहो उसी को बुरा लगे। कैसा ही गहिरा मित्र हो पर आवश्यकता से पीड़ित हो के उससे जाचना कर बैठो अर्थात् कहो कि कुछ (धन अथवा अन्य कोई पदार्थ) दो तो उसका मन

बिगड़ जायगा। यदि संकोची होगा तो दे देगा किन्तु हानि सह के अथवा कुछ दिन पीछे मित्रता का सम्बन्ध तोड़ देने का विचार करके। इसीसे अरब के बुद्धिमानों ने कहा है —अल् कर्ज मिकराजुल मुहब्बत। जो कपटी वा लोभी वा दुकानदार होगा तो एक २ के दो २ लेने के इरादे पर देगा सही पर यह समझ लेगा कि इनके पास इतनी भी विभूति नहीं है अथवा बड़े अपव्ययी हैं। यदि ऋण की रीति पर न मांग के यों ही इस शब्द का उच्चारण कर बैठो तो तुम तो क्या हो भगवान की भी लघुता हो चुकी है—'बलि पै मांगत ही भयो बावन तन करतार'। यदि दैवयोग से प्रत्यक्षतया ऐसा न हुवा तो भी अपनी आत्मा आप ही धिक्कारेगी, लज्जा कहेगी—'को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्'। यदि आप कहें, हम मांगेंगे नहीं, देंगे, अर्थात् मुख से दो दो कहेंगे नहीं किन्तु कानों से सुनेंगे, तो भी पास की पूंजी गंवा बैठने का डर है। उपदेश दीजिएगा तो भी अरुचिकर हुवा तो गालियां खाइएगा, मनोहर होगा तो यशःप्राप्ति के लालच दूसरे काम के न रहिएगा। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सक्ते हैं जिनसे सिद्ध होता है है कि 'दो' का कहना भा बुरा है, सुनना भी अच्छा नहीं। हमारी गवर्नमेंट सब बातों में परम प्रशंसनीय है पर इस बात में बदनाम है कि सदा यही कहा करती है, यह टिकट दो, यह लाइस्यन्स दो, इसका चन्दा दो, इसका महसूल दो। और हम यद्यपि डर के मारे देते हैं पर दिन २ दरिद्री अवश्य होते जाते हैं अथच यदि हमारे कोई २ भाई कहते हैं कि हमें भी यह अधिकार दो, वह आज्ञा दो, तो अनेक हाकिमों की रुष्टता के पात्र बनते हैं तथा अनेक एंगलोइंडियन पत्रों को सर्कार से ताने के साथ कहते हुए सुनते हैं और भी इन ढीठ काले आदमियों को विद्या दे, बुद्धि दे, बोलने दो। कहां तक कहें, यह 'दो' सबको अखरते हैं। चाहे जिस शब्द में 'दो' को जोड़ दो उसमें भी एक न एक बुराई ही निकलेगी। दोख (दोष) कैसी बुरी बात है। जिसमें सचमुच हो उसके गुणों में बट्टा लगा दे, जिस पर झूठमूठ आरोपित किया जाय उसकी शांति भंग कर दे। दोज़ख (नर्क अथवा पेट) कैसा बुरा स्थान है जिससे सभी मतवादी डरते हैं, कैसा वाहियात अंग है जिसकी पूर्ति के लिये सभी कर्तव्याकर्तव्य करने पड़ते हैं। 'दोत्' कैसा तुच्छ संबोधन है जिसे मनुष्य क्या कुत्ते भी नहीं सुनना चाहते। दोपहर कैसी तीक्ष्ण बेला है कि ग्रीष्म तो ग्रीष्म शीत ऋतु में भी सुख से कोई काम नहीं करने देती। दोहर कैसा बेकाम कपड़ा है कि दाम तो दूने लगें पर जाड़े में जाड़ा न खो सके, गरमी में सह्य न हो सके। हां, दोहा एक छन्द है जिसे कवि

लोग बहुधा आदर देते हैं, सो भी जब उसमें से दो की शक्ति हनन कर लेते हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जहां दो होंगे वहां उनका भाव भंग ही कर डालना श्रेयस्कर होगा। इसीसे ईश्वर ने हमारे शरीर में जो २ अवयव दो दो बनाये हैं उनका रूप गुण कार्य एक कर दिया है। यदि कभी इस नियम में छुटाई बड़ाई इत्यादि के कारण कुछ भी त्रुटि हो जाती है तो सारी देह दोषपूर्ण हो जाती है। हाथ पांव आंख कान इत्यादि यदि सब प्रकार एक से हों तभी सुविधा होती है। जहां कुछ भी भेद हुआ और दो का भाव बन रहा वहीं बुराई होती है। इससे सिद्ध है कि नेचर हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से उपदेश दे रहा है कि जहां दो हों वहीं दोनों को एक करो, तभी सुख पावोगे। ऋषियों ने भी इसी बात की पुष्टि के लिए अनेक शिक्षाएं दी हैं। स्त्री का नाम अर्द्धांगी इसीलिये रक्खा है कि स्त्री और पुरुष परस्पर दो भाव रक्खेंगे तो संसार से सुख का अदर्शन हो जायगा। इनकी रुचि और उनकी और, उनके विचार और इनके और होने से गृहस्थी का खेल ही मट्टी हो जाता है—'खसम जो पूजै ग्रोहरा, भूत पूजनी जोय। एकै घर में दो मता कुशल कहां ते होय।' इससे इन दोनों को परस्पर यही समझना चाहिये कि हमारा अंग इसके बिना आधा है। अर्थात् इसकी अनुमति बिना हमें कोई काम करने के लिये अपने तईं अक्षम समझना उचित है। प्रेम सिद्धांत भी यही सिखाता है कि सीताराम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, माता पिता आदि पूज्य मूर्तियों को दो समझना अर्थात् यह विचारना कि यह और हैं वह और हैं, इनका महत्व उनसे कुछ न्यूनाधिक है, महापाप है। फारसी में दोस्त का शब्द भी यही द्योतन करता है कि दो का एक हो रहना ही सार्थकता है। नहीं तो 'दो' बहुबचन है, उसके साथ स्त=अस्त क्रिया न होनी चाहिये थी। व्याकरण के अनुसार स्तन्द=अस्तन्द वा हस्तन्द होना चाहिए। पर नहीं, बहुवचन की क्रिया होने से द्वैतभाव प्रकाश होता इससे यही उचित ठहरा कि शरीर दो हों तो भी मन बचन कर्म एक होना चाहिए। इसीसे कल्याण है। नहीं तो जहां दो है वहीं अनर्थ हैं। संसार को हमारे पूर्वजों ने दुःखमय माना है—'संसारे रे मनुष्या बदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्'। इसका कारण यही लिखा है कि इसका अस्तित्व द्वन्द पर निर्भर है। अर्थात् मरना और जन्म लेना जब तक रहता है तब तक शांति नहीं होने पाती। इससे यत्नपूर्वक इन दोनों (जन्म मरण) से छूट जाय तभी सदा सुखी अर्थात् मुक्त होता है। हमारे प्रेमशास्त्र में भी यही उपदेश है कि इस द्वन्द (मरण जीवन) में से एक का दृढ़ निश्चय कर ले वही निर्द्वंद अर्थात् जीवनमुक्त

होता है। या तो प्रेम समुद्र में डूब के मर जाय अर्थात् सुख दुख, हानि लाभ निन्दा स्तुति, स्वर्ग नर्कादि की इच्छा, चिन्ता, भय इत्यादि से मृतक की नाईं सरोकार न रक्खे, या प्रेमामृत पान करके अमर हो रहे। अर्थात् दुःख, शोक, मरण, नर्कादि को समझ ले कि हमारा कुछ कर ही नहीं सकते। बस इसी से सब लोक परलोक के झगड़े खतम हैं। यदि इन शास्त्रों के बड़े २ सिद्धान्तों में बुद्धि न दौड़े तो दुनियां में देख लीजिये कि जितनी बातें दो हैं अर्थात एक दूसरी से सर्वथा असम्बद्ध हैं उनमें से एक रह जाय तो कभी किसी को दुख न हो। या तो सदा सुख ही सुख हो तो जी न ऊबे या सदा दुख ही दुख बना रहे तो न अखरे—'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना'। सदा लाभ ही लाभ होता रहे तो क्या ही कहना है। नोचेत् सदा हानि ही हानि हो तो भी चिंता नहीं। आखिर कहां तक होगी? इसी प्रकार संयोग वियोग, स्तुति निन्दा, स्वतंत्रता परतंत्रता इत्यादि सबमें समझ लीजिये तो समझ जाइएगा कि दो होना ही कष्ट का मूल है। उनमें से एक का अभाव हो तो आनन्द है अथवा जैसे बने वैसे दोनों को एक कर डालने में आनन्द है। भारत का इतिहास भी यही सिखलाता है कि कौरव पांडव दो हो गये अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध हो गये इसीसे यहा की विद्या, वीरता, धन, बल सब में घुन लग गया। यदि एक हो रहते तो सारा महाभारत इति श्री था। अंत में पृथिवीराज जयचन्द दो हो गए इससे रहा सहा सभी कुछ स्वाहा हो गया। यदि अब भी जहां २ दो देखिये वहां २ सच्चे जी से एक बनाने का प्रयत्न करते रहिये तो दो के साथ ही सारे दोष, दुर्भाव, दुख दूर हो जायंगे। नहीं तो दो जो कुछ है सो हम दिखला ही चुके। इनसे जो कुछ होता है सो यदि समझ में आ गया हो तो आज ही से अपने कर्तव्य पर ध्यान दो नहीं तो इस दोताकिटकिट को जाने दो।

खं० ६, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ६)

अब बातों का काम नहीं है

हिन्दी ही अक्षर सब अक्षरों से सहज और शुद्ध है। हिन्दी ही भाषा सब भाषाओं से उत्तम है। विशेषतः हिन्दुओं का सच्चा गौरव, सच्चा लौकिक पारलौकिक सुख सौभाग्य इसी पर निर्भर है। इन बातों को हम और हमारे सहयोगी गण एक बार नहीं सौ बार सिद्ध कर चुके हैं इससे बार २ लिखना पढ़ना व्यर्थ है। यदि किसी को इसके विरुद्ध हठ हो तो आवै हम शास्त्रार्थ के लिये कटिबद्ध हैं। पर इन बातों से क्या ? यह तो छोटे २ बच्चे भी जानते हैं कि सब देश के मनुष्यों ही की नहीं वरंच जीव जन्तुओं की भी एक स्वतंत्र बोली होती है और सबको अपनी बोली से ममता भी होती है। सुग्गा मैना पेट के लिये मनुष्यों की सी बोली सीख लेते हैं पर अपने सजातियों में तथा विजातियों में भी अपना आंतरिक भाव प्रकाश करने के लिये अपनी ही बोली का अवलंबन करते हैं। खेद है यदि खुशामदी, स्वार्थतत्पर, हृदयशून्य हिंदू चिड़ियों से भी बह जायं। अन्याय है यदि गवर्नमेंट ऐसे बज्र मूर्खों पर भी दया न करे जो डर और खुशामद के मारे अपनी मातृभाषा के गले पर छुरी फिरते देख के भी कुछ न टसक सकें। हे हिंदुओं! हम जानते हैं कि तुम्हें अपनी भाषा का रत्ती भर मोह नहीं है, नहीं तो 'सारसुधानिधि' एवं 'भारतेंदु' आदिक उत्तमोत्तम पत्र बन्द न हो जाते। हिन्दी का एकमात्र दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' तथा सुलेखमय सच्चे रत्नों का एक मात्र भंडार 'हरिश्चंद्र कला' इस दशा में न होती कि केवल अपने स्वामी ही के धन से चले। पर इन बातों का भी इतना शोच नहीं है। अभी तक आशा थी कि आज नहीं तो दश वर्ष में तुम्हें बोध होगा, तब नागरी देवी की महिमा जानोगे और इसके लिये तन मन धन निछावर करने में अपनी प्रतिष्ठा समझोगे। किंतु अब हमारी आशा के गले पर छुरी रख दी गई है। इससे हमें अनुभव हो रहा है कि दस ही बीस वर्ष में तुम्हारी भाषा का नाम न रहेगा और तुम्हारे सर्वनाश का अंकुर दिखाई देने लगेगा। इससे मानो चाहे न मानो पर हम चिता देना धर्म समझते हैं कि यदि अपने संतान का कुछ मोह हो, अपनी जाति का कुछ भी चिह्न बनाये रखना चाहते हो तो शीघ्र इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की कुमंत्रणा के रोकने का उपाय करो। नहीं तो याद रक्खो कि जहां वर्तमान काल के बृद्ध और युवक मरे वहीं हिंदी स्थान में हिन्दूपन की गंधि भी

न रह जायगी। कई पत्रों से विदित हुआ है कि वहां की यूनिवर्सिटी ने हिंदी को सातवीं क्लास तक में नहीं रक्खा। इस घोर अत्याचार का इसके अतिरिक्त और क्या मनसा हो सक्ती है कि संस्कृत कठिन है, उसे अपने बच्चों को पढ़ावेगा कौन, अरबी हिन्दुओं के है किस काम की ? झख मारेंगे, फारसी पढ़ावेंगे। एक तो अंग्रेजी ही बिदेशी भाषा है, बहुत सहज में आ जाती है, उसके साथ एक और विदेशी भाषा फारसी ठूंस दी गई, जिससे लड़कपन ही से परिश्रम के मारे दिमाग कमजोर हो जाय, बुद्धि उकसने न पावै, दिन रात दूनी चिंता सिर पर सवार रहे, आंखों की ज्योति और देह का बल जन्म भर क्षीण ही बना रहे, ऊपर से अपने धर्म कर्म आचार व्यवहार का दमड़ी भर ज्ञान न होने पावे, रंजे पुंजे घर के हों तो जन्म भर इश्क के बन्दे बने रहें, नहीं तो पेट की गुलामी करते २ मर मिटें, देश जाति राजा प्रजादि से कुछ सबंध न रहे, बस। यह पढ़ाई का फल है ! यह विश्वविद्यालय की करतूत है ! इसके लिये हम उसके प्रबन्धकर्त्ताओं को दोष नहीं दे सक्ते, क्योंकि सर सैयद अहमद को हिन्दुओं की पीर तभी तक थी जब तक अलीगढ़ कालेज के लिये चन्दा उघाना था। पंडित लक्ष्मीशंकर की स्वभाषा, निज जाति और अपने देश की ओर जो कुछ ममता है वह उनकी काशी पत्रिका ही से प्रत्यक्ष है और वहां अपना बैठा ही कौन है ? हिन्दू और हिन्दूपन का जिसे कुछ मोह हो उसी से इस विषय की आशा कर सक्ते हैं। उसीको इसके लिये उत्तेजना दे सक्ते हैं और कुछ सिद्धि न हो तो उसीसे शिकायत कर सक्ते हैं। सो वहां एक भी नहीं। अकेले पंडित आदित्यराम हैं सो उनकी कोई सुनता नहीं। बस चलो छुट्टी हुई। हां, जिन्हें अपने प्यारे बालकों की भलाई बुराई की ओर ध्यान तथा निजत्व का ज्ञान हो उन्हें चाहिये कि उक्त विद्यालय की मंत्री सभा के भरोसे पर न भूलें, अपने हिताहित को आप बिचारें और शीघ्र वहां हिन्दी के पुनरस्थापन का प्रयत्न करें। इस विषय में प्रयाग हिंदू समाज चाहती है कि समस्त आर्य सभा, धर्म सभा तथा अन्यान्य सभायें एवं देश के शुभचिन्तक गण अपने २ नगर में इसका आन्दोलन करें और गवर्नमेंट को प्रार्थना पत्र भेजें अथवा किसी स्थान पर नगर नगरोत्तर के प्रतिनिधि एकत्रित होके बृहत् सभा के द्वारा राजा और प्रजा से विनती करें और भली भांति समझावें कि हिन्दी के बिना हिन्दुओं के सर्वनाश की संभावना है। पर हम कहते हैं, अब बातों का काम नहीं है। जब घर में आग लगे तब बहुत सोच विचार करना ठीक नहीं। शीघ्र पानी लेके दौड़ना ही श्रेयस्कर है। सभा वा मेमोरियल जो कुछ करना हो शीघ्र कीजिये, शीघ्र हिन्दू समाज

के मंत्री मुंशी काशीप्रसाद को अपनी २ सम्मति दीजिए और संमति ही नहीं तन मन धन से साथ दीजिए। तथा यह भी समझे रहिये कि गवर्नमेंट केवल मेमोरियल से न पसीजेगी। कचहरियों में हिन्दी जारी कराने के लिए, ऊंची क्लासों में हिन्दी पढ़ाने के लिए, हिन्दी में मिडिल पास करने वालों को सरकारी नौकरी से वंचित न रखने के लिये मेमोरियल भेज के तथा बड़े २ प्रमाण दे के देख लिया गया है कि सरकार कुछ ध्यान नहीं देती, जान बूझ के भी न जाने क्यों हिन्दू प्रजा का दुख सुख नहीं सुनती, इससे हमें दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि जब तक कार्यसिद्धि न होगी तब तक कभी चुप न होंगे। एक बार सुनवाई न होगी तो सौ बार, सहस्र बार निवेदन करेंगे। प्रार्थनापत्रों के मारे इस खंड के चीफ तथा प्राइवेट सेक्रेटरी महाशयों के महल भर देंगे। द्वार पर प्रार्थकों की भीड़ तथा मेमोरियलों का ढेर इतना लगाये रहेंगे कि निकलने पैठने को राह न रहे। इधर नगर २ गांव २ में रोवेंगे, भीख मांगेंगे और अपनी मातृ भाषा की धूम मचाये रहेंगे। हिन्दूमात्र को समझावेंगे कि लड़के पास हों चाहे न हों पर हिन्दी अवश्य पढ़ाओ। तभी कुछ होगा। तभी एक बड़ा समुदाय एवं गवर्नमेंट स्वयं हमारी सहायक हो के मनोरथ पूर्ण करेगी। पर जिन्हें हिन्दी की कुछ भी कलक हो उन्हें—'कालिह करंते आज कर, आज करंते अब्ब' और—'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजंति'—इन दो बचनों को गांठ बांध के, मजबूती से सेतुआ कमर बांध के पीछे पड़ जाना चाहिये। क्योंकि अब तो बातों का काम नहीं है, काम में जुट जाने का काम है। हो सके तो हिन्दी की रक्षा के लिए उद्यत हो जाइए नहीं तो हिन्दूपन का नाम न लीजिए। आखिर एक दिन मिटना है, आज ही सही।

खं० ६, सं० १० (१५ मई ह० सं० ६)

अष्ट कपारी दारिद्री जहां जायं तहं सिद्धि

यह कहावत हमारे यहां बहुत दिन से प्रसिद्ध है और ऐसी प्रसिद्ध है कि लड़के, बूढ़े, पढ़े, अनपढ़, स्त्री, पुरुष सभी जानते हैं। पर खेद है कि देश के अभाग्य ने जहां सब उत्तम बातों का मूल नाश कर दिया है वहां ऐसे २ उपर्युक्त उपदेशों पर ध्यान देने को बुद्धि भी खो दी है। नहीं तो इस कहतूत में (जिसे लोग बहुधा दूसरे का उपहास करने में प्रयुक्त करते हैं) ऐसी अच्छी शिक्षा है कि संसार का कोई काम इस पर चलने से कभी रुक ही नहीं सक्ता और किसी व्यवहारिक वस्तु के अभाव से उत्पन्न कष्ट की संभावना ही नहीं रहती। इस प्रकार की लोकोक्तियां बड़े २ बुद्धिमानों के अनुभूत सिद्धांत हैं पर उन में से बहुत सी प्राचीन इतिहासों के मूल पर बनी हैं, जैसे—'घर का भेदिया लंकादाह', और बहुतेरी अलंकारिक रीति पर वर्णित हैं, यथा—'जो गुड़ खाय सो कान छिदावे'। इस से उनके अक्षरार्थ मात्र से गूढ़ार्थ समझना कठिन होता है, अतः यदि सर्वसाधारण लोग उनका अनुसरण न कर सकें तो कोई आक्षेप का विषय नहीं है। उनके लिये हमें अपनी तथा अपने सहयोगियों की लेखनी से उलहना है जो स्वयं समझती है और दूसरों को समझा सक्ती है किंतु समझाने को ओर ध्यान न दे के देश की आंतरिक दशा सुधारने में बहुत से विघ्न बने रहने देती है। पर ऐसे २ मसलों पर ध्यान न देने के लिये हम देशी मात्र पर दोष लगावैंगे जिनका समझना कुछ कठिन नहीं है। केवल अक्षरों से अर्थ निकल आता है और बर्ताव में लाने से अपना तथा पराया भी बहुत सा हित हो सक्ता है। फिर भी लोग जान बूझ के हाथ पर रक्खे हुए अमूल्य वाक्य रत्नों का तिरस्कार करते हैं। उपर्युक्त उपाख्यान ऐसा ही है जिस को सब लोग सहज में समझ जाते हैं पर ध्यान न दे के अनेक ठौर अनेक हानि सहते हैं। कौन नहीं जानता कि अष्ट कपारी उस मनुष्य को कहते हैं जो बेकाम बैठना कभी न पसंद करता हो और कैसा ही उलटा सीधा, छोटा मोटा, सहज कठिन हो, समझे बिन समझे, निर्भय निस्संकोच निर्लज्ज भाव से मुड़ियाय लेता हो। अपनी बुद्धि तथा बल से न हो सके तो चाहै जिस श्रेणी के मनुष्य से सहायता मिलती हो उस से मित्र बन के, चेला बन के, धन दे के, सेवा कर के, प्राप्त करने में न चूकता हो। तथा दरिद्री एक तो

वह व्यक्ति कहलाता है जिस के पास धन न हो, दूसरे उस को कहते हैं जो यह सिद्धांत रखता हो कि जहां तक बस चले वहां तक, 'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय'। घर की कोई तुच्छ से तुच्छ वस्तु वृथा न जाने दे और बाहर की सड़ी से सड़ी चीज यदि मांगे जांचे, छल कपट किये सेंत में मिले तो क्या ही बात है, नहीं कुछ स्वल्प मूल्य पर भी प्राप्त होती हो तो छोड़े नहीं। वास्तव में यह दोनों गुण (अष्टकपारीपन और दरिद्रीपन) ऐसे हैं कि ग्रहण करने में कुछ कठिनाई नहीं है और काम बड़े २ निकलते हैं। और यदि विचार के देखिये तो यह गुण ईश्वर को भी इतने प्रिय हैं कि वह त्रैलोक्य का स्वामी होने पर भी, लक्ष्मीपति होने पर भी, पूर्णकाम होने पर भी, दीन-बन्धु कहलाता है तथा कोई निज का काम न रहने पर भी सारे संसार के सृष्टि स्थिति संहारात्मक बखेड़े मुड़ियाये रहता है। वरंच पुराणों का तत्व समझिये तो जान जाइयेगा कि वेदोद्धार, दैत्यसंहार एवं प्रेमलीला बिस्तार के लिये मत्स्य, कच्छप, वरंच शूकर बनने तथा भिक्षा मांगने (वामनावतार) तक में बन्द नहीं है। इसके अतिरिक्त जितने लोग जिस २ बात में बढ़े हैं उन्हों ने अपनी बढ़ती के पहिले इन्हीं दो गुणों में से एक अथवा दोनों को ग्रहण किया था। ऐसे उदादरण सब देशों के इतिहास में बहुतायत से मिल सक्ते हैं कि अष्टकपारिता ही के कारण अनेक लोगों ने नीच दशा से उत्थान किया है। जो लोग इतिहासवेत्ता नहीं हैं उन्होंने भी बहुधा देखा अथवा विश्वासपात्रों से सुना होगा कि फलाने के घर में भून चबान का टीक न था, टूटी लुटिया और सत्तर गांठ की डोर बांध के विदेश गये थे, वहां से चार छः दस वर्ष में इस दशा को प्राप्त हो आये। यदि पता लगाओ तो परदेश में उन्होंने कृषि, बाणिज्य, शिल्प, सेवादि कामों के करने में किसी तरह की कसर न उठा रक्खी होगी, इससे इतनी समुन्नति लाभ की। हम नहीं जानते कि ऐसे के सैकड़ों प्रत्यक्ष ,अनुमान, उपमान, शाब्दप्रमाण विद्यमान होने पर भी हमारे देशभाई इधर क्यों ध्यान नहीं देते ? घर में थोड़ा सा खाने भर का सुभीता हुआ तो परदेश जा के उद्योग करने में मानहानि है। थोड़ी सी विद्या सीख ली तो दस पांच की नौकरी करने में बबुआई बिगड़ती है। चार पुरवा की जमींदारी हुई तो हजार पांच सौ रुपये से कोई वस्तु बेचना खरीदना नौभरी है। थोड़ी सी प्रतिष्ठा मिल गई तो मोटा कपड़ा पहिनने से नाक कटती है। अपने हाथ से अंगरखे में बंद लगा लेने से जात जाती है। किसी सामर्थ्यवान से सहायता लेने में साख घटती है। यह क्यों ?

क्रमवर्त्ती ! अभाग्य ! बिगड़ने के लक्षण ! नहीं तो बड़े २ सम्राट भी जब दूसरे देश पर अधिकार किया चाहते हैं तो जा के चढ़ाई ही नहीं कर देते अथवा राज परिकर ही से साम दाम नहीं करते । एक दो बार हारने पर जन्म भर लाज के मारे मुंह न दिखाने का शपथ नहीं खा बैठते । पर हमारे शेखीदार लज्जावान भाई थोड़ी सी बसुधा पर फूल के—'बांधे मरैं कि टंका बिकांय' का उदारण बन बैठते हैं । इसी के मारे अनेकों घर तबाह हो गये पर किसी को कुछ परवा ही नहीं है । वही जब शिर पर आ पड़ती है तब सब कुछ करना पड़ता है, पर पहिले से 'सर्व संग्रह कर्तव्य कः काले फलदायकः' की तमीज ही नहीं । यद्यपि सैकड़ों वर्ष से दरिद्र देवता डेरा डाले हुए हैं, लाख को खाक कर चुके हैं और खाक को भी उड़ाने पर कटि-बद्ध हैं, इससे जान पड़ता है कि यदि यही दशा रही तो सौ दो सौ वर्ष में सर्वस्वाहा की ठहर जायगी, तब स्वयं सबकी आंखैं खुलेंगी और हिताहित का मार्ग सूझेगा । क्योंकि दरिद्र की पराकाष्ठा में समझ बढ़ती है—Necessity is the mother of invention प्रसिद्ध है । 'सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखम्' हमारे महर्षियों का अनुभूत वाक्य है । पर यदि अभी से दूरदर्शिता से काम ले के अष्टकपारित्व और दरिद्रित्व का महत्व समझ रक्खा जाय तो आश्चर्य नहीं कि ईश्वर की दया से वह दिन ही न देखना पड़े । इसी आशा पर अगले लोग कह गये हैं और हम भी स्मरण दिलाये देते हैं कि 'अग्रशोची सदा सुखी' रहता है । अतः 'अष्टकपारी दारिद्री जहां जायं तहां सिद्धि' के मर्म को समझिये, ध्यान दीजिये और आचरण कीजिये तो कुछ दिन में देखियेगा कि सारे दुःख दरिद्र आप से आप दूर हो जायंगे ।

खं० ६, सं० १० (१५ मई ह० सं० ६)

रथयात्रा

हमारे यहां प्रायः सभी बड़े २ नगरों में वैदिक और जैन लोग प्रति वर्ष नियत तिथियों पर श्री ठाकुर जी का रथ यथासामर्थ्य बड़ी धूमधाम से निकाला करते हैं। यह रीति कब से प्रचलित है इसका ठीक पता कोई नहीं लगा सक्ता सिवा इसके कि यह कह दें, बहुत पुरानी रीति है। देशी इतिहास-लेखक जो सृष्टि का आरंभ अनुमान छः सहस्र वर्ष से समझते हैं वे ही ऐसी२ बातों के खोज में लगे रहैं कि सुवर्ण पहिले २ कब निकला, क्योंकर निकला, किसने निकाला; शस्त्र पहिले पहिल किसने, किस प्रकार, क्योंकर, कब बनाये, इत्यादि, पर हमें इन बातों के खोज की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम तो इसके मानने से इनकार नहीं कर सकते वरंच कोई वाद करने पर प्रस्तुत हो तो समझा सक्ते हैं कि जब से अनादि ईश्वर का अस्तित्व है तभी से उसके सृजन, पालन, प्रलयादि काम भी हैं। नहीं तो हमारी आस्तिकता में यह बड़ा भारी दोष आ लगेगा कि अमुक समय पर नित्यैकरस परमात्मा की अमुक सामर्थ्य न थे। इसी प्रकार हमारा इतिहास इस बात की कल्पना का मुहताज नहीं है कि सबसे पहिले (यद्यपि समुद्र की लहरों की भांति सबसे पहिले कहना असंगत है किंतु मोटी भाषा में कह लेते हैं) भारत में आर्यों के अतिरिक्त और कोई जाति बसती थी वा किसी उपयोगी पदार्थ के व्यवहार में हमारे पूर्वज अक्षम थे। हां, समय के साथ २ लोगों की चाल ढाल, वस्तुओं के रूप रंगादि में परिवर्तन सदा, सब कहीं होता रहता है, पर यह असम्भव है कि कोई सभ्य देश, जिसे भोजनाच्छादन के लिये दूसरों का मुंह न देखना पड़ता हो, अपने निर्वाह के लिये दूसरों की बोली सीखना अत्यावश्यक न हो वह अपने व्यवहार योग्य समयोपयोगी वस्तु अथवा नियम न बना सक्ता हो। इस न्याय के अनुसार यदि कोई पूछे कि रथयात्रा की रीति कब से है तो हम छूटते ही उत्तर देंगे कि सदा से। अर्थात् जब से यहां आर्य जाति का राज्य है तब से। नियत समयों पर प्रजा को दर्शन द्वारा प्रमुदित करने के लिये, संसार को अपना वैभव दिखाने के लिये, राज्य की पर्यालोचना करने के लिये अथवा शत्रुओं का दमन करने के लिये राजा, महाराजा अथवा रामचन्द्रादि दिव्यावतार ऐश्वर्य प्रदर्शन के अवयवों समेत रथ पर चढ़ के विचरण किया करते थे, जिसका अनुसरण जब कि अपने यहां की बातों से ममता हो, घर की भलाई में बुराई ढूंढ़ने का दुर्व्यसन न हो, अच्छे उपदेश, जहां से, जिस

प्रकार मिलें, ढूंढ़ निकालने में रुचि हो और मनोमंदिर कुतर्कों की नृत्यभूमि न बन गया हो तो सुनिए।

१. काली और कृष्ण दोनों एक ही हैं। जो राधा जी के वनमाली हैं वही अयन घोष की रण काली हैं। पल भर में मदनमनोहर मुरलीधर रण-रंगिनी हो जाते हैं तथा पल ही भर में दैत्यसंहारिणी वृन्दावनविहारी बन जाती हैं। अतः वैष्णवों और शाक्तों का भेदबुद्धि से आपस में झगड़ना ऐसा है जैसा दो सहोदर लड़ें और वह उसके बाप को गाली दे, वह उसके पिता को कुवाच्य कहे।

२. अप्रतर्क्य परमेश्वर परम सुंदर भी है, महा भयंकर भी है। मनोमुकुर में अपनी मनोवृत्ति का जैसा मुंह बना के देखोगे वैसा ही देख पड़ेगा। जैसे को हरि तैसा है। फूंक २ पांव धरने वाले आचारी भी उसी के हैं, उनका भरण पोषण और उद्धार उसी के हाथ है तथा स्वतंत्राचारी पंचमकारी भी उसी के हैं।

३. राधा और कृष्ण एक हैं। अभी मान के समय उनके चरणों पर वे मुकुट रखते थे, अभी काली स्वरूप में उनकी चरण बन्दना वे कर रही हैं। इससे इनके उपासकों को सीखना चाहिये कि जो प्रतिष्ठा, जो अधिकार, जो गौरव, पुरुषों का है वही स्त्रियों का भी है।

४. अयन घोष खंग खींचे हुए, शिरच्छेदन करने आया था पर आते ही पानी हो गया। क्यों? कहीं सच्चे, निर्दोष, निर्मम, प्रेमाराधकों पर तलवार चल सक्ती है? हां इतना बहुत है कि शत्रु अपना पौरुष दिखला लें पर वास्तव में कर कुछ नहीं सक्ते। या यों कहो, 'ज्ञानी मूढ़ न कोय। जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहिं छिन होय।' तलवार दिखाने वालों से पल भर में दंडवत कराना और महा-हीन दीनों को खंगधारण के योग्य बना देना सर्वशक्तिमान के बायें हाथ का खेल है, क्योंकि वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' है।

यदि इसे कथा न समझ के कवियों की कल्पना मात्र मानिये तौ भी

५. प्रेमदेव श्रीकृष्ण हैं और प्रेमिक की मनोवृत्ति राधा जी हैं, जो निर्विघ्न स्थान पाते ही अपने प्यारे के जीवित संबन्ध में निमग्न हो जाती हैं और संसार अयन घोष है जो नहीं चाहता कि मेरा सानिध्य छोड़ के कोई दूसरी ओर जाय। इससे ऐसे लोगों के बिनाशार्थ नाना भांति के कष्ट एवं अभाव रूपी शस्त्र ले के दौड़ता है। पर क्या प्रेमिक इससे भयातुर होकर अपने प्रेमाराधन से विमुख हो जाते हैं? नहीं, वे देखते है कि संसार के खंग

से हमारे प्रेमाधार की तलवार अधिक तीक्ष्ण है और संसार स्वयं यह देख के लज्जित एवं विस्मित हो जाता है कि यह जिसका आश्रित है उसी का आश्रित मैं भी हूं, फिर भला इसका मैं क्या कर सकूंगा।

६. धर्म श्री कृष्ण हैं और उत्साही पुरुष का मनसा राधा है। जब उत्साही पुरुष धर्म में संलग्न होता है तब सांसारिक प्रलोभन शस्त्र धारण कर के उसे च्युत करने के विचार से भय और लालच दिखलाता हुआ आता है। पर धार्मिक पुरुष जब विचार के देखता है तो निश्चय कर लेता है कि मेरे अनुष्ठान में जितने आनन्द हैं उनके आगे इतर आमोद प्रमोद सब तुच्छ हैं एवं दूसरे मार्ग का अवलंबन किये बिना जो भय दिखाई देते हैं वे वास्तव में कुछ नहीं हैं, केवल हमारी परीक्षा के लिये धुवां के धौरहर मात्र हैं। इनसे डर जाना वा ललचा उठना आगे के लिये वंचित रहना है। बस, यह सोचते ही समस्त प्रलोभन अदृश्य हो जाते हैं और निर्विघ्न धर्मानन्द रह जाता है। वरंच विघ्नकारक लोग वा पदार्थ स्वयं उसे योग देते हैं, जैसे अंत में घोष स्वयं काली पूजा में सम्मिलित हुआ था।

७. कांग्रेस श्री कृष्ण है और प्रजा हितैषी देशभक्तों की जनता श्री राधा है अथच विरोधियों का दल अयन घोष है, जो देखता है कि इस संयोग में हमारे लिये कुयोग है। न ठकुरसुहाती कह के मनमानी पदवी पाने का योग है न अपनी इच्छा ही को शासन प्रणाली का मूल मंत्र बना के काले कलूटे मूर्ख गुलामों पर स्वेच्छाचारिता का ढंग जमाने का सुयोग है। धीरे २ सबकी आखें खुलती जाती हैं। सब अपना स्वत्व पहिचानते जाते हैं। सड़ी २ बातों की पुकार सात समुद्र पार पहुंच रही है। तो घोष महाशय रोषपूर्ण हो के बाणी कृपाण धारण करते हैं और चाहते हैं कि कृष्ण का शिर उड़ा दें। फिर तो राधा हमारी हई हैं। पर राधाजी देखती हैं कि न्याय के आगे स्वेच्छाचार, देशभक्ति के आगे स्वार्थपरता, महारानी के प्रबल प्रताप के सन्मुख हमारा दुःख क्लेश निरा निर्मूल है, इससे धैर्य के साथ अपने इष्ट साधन में लगे रहना चाहिये। यदि घोष की बुद्धि हो तो देख सक्ता है कि जिस महाशक्ति (विक्टोरिया) का आश्रय मुझे है उसी का सहारा इन्हें भी है। जो मेरी सुखादातृ दुःखहर्तृ है वही इसकी भी है। तो क्या ही कहना है, दोनों ओर आनन्द है। नोचेत् बुद्धि का भ्रम है। जगदम्बा एक की नहीं है। काले, गोरे, बुरे, भले, निर्धन, धनी सभी उसी की प्रजा हैं।

खं० ६, सं० ११ (१५ जून ह० सं० ६)

पंच परमेश्वर

पंचतत्व से परमेश्वर सृष्टि रचना करते हैं, पंच संप्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है, पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है, पंच वर्ष तक के बालकों का परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्या-कर्तव्य की ओर ध्यान न दे के सदा सब प्रकार रक्षा किया करते हैं, पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। पंचबाण (काम) को जगत जीतने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े बड़ों का जी ललचाने का परमेश्वर ने सामर्थ्य दे रक्खा है। धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पतिव्रतात्मा (पाकपंजतन) इत्यादि का गौरव देख के विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ संबन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीति विदांबर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है जिसमें सर्वसाधारण संसारी व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पंच अर्थात् अनेक जन समुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा दिखाई देता है न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा है पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि जिस बात को पंच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से 'पांच पंच मिल कीजै काज, हारे जीते होय न लाज', 'बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो, ज़बाने खल्क को नक्कारए खुदा समझो'—इत्यादि बचन पढ़े लिखों के, और—'पांच पंच कै भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर कै कै को तिष्ठा है'—इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुंह से बात २ पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिये तो इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि—'जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय' की भांति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान हों पर यदि पंच की मरजी के खिलाफ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिये, पर संसार से आपका वा आप से संसार का कोई काम निकलना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। हां, सब झगड़े छोड़ के

विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर उस दशा में भी पंचभूतमय देह एवं पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं है। क्योंकि पंच जो कुछ करते हैं उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है। और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है। बरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते! सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावैं, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्‌गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान, प्रीतिमान बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहां जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात में सब के करम फूट गए। चाहे जहां का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहां के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नत्यावनति का मूल कारण होता है।

जब जहां के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना (चाहे अति श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो पर) अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं, पर कब? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं तभी! पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिन भर नहीं बैठने पाते क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दंड भोग किए बिना किसी का बचाव नहीं। इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं। सो भी किसी ऐसे नए काम की नींव डालने को जिसका बहुत दिन आगे पीछे लाखों लोगों को शान गुमान भी नहीं होता। अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है। वे अपने बैकुंठ, कैलाश, गोलोक, होविन, बहिश्त कहीं से आ जाते होंगे। हमें उनसे क्या। हम संसारियों के लिए तो

यही सर्वोपरि सुख साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तौ भी उन्हीं का अनुगमन करें तो देखेंगे कि दुख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है, जैसा कि अगले लोग कह गए हैं कि—'पंचों शामिल मर गया जसे गया बरात', 'मर्गे अम्बोह जशनेदारद'। जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती व्यवहारी, इष्ट मित्र, अड़ोसी पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुंह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर ने दया की। क्योंकि परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसा बरंच यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूंजी में से एक भाग छीन लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके लिए जाने से मरना अधिक प्रिय न होगा! फिर इसमें क्या सन्देह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं पर शक्ति एक ही रखते हैं। जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उसकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है। जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही लो वुह कैसा ही अच्छा क्यों न हो पर इसमें मीन मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला बैकुंठ में क्या सुख देखेगा। इसी से कहा है—'जियत हंसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज'। क्या कोई सकल सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख सामग्री संयुक्त सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रह के सुख से कुछ काल रह सकता है? ऐसी २ बातों को देख सुन, सोच समझ के भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फंस के पंच के विरुद्ध हो बैठते हैं अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं वे, हम नहीं जानते, परमेश्वर (नेचर), दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुंह दिखाते होंगे। हमने माना कि थोड़े से हठी दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा मिलनी संभव है, पर इसके साथ अपनी अंतरात्मा (कांशेंस) के गले पर छूरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं। क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और परमेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—'राखि को सकै राम कर द्रोही'. पाठक! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़ों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है।

अतः आंखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल में पढ़ी लिखी सृष्टि वाले पंच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किए हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता, और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, वरंच लाठी तक खा के हतोत्साह नहीं होते और स्त्री पुत्र धन जन क्या, वरंच आत्मविसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलंबन करना मंगलदायक न होगा ? यदि बहकाने वाले रोचक और भयानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझावें तौ भी ध्यान न देना चाहिए। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्तव्य है। क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा संबंध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रख के पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइए तो दो ही चार मास में देख लीजिएगा कि बड़े २ लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे और बड़े २ विरोधी, बड़े साम, दाम, दंड भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे। क्योंकि सबसे बड़े परमेश्वर हैं और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े २ अधिकार पंच महोदय को दे रक्खे हैं।

अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र को कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सक्ता। इससे चाहिए इसी क्षण भगवान पंचवक्त्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंचपांडव की भांति निश्चित रहियेगा।

खं० ६, सं० ११ (१५ जुलाई ह० सं० ३)

पंचायत

ऐसा कोई काम नहीं है जो भला अथवा बुरा कहने के योग्य नहीं। यदि कोई इस सिद्धांत के विरुद्ध कह बैठे कि बहुत से काम ऐसे हैं जिनमें न किसी की हानि होती है न लाभ, न दुःख होता है न सुख, उन्हें भला वा बुरा क्योंकर कह सकते हैं। हां, निरर्थक अथवा निष्फल कह लीजिए। तो उत्तर यह होगा कि भलाई बुराई दो प्रकार की होती हैं, एक वे जिनका प्रभाव केवल कर्ता ही पर समाप्त हो जाता है, दूसरी वे जो दूसरों के सुख दुखादि का हेतु होती हैं। इस रीति से विचार करने से निश्चित होगा कि निरर्थक कार्य यद्यपि दूसरों पर प्रभाव नहीं डालते पर कहने वाले का समय अवश्य नष्ट करते हैं और दूसरों की दृष्टि में उसकी तुच्छता, निर्बुद्धिता और विचार-शून्यता निश्चय प्रगट करते हैं। अतः वे भी बुरे ही कामों की गणना में हैं। फिर कैसे कहा जा सकता है कि भलाई और बुराई के अतिरिक्त कोई तीसरा विशेषण भी है जो किसी कार्य अथवा व्यक्ति के लिए निर्धारित हो। इसी प्रकार ऐसा कोई मनुष्य अथवा समुदाय भी नहीं है जो भलाई और बुराई से न्यारा रह सके। जिन्हें लोग कहा करते हैं कि वे किसी के भले बुरे में नहीं रहते, उनका भी चरित्र विचार के देखिए तो या तो यह पाइएगा कि संसार में रह के किसी की सहायता लेने वा किसी को साथ देने की योग्यता से रहित हैं अतः व्यर्थजीवी हैं, पशुओं की भांति केवल आहार निद्रादि में जीवन बिताते हैं, अतः बुराई करते हैं अथवा जगज्जाल से अलग रह के भगवान के जीवित संबंध में दत्तचित्त रहते अस्मात् अपनी आत्मा के लिए सर्वोच्च श्रेणी की भलाई कर रहे हैं। सारांश यह कि, 'विधि प्रपंच गुण औगुण साना' के अनुसार सभी भलाई बुराई दोनों में बस रहे हैं। शुद्ध निर्विकार अकेला परब्रह्म है। और ऐसा कोई कभी कहीं नहीं जनमा जिसने जन्म भर भलाई ही अथवा बुराई ही की हो। जिन्हें आप बड़ा भला मनुष्य कहते हैं वे भी कभी २ कोई न कोई ऐसी बुराई कर उठाते हैं जिसको 'सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी' का नमूना बनाना अत्युक्ति नहीं है। इसी प्रकार जो कुमानुस कहलाते हैं वे कभी २ बड़ी भारी भलमंसी का उदाहरण बन जाते हैं। ऐसी दशा में यदि भलाई के लिए प्रशंसा का पुरस्कार अथवा बुराई के निमित्त दंड अथवा तिरस्कार न दिया जाय तो किसी को पुन्य कार्य में

उत्साह एवं दुष्कर्म में अरुचि उपजने की संभावना न रहे और स्वतंत्राचार इतना फैल जाय कि मानव मंडली किसी बात में संभलने के योग्य रही न सके। क्योंकि जिन कामों को बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है वे बहुधा ऐसे प्रलोभनपूर्ण और स्वल्पारंभ होते हैं कि अनेक लोगों के चित्त को लालच में लगा के अपना वशवर्ती कर लेते हैं और अंत को दुःख दुर्दशा दुर्बलता के गढ़े में ऐसा दबा देते हैं कि उकसना कठिन हो जाता है। इसी से पूर्वकाल के लोकहितैषी दूरदर्शी महात्माओं ने यह रीति निकाली थी कि व्यवहार-कुशल लोग समय २ पर एकत्रित हो के मानव जाति की साधारण जनता के उचितानुचित कृत्यों का यथोचित विचार एवं निर्धार करते रहा करें जिसमें समाज के मध्य अच्छा काम करने वालों का सनमान और दुराचारियों का अपमान और एतद्द्वारा भलाइयों की बृद्धि तथा बुराइयों का ह्रास होता रहे, जो प्रत्येक जाति के सुख सौभाग्य सुदशा और सुयश का मूल है। इस प्रकार के सामाजिक समागम को पंचायत अर्थात् पंच लोगों की सभा और पंच अर्थात् जनसमुदाय के कार्य्याकार्य्य निर्णय करने वाले मुखिया लोगों को चतुर्धुरीण वा चौधरी अर्थात् चार जनों (समुदाय) का भार धारण करने वाला अथवा निर्धार धारक कहते हैं। इन मुखियों के द्वारा आपस के झगड़ों का निपटारा, विजातियों के अत्याचारों से छुटकारा, रीति का सुधार, नीति का निर्धार, दोषियों का दंड, पीड़ितों का निस्तार, व्यवहार में सुविधा और सिद्धि, धर्म का प्रचार और बृद्धि इत्यादि २ सभी कुछ बड़ी सरलता एवं सुगमता से हो सक्ता है। जब तक जिस देश का भाग्य उदित रहता है तब तक वहां इस चाल का पूर्ण प्रचार बना रहता और पंच परमेश्वर की दया से सब जाति अपना २ हित साधन करती रहती हैं। सतयुग, त्रेता और द्वापर में जब अपने देश के पूर्णाधिकारी हमीं थे तब हमारे पूर्वज महर्षिगण, जहां कोई राजा, प्रजा, ईश्वर, जीवन, पिता, पुत्र, सजाती, विजाती इत्यादि के संबंध की उलझेड़ देखते थे वा कोई नवीन घटना होती थी वहीं काशी प्रयाग नैमिषारन्यादि में एकत्र हो के सर्वसम्मति के द्वारा कोई ऐसी युक्ति निकाल देते थे जिसमें सबको सब प्रकार की सुविधा प्राप्त हो जाती थी पर कलियुग में जब कि हमारा सुख सूर्य पश्चिम की ओर झुकने लगा तब बुद्धिमानों ने यह रीति निकाली कि ब्राह्मण यद्यपि सबके अग्रगामी और क्षत्रिय संसारिक स्वामी हैं पर समस्त जाति एवं कुटुम्बों में बहुत सी रीति नीति ऐसी है जो एक दूसरे की चाल ढाल से कुछ न कुछ भिन्नता रखती हैं, और सब को सब के यहां की सब बातों का पूर्ण बोध होना दुस्साध्य है, इससे प्रत्येक

जाति की पृथक २ पंचायत नियत हो जाय तो बड़ा सुभीता रहेगा। सच पूछो तो यह युक्ति और भी उत्तम थी और जिन समूहों में इसका जितना आदर बना हुआ है वह अद्यापि अनेक प्रकार की अड़चलों से बचे रहते हैं। हमारे पाठकों ने नाई, बारी, तेली, तमोली आदि साधारण श्रेणी के लोगों की पंचायत कभी देखी होगी तो जानते होंगे (न देखी हो तो देख के जान सकते हैं) कि किसी से कोई ऊंच नीच हो गई बस पांच पंच ने इकट्ठा हो के कोई जाति संबंधी प्रायश्चित नियत कर दिया जिसके करने वाले को सामर्थ्य से बाहर कष्ट नहीं होता और अपराधी प्रसन्नतापूर्वक हंस २ के अंगीकार कर लेता है तथा उसके जाति भाई आनन्द सहित उसे उऋण कर देते हैं एवं आगे के लिए दूसरे लोग सावधान हो जाते हैं जिससे पुनर्बार वैसे दुःख दुर्गुणादि उपस्थित होने की संभावना विशेषतः नहीं रहती। यह लोग यद्यपि बहुधा विद्वान् नहीं होते पर पञ्चायत के द्वारा अपने समुदाय का प्रबंध ऐसी उत्तमता से कर लेते हैं कि धन मान एवं धर्म भी सहज में रक्षित रहते हैं बरंच कभी २ राज-कर्मचारी अथच उच्च जाति वाले अधिकारियों को भी अपने विरुद्ध हाथ पांव हिलाने में अक्षम कर देते हैं। पर ब्राह्मण क्षत्रियादि उच्च कुल वालों में यह प्रथा न होने के कारण खेद है कि विद्या बुद्धि और प्रतिष्ठा के आछत कोई भी ऐसा प्रबंध नहीं है जो शिर पर आई हुई आपत्ति एवं असुविधा को रोक सके। जिसके जी में जो आता है वह कर उठाता है। कोई पूछने वाला ही नहीं। छिप २ के बड़े से बड़े अधर्म अन्याय अनर्थ करने वालों के लिए कोई रोक टोक ही नहीं। कहीं किसी का गुप्त चरित्र प्रगट हो गया (सत्य हो वा मिथ्या) तो फिर किसी भांति मरण पर्यन्त उस के दुष्फल से रक्षि ही नहीं। भाई २, बाप बेटे तक में झगड़ा खड़ा हो जाय अथवा किसी पर कोई दैवी मानुषी दुर्घटना आ पड़े तो कचहरी के बिना कहीं शरण ही नहीं। किसी को भी आपस के चार जनों से कोई आशा ही नहीं, किसी का त्रास ही नहीं, फिर भला निरंकुशता दृढ़ स्थायिनी हो के न चिमटै तो क्या हो। धन, धर्म, मान, प्रतिष्ठा, शक्ति, सदाचारादि का दिन २ ह्रास न हो तो क्या हो। बहुत आगे की कथा जाने दीजिए, केवल दो तीन पीढ़ी आगे से वर्तमान कुटुम्बों की दशा का मिलान कीजिए तो, परमेश्वर झूठ न बुलावै, सौ पीछे कम से कम पचास साठ घर ऐसे निकलेंगे जिनके बाबा लक्षाधीश थे पर पोतों को पेट भर अन्न कठिनता से मिलता है। पिता बड़े बड़े पंडितों का मुंह बंद कर देते थे पर पुत्रों को का खा गा घा में भी खलल है। प्रपितामह गांव भर के झगड़े निपटाते थे पर प्रपौत्र अपने कुटुम्ब को

भी प्रसन्न रक्खेंगे तो नाक कट जाय। ऐसे अवसरों पर बहुधा यही सुनने में आता है "अरे भाई उनकी बातें उन के साथ गईं, अब तो जैसे तैसे दिन काटते हैं।" सच है, जहां अपनी २ डफली अपना २ राग है वहां अपनी ही भलमंसी रखना लोहे के चने हैं, पुरुखों की चाल का निर्वाह कौन कर सकता है। जिस समुदाय में आपस के चार जने मिल जुल कर बनी बिगड़ी में साथ देना शूद्रत्व समझते हैं उस में किसी को अपने तथा पराए भले में हाथ डालना अनुत्साह के अतिरिक्त और किस फल की आशा देगा तथा मनमानी चाल चलने में कौन सा भय दिखलावैगा। यही नहीं बरच बहुधा यह भी देखने में आता है कि कोई कुछ अच्छा काम कर उठावै तो उस को नीचा दिखाने का यत्न किया जाता है, उस पर दांत बाए जाते हैं, बीसियों खुड़पेंचे लगाई जाती हैं, जिसमें कार्यसिद्धि के कारण वह हम से बढ़ न जाय, तथाच आपदग्रस्त की हंसी उड़ाई जाती है जिसमें अपने बचाव का प्रयत्न करने में साहसी न हो सके। ऐसी दशा में यदि समाज का सब प्रकार से अधः-पतन न हो तो हो क्या? बहुतेरे बहुधा कहा करते हैं कि इस जमाने में भले-मानसों का गुजारा नहीं है, पर यह नहीं बिचारते कि भलेमानस अपने गुजारे का उपाय क्या करते हैं, उच्च कुल में जन्म पाने के अतिरिक्त भलमंसी ही कौन सी रखते हैं? रक्खें भी तो उस के चिरस्थायित्व और प्रचार का कौन सा मार्ग अवलम्बन करते हैं? फिर क्या है, भलेमानस हों तो अपने को, कुमानस हों तो अपने को। सुख पावैं तो अपने आप पावैं, दुख भोगें तो अपने आप भोगें। इसी से आज मेरी, कल तुम्हारी, परसों इन की, नरसों उन की और यों ही धीरे धीरे सब की दुर्दशा होती चली जाती है और शीघ्र उपाय न किया गया तो होती ही रहेगी। उपाय दुस्साध्य नहीं है और बहुतेरे जानते भी हैं पर उसे ठीक रीति पर न बर्तने के कारण बड़े २ उद्देश्यों से बड़े २ नाम की सभाएं होती हैं और थोड़े दिन धूम मचा के या तो समाप्त ही हो जाती हैं या नाम मात्र के लिए केवल दो एक उत्साहियों के उद्योग से ज्यों त्यों अपनी लीक पीटा करती हैं। नहीं तो ऐसा कोई नगर, ग्राम, टोला, महल्ला न होगा जिस में दो चार (कम से कम एक) ऐसे पुरुष न हों जो अपनी जाति की रीति नीति में कुशल, पास पड़ोस वालों की दशा में अभिज्ञ, देश काल की गति के अनुकूल अनुमति देने में चतुर, बहुत समय बीतने अथवा बृद्ध लोगों की बात सुनते रहने के कारण अनुभवशील, दस पांच जनों के श्रद्धापात्र और किसी न किसी योग्यता के हेतु दस बीस लोगों पर दबाव रखने वाले न हों। देश जाति के सच्चे शुभचिंतक लोग यदि ऐसों के पास अव-

काश के समय जा बैठा करें और समय २ पर आत्मीयत्व का बर्ताव रख के हेल मेल बढ़ाते रहें तथा अपने गृह कुटुम्ब गोत्र मित्र हेती व्यवहारी गांव टोला से संबंध रखने वाले विषयों में उन से सम्मति लेते देते रहा करें, घर बाहर के झगड़े उन्हीं के द्वारा निपटा के और व्यापर व्यवहार की बातों में उनका कहा कर के सामाजिक राजनैतिक धार्मिक इत्यादि कामों में उन्हें शिरधरा के अपना तथा उनका उत्साह गौरव एवं परस्पर का हित बढ़ाते रहा करें तो थोड़े ही काल में देखेंगे कि कैसा सुभीता प्राप्त होता है, दूसरों की दृष्टि में कैसा संमान बढ़ता है और आगे के लिए कैसा सुख का विस्तृत मार्ग खुलता है। जिन बातों के लिए आज हमें इतरों की खुशामद करनी पड़ती है, बातैं कुबातैं सहनी पड़ती हैं, व्यर्थ एक २ के चार रुपए लगाने पड़ते हैं, घर बाहर के काम छोड़ के, नींद भूख से मुंह मोड़ के, दिन रात इधर से उधर निरी कल्पित आशा के लिए दौड़ना पड़ता है वही बातें सौ विश्वा उपजेंगी नहीं और उपजीं भी तो ऐसी सहज रीति से सिमट जायंगी कि मानों खेल ही मात्र थीं। यही नहीं सोश्यल कान्फरेंस तथा नेशनेल कांग्रेस इत्यादि बड़ी सभाओं के बड़े २ मनोरथों की सिद्धि एवं बड़े २ अभावों की पूर्ति में भी इन छोटी २ सभाओं का बड़ा भारी प्रभाव पड़ेगा, बड़े २ कठिन काम सहज में हो सकेंगे और प्रत्येक जाति, प्रत्येक समूह के प्रत्येक व्यक्ति को बड़ी भारी शक्ति का सहारा रहेगा। और यदि यह शक्ति दूसरों की पंचायतों के साथ किसी प्रकार का विवाद न रख के काम पड़ने पर उन्हें भी तन मन धन से सहायता देने लेने में लगाई जाय तो क्या ही कहना है। सोने में सुगंध अथवा बाघ और बंदूक बांधे वाली लोकोक्ति थोड़े ही दिनों में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेगी और सब के सब दुःख दरिद्र आप से आप दूर हो जायंगे। पर तभी जब आज कल की नाई सब के सभी अपने को डेढ़ सयानों में न समझ के, अपनी ही बात रखने का हठ न रख के, द्वेषियों का उत्तर द्वेषभाव से न दे के, सरलता, सहनशीलता एवं सत्यता के साथ अपनों को अपना बनाने का प्रयत्न करेंगे और हमारे इस मूल मंत्र पर दृढ़ विश्वास कर लेंगे कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि स्वरूप पंच हैं, उन्हीं के आराधन से सर्व सिद्धि हस्तगत होती है एवं उनकी सच्ची तथा सत्यफलदायिनि उपासना का एकमात्र मार्ग, अद्वितीय सिद्ध पीठ, सर्वानुमोदित विधि पंचायत है।

खं० ७, सं० १, २ (१५ अगस्त-सितंबर ह० सं० ६)

सत्य

जिस धर्मोपदेशक एवं नीतिशिक्षक के मुंह सुनिए यही सुनिएगा कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्', 'सत्यान्नास्ति परोधर्म्मः', 'सत्येनास्ति भयं क्वचित्', 'सांच को आंच नहीं', 'सांच बरोबर तप नहीं' इत्यादि, पर हम कहते हैं यह बातें केवल सतयुग के लिए थीं, नहीं तो कब त्रेता में दशरथ महाराज सरीखे धर्मतत्वज्ञ ने कैकेयी जी से वचनबद्ध हो कर रामचन्द्र जी का बन गमन, सच्चे जी से, प्रसन्नतापूर्वक न चाहा। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं— 'राव राम राखन हित लागी, बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी।' द्वापर में धर्मावतार युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी ने रणक्षेत्र में 'नरो वा कुंजरः' कह दिया, तब दूसरे किस मुंह से सत्य के निर्वाह का आग्रह कर सकते थे? विशेषतः इस कालिकाल में हमारे तुम्हारे समान साधारण जीवों को सत्य बोलने का प्रण (प्रण कैसा इच्छा) करना भी ऐसा है जैसे टिटिहरी नामक पक्षी का इस विचार से पांव उठा के सोना, कि बादल गिर पड़ेगा तो बच्चे कुचल जायंगे, इस से पांव ऊंचे किए रहना चाहिए, जिस में गिरे भी तो ऊपर ही अटका रहे, बच्चों को न दबा सके। भला जिस देश में करोड़ों लोग रूखी रोटी को तरसते रहते हैं, करोड़ों कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि के द्वारा जो कुछ कमाते हैं उसका सार भाग टिक्कस, व्यापार, चंदा आदि की राह विलायत चला जाता है, जहां दुःखी लोगों को दुहाई देने के लिए भी रुपया लगाना पड़ता है, सो भी न्याय ऐसा कस्तूरी के भाव बिकता है कि बहुधा रुपये वाले ही पाते हैं, वहां सब को अपना पेट पालने और येनकेन विधिना निर्वाह करने की चिंता चाहिए कि सत्यासत्य की? हमें सत्य का आग्रह करना खरगोश के सींग अथवा खपुष्प नहीं है तो है क्या? न मानिए तो किसी सच्चे दुष्ट का सच्चा हाल कह देखिए, परमेश्वर चाहे तो कल्ह ही मानहानि के अपराध में लेने के देने पड़ जायंगे। इसी से कहते हैं कि अपना काम चलाए जाना चाहिए। पुराने लोगों की भांति सत्य असत्य के उलझाओं में पड़ना वाहियात है। तथा जो कोई कहे कि मैं झूठ से दूर भागता हूं उसे जान लेना चाहिए कि महा झूठा है। "मैं झूठ नहीं बोलता" इस वाक्य का अर्थ ही यह है कि मैं झूठ कह रहा हूं। नहीं तो ऐसा कौन है जो सत्य बोल के सुखपूर्वक निर्वाह कर सकता हो। हां, सचमुच सत्य के घमंड में आप संसार को तृणवत समझे

रहिए, मरने पर बैकुंठ में सब से ऊंची पदवी पाने का विश्वास किए रहिए, पर जब तक दुनिया में रहिएगा तब तक थोड़े से (यदि हों) सतयुगी लोगों को छोड़ के सब की आंखों में खटकते ही रहिएगा, क्योंकि सत्य होती है कड़वी। इसी से 'खरी कहैया दाढ़ीजार" कहलाता है। उसे कोई पसंद नहीं करता। 'खरो बात सब्रदुल्ला कहैं, सब के जी से उतरे रहैं'। जिस को कहोगे उसे मिरचे सी लगेंगी और जहां तक चलेगी तुम्हें नीचा दिखा के अपने जी के फफोले फोड़ने का यत्न करेगा, चाहे असत्य अन्याय और अनर्थ के ही द्वारा क्यों न हो। फिर भला जिस में पराई आत्मा कष्ट पावे तथा अपने ऊपर आंच आवे एवं दोनों में बैमनस्य बढ़े वह काम किस काम का? इससे यही न उत्तम है कि खुशामद के द्वारा दूसरों को खुश रखना और अपने लिए आमद का द्वार खुला रखना! सतयुग में महाराज हरिश्चंद्र ने सत्य का बड़ा पालन किया था, उन्होंने क्या भुना लिया था? राज्य गया, घर छूटा, स्त्री बिकी, पुत्र बिछुड़ा, आप सारी सलतनत छोड़ के स्मशान में बरसों चौकीदारी करते रहे। इस के बदले में मिला क्या? कीर्ति! जो न खाने के काम की, न पहिनने के काम की। और इस के विरुद्ध झूठों के सौभाग्योदय का एक नहीं सहस्र उदाहरण बतला क्या कहिए दिखला दें। पर हमें सत्यानाशी सत्य का हठ कर के नाहक के झंझट में पड़ना मंजूर नहीं है इस से आप ही देख लीजिए और मन ही मन में समझे रहिए कि हमारी प्यारी मिथ्या देवी की आराधना कर के किस २ ने कैसे २ पद प्राप्त कर लिए हैं, कैसा कुछ धन, कैसी कुछ प्रतिष्ठा, कैसे २ सामर्थ्यवानों की दया दृष्टि, लाभ की है, तब आखें खुल जायंगी कि असत्य में क्या मजा है और सत्य में क्या फल है। यह न कहिएगा कि झूठे खुशामदियों को दुनिया क्या कहती है। जब हमें नौकरी अथवा ठेकेदारी के द्वारा सहस्रों का धन मिल जायगा, बड़े बड़ों में आवाजाही हो जायगी, हम राजा, नव्वाब, सर, हजरत कहलावेंगे, समय के 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हुजूर खुदाबंदों की नाक के बाल बन के गुलछर्रे उड़ावेंगे, उस समय थोड़े बहुत दरिद्री, निर्बुद्धी, ढीठ और अभागी लोग कुछ कही लेंगे तो क्या हो जायगा, पीठ पीछे कौन किस को नहीं कहता? अखबार वाले क्या २ नहीं बका करते। पर किसी के कहने सुनने के डर से अपनी हानि करना कहीं की बुद्धिमानी है? एक बुद्धिमान का वचन है कि फलाने ने मुझे पांच सौ गालियां दीं पर घर आ के कपड़े उतारता हूं तो एक भी गाली का निशान तक न देख पड़ा। इस से अपना सिद्धांत तो यही है कि कोई कुछ बके बकने देना पर झूठ, खुशामद, छल कपट कुछ ही करना पड़े कर डालना

और अपने मतलब में न चूकना। न जाने वह कैसे लोग थे जिन्होंने धर्म को वृषभ बनाया है और सत्य, शोच, दया, दान उस के चरण बर्णन किये हैं। नहीं तो सच यों है कि बैलों का धर्म बैल है और मनुष्यों का धर्म मनुष्य है, इस न्याय से वृषभ रूपधारी धर्म के पांव कलियुग महाराज ने काट डाले, अतः अब यह धर्म चलने के योग्य नहीं रहा। इस से इस समय हमारा मानव रूप विशिष्ट द्विपद धर्म चलना चाहिए, जिसका एक चरण पालिसी है दूसरा खुदगरजी। इन दोनों चरणों में से यदि एक में भी तनिक भी कसर हुई तो धर्म का चलना कठिन है। अस्मात् यह जाने रहिए कि यदि धर्म का लक्षण यही है कि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" अर्थात् जिस के द्वारा सांसारिक उन्नति और मुक्ति सिद्ध हो वही धर्म है तो स्मरण रखिए कि अभ्युदय के लिए सत्य का आश्रय लेना ऐसा ही है जैसा पानी मथ के घी निकालना। हां, पालिसी के साथ झूठ मूट दूसरों की दृष्टि में सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यचारी बने रहिये और अपनी टही जमती दीखे तो दुनिया भर की चालाकी करने में भी हिच्चिर मिच्चिर न कीजिए। बस, सत्यदेव ने चाहा तो अन्न, धन, दूध, पूत, खिताब, तमगा सब कुछ मिल जायगा। रही निःश्रेयससिद्धि, उसके विषय में जब कालिदास ऐसे महात्मा 'अविदित सुख दुःखं निर्विशेप स्वरूपं जड़मतिरिह कश्चिन्मोक्षइत्याजगाद' कह गए हैं तो ऐसी वे सिर पैर की वस्तु के लिए यत्न करना शेखचिल्ली का नाम जगाना है। हां, मुक्ति का अर्थ छुटकारा है, उसके लिए चिंता करना व्यर्थ है। लोकलज्जा, परलोक चिंता, धर्म की चेष्टा, परमेश्वर का भय इत्यादि कल्पित बंधनों में न पड़िए बस मुक्ति ही है—'पाशबद्धः सदा जीवः पासमुक्तः सदाशिवः'। ऐसी दशा में धर्म ही से कोई प्रयोजन न रहेगा, सत्य तो उस की एक टांग मात्र है, उस में क्या रक्खा है? और रक्खा भी हो तो मरने के पीछे मिलता होगा, दुनिया में तो कोई काम निकलने का नहीं। स्मृतिकारों के शिरोमणि मनु भगवान स्वयं उस के बोलने का निषेध करते हैं 'नब्रूयात्सत्यमप्रियं' अर्थात् सत्य होती है अप्रिय अतः उसे न बोलना चाहिए। फारस देश के नीतिविदाम्बर शेख सादी ने भी कहा है कि हेल मेल से परिपूर्ण (क्योंकि जिस को ठकुरसुहाती बातें सुनाते रहोगे वही स्नेह करेगा) असत्य अनर्थ उपजाने वाली सत्य से श्रेष्ठतर है—दरोगे मस्लहत आमेज़ बिहतर अज़रास्तीए फितना अंगेज। यदि ऐसे २ महात्माओं के वाक्य सुन के भी आपको पूर्वसंस्कार के अनुरोध से सत्य की ममता बनी हो तो उसे केवल आप सवालों

२५

के लिए बनाए रखिए, गृह कुटुंब, बंधु बांधव, सजाती स्वदेशी आदि से उसका बर्ताव रक्खे रहिए, पर जगत भर के साथ उसका आचरण व्यर्थ ही नहीं वरंच हानिकारक, पागलपन है। अतः उसे पुरानी सत्यनारायण वाली पोथी में बांध रखिए वा पार्सल कर के सत्यलोक में भेज दीजिए जिसमें फिर कभी सत्ययुग आवै तो ब्रह्मा जी को उसके लिए दौड़ धूप न करनी पड़े और हमारे मिथ्या मंत्र को गले का यंत्र बना के अपना तथा अपने भाइयों का हित साधन करते रहिए। इसी में सब कुछ है और सब बायचेंचोपना है।

खंड ७, सं० १-२ (१५ अगस्त-सितंबर ह० सं० ६)

हमारी आवश्यकता (१)

जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिए। यद्यपि उनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती हैं पर वाग्जाल में फंसी हुई, ढूंढ़ निकालने योग्य। अतः अब हमारा विचार है कि कभी २ ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी २ भाषा में हों, जिसमें देखते और बिचारते समय किसी प्रकार का अवरोध न रहे अथच हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें निरस समझ के छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें बरंच उनके लिए तन से, धन से, कुछ न हो सके तो बचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहा करें। क्योंकि यह समय बातों के जमाखर्च का नहीं है, कुछ करते रहने का है। जब हमारा धन हेर फेर के हमारे ही देश में रहता था, हमारी शक्ति कुछ न होने पर भी इतनी बनी थी कि अपने सताने वालों को दबा न सकें तौ भी अपने बचाव के लिए हाथ पांव हिला के जी समझा लें, हमारे लिए कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा के द्वार खुले हुए थे। इससे निर्वाह की अड़चल न थी, तब हमें बातें बनाना सोहता था, चाहे ब्रह्मज्ञान छांटा करते, चाहे गद्य पद्यमय लेखों से कलम की कारीगरी दिखाया करते, चाहे अपने साथियों के धर्म कर्म चाल व्यवहार की प्रशंसा और दूसरों की तुच्छता के गीत गाया करते, पर अब जब कि हमारे हाथ कुछ भी नहीं रहा है, उसके भी चिरस्थायित्व का विश्वास नहीं, तो फिर सर्वथा यही उचित है कि सौ काम छोड़ के, (यदि अपना भला चाहते हों तो) ऐसे उद्योगों में लगे रहें जो हमारे लिए आवश्यक हैं। यदि हम विरक्त हों तो भी हमें आज अपनी आत्मा के कल्याणार्थ बन में जा बैठना श्रेयस्कर न होगा, क्योंकि हमारे चतुर्थांश भाई भूखों मर रहे हैं और तीन चौथाई ऐसे हैं कि तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है। ऐसी दशा में केवल अपने परलोक की चिंता करना निर्दयता और स्वार्थपरता है। फिर उनके लिए तो कहना ही क्या है जो गृहस्थ कहलाते हैं और परमेश्वर की दया से दोनों पहर अच्छा खाते, अच्छा पहिनते, थोड़ी बहुत समझ और सामर्थ्य भी रखते हैं। वे यदि अपने देशभाइयों की आवश्यकता को न देखें, और उसके अभाव की पूर्ति में यत्नवान न रहें तो अंधेर है, अन्याय है, अनर्थ है। मनुष्य का जीवन हजार पांच

सौ वर्ष का नहीं है, बहुत जीता है वह सौ वर्ष जीता है। तिसमें भी अनुमान आधी आयु, रात्रि की, सोने में बीत जाती है। रही आधी, उसमें भी बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था, खेल कूद, और पड़े २ खटिया तोड़ने के अतिरिक्त किसी काम की नहीं होती। यों लेखा जोड़िए तो सौ वर्ष में कुछ करने धरने के योग्य बीस ही पचीस वर्ष निकलेंगे। उनमें भी गृहस्थी के सौ वर्ष निकलेंगे, उनमें भी गृहस्थी के सौ झंझट एवं नाना रोग वियोगादि लगे रहते हैं। यों विचार के देखिये तो दस पंद्रह हद बीस ही वर्ष ऐसे हैं जिनमें किए हुए कामों के द्वारा अपना पराया हिताहित अथच मरणांतर चिरस्थायी यश अपयश प्राप्त कर सकते हैं। यदि इतना स्वल्प काल भी केवल अपना ही पापी पेट पालने, अपना ही स्वार्थ साधने तथा आलस्य और अनुद्योग ही में लगाया जाय तो हम नहीं जानते मनुष्य जनम पाने का दावा, 'अशरफुल मखलूकात' बनने का घमंड, आप किस बिरते पर कर सकते हैं। विशेषतः इस समय में जब कि हमारे पीछे होने वाली पौधों का भला बुरा हमारे ही हाथ आ रहा है और अनेक आवश्यक काम ऐसे आ लगे हैं जिनके किए बिना न हमारा निर्वाह देख पड़ता है न हमारी संतान के लिए सुखमय जीवन की राह सूझ पड़ती है। और इसी से अनेक सहृदय एक न एक कार्य में जुटे रहते हैं तथा वर्तमान राज्य में उन कामों के लिए बहुत कुछ सुभीता भी है। यदि ऐसे में चूक गए तो आपको तो क्या कहें, आपके बनाने वाले परमेश्वर ने आपको बुद्धि दान करके क्या फल पाया, यह हम पूछा चाहते हैं। इन बातों के उत्तर में कहीं यह न कह दीजिएगा कि हमारे अकेले के लिए क्या हो सकता है? क्योंकि मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता, सभी प्रकार के लोगों का थोड़े बहुत लोग साथ देने को, सदा सब ठौर मिल रहते हैं। यदि मान ही लें कि हमारा साथी कोई नहीं है तौ भी जो हम आस्तिक हैं तो परमात्मा अवश्य साथ है जो सर्व शक्तिमान कहलाता है और उसे न भी मानिए तो आंखें खोल के देखने से जान पड़ेगा कि संसार में सारे काम मनुष्य ही नहीं करते हैं। फिर क्या हम मनुष्य नहीं हैं जो अपने कर्तव्य को न देखें, अपनी आवश्यकताओं को न जानें और उनकी पूर्ति के लिए यथासाध्य उपाय न करें? हां, सामर्थ्य की स्वल्पता से अग्रगामी न बन सकें, पूर्ण पौरुष न दिखा सकें, यह दूसरी बात है। पर इसके साथ यह भी समझे रहना चाहिए कि सभी सर्वगुण संपन्न नहीं होते और यदि हो जांय तो किसी को किसी की सहायता मिलना दुर्घट हो जाय। या यों कहिए, फिर किसी को कोई अभाव ही क्यों रहे। इससे जितना, जो कुछ, हो सके उतना करते रहना ही परम

कर्तव्य है। आगा पीछा करना या बहाने गढ़ना 'दुनिया में जैसे आए वैसे चले गए' का उदाहरण बनना है। अस्मात् समझ हो तो आंखें खोल के देखिए कि हमारे लिए किन २ बातों की आवश्यकता है और उनके पूर्ण करने के क्या २ उपाय हैं, तभी कुछ हो सकेगा। स्वयं समझने की समझ न हो तो हमसे वा किसी और से समझ लीजिए और दूसरों को समझाने में लगे रहिए, बस इसी में सब कुछ है।

खं० ७ सं० १-२ (१५ अगस्त-सितंबर ह० सं० ६)

यह तो बतलाइये

आप ठाकुर जी के मंदिर में तो बिना नहाये ब्राह्मणों को भी नहीं आने देते तथा उनकी मूर्ति एवं मरे हुए संबंधियों का मृत शरीर कोई उच्च जाति का हिंदू भी छू ले तो नाक भौंह चढ़ाते हैं, पर उनको पोशाक और उन्हें कफन वही पहिनाते हैं जो विलायत के कोरियों का बुना हुआ है तथा खलीफा जी के द्वारा सूई में थूक लगा २ के सिया गया है। यह कहां की पवित्रता है? यदि देव प्रतिमा की प्रसन्नता और मृतकों की सद्गति, पवित्रता पर निर्भर समझते हो तो देश के कपड़ा बुनने वाले और हिंदू दरजी मर गये हैं? अथवा परदेशियों और परधर्मियों से भी वह गए हैं जो उनकी कारीगरी को इतना उत्साह भी नहीं देते?

और सुनिए। यदि घर में कुत्ता, कौआ कोई हड्डी डाल दे अथवा खाते समय कोई मास का नाम ले ले तौ भी तो आप मुंह बिचकाते हैं, पर बिलायती दियासलाई और बिलायती शक्कर, जिनमें हड्डी तथा रक्त दोनों पड़े हुए हैं, सो भी न जाने कि किन २ जानवरों के, वह आरती के समय बत्ती जलाने की सिंहासन के पास तक रख लेते हैं और भोग लगा के गटक जाने तक में नहीं हिचकते। यह कहां का खाद्याखाद्य विवेक है? क्या देश में दियासलाई बनाने की विधि जानने वाले मर गये हैं? अथवा खांड बनाने के नियम हर गए हैं जो आप से इतना भी नहीं होता कि मथुरा वाली आर० एल० बर्मन कम्पनी की मदद कीजिए और साबुन तथा दीपशलाका के कारखाने में दो एक शेयर (हिस्से) ले लीजिए तथा बनारसी चीनी खाया कीजिए?

और लीजिए। देश की दरिद्रता और उद्धार के विषय में लेक्चर देते समय तो आप श्रोताओं के कान की चैली उड़ा देते हैं और लेख ऐसे लिखते हैं कि छापने के समय कम्पोजीटर नाकों आ जायं पर अपने शरीर को शिर से पैर तक विलायती ही वस्त्र शस्त्र से मढ़े रहते हैं। घर में दमड़ी की सूई भी विलायती, खाने की दवा भी विलायती, पीने की मदिरा भी विलायती, नहाने का साबुन भी विलायती, साथ में कुत्ता तक विलायती, देशी केवल मुंह का रंग ही रंग दिखाई देता है। क्या इन्हीं लक्षणों से देश का दरिद्र मिटाइएगा और देशोद्धार करने वालों में पांचवें सवार बनिएगा? अथवा

उपर्युक्त वस्तु यहां नहीं मिल सकती, वा बनना असंभव है, वा दाम अधिक लगते हैं, वा देर तक ठहरती नहीं है? पर हां, शायद जी डरता हो कि कहीं काट न खायं, क्योंकि आप तो ज्यंटिलम्येन अर्थात मुलायम आदमी हैं न!

आगे चलिए। आपको नेचर के तत्वज्ञान और उसकी पूरी पैरवी का दावा है, इससे हम पूछना चाहते हैं कि यह बात ला आफ नेचर की किस दफा में लिखी है कि जो देश अथवा जाति आज जिस दशा में है उसी में प्रलय तक बनी रहेगी अतः उसे अपने सुधार का यत्न करना जुर्म है और ऐसे जुर्म करने वालों से मुखालिफत करना ही नेचर का सबसे बड़ा उसूल, राजभक्ति का मूल और मसलहत के जहाज का मस्तूल है? यह भी कहिए आपका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ है, खाना पीना, रीति व्यवहार, ब्याह शादी भी हिन्दू ही मुसलमानों के साथ होती है, मरने पर भी यहीं की पृथिवी अथवा जल में मिल जाइएगा, फारस, अरब तथा इंग्लैंड में जाइए तो शायद कोई बात भी न पूछे, क्योंकि आपकी भाषा भेष, धर्म कर्म, आहार विहार सब वहां वालों से पृथक है। ऊपर से तुर्रा यह है कि आप जहां भए उपजे हैं वहीं कोई बड़े विद्वान धनवान नहीं हैं, फिर परदेश में प्रतिष्ठा पाने की तो क्या आशा है। पर इन बातों को जान बूझ के भी, पुलिस की उरदी पहिनते ही, टिकिया बिल्ला लचका आदि धारण करते ही, अपने देश भाइयों को सताना, सड़ी २ सी बातों की चुगली खाना, कहनी अनकहनी कहना, बरंच कभी कभी उन पर हंटर तक फटकारते रहना कहां की बुद्धिमानी है? अपनी डिउटी में न चूकिए, आला हाकिमों को अवश्य प्रसन्न रखिए, किन्तु यह समझे रहिए कि आपका बर्ताव किसी कानून का हुक्म नहीं है, आप इस मुल्क के फतेह करने वाले नहीं हैं। साहब बहादुर विलायत चल देंगे तब आप को साथ भी न ले जायंगे। आप का रंग भी ऐसा नहीं है कि ख्वामख्वाह रियायत की जाय। नौकरी की जड़ सदा धरती से सवा हाथ ऊपर रहती है। इससे उस पर भरोसा करना नाहक है। परमेश्वर न करे कल को किसी अपराध के कारण छुड़ा दिए जाओ तो रुजगार की आशा किससे करोगे? जरूरत पड़ने पर कर्ज किस के यहां से काढ़ोगे? दुःख, सुख, तंगी, बहाली आदि में किसका आश्रय ढूंढोगे? इन्हीं हिंदुस्तानियों ही का न, जिन्हें आप इस समय धमकाते हैं, जिन पर हुकूमत जताते हैं, जिन्हें मनमानी घर जानी कार्रवाई का निशाना समझते हैं। बतलाइये तो उस समय चित्त की क्या दशा होगी?

इतना और भी। भला आप के ऊपर और भी कोई हाकिम है। भारत-वासियों को कोई सामर्थ्य न सही पर अपना दुख रोने की शक्ति है। यहां माना कि बहुत लोग आप ही का पक्ष करेंगे किंतु यहां से विलायत और विलायत से परमेश्वर के घर तक कोई भी ऐसा है जिसे न्याय की ममता तुम्हारे ममत्व से अधिक हो? राजराजेश्वरी का प्रताप अथवा परमेश्वर का अचल नियम भी कोई वस्तु है? यदि है तो आप फिर क्यों चाहते हैं कि 'भावै हियै करैं हम सोई'। इस से तो यही न उत्तम है कि ऐसे काम कर जाइए जिन्हें स्मरण कर के सब सदा आसीसते रहें। पूछना तो बहुत कुछ है पर इस समय इतना ही बहुत है।

खं० ७, सं० १-२ (१५ अगस्त-सितंबर ह० सं० ६)

ममता

यह ऐसा उत्तम गुण है कि सारी भलाइयों का मूल कहना चाहिए। जब तक जिस देश पर परमात्मा की जितनी दया दृष्टि रहती है तब तक वहां के लोगों के जी में उतनी ही अधिक इस गुण की स्थिति रहती है। जहां के लोगों को देखिए कि अपने यहां के मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों तथा पदार्थों का सच्चे जी से ममत्व रखते हैं और उनकी प्रतिष्ठा यावत जगत से अधिक करते हैं वहां समझ लेना चाहिए कि 'कोटि विघ्न संकट विकट, कोटि दुष्ट इक साथ। तुलसी बल नहिं करि सकैं, जो सहाय रघुनाथ।' का जीवित उदाहरण विद्यमान है। सदा, सब कहीं के, सभी लोग, सब गुणपूर्ण कभी नहीं होते पर जहां यह गुण दृढ़ रूप से स्थीयमान होता है वहां 'सब सुख सम्पत्ति बिनहिं बुलाए, धर्मशील पहं जाहिं सुभाए'। कारण यह है कि सबको सबसे सहारा मिलता रहता है। सबके जी में यह बल रहता है कि हम अकेले नहीं हैं, एक बड़ा भारी समूह सदा सब दशा में हमारे साथ है। इससे सभी को सब प्रकार का सुभीता प्राप्त रहता है। अपने यहां के पुराने ग्रंथों को देखिए तो गंगा, सिंधु,सरस्वती, यमुना इत्यादि नदियों का नाम ब्रह्मद्रव, स्वर्गदायिनी, अमृतमयी इत्यादि; अयोध्या, मथुरा, काशी, प्रयागादि नगरों के नाम विष्णुपुरी, परमात्मा का बिहारस्थल, मोक्षदा तीर्थराज; तुलसी, पीपल आदि वृक्षों के नाम विष्णुप्रिया, वासुदेव, इत्यादि लिखे हैं। इसका अभिप्राय नये मत वालों के कथनानुसार हमारे पूर्वजों की हरिविमुखता अथवा लकीर के फकीरों के बिचारानुसार धर्म की अनेकता नहीं है। वेदों में ईश्वर और धर्म की अद्वितीयता सैकड़ों स्थल पर लिखी है। पुराणों में पंचदेव की अभिन्नता तथा सब मतों का एकता सहस्रों ठौर वर्णित है और सप्तपुरी पंचवट आदि की व्याख्या करने वाले वेदादि का अर्थ न जानते थे इसका कोई प्रमाण नहीं है पर बात सारी यह थी कि देश की ममता उनके चित्त में भरी हुई थी। उसकी उमंग में उन्हें अपने यहां की नदियों का जल अमृत सा जंचता था, अपने नगर बैकुंठ से उत्तम देख पड़ते थे—'बृंदाबन बैकुंठ दोउ, तौले रमानिवास। गरुवो धरती पर रह्यो, हलको गयो अकास'। अपने वृक्ष देवता जान पड़ते थे, उनका सींचना धर्म का अंग बोध होता था; उन्हें जनेऊ पहिनाना, चंदन पुष्पादि से सुशोभित करना आंखों को सुख देता था। वृथा

कोई एक पत्ती भी तोड़ लेता था वह पापी समझ पड़ता था। कहां तक कहिए ममता का उन दिनों इतना संचार था कि स्नान करने के ऊपर अपने प्यारे नगरों की मट्टी तक लोग शिर पर मलते थे, छाती से लगाते थे। इसी के प्रभाव से चारों ओर सुख सौभाग्य की इतनी भरमार थी कि लोग राज्य छोड़ २ बन, पर्वतों में जा बैठते थे। त्रेता में भगवान रामचन्द्र को अयोध्या से सैकड़ों कोस दूर बन में अच्छी भली रावण ऐसे शत्रु को जीतने योग्य सेना प्राप्त हो गई थी। भला बताइए तो सुग्रीव उनके नातेदार थे ? वा दशरथ जी का दिया खाते थे ? नहीं। बनवासी (जिन्हे कवियों ने बंदर की उपाधि दी है) लोगों तक को यह ज्ञान था कि अयोध्या अपने राजा की राजधानी है, उसके आगे लंकावालों का हमारा क्या संबंध है। द्वापर में भीष्म जी को पिता कह के पुकारने वाले का जन्म धारण असंभव था तो सारे देश ने उन्हें पितामह अर्थात् पिता का भी पिता निश्चित कर लिया। अभी कलियुग में भी कई राज्यों में यह रीति पड़ गई थी (जिसका बहुत बिगड़ा हुआ रूप अब भी कहीं २ बना है) कि राजा के यहां ब्याह है तो प्रजा मात्र को मुहूर्त पूछने की आवश्यकता नहीं और राजा मर गया तो राज्य भर की स्त्रियों का एक २ हाथ चूड़ियों से खाली। तभी सिकन्दर ऐसे दिग्विजयी राजा मगधेश्वर का सामना करते हुए कचियाते थे। तभी नौशेरवा सरीखे महाराज कन्यादान करते थे। पर अब वह गुण हममें नहीं रहा। अब हमें अपने भाइयों का सुख दुःख देख के सच्चा सुख दुःख नहीं अनुभव होता वरंच उसके स्थान पर कोई न कोई मिष ढूंढ़ के हम उनसे अलग रहना चाहते हैं। स्वार्थ के अनुरोध से उनका प्रतिष्ठा, धन, धरती आदि की जड़ काटने में पाप नहीं समझते। आज हम अपनी गंगा, भवानी, तुलसी, पीपल, प्रतिमा, पुराणादि को वेदविरुद्ध बरंच वेद को भी पुराने असभ्य किसानों के गीत समझते हैं। आज हम मुरशिदाबाद की गर्द (रेशमी कपड़ा) और बनारस की कमख्वाब पहिनने में शरमाते ही नहीं बरंच अपव्यय समझते हैं। रोगग्रस्त होने पर भी चौगुने दाम दे के मशक का पानी पीते हैं पर चूर्ण, पाक, अवलेह सेवन करें तो शान के बईद है। कहां तक कहिये अपनी बोली तक बोलना व्यर्थ समझते हैं। बस इसी से नौकरी तक में बाधा है। दुःख सुनाने में भी खर्च है, डर है, सचाई का ह्रास है, बरंच कभी २ पूरा उद्योग करने पर भी परिणाम में निराशा है। यह क्यों ? इसी से कि हमें अपनी ही ममता नहीं है फिर दूसरों को हमारी ममता क्यों हो। जब तक हमें हम और हमारा का सच्चा ज्ञान न होगा तब तक हम यों ही, बरंच इससे भी गए बीते बने रहेंगे और लाख बातें

बनावैं और करोड़ दौड़ धूप करें पर होगा कभी कुछ नहीं। अतः सारे झगड़े छोड़िए और यह प्रण कर लीजिए कि कोटि कष्ट उठावेंगे, घर फूंक तमाशा देखेंगे, पर यह हठ न छोड़ेंगे कि अपना अपना ही है, अपनी मट्टी भी दूसरों के सोने से मूल्यवान है। बस यही ममता का मूल मंत्र है। इसी को सिद्ध कीजिए और दूसरों को उपदेश दीजिए तो ईश्वर राजा प्रजा सुख सम्पति सौभाग्य सुयश सुदशा सबकी ममता के पात्र बन जाइएगा। नहीं तो यहां क्या है, थोड़ा सा कागज खराब हो गया सही, पर तुम्हारा सभी कुछ धीरे २ ममता के बिना रमता योगी हो जायगा।

खं० ७, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ६)

हमारी आवश्यकता (२)

बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि प्रत्येक जाति अपनी भाषा भेष भोजन और धर्म से पहिचानी जाती है। इस न्याय के अनुसार मनुष्य मात्र को इन चार पदार्थों के संरक्षण की आवश्यकता है। इनके लिए दूसरों का मुंह ताकना, दूसरों से आशा रखना अथवा भय संकोच करना, अपने जातीयत्व का सत्यानाश करना है। और ऐसा कोई भी देश धरती की पीठ पर नहीं है जहां के प्रत्येक समुदाय वाले इन चारों बातों को अपने ही रंग ढंग के साथ न रखते हों। यूरोप एमेरिकादि का तो कहना ही क्या है, वहां तो सब प्रकार परमेश्वर की दया है। अपने यहां देखिए, बंगाली, पंजाबी, मद्रासी, गुजराती, मारवाड़ी इत्यादि सभी अपनी २ भाषा, भेष, भोजनादि का पूरा ममत्व रखते हैं। चाहे जहां जायं, चाहे जिस दशा में हों, अपनापन नहीं छोड़ते। पर खेद है हमारे पश्चिमोत्तर देशवासी हिन्दू दास पर जिनके यहां किसी बात का ठीक ही नहीं है। जिस विषय में देखो उसी में ऐसे मोम की नाक हो रहे हैं कि फिरते देर ही नहीं। इन्हीं लक्षणों के कारण इनके लिए न घर में सुभीता है, न बाहर सन्मान है, न किसी को इन पर मनमानी अंधाधुंध करते कुछ भी संकोच होता है, न बड़े २ शुभचिंतकों के किए कुछ होता है। क्योंकि जिस जाति में आत्मत्व ही नहीं है उसे सृष्टि अथवा सृष्टिकर्ता से आशा ही क्या। विचार के देखिए तो मनुष्य तो मनुष्य ही है, पशु पक्षी तक अपने जातीयत्व के अंगों को नहीं छोड़ते। तोता मैना को आप लाख अपनी बोली सिखलाइए पर आपस में वा अपने सुख दुःखादि को प्रगट करने में अपनी ही बोली बोलेंगे। कौए पर करोड़ रंग चढ़ाइए पर कुछ ही काल में वह अपनी कालिमा को फिर धारण कर लेगा। सिंह के संमुख सौ प्रकार के शाक अथवा हरिण के सामने सहस्र भांति के मांस रख दीजिए, चाहे जै दिन का भूखा हो उसकी ओर आंख उठा के न देखेगा। किन्तु हम निजत्व से इतने वंचित हैं कि जिन्हें अपनी किसी बात का कुछ ध्यान ही नहीं, चाहे कोई कुछ कर उठावे, कुछ उत्साह ही नहीं। इसी हेतु से जिन दिनों प्रत्येक जाति अपनी उन्नति के लिए धावमान हो रही है उस अवसर में भी हमारा धन, बल, गौरव क्षण २ क्षीण हो रहा है और परमेश्वर न करे सौ वर्ष भी यही दशा रही तो कोई आश्चर्य नहीं है कि हिन्दू हिन्दुस्तानी वा हिन्दी

इत्यादि शब्द मात्र रह जायंगे। इससे आज ही से चेतना चाहिए और समझ रखना चाहिए कि अपना भला बुरा अपने हाथ है। दूसरों को क्या पड़ी है कि हमारे लाभ के लिए अपने समय, सुविधा अथवा स्वच्छन्द व्यवहारों की हानि करेंगे। यद्यपि हमारी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष वा प्रच्छन्न रूप से किसी प्रकार वास्तविक कष्ट व हानि न करेगी बरंच कुछ ही दिनों में सुख और सहायता मिलना आरंभ हो चलेगा और परिणाम में तो देश और जाति को सभी प्रकार की सुविधा का द्वार खुल जायगा पर यदि पहिले पहिल कुछ अड़चलें देख पड़ें तो यह समझ के झेल डालनी चाहिए कि सुख का उपाय करने में दुःख होता ही है। जिसने यह न अंगीकार किया वह उसे क्या पावेगा। यह विचार चित्त में दृढ़स्थायी किए बिना और शीघ्र आलस्य छोड़ के कटि कसे बिना भविष्यत के लिए घोर विपद का सामना है। इससे सब काम छोड़ के पहिले लक्ष्यमाण आवश्यकताओं को पूर्ण करने में तन, मन, धन लगाना परमावश्यक है।

सबसे पहिले लड़कों के पढ़ाने का उचित प्रबंध करणीय है। क्योंकि सब से आदिम अवस्था इन्हीं की है और इसी अवस्था की शिक्षा से उनको जन्म भर का सहारा और उनके पूर्वजों और अनुजों (पीछे उत्पन्न होने वालों अर्थात् छोटे भाइयों तथा युवादिकों) के सुख सौभाग्य सुयशादि का द्वार प्राप्त होता है। वह यदि अपने देश और दशा के अनुकूल न हुई तो हमें भारी उन्नति की कुछ भी आशा नहीं है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक अपनी भाषा में पूर्ण रूप से पठन पाठन नहीं होता तब तक शिक्षा सदा अधूरी ही रहती है और पूर्ण फलदायिनी नहीं होती। इससे हमें हिन्दी और संस्कृत अवश्यमेव पढ़नी पढ़ानी चाहिए। बरंच उच्च शिक्षा इन्हीं में प्राप्त करनी चाहिए। अंगरेजी फारसी अरबी तुरकी यदि काम निकालने मात्र को सीख सिखा ली जाय तो अच्छा है, नहीं तो हमारी भाषा से भी हमारा कोई काम अटक न रहेगा। जब देश में एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा हो जायगा जो निज भाषा में पूर्ण दक्ष और अपने निर्वाह के लिए सब प्रकार के कष्ट सह के भी अपने ही हाथ पांव का सहारा लेने का हठी तथा अन्य भाषाओं के लिए आत्मत्व को न छोड़ने में पूर्ण उत्साही हो, तब कोई भी संदेह नहीं है कि गवर्नम्यंट हमारी सुविधा का भी प्रबन्ध अवश्य करैगी। आज इलाहाबाद यूनीवर्सिटी ने हिन्दी को उठा के यह सिद्ध कर दिया है कि उस में हिन्दू जगत की ममता रखने वाला कोई नहीं है। अपने माथे से कलंक का टीका मिटाने के लिए संस्कृत को बना रहने दिया है। यह भी

उसकी पालिसी मात्र है, हमारी हितैषिता नहीं है। क्योंकि हिन्दी के पूरे सहारे बिना संस्कृत लोहे के चने हैं। और यह आशा भी अनेकांश में दुराशामात्र है कि सर्कार हमारी एतद्विषयक प्रार्थना सुनेगी। अस्मात् हमें अपने लोक परलोक के निर्वाहार्थ अपनी भाषा स्थिर रखने के लिए केवल अपने ऊपर भरोसा रखना चाहिए। आज हम लाख गई बीती दशा में हैं पर हमारी भाषा किसी अन्य भाषा के किसी अंग से किसी अंश में कुछ भी कम नहीं है। और यदि इसे संस्कृत का सहारा मिल जाय तो मानो सोने में सुगंध हो जाय। क्योंकि संस्कृत के यद्यपि लाखों ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हो गए हैं तथापि जो मिलते हैं अथवा दौड़ धूप से मिल सकते हैं वह ऐसे नहीं हैं कि किसी लौकिक अथवा पारलौकिक विद्या से रहित हों। बरंच यह कहना अत्युक्ति नहीं है, अनेक सहृदयों की साक्षी से सिद्ध है, कि जो कुछ संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थकार लिख गए हैं वही अभी तक दूसरी भाषा के अभिमानियों को सूझना कैसा पूरी रीति से समझना ही कठिन है। एक बार नहीं सैकड़ों बार देखने में आया है कि जिस विद्या के जिस अंग को विदेशी विद्वानों ने वर्षों परिश्रम करके, सहस्रों का धन खो के, हस्तगत किया है और अनेक लोगों की समझ में उसके आचार्य (ईजाद करने वाले) समझे गये हैं वही बात संस्कृत की किसी न किसी पुस्तक में सहस्रों वर्ष पूर्व की लिखी हुई ऐसी मिल गई है कि बुद्धिमान चकित रह गए हैं। फिर हम नहीं जानते ऐसी सर्वांग सुंदर भाषा के भंडार के रत्न अपनी मातृभाषा के कोष में क्यों नहीं भर लिए जाते। रहीं वे बातें जिन पर इस समय तक विदेशी ही विद्वानों का दावा है। वे हमारे देश के बी० ए० एम० ए० डाक्टर बारिस्टरादि के द्वारा हमारी भाषा में सहजतया भर ली जा सकती हैं और सर्वसाधारण के लिए वर्षों के परिश्रम का फल महीनों में दे सकती हैं। जो लोग यह समझ बैठे हैं कि अंगरेजी पढ़े बिना भोजनाच्छादन कहां से प्राप्त होगा उनको यह भी आंखें खोल के देखना चाहिए कि एक तो संसार का नियम है कि कोई भूखा नहीं रहने पाता बरंच बीसियों बेर देखा गया है कि अजीर्ण रोग से चाहे कोई मर भी जाय पर अन्नाभाव से नहीं मरता। लोगों को ज्वरादि के कारण पंद्रह २ बीस २ लंघन हुए हैं, जल के सिवा अन्न का दाना नहीं खोंटा, पर प्राण देवता ज्यों के त्यों बने हैं। रहा सहज में सुखपूर्वक निर्वाह, वह जिस बात में परिश्रम कीजिएगा उसी के द्वारा प्राप्य है। जितना परिश्रम आप अंगरेजी में करते हैं उतना ही संस्कृत में कर देखिए तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि विद्वान सभी सुखित रहते हैं। काले गोरे रंग के भेद भाव की

दया से हम बीसियों एम० ए० पास किये हुए हिन्दू दिखला देंगे जिन्हें सौ डेढ़ सौ (हद दो सौ) से अधिक वेतन की नौकरी के दर्शन नहीं होते। सो भी कब? जब विदेशी भाषा, विदेशी भेष, विदेशी विचार (खयालात), विदेशी व्यवहार (वरंच आहार), विदेशियों की जै जै कार इत्यादि के मारे अपनी ओर देखने का अवसर नहीं मिलता। यदि उतना ही परिश्रम कोई किसी शास्त्र में करे तो क्यों किसी रजवाड़े अथवा कालेज में सौ दो सौ की नौकरी न पा जायगा। यदि सेवा की बृत्ति न भी स्वीकृत हो तो विद्या के प्रभाव से प्रत्येक उद्योग में उतने के लगभग प्राप्ति हो सकती है। कुछ भी न कीजिए तो तनिक देखिए कि स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, स्वामी दयानन्द सरस्वती, परिब्राजक श्री कृष्णप्रसन्न सेन इत्यादि की प्रतिष्ठा किस विदेशी भाषा के पंडितराज से कम है? बरंच आपके एम० ए० बी० ए० आदि जिन श्रीमानों के द्वार पर खड़े रहते हैं वह धनाढ्य इन विद्वानों की सेवा में अपना गौरव समझते हैं। रहे मिडिल एंटरेंस वाले छुटभेए, वे जितनी प्राप्ति अंगरेजी फारसी के द्वारा कर लेते हैं उतनी हमारे साधारण पंडित भी सेवा सुश्रूषादि करके अवश्य हस्तगत कर सकते हैं। नहीं तो जितनी मुंड़धुन आप विदेशी भाषा में कर रहे हैं उतनी ही हम अपनी ज्योतिष, वैद्यक, पुराणादि में करके बिना नौकरी आपके लगभग कमा सकते हैं। बरंच आप अपनेपन से अनेकांश में रहित हो जाइएगा और हम सर्वथा शुद्ध वरंच शुद्धता के शिक्षक कहलावेंगे। फिर न जाने क्यों हमारे देशभाई अपनी भाषा से मुंह फेरे बैठे हैं। हम अन्य भाषाओं के पढ़ने पढ़ाने का विरोध नहीं करते, पर इतना अवश्य कहेंगे कि आरंभ ही से लड़कों को ए बी सी डी अथवा अलिफ बे रटाना उनका जन्म नशाना है। इस दशा में वे अपनी रीति नीति, धर्म कर्मादि से बंचित आत्म-गौरव एवं अपने लोगों की मान मर्यादा से विरक्त हो के, कठिन परिश्रम कर के, निर्बल शरीर अथवा संकुचित बुद्धि बन के, केवल सेवा कर के, पेट पालने के योग्य रह जाते हैं। पर इसके विरुद्ध यदि बाल्यावस्था में उन्हें हिन्दी और उसके साथ संस्कृत भली भांति सिखला दी जाय तो उनकी निजता दृढ़स्था-यिनी हो जाय, कुल परंपरा के अनुकूल जीवन यात्रा का उपाय करते हुए लाज न लगे, जिस काम को उठावें बहुतेरों की अपेक्षा उत्तमता से कर सकें और ऐसी दशा में बाबू अथवा मुंशियों से सौ बिस्वा अच्छे रहें। यदि अंगरेजी फारसी का प्रेम फसफसाए तो केवल भाषा ही भाषा में परिश्रम करना पड़े, इससे हमारे धनी, निर्धनी, समर्थ, असमर्थ का मुख्य कर्तव्य ही है कि हिन्दी पढ़ना पढ़ाना शपथपूर्वक अंगीकार कर ले। कोई न कोई हिन्दी

का पत्र अवश्य देखा करें। हिन्दी में जितने ग्रंथ बनें उनकी एक २ कापी अवश्य खरीद लिया करें और यथासंभव संस्कृत अंगरेजी के बिद्वानों से उत्तमोत्तम विद्याओं की पुस्तकें हिन्दी में अवश्य अनुवाद कराया करें। ऐसा होने से आज जिन विद्वानों, बुद्धिमानों, संपादकों, सुलेखकों और सत्कवियों के अनेकानेक रत्न सदृश विचार अनुत्साह के कारण मन के मन ही में रह जाते हैं उनका हृदय प्रोत्साहित होगा और तद्वारा दो ही चार वर्ष में देखिएगा कि हम क्या से क्या हो गए और आगे के लिये हमें तथा हमारे आगे होने वालों के लिए क्या कुछ प्राप्त हो चला। हमारे यहां विद्याओं और विद्वानों का अभाव नहीं है पर उनका प्रचार तथा उनको प्रोत्साहन देने वाले केवल इतने ही हैं कि उंगलियों पर गिन लिए जायं। उनमें भी सच्चे और सामर्थ वाले और भी थोड़े। इसी से कुछ भी करते धरते नहीं बनता। अस्मात् सर्वतः प्रथम हमें इसकी आवश्यकता है कि हमारे सुलेखक और सुवक्तागण सर्वसाधारण के जी में हिन्दी का प्रेम उपजाना, नित नए ग्रन्थों का प्रकाशित करना कराना और जहां तक हो सके उन्हें सस्ते दामों बिकवाना बरंच किसी व्यक्ति वा समूह की सहायता से गली २ घर २ में सेंत बंटवाना, पढ़ने योग्य स्त्री पुरुषों को पढ़ाना नहीं तो सुनाना, अपना परम धर्म समझें, शेष बातों को उस के अंग मात्र।

खं० ७, सं० ३ (१५ अक्टूबर ह० सं० ६)

मूर्तिपूजकों की महौषध

यों चाहै जो कहा करे कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध होने के कारण हानिकारिणी है पर जिन महात्माओं का सिद्धान्त है कि 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम्' उनके वचनानुसार हम कह सकते हैं कि जिन्हें इस काम में पूर्ण श्रद्धा न हो वे भी केवल नित्य नियमानुसार दर्शन और चरणामृत पान मात्र से शारीरिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्याह सूर्य्योदय के पहिले गंगा स्नान निभ सके तौ तो कहना ही क्या है, प्रातःकाल की स्वच्छ वायु का सेवन, सो भी पांव २ चल के, वैद्य डाक्टर हकीम सभी के मत में महागुणदायक है। ऊपर से उस समय जिस देवमंदिर में जाइए, बहुधा फूलों तथा धूप कर्पूर से महकता हुवा पाइएगा। यह मस्तिष्क के लिए अमृत ही है। परमेश्वर ने चाहा तो हैजा और इन्फलुयंजा तो कभी पास न आवैंगे। यदि इतना भी न हो सके तो चरणामृत ही का नेम कर लीजिए। उसकी भी यह महिमा झूठ नहीं है कि 'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि विनाशनं'। जो व्याधि हरेगा वह अकाल मृत्यु को अवश्य ही निकट न आने देगा। सो सभी पदार्थ उसमें विद्यमान हैं। गंगाजल को सभी जानते हैं, सारे संसार की नदियों से अधिक शुद्ध है। बरसों रख छोड़ो न स्वादु बदलेगा, न दुर्गन्धि आवेगी, न कीड़े पड़ेंगे। ऐसा उत्तम जल, उसमें भी सर्वज्वरघ्न तुलसी के दल ऊपर से। महातापहारक चंदन (ज्वर अजीर्ण और दाह में वैद्यों के यहां तुलसी तथा हकीमों के यहां संदले सुफैद आगे चलते हैं) सो भी जाड़े के दिनों सुगंधिप्रसारक और पुष्टिकारक केशर से मिला हुआ, जिसे नित्य निहार मुंह सेवन करने को मिलेगा उसे भला शीतोष्णजनित व्याधि क्यों सताने लगीं, विशेषतः भारत ऐसे ऊष्णता प्रधान देश में? उपर्युक्त तीनों पदार्थों का गुण चाहे जिस वैद्यविद्या विशारद से पूछिए, उत्तम ही बतलावेंगे। फिर हम क्यों न मान लें कि भगवान का चरणोदक इस देश वालों के लिए बिना पैसा कौड़ी की सर्वव्याधि विनाशिनी महौषध है। हां, यदि नये नेमियों को उसके सेवन से श्लेष्मा हो जाय तो केवल दो ही तीन दिन का काया कष्ट है, जान जोखों नहीं है, जब अभ्यास पड़ जायगा तब प्रत्यक्ष गुण देख पड़ेगा। यदि हमारे कहने से जी न भरे तो चरणामृत के ऊपर से दो चार बालभोग के

बताशे अथवा भिगोई हुई चने की दाल (कच्ची) थोड़ी सी पा जाइये वह डर भी जाता रहेगा। और सुनिए, श्री शालिग्राम अथवा नर्मदेश्वर को स्नान करा के आंखों पर स्पर्श कीजिए तो वह ठंढक आती है कि क्या कहना है। आश्चर्य नहीं जो ऋषियों ने प्राणायामजनित ऊष्मा की निवृ ही के लिये यह रीति निकाली हो। कई मित्रों का अनुभव है कि नेत्र विक के लिए यह अत्युत्तम उपाय है। यदि ऐसी ही ऐसी बातें वेद विरुद्ध हैं वेद भगवान को दूर ही से प्रणाम है जो श्रद्धालुओं के तन मन और आत् के लिए सुखद और केवल नियमपालकों के लिए शरीर स्वस्थ रखने वा मूर्तिपूजा का निषेध करते हों।

खं० ७, सं० ४, (१५ नवंबर ह० सं० ६)

श्री भारत धर्म महामंडल

जिन विदेशी इतिहास लेखकों का यह मत है कि 'आर्य जाति यहां की सनातन निवासिनी नहीं है, बरंच आदि में ईरान अथवा अन्य किसी देश से आ के और यहां के प्राचीन निवासियों को हरा के अपना प्रभुत्व जमाया तथा घर बनाया था' उनका कथन तो हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि उन्हीं के बचनानुसार सृष्टि को बने हुए अनुमान छः सहस्र वर्ष बीते हैं और इतने थोड़े दिनों का पता लगाना खोजी के लिए दुस्साध्य चाहे जितना हो असाध्य नहीं है। फिर आज तक किसी ने क्यों न बतलाया कि आर्यों के आने से पहिले इस देश का क्या नाम था ? भीलस्थान, कोलस्थान, गोंडस्थान अथवा और किसी असभ्य जाति का स्थान ? यदि कोई महात्मा कुछ अनुमान कर करा के कोई नाम नियत भी कर देंगे तो हमें यह पूछने का ठौर बना रहेगा कि भिल्ल कोलादि तो आर्य्यों ही की भाषा के शब्द हैं तथा स्थान, •सितान और सितां इत्यादि भी संस्कृत ही के स्थान से बिगड़ बिगड़ा के बन गए हैं, और जो जाति यहां आर्यों से पहिले रहती थीं वह भी संस्कृत ही बोलती थीं, इसका क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर आपके पास आज केवल इतना ही है कि आगे क्या था यह कोई जानता नहीं है। हां, अनुमान से ऐसा ही जान पड़ता है (जैसा विदेशी इतिहास लेखकों का मत है)। पर स्मरण रखिए कि आपका यह अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि यदि आप ईश्वर को मानते हैं तो उसे अनादि सर्वशक्तिमान और सृष्टिकर्ता भी अवश्य कहते होंगे। तथा यह तीनों गुण तभी रह सकते हैं जब सृष्टि का आदि अंत न ठहराइए। नहीं तो बतलाइए तो, छः सहस्र वर्ष पहिले (जब सृष्टि न बनी थी) तब ईश्वर क्या कर रहा था ? यदि कुछ न करता था कहिए तो उसका सर्वशक्तिमानत्व और सृष्टिकर्तृत्व अनादि नहीं रहने का, बरंच ईश्वर का अस्तित्व ही व्यर्थ हो जायगा। यदि ईश्वर को न मानिए तौ भी कृपा करके यह बतलाइए कि जिन पदार्थों और संघट्टनों से सृष्टि बनी है वह छः सहस्र वर्ष पहिले थे या नहीं ? यदि थे तो सृष्टि क्यों न बन गई और यदि न थे तो सृष्टि रचना के समय कहां से कूद पड़े ? ऐसी २ बातों का विचार करने बैठिए तो अंत में निकाल यही निकलेगा कि आस्तिक और नास्तिक दोनों मतों के अनुसार जब से ईश्वर अथवा सृष्टि की सामग्री है तभी से उसका काम अर्थात् जगत का

प्रादुर्भाव और तदन्तःपाती वस्तुओं की दशा का परिवर्तन होता रहता है। रहा मोटी रीति पर समय का कोई धड़ा बांध लेना, उसके लिए जिनके यहां आदम से सृष्टि का आरंभ माना जाता है उनके यहां हमारे देश का कहीं नाम भी नहीं लिखा, फिर उन लोगों के अनुमान का क्या ठीक कि वे किस मूल पर ऐसा अनुमान करते हैं वही जानें पर बिना किसी पुष्ट प्रमाण के उनका कथन सबको मान लेना कुछ भी आवश्यक नहीं है। इधर जिनके यहां ब्रह्मा से सृष्टि का आरंभ ठहराया जाता है उनके शाब्द प्रमाण से स्पष्ट विदित है कि ब्रह्मा ब्राह्मण अर्थात् आर्य थे (वा हैं)। वे किसी दूसरे देश से यहां न आए थे। कानपुर के निकट ब्रह्मावर्त में उन्होंने यज्ञ किया था और उनके पुत्र मनु जी, (जिनकी बनाई मनुस्मृति विद्यमान है), जो मानव जाति के मूल पुरुष हैं, अयोध्या के राजा थे और नैमिषारन्य में तप किया था। यों शास्त्रार्थ के आगे सभी देश के इतिहासों में गड़बड़ाध्याय है पर पता लगाने का पुष्ट उपाय यही है कि जहां का इतिहास जानना हो वहीं के बहुधा पुराने ग्रन्थों तथा बचनों से ढूंढ़ा जाय। दूसरे लोगों का अनुमान बहुधा भ्रांतिमूलक ही होता है। इस न्याय से हिन्दुस्तान सदा से हिन्दुओं का है और हिन्दू यदि किसी दूसरे देश से आए होते तो उनके प्राचीन ग्रन्थों में उस देश का कुछ विवरण तथा इस देश के आदिम निवासियों की भाषा में यहां का नाम ग्राम अवश्य लिखा होता। क्योंकि इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि सबसे पहिले लिखने, पढ़ने, कृषि, वाणिज्यादि करने में इन्हीं ने सब के आगे कदम बढ़ाया था। साराश यह है कि आज हम किसी दशा में क्यों न हो अथवा हजार पांच सौ वर्ष पूर्व कैसा ही दुख सुख क्यों न भोगते रहे हों, पर हिन्दुस्तान हमारा है, क्योंकि हम हिन्दू हैं। यद्यपि मुसलमान, ईसाई, फारसी सब यहां रहते हैं पर कहलाते हिन्दुस्तानी ही हैं जो नाम हमारे नाम के योग से बना है। हमारा राजा कोई हो, कहीं का हो, पर जब वह स्वयं अथवा उसके कुटुम्बी वा सजाती यहां कुछ दिन के लिए भी निवास स्वीकार करेंगे तो हमारे ही नाम के साथ परिचित होने लगेंगे क्योंकि हम आर्य हैं और यह देश हमारा आवर्त है। हम हिन्दू हैं और यह देश हमारा स्थान है। यह भारत है और हम यहां के मुख्य निवासी हैं। दूसरे लोग केवल गौण रीति से भारतीय कहलावें पर मुख्य भारतीय हमीं हैं जिनके लाखों पुरखे भारत में हो गए और परमेश्वर चाहेगा तो आगे होने वाली लाखों पीढ़ियां भारत ही में बीतेंगी तथा हमारी ही उन्नति अवनति का नाम भारत की उन्नति अवनति है, था और होगा, क्योंकि राजा, राज कर्मचारी,

राज जातीय, धनी, विद्वान एवं गुणवान इत्यादि यद्यपि सुखित, प्रतिष्ठित और शक्ति-समन्वित होते हैं पर यतः उनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। इससे उनके सुख दुख, सम्पत्ति विपत्ति आदि को देश का सुख दुख, संपत्ति विपत्ति नहीं कहते। वे चाहे यहां के निवासी हों चाहे प्रवासी, उनका नाम देश नहीं कहा जा सकता। हां, देश का एक विशेष अंश भले ही बने रहें पर साधारण समुदाय के लोग जिनका बल, विद्या, धन, मान आदि सर्व-साधारण से अधिक नहीं होता पर संख्या तीन चौथाई से भी कुछ अधिक ही होती है इससे वही देश के अस्थि मांस कहलाते हैं, बरंच उन्हीं का नाम देश है और उन्हीं की दशा देश की दशा कहलाती है। इस रीति से आंखें पसार के देखिए तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं ही के बनने बिगड़ने से बन बिगड़ सकता है। जिन दिनों हिन्दुओं के सौभाग्य का सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशमान था उन दिनों समस्त विदेशी हिन्दुस्तान का यश गाते थे, प्रतिष्ठा करते थे और हिन्दुस्तान के लिए ललचाते थे तथा हिन्दुस्तान के कोप से डरते थे। जब हिन्दुओं के कुदिन आये तब हिन्दुस्तान दूसरों के स्वेच्छाचार का आधार बन गया। बड़े २ शाहंशाहों के होते हुए भी भारत की दशा को कोई इतिहासवेत्ता अच्छी न कह सकता था। यों ही आज कल जब कि न महाराज पृथ्वीराज के पुरखों के समय की नाईं हिन्दुओं को सब सुख सुविधा प्राप्त है न अलाउद्दीन औरंगजेब आदि के समय की भांति राह चलना अथवा चार मित्रों के साथ बैठना कठिन है बरंच महारानी विक्टोरिया के प्रबल प्रताप से दुर्दशा का रोग निःशेषप्राय हो गया है और धीरे २ बल बढ़ता जाता है तथा स्वच्छंद रूप से सब को अपनी दशा सुधारने का अधिकार है तब हिन्दुओं के साथ २ हिन्द के दिन फिरने की आशा करना भी अमूलक नहीं जान पड़ता। पर यतः अपना भला बुरा अनेकांश में अपने ही करने से होता है। अस्मात् सब जातियों के साथ २ हिन्दुओं को भी उचित है कि इस सुराज्य के अवसर को हाथ से न जाने दें एवं सब बातों में राजा ही का मुखावलोकन न करते रहें, अपने सुधार के निमित्त कुछ आप भी हाथ पांव हिलावें। और सैकड़ों प्रमाण, सहस्रों शास्त्रियों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि इस जाति का शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यवहारिक, लौकिक, पारलौकिक सब सुधार सदा सर्वथा धर्म ही के मूल पर स्थित है। इससे धर्म से संबंध रखने वाली सभाओं का समय २ पर होते रहना इसके कल्याण साधन का एक बड़ा भारी अंग है और इसी विचार से बहुत से बुद्धिमानों ने बहुत स्थानों पर आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसभादि

कई एक सभा संस्थापित भी कीं। पर एक तो जो काम पहिले पहिल किया जाता है वह पूरी रीति से कम पूरा पड़ता है, दूसरे जिसमें एक बड़ा जनसमूह योग नहीं देता उसके उन्नति में बाधा अवश्य पड़ती है। इन दो कारणों से यह समाज जैसा चाहिए वैसी कृतकार्य न हो सकीं। इनका उद्देश्य यद्यपि अनेकांश में उत्तम है पर धर्म प्रचार के साथ ही मत मतांतर का खंडन मंडन, प्रतिमा पुराणादि की हठपूर्वक निन्दा स्तुति और जाति भेद, भक्ष्याभक्ष्य विधवा विवाहादि विषयक आग्रह निग्रह के कारण देश की साधारण जनता इन पर यथोचित श्रद्धा न कर सकी। यद्यपि इधर दो चार वर्ष से इनमें के कुछ लोग इस बात पर ध्यान देने लगे हैं कि लोगों की रुचि और देशकाल पात्र के अनुसार कार्यवाही किए बिना काम न चलेगा, पर इसका पूरा बर्ताव होने में अभी विलम्ब है। इससे यह कहना अयुक्त न होगा कि इनके उद्देश्य की सफलता में भी विलंब है। इस कारण ऐसी महासभा की अवश्यमेव बड़ी आवश्यकता थी जो किसी नियत समय पर अनेक नगरों के अनेक-मतानुयायी लोगों को एकत्रित किया करे और उन सबकी सम्मति के अनुसार सर्व धर्म ग्रन्थानुमोदित सर्व समुदाय सम्मत एवं सर्वलोक रुचिकारक विचार तथा समय २ पर स्थान २ में अपने सहचर वर्ग के द्वारा उनके प्रचार का प्रबंध करती रहे। धर्म के भावुक और देश के भक्तों को आनंद मनाना चाहिए कि इसी अभाव की पूर्ति के लिए श्री भारत धर्म महामंडल ने आविर्भाव किया है और पूर्वोक्त सभावों की दशा के द्वारा अनुभव लाभ करने से तथा उद्देश्य की उत्तमता, कार्याध्यक्षों की कुशलता एवं कार्यवाही की सुस्पष्टता से जन्म दिन से आज तक उत्तरोत्तर साफल्य प्राप्त किया है। पहिला महाधिवेशन हरिद्वार जी पर हुवा था। उस समय देश के महान समुदाय को इसका आंतरिक मनोरथ भली भांति विदित न था। इससे बहुत लोगों ने सहानुभूति न प्रकाश की थी। पर तौ भी थोड़े से चुने २ दूरदर्शी विद्वान और प्रतिष्ठित हिन्दुओं ने कटिबद्ध हो के उत्साहपूर्वक इसका मूल संस्थापन किया था जिसकी वृद्धि श्री बृन्दावन वाले दूसरे ही समागम में बड़ी सफलता के साथ देखने में आई और विचारशीलों को विदित हो गया कि बहुत कोलाहल न मचने पर भी इसका कार्य उचित उन्नति के साथ होता रहा है और होता रहेगा। आज असाधारण लोगों की एक संतोषदायिनी संख्या को इस के साथ ममत्व भी है। कई एक धर्म सभाएं इसे अपना अभिभावक भी समझती हैं। 'सुदर्शनचक्र' नामक एक उत्तम पत्र भी इसी के उद्योग से प्रकाशित होता है तथा कई स्थानों पर इसी के कार्य संपादकों के प्रयत्न से बाल्य-

विवाहादि कई एक कुरीतियों के निवारण की समयोपयोगी प्रथा का भी सूत्रपात हो गया है। क्या यह कृतकार्यता के लक्षण सहृदय मंडली के लिए तुष्टिदायक नहीं हैं, और यह आशा नहीं उपजाते कि यों ही काम होता गया तो बहुत कुछ हो रहेगा? अब तीसरा समारोह इसी मास में इंद्रप्रस्थ के मध्य निर्धारित हुआ है। परमेश्वर करे इसमें और भी अधिक संतोषदायक साफल्य का दर्शन हो। इधर कांग्रेस के महाधिवेशन का समय भी निकट आ रहा है और उसकी समाप्ति वाले दिन सौश्यल्य कांफरेंस की भी अवश्य ही बैठक होगी। उसमें यदि इसकी ओर से भी कुछ सज्जनों का पदार्पण हो तो आर्य जाति के लिए एक सच्ची सुविधा की संभावना है। क्योंकि जिस प्रकार राजनैतिक सुधार के लिए नेशनेल कांग्रेस का सा उद्योग कर्तव्य है वैसे ही सामाजिक संशोधन के निमित्त कांफरेंस की भी बड़ी ही आवश्यकता है। वरंच इसके लिए उसका और उसके हेतु इसका बड़ा भारी प्रयोजन है। क्योंकि राजनैतिक भार अति भारी न हो तो लोग सामाजिक सुधार में बड़ा भारी सहारा पाते हैं और जिनकी सामाजिक दशा अच्छी होती है उनका राज परिकर की दृष्टि में आदर रहता है। इससे उनका शासन निरी मनमानी रीति से नहीं किया जाता और समाज उन्हीं के सुधारे सुधर सकती है जो समाज में आद्रित हों, उसकी रीति नीति भली भांति जानते मानते हों तथा जनता की रुचि के अनुसार उसे उपर्युक्त मार्ग पर ला सकते हों। ऐसे लोग हमारे मुसलमान भाइयों को विद्वान धार्मिक मौलवियों में तथा हमें इस मंडल के सहवर्तियों ही में मिलेंगे। क्या भा० ध० म० मं० के महामंत्री हमारे श्रद्धापद पंडितवर श्री दीनदयाल महोदय हमारे विचार पर ध्यान दे के आगामी अधिवेशन में इसकी चर्चा चलावेंगे?

खं० ८, सं० ४ (१५ नवंबर ह० सं० ६)

सच्चा सदनुष्ठान

अब की बार दिल्ली में भारत धर्म महामंडल का अधिवेशन बड़ी भारी धूमधाम से हुआ जिसका वृत्तान्त कई समाचारपत्रों के द्वारा प्रकाशित होने से अनेक सहृदयों को बड़ी भारी आशा और संतोष होने की दृढ़ संभावना है। पर हमारी समझ में यों तो उसके सभी विचार उत्तम और उपयोगी हैं किन्तु उनके अंतर्गत संस्कृत कालेज स्थापन करने का विचार ऐसा हुवा है जिस की इस समय बड़ी ही आवश्यकता थी। हमें यह पढ़ के बड़ा आनन्द हुवा कि कई उत्साही पुरुषों ने उसी समय चन्दा भी जी खोल के दिया अर्थात् पंद्रह सहस्र रु० के लिए हस्ताक्षर हो गए और आशा है कि शीघ्र ही इसका प्रबंध होने की चेष्टा की जायगी। पर कोई हमसे पूछे तो यही कहेंगे कि और सब काम कुछ दिन के लिए उठा रक्खे जायं पर इसके लिए जैसे बने वैसे शीघ्र ही उद्योग करना चाहिए। देश के सच्चे नीतिज्ञ शुभचिंतकों का परम धर्म है कि चाहे झोली बांध के पैसा दुकान २ मांगना ही क्यों न पड़े, चाहे घर के कपड़े बर्तन बेचने ही क्यों न पड़ें, चाहे झूठे वादों पर बरसों टालमटोल करने के नियम पर ऋण ही क्यों न काढ़ना पड़े, पर साम दाम निर्लज्जता खुशामद इत्यादि सब कुछ करके किसी न किसी तरह इतना रुपया अवश्य ही एकत्रित कर लेना चाहिए जिससे उक्त कालेज की धन संबंधी अड़चलें मिट जाने की पूर्ण आशा हो जाय। क्योंकि यह एक ऐसा सच्चा सदनुष्ठान है कि यदि परमेश्वर सचमुच धर्म से प्रसन्न होता है और देश का हित करना सचमुच धर्म है तो इस अनुष्ठान के लिए जैसी चाल चलनी पड़े सब धर्म ही है और ईश्वर को प्रिय ही है। यद्यपि उचित तो यह है कि प्रत्येक बड़े नगर में एक २ संस्कृत और हिंदी की महापाठशाला स्थापित करने के लिए पूर्ण उद्योग किया जाय और इस काम के लिए भारतमाता आज इस मंडल ही का मुंह देख रही है पर यतः दिल्ली में इसकी चर्चा छिड़ गई है और कुछ आशा की भी नींव पड़ गई है, इससे सबसे पहिले सौ काम छोड़ के वहां इसका ढचर पड़ ही जाना चाहिए। फिर धीरे २ सब हो रहेगा। खरबूजे को देख के खरबूजा रंग पकड़ता है। हम नहीं समझते कि मंडल के उत्साही धर्मवीर यह समझ लें कि बस दिहली में कृतकार्यता प्राप्त हो गई, अब हमें कोई इति कर्तव्य बाकी ही नहीं रहा अथवा देश हजार

निर्धन, लाख निरुत्साह है तो भी यह संभव नहीं कि जिस बात के लिए हाव २ की जाय उस में कुछ भी साफल्य न लब्ध हो । पर जो काम सामने है पहिले वुह पूरा होना चाहिए । आज हमारी पठन पाठन व्यवस्था ऐसी सत्यानाश हो रही है कि स्त्रियां जो निरक्षरा होती हैं वे तो अपने कुल की सनातन रीति नीति का कुछ अभिमान भी रखती है, धर्म के उन अंगों पर जिनका उन्हें काम पड़ता है कुछ श्रद्धा भी करती है, अनेकांश में अपने धन और मान की हानि लाभ का विचार भी रखती हैं, रसोई पानी, सीने पिरोने आदि में अधिकतः कुशल ही नहीं वरंच कशीदा इत्यादि के द्वारा अपने हाथ से अपना निर्वाह करने भर के वंद भी नहीं हैं पर हमारे बाबू साहब सिवाय नौकरी करके (सो भी बड़ी २ सिफारिश, खुशामद, स्वातंत्र्य त्याग करने पर दस पंद्रह हद बीस) पेट भर लेने के और किसी काम ही के नहीं हैं । क्योंकि उन्हें स्कूल में आत्मगौरव, कुलाचार, कुलधर्म, सुनीति, सुख निर्वाह, उद्योग, उत्साह आदि की शिक्षा ही नहीं दी गई । तमाम हिस्टरी रटे बैठे हैं पर इतना नहीं जानते कि हिन्दुओं में भी कोई सच्चा धार्मिक वीर उत्साही अपने भरोसे सब कुछ करने का इरादा रखने वाला केवल थोड़े से साथियों के बल पर बड़े बूढ़ों के दांत खट्टे कर देने में साहसी हुवा है अथवा नहीं ? मिशन स्कूलों में तो खैर देवता, पितर, तीर्थ, वृत, गऊ, ब्राह्मण, तुलसी, ठाकुर, गंगा, भवानी आदि की ओर से अश्रद्धा उपजाने की चेष्टा की ही जाती हैं पर अन्य स्कूलों तथा कालेजो में भी हम नहीं देखते कि जातित्व संरक्षण की शिक्षा मिलती हो । हां, आप अपनी चतुरता से दूसरों की देखादेखी अपने देश जाति गृह कुटुंबादि का महत्व भले ही सीख लें पर वहां यही सिखलाया जाता है कि आर्य लोग हिन्दुस्तान के कदीम बाशिन्दे न थे, कहीं बाहर से आकर यहां बसे थे । धन्य है ! जातित्व नष्ट कर देने की क्या अच्छी युक्ति है, पर निर्मूल । नहीं तो भला आर्यों की सी समुन्नत जाति और पूर्ण उत्थान के समय किसी ग्रंथ में अपने पूर्व निवासस्थान का नाम भी न लिखती ? मुख्य मातृभूमि की ममता न करके 'दुर्लभं भारते जन्म' इत्यादि के राग गाती ? पर समझे कौन, समझ तो विदेशी शब्द ही रटते २ थक जाती है । ऊपर से प्रयाग यूनीवर्सिटी ने हिन्दी (और अपना कलंक मिटाने मात्र को उर्दू भी, पर झूटमूट, नहीं तो फारसी के विद्वान उर्दू में अधिकतः दक्ष होते हैं किन्तु संस्कृत के पंडित हिन्दी में बिरले ही चतुर होंगे इसीसे अनेक सहृदयों का सिद्धांत है कि हिन्दी के साथ फारसी की तुलना हो सकती है न कि उर्दू ऐसी कच्ची भाषा की) का अपमान करके

यह और भी कोढ़ में खाज बढ़ा दी है कि जिन कोमल प्रकृति बालकों की बुद्धि एक ही विदेशी भाषा के मारे प्रस्फुरित न होने पाती थी वे अब दो २ दूरदेशी भाषा पढ़ें और स्वास्थ्य को तिलांजलि दे के, बुद्धि संचालन का समय ही न पा के, लड़कपन यों व्यर्थ बितावैं। फिर यौवन और वार्धक्य तो परमेश्वर ही ने व्यर्थ किया है। हम सैकड़ों बी० ए० एम० ए० दिखला सकते हैं जिनमें अंगरेजी बोल लेने के अतिरिक्त सदाचार, सुशीलत्व, देशभक्ति आदि विद्या के फल की गंध भी नहीं है क्योंकि उन्हें कभी शिक्षा ही नहीं दी गई। यदि स्कूल की अनेटा से घबरा के लड़के को मौलवी साहब के यहां भेजिए तो हिसाब का नाम न जानेगा, भूगोल खगोल रेखागणित बीजगणित का स्वप्न न देखेगा, अपने पूर्वजों को यह भी न समझेगा कि किस खेत में पैदा होते थे। हां बड़े बूढ़ों के सामने नम्रता और बराबर वालों से शिष्टता में अभ्यस्त हो जायगा। अंगरेजी वालों में इसका भी अकाल नहीं तो मंहगी अवश्य है। पर सीखने को जन्म भर में आशिक माशूक, गुल बुलबुल, जुल्फ अब्र और बस! तथा इसका फल केवल इतना कि खाते पीते घर का हो तो तरहदारी की नहीं तो अमीरों की खुशामद में जीवन बिता दे। मनुष्य का जन्म का कर्तव्य जानना घर से सौ कोस दूर है। रहे हमारे पंडितराज, उनके यहां आठ दस वर्ष केवल 'कौमुदी' रटने में लगते हैं। दूसरे शास्त्र पढ़ने हों तो ब्रह्माजी की आयुर्दाय चाहिए, क्योंकि व्याकरण केवल दूसरे शास्त्रों के समझने के लिए पढ़ी जाती है, सो यहां दतून ही करते दुपहर पर चार बजते हैं, नहाना खाना कैसा? इसके साथ हिन्दी में अभ्यास करना तो दूर रहा 'भाषायाः किम्प्रमाणं'? संस्कृत भी ऐसी ही रहती है कि एक श्लोक रख दीजिए, पहर भर तक पदच्छेद सुन लीजिए, पर भावार्थ पूछिए तो 'एक वृक्षे समारूढ़ा नानावर्णा विहंगमाः'—एक जो है वृक्ष तेहि बिखे नाना वर्ण के जो बिहंगम कहैं चिरई है ते सम्यक् प्रकार करि कै आरूढ़ है, बस समझौ चाहे चूल्हे में जाव। और जो कहीं संस्कृत में एक चिट्ठी लिखनी पड़े तो सत्रह दिन चाहिए। बस, राम राम सीता राम। पर इसके साथ रुक्षता, अभिमान और अवसिकता थर्मामीटर का पारा सदा एक सौ बारह नंबर पर रहता है। सभा में बैठे तो शांति रक्षा के लिए पुलिस बुलाना पड़े। देश की क्या दशा है, जाति का कैसा रंग है, उसके सुधार के लिए क्या कर्तव्य है इन बातों का कदाचित स्वप्न में भी ज्ञान नहीं। ऐसी दशा में हम नहीं कह सकते कि द्वेषी लोग संस्कृत को मृत भाषा और हिन्दी को निरी निरर्थक क्यों न कहें? जिस संस्कृत में आज भी वह २ बातें विद्यमान हैं जो दूसरी

भाषाओं को सैकड़ों वर्ष मिलनी कठिन हैं, जिस हिंदी के बिना हिंदू जाति का गौरव ही नहीं रह सकता उसकी यह दशा, और देश भाइयों की उसके विषय में यह उपेक्षा, तथा गवर्नमेंट की ऐसी क्रूर दृष्टि देख के किस परिणामदर्शी को भविष्यत् के लिए दुर्दैव की एक अकथनीय कराल मूर्ति न देख पड़ती होगी। इस भयानक मूर्ति के खंडित कर देने की आशा श्री दयानंद स्वामी के एंग्लो वैदिक स्कूल से भी की जा सकती है। पर उसके एक तो पंजाब में होने के कारण जितना सहारा संस्कृत को मिलता है उतना हिन्दी को मिल नहीं सकता और हिन्दी के बिना इस काल में संस्कृत को ऐसा ही समझना चाहिए जैसे बिना शस्त्र का योद्धा। दूसरे अभाग्यवशतः वहां पुराणों का आदर ही नहीं है जो सहृदयता का मूल है। इससे वहां के विद्यार्थी साक्षर चाहे जैसे हो जायं, देश हितैषी और उद्योगी अवश्य होंगे, पर रहेंगे शुष्कवादी और सर्वसाधारण का स्नेह लाभ करने में अक्षम। ऐसे अवसर पर भा० ध० म० मं० का उपर्युक्त विचार ऐसा हुवा है जैसे सूखती हुई खेती के पक्ष में मेघमाला का दर्शन। परमेश्वर करे यह कालेज स्थापित हो जाय तो आशा है कि वेद शास्त्र पुराण काव्य नीति इतिहास सभी को आश्रय मिलेगा और साथ ही नागरी देवी भी बड़ा भारी सहारा पावैंगी। तथा किसी संप्रदाय को इससे चौंकने की भी संभावना नहीं है। हम यह भी नहीं सोचते कि इसके अधिकारी लोग बालकों के स्वास्थ्य और सदआचरण पर भी उतना ही ध्यान न देंगे जितना शिक्षा के लिए दातव्य है। इस रीति से कोई संदेह नहीं है कि दस ही पांच वर्ष में व्यवहारकुशल, धर्माभिमानी, देशभक्त, जातिहितैषी, उद्योगशील और कार्यदक्ष नवयुवकों का एक समूह उत्थित हो के हमारे संतोष का कारण होगा। इसी से कहते हैं कि इस सदनुष्ठान में विलम्ब करना ठीक नहीं। जैसे बने तैसे कर ही उठाना चाहिए।

खं० ७, सं० ५ (१५ दिसंबर ह० सं० ६)

ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य

इधर पंद्रह बीस वर्ष से भारतवर्ष में देश की दशा के सुधार की धूम मच रही है। धर्म संबंधिनी, समाज संशोधिनी, राजनीति विषयिणी छोटी बड़ी एकजातीय तथा बहुजातीय सभाओं, उपदेशकों और समाचारपत्रों का प्रादुर्भाव इसी उद्देश्य से हुआ है और इन यत्नों से यद्यपि अभी बहुत ही थोड़ी सफलता प्राप्त हुई है अथच जसी चाहिए वैसी सफलता के लक्षण अभी दूर दिखलाई पड़ते हैं, पर इसमें सन्देह नहीं है कि एक न एक दिन कुछ न कुछ होगा अवश्य। जब जहां के लोगों की चित्तवृत्ति पुराने ढर्रे से फिर के किसी नवीन पथ की ओर झुकना आरंभ करती है तब कुछ दिन में वहां या तो पूर्ण उन्नति अथवा नितांत अवनति अवश्यमेव मुख दिखलाती है। इस न्याय को सामने रख कर विचारने बैठिए तो आशा देवी यही कहती है कि जो देश सैकड़ों वर्ष से अवनत हो रहा है वह उन्नत न होगा तो क्या होगा। यह प्राकृतिक नियम है कि एक दशा का अपनी पराकाष्टा को पहुंच जाना ही दूसरी (उसके विरुद्ध) दशा के प्रारंभ का लक्षण है। इसके अनुसार अब हमें उन्नति ही की आशा करनी चाहिए एवं बहु सम्मति के अनुसार सभा इत्यादि का संस्थापन भावी उन्नति ही के साधन हैं। पर इन साधनों का प्रभाव विचार कर देखिए तो अभी केवल बड़े २ नगरों ही में सीमाबद्ध हो रहा है। ग्रामों में यदि कुछ पहुंच भी है तो इतना जितने को न पहुंचना कहें तो अयुक्त न होगा। बंगाल, बम्बई, मद्रासादि सुविज्ञ प्रान्तों के ग्रामों की ठीक २ दशा हम नहीं जानते क्या है, कदाचित् उनमें नगर-वासियों की भांति ग्रामस्थ जन भी अपने स्वत्व और कर्तव्य को जानते हों। पर हमारा पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध, जो सभी बातों में सबसे नीचे पड़ा है, जहां नगरों में भी लाख हाय २ करो पर कृतकार्यता के समय ढाख के तीन ही पात देख पड़ते हैं, वहां ग्रामों की दशा ऐसी शोचनीय हो रही है कि यदि हमारे देशभक्तगण शीघ्र उनकी ओर दृष्टिपात न करेंगे तो शहरों का सब करना धरना इसी कहावत का उदाहरण हो जायगा कि रात भर पीसा और चलनी में उठाया। क्योंकि जिस देश को आप सुधारना चाहते हैं वह थोड़े से बड़े २ नगरों ही में विभक्त नहीं है वरंच एक २ नगर के आस पास अनेक छोटे बड़े गांव ऐसे विद्यमान हैं जिनकी लोकसंख्या नगर के जन समुदाय

से कहीं अधिक है। किसी प्राचीन से प्राचीन नगर के लोगों का पता लगाइए तो ऐसे कुटुम्ब बहुत थोड़े पाइएगा जिनके पूर्व पुरुष सदा से वहीं के रहने वाले हों। बहुत से लोग वही हैं जिनके पिता अथवा पितामह वा उनसे दो ही एक पीढ़ी पहिले के लोग किसी गांव में रहा करते थे और वर्तमान पीढ़ी का आज भी उस ग्राम अथवा उसके निकटस्थ किसी स्थान से संबन्ध बना हुआ है। जब बहुलोक पूर्ण नगरों का यह हाल है तो हमारे इस कहने में क्या सदेह कीजिएगा कि प्रत्येक बड़े से बड़े नगर की लोकसंख्या से उसके अंचलस्थ गावों की लोक संख्या अधिक है। न मानिए आने वाली मरदुमशुमारी के द्वारा निश्चय कर लीजियेगा कि नगरों में बहुत लोगों की बस्ती है कि ग्रामों में। पर खेद है कि जहां थोड़े लोग बसते हैं, जहां सब प्रकार के समयोपयोगी साधनों के अवयव सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं, जहां का जन समुदाय स्वयं अथच परम्परा द्वारा सब भाषाओं के सब भाव समझ सकता है वहां के सुख सुविधा साधन और भविष्यत के लिए सुमार्ग एवं सुदशा के संस्थापनार्थ तो सब प्रकार के उपाय किए जाते हैं पर जहां की जनसंख्या बहुत ही अधिक वरंच तीन चौथाई से भी बहुत है और जहां अभी नवीन परिष्कृत रीतियों का समाचार भी बहुत ही स्वल्प पहुंचा है वहां की ओर देशोद्धारकों का ध्यान ही नहीं है। वहां के लोगों को उपदेश करने कभी जाते भी हैं तो पादरी साहबों के परिषद, जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीय धर्म एवं जातित्व का नष्ट कर देना है। क्या देश और जाति का मंगल चाहने वालों का इतना ही मात्र कर्तव्य है कि कपड़े बदल लिए और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले अथवा रेल पर बैठ के एक नगर से दूसरे नगर में चले गए और अंगरेजी अथवा अरबी मिश्रित उरदू में लेक्चर दे २ कर ताली पिटवा आए और घर आ बैठे? इस रीति से यदि कुछ प्रभाव होता भी है तो केवल उसी स्वल्प समुदाय पर जो आपकी बतलाई हुई बातों से पहिले भी अविज्ञान न था। पर इस प्रभाव को हम क्या आप भी इस देश पर प्रभाव पड़ना नहीं कह सकते क्योंकि जितनों को आप सुधारने का यत्न करते हैं अथवा कुछ सुधार भी लिया है उतना तो देश का चतुर्थांश भी नहीं है, है भी तो पहिले ही से कुछ सुधर रहा था, फिर आप देश की सेवा करते हैं वा केवल अपने सदृश लोगों के द्वारा प्रशंसा संचय करते हैं? शहर में आप सौ समाचारपत्र निकालिए, सहस्र समाजें स्थापित कीजिए, लाख पुस्तकें प्रचारित कीजिए, करोड़ लेक्चर दीजिए पर देश भर का भला नहीं कर सकते, देश का सच्चा आशीर्वाद नहीं लाभ कर सकते, जब तक उनके उद्धार का प्रयत्न न कीजिए जो जानते

भी नहीं है कि उद्धार किस चिड़िया का नाम है, देशभक्ति अथवा जाति हितैषिता किस खेत की मूली है, मानव जाति का कर्तव्य क्या है, देश की भूत दशा क्या थी, वर्तमान दशा कैसी है और भविष्यत् के लिए इसके निमित्त किस २ रीति से क्या २ करना चाहिए। हम जिस प्रकार से आज जीवन व्यतीत कर रहे हैं वैसे ही हमारी संतान भी सदा दिन काटती रहेगी अथवा कुछ परिवर्तन भी होगा, इस प्रकार के ज्ञान का प्रचार जिनके लिए आवश्यक है वे यद्यपि अनेकांश में धनी, विद्वान, विचारशील, प्रतिष्ठित एवं समर्थ नहीं है पर मनुष्य वह भी हैं और यदि कोई उनके समझने योग्य भाषा में समझा दे तो समझ सब कुछ सकते हैं। एवं यह कहना भी अत्युक्ति न समझिएगा कि उन्हीं के बनने बिगड़ने का नाम देश का बनना बिगड़ना है। पर क्या कीजिए, जो लोग देश के सुधार का बाना बांधे हैं वे आज तक इन के सुधारने का नाम ही नहीं लेते। नहीं तो यह लोग वे हैं जो नगर निवासियों की अपेक्षा अधिक निष्कपट, अतिशय कृतज्ञ, बड़े सहिष्णु और महा दृढ़चित्त होते हैं। जिस बात को अच्छा समझ लेते हैं, जिस व्यक्ति वा समूह को अपना समझ लेते हैं, जिस कार्य को करणीय समझ लेते हैं, उसके लिए जब तक धोखा न खायं, तन मन धन से उपस्थित रहते हैं। वरंच अनेकशः प्राण तक दे देने को प्रस्तुत रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह तो एक साधारण बात है कि शीत, ऊष्ण, वर्षा सहने में, दिन भर में दस पंद्रह कोस पांव २ चले जाने में किसी की लज्जा, भय, संकोच से निश्चिन्त रहने में, काम पड़ने पर कटु वाक्य एवं अयोग्य बर्ताव की उपेक्षा कर जाने में नगर वालों से कहीं उत्तम होते हैं। और यही गुण है जिनसे प्रत्येक कार्य की सिद्धि संभावित होती है। पर कार्य क्या है यह इनकी समझ में क्या बड़े बड़ों की समझ में आप से आप नहीं आ सकता। विशेषतः इन दिनों जब कि देश में चारों ओर दरिद्र के प्राबल्य से पेट की चिन्ता के मारे हमारी विचारशक्ति उकसने ही नहीं पाती। ऐसे अवसर में वे लोग आप से आप क्या समझ सकते हैं जिन्होंने स्कूल तथा कालेज का कभी मुंह नहीं देखा, सुवक्ताओं के वचन कभी स्वप्न में नहीं सुने, राजनीतिज्ञों, समाज संस्कारकों, समय की चाल के ज्ञाताओं के द्वार पर भी पहुंचने की क्षमता नहीं रखते। हां, यदि आप शहर की गलियों के परिभ्रमण का मोह चटकदार कपड़े वाले मित्रों के संलाप का सुख बाहर सुन के 'पुलक प्रफुल्लित पूरक गाता' हो जाने की लत, हिन्दी शब्दों को मुख पर एवं कान तक आने देने से घृणा परित्याग करके कभी २ अवकाश पाने पर उनकी ओर चला जाना और

अपनी ओर से उनकी झिझक मिटाना तथा स्नेहपूर्ण सरल बातों में उन्हें अपना तत्व, उनका स्वत्व, माननीय कर्तव्य का महत्व समझना स्वीकार कीजिए तो थोड़े ही दिनों में देखिएगा कि आपके विचारों की पूर्ति का संतोषदायक सूत्रपात होता है कि नहीं। धन और जन के द्वारा जितनी सहायता आपके सदनुष्ठानों में आज मिलती है उससे दूनी सहायता मिलने का हम बीमा लेते हैं। दिहात के पुराने गृहस्थ यद्यपि मोटे और मैले वस्त्र पहिने रहते हैं पर उदारता और उत्साह में आपके कुरता, कोट, छकलिया-धारी सहकारियों से चढ़े ही बढ़े निकलेंगे। इसके अतिरिक्त उनका साथ देने वाले भी आपके साथियों से अधिक संख्या और सच्चाई रखते हैं। पर कसर इतनी ही है कि वे नये जमाने के रंग ढंग से बहुधा अज्ञात हैं। यदि आप उन्हें समझा देंगे कि थानेदार साहब लाट साहब नहीं हैं कि तनिक २ सी बात पर तुम्हें धमका के मनमाना बर्ताव कर सकें, उनके ऊपर भी कोई हाकिम है जो विनय सुनने और प्रमाण पाने पर न्याय के द्वारा तुम्हारा काल्पनिक भय मिटा सकता है, हाकिम लोग हौआ नहीं हैं कि तुम उनसे अपना दुःख भी न सुना सको, जब तुम नहर के जल से खेत सींचने के लिए राजस्व दे चुके अथवा अदालत का उचित खर्चा अदा कर चुके तब फिर किसी को कुछ देना न्यायानुमोदित नहीं है, ऐसी दशा में उच्चाधिकारियों से निवेदन कर देना कोई पाप नहीं है, तुम्हारे घर की स्त्रियां बकरी भेड़ नहीं हैं, उनका भी सब बातों में उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा है, अतः उनको अनादृत रखना लोक परलोक दोनों में विडंबना का कारण होगा, घर में कन्या का जन्म होना वस्तुतः अभाग्य का चिह्न नहीं है, बराबर के कुल में उसे ब्याह देना कोई पाप नहीं है, केवल भ्रम के कारण घबरा उठना व्यर्थ है, ऐसी २ अनेक बातें हैं जिन्हे वे समझते भी हैं तो न समझने के बराबर। हां, कोई समझाते रहने का बीड़ा उठावे तो वे उसका अवश्य बड़ा ही उपकार मानेंगे और अपने निर्मूल दुःखों से बच के बड़े उत्साह के साथ प्रत्येक सदनुष्ठान में योग देंगे। जिन २ ग्रामों में श्री स्वामी दयानन्द जी की शिक्षा ने प्रवेश पाया है वहां के लोगों ने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी है कि वे उद्योग, उत्साह और दृढ़ता में किसी से कम नहीं हैं। फिर हम नहीं जानते कि हमारे सामाजिक और राजनैतिक उपदेशकर्ता क्यों उनकी ओर अपना प्रभाव नहीं फैलाते? क्या मैदानों की साफ ताजी हवा, शुद्ध घी दूध, प्रकृति के स्वाभाविक दृश्य, सीधे सादे देशभाइयों का समागम और उनके उद्धार का यत्न तथा उनके द्वारा अपने कामों में सहाय लाभ करना

थोड़े विनोद का हेतु है ? ग्रामों से हमारा प्रयोजन उन जनस्थानों से है जो रेल, कचहरी और पक्की सड़क से दस बारह कोस दूर है। वहां ईश्वर की ओर से सतयुग का एक चरण अब भी विद्यमान हैं। पर इधर उधर के मनुष्यों की ओर से कभी २ नव्वाबी का आविर्भाव हो जाया करता है। यदि हमारे देशवत्सलगण वहां जा जाकर अपना कर्तव्य निर्वाह किया करें तो उन का तथा अपना भी बड़ा उपकार कर सकते हैं। क्या बड़ी २ सभाओं के बड़े २ व्याख्यानदाता इस बात का स्वयं भी विचार करेंगे ?

खं० ७, सं० ६, (१५ जनवरी ह० सं० ७)

अपभ्रंश

यह महात्मा जिस शब्द पर दांत लगाते हैं उसे तोड़ मरोड़ के ऐसा बना देते हैं कि शीघ्रता में उसका शुद्ध रूप समझ में आना कठिन हो जाता जाता है। बरंच कभी २ तो ऐसी सूरत पलट देते हैं कि यह भी नहीं जान पड़ता कि यह शब्द है किस भाषा का। दिहातों में कच्ची दीवारों पर भूसा और मिट्टी एक में सान के लगाई जाती है। उसका नाम वहां के हिंदू, मुसलमान, पढ़े, बिन पढ़े, जिससे पूछिए कहगिलि बतलावैगा पर यह कोई नहीं बतलाता कि वह शब्द किस भाषा का है। विचारने से जान पड़ेगा कि फ़ारसी में काह अथवा कह घास को और गिल मिट्टी को कहते हैं। यही दोनों मिल के काहोगिल, काहगिल, कहिगिल अथवा कहगिलि का रूप धारण कर लेते हैं और 'नवेदयावनी भाषां' का सिद्धांत रखने वाले पण्डितों तक को ग्राम भाषा होने का धोखा देते हैं। ऐसे ही 'लप्प लप्प' (जीभ लप्प लप्प होती है) फ़ारसी के लब ब लब अर्थात एक होंठ से दूसरे होंठ को लाना अथवा उसी अर्थ के वाचक लबालब का अपभ्रंश है। इस अपभ्रंश की दया से दूसरी भाषा के शब्द दूसरी भाषा में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उनकी असलियत जानना कठिन हो जाता है। हमने गत वर्ष युवराज कुमार स्वागत में लिखा था कि 'जीवहिं तव पितु मातु कका काकी अरु आजी'। इस पर बहुतेरे मित्रों ने जिह्वा और लेखनी द्वारा विदित किया था कि 'कहां का गंवारी शब्द ला रक्खा है'। पर वह विचारते तो जान जाते कि आजा (पितामह) आजी (बरंच संबोधन में अरी आजी = आर्य्या जी) ऐया और अजी, ऐजी तथा जी एवं मद्रासी ऐयर (कुलीन ब्राह्मण) सब आर्य शब्द की रंग बदलौअल है। वरंच हिंदी की सृष्टि ही संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश से हुई है। अक्षि (आंख), कर्ण (कान), मुख (मुंह) इत्यादि लाखों शब्द यदि शुद्ध रूप में प्रयोग किए जायं तो निरी संस्कृत ही बोलना पड़े। इससे अपभ्रंश का त्याग करना भी भाषा का अंग भंग करना है क्योंकि उसके बिना निर्वाह ही नहीं। प्रकृति का नियम ही है कि संस्कृत के 'यत्' शब्द को बंगाल में ले जाकर 'जती' और 'जे' तथा विलायत में पहुंचा कर ग्रट that के रूप में जैसे ला डाला है वैसे ही अनेक भाषाओं के अनेक

शब्दों के अनेक रूपांतर करके भाषांतर तथा अर्थांतर की छटा दिखाता रहता है। फिर हम नहीं जानते खड़ी बोली की कविता के पक्षपाती बृजभाषा से क्यों चिटकते हैं और श्री गोस्वामी तुलसीदास तथा बिहारीलाल इत्यादि सत्कवियों के बचनामृत को सुधारने की नीयत से क्यों शक्कर को बालू बनाते हैं। क्या इतना नहीं समझते कि अंग्रेजी 'जिओग्राफी' अरबी 'जुगराफ़िया' और फारसी 'जायगाह' 'जागाह' 'जागह' 'जगह' 'जाय' और 'जा' सब संस्कृत वाले 'जगत्' अथवा 'जग' के रूपांतर हैं। पर यदि कोई हठतः उलट फेर के किसी शब्द की किसी भाषा के साथ रजिस्टरी किया चाहे तो हंसी कराने के सिवा कुछ लाभ न उठायेगा। फिर यदि कवियों के प्रेम प्रतिष्ठा की आधारस्वरूपा बृजभाषा ने आपके 'आया' 'गया' इत्यादि को माधुर्य के अनुरोध से 'आयो' 'गयो' इत्यादि बना लिया तो क्या बिगाड़ हो गया। एक शब्द का दूसरा प्रकार से उच्चारण करना तो सदा से होता ही आया है। इसमें किसी को हस्तक्षेप का इरादा करना निरी बौखलाहट है।

खं० ७, सं० ६, (१५ जनवरी ह० सं० ७)

सहवास बिल अवश्य पास होगा

कहीं मुंह की फूंक से पहाड़ नहीं उड़ २ जाते। अखबारों का चायं २ करना अथवा लोगों का छोटी २ बड़ी २ सभाएं करके उसके विरुद्ध मेमोरियल भेजना नक्कारखाने में तूती की आवाज मात्र है। यह बातें उस देश में प्रभावशालिनी हो सकती हैं जहां की समाज में कुछ जीवन हो, जहां के समुदाय को तत्रस्थ राजपरिकर कुछ समझता हो। पर भारत के भाग्य से अभी यह सौभाग्य सौ कोस दूर है। हमें ऐसी किसी बृहद घटना का स्मरण नहीं है कि जिसमें प्रजा की पुकार ने 'राजा करे सो न्याव' वाले सिद्धांत को रोक रक्खा हो। फिर क्योंकर मान लें कि Consent Bill न पास होगा। हमने माना कि इसके द्वारा हमारे गर्भाधान संस्कार (जो हमारे परम माननीय वेदों के अनुसार सबसे पहिला संस्कार है) पर हस्तक्षेप होता है और किसी के धर्म पर हस्तक्षेप होना महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञा के विरुद्ध है पर इससे क्या होना है, गोबध भी तो हमारे धर्म के महा २ विरुद्ध है, पर क्या वह लाख हाय २ करने पर भी रुक गया? और भाई, यह बिल तो हमारे ही चिरसिंचित पाप वृक्ष की बतिया है, फिर क्यों न पकेगी? अपूर्णयौवना स्त्री के साथ पुरुष का संपर्क वेद शास्त्र पुराण तो क्या आल्हा तक में अनुमोदित नहीं है। बाल्यविवाह के लतियों ने श्री काशीनाथ भट्टाचार्य कृत शीघ्रबोध के 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादि दो श्लोकों का आश्रय ले रक्खा है, पर उनके किसी अक्षर में उक्त अवस्था के विवाह की आज्ञा कैसी ध्वनि भी नहीं पाई जाती। यदि कन्यादान शब्द से दश वर्ष की ही का अर्थ लीजिए (यद्यपि युक्ति और प्रमाणों से यह भी दूर है, क्योंकि स्त्री चाहे जितनी बड़ी हो माता पिता की कन्या ही है) तौ भी उसका पतिगृह गमन सात वर्ष, पांच वर्ष वा न्यूनातिन्यून तीन वर्ष के पूर्व न शास्त्र रीति से कर्तव्य है न लोक रीति से। इस प्रकार तेरह वर्ष से पहिले पति सहबास का उसे अवसर ही न मिलना चाहिए। पर जो लोग धर्म ग्रंथों का तिरस्कार एवं लोक लज्जा को अस्वीकार करके जगदंबा शिवप्रिया गौरी अथवा श्री बलदेव दाऊ की माता रोहिणी अथवा बिश्वकन्या के पति अथवा उपपति बन के कामांधता के वश पशुत्व का व्यवहार कर उठाते हैं या उसमें सहायता देते हैं उन्हें सरकार की कौन कहे, परमेश्वर भी लोक परलोक के काम का

नहीं रखता और इसी विचार से सैकड़ों मस्तिष्कमान देशभक्त लोग बरसों से चिल्लाते २ थक गए कि अपना भला चाहो तो बाल विवाह की रीति उठाओ, दूध के बच्चों का बलवीर्य मट्टी में न मिलाओ पर किसी के कान में चींवटी न रेंगी। रेंगे कैसे, जिस देश की दुर्दशा अभी पराकाष्ठा को नहीं पहुंची वहा अपने हितैषियों की बात कब सुनी जाती है। लातों के देवता कहीं बातों से माने हैं ? वहीं जब मिस्टर मालाबारी ने विलायत तक धूम मचाई और एतद्विषयक कानून बनने की नौबत आई तब कान खड़े हुए हैं कि यदि उपर्युक्त बिल पास हो गया तो हमारे घरऊ व्यवहार भी दूसरों के हाथ जा पड़ेंगे और जिन स्त्रियों की परदादारी को भारतवासी सदा से प्राणों अधिक रक्षणीय समझते आए हैं, 'धन दै के जिय राखिए जिय दै रखिए लाज' की कहावत प्रसिद्ध है, रामायण और महाभारत ऐसे प्रसिद्ध धर्मग्रन्थों में राक्षस कुल और कौरव वंश के सर्वनाश का कारण सूर्पनखा की नाक का काटना, सीता जी का हर जाना और द्रौपदी जी का केशाकर्षण मात्र लिखा है, इस महा अवनति की शताब्दी में भी जितने लोग फासी चढ़ाए जाते हैं उनमें से अधिकों के अपराध का मूल पता लगा के देखिए तो स्त्रियों की अप्रतिष्ठा ही पाई जायगी। उस परदादारी की जड़ में मानो दिन रात कुठार रक्खी रहेगी। जहां किसी द्वेषी अथवा दुराचारी ने किसी रीति से लोकल गवर्नमेंट के कानों तक झूठ सच यह बात पहुंचा दी कि अमुक के यहां बारह वर्ष से स्वल्प अवस्था वाली स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार हुआ है, वहीं बिचारी पर्दे में रहने वाली बहू बेटियों का डाक्टर के सामने अपमानित और कच-हरी में आकर्षित होना अमिट हो जायगा, बड़े २ प्रतिष्ठितों का लाख का घर खाक हो जायगा, पुरुषों की नाक पर छुरी फिर जायगी, पानीदार लोग यदि डूब न मरेंगे अथवा विषादि के द्वारा आत्मघात न करेंगे तौ भी किसी को मुंह दिखाने के योग्य तो अवश्य ही न रह जायंगे। फिर सच्चे अपराधी अथवा मिथ्या कलंक लगाने वाले उपाधी को दंड तो जब मिलेगा तब मिलेगा। इसी से लाखों हृदयवान लोगों का कलेजा कांप रहा है। समा-चार पत्रों और सभाओं में हाहाकार मच रही है, चारों ओर से बड़े लाट साहब की सेवा में निवेदन जा रहे हैं कि इस विषय में शीघ्रता न की जाय, बहुत सोच समझ से काम लिया जाय। पर विचारशक्ति को निश्चय नहीं है कि इन विनयपत्रों पर कुछ भी ध्यान दिया जायगा। लक्षण कुलक्षण ही देख पड़ते हैं। इधर तो बिल के विरोधियों की संख्या यद्यपि अधिक है किंतु समर्थक लोग बड़े २ हैं और उधर हमारे गवर्नर जनरल महोदय ने

एतद्विषयक विचार के लिए केवल पांच सप्ताह का समय दिया है। भला इतने अल्पकाल में इतनी बड़ी बात का निर्णय क्या होना है। हमारे धर्म प्रतिष्ठा और समाज का महा अपमान होना निश्चित है। पर जो लोग इस विषय के कर्ता संहर्ता हैं उन्हें हमारे मर्मांतक आघात का बोध भी नहीं है। उलटा यह विश्वास है कि यह नियम चल जाने से स्त्री जाति की रक्षा होगी। फिर हम क्योंकर कहें कि सहबास बिल न पास होगा। हां, अपने बचाव का उपाय करने में चूकना हृदयवान पुरुषों को उचित नहीं है, इससे हमारे पाठकों को चाहिए कि आलस्य छोड़ के, सारे संसार का संकोच छोड़ के, जिस प्रकार हो सके बहुत शीघ्र यथासंभव बहुत बड़ी सभाएं जोड़ के, निवेदन पत्रों के द्वारा हाथ जोड़ के, सर्कार को समझावें कि इस विषय को हमारे ही हाथ में रहने दे। इधर देश भाइयों को भी पूर्ण उद्योग के साथ चितावें कि अब लड़के लड़कियों के ब्याह को गुड़िया गुड्डे का ब्याह समझना ठीक नहीं है। बस इतना ही भर हमारा कर्तव्य है। उसे करना ही परम धर्म है। पर होगा क्या, यह परमेश्वर जानता है। शायद हमारी अबला बालाओं पर दया करके वह लोगों की मति पलट दे। किंतु वर्तमान आसार यही निश्चय दिलाते हैं कि सहबास बिल अवश्य पास होगा और उसके द्वारा सहस्रों घर त्राहि २ करेंगे।

ख० ७, सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ७)

न जाने क्या होना है

हमारे पाठकों में से ऐसे बहुत थोड़े होंगे जिन्होंने स्त्रियों की गीतों में 'कंचन थार', 'सोने का गडुवा', 'मानिक दियना' (चिराग), इत्यादि शब्द न सुने हों अथवा होलियों में 'कंचन कलश', 'कंचन पिचकारी', 'केशर रंग' इत्यादि पद स्वयं न गाते हों। और यह बातें केवल कवियों का बढ़ावना नहीं है, कई एक इतिहास ग्रंथों में बड़े पुष्ट प्रमाणों के साथ लिखा हुवा है कि अभी दो सौ वर्ष भी नहीं बीते कि भारत में यह रीति थी कि जिस गृहस्थ के यहां ब्राह्मणों अथवा सजातियों का निमंत्रण होता था उसके यहां सोने चांदी के बर्तन निकलते थे। बरंच कहीं २ इन पात्रों का बाहुल्य ही प्रतिष्ठा का लक्षण समझा जाता था। पर आज तो बतलाइए कि फी सैकड़ा कितने गृहस्थों के यहां आप सोने की सम्पुटी (बहुत छोटी कटोरी) भी दिखला सकते हैं? और सुनिए, कई एक जातियों में यह प्रथा है कि जो कोई अपनी कन्या का विवाह कुलीन बर के साथ किया चाहता है उसे बर के कुल की उच्चता के अनुसार सैकड़ों बरंच सहस्रों रुपया केवल कन्यादान की दक्षिणा में देना पड़ता है। यद्यपि इस समय की सभ्यता के प्रेमी इसे हानिकारक, निरर्थक और महात्याज्य समझते हैं और समय के प्रभाव से है भी यों हीं लोक और वेद दोनों के विरुद्ध है तथा त्यागे बिना अब निर्वाह नहीं दिखता पर इस प्रकार की रीतियों से यह तो भले प्रकार प्रदर्शित होता है कि अभी बहुत काल नहीं बीता कि हमारे देशभाई अवसर पड़ने पर अपने बन्धु बान्धवादि की प्रसन्नता सम्पादन करने के निमित्त सैकड़ों सहस्रों रुपया उठा देने की सामर्थ्य रखते थे। और इस रूप से व्यय करना आज कल गिरे दिनों के लिए अनुपयुक्त चाहे कह लीजिए पर वास्तव में बुरा नहीं कहा जा सकता। अपने भैयाचारों, नातेदारों, आश्रितों तथा देश के गुणियों को सहायता मिलती है, उनकी उत्साह वृद्धि से समय २ पर दूरस्थ आत्मीयों का समागम होता रहता है, स्वदेशीय शिक्षा की उन्नति होती रहती है। फिर भला कन्या जामातृ सम्बन्धी तथा पुरोहितादि का तो कहना ही क्या है बरंच फुलवारी, आतिशबाजी, मिठाई आदि के बनाने वाले तथा नाचने गाने वालों तक को देने में बुराई है? यह आपका रुपया लेके कहीं चले तो जाहींगे नहीं। देश का देश ही में रहेगा, जिसे अनेक मार्गों से फेर ले सकते हैं।

पर अन्न रुपया है कहां जो किसी अपने अथवा अपने देश वाले को उत्साह-पूर्वक दिया जाय और दूसरे समय दूसरी रीति पर लौटा पाने का भरोसा किया जाय नोचेत उसके द्वारा स्वजनों को सुख पाते देख के यों ही सुख का अनुभव कर लिया जाय। आज तो रोटियों के लाले पड़े हैं। लाखों लोग लोन खाने को तरसते हैं। सहस्रों श्वेतवस्त्रधारी ऐसी रीति से दिन काटते हैं कि सहृदय पुरुष उनका भीतरी हाल सुन समझ के आंसू बहाए बिना रही नहीं सकता। परमेश्वर न करे ऐसी दशा में कोई राजनैतिक अथवा सामाजिक आपत्ति आ पड़े तो मुंदी भलमंसी का बचना भी दुस्साध्य हो जाता है। इसी निर्धनता के मारे हमारे तन का ऐसा पतन होता चला जाता है कि जिन लोगों को पाठशाला छोड़े हुए अभी दस ही पंद्रह वर्ष बीते हैं उन्होंने अपने सहपाठियों में जो कांति, जो स्फूर्ति, जो उत्साह, जो मस्तिष्क शक्ति देखी है उसका इहकालिक विद्यार्थियों में कहीं लेश मात्र भी नहीं पाया जाता, चाहे लाख क्रिकेट (अंगरेजी ढंग की कन्दुक क्रीड़ा) दिखलाइए, कोटि कसरत कराइए पर वह बात सपने में न देख पड़ेगी जो उनके बड़े भाई अथवा चचा इत्यादि में थी। कारण क्या है कि दिन दूनी उन्नति करते हुए दरिद्र के हाथों इन बेचारों को निश्चिन्तता के साथ उत्तम भोजन नहीं मिलता। इन दिनों के लोग इस निस्तेजता का हेतु बाल्य विवाह को समझे बैठे हैं पर अभी सैकड़ों लोग जीते हैं जिनकी अवस्था साठ सत्तर वर्ष के लगभग है पर चेहरे पर एक प्रकार की दीप्ति दीप्त हो रही है। शीत काल में नंगे शिर नंगे पांव केवल रामनामी ओढ़ के गंगास्नान कर आते हैं और आ के आध सेर ढाई पाव मट्ठा तथा घुइयां वा शकरकंद पेट भर के खा लेते हैं पर श्लेष्मा, अनपच का नाम भी नहीं जानते। ग्रीष्म ऋतु में तेल के भूने हुए पंद्रह २ करैले उड़ा जाते हैं पर यह कभी नहीं कहते कि औगुन किया। दो चार दिन के ज्वर जूड़ी अथवा दस पांच कोस चलने की थकाहट से कातर होने का नाम भी नहीं लेते और पता लगाइए तो ब्याह इनका भी उसी अवस्था में हुआ था जिसमें अब होता है। और चरित्र इनके भी ऋषियों मुनियों के से न थे, न घर में कोई भांड़ा गड़ा था। पर हां, खाने को इन्हें थोड़े दामों पर थोड़े परिश्रम के साथ, अच्छे शुद्ध और पुष्टिकारक पदार्थ मिलते रहे हैं। इसी से यह साठा सो पाठा वाली कहावत का जीवित उदाहरण बने बैठे हैं। पर इनके युवक संतान से यह बात कोसों दूर है। यह नाम मात्र के युवा पुरुष थोड़ी सी सरदी गरमी भी नहीं सह सकते। तनिक सा कुपथ्य कर लें तो दस पांच दिन तक शारीरिक शिकायत के बिना नहीं रह

सकते। इन्हें जब रोग आता है तब महीनों ही के लिए आता है और बिना अच्छी भली रोकड़ लिए नहीं जाता। यह क्यों? केवल इसी से कि इन के लिए कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा इत्यादि आय के सभी द्वार बन्द हैं। जिस काम में हाथ लगाते हैं उसी को विघ्न में विद्ध पाते हैं। परमेश्वर झूठ न बुलावै, सौ कुटुम्ब में अस्सी ऐसे ही मिलेंगे जिन में छोटे बड़े सभी यथा-साध्य कुछ न कुछ उद्योग करते हैं पर ऐसा कोई वर्ष नहीं ही आता जिसमें खाने पहिनने के व्यय से कुछ रख छोड़ने भर को भी बचता हो, ऊपर से टिक्कस चन्दा विदेशी व्यापार की वह भरमार कि बिना दिए निर्वाह कठिन, इज्जत बचना दुश्वार। लेने वालों को आय व्यय से कुछ प्रयोजन नहीं। घर का काम क्यों कर चलता है, सामर्थ्य कितनी है, उनकी बला से। पेट पालने के उपाय का नाम लेते हो फिर इस का प्रायश्चित क्यों न करोगे। विश्वास दमड़ी भर नहीं। एक दिन पिछलने न पावै, हां उजुरदारी करना हो तो उसकी भी सागिता सही पर दान पहिले हो जाना चाहिए। इसके साथ ही दमड़ी की सूई, अंग ढांकने को कपड़ा, कहां तक कहिए शरीर रक्षा के लिए औषधि तक विदेश से आवै, एक २ के ठौर पर चार २ उठवावै और जो कुछ पास की पूंजी ले जावै वह सोवे सात समुद्र पार ही पहुंचावै और वहां से सौ जन्म तक फिर भारत का मुंह न देखने पावै। जहां आमदनी का वह हाल और खर्च की यह गति हो वहां किसी का चित्त ठिकाने रहे तो कैसे रहे। प्राचीन अनु-भवशीलों का बचन है कि—'चिता चिता समाख्याता किन्तु चिन्ता गरी-यसी। चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवयुतां तनुम्।' वह चिता यहां अनेक रूप से शिर ही पर चढ़ी रहती है। पेट की चिता, लड़के बालों की चिंता, बाहर वालों की दृष्टि में संभ्रम बनाए रखने की चिंता, घर बैठे किसी से कुछ वास्ता न रखने पर भी इज्जत की चिन्ता। क्योंकि निश्चिन्तता तो तभी होती है जब घर में अधिक नहीं तो निर्वाह भर का तो सुभीता हो पर पता लगाइए तो जान जाइएगा कि ऐसे कितने लोग हैं जो शुद्ध रीति से बेफिकरी के साथ खा पाते हों। ऐसी दशा में श्रीहत और निस्तेज हुए बिना कौन रह सकता है? इसके ऊपर तुर्रा यह है कि खाने के पदार्थ दिन २ महंगे होते जाते हैं। धरती की उत्पादन शक्ति नहरों की बालू में दबती और जल में डूबती रहती है। इस देश की जलवायु के अनुकूल उत्तम भोजन घी दूध हैं। वह हर साल अलभ्य नहीं तो दुर्लभ होते जाते हैं। जिन्हें ज्यों त्यों प्राप्त भी होते हैं तो शुद्ध नहीं। फिर भला जिनको घी के स्थान पर गुल्लू का तेल और दूध के ठौर पानी मिलता है वह क्या खा के पुष्ट रह सकते हैं। यदि परिश्रम करके आंखों के

आगे दुहाइए अथवा तवाइए तौ भी यह निश्चय होना महा कठिन है कि उन पशुओं को पेट भर उचित खाद्य मिलता होगा। क्योंकि जहां मनुष्यों ही का पेट भरने में सैकड़ों अलसेठे हैं वहां पशु बिचारों की क्या कथा। फिर उनके घृत दुग्ध मांस में वह गुण कहां से आवैं जो वैद्य बतलाते हैं और अभी तीस वर्ष पहिले यथावत विद्यमान थे। हाय, ऐसी अड़चलों से, जिनका दूर होना महा दुष्कर है, हम निस्तेज और हतवीर्य होते जाते हैं। हमारी संतति हम से भी गई बीती उत्पन्न होती है। उस का पालन और भी कठिन देख पड़ता है। इसी से हम पर यह लोकोक्ति सार्थक हो रही है कि 'करवा के जनमल तुतही तुतही के जनमल सुतुही।' जो बल वीर्य पराक्रम बाबा में था उसका चतुर्थांश भी पिता में न था और जो पिता में था उसका हम में शतांश भी नहीं है। जो हमारे आगे उपजते हैं उनमें हमारे ओज तेज की भी गंध तक नहीं आती। यह लक्षण देख २ के विचारमान व्यक्ति यही सोचते रहते हैं कि न जाने क्या होना है। न जाने किस जन्म के किन २ पापों का फल परमेश्वर ने भारत संतान ही के लिए संचित कर रक्खा था। इसके निराकरण का उपाय यद्यपि कष्टसाध्य है पर है सही। किन्तु उसके अवलंबन करने वाले तो क्या समझने वाले भी पचीस कोटि देशवासियों में पचीस सहस्र भी हो तो बड़ी बात है। इसी से रह २ कर हृदय में दुःख और दुराशा से कुचाल हुवा यही प्रश्न उठता रहता है कि न जाने क्या होना है।

खं० ७, सं० ७ (१५ फरवरी ह० सं० ७)

देव मंदिरों के प्रति हमारा कर्तव्य

संसार सागर का सर्वोत्तम रत्न, मनुष्य मंडली का सर्वोत्तम गुण, ईश्वर का सर्वोत्तम महाप्रसाद ममता है। यह न होती तो सृष्टि ही रचने का क्या प्रयोजन था। और यह न हुई तो हमारे इष्ट, मित्र, बन्धु बांधवादि का होना न होना बराबर है। वही महात्मा कबीर की कहावत आ जायगी कि 'न हम काहू के कोऊ न हमारा'। यही नहीं, ममता न हो तो ईश्वर ही क्या है? केवल एक शब्द मात्र। धर्म ही क्या है? वे शिर पैर की व्यर्थ बातें। नहीं बतलाइए तो जिन्हें आप अपने लोक परलोक का सहायक कहते हैं उन्होंने ने कब आपके शिर से तिनका भी उतारा है? जिसे आप बड़ी २ पोथियों और पोथाधारियों के द्वारा सिद्ध किया करते हैं उससे आपका निज का कौन कार्य सिद्ध होता है? ऐसे २ प्रश्नों का यथार्थ और अखंडनीय उत्तर इतना ही हो सकेगा कि हमें अपने ईश्वर, अपने धर्म, अपने शरीरादि के साथ ममत्व है। इसी से दृढ़ विश्वास हो रहा है कि वही हमारे सर्वस्व हैं। उन्हीं से हमारा त्रिकाल और त्रिलोक में हित है। हां, यह सत्य है और इसके साथ यह भी झूठ नहीं है कि आपका हृदयस्थ ममत्व केवल आप ही के लिए हितकारक नहीं है बरंच उन व्यक्तियों और वस्तुओं के लिए भी बड़े ही उपकार का साधन है जिन पर आप अपना ममत्व स्थापन कर रहे हैं। जगत के लोग न मानें तो ईश्वर अपनी महिमा लिए अदृश्य धाम में बैठे रहें, धर्म अपनी पोथियों में पड़ा रहे, उसकी हृदयहारिणी जयध्वनि का कहीं नाम भी न सुनाई दे। इससे सिद्ध हो गया कि सब के लिए, सर्व रीति से ममता ही सब कुछ है। इस सिद्धांत को सामने रख के बिचारिए तो जान जाइएगा कि हमारे देव मंदिर, देव प्रतिमा, मसजिद, गिरजा सब यों तो ईंट, पत्थर, मट्टी, चूना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं पर हम उन्हें अपना समझते हैं। इसीलिए उनके निर्माण में अपनी पूंजी का बड़ा भाग लगा देते हैं और उनकी महिमा बढ़ाने के लिए ईश्वर को सर्वव्यापक मान के भी उसकी स्तुति प्रार्थनादि करने के लिए उन्हीं में जाते हैं। इस रीति से हमारा यह हित होता है कि यदि हमारी मनोवृत्ति नितांत राक्षसी न हो गई हो तो उनके भीतर हम उन कामों के करने से अवश्य हिचकेंगे जिन्हें हमारी तथा अनेक सहृदयों की अंतरात्मा ने

अनुचित समझ रक्खा है। वहां जाके थोड़ा बहुत ईश्वर का स्मरण भी होगा, धर्म और धर्मात्मा पुरुषों का ध्यान भी आवैगा। इसके अतिरिक्त हमारे सहधर्मी मात्र को देश, जाति, धर्म, व्यवहार आदि के सुधार का बिचार तथा अदूषित आमोद प्रमोद लाभ करने के लिए बड़ा भारी सुभीता रहेगा। इस प्रकार के सब कामों के लिए सदा सर्वदा स्थान ढूंढने का झगड़ा नहीं, स्वच्छता संपादन की चिंता नहीं। जब जिस व्यक्ति अथवा समुदाय को काम लगा, जा बैठे। इसीलिए हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने इस प्रकार के मंदिर बनाने की प्रथा चलाई थी जिसमें देश और जाति के भगवद्भक्त, जगहितैषी, गुणी और दरिद्रियों को सहायता मिलै। जो लोग ऐसे मंदिरों को किसी एक जन अथवा कुटुम्ब का स्वाम्य समझते हैं वे न्याय के गले पर छुरी फेरते हैं और प्राचीन मान्य पुरुषों के सद्विचार की बिडंबना करते हैं। शास्त्रों में नवीन देवालय बनवाने की अपेक्षा प्राचीन मंदिर के जीर्णोद्धार का अधिक फल यही भाव दर्शित करने के हेतु लिखा गया है कि वह किसी एक का नहीं किन्तु सर्वसाधारण का है। यों तो ईश्वर समस्त संसार का स्वामी है इस न्याय से ईश्वर सम्बन्धी यावत् वस्तु पर सारे संसार का अधिकार है और वह संसारी मात्र के ममत्व का आधार है। पर यतः जगत में जहां शांति है वहां विघ्न भी हैं। जहां सुख है वहां दुःख भी हैं। इससे ऐसी आशा करना व्यर्थ है कि सदा सब कहीं सत्य ही अवलम्बन किया जायगा और सभी लोग सचमुच सब को जगतपिता के नाते अपना सहोदर तथा सबके स्वत्व को अपना सा समझेंगे। तथापि यह तो अवश्य ही होना चाहिए कि प्रत्येक समुदाय के यावत् व्यक्ति, वस्तु एवं स्थान मात्र को उस समूह के सब के सब लोग अपना समझें। यदि ऐसा न हो तो किसी जाति का निर्वाह न हो और सारी सृष्टि बहुत शीघ्र नष्ट हो जाय। इसी विचार से जिन देशों और समुदायों में ईश्वर की दया है उनके सब लोग अपने यहां के सब प्राणी अप्राणियों को अपना समझते हैं। पर अभाग्यवशतः हिन्दुओं के कपाल में मस्तिष्क और बक्षस्थल में हृदय जब से नहीं रहा तब से अन्यान्य सदगुणों के साथ ममता का भी अभाव हो गया है। इन्हें न अपने देश की ममता, न अपनी जाति का ममत्व, न अपने आत्मीयों का मया, न अपने देश गौरव का मोह। बस इसी से यह 'निबरे के ज्वैया सबके सरहज' का जीवित उदाहरण बन गए हैं। जो जिसके जी में आता वही इनके साथ मनमाना बर्ताव कर उठाता है और यह मुंह बाए रह जाते हैं अथवा फुसला दिए जाते हैं। नहीं तो जिस राजराजेश्वरी विजयिनी के राज्य की परम शोभा

और सच्चे अहंकार का स्थल यही है कि प्रजामात्र निर्विघ्न रूप से अपने धर्म का सेवन कर सके, कोई किसी के ईश्वर सम्बन्धी कार्य में हस्तक्षेप न कर सके उसी भारतेश्वरी की छाया का आश्रय लिए हुए हिन्दुओं की देवमूर्तियां और देवमन्दिर तोड़ते समय स्वयं राज कर्मचारियों को संकोच न आवे यह क्या बात है ? यही कि जिस जाति को अपनी आप ममता नहीं उस पर दूसरों को क्या ममत्व। वस्तुतः देव मंदिर वा देव प्रतिमा पाषाण, धातु, दार्वादि का विकार है और जिन वेद मंत्रों से उनमें प्राण प्रतिष्ठा होती है वे भी केवल शब्द हैं जिनके अर्थों में सदा से झगड़ा चला आया है और चला जायगा। उनकी महिमा केवल हमारे स्नेह की महिमा है और उनकी सामर्थ्य केवल हमारे हृदयों में अपने देवताओं और उनकी मूर्ति, मंदिरादि की भक्ति है। भक्ति नहीं रही तभी से उनमें भी हमारे धार्मिक स्वत्व तथा अपने अस्तित्व के संरक्षण की शक्ति नहीं रही। जिन दिनों अलाउद्दीन और औरंगजेब आदि मनमौजी महीशों ने अयोध्या मथुरादि में इस प्रकार का दुराचार किया था उन दिनों भी हमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला कि हिन्दुओं ने प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार के बज्र प्रहार को सहन कर लिया हो। पर करते क्या ? इधर तो देश में पारस्परिक ममत्व नहीं, राम कृष्णादि की भी कथन मात्र के लिए, पर देश भाइयों के द्वेष, उनके प्रति उपेक्षा, स्वार्थपरता आदि में ऐसी कुचली हुई कि उकसना असम्भौ। और उधर राजा स्वयं सताने में कटिबद्ध। रोवैं तो किसके आगे ? इन दिनों परमेश्वर की इतनी तो दया है कि राजा को प्रजापीड़न में आनन्द नहीं आता, कोई २ राजकर्मचारी ही कभी २ अपने अधिकार को कलंकित तथा श्रीमती की प्रतिज्ञा की अवज्ञा कर उठाते हैं, सो भी बहुत से बहाने गढ़ के। किन्तु हम वही बने हैं अस्मात् ऐसे सुराज्य में भी वैसा ही दुःख भोगते हैं। जिन जातियों में धर्म की समता है, आपस की एकता है, चित्त की दृढ़ता है, उनके पवित्र स्थानों का भी कोई ऐसा अपमान कर सकता है जैसा हमारों का ? गत वर्ष दरभंगा में सहाजोर जी का मंदिर तोड़ के हमारे हृदय पर घाव किया गया और बहुत रोने चिल्लाने हाय २ मचाने पर आंसू पोंछ दिए गए। सो भी प्रजावात्सल्य के अंचल में नहीं किन्तु पालिसी के कम्बल से। इस घटना को बरस दिन नहीं बीता कि अब काशी जी में राममंदिर पर दांत लगाया गया है और भगवान जानकीवल्लभ हमारे विचार को झूठा करें, लक्षण अच्छे नहीं देख पड़ते। क्योंकि इधर तो वाराणसी के अतिरिक्त और किसी नगर में इस आने वाली घोर विपत्ति की चर्चा भी ऐसे

सुन पड़ती है कि नहीं के बराबर, मानौ अन्य स्थानीय हिन्दुओं को उस मंदिर से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है और उधर लेफ्टिनेंट गवर्नर और चीफ कमिश्नर साहब की आज्ञानुसार यह विषय म्युनिसिपल बोर्ड के माथे छोड़ दिये जाने पर और उपर्युक्त दोनों माननीय अधिकारियों के द्वारा हमें यह आश्वासन मिलने पर कि घबराओ नहीं, मुकद्दमा तुम्हारे ही सजातियों के हाथ है, फिर भी वहां के कलक्टर साहब म्युनिसिपैलटी के निर्णय को निर्णय ही नहीं समझते। जज साहब से प्रार्थना की 'दाम दिलवा दिया जाय और मंदिर तोड़ डाला जाय', मानो देवमंदिर भी साधारण घर है। और सुनिए, जज साहब ने भी विज्ञापन दे दिया कि जिसे कुछ उज्र करना हो चौदह मार्च तक कर ले। इस अंधेर का ऐसे राज्य में इतना साहस देख के ऐसा कौन है जो आश्चर्य और शोक न करे, पर जो इसके कर्ता धर्ता हैं वे पर साल देख चुके हैं कि इस मृत जाति से होना ही क्या है। हाय हिंदुओ! अब तुम्हारे देव मंदिर टूटने के लिए बिकने लगे। यदि अब की उपेक्षा करोगे तो कल को, परमेश्वर न करे, विश्वनाथ और जगन्नाथ बद्रीनाथ के मंदिर भी कोई किसी सड़क अथवा आफिस के लिए मोल ले के साफ कर दिए जायेंगे। इससे चाहिए कि धर्म रक्षा के लिए उन्मत्त हो जाओ और नगर नगर में बड़ी से बड़ी सभाएं कर के गवर्नमेंट को अपना दुःख प्रकाश करो। काशी वालों की सहायता के लिए रुपया भेजो और यहा से बिलायत तक उद्योग कर के यह मंदिर ही न बचाओ बरंच आगे के लिए ऐसी आज्ञा मंगा लो कि कभी कोई ऐसा कर न सके। जिन लोगों को मूर्ति पूजन में श्रद्धा नहीं है उन्हें भी जातीय गौरव के अनुरोध से साथ देना चाहिए। जैनियों को भी सम्मिलित होना चाहिए क्योंकि वे भी मूर्ति पूजक हैं और हिन्दू हैं। बरंच मुसलमानों को भी समझना चाहिए कि मसजिदें भी उसी जाति के ईश्वरीय भवन हैं जो प्रजा कहलाती है। तभी काम चलेगा नहीं अब कुशल नहीं है। इससे जो लोग धर्म को सर्वोपरि समझते हैं और रामचन्द्र को राजेश्वर मानते हैं उन्हें तन, मन, धन, प्राण पन से सन्नद्ध हो जाना उचित है और तब तक चुप होना अनुचित है जब तक इसका अचल प्रबंध न हो जाय। इसमें किसी का भय संकोच कर अपना स्वार्थ अथवा मानापमान का बिचार अकर्तव्य है क्योंकि तीर्थेश्वरी काशी और देवेश्वर रामचन्द्र का काम है। यदि इसमें कुछ भी आगा पीछा किया गया तो आगे के लिए कुछ भी भलाई नहीं है। जब धर्म नहीं तो कुछ भी नहीं।

खं० ७, सं० ८ (१५ मार्च ह० सं० ७)

'एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय'

इस कहावत में दो उपदेश हैं। एक तो यह कि यदि सच्चे उत्साह से दृढ़ता के साथ एक पुरुष भी किसी काम को कर उठावै तो बहुत कुछ कर सकता है किंतु आंतरिक चाव के बिना अनेक लोग भी कुछ करना ठानते हैं तौ भी कुछ नहीं कर सकते, किया भी तो क्या न करने के बराबर। दूसरी शिक्षा यह है कि एक अथवा अनेक जने मिल के यदि प्रस्तुत कार्यों में से एक के लिए तन, मन, धन बचनादि से जुट जायं और जी में यह प्रण कर लें कि जो कुछ होगा सहैंगे पर इसको पूरा किए बिना कभी न रहेंगे, तौ उसके पूर्ण होने में तो संदेह ही नहीं है। जो संदेह करे वह ईश्वर के अखंड मंगलमय नियम और अनेक बुद्धिमानों के अनुभूत सिद्धांत तथा अपने पुरुषार्थ की बिडंबना करता है। इससे हृदयवान व्यक्ति को मान ही लेना चाहिए कि जिस काम को अनेक लोग एक होकर करना विचारते हैं वह अवश्य होता है। बरच उसके साथ २ दूसरे कर्तव्य भी या तो सिद्ध ही हो रहते हैं अथवा उनमें की पूर्ति वाली कठिनता प्राय: दूर हो जाती है। इनमें से पहिले सिद्धांत के तो अनेक उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण भगवान ने जिस समय गोवर्द्धन उठाया तो अकेले आप ही ने अपनी अंगुली पर उठा लिया क्योंकि वे दृढ़चित्तता के रूप, बरंच दृढ़ चित्त भक्तों के अराध्य देव हैं। किंतु जब दूसरे गोप गोपियों ने उन्हें बालक समझ के लकुट और मंथन दंड से सहारा दिया तथा यह देख के भगवान ने भी हाथ ढीला किया तो गिरिराज गिरने पर उद्यत हो गए। इस कथा में एक यह भी ध्वनि निकलती है कि जो पुरुष सिंह केवल अपने भरोसे किसी काम में हाथ लगाता है उसे सहारा दीजिए, पर यह न समझिए कि हमारे बिना यह क्या करेगा। यदि वह सच्चा साहसी है तो उसे ईश्वरीय सहायता प्राप्त है। हां, बाह्य साहाय्य ही की आवश्यकता होगी तो आपके साथी बहुत रहेंगे अत: आपका अहमिति प्रदर्शन व्यर्थ, बरंच आदि कर्ता के उत्साह भंग द्वारा कार्य नाश की शंका उपजाने के कारण हानिकारक है। इसी भांति हम अपने प्राचीन ऋषियों का चरित्र देखते हैं तो अवगत होता है कि यद्यपि कभी २ कहीं २ पर उनका अट्ठासी २ सहस्र का समूह एकत्र हो जाता था पर नित्य का लक्षण यही था कि 'एकाकी निस्पृहः शांतः पाणिपात्रो दिगंबरः'। किंतु एकांतबासी निश्चिन्त शांतिमय लोगों ने संसार

के लिए लोक परलोक बनाने वाली वह अखंडनीय युक्तियां निश्चित कर दी हैं कि जिनकी अवज्ञा कभी किसी सहृदय की अंतरात्मा से हो ही नहीं सकती। वह सब बहुधा अकेले ही रहते थे और अनेकांश में अपने सहकालीन समुदाय की हां में हां न मिलाते थे। पर वास्तव में उन सबका उद्देश्य एक था। अर्थात् ईश्वर की महिमा का प्रचार एवं संसारियों के जीवन जन्म का सार्वदेशिक सुधार, बस। इसी से शास्त्र कह रहा है कि 'नैकोमुनिर्यस्यवचः प्रमाणम्' अर्थात् एक मुनि नहीं है जिसका वाक्य प्रमाण के योग्य हो। भावार्थ यह कि सभी मुनि वृन्द के बचन प्रमाण हैं। इसी प्रकार ईसामसी मुहम्मद इत्यादि सभी मान्य पुरुषों ने आरंभ में अकेले ही अपने २ उद्देश्य की पूर्ति का अनुष्ठान कर उठाया था पर यावज्जीवन उसी में लगे रहने के कारण यहां तक साफल्य लाभ कर लिया था कि आज तक लाखों अंतःकरण साक्षी देते हैं और सदा देते ही रहने की अधिक संभावना है। इतने प्रमाण पा के हम क्यो न मान लें कि सच्चे जी से मजबूत कमर के बांध के यदि एक पुरुष भी खड़ा हो जाय तो अपना मनोर्थ अवश्य पूर्ण कर लेगा। यदि दैवयोग से सिद्धि में पूर्णता भी न हो तो भी इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि जिस मूल को वह आरोपित कर जायगा उसमें आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, अवश्य ही यथेच्छ फल फलेंगे। पर होना चाहिए सच्चा उद्योगी, जिसका मुख ही नहीं वरंच रोम २ दिन रात 'या तो काम पूरा करेंगे या यत्न ही करते २ मरेंगे' का मंत्र जपा करता हो। आज बरसों से हम सैकड़ो युवकों के मुंह भारत का उद्धार, देश की उन्नति, जाति का सुधार आदि शब्द सुन रहे हैं पर जब आंखें खोल के देखते हैं तो भारत का उद्धार कैसा, किसी भारतीय समुदाय का भी उद्धार नहीं देखते। देश की उन्नति कैसी देशीय सभी व्यक्ति एवं वस्तु दिन २ अवनत होती जाती हैं। जाति का सुधार तो दूर रहा सुधार का गीत गाने वाले ही बहुधा किसी न किसी बिगड़ैं-लपन में फंसे हुए हैं। इन लक्ष्यों को देख के ऐसा कौन है जो न कह उठे कि हिंदुस्तान का सच्चा हितैषी इनमें से एक भी नहीं है। जो अपने को इस नाम से पुकारते हैं उनका भीतरी तत्व देखिए तो कोई नाम के चाहने वाले निकलेंगे, कोई दाम के आकांक्षी मिलैंगे। सच्चा उद्योगी यदि एक भी होता तो बहुत कुछ कर दिखाता। हां, आरंभ में राजा राममोहन राय, मुंशी कन्हैयालाल, अलखधारी बाबू हरिश्चंद्र भारतेंदु, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि थोड़े से पुरुषरत्न थे जिन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निष्कपट भाव से जीवन बिता दिया, किसी दुःख किसी द्वेषी की कुछ भी भटक न की

पर यतः उनके समय में चारों ओर पूर्ण अंधकार था इससे उनकी आयु केवल दीप-प्रज्वालन और सुपंथ-प्रदर्शन ही में व्यतीत हो गई। अब हमारे लिये उन्नति की राहें उनकी दया से खुली हुई हैं। पर यदि हममें से थोड़े लोग भी सच्ची उमंग के साथ उन मार्गों का अवलंबन न करेंगे तो चाहे लाख बकें उन्नति धाम में कभी न पहुंचेंगे। और उपर्युक्त महापुरुषों का वास्तविक तत्व समझ कर सचाई के साथ निर्द्वन्द भाव से यदि एक भी उनका अनुसरण करे तो देखिए क्या होता है, क्योंकि 'एकै साधे सब सधै'। परंतु यों ऊपर मन से चाहे जितने लोग चाहे जिन बातों का ढोंग मचाते रहें पर होना हवाना कुछ नहीं बरंच व्यर्थ समय और धन की हानि होगी। क्योंकि 'सब साधे सब जाय'। इससे हमारे देशोन्नति चाहने वालों को चाहिए कि अपने कर्तव्य के हेतु पहिले भली भांति आत्मसमर्पण में उद्यत हो जायं फिर देखेंगे कि कितने शीघ्र और कैसे आधिक्य के साथ कृतकार्यता लब्ध होती है तथा सहायता एवं सहायक आप से आप कितने आ मिलते हैं।

अब रही दूसरी बात, अर्थात एक काम के पूरा करने में पूरा उद्योग करने से अन्य कार्य स्वयं सिद्ध हो रहे हैं अथवा सिद्धि के निकटस्थायी हो जाते हैं। उसके लिए बहुत से उदाहरण देना केवल कागज रंगना है। प्रत्यक्ष ही देख लीजिए कि यदि कोई किसी वृक्ष की डाल २ पत्ता २ सींचना चाहेगा तो परिश्रम बहुत अधिक होगा एवं जल भी बहुत सा वृथा बहाना पड़ेगा किन्तु फल के स्थान पर वृक्ष ही सड़ जायगा। पर यह न करके केवल मूल का सेंचन करने में न उतना श्रम है न जल का व्यय और सिद्धि पूर्ण रूप से प्राप्त हो जायगी। बस इसी दृष्टांत पर दृष्टि रख के विचार लीजिए कि वह एक कौन सा काम है जिस पर जुट जाने से भारत के समस्त दुख शीघ्र और सहज में दूर हो सकते हैं। हमारी समझ में समाज का उद्धार, राजनीति का सुधार और धर्म तथा सद्‌गुणों का प्रचार सब कुछ तभी हो सकता है जब पेट भरा हो। और हेर फेर के सब लोग सब प्रकार के उपाय इसीलिए करते हैं जिसमें यहां का दरिद्र दूर हो और अन्न वस्त्र जनित असुविधा जाती रहे। तभी कुछ हो सकेगा। और इसका एकमात्र यत्न यही है कि यदि हम बाहर से कुछ ला के घर में न डाल सकें तो घर की पूंजी तो यथासामर्थ्य बाहर न जाने दें; किंतु इसके निमित्त विदेश और विदेशियों का आसरा रखना व्यर्थ है। यदि सब लोग विलायत जा २ कर अथवा यहीं वैसी शिक्षा पा २ कर भाषा, भेष, भोजन, आचार, विचार आदि बदल २

शुद्ध साहब बन बैठें और इस रीति से अपनी सार्वदेशिक उन्नति भी कर लें (यद्यपि यह संभव नहीं है) तो भी हिन्दुस्तान और हिंदुस्तानियों का क्या भला होगा। हां, इंगलिस्तान ही वालों के चेलों की संख्या बढ़ जायगी। इसी प्रकार जो गवर्नमेंट सर्वदा सर्वभावेन केवल रुपए पर दृष्टि रखती है, प्रजा चाहे अकाल के मारे मर जाय चाहे कुरोग के बस प्राण त्यागे, परंतु वह धन के हेतु यहां के मरे जानवरों तक की हड्डियां तक उठा ले जाने में नहीं चूकती, धरती का बल फल नाश होता हो तो आज ही सही लाख हाव २ करो पर स्वार्थ के अनुरोध से मदिरा ऐसे धन, बल, बुद्धि, मान, प्राण नाशक पदार्थ का प्रचार नहीं घटाया चाहती, उससे यह आशा करनी कि हमारी प्रार्थनाओं को सुन के हमें उचित अधिकार दान करके अपनी हानि करेगी, हम नहीं जानते कहां तक फलवती हो सकेगी। अरे बाबा, भला अपने ही हाथ से हो सकता है। अतः सबसे पहिले अपनापन समझो। अपना पेट अपनी करतूत से पालो। अपना तन मन अपने भेष भूषण भाव से अलंकृत करो। अपनी कौड़ी नाली में गिर पड़े तो भी दांत से धरो। चाहे जैसा दुख सुख, हानि लाभ सहना पड़े पर अपना रंग ढंग न छोड़ो। अपना अर्थ साधन करने से मुंह न मोड़ो और अपनों को अपना सा बनाने में मन, बचन, कर्म से अष्ट प्रहर लगे रहो। बस, यही एक काम है जिसका साधन करने से और सब बातें आप से आप सिद्ध हो जायंगी। क्योंकि अगले लोग कह चुके हैं कि 'एकै साधे सब सधै'। और यों न कहीं जाने से कुछ होगा न बातें बनाने से कुछ होगा। व्यर्थ की दौड़ धूप और हानि चाहे जितनी कर लीजिए किंतु फल इतना ही होगा कि 'सब साधे सब जाय'।

खं० ७, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ७)

पेट

इन दो अक्षरों की महिमा भी यदि अपरंपार न कहिए तौ भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुत बड़ी है। जितने प्राणी और अप्राणी, नाम रूप देखने सुनने में आते हैं सब ब्रह्मांडोदरवर्ती कहलाते हैं और ऐसे २ अनेकानेक ब्रह्मांड ब्रह्मदेव के उदर में स्थान पाते हैं। फिर क्यों न कहिए कि पेट बड़ा पदार्थ है। और बड़े पदार्थ का वर्णन भी बड़ी ही बात है। अस्मात पेट की बात इतनी बड़ी है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र तक ने अपना नाम दामोदर प्रकट किया है और इससे सबको यह उपदेश दिया है कि पेट ही वह रस्सी है जिसमें बंधे बिना कोई बच नहीं सकता। धर्म की दृष्टि से देखिए तो समस्त मान्य व्यक्तियों में सर्वोपरि अधिकार माता का होता है, क्योंकि उसने हमें नौ मास पेट में रक्खा है। प्राचीन काल के वीर पुरुषों का इतिहास पढ़िए तो जान पड़ेगा कि अनार्यों (राक्षसों) में सहोदर (रावण के यहां का योद्धा) और आर्यों में वृकोदर (भीमसेन) अपने समय तथा अपने ढंग के एक ही युद्धकला कुशल थे। इधर देवताओं के दर्शन कीजिए तो सबसे पहिले लंबोदर (गणेशजी) ही आदिदेव के नाम से स्मृत होते हैं। मनोवृत्ति में कुछ रसिकता की झलक हो तो मनोहारिणी सुंदरियों का अवलोकन कीजिए ये भी दामोदरी, कृशोदरी आदि नामों से आदर पाती हैं। जब कि ऐसे २ प्रेम प्रतिष्ठा के पात्रों की ख्याति उदर से संबंध रखती है तो साधारणों का तो कहना ही क्या है। सब पेट ही से उत्पन्न होते हैं और यदि आवागमन का सिद्धांत ठीक हो तो अंत समय पेट ही में चले जाते हैं। जो आर्यों की फिलासिफी न रुचती हो तौ भी धरती के पेट से अथवा मांसाहारी पशु, पक्षी, कीट, पतंग के पेट से बचाव नहीं है। अब रहा संसार में स्थिति करने का समय, उसमें तो ऐसा कोई बालक वृद्ध, मूर्ख विद्वान, उच्च नीच, धनी दरिद्री है ही नहीं जो दिन रात भांति २ के कर्तव्य, विशेषतः पेट ही की पूर्ति के अर्थ, न करता हो। यों हम उनको धन्य कहेंगे जो अपने पेट की चिंता न करके दूसरों के पालन में सयत्न रहते हैं। पर ऐसे लोगों की संख्या सदा सब ठौर बहुत स्वल्प होती है। इससे ऐसों को अदृश्य देवताओं की कोटि में रहने दीजिए और उन्हें भी लंका के महाराक्षसों में गिन लीजिए जो अपना पापी पेट पालने के अनुरोध से दूसरों को कुछ भी कष्ट क्यों न हो,

तनिक ध्यान नहीं देते। ऐसे भी लोगों की संख्या यहां बहुत नहीं है। किंतु दिन दूनी दुर्दशा के बस हो के दस बीस वर्ष में हो जाय तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'। रहे सर्वसाधारण, वे जो पेट को धोखा देने के लिए बात २ पर बहुत फूंक २ पांव न धर सकें तो कोई विचारशील उन्हें दोष भी नहीं लगा सकता क्योंकि सभी जानते हैं कि पेट की आंच बड़ी कठिन होती है। उसका सहन करना हरएक का काम नहीं है। इसकी प्रचंडता में लोक परलोक, धर्म कर्म सभी के विचार भस्मीभूत हो जाते हैं। यह खाल की खलीती यदि उचित खाद्य में, स्वल्प परिश्रम के साथ भरती रहे तौ तो क्या ही कहना है, सभी इन्द्रियां पुष्ट मन हृष्ट बुद्धि फुरतीली और चित्त वृत्ति सचमुच रसीली बनी रहती है। पर यदि धाए धूपे किसी न किसी भांति कुछ न कुछ मिलता रहै तौ भी सुख, स्वच्छन्दता, नैरुज्य एवं निश्चिन्तता का तो नाम न लीजिए। हां, जीवन पहिया जैसे तैसे लुढ़कता पुढ़कता चला जायगा। किन्तु यदि, परमेश्वर न करे, कहीं किसी रीति से ठिकाना न हुआ तो बस कहीं ठिकाना न समझिए। इस क्षुधा यंत्र का नाम ही दोजख अर्थात् नर्क है। फिर इसके हाथों बड़े बड़ों को जीते जी नर्क यातना भोगनी पड़े तो क्या आश्चर्य है। और परमेश्वर की न जाने क्या इच्छा है कि इन दिनों बरसों से चारों ओर जन समुदाय की उदर पूर्ति में विघ्न ही विघ्न बढ़ाते हुए देख पड़ते हैं। इधर तो करोड़ों देशभाई दिन २ 'नहिं पट कटि नहिं पेट अघाही' का उदाहरण बनते जाते हैं और जिनका पेट भरा है वे इनकी ओर से सांस डकार भी नहीं लेते। उधर को हमारे 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' प्रभु हैं, उन्होंने यह सिद्धांत कर रक्खा है कि 'मोर पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू'। यह लक्षण देख २ के बिचारे भारत भक्त अपनी थाली भर पेट काट २ के भी उद्धार का उपाय करते हैं और इधर उधर पानी पहाड़ लांघते हुए, पेट पकड़े दौड़े २ फिरते हैं। पर जब देखते हैं कि कोई युक्ति नहीं चलती तो विवशतः कोई २ पेट मिसूसा मार के बैठ रहते हैं, कोई २ दूसरों की पेट पीड़ा दूर करने के उद्देश्य से उसकी भांति चिल्लाया करते हैं जिसके पेट में पीर उठती है। जहां यह दशा है वहां सबके सभी लोगों को मुंह बाए, पेट खलाए पड़ा रहना उचित नहीं है। नोचेत् जठराग्नि फैलती रहेगी तो एक न एक दिन संभव है कि किसी को जलाए बिना न छोड़े। तस्मात् यही मुख्य कर्तव्य है कि सब जने सबको सहोदर भाव से देखें और समझ रक्खें कि पेट सभी का येनकेन प्रकारेण पालनीय है। चाहे मखमल सा

चिकना और मक्खन सा मुलायम हो, चाहे कठौती सा कठोर हो, चाहे हांडी सा कुदृश्य अथवा पुर सा बिहंगम हो, मोटी झोंटी खरी खोटी चार रोटी सभी के लिए चाहनी पड़ती है। और इन्हीं के प्राप्ति के अलसेठे मिलाना परम कृत्य है। यदि दैव ने हमें कुछ सामर्थ्य दी है तो चाहिए कि उसे अपने ही पेट में न पचा डालैं, कौरा किनका दूसरों की आत्मा में भी डालें। और जो यह बात अपनी पहुंच से दूर हो तो भी केवल मुंह से नहीं बरंच पेट से यह प्रण कर लेना योग्य है कि पेट में पत्थर बांध के परिश्रम करेंगे, दुनिया भर के पेट में पांव फैलावेंगे, सब के आगे न पेट दिखाते लजाएंगे न पेट चिरवा के भुस भराने में भय खाएंगे पर अपनी और अपनों की पेटाग्नि बुझाने के यत्न में जब तक पेट से सांसैं आती जाती रहेंगी तब तक लगे ही रहेंगे। यों तो पेट की लपेट बहुत भारी है पर आज इस कथा को यहीं तक रहने दीजिए और समझ लीजिए कि इतनी भी पेट पड़े गुण ही करेगी।

खं० ७, सं० ६ (१५ अप्रैल ह० सं० ७)

गंगा जी की स्थिति

आज कल हिंदू समुदाय में अनेक लोगों को दो बातों की धुन चढ़ी हुई है—कि गंगा जी की आयु केवल आठ वर्ष के लगभग शेष रह गई है और गंगा जी सदा बनी रहेंगी। इन दोनों मतों के लोगों ने अपने२ सिद्धांत के पुष्ट रखने में यथासंभव कोई युक्ति अथवा प्रमाण उठा नहीं रक्खे। और काल के प्रभाव से हमारे धर्म ग्रंथों को पंडित नामधारियों ने बना भी ऐसा ही रक्खा है कि मोम की नाक चाहे जिधर फेर लो। चाहे जिस विषय के खंडन में कुछ वाक्य ढूंढ लीजिए चाहे जिस के मंडन में, सभी मिल जायंगे। पर हमारी समझ में इस प्रकार के झगड़े उठा के आपस में बैमनस्य बढ़ाना निरा व्यर्थ है। विचार के देखिए तो हैं दोनों बातें सत्य। देश काल और पात्र का विचार किए बिना शास्त्र के किसी बचन पर हठ करना अच्छा नहीं। शास्त्रकारों की केवल एक ही प्रकार के लोगों पर दृष्टि न थी। वे जानते थे कि 'भिन्न रुचिर्हिलोकः'। अतः उनके बचनों में जहां भिन्नता पाई जाय वहां समझ लेना चाहिए कि वे त्रिकालदर्शी और सत्यवादी किसी विशेष कारण से विशेष रूप के जन समूह और विशेष समय के लिए जो कुछ लिख गए हैं वह है सत्य ही, पर समझने वाला चाहिए। इस रीति से हम देखते हैं कि इस समय के लोग पश्चिमीय विद्या के प्रभाव और अपने धर्म कर्म, रीति नीति, वस्तु व्यक्ति इत्यादि की ममता के अभाव से केवल रंग ही के भारतीय रह गए हैं, सो भी मनों चरबी मिला साबुन मल२ कर चाहते हैं कि किसी प्रकार ऊपर का चमड़ा छिल जाय और भीतरी लाल२ रंगत निकल आवै तो अत्युत्तम है। ऐसों के सामने ईश्वर ही की महिमा बनी रहे तो बड़ी बात है क्योंकि उनके गुरु परम्परा के देश में नास्तिकता की छूत बढ़ती जाती है। वेद शास्त्र, गंगा भवानी की तो बात ही क्या है, इन का वास्तविक महत्व संस्कृत पढ़े बिना और प्राचीन काल के रससिद्ध कवीश्वरों की लेखनी का गूढ़ तत्व जाने बिना कदापि समझ में नहीं आने का। उसके नाते इन्हें नागरी का काला अक्षर भैंस बराबर है। बरंच भैंस दूध देती है किंतु इन अक्षरों की चर्चा से इन के प्राण सूख जाते हैं। इस से यह कहना चाहिए कि अक्षर काले बुखार के बराबर है। ऊपर से प्रयाग यूनीवर्सिटी ने हिंदी का गला काट वह पालिसी अवलंबन की है कि आठ वर्ष में संस्कृत का

प्रचार तो दूर रहा, आश्चर्य नहीं कि हिंदू जाति को लड़की के नाम रखने के लिए शब्द भी न मिलें। इस पर भी तुर्रा यह है कि जो लोग संस्कृत, नागरी के ममत्व का अभिमान एवं अपने ऊपर आर्यत्व का गुमान रखते हैं उन में से बहुतेरों का सिद्धांत यह है कि "माला लक्कड़ ठाकुर पत्थर गंगा निरबक पानी"। सो पानी भी कैसा कि न सोडावाटर के समान जाति कुजाति का उच्छिष्ट, न 'वरुण-प्रिया' की भांति स्वादिष्ट। फिर पीने और छूने में किसे भावै जब तक विलायत जा के और नाम रूप बदल के न आवै। हाय गंगा जल, एक दिन तुम इसी भारत में अमृतमय कहलाते थे पर आज नहरों के रूप में छिन्न भिन्न हो कर पराधीनता में बहेर फिरते हो और खेतों की उपज के हक में विष का सा काम करते हो। जिस धरती पर तुमने आश्रय ले रक्खा है उस में लाखों असंस्कृत मृतक गाड़े जाते हैं, करोड़ों निरपराधी जीव मारे जाते हैं। जिस मेघमंडल की छाया में तुम्हारी स्थिति है उसे हवन का सुगंधित एवं गुणपूरित धुआं दुर्लभ हो गया है। उसके स्थान पर पत्थर के कोयले और मट्टी के तेल का अरुचिकारक तथा दुर्गन्धप्रसारक धूम छाया रहता है। पान फूल, धूप कर्पूर से तुम्हें सुवासित रखने वाले दिन२ दीन होते जाते हैं। नगर भर का अघोर और कहीं२ बबूल की छाल के साथ सड़े हुए चमड़े का मनों पानी तथा अनाथ मनुष्य एवं पशुओं के बिन जले और अधजले सहस्रों मृतः शरीर तुम्हीं में फेंके जाते हैं। फिर तुम अपना रूप गुण बदल डालो तो क्या दोष है! भगवति गंगे! क्या सर्वगुणहीन हिंदुओं के हाथ से बिडंबना सहन करते हुए अभी तृप्त नहीं हुई हो जो आठ वर्ष और इनकी तथा अपनी दुर्दशा देखने की इच्छा रखती हो? तुम्हारा रहना तभी शोभा देता था जब सूर्यवंशावतंस मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीमान भगवान रामचंद्र के वृद्ध प्रपितामह महाराज भगीरथ ने कई पीढ़ी की कठिन तपस्या के उपरांत तुम्हें प्राप्त किया था और उनके वंशजों ने भागीरथी नाम से तुम्हारा गुण-गान करने में अपना गौरव मान रक्खा था और समस्त संसार को विश्वास करा दिया था कि परम प्रतापी रघुकुल के राजेंद्रगण श्रीमती भागीरथी को निज बंशजा कन्या की भांति आदर देने ही में अपना महत्व जानते हैं। तदु-परांत महाराज शांतनु ने तुम्हें अपनी प्राणप्रिया बना के और बीरशिरोमणि भीष्मपितामह ने तुम्हारे ही नाते गांगेय पद पा के सारे जगत को निश्चय करा दिया था कि विश्वविजयी चंद्रवंशी महिपाल जनहुनंदिनी को अपनी कुल श्री का संमान करते हैं। जिस समय सूर्यचंद्रवंश के प्राबल्य को दुष्काल रूप राहु ने ग्रास करना आरंभ किया तो महामान्य बिप्रवंश ने तुम्हारी महिमा रक्षित

रखने का भार लिया और विद्या, प्रतिष्ठादि गुण श्रेणी से भूषित होने पर भी किसी अन्य विषय का आश्रय न लेकर लोक परलोक का निर्वाह केवल तुम्हीं पर निर्भर कर के गंगापुत्र के नाम से अपना परिचय दिया। पर आज तुम्हारे पिता, पति, पुत्र सभी के वंशधर सर्वलक्षणहीन, सर्वथा दीन, महा मलीन दशा में दलित हो रहे हैं। वरंच अपने एक२ काम से सूर्य, चंद्र एवं मुनि वृंद का नाम डुबो रहे हैं। फिर तुम किस मुख की आशा से संसार को मुख दिखाने का मानस करती हो? नहीं नहीं, गंगा जी अब नहीं हैं। हम इतनी बकबक न जाने किस उमंग में कर गए। भला होतीं तो भारत की यह दशा होती? जिनका नाम लेने से मन के पाप और तन के ताप का विनाश हो जाता है उनके समक्ष में यह कहां संभव था कि हम दुर्बुद्धि एवं दुर्गति के आधार बन जाते। इससे निश्चय गंगा नहीं हैं, केवल गैंजेज़ (Ganges) नाम्नी नदी का जल मात्र अवशिष्ट है। सो भी आश्चर्य नहीं कि आठ सात वर्ष में जाता रहे। क्योंकि यहां के धन, बल, विद्या, कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि सभी निर्वाहोपयोगी उत्तम गुण और पदार्थ विदेश को लद गए। फिर यदि पानी और मट्टी में भी कोई अच्छाई पाई जायगी तो क्या संभावना है कि हमारे हाथ बनी रहने पावेगी। जहां नोन और घास तक टैक्स की छूत से नहीं बचे वहां जल के बच रहने की भी क्या आशा है? बचे भी तो हमें क्या, हम तो सामयिक नीति के वश 'अशनं बसनं वासो येषां चैवाविधानतः' का प्रत्यक्ष उदाहरण बन रहे हैं और बनते ही जाते हैं। फिर हमारे लिए 'मगधे न समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी' वाला वाक्य यों न चरितार्थ होगा? यद्यपि चरितार्थ हो ही रहा है तौ भी वर्तमान लक्षणों के देखे कौन सहृदय न मान लेगा कि यदि कलियुग का प्रभाव यों ही बना रहा तो आठ वर्ष बीतते २ 'कलौ दश सहस्त्राणि विष्णुः तिष्ठति मेदिनीं। तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्राम देवता' वाली भविष्यत् वाणी को सफल करते हुए भगवती भागीरथी का सर्वथा लोप न हो जायगा।

अब रहा यह कथन कि गंगा जी सदा बनी रहेंगी। सो इस रीति से सत्य है कि यदि प्रेम ईश्वर का रूप है और ईश्वर अनादि अनंत एवं सर्वथा स्वतंत्र है तो संसार में चाहे कोटि विघ्न हों, कोटि संकट हों किंतु प्रेमियों का प्रादुर्भाव समय २ पर होता ही रहेगा और उनकी हृदय भूमि में भगवान प्रेमदेव स्वेच्छानुसार विहार करते ही रहेंगे। अथच विहार कभी अकेले

होता नहीं है, इस न्याय से उनके साथ सर्वशक्ति समूह का आविर्भाव होना स्वयंसिद्ध है। और जहां और सब शक्ति होंगी वहां त्रितापहारिणी, परमानंद प्रसारिणी आदि शक्ति श्री गंगा महारानी क्यों न होंगी? गंगा के बिना हमारे पाप संताप कौन दूर रुकता है? और इनके दूर हुए बिना हमारा मनोमंदिर प्रेम लीला के योग्य क्योंकर हो सकेगा? फिर यह माने बिना कैसे निर्वाह हो सकता है कि जिनके हृदय में आर्यत्व की उमंगें, धर्म प्रेम सौजन्य की तरंगें कभी स्वप्न में भी क्षण भर को भी लहरायंगी उन्हें गंगा छोड़ जायंगी, अथवा गंगा को वे कहीं जाने देंगे जिन्होंने देववाणी एवं बृजभाषा देवी की दया से जान लिया है कि भगवान बैकुण्ठ बिहारी का चरणामृत, देवाधिदेव महादेव का शिरोभूषण, जगत् पिता के कमंडलु की सिद्धि, भारतमाता के श्रृंगार की मौक्तिकमाला गंगा ही हैं? हमारे परम बिरागी महर्षिगण यदि त्रैलोक्य में किसी पदार्थ के अनुरागी थे तो इसी ब्रह्मद्रव के। जिन्हें गंगा के दर्शन, मज्जन, पान, नाम स्मरणादि में अनंत सुख का अनुभव होता है, कहां तक कहिए, गंगाजलबिंदु में गोविंद प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें छोड़ के गंगा कहां जा सकती हैं? हमने माना कि ऐसे धन्यजन्मा इस काल में थोड़े हैं, वरंच सभी काल में थोड़े होते हैं। पर यदि गंगा वही हैं जिन्हें हमारे महारसास्वादन-रसिक कविवृंद अपनी हृदयहारिणी सहृदयहृदयबिहारिणी वाणी का बिहारस्थल बनाते हैं तो ऐसों ही के लिए हैं जो अपने प्रेम प्रभाव से जगदीश्वर तक को मनमाना नाच नचा सकते हैं। भला ऐसों का सान्निध्य छोड़ के गंगामाई किस सुख के लिए कहीं जा सकती हैं? क्या ले के जायेंगी? महिमा? वह तो वास्तव में प्रेम ही की महिमा का नामांतर है। प्रेम न हो तो तीर्थ देवता इत्यादि क्या है परमेश्वर स्वयं कुछ नहीं है। और प्रेम की झलक दिखाई देने पर अकेली गंगा क्या है 'सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसंगः। हां, अच्युत नामधारी विश्वविहारी का अभाव हो जाय एवं उनके गुण गाने वाले प्रेम मदिरा के मतवाले दैवी का तिरोभाव हो जाय तो गंगा का भी अदर्शन युक्तियुक्त हो सकता है। पर ऐसा आर्यावर्त में जन्म पाने वालों अथच आस्तिक कहलाने वालों की समझ में क्या कभी मन में भी नहीं आने का। फिर कोई कैसे यह कह सकता है कि गंगा का महत्व जाता रहेगा। रहा जल, सो भौतिक पदार्थ है, उसे यदि किसी में सामर्थ्य हो तो आठ वर्ष में काहे को आज ही जहां चाहे उठा ले जाय। भक्त जन 'सब जल गंगा जल भए जब मन आये राम' के अनुसार जो जल पावेंगे उसी को गंगा मान

लेंगे। कुछ भी बाह्य पदार्थ न होने पर भी उनकी मनोभूमि में प्रेम लहरी उच्छलित होने पर नेत्र द्वारा आनंदाश्रुमयी प्रेम गंगा का प्रवाह कौन रोक सकता है ? फिर हमारे इस कहने में क्या झूठ है कि जब तक ईश्वर, धर्म, प्रेम, प्रेमिक, भारतभूमि आदि नाम बने हैं तब तक गंगा भी अवश्य ही बनी रहेंगी और इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों सिद्धांत सत्य हैं, केवल विवाद मिथ्या है।

खं० ७ सं० १० (१५ मई ह० सं० ७)

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल बात का वर्णन करते। किंतु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है इससे केवल उसी बात के ऊपर दो चार बात लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे संभाषण के समय मुख से निकल २ के परस्पर हृदयस्थ भाव प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिए तो इस बात की भी क्या ही बात है जिसके प्रभाव से मानव जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि (अशरफुल मखलूक़ात) कहलाती है। शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चरित कर सकते हैं इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आद्रित समझे जाते हैं। फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है। हां, बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को सब लोग निराकार कहते हैं तो भी इसका सम्बन्ध उसके साथ लगाए रहते हैं। वेद ईश्वर का बचन है, कुरआनशरीफ़ कलामुल्लाह है, होली बाइबिल वर्ड आफ़ गाड है। यह बचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थिति नहीं कर सकती। पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलम्बियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है। यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मनाने पर कटिबद्ध रहते हैं। यहां तक कि प्रेम सिद्धांती लोग निरवयव नाम से मुंह बिचकावैंगे। 'अपाणिपादो जवनो गृहीता' इत्यादि पर हठ करने वाले को यह कहके बात में उड़ावैंगे कि "हम लंगड़े लूले ईश्वर को नहीं मान सकते। हमारा प्यारा तो कोटि काम सुन्दर स्याम बरण विशिष्ट है।' निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिग्राम शिला है जो उसकी स्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरंभ करने वाले को आंखें मूंदने पर जो कुछ पहिले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिलकुल काला रंग है। सिद्धांत यह कि रंग रूप रहित को सब रंग रंजित एवं अनेक रूप सहित ठहरावैंगे किन्तु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेम रस से सिंचित करने वाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मजे से अपने को वंचित न रहने देंगे। जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुंचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही? हम लोगों के तो "गात माहिं बात करामात है"। नाना शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश इत्यादि

सब बात ही के फैलाव हैं जिनके मध्य एक २ बात ऐसी पाई जाती है जो मन, बुद्धि, चित्त को अपूर्व दशा में ले जाने वाली अथच लोक परलोक में सब बात बनाने वाली है। यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसी है पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर को भांति इस के भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहाती बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो हैं? बात के काम भी इसी भांति अनेक देखने में आते हैं। प्रीति बैर, सुख दुःख, श्रद्धा घृणा उत्साह अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा बिदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं। घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकती है। डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहां की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात उखड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर करते हैं—"बातहि हाथी पाइए, बातहि हाथी पांव"। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं। मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्प-व्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय शांतिशील, कुमार्गी सुपथगामी अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं। बात का तत्व समझना हर एक का काम नहीं है। और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना भी ऐसों वैसों का साध्य नहीं है। बड़े २ विज्ञवरों तथा महा २ कवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने समझाने में व्यतीत हो जाते हैं। सहृदय-गण की बात के आनन्द के आगे सारा संसार तुच्छ जंचता है। बालकों की तोतली बातें, सुन्दरियों की मीठी २ प्यारी २ बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बातें जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाणखंड कहना चाहिए। क्योंकि कुत्ते, बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के 'तू तू' 'पूसी २' इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथा सामर्थ्य स्नेह प्रदर्शन करने लगते हैं। फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान की बात का असर न हो। बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं। हाथी के दांत की भांति उनके मुख से एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती। हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते थे कि "तन तिय तनय

धाम धन धरनी। सत्यसंध कहं तृन सम बरनी'। अथच "प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान। ते दूनौं दसरथ तजे बचन न दीन्हों जान।" इत्यादि उनकी अक्षरसम्बद्धा कीर्ति सदा संसार पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी। पर आज कल के बहुतेरे भारत कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है कि 'मर्द की जबान (बात का उदय स्थान) और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता रहता है'। आज और बात है कल ही स्वार्थांधता के बश हुजूरों की मरजी के मुवाफिक दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलंब की संभावना नहीं है। यद्यपि कभी २ अवसर पड़ने पर बात के अंश का कुछ रंग ढंग परिवर्तित कर लेना नीति विरुद्ध नहीं है, पर कब? जात्योपकार, देशोद्धार, प्रेम प्रचार आदि के समय, न कि पापी पेट के लिए। एक हम लोग हैं जिन्हें आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है। किन्तु हिन्दुस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने वालों के भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है। इससे यह रीति अंगीकार कर रखी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहै चाहै यह समझे कि बात कहने का भी शऊर नहीं है किन्तु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए जिनमें कोई न कोई, किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे। पर खेद है कि हमारी बातें सुनने वाले उंगलियों ही पर गिनने भर को हैं। इससे "बात बात में बात" निकालने का उत्साह नहीं होता। अपने जी को 'क्या बने बात जहां बात बनाए न बने' इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतंगड़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है।

खं० ७ सं० १० (१५ मई ह० सं० ७)

असंभव है

प्रेम के बिना आत्मिक शांति असंभव है। हिंदी का पूर्ण प्रचार हुए बिना हिंदुओं का उद्धार असंभव है। हिंदुओं के भली भांति सुधरे बिना हिंदुस्तान का सुधार असंभव है। दूसरों के भरोसे अपनी भलाई की आशा करने पर यथार्थ सिद्धि असंभव है। भय, लज्जा और धर्माधर्म का विचार रखने में संसार के काम चलना असंभव है। कपट त्यागे बिना सच्ची मित्रता असंभव है। कुपथ्य करने से रोग की शांति असंभव है। स्वार्थी से वास्तविक परोपकार असंभव है। उदार पुरुष को धन का संकोच न होना असंभव है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के विश्वासी से पाप कर्म असंभव है। संगीत साहित्य और सौंदर्य के स्वाद बिना सहृदयता असंभव है। दो चार बार धोखा खाए बिना अनुभवशीलता असंभव है। अदालत में जा के सत्यवादी बना रहना असंभव है। कपट का भंडा फूट जाने पर संभ्रम रक्षा असंभव है। मतवादी में धार्मिकता असंभव है। धन की उन्नति बिना किसी लौकिक विषय की उन्नति असंभव है। गोरे रंग वालों से निष्पक्षता असंभव है। जिस विषय में पूरा अनुभव न हो उस में मुंह खोल के विज्ञ मंडली के मध्य प्रशंसा पाना असंभव है। शास्त्रार्थ से ईश्वर का सिद्ध कर देना असंभव है। दुःख और दुर्व्यसन से पूर्णतया बचे हुए जीवन यात्रा असंभव है। बंधु विरोध कर के लाख चतुरता के अच्छुत सुख संपत्ति बनाए रखना असंभव है। निरुत्साही से कोई काम होना असंभव है। प्रजा विरोधी से राजभक्ति असंभव है। इन सिद्धांतों को अयथार्थ ठहराने की मनसा से विवाद उठा के जय लाभ करना असंभव है।

खं० ७, सं० १० (१५ मई ह० सं० ७)

देखिये तो

(जरा मन लगा के पढ़िये)

यों तो सभी देशों का गौरव वहां के शूर सती और कवियों पर निर्भर होता है किंतु हमारा भारतवर्ष सदा से इन्हीं पुरुषरत्नों के द्वारा अलंकृत रहा है। आजकल इस की जो कुछ दुर्दशा हो रही है उसके विशेष कारणों में से एक यह भी है कि बहुत दिन से ऐसे लोगों का चरित्र सर्वसाधारण को भली भांति नहीं विदित होता। जिन्होंने बरसों स्कूल में पढ़ कर बड़े २ पद प्राप्त किए हैं वे भी बहुधा नहीं ही जानते कि हमारे देश में कब, किस समय, कौन २ उत्साही वीर, पतिप्राणा स्त्रीरत्न एवं रससिद्ध कवीश्वर हुए हैं अथवा हैं। और इस प्रकार का ज्ञान न होने से देश में मनुष्य जीवन को सुशोभित करनेवाले सद्गुणों का पूर्णरूप से प्रचार होना दुर्घट है। इस अभाव के दूर करने की मनसा से देशभक्तों और विद्यारसिकों की सेवा में हमारा सविनय निवेदन है कि जो सज्जन भूतकाल के तथा वर्तमान समय के वीर पुरुषों, पतिव्रता स्त्रियों अथच कवियों का वृत्तांत जानते हो वह कृपा कर के हमारे पास लिख भेजें तो भारतवर्ष का बड़ा उपकार होना संभावित है। इस देश में ऐसा स्थान विरला ही होगा जहां सौ पचास वर्ष के इधर उधर किसी न किसी घराने में कोई न कोई जाति और देश को भूषित करने वाले पुरुष अथवा स्त्री ने जन्म न ग्रहण किया हो। ऐसों का चरित्र एकत्रित करने में प्रचलित गीतों और कविताओं (जो दिहात के स्त्री पुरुष बहुधा गाया करते हैं वा भाट लोग कहते रहते हैं) तथा वृद्ध लोगों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। पर इस प्रकार की बातें संग्रह करना एक दो मनुष्यों का काम नहीं हैं। इससे सहृदय मात्र को हम पर कृपा करके देश की कल्याण साधनार्थ परिश्रम करके लिख भेजना चाहिए कि किस जिले परगने के किस नगर अथवा ग्राम में, किस संवत में किस कुल के मध्य, किस साहसी व्यक्ति ने जन्म लिया, उस के माता पितादि का नाम क्या था और किस २ उद्देश्य से कब २ किस २ के प्रति कहां अपने अलौकिक गुण का प्रकाश किया। यों हीं कब, कहां, किस के गृह में, किस के गर्भ से किस पतिव्रता ने प्रादुर्भाव किया और किस वंश के कौन से बड़भागी के साथ ब्याही गई तथा क्योंकर पवित्र प्रेम का परिचय देकर जीवनयात्रा समाप्त की एवं उस का सतीचौरा

किस स्थान पर है। इसी प्रकार कब, कहां, किस कुल में किस कविवर ने जन्म धारण किया, किस राजसभा अथवा किस रीति से निर्बाह किया वा करते हैं। कौन २ से ग्रंथ निर्माण किए उन ग्रंथों की पूरी प्रति अथवा कुछ कबिता भी लिख भेजनी चाहिए। यदि संभव हो तो उनका चित्र वा हस्त-लिपि भी भेजने तथा भिजवाने का यत्न कर्तव्य है। शिवसिंह सरोज में जिन २ कबियों की कथा लिखी है उस के अतिरिक्त कुछ और विशेष वृत्त ज्ञात हो वा अन्यान्य कवियों का चरित्र अवगत हो तो लिखना चाहिए। आल्हा, लोरीक, बिजयमल्ल, सल्हेस, नयकाबनिजरवा, गोपीचंद, भरतरी, अमरसिंह का ख्याल, सतीचंद्रावली का गीत इत्यादि एवं इसी प्रकार के और २ गीत, कबित, पंवरा आदि से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। जो देशहितैषी ऐसी २ बातों के लिख भेजने का उद्योग करेंगे तथा जो संपादक महाशय इस बिज्ञापन को अपने पत्र में कुछ दिन स्थान दान करेंगे उन को धन्यबाद तो हम क्या समस्त भारत देहीगा किंतु एतद्विषयक पुस्तक (वा पुस्तकें) भी उनकी सेवा में बिना मूल्य भेजी जायंगी। बुद्धिमानों को इतनी सूचना बहुत है। हां, जो २ बातें रह गई हों वह और भी बढ़ा के लिखना उनकी कृपा है। इसे पढ़ के रख न दीजिए किंतु ध्यान दीजिए और परिश्रम कीजिए तो बस, मुझ प अहसान करो खलक प अहसां होगा।

विशेष जिस ग्राम में वा प्रांत में जन्म हो उस का नाम क्यों पड़ा, यदि यह मालूम हो तौ भी लिखना वा किस वर्ण के कौन विभाग तथा मत मानते हैं यह भी मालूम हो तो लिखना।

हिंद हिंदी और हिंदुस्तानियों का कीर्त्तिवर्द्धक
प्रतापनारायण मिश्र,
ब्राह्मण संपादक कानपुर
अथवा
मैनेजर खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

(खं० ७, सं० १० १५ मई ह० सं० ७)

भ्रम है

'विद्याधर्मदीपिका' संपादक पंडितप्रवर श्री चंद्रशेखरमिश्र महोदय मई मास की उक्त पत्रिका में आज्ञा करते हैं कि 'गजल और लावनी आदि के छंद बृजभाषा में ठीक नहीं वरंच अत्यंत कर्णारुमंद जंचते हैं। हम उन्हें स्मरण दिलाते हैं कि श्री शाह कुन्दनलाल (महात्मा ललित किशोरी) और नारायण स्वामी इत्यादि कई सज्जनों की बहुत सी गजलें प्रसिद्ध हैं। नमूने के लिए दो चार का मतला (टेक) सुन लीजिए। यथा—

सुनिए जसोदा रानी या लाल की बड़ाई। सब लोक लाज यानैं जमुना में धो बहाई। और—**विनती कुंअरि किशोरी मेरी मान मान मान। बिन चूक मान मोसों मती ठान ठान ठान।** तथा—**देखो कहुं गलीन में बृषभाननंदिनी। ठुम २ धरै धरनि प चरन गति गयंदिनी।** इत्यादि। इसी प्रकार लावनी का। यद्यपि देश के कई प्रांतों में बहुत चर्चा नहीं है तो भी श्री राधाचरण गोस्वामी, हमारे गुरुवर श्री ललिताप्रसाद जी त्रिवेदी (ललित कवि) तथा हम और कई एक और कवियों ने बहुत सी लावनी लिखी है। यथा—**सब गोपवधूटी लकुट मथनियन साधे। गिरि परे न गिरिवर आय कान्ह के कांधे।** फिर—**अरी बतावै क्यों न हाल तू कौन ख्याल में है भटकी, कासों अटकी, लिए मटकी जु फिरै मटकी मटकी।** पुनः—**दिन २ दीन दसा भारत की अधिक २ अधिकाई है। दीन बंधु बिन, दीन को दीसत कोउ न सहाई है।** इत्यादि।

यह सब बृजभाषा है और किसी कवि ने इन्हें कर्ण कटु नहीं बतलाया आशा है आप भी अच्छा न कहें तो बुरा भी न ठहरावैंगे। इसके अतिरिक्त और भी जिन २ छंदों के कहिए उनके नवीन तथा प्राचीन उदाहरण सेवा में निवेदित किये जायं। पर खड़ी बोली में दोहा चौपाई क्या लावनी इत्यादि के सिवा सभी छंद स्वादु रहित होते हैं और होंगे। नमूने के लिये ढूंढ़ने नहीं जाना, कई पुस्तकें छपी हुई मौजूद हैं। फिर यदि 'बहुत से सुजन' कहते हैं कि 'बिना बृजभाषा के विशुद्ध हिंदी में कविता ··· ठीक नहीं हो सकती' तो वे क्या पाप करते हैं? आपने भी अपनी बासंती कविता में माधुर्य रक्षार्थ बृजभाषा का आश्रय लिया है। फिर यदि काव्य-

रसिक लोग बृजभाषा ही को मधुर कविता के योग्य मानते हैं तो क्या अन्याय है ? हां, यदि बृजभाषा और होती और खड़ी बोली और होती तो कविता न होने से निश्चय हिंदी का 'भाग्य दोष' अथवा 'कलंक' था ; पर जब कि यह बात लाखों कोस नहीं है तो नागरी देवी का यही परम सौभाग्य और महद्यश समझना चाहिए कि वे दुनिया भर की सभ्य भाषाओं से इतनी अधिक श्रेष्ठता रखती हैं कि गद्य के समय और रूप तथा पद्य के अवसर पर अन्य छटा दिखला सकती हैं। फिर हम नहीं जानते वे कैसे 'हिंदी के हितैषी हैं जो अपनी आदरणीया मातृभाषा को सभी काल में उसके स्वभाव के विरुद्ध खड़े ही रखने का हठ करते रहते हैं। संगीतवेत्ता अनेक स्थल पर यदि 'मृदंग' शब्द को 'मृदौंग' न कहें तो स्वर की पूर्णता नहीं होती। इसमें व्याकरणियों का शब्दशुद्धि विषयक आग्रह करना व्यर्थ है। यों ही कवि लोग यदि अवसर पड़ने पर माधुर्य एवं लावन्य के अनुरोध से शब्दों में कुछ परिवर्तन न करें तो निरसता कानों और प्रानों में खटकने लगती है। इस बात के जाने बिना केवल गद्य लेखकों का तर्क वितर्क उठाना निरा भ्रम है।

खं० ७, सं० ११ (१५ जून ह० सं० ७)

हरि जैसे को तैसा है

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ईश्वर अनंत है और उस की सभी बातें अनंत हैं। इस रीति से यह सामर्थ्य कभी कहीं किसी को न हुई है न है न हो सकती है कि उस का ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले। पर सच्चे विश्वास के साथ उसे जो कोई जिस रीति से मानता है वह अपनी रुचि ही के अनुसार उस के रूप गुण स्वभावादि पाता है क्योंकि सर्व शक्तिमान का अर्थ ही यह है कि किसी प्रकार किसी बात में मंद न हों। यह तत्व न जानने के कारण बहुधा कुतर्की लोग पूछ बैठते हैं कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है तो अपने को मार भी डालने सकता है, अथवा चोरी जारी इत्यादि भी कर करा सकता है कि नहीं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने में वे लोग अक्षम हो रहते हैं जो यह माने बैठे हैं कि ईश्वर के विषय में जितना कुछ किसी ग्रंथ विशेष में लिखा है उतने ही से इतिश्री है अथवा जिन बातों को बुद्धिमानों ने सांसारिक व्यवहार के निर्वाहार्थ जैसा ठहरा रक्खा है वे ईश्वर के पक्ष में भी वैसी ही हैं। पर जो जानते हैं कि परमेश्वर किसी बंधन में बद्ध नहीं है, केवल प्रेम बंधन ही उस पर प्रभाव डाल सकता है, पर उस के द्वारा वास्तविक स्वतंत्रता में अंतर नहीं पड़ता, वे छुटते ही उत्तर देंगे कि हां साहब, ईश्वर आप की तरह स्वल्प सामर्थी नहीं है जो मार डालने वा मर जाने के उपरांत जिला देने अथवा जी उठने की सामर्थ्य न रखता हो। वह मृत्यु और जीवन दोनों का अधिष्ठाता है। इस न्याय से स्वेच्छानुसार अपने पराए अथच सब के साथ दोनों को व्यवहृत कर सकता है। और सुनिए, चोरी, जारी, छल, कपट इत्यादि केवल आप ऐसों के पक्ष में बुरे हैं किंतु परमात्मा किसे कैसा समझता है यह आप की समझ में न कभी आया है न आवैगा। फिर इन बातों से क्या। यदि वह चोरी करेगा तो आप तो आप ही हैं आप के बाप भी उसे दंड नहीं दे सकते। आप के देखते २ आप के कितने ही संबंधियों के प्राण उड़ा ले गया तब आपने क्या बना लिया था? फिर ऐसे कुतर्कों के द्वारा आप का यह विचारना व्यर्थ है कि हम किसी सच्चे विश्वासी को डिगा देंगे अथवा बातें बना के जीत लेंगे। पर यह विषय तो तर्क वितर्क का है ही नहीं। इस में तो केवल अनुभव का काम है। चित्त को शुद्ध कर के, मन एकाग्र कर के, कुछ दिन अनुभव कर देखिए तो विदित हो जायगा कि जो

कुछ भगवान श्रीकृष्णचंद्र ने आज्ञा दी है कि "यो यथा मां प्रपद्येत तं तथैव भजाम्यहं"। और महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य ने जगत के उद्धारार्थ शिक्षा दी है कि "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः"। वहीं भजनपरायण महात्मा कबीर ने अपने और अन्यान्य भक्तों के अनुभव द्वारा निश्चय कर लिया है कि 'हरि जैसे को तैसा है'। सच्चे विरागियों के लिए, जिन्हें संसार तो क्या अपने ही शरीर का मोह नहीं है, ईश्वर निराकार, निरवयव, निर्गुण, अकर्ता, अभोक्ता इत्यादि है और केवल ज्ञानियों के लिए, जो विचार करने के अतिरिक्त हाथ पांव हिलाने का अवसर ही नहीं पाते, परमेश्वर भी 'पग बिन चलै सुनै बिन काना, कर बिन करम करै विधि नाना' इत्यादि विशेषण विशिष्ट है। परंतु जिन्हें घर बार छोड़ के बन में जा बैठना और हस्त पदादि होते हुए निकम्मे बन बैठने की रुचि नहीं है उन के लिए वह उन की मनोगति के अनुसार अनेकरूपसंपन्न भी है।

योगियों के लिए परम योगीश्वर, महान शोभामयी प्राणप्रिया को अर्द्धांग में धारण किये रहने पर भी अष्टप्रहर समाधि में तत्पर रहता है। वीरों के लिए महाधीर, धुरंधर, बीरबर, खड्ग, चक्र, त्रिशूलादि नाना शस्त्रास्त्र सज्जित रहने पर भी केवल हुंकार के द्वारा शत्रु निकर के निमित्त प्राण शोषक, भयंकर है। रसिकों के लिए रसिक शिरोमणि, कोटि काम सुंदर, महामनोहर है। कहां तक कहिए यह कहने सुनने की बातें ही नहीं हैं तौ भी कहने वाले कही गए हैं 'जिन के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी', पर देखने के लिए आंखें चाहिए, सो भी अंतःकरण में और प्रेमांजन से अंजित। यों जीभ की लपालप से मन की आंखों का काम नहीं निकलने का जबकि ऊपरी ही आंखों का काम निकलना असंभव है। इसी प्रकार वह सबसे पृथक रहने पर भी सब से मिला रहता है। निवृत्त लोगों के लिए वह किसी का कोई नहीं है। मानों कबीर साहब के द्वारा उसी ने कहा है कि, 'ना हम काहू के कोई न हमारा'। पर प्रवृत्ति मार्ग में सारा संसार उसी का है और वह भी सब का सब कुछ है। कभी २ ईसाई धर्म-प्रचारक जब महात्मा मसीह को ईश्वर का पुत्र कहते हैं तो उनके धर्म विरोधी पूछ बैठते हैं कि ईश्वर के पुत्र है तो स्त्री और माता पितादि अन्यान्य कुटुम्बी भी होने चाहिए, इस पर सार्वभौमिक धर्मावलम्बियों को उत्तर देने का बहुत अच्छा अवसर मिल सकता है कि हां, बातों की हार जीत का व्यसन छोड़ के आप सच्चे जी से उस के बन जाइए तो देखिएगा कि साधारण रीति से समस्त संसार ही उसकी संतति है। क्यों कि उत्पत्ति-

कारक सबका वही है। रहा विशेष संबंध, सो॰मसीह जानते थे कि मैं उसका पुत्र हूं, कभी २ स्नेह की उमंग में कह भी देते थे। पर यह कभी नहीं हुवा कि वह शास्त्रार्थ में अपने को खुदा का बेटा सिद्ध करते फिरे हों। क्योंकि शास्त्रार्थ से और आंतरिक सिद्धांत से बड़ा अंतर होता है। यदि आप को प्रेमशक्ति हो तो नंद बाबा और दशरथ महाराज इत्यादि की नाईं उसके पिता बन जाइए और देख लीजिए कि वह आप के मनोमदिर में शिशु लीला संपादन करता है अथवा नहीं। अवश्य करेगा, क्योंकि वह अपने भक्तों का कोई मनोरथ सफल करने में कभी त्रुटि नहीं करता। पर होना चाहिए भक्त। केवल वक्ताओं के लिए वह शब्द मात्र से अधिक कुछ नहीं है। सो भी अनेक मतावलंबियों के सिद्धांतानुसार पवित्र और न्यायपूर्ण शब्द जो अपवित्र मुख और अन्यायपूर्ण हृदय से निकलने पर उच्चारणकर्त्ता को उसके कुव्यवहार का फल अवश्य चखाता है। अधिक नहीं तो ऐसे वंचकों का (जो अपने आंतरिक स्वार्थ एवं कपट को छिपा के संसार के संमुख अपनी धर्म्मनिष्ठता और ब्रह्मविज्ञता दिखलाते रहते हैं) चित्त ही ऐसा सदसद्विवेक वंचित बना देता है कि उन्हें कुछ दिन पीछे यह बोध भी नहीं रह जाता कि हम जो चाल चल रहे हैं वह वस्तुतः अच्छी है अथवा बुरी। इस से स्वयंसिद्ध है कि 'हरि जैसे को तैसा है'। अस्मात हमें उचित है कि उसे जिस रीति से जैसा कुछ मानते हैं माने जायं। न किसी के बहकाने से बहकें न किसी को बहकाने का मानस करें। क्योंकि ऐसा करते ही हमारे ईश्वर के मानने में विक्षेप पड़ जायगा। और इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मानना सच्चे जी से, सरल भाव के साथ संबंध रखता है। यदि अंतःकरण उसके अस्तित्व की साक्षी न देता हो तो लोगों के दिखलाने को ईश्वर २ करने का कोई काम नहीं है। झूठे बनावटी आस्तिक से नास्तिक कोटिगुणा उत्तम होता है क्योंकि वह किसी को धोखा नहीं देता। और कच्चा आस्तिक अपनी आत्मा के साथ आपही अन्याय तथा प्रवंचना करता रहता है। इस से यदि मानिए तो सच्चाई के साथ दृढ़तापूर्वक मानिए। फिर इस बात का झगड़ा न रह जायगा कि कैसा मानें, क्यों कर मानें। जैसा मानिएगा वैसा फल आप पा जाइयेगा क्योंकि 'हरि जैसे को तैसा है'। हमारी समझ में अभी भारत संतान के मध्य नास्तिकता बहुत नहीं फैली। अस्मात हम अपने पाठकों से पूछा चाहते हैं कि आप ईश्वर को अपना क्या मानते हैं? यों कहने को तो माता, पिता, गुरू, स्वामी, अन्नदाता, सुखदाता, मुक्तिदाता, इत्यादि अगणित शब्द हैं, पर

मानना वही है जो दृढ़ निश्चय के साथ माना जाय। यों सहस्रनाम का पाठ करने से केवल समय का नष्ट करना है अथवा लोक परंपरा की गुलामी करना है। इसे छोड़िए, यदि मानना हो तो कैसा ही मानिए, कुछ ही मानिए, किसी प्रकार से मानिए पर सचाई के साथ। फिर देख लीजिए कि वह वास्तव में आपही के मंतव्य की अनुकूलता का निर्वाह करता है कि नहीं। यदि कोई हम से इस विषय में सम्मति लिया चाहे तो साधारणतया तो हम यही कहेंगे कि अपनी दशा के अनुसार अपने जी से आप ही पूछ देखिए। जैसा वह बतलावे वैसा मानने लगिए और वही मानना ठीक होगा। रही हमारी विशेष अनुमति, वह यह है कि अपने गृह, कुटुंब, जाति देश की गिरी हुई दशा सुधारने पर कटिबद्ध हूजिए। यहां के धन, बल, विद्या, मान मर्यादा को नष्ट से बचाने के लिए तन, मन, धन, बचन, कर्म से अहर्निश जुटे रहिए। क्योंकि ईश्वर जगत् में व्याप्त है, इस से जगत के साथ उत्तमाचरण करना ही ईश्वर के साथ सदव्यवहार करना है। जिसने संसार को सुखित करने का उद्योग किया वह ईश्वर की प्रसन्नता संपादन कर चुका। जब कि संसारिक पिता और राजा अपने संतान तथा प्रजा के हितकारकों को अपना हितू समझते हैं तो जगत्पिता जगदीश्वर अपनी सृष्टि के शुभचिंतक को अपना प्रीतिपात्र क्यों न समझेंगे। पर सारा संसार बहुत बड़ा है और इतने बड़े विश्व के साथ स्नेह संबंध रखना हमारे लिए अति कठिन है, इससे केवल अपने देश जाति की भलाई को जगत की भलाई समझ के उसका उद्योग कर चलिए और उसमें ईश्वर को अपना सच्चा सामर्थ्यवान सुदृढ़ सहायक समझिए। फिर देखिए उसकी सहायता से आप कितने शीघ्र कैसी उत्तमता से कृतकार्य होते हैं और बिघ्नकारणी बातें कैसे बात की बात में बतासा सी बिलाती हैं। बरच अपने भाव के विरुद्ध आप की अनुकूलता संपादन करें तो बात है क्योंकि जिसे आप अपना सहायकारी मानेंगे वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' है। पर जब मानिए और स्नेहशास्त्र का यह वाक्य भी जानिए कि 'जहां तक हमारे किये होगा वहां तक अपने सहायक पर भार न डालेंगे'। बस यही सब प्रकार की समुन्नति का सोपान है जिसका अवलंबन करने से अभीष्ट का प्राप्त करना सहज हो जायगा। नहीं तो कोरी बातें बनाया कीजिए, कभी कोई बात न बनेगी। अंतर्यामी परमेश्वर के साहाय्य की आशा निरी ऊपरी बातों से कदापि नहीं पूर्ण होने की, क्योंकि 'हरि जैसे को तैसा' है।

खं० ७, सं० ११ (१५ जून ह० सं० ७)

दशावतार

जो केवल मुख से ईश्वर २, ब्रह्म २, बेद २, धर्म २ इत्यादि कहा करते हैं पर मानसिक नेत्रों से कभी उसके दर्शन करने की चेष्टा नहीं करते, जिनके हृदय भूमि केवल संसारिक चिंता अथवा मतवाद के तर्क बितर्क की बिहार-स्थली बनी रही है, भगवत्प्रेम लीला के योग्य न कभी थी न होने की संभावना है, जिन्हें आर्य कवीश्वरों की रसमयी वाणी का गूढ़ार्थ विदित होना दुर्घट है, वही लोग अवतारों के विषय में नाना संदेह उठाया करते हैं। पर जो जानते हैं कि परम स्वतंत्र अनन्त नाम रूप गुण स्वभाव बिशिष्ट परमात्मा किसी बंधन में बद्ध नहीं हैं, केवल अपनी अप्रतर्क्य इच्छा से जब जैसा चाहता है कर उठाता है, उन्हें एतद्विषयक संदेह कभी नहीं उठने के। जो प्रेमेश्वर अपने भक्तों की रुचि रखने मात्र के लिए उनके मनोमंदिर में उन्हीं की इच्छानुसार रूप धारण करके नाना प्रकार की लीला दिखलाया करता है उसका विशेष २ समयों पर बिशेष २ कार्यों के लिए रूप विशेष धारण करना क्या आश्चर्य है ? मतवादी कहा करें कि वह दिक्कालाद्यन-वच्छिन्न होने के कारण एक देश में एक काल पर क्यों कर आबिर्भाव कर सकता है ? पर बुद्धिमान जानते हैं कि सर्वशक्तिमान शब्द का अर्थ ही यही है कि जो बातें तार्किक ज्ञान के द्वारा असंभव हों उन्हें कर दिखावै। सर्वव्यापक भी बना रहना, निरवयव भी बना रहना और किसी स्थान पर किसी रूप में प्रकाशित भी हो जाना आप की समझ में न आवे तो न सही पर आप यह कभी न सिद्ध कर सकेंगे कि ऐसा करना उसकी सामर्थ्य में नहीं है। यदि आप कहें कि तुम उसे मछली, कछुआ इत्यादि बना के उसका उपहास करते हो, तो हम भी कहेंगे कि हमारे प्रेम सिद्धांत में उपहास करना दूषित नहीं है बरंच प्रेमिक और प्रेम पात्र दोनों के मनोविनोद का एक अंग है। पर आप उसके सन्मानकारक और मर्यादा रक्षक बनते हुए भी उसे सृष्टि स्थिति संहारक कह के पागल बनाते हैं। क्योंकि अपने हाथ से कोई वस्तु बनाना और आप ही उसे नष्ट भ्रष्ट कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं है। पर यहां इन बातों से क्या, यह विषय तो पुराणों का है जो सर्वोत्कृष्ट श्रेणी के काव्य हैं, जिनके समझने के लिए कविता रसिकों की बुद्धि चाहिए, न कि शास्त्रार्थियों की। शास्त्रार्थी की दृष्टि केवल अपनी बात

पुष्ट करने और दूसरे की काटने पर रहती है किन्तु साहित्यवेत्ता यह देखते हैं कि अमुक की अमुक बात का उद्देश्य क्या है। इस रीति से देखिए तो देख पड़ेगा कि जिन्होंने ईश्वर के रूप, कर्मादि का अलंकारिक वर्णन किया है उन्होंने अपनी बुद्धि के वैभव और उसके न्याय, दया, सामर्थ्य, सहिष्णुतादि अनेक गुणों का चित्र खींच दिखाया है। जिनके मन की आँखों में पक्षपात इत्यादि दोष हैं उन्हें दोष ही दृष्टि पड़ते हैं, पर जो सचमुच देख सकते हैं उनसे छिपा नहीं है कि मत्स्यावतार की कथा से यह प्रमाणित होता है कि जैसे जल में मछली की गति का कहीं अवरोध नहीं है, गहिराई, उथलाई, मंदता, तीव्रता, सरलता, तिर्यकता सब उसके विचरण करने के लिए समान हैं और उससे बड़ा वहां कोई प्राणी नहीं है। छोटे बड़े, दुःखी सुखी, भले बुरे सब उसकी दृष्टि में समान हैं तथा कोई उससे बड़ा क्या बराबर का भी नहीं है। अथच वेद अर्थात् आर्यों की परम प्राचीन सत्य विद्या को यदि कोई राक्षस लुप्त किया चाहे तो परमेश्वर के मारे वह पानी का डूबा भी नहीं बच सकता है। उसके आश्रितों को महाप्रलय में भी कोई खटका नहीं है। इसी प्रकार कच्छपावतार की लीला से यह निश्चित होता है कि जब देवता और राक्षस अर्थात् आर्य एवं अनार्य एकत्रित होकर संसार सागर का मंथन करके उसमें छिपे हुए रत्न प्रकट करने में कटिबद्ध होते हैं तो उनके उद्योग में सहारा देने के लिए भगवान की पीठ बड़ी मजबूत है। फिर उनके परिश्रम का फल उनके जाति के स्वभाव के आधीन है। जिसे अमृत रुचे वह अमृत ले, जिसे मदिरा भावे वह बोतलें लुढकावे। बराह रूप का वर्णन यह दर्शाता है कि हिरन्याक्ष अर्थात् सुवर्ण (धन) ही पर दृष्टि रखने वाले राक्षस या यों कहिये स्वार्थांध लालची जब पृथिवी को पाताल में ले जाने का उद्योग करते हैं अर्थात् सारा संसार रसातल को चला जाय इसकी चिंता नहीं करते, केवल अपना घर भरने में तत्पर रहते हैं, उनके दूरीकरणार्थ परम देव सब प्रकार प्रस्तुत हैं, चाहे तुच्छ से तुच्छ और भयंकर से भयंकर रूप एवं स्वभाव धारण करना पड़े। नृसिंह स्वरूप का आख्यान यह दिखलाता है कि जो प्रेम प्रमत्त भगवत् भजन के आगे न अपने जातीय सम्प्रदाय की चिन्ता करते हैं न सगे बाप का संकोच रखते हैं, न मरने जलने से डरते हैं उनके उद्धारार्थ प्रेम देव सब प्रकार प्रस्तुत रहते हैं। प्रतिपक्षी चाहे जैसा समर्थी हो, चाहे जिसका बरदानी हो पर भगवान खंभा फाड़ के निकल आवैंगे और उसे मार गिरावैंगे। बामन बपुष का चरित्र इस बात का प्रकाशक है कि ईश्वर का स्वरूप देशकाल

पात्रानुसार अत्यन्त छोटा भी है एवं अतिशय बड़ा भी है। तथा देवताओं अर्थात् दिव्य गुण स्वभाव वालों के उपकारार्थ वे किसी बात में मंद नहीं है। यदि हम सजातियों की भलाई के लिए भीख मांगें अथवा छल करें तौ भी ईश्वर की दृष्टि में बुरे न टहरेंगे बरंच उसके उदाहरण पर चलने वाले होंगे। परशुराम जी का इतिहास इस आशय का प्रदर्शक है कि साहसी के लिए शस्त्र की आवश्यकता नहीं है। बड़ी से बड़ी सेना में घुस जाने और सहस्त्र-वाहु ऐसे का सामना करने को छोटी सी कुल्हाड़ी बहुत है। पर इस अवतार की न कहीं विशेष रूप से पूजा होती है न इन दिनों इनके गुणों का कोई प्रयोजन है। धर्मानुरागियों को शांति से बढ़ के कोई शस्त्र आवश्यक नहीं। श्री रामचंद्र का तो कहना ही क्या है, उनके वृत्त में हम वह २ लोक पर-लोक बनाने वाले उपदेश पा सकते हैं जिनका वर्णन करने को बड़ा ग्रंथ चाहिए। पर हां वालि को छिपा के मारना और सीता जी का बिटूर भेज देना उनके पक्ष में कोई २ लोग अनुचित समझते हैं। पर जब वह मन लगा के शरणागत की रक्षा और मित्र के उद्धार एवं प्रजा रंजन के कर्तव्य की महिमा का विचार करेंगे तो जान जायंगे कि भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम के यह दोनों काम राजधर्म एवं साधुनीति के विरुद्ध न थे। इसी रीति से भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा का मानवचरित हमें धीरता, बीरता, गंभीरता, व्यवहारकुशलता, समयानुकूलता, ब्रह्मविज्ञतादि आर्योचित गुण श्रेणी की शिक्षा देता है। यद्यपि अनभिज्ञ लोगों ने उन्हें चोरी और जारी का कलंक लगाया है पर आज तक यह नहीं सिद्ध कर दिखाया कि किस वेद अथवा शास्त्र वा पुराण के किस स्थल पर तथा श्रीमद्भागवत वा महाभारतादि किस धर्म ग्रंथ में कहां पर लिखा है कि उन्होंने अमुक के घर में, अमुक समय, सेंध दे वा भीत फांद के धन वस्त्रपात्रादि अपहरण किया। रहा मक्खन, सो बृज में (जहां एक २ गोप के घर सहस्त्रावधि गऊ थीं वहां) कौन सी बहुमूल्य वस्तु समझी जा सकती थी। सो भी उन्होंने कै वर्ष की संभली हुई अवस्था में, कै मन अथवा कै सेर चुरा के, किसे हानि पहुंचाई। यदि किसी स्नेही की प्रसन्नताथ बाललीला के अंतर्गत थोड़ा सा अल्पमूल्य पदार्थ उठा खाना वा फेंक देना चोरी समझा जाय तो समझने-वालों की समझ की बलिहारी है। और सुनिए, सोलह वर्ष की अवस्था में तो वह मथुरा जी चले गए थे। इतने ही बीच में व्यभिचार भी कर लिया! सो भी उन दिनों में जब भारत के मध्य भोजन वस्त्रादि के अभाव और नाना रोगों के प्रभाव से छोटी ही अवस्था में यौवन और यौवन काल में बुढ़ापा

न आ जाता था। भला इतनी कच्ची उमर में व्यभिचारी हो के कोई भी हाथी के दांत उखाड़ने, बड़े २ बलिष्ठ शत्रुओं को मारने के योग्य रह सकता है? पर द्वेषियों को कौन समझावै कि भागवत भर में कोई शब्द या संकेत भी ऐसा नहीं पाया जाता जो जारकर्म का द्योतन करता हो। हां, कवियों और प्रेमियों को अधिकार है कि चाहे जैसी पदावली में, चाहे जिस आशय को लिख दिखावैं। किन्तु उनके गूढ़ाशय का समझना हर एक का काम नहीं है। अतः योगीश्वर कृष्णचन्द्र को कामुक समझना लोगों की समझ का फेर है। बुधदेव के जीवनचरित्र से हम यह सीख सकते हैं कि ईश्वर २ वेद २ चिल्लाना व्यर्थ है जब तक जीवरक्षा, परोपकार, धर्मप्रचार के निमित्त आत्मविसर्जन न कर दें। पर एतद्देशिक साधु समुदाय में प्रतिष्ठित बने रहने के लिए हमें मान्य ग्रंथों का मौखिक आदर भी करते रहना चाहिए। कल्कि स्वरूप का कर्तव्य तो सब जानते ही हैं कि कलियुग का प्राबल्य दलन और धर्म का पालन करने को भगवान अवतीर्ण होंगे। क्योंकि जहां राजा प्रजा सभी स्वेच्छाचारी हों वहां धरती और धर्म परमेश्वर ही के रक्खे रह सकता है। अब बतलाइए अवतार मानने वाले ईश्वर को कौन गाली देते हैं और न माननेवाले कहां का राज्य सौंपे देते हैं? फिर किसी के सिद्धांत का खंडन करने की मनसा से अपना समय, दूसरे की शांति, आपस का सुख प्यार नष्ट करना निरा निष्प्रयोजन ही है कि और कुछ?

खं० ७ सं० ११ (१५ जून सं० ७)

स्वतंत्रता

यह एक ऐसा गुण है कि न किसी के देने से किसी को प्राप्त हो सकता है न कोई किसी से मांग के पा सकता है किंतु पात्रानुसार तारतम्य के साथ आप से आपही लब्ध होता है। ईश्वर सब बातों में सब से बड़ा है अतः पूर्ण रीति से वही एक स्वतंत्रता का आधार है और किसी को इस का दावा करना व्यर्थ है। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य को ईश्वर ने स्वतंत्र बनाया है वे भूलते हैं क्योंकि कोई किसी के बनाने से स्वतंत्र नहीं बन सकता जब तक वह स्वयं उस के योग्य न बने। मनुष्य अपने निर्वाहार्थ काम करने में भले ही स्वतंत्र हो पर जब कि कामों का फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है, उस की इच्छा के विरुद्ध ईश्वरीय नियमानुसार रोग वियोगादि उसे आ ही दबाते हैं तो फिर स्वतंत्रता कहां रही। सिद्धांत यह कि जिसके ऊपर किसी प्रबलतर व्यक्ति का प्रभाव पड़ सकता है वह स्वतंत्र कदापि नहीं कहा जा सकता और ईश्वर या सृष्टि का नियम सब के ऊपर प्राबल्य जमाए हुए है। अतः सचमुच की स्वतंत्रता किसी को नहीं है। हां, भ्रमात्मक विश्व में कल्पना करना चाहिए तो यों कर लीजिए कि जो जितना बड़ा है उसे उतनी ही स्वतंत्रता हस्तगत है जिसे अधिक बड़े लोग छीन सकते हैं, किंतु छोटे लोगों का, जो उसके आधीन हैं अथवा हो सकते हैं, उसकी रीस करना वृथा है अथच न्यायादि के अनुरोध द्वारा उस की स्वतंत्रता में से साझा मांगना एक प्रकार का पागलपन है। जब कि आप स्वल्प सामर्थी वा सामर्थ्य शून्य हो कर स्वतंत्र बनना चाहते हैं तो जिसे स्वतंत्रता प्राप्त है वह उसे गंवा बैठना या घटा लेना क्यों चाहेगा? यों अपनी इच्छा से आप को फुसला देने के लिए चिकनी चुपड़ी बातें बना देना और बात है पर यह कभी संभव नहीं है कि आप के मांगने से कोई पुरुष वा समुदाय वह वस्तु उठा दे अथवा उस में आप को भी साझी बना ले जिसे संसार में सभी चाहते हैं किंतु प्राप्त उसी को होती है जो उस के योग्य हो! यदि आप योग्यता रखते हों अथवा धन जन बल छल इत्यादि की सहायता से योग्य बन जायं तो आप को भी आप से आप मिल रहेगी नहीं तो यांचा वह है जिस ने त्रैलोक्यव्यापी विष्णु भगवान को बावन अंगुल का बना दिया। उस के द्वारा बड़ाई किसे मिल सकती है? और बड़ाई भी वह जिसे बड़े २ लोग बड़ी २ मुड़ धुन करके

प्राप्त करते हैं, सो भी पूर्ण तृप्ति के योग्य नहीं, तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी ही रहती है। ऐसे परम वांछनीय अमूल्य पदार्थ के चाहने वालों को तो चाहिए कि अपने अभीष्ट की मानसिक मूर्ति वा काल्पनिक प्राप्ति के हेतु अपना तन मन धन प्रान लोक परलोक वार देने का हौसिला रक्खें अथवा सब प्रकार के भय संकोच लालच इत्यादि को तिलाजुली दे के अपने को दृढ़ विश्वास के साथ स्वतंत्र समझ लें और इस विश्वास में विक्षेप डालने वाले ईश्वर तक को कुछ न समझें। बस फिर प्रत्यक्ष देख लेंगे कि ऐसे चाहने वाले से परमेश्वर भी दूर नहीं रह सकता, स्वतंत्रता तो उस के अनंत गुणों में से एक गुणमात्र है। जब जहां जिसने जो कुछ प्राप्त किया है इसी सच्चे और दृढ़ प्रेम के द्वारा प्राप्त किया है। इसी के अवलम्बन से जो कोई जो कुछ प्राप्त करना चाहे कर सकता है और यदि यह न हो सके तो समझ लीजिए कि सभी स्वतंत्र हैं। संसार में बीसियों धर्म ग्रंथ एवं सैकड़ों राज-नियम सहस्रों भांति का भय दिखलाया करते हैं पर कोई काम ऐसा नहीं है जो न होता हो। समर्थी लोग कोई न कोई बहाना गढ़ के मनमाना काम कर लिया करते हैं और असमर्थी यह विचार के जो चाहते हैं नहीं कर उठाते हैं कि यह होगा तो क्या होगा और वह होगा तो क्या होगा। इस रीति से विचार के देखिए तो आवश्यकता ही का नाम स्वतंत्रता है। जिसे जब किसी बात की अत्यावश्यकता होती है और उस की पूर्ति का किसी ओर से आसरा नहीं देख पड़ता तब वह दुनिया भर का संकोच छोड़ के अपना काम निकालने के लिए सभी कुछ कर लेता है। यह स्वतंत्रता नहीं तो क्या है? और इस की प्राप्ति के लिए चाहिए ही क्या? केवल दैव के भरोसे बैठे रहिए "रात दिन गरदिश में हैं सात आसमान, हो रहेगा कुछ न कुछ घबरायं क्या"। जब परतंत्रता अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जायगी, खाना पीना मरना जीना सभी कुछ पराए हाथ जा पड़ेगा तब आप ही झख मारिएगा और जैसे बनेगा वैसे स्वतंत्रता की खोज कीजिएगा एवं 'जिन ढूंढा तिन पाइयां' का जीवित उदाहरण बन जाइएगा। पर उस में आप की करतूत कुछ न होगी, वह काल भगवान की लीला कहलावैगी जो अपने चक्र को सदा घुमाया करते हैं और तदनुसार नीचे के आरे ऊपर तथा ऊपर वाले नीचे आप से आप हो जाया करते हैं। आप को यदि स्वतंत्रता प्यारी हो और उस की प्राप्ति का यत्न करना अभीष्ट हो तो इतना ही मात्र कर्तव्य समझिए कि जहां तक हो पराए झगड़े अपने ऊपर न लीजिए केवल अपने काम से काम रखिए एवं अपने काम में यथा सामर्थ्य दूसरों का सम्पर्क न

होने दीजिए। इस में यदि कोई अन्याय अथवा बल प्रदर्शन द्वारा हस्तक्षेप करना चाहे तो ईश्वर वा सामयिक प्रभु अथवा किसी सामर्थ्य वाले का साहाय्य ग्रहण कीजिए पर केवल उतना ही जितने में बली विघ्नकर्ता के हाथ से बचाए रहे। यह न होने पावै कि सहायकर्ता की आधीनता में •कोई ऐसा दूसरा विषय भी जा पड़े जिसमें विघ्नकारी का हाथ न पड़ा था। पर ऐसा कभी ही कभी हुआ करता है। नित्य के लिए तो केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि अपना तथा अपनों का निर्वाह होता रहे। अपने साथ दूसरों का तथा दूसरों के साथ अपना कोई प्रयोजन नहीं। कोई कुछ कहे, कहीं कुछ हो, अपने को क्या ? अपनी आत्मा प्रसन्न रहनी चाहिए बस इस पथ का अवलंबन करने से देश काल की दशा के अनुसार स्वतंत्रता के उतने अंश को प्राप्त कर लीजिएगा जितना आप की सी दशा वालों को प्राप्य है और इसी से आप अपनी भली वा बुरी मनोगति के अनुकूल ईप्सित कार्य्यों की पूर्ति में अब से अधिक सूक्ष्म रहिएगा। नहीं तो कोरी बातें बनाया कीजिए और नाना प्रकार के उपाय करते रहिए पर रहिएगा परतंत्र ही। स्वतंत्रता तो केवल उन्हीं के लिए है जो स्वभावतः स्वतंत्र हों अथवा अपने स्वभाव को स्वतंत्र बनाने का पूर्ण उद्योग करें।

खं० ७ सं० १२ (१५ जुलाई ह० सं० ७)

बज्रमूर्ख

यह पदवी बहुधा उन लोगों को दी जाती है जो पढ़ने के नाम काला अक्षर भैंस बराबर समझते हैं, बरंच बुद्धि से काम लें तो इतना और समझ सकते हैं कि भैंस इतनी बड़ी होती है कि जी में धरे तो हजारों लाखों काले अक्षरवाली पोथियों को घड़ी भर में रौंद रौंद अथवा चबा के फेंक दे और अक्षरों का घमंड रखने वाले पोथाधारी जी को एक हुसलेंड में मट्टी में न मिला दे तो अधमरा जरूर कर डाले! यदि गुणों की तुलना की जाय तो भैंस घास खाती है और दूध देती है जिस का सेवन करने से स्वादु का स्वादु मिलता है, बल का बल बढ़ता है पर अक्षरों के सीखने वाले बरसों परिश्रम करते २ दुबले हो जाते हैं, गुरु महाराज की बातें कुबातें और मार सहते २ मरदई का दावा खो बैठते हैं तथा जन्म भर पूजा पाठ करने, कथा बारता बाचने वा नौकरी चाकरी के लिए भटकते रहने के सिवा और किसी काम के नहीं रहते। फिर भला हमारी प्यारी भैंस की बराबरी मच्छर ऐसे अच्छर पच्छर क्या कर सकेंगे! ऐसे लोगों का विश्वास होता है कि बहुत पढ़ने से मनई बैलाय जात है! पढ़े लिखे ते लरिका मेहरा हो जात है! हम का पढ़ि कै का पंडिताई करै का है? हमरी जाति मां पढ़बु फलतै नाहीं ना! ऐसों को विद्वानों और बुद्धिमानों के पास बैठने तथा उनके कथोपकथन सुनने समझने आदि का समय एक तो मिलता ही नहीं है और यदि मिले भी तो पंडितराज अथवा बाबू साहब को क्या पड़ी है कि अपने अमूल्य बिचार इन के सामने प्रगट करके अंधे के आगे रोवैं अपने दीदे खोवैं! उपदेश करना तो दूर रहा इन के मोंगरी के से कूटे मोटे ताजे अनगढ़ शरीर और वस्त्राभरण के नाते एक छोटी सी मोटे कपड़े की मैली अथवा हिरमिजी से रंगी हुई धोती और लंबा सा मोटा लट्ठ देख कर तथा बात २ में सार ससुर इत्यादि शब्दों का सम्पुट पाठ सुन कर प्रीतिपूर्ण बातें तक करना वे अपनी शान के बईद समझते हैं। किंतु बिचार कर देखिए तो यह लोग मूर्ख भी नहीं कहे जा सकते बज्रमूर्ख तो कहां रहता है, क्योंकि अपने खेती किसानी आदि के काम पूरे परिश्रम और धैर्य के साथ करते हैं, यथा लाभ संतोष सुख का सच्चा उदाहरण बने रहते हैं, अपनी दशा के अनुसार कालक्षेप और अपनी जाति की रीति भांति का निर्वाह तथा सजातीय मान्य

पुरुषों का यथोचित सन्मान करने में चूकते नहीं हैं, जिससे व्यवहार रखते हैं उस की यथासाध्य एक कौड़ी तक रख लेने का मानस नहीं रखते, राजा और राजपुरुषों के गुण दोषों की समालोचना न करके उन की आज्ञा पालन करने में चाहे जैसा कष्ट और हानि सहनी पड़े कभी मुंह नहीं मोड़ते बरंच शिकायत का हर्फ़ भी जबान पर बहुत कम लाते हैं। मन का मसूसा मन ही में मारे हुए "राजा करे सो न्याव है" इस बचन को वेदवाक्य से समझे रहते हैं। जिस से मित्रता करते हैं वा जिसे शरण देते हैं उसके रक्षणार्थ अपने मरने जीने की चिंता नहीं रखते। जिन बातों को धर्म समझते हैं उन में पूर्ण रूप से दृढ़ रहते हैं। जो बात उन की समझ में अच्छी जंचा दीजिए उस में देख लीजिए कैसे तन मन धन प्रान पन से कटिबद्ध हो जाते हैं। फिर यह मूर्ख क्यों हैं? पढ़े नहीं हैं तो न सही पर अपना भला बुरा समझने और देश काल के अनुसार चलने में किसी पढ़ुआ से कम नहीं बरुक सैकड़ों कपटी, कामी, चोर और उलटी समझ वाले विद्याभिमानियों से हज़ार दरजे अच्छे हैं। अतः इन्हें मूर्ख कहै सो मूर्ख। देशोद्धार के लिए जो बातें वस्तुतः परमावश्यक हैं वे यदि इन के मध्य प्रचार की जायं तो वह फल निकले जो शहर के लाला भैयों को शिक्षा देते २ सात जन्म नहीं निकल सकता। हमारे इस वाक्य में जिसे संदेह हो वह स्वयं परीक्षा कर देखे फिर देख लेगा कि यह कदापि मूर्ख नहीं हैं। मूर्ख, बरंच बज्रमूर्ख, वास्तव में वह हैं जिन्हों ने बरसों बड़ी २ किताबें रटते २ मास्टर का दिमाग, बाप की कमाई और अपना बालविनोद स्वाहा कर दिया है और नाम के आगे पीछे ए० बी० सी० डी० भर का छोटा वा बड़ा पुछल्ला लगवा लिया है, पर परिणाम यह दिखलाया है कि हिंदी का अक्षर नहीं जानते, पर इतना अवश्य जानते हैं कि वेदशास्त्र पुराणादि सब वाहियात, जंगली असभ्यों के गीत, झूठी कहानी हैं। ईश्वर, धर्म एवं परलोक सब बेउकूफ़ों की गढ़ंत हैं। अथवा कुछ हैं भी तो कब? जब कोई यूरप अमेरिका के महात्मा श्री मुख से आज्ञा करें तब। क्योंकि हिंदुस्तान तो अगले ज़माने में बनमानुसों की बस्ती थी और अब भी हाफ़ सिविलाइज्ड मुल्क है, इस में मानने लायक मजेदार बातें कहां? भोजन देखिए तो सात समुद्र पार से आया हुवा, महीनों का सड़ा हुवा, जाति कुजाति का छुआ हुवा, जूठे बरतनों में रक्खा हुवा, खज्ज अखज्ज सो तो चौगुने दामों पर भी सस्ता औ स्वादिष्ट है परंतु खीर, पूरी, लड्डू, कचौड़ी, रबड़ी, रायता आदि शायद मुंह में छू जायं तो पेट फाड़ डालें। ताजा

मांस अच्छी तरह घी और मसाला देकर घर में बनाया जाय तो बुरा न बनेगा पर सड़े हुए मछलियों के अचार का मज़ा सा कहां। अंगूर, मुनक्का आदि का आयुर्वेद की रीति के अनुसार खींचा हुवा आसव नशे में भी अच्छा होगा और पुष्टिकारक भी होगा। किंतु वह टेस्ट कहां जो खानसामा की दी हुई, साहब बहादुर के द्वारा प्रसादी की हुई, साढ़े तीन रुपए की बोतल भर ली हुई, सोने की सी रंगी हुई ब्रांडी में मिलता है। परमेश्वर केन साहब का भला करे जिन्हों ने यह छूत मिटाने पर कमर कसी है, नहीं तो मनु, पराशर, व्यास, बालमीकि आदि जंगलियों की कौन सुनने वाला था। यह कौन देखने वाला था कि यही सभ्यता की जनमघुट्टी, धन, बल, धर्म, प्रतिष्ठा, लज्जा बरंच प्राण तक की हरनेहारी है। भेष की ओर दृष्टि कीजिए तो बाजे २ अंगरेज तो कभी २ मुरादाबादी चारखाना और भागलपुरी टसर भी पहिन लेते हैं पर हमारे जेंटिलमेन के शिर से पांव तक एक तार भी देशी सूत का निकल आवै तो क्या मजाल। कोट, बूट, पतलून, घड़ी, छड़ी, लंप, कुरसी, मेज़ जो देखो सो विलायती। देशी केवल चेहरे का रंग मात्र, उस में भी विलायती साबुन और चुरुट की बू भरी हुई। केवल नाम से हारे हैं बिचारे। बाप ने किसी देवता का दास, प्रसादादि बना दिया है, सो भी जहां तक हो सकता है वहां तक बिधु भूषण को B. B. और देवदत्त को D. D. इत्यादि बना के अपने ढंग का कर लेते हैं। कहां तक कहिए, दिमाग में विलायती हवा यहां तक समाई है कि कठिन रोगों को शीघ्र आराम करने वाली थोड़े दाम की आजमाई हुई दवा तक नापसंद, पर देश सुधारने का बीड़ा उठाए हुए हैं, सो भी किस रीति से, जाति पांति का भेद मिटा के, देवता पितरों की पूजा हटा के, सनातनाचार को रसातल पहुंचा के, पुरुषों का धर्म कर्म और स्त्रियों की लाज शर्म धूल में मिला के, प्रजा का स्वत्व हर के, राजकर्मचारियों को रुष्ट कर के, सचमुच किसी काम के न होने पर भी नामवरी पर मर के, भारत की आरत दशा गारत करेंगे। क्यों नहीं कुल्हिया की ऐनक लगा के मट्टी के तेल की रोशनी में महीन अच्चरों की किताबें पढ़ते २ निगाह तेज हो गई है, इस से सूझती बहुत दूर की है! और समुद्र पार जाते २ बुद्धि में कुछ २ हनोमान जी के स्वाभाविक लक्षण आगए हैं, अस्मात् सोचते हैं तो वही सोचते हैं जिस के द्वारा आर्य देश के प्राचीन रंग ढंग का लेश न रह जाय। जहां तक दृष्टि पहुंचे नई चाल ढाल वाली नई ही सृष्टि दिखलाई दे। भला उस दशा में उन्नति क्या धूल होगी? हां काले रंगवाले साहब लोग बढ़ जायेंगे। उसी को चाहे

इंडिया का प्रोग्रेस कह लीजिए पर है वास्तव में सत्यानाश की जड़। किंतु यार लोग उसी के सोचने में लगे हुए हैं। इसी से हम नहीं जानते कि बज्रमूर्ख के सिवा इन्हें किस नाम से पुकारें। इन से छोटे और दिहाती कुपढ़ों से बड़े हमारे वह भाई हैं जिन्हें विलायती हवा अभी नहीं लगी। काल की गति के देखे कुछ आर्यत्व की श्रद्धा बनी हुई है। नई बातों से चौंकते हैं, पुराने ढर्रे पर यथा शक्ति चले जाते हैं। पर आंखें खोल कर देखिए तो वह भी ऐसे ही हैं कि सारी रामायण सुन डाली पर यह न जाना कि राम राक्षस थे कि रावण राक्षस थे। रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत इत्यादि निसंदेह ऐसे ग्रंथ हैं कि उन में हमें धार्मिक, सामाजिक, व्यवहारिक, राजनैतिक सभी प्रकार के उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। उनमें से यदि हम दस पांच बातों का भी दृढ़तापूर्वक अनुसरण करें तो लोक में सुख, सुयश एवं परलोक में सुगति के भागी हो सकते हैं और हमारे पूर्वजों ने इसी मनसा से इन के सुनने सुनाने की प्रथा चलाई थी कि जो लोग संस्कृत भली भांति नहीं समझते अथवा काम धंधों के मारे पुस्तकावलोकन का समय नहीं पाते वे कभी २ वा नित्य २ घंटे आध घंटे इन सद्ग्रंथों को सुना करेंगे तो कुछ न कुछ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' के योग्य बने रहेंगे। पर आजकल देश के अभाग्य से इनके सुनने वाले यदि सुन नहीं डालते अर्थात् सुन के डाल नहीं देते तो भी इतना ही सुन लेते हैं कि अज के लड़के दशरथ थे, उन के बेटे राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न थे। रामचन्द्र जी का ब्याह जनक जी की कन्या सीता जी से हुआ था। उन्हें दश शिर वाला रावण हर ले गया तब रामजी ने सुग्रीवादि बंदरों की सेना के साथ समुद्र में पुल बांध के लंका पर चढ़ाई की और रावण को मार के जानकी छीन लाए। बस, बोलो सियावर रामचन्द्र की जय! बसुदेव जी के पुत्र श्री कृष्णचन्द्र थे। उन्होंने लड़कपन में नंद बाबा के यहां पल के गौएं चराई थीं। गोपियों से बिहार किया था। गोबर्द्धन पर्वत उठाया था। फिर मथुरा में आ के अपने मामा कंस को मार के उसके पिता उग्रसेन को राज्य दिया था। फिर जरासंध से भाग के द्वारिका बसाई थी। सोलह हजार एक सौ आठ ब्याह किये थे। बहुत से राक्षसों को मारा था। अपनी बुआ के लड़के युधिष्ठिरादि को उनके चचेरे भाई दुर्योधनादि से उबारा था। फिर एक बहेलिए के बाण से परम धाम को चले गये। बस, बोलो नंदनंदन बिहारी की जय! जो इनसे भी बड़े श्रोता हैं, जिन्होंने कई बार कथा सुनी है, वे इतनी जानकारी पर मरे धरे हैं वा हिन्दू धर्म की

नाक बचाए हैं अथवा बैकुंठ में घर बनाए बैठे हैं कि 'हंसे राम सीता तन हेरी' यों कहे ? लछिमन केती के काहे न हेरेनि ? 'जो सत संकर करैं सहाई। तदपि हतौं रघुवीर दुहाई' लछिमन जी यों कहेनि तौ कैसे कहेनि ? अक्रूर के बाप का का नांव रहै ? राधा जी ब्याही केहेका रहैं ? हाय री बुद्धि ! क्या बालमीकि और व्यासादि लोकोपकारी महात्माओं ने वर्षों परिश्रम कर के यह दिव्य ग्रन्थ केवल कहानी की भांति सुन भागने के और आपस में बैठ के कनबटिहाव करने ही के लिए बनाए थे ? यदि यों ही है तो अलिफ-लैला के किस्से क्या बुरे हैं जिन से अवकाश का समय भी कट जाता है और किसी धर्म के किसी मान्य पात्र की हंसी भी नहीं होती ? किन्तु हमारे बक्ता श्रोताओं ने हमारे परम देव कृष्णादि की यह प्रतिष्ठा बढ़ा रक्खी है कि मिशन स्कूल के लौंडे तक उनके चरित्रों पर हंस देने का साहस कर बैठते हैं और भगतजी को जवाब नहीं सूझता। वही यदि भगवान रामचन्द्र जी की गुरुभक्ति, महाराज दशरथ जी की धार्मिकता, लक्ष्मण और भरत जी की भ्रातृभक्ति, सीता जी की पतिभक्ति, कौशल्या जी का धैर्य, श्रीकृष्ण भगवान की कार्यकुशलता, श्रीगोपी जन की प्रेमदृढ़ता, यशोदा मैया का वात्सल्यभाव, कर्ण का दानवीरत्व, भीष्मपितामह का धीरत्व, बशिष्ठ विश्वामित्रादि के सदुपदेश, रावण कंसादि की उद्दंडता इत्यादि पर ध्यान देते जो उक्त ग्रंथों में पूर्ण रूप से दर्शाई गई हैं और भलाई बुराई की पराकाष्ठा दिखलाने को अद्वितीय दिव्य दर्पण के समान विद्यमान हैं, उन्हें मन की आंखों से केवल देख भी लेते तो क्या हमारी भीतरी तथा बाहरी दशा ऐसी ही बनी रहती जैसी आज दिन देखने में आती है ? कदापि नहीं ! मनु भगवान की आज्ञा है कि—"श्रुत्वा धर्मविजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्। श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नयात्॥" और इस में कोई भी संदेह नहीं है कि रामायण भागवत् तथा भारत से बढ़ के सुनने योग्य पदार्थ अथच वास्तविक सन्मार्ग प्रदर्शक दिव्यदीपो न भूतो न भविष्यति। पर कोई सुने तब न ! सुनने वाले तो केवल कहानी सुनते हैं ! हां, गीत और योगवासिष्ठादि सुनने वाले भागवतादि के श्रोताओं की अपेक्षा कुछ अधिक मनोयोग से सुनते हैं। पर सुन के समझते क्या हैं ? अहमब्रह्मास्मि ! वाह ! घंटे भर खाने को न मिले तो आंखें बैठ जायं, एक पैसे का नुकसान होता हो तो सारी गंगा पैर जायं, कानिस्टिबिल की डांट में मुंह से तमाखू गिर पड़े, पर आप ब्रह्म हैं ! निर्विकार, निराकार, अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म हैं ! बेशक ब्रह्म

हैं क्योंकि 'खं ब्रह्म' वेद में लिखा है और आप भी आकाश की भांति शून्य हृदय हैं, फिर ब्रह्म होने में क्या संदेह ! ऐसा न होता तो इतना अवश्य सोचते कि बशिष्ठ जी ने श्रीरामचंद्र को और श्री कृष्णचंद्र जी ने अर्जुन को वह उपदेश उस समय दिए थे जब उन्हें सामयिक कर्तव्यपालन से विमुख देखा था। तात्पर्य यह है कि जिस समय जो काम जिसे अवश्य करणीय हो उस समय वह उसे अवश्यमेव करना चाहिए। पर आप अपने देश, जाति, गृह, कुटुंबादि की दशा देखने और सुधारने के अवसर पर अकर्ता अभोक्ता बनते हैं, फिर क्यों न कहिए कि आप ब्रह्म अर्थात् जड़ हैं जिस का प्रजाय बज्रमूर्ख भी है ! और आप ही के भाई (अरे राम ! ब्रह्म के भाई भगिनी आदि कहां ? सो सही पर देशभाई तौ भी) वह हैं जो दूसरे भाइयों में जातिपक्ष, जातीय गौरव, आत्महितादि दिव्य गुण एवं तज्जनित मधुर फल प्रत्यक्ष देखते हैं तौ भी सीखने के नाम नहीं लेते। एक माड़वारी भाई पर, परमेश्वर न करे, कोई आपदा आ पड़े तो सब कोई छूं २ कर २ कांव भांव कर करा के जैसे बने वैसे संभाल लें पर कोई पश्चिमोत्तर देशी किसी दैहिक, दैविक, भौतिक दुरवस्था में फंसा हो तो उस के स्वदेशी 'बहते को बहि जान दे दे धक्के दुइ और' वाला मंत्र यदि न पढ़ें तथापि इतना अवश्य कहेंगे 'भाई हम क्या करें ? जो जस करै सो तस फल चाखा'। कायस्थ भाई अपने विद्याहीन धनहीन सजाती को मुंशी जी, दीवान जी इत्यादि कह के पुकारेंगे। बंगाली भाई अपने देशवासी को चटरजी महाशाय, बनुरजी महाशाय कहेंगे। पर हमारे हिंदू दास अपने लोगों को यदि मिसिर वा सुकुलवा आदि न बनावैंगे तौ भी गंगाप्रसाद को गंगू काका और मूलचंद को मुल्लू दादा की पदवी दिए बिना न मानेंगे। एक तमाखू वाले अथवा बिसाती की दुकान पर जा के देखिए तो छोटे से एक दरे में दस पांच चिलमों, दो तीन मट्टी के गिंडों और थोड़ी सी खानी पीनी तमाखू तथा पंद्रह बीस दियासलाई के बकसों, सूत की लटाइयों आदि के सिवा अधिक बिभूति न देख पड़ेगी। बेचने वाला भी फटी मैली सुथनिया वा नील का अंगौछा पहिने बैठा होगा पर साइनबोर्ड पढ़िए तो 'शेख हाजी मुहम्मद कल्लन तम्बाकू फरोश' अवश्य लिखा पाइएगा किंतु उस के पड़ोस ही किसी बनिया राम की दुकान पर दृष्टि कीजिए तो भीतर कम से कम पाव भर केसर, सेर भर छोटी इलायची, पसेरी भर कपूर निकलेगा जो तमाखू और सूई पेचक से दसगुने बिसगुने दामों का है पर नाम वाली तखती पर 'छक्कू वल्द भग्गी पसारी'। किसी मेले ठेले वा नाच वाच में इन छक्कू और उन कल्लन को कोई देखे

तो लाख विश्वा यही जानेगा कि वह कोई अमीर, रईस, नव्वाब के संबंधी हैं और यह कोई डंडिदार वा पल्लेदार होगा ! यही नहीं कि अपनी और अपनायत वालों की प्रतिष्ठा ही करने में बछिया के बाबा हों, नहीं, अपने तथा आत्मीयों की स्वास्थ्य रक्षा में भी प्रज्ञाचक्षु हैं। स्त्री के पास गहना दो चार सौ का होगा पर उस की थाली पर घी शायद पोंछे पाछे घेला पैसा भर निकल आवै। लड़के के ब्याह में कम से कम सौ रुपए की आतशबाजी फुंकेगी पर उसी को कोई रोग हो जाय तो वैद्यराज वही बुलाए जायेंगे जो दवा देते रहें, दोनों बखत देख भी जाया करैं पर भेंट और दाम मांगने के समय काका बाबा इत्यादि शब्दों ही से संतुष्ट हो जायं ! ऐसे ही ऐसे लक्षणों से घर भर के लोग हजार हजार हाथी का बल रखते हैं और शिर में पीड़ा होती है तौ भी खैराती असपताल को दौड़ते हैं। पर यदि कोई दूसरा मनुष्य अपने रोग का कथा कहै तौ झट सोंठ, मिर्च, पीपर बतला देंगे और अश्विनीकुमार की भांति आशीर्वाद दे देंगे कि—बस तीन दिन में आराम हो जायंगे। भला इस प्रकार के आचरण, जो अपना पराया दोनों का सत्यानाश करने में रामबाण हैं, जिन लोगों की नस नस में भर रहे हों उन्हें कौन ब्रज्रमूर्ख न कहेगा ? यदि यह ब्रज्रमूर्ख न हों तो हम बीसौ बिस्वा ब्रज्रमूर्ख हैं जो ऐसों के लिए हाव २ करते हैं जिन्हें हमारी बातें बज्रमूर्ख की बकवास का सा मजा भी नहीं देतीं ! अथवा कौन जाने वह बज्रमूर्ख हो जिस ने हमें ऐसी सनक से भर दिया है !

खं० ८, सं० २-३ (३० सितंबर-अक्टूबर, ह० सं० ७)

रसिक समाज

भाषा की उन्नति के बिना देश की उन्नति सर्वथा असंभव है और हमारी भाषा हिंदी है तथा हिंदी इस बात में अन्य भाषाओं से अधिक श्रेष्ठ है कि एक ही रूप से गद्य और पद्य दोनों का काम नहीं चलाती किंतु गद्य के मैदान में अनवरुद्ध गति से तीक्ष्ण खड्ग की भांति और पद्य की रंगभूमि में मनोहारिणी चाल से नाट्यकुशला सुंदरी की नाईं चलने की सामर्थ्य रखती है। इन उपर्युक्त बातों में किसी सहृदय विचारशील को संदेह नहीं है। यों शास्त्रार्थ के लिए कोई विषय उठा लेने और न्याय अथवा हठ का अवलंबन करके अपनी बुद्धिमत्ता दिखलाने के लिए सभी को अधिकार है। हमारे इस कथन से जो महाशय सहमति रखते हैं वे यह बात अवश्य ही मान लेंगे कि देश के सुधारने की पहिली सीढ़ी सर्वसाधारण के मध्य देशभाषा की रुचि उपजाना है। और किसी समुदाय की रुचि सहज तथा उन्हीं बातों में उपजा सकती है जिन्हें उस समूह का अधिकांश मनोविनोद के योग्य समझता हो। इस सिद्धांत को सामने रख कर विचार कीजिए तो विदित हो जायगा कि संगीत, साहित्य और सौंदर्य के सिवा और किसी वस्तु में मन को आकर्षण करके आनंदपूर्ण कर रखने की शक्ति नहीं है। परमयोगी अथवा निरे पशु के अतिरिक्त सभी इन पदार्थों को स्वादुदायक समझते हैं। फिर यदि इन्हीं के द्वारा भाषा के प्रचार की आशा की जाय तो क्या अनुचित होगा? किंतु सौंदर्य एवं संगीत से काम लेना वर्तमान समय में महा कठिन है। सुयोग्य अथच उपयुक्त पुरुष जितने चाहिएं उतने सहज में नहीं मिल सकते। यदि मिलें भी तो उनके लिए बहुत सा धन और वर्षों का समय चाहिए। उस का आज ठिकाना कहां है। यों यथासामर्थ्य उद्योग सब को सब बातों के लिए सदा करते रहना उचित है। पर कठिन बातें कष्टसाध्य होने की दशा में सहज उपाय का छोड़ देना बुद्धिमानी के विरुद्ध है। इस न्याय के अनुसार चतुर देशभक्तों को आज दिन साहित्य का अवलंबन करना अत्युचित है। क्योंकि इस में बहुत व्यय की आवश्यकता नहीं है और सुलेखक तथा सत्कवि भी यद्यपि इस देश में बहुसंख्यक नहीं हैं तथापि इतने अवश्य हैं कि एतद्विषयक कार्य में भली भांति सहारा दे सकें एवं संगीतवेत्ताओं की अपेक्षा इनकी संख्या का बढ़ना भी सहजतया अथच शीघ्र संभव है और इन के द्वारा

सर्व साधारण में हिंदी की रुचि उत्पन्न होना वा यों कहो कि एक बड़े भारी जन समूह का सर्वांगिनी उन्नति के दर्रे पर चल निकलना कष्टसाध्य तो हई किंतु असाध्य कदापि नहीं है। यही विचार कर हमारे कई एक मित्रों ने यहां पर एक 'रसिक समाज' स्थापित किया है जिसका उद्देश्य केवल भाषा का प्रचार और साधु रीति से सभासदों का चित्त प्रसन्न रखना मात्र है क्योंकि बड़े २ झगड़े उठा लेने वाली सभाओं की दशा कई बार देख ली गई है कि या तो थोड़े ही दिन में समाप्त हो जाती हैं या बनी भी रहती हैं तो न रहने के बराबर और अपना मंतव्य बहुधा अपने सभ्यों से भी यथेच्छ रूप से नहीं मनवा सकतीं। इससे इस के संचालकों ने केवल इतना ही मात्र अपना कर्तव्य समझा है कि नए और पुराने उत्तमोत्तम गद्य तथा पद्य सभासदों अथच आगंतुकों के मध्य पढ़ने पढ़ाने की चर्चा बनाए रखना तथा यथासंभव निकट एवं दूर तक इसी प्रकार की चर्चा फैलाते रहना। इसके सभासद केवल वही लोग हो सकते हैं जो हिंदी में रोचक लेख लिख सकते हों वा कविता कर सकते हों अथवा इन्हीं दोनों बातों में से एक वा दोनों सीखने की रुचि रखते हों वा अपने तथा मित्रों के मनोविनोद का हेतु समझते हों। इसमें मौखिक वा लेखनीबद्ध व्याख्यान अथवा काव्य मुख्यरूपेण केवल हिंदी की होगी किंतु सर्वथा मान्य एवं सर्व भाषा शिरोमणि होने के कारण संस्कृत की भी शिरोधार्य मानी जायगी। और उर्दू केवल उस दशा में ली जायगी जब कि व्याख्यानदाता हिंदी में गद्य अथवा पद्य न कह सकते हों किंतु हों देश, जाति, भाषा वा सभा के शुभचिंतक और सभासदों की बहु सम्मति द्वारा अनुमोदित, बस। और किसी भाषा से सभा को कुछ प्रयोजन न रहेगा। मत मतांतर का खंडन मंडन करके आपस में वैमनस्य बढ़ाना, समाज के उन विषयों का विरोध करके देश भाइयों को चिढ़ाना जिनको बहुत से लोग आग्रहपूर्वक ग्रहण किए हुए हैं और पोलिटिकल (राजनैतिक) बातों में योग दे के अधिकारियों को व्यर्थ रुष्ट करना सभा को सर्वदा अश्रद्धेय होगा क्योंकि इन बातों में बड़ी मुड़ धुन और बड़े व्यय से भी बहुधा फल उलटा ही निकलता है अथवा मनोरथ सफल भी होता है तो बहुत ही स्वल्प। सभ्य जन को चंदा किसी प्रकार का न देना पड़ेगा क्योंकि बीसयों बार देखा गया है कि बड़े २ धनिकों से भी प्रसन्नतापूर्वक सरल भाव से थोड़ा सा धन भी प्राप्त होने में कठिनता पड़ती है। इस से सभा ने इसका नियम ही नहीं रक्खा। हां, सभा के द्वारा प्रकाशित पुस्तकें जो लोग लेना चाहेंगे उन्हें उनका मूल्य देना होगा जिसका परिमाण वर्ष भर में एक रुपए से अधिक न होगा। यों अपने उत्साह

से जो सज्जन तन, मन, धन अथवा वचन द्वारा सभा की सहायता करना चाहें वा पुस्तकों के अधिक प्रचार में योग देना चाहें वे दे सकते हैं। इस के लिए उन का गुण अवश्य माना जायगा। किंतु बंधन वाली बात कोई नहीं है। यदि इतने पर भी हमारे देशहितैषीगण जी खोल के सभा का साथ न दें तो लाचारी है। हम तो चाहते हैं कि नगर २ ग्राम २ में ऐसी सभाएं संस्थापित हों और प्रत्येक सभा समस्त सभाओं को अपना ही अंग समझे। क्योंकि थोड़े व्यय और थोड़े से परिश्रम के द्वारा हंसते खेलते हुए साधारण जन समुदाय में सहृदयता के लाने का यह बहुत अच्छा उपाय है जिस से हिंदुओं में हिंदी की रुचि सहज रीति से बढ़ सकती है जो हिंद की वास्तविक उन्नति के लिए अत्यंत प्रयोजनीय है। क्या हमारे आर्य कवि एवं सुलेखक तथा संपादक वर्ग इधर ध्यान देंगे ?

कानपुर में इस सभा का आविर्भाव बहुत थोड़े दिन से हुआ है। पहिला अधिवेशन श्रावण कृष्ण १३ रविवार को हुआ था जिस में केवल सात सभासद और बहुत थोड़े से दर्शक उपस्थित थे और स्वल्पारंभ को उत्तम समझ कर लोगों के सुभीते के लिए पंद्रह दिन में एक बार अर्थात् एक इतवार छोड़ के दूसरे इतवार को सभ्यगण का समागम निश्चित हुआ था। पर दूसरे ही अधिवेशन में संतोषदायक उत्साह देखने में आया एवं दिन पर दिन परमेश्वर की दया से वृद्धि ही होती जाती है जिससे आशा होती है कि यदि नगरांतरवासी सहृदयों ने भी योग दिया (अपना समझेंगे तो अवश्यमेव देंगे) और कोई विघ्न न आ पड़ा तो थोड़े ही दिन बहुत कुछ हो रहेगा।

इसके सभासद एक त्रैमासिक पुस्तक भी प्रकाश करना चाहते हैं जिस में कविता अधिक रहेगी। क्योंकि गद्य का कार्य कई एक पत्र उत्तमता से कर ही रहे हैं। अतः अधिक आवश्यकता इसी की है। सो 'रसिक बाटिका' नामक पुस्तक की पहिली क्यारी (अंक) छप भी चुकी है। मूल्य चार आना है। यदि हिंदी के प्रेमियों ने इसे सींचने में उत्साह दिखलाया तो बहुत शीघ्र इसके मधुर फलों से भारत के सर्वांग को वह पुष्टि प्राप्त होगी जिस की बहुत से सद्व्यक्तियों को उत्कंठा है। जो रसिक महोदय रसिकबाटिका की सैर करना अथवा रसिक समाज से संबंध रखना चाहें उन्हें सेक्रेटरी रसिकसमाज कानपुर के नाम कृपापत्र भेजना चाहिए।

खं० ८, सं० २-३ (३० सितंबर—अक्टूबर ह० सं० ७)

छै ! छै !! छै !!!

दुरत ! मनहूस कहीं का ! वाह रे तेरी छै !

हमारी छै काहे की, तेरी हो। जानैं न बूझैं कठौता ले के जूझैं। कुछ समझना भी है हम क्या कहते हैं, कि मुंही पकड़ने दौड़ता है ?

सब समझते हैं। बस, चुप रहो !

समझते हो ! अपना सिर ! समझते हैं ! भला बता तो हम क्या कहेंगे ?

वाह ! हम कोई अंतरजामी हैं ? हां अंदाज से जानते हैं, संख्यासार लिखते २ दिमाग में गरमी चढ़ गई है इसी से बार २ छै की गिनती याद आती है।

फिर ! इसी में क्या बुराई है ? एक रात नाच देखने पर तो दूसरे दिन सोते जागते, ऊंघते पूंछते कानों में छुन २ की सी आवाज गूंजती रहती है। हम महीनों से छ छै छै सुन रहे हैं। फिर हमारे मुंह से कैसे न निकले।

महीनों से ! यह पहेली सी क्या कह गए ? भई सचमुच हम न समझे थे। हमारी जान में तो छै वही है जो पांच के पीछे औ सात के पहिले गिनती में आया करते हैं। सो सभी जानते हैं कि नाद में छै राग होते हैं, वेद में छै अंग होते हैं, विद्या में छै शास्त्र होते हैं, देवताओं में स्वामि कार्तिकजी के छै मुख होते हैं, पितरों में छै पिंडाधिकारी होते हैं, कान्यकुब्जों में छै घर होते हैं।

तुम्हारी त्यौड़ी पर छै गुद्दे होते हैं ! हें ! चले हैं पंडिताई छौंकने ! अबे जिन्हें तू कहता है, होते हैं, उन्हें कहना चाहिए, होते थे। अब पुराने जमाने की सड़ी बातों पर हमारे काले साहब सीक पांव होते हैं इससे समझ रख कि देवता पितर, वेद सवेद सब कहने भर को होते हवाते हैं। सो भी यकीन है कि कुछ दिन में नई रोशनी वाले लंप को बू से औ चुरुट की चिराइंध से भागभूग जायंगे। तब बस चारों तरफ देख लेना कि प्रातःकाल खटिया से उठते ही रकाबी पर छै अंडे होते हैं, सांझ को पूरी बोतल भर में केवल छै डोस होते हैं, स्नान के समय बकस में साबुन के छै चकत्ते होते हैं, सैर के वक्त कोट में छै बटन होते हैं, बातें करने में अंग अंग से छै मोशन होते हैं, लेट रहने पर हाथ मुंह चाटने को छै कुत्ते होते हैं ! अब समझे ?

कुछ भी नहीं समझे ! परमेश्वर न समझावै ! तुम्हीं ने समझ के क्या किया ?

अब और क्या करें ? तुम ऐसों की बात २ में बना छोड़ते हैं। इतना थोड़ा हम क्या कहते थे तुम ले दौड़े कहां। इसी से तो कहते हैं कि यारों की बातों में टोका न कर। न जाने किस तरंग में क्या कह उठते हैं।

अच्छा बाबा ! हारे। पर जी में आवै तो बतला दो कि आप के छै का क्या मतलब है।

यह माना ! इस तरह हारी मान के पूछो तो कुछ दिन में कुछ हो जाओ। लो सुनो, हमारे छै साहब गिनती वाले छै नहीं हैं !

वाह ! यह अच्छा उड़ान भरा ! तो फिर बोतल, अंडे और बटन क्यों उघट डाले ?

तुम्हारी अक्लि देखने को ! और यों न सही तो ऐसा समझ लो कि मरदों की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है। अब भी क्या वह जमाना है कि चाहे धरती लौट जाय पर बचन न पलटे। अब तो अकल-मंदी इसी में समझी जाती है कि मन में कुछ हो, दूसरों को कुछ समझाया जाय और मौका मिलने पर अपने लिखे को साफ झुठला दे। फिर भला ऐसे कलजुग में पैदा हो के हम दुअर्थी बात निकाल बैठे तो क्या बुरा करते हैं ?

नहीं महात्मा ! आप भला बुराई करेंगे ! आप तो जो कुछ करें वही परम धर्म !

बस २ ! अब तुम समझ गए ! जिसे खुशामद करना आता है वही इस जुग का समझदार है और उसी के सब काम बनते हैं, उसी से सब राजी रहते हैं। हम भी इतने खुश हुए हैं कि अब बिना बतलाए नहीं रहा जाता। अच्छा तो सुनो, यह "छै" वास्तव में संस्कृत वाले "क्षय" हैं और बंगाल के बानरजी तथा पंजाब के सिंहजी के मुख में जा के 'खय' अथवा 'खै' हो जाते हैं। पर हमारे यहां के छै या छा (नाजुक तन औ नाजुक दिमाग) पश्चिमोत्तरदेशी जी न हाथों पैरों से कुछ कर धर सकते हैं न मस्तिष्क से काम ले सकते हैं। केवल मजेदार मीठी २ बातें बनाना जानते हैं। उन्होंने देखा कि संस्कृत की क्ष बोलने में कठिन है औ बंग भाषा तथा पंचनदीय भाषा की 'ख'—'क्ष' उच्चारण में कर्कश है तथा कई शब्दों में और का और अर्थ सूचित करती है। इससे छै कहना ठीक होगा जो बोलने में सहज है एवं छैल

छबीलियों का छाती लगने के समय छिन २ पर छड़कना याद दिलाता है। कुछ समझे ?

हां इतना समझे कि आपकी बोली में 'छै' का अर्थ छः की संख्या और नाश होना दोनों है। पर आपने कहा था कि हम महीनों मे छै २ सुन रहे हैं। इसका क्या अभिप्राय है ?

हैं ! यह मैंने कब कहा था ?

भैया, यह अदालत नहीं है कि झूठ बोले बिना काम न चले। यहां तो हमीं तुम हैं। फिर क्यों कह कहाय के इनकार करते हो ?

वाह ! अभ्यास बनाए रखना कुछ बुरी बात है ? हमने कभी नहीं कहा, खुदा कसम नहीं कहा ! राम दुहाई नहीं कहा ! बाई गाड नहीं कहा ! और कहा भी हो तो बिना खुशामद कराए न बतावैंगे !

अच्छा साहब ! आप एक ही हैं ! आप बड़े वह हैं ! आप जो हैं सो हैं ! आप अपने आगे सानी नहीं रखते ! अब तो बतलाइएगा !

खैर, तो कान फटफटा के सुनो ! बगले की तरह ध्यान लगा के सुनो समझो। कचटियावलिन जो है सो राम आसरे ते जा समय के बिखै रामलीला का आरंभ होता है गोविंदाय नमोनमः वा समय के बिखै जो है सो गांवन गांवन नगरन नगरन के बिखै आनंद करि करि कै जै औ छै का आगमन होत है जो है सो गोविंदाय नमो नमः। कहो कैसे ? तो जा समै के बिखै रामचंद्र के सवारी निकरति हैं, गोविंदाय नमो नमः, वा समय के बिखै, जहां कौन्यो रामादल कै वीर अथवा कौन्यो तमासगीर के मुख ते जो है सो यतरा निकरि गा गोविंदाय नमोनमः कि बोलो राजा रामचंद्र की जै, अथवा—बोलैगा सो निहाल होगा, बोल दे रजा आ आ आ आ रा आ म चन्न्द्र की ईई जै ! हुअंई चारिउ कैती जै जै जै जै कै धुनी छाय जाति है, गोविंदा०, औ जब रावण कै सवारी निकरति है, गोविं०, वा समै के बिखै जहां कोउ राच्छस जो है सो कहि देत है कि बोल रावन् जाधा कि जै ! तौ कोऊ जै तौ नाहीं कहत, गोविंदा०, पै छै छै के धुन छाय जाति है, गोविंदा०। औ राच्छस नाहिंउ ब्यालै तुहुं देखवैया जे हैं ते अपनै छै छे करन लागत हैं, गोविंदा०। या प्रकार सों कुंवार कै महीना मां जो है सो जै के साथ छै को जन्म होत भयो गोविं०। अब समझौ ! सब्द जो है सो सदा से अनादि है, गोविं०। पै यह बात जो है सो हम ही ऐस पंडित जानित है, गोविं०, जिनका बरसन व्याकरण रटत २ लाग हैं, गोविं०, औ जीवका तथा प्रतिष्ठा हिंदुनै के घर ते है जो है सो, औ जनम भर कथै बांचत बीता है, गोविं०, वै हिंदी वाले का सहूर जो है सो कबौं न होत भयौ, गोविं०।

यह तो गुरू सच कहत हौ! और ऊपर से तुर्रा यह कि यही लोक परलोक के अगुवा हैं ! यही हिंदुओं भर के गुरू हैं ! पर जाने दीजिए मतलब वाली कहिए ।

तुम्हारी पागलों की सी बकवाद में मतलब खब्त हो जाता है ।

हैं ! तो हम पागल ठहरे ! बस अब न बतलावें, जा !

नहीं महराज ! कृपानिधान ! दयासिंधु ! दीनबंधु ! दास से तकसीर हुई । क्षमा कीजिए । इतना समझा दीजिए कि शब्द जितने हैं सब अनादि हैं, इस न्याय से जै और छै अनादि हैं । इसके सिवा बरसों से लाहौर वाली देव समाज की सारी पुस्तकों पर देव धर्म की जै, सकल पाप की छै छापा जाता है । फिर जै औ छै की उत्पत्ति कुंवार से क्यों कर मान लूं ?

हमारे कहने से मान ले, नहीं तो नास्तिक हो जायगा । और श्रद्धा-पूर्वक सुनता हो तो सुन । अकेले सब्द ही अनादि नहीं है, सारा संसार अनादि है । इसे किसी ने बनाया बुनाया नहीं है, यों ही लोग ईश्वर का नाम रख लेते हैं । पर आज कल के शिक्षितों का अधिकांश मत यही है कि सृष्टि-कर्ता की जुरूरत नहीं । बस फिर जो कुछ है सब अनादि और अनंत है । पर बात जिन दिनों बहुत फैल जाती है वह उत्पन्न कहलाती है और जिसे बहुत थोड़े लोग जानते मानते हैं वह नष्ट वा नष्टप्राय समझी जाती है । इस रीति से रामलीला के साथ 'छै' की उत्पत्ति और कार्तिकी पौर्णमासी को नाश मंतव्य है । क्योंकि रामलीला में रावण की छै का शब्द गूंजने लगता है और शरत् पूर्णिमा तक बना रहता है । फिर उसी दिन से जुवा का आरंभ होता है तब रावण का नाम जाता रहता है । किंतु छै छै की चर्चा बनी रहती है । यहां तक कि दिवाली के दो चार दिन इधर उधर छै छै के सिवा कुछ सुनी नहीं पड़ता । खास करके जहां के हाकिम प्रजा के त्यौहारों के आमोद-प्रमोद के द्वेष न हुए वहां तो गली गली घर घर जन जन को छै छै की सनक सी चढ़ जाती है ! छै ! छै ! यह छै ! आ तो जा छै ! सोरही में तो छै ! नवकी मूठ में तो छै ! फिरकी में तो छै ! क्या गरीब, क्या अमीर, क्या बच्चा, क्या बुड्ढा, क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी के मुंह पर दिन रात छै छै छै छै बसी रहती है । फिर दिवाली का मौसम टल जाने पर छै का प्राबल्य यद्यपि जाता रहता है किंतु दिठौनी इकादशी को हारे जुआरियों का अपील अर्थात् फिर जीतने की आशा पर खेल और कतकी को हाईकोर्ट अर्थात् अंतिम निर्धार जब तक नहीं हो जाता तब तक छै छै की छै नहीं होती । यद्यपि श्रेष्ठ द्यूतकारों के पवित्र मंदिरों में उसका बारहों मास बिहार होता रहता है पर जन समुदाय

का अधिकांश इन्हीं दिनों छै छै में विशेष रूप से मस्त रहता है। इस से हमें भी इसका थोड़ा बहुत जाप कर लेना चाहिए। यदि बुराई है तो उनके लिए है जो लत्ती हैं और घर के बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते। पर त्योहार मनाना तथा पुरखों की रीति का पालन कर लेना कोई ऐब नहीं है। गृह कुटुंबादि के आवश्यक व्यय से उबरने पर थोड़ा सा परिमित धन इष्ट मित्रों की प्रसन्नता संपादनार्थ इस बहाने भी उठ गया तो क्या हानि है? विलायती चीजों के बर्ताव से और सड़ी सड़ी बातों के लिए कचहरी दौड़ने से लाखों रुपया विदेश को चला जाता है, उस का तो कोई ध्यान नहीं देता, पर होली दिवाली में थोड़ा सा मन बहलाने में पाप है! और उसी के लिए देश-भाइयों को हंसना धर्म की दुम है! अच्छा बाबा, हम जो कुछ हैं वही बने रहेंगे, किसी को बुरा लगे तो अपने कान बंद कर ले। पर हमें दिवाली के एक दिन पहिले एक दिन पीछे, यह कहने से न रोके कि छै छै छै!

अच्छा साहब छै सही, पर यह तो कहिए काहे की छै?

हां यह मन की बात पूछी है तो हम भी क्यों छिपावैं, कही डालें न! वर्षा के कारण अंतरिक्षस्थ गर्द गुबार की छै। पर जिन घरों के किसी भाग में तारकोल चुपड़ दिया जाय उनके आस पास के आने जाने वालों की मस्तिष्क-संबंधिनी शांति की छै। दिवाली का दिया चाटने से मक्खी मच्छर कीड़े पंतगों की छै! सरसों का तेल और आतशबाजी का गंधक जलने से मेलेरिया-उत्पादक वायुदोष की छै! किंतु नए शौकीनों के द्वारा मट्टी का तेल जलने से नेत्र ज्योति और कूवते दिमाग़ की छै! सब राहें खुल जाने से देश देशांतर में गमनागमन करने वाले व्यापारियों के हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की छै! विशेषतः हलवाई और कुम्हारों तथा ठठेरों की बेकदरी की शिकायत की छै! लक्ष्मी पूजा के द्वारा पुरोहितों की बेरोजगारी और यजमानों के पाप की छै! त्योहार की चिंता से गृह पतियों के अनुयोग की छै! घर शोभायमान हो जाने से मुघर घरनियों की अप्रसन्नता की छै! खील खिलौना मिठाई पा जाने से बालकों के भिन्न २ करने की छै! जुवारियों की भूख प्यास, सचाई-ईमानदारी, आपस के हेल मेल, बरस दिन के कमाय धन इत्यादि सब की छै छै छै! ले इतने हमने बात का बंतगड़ बना के गिना दिए। एक बार तुम भी तो प्रेम से पूरित हो के गदगद स्वर से कह दो कि महारानी विक्टोरिया की जै! और हिंदी हिंदू हिंदुस्थान के द्वेषियों की छै! छै!! छै!!!

खं० ८, सं० ४–५ (नवंबर—दिसंबर, ह० सं० ७)

पुलिस की निंदा क्यों की जाती है

जब कि सर्कार ने यह मुहकमा प्रजा की शांति रक्षा के मानस से नियत किया है तो इसकी निंदा लोग क्यों किया करते हैं ? हम ऐसे बहुत ही थोड़े देखते हैं जिनकी जिह्वा वा लेखनी बहुधा पुलिस वालों की शिकायत न किया करती हो। यह क्यों ? तिस में भी सौ पचास की तनख्वाह पाने वाले ऊंचे अधिकारियों की शिकायत इतनी नहीं सुन पड़ती क्योंकि उन्हे निर्बाह योग्य वेतन मिलने से तथा प्रतिष्ठा भंग के भय से निंदनीय काम करने का अवसर थोड़ा मिलता है। और यदि मिला भी तो साधारण लोग उनके डर से जब तक बहुत ही खेद न पावें तब तक छोटी मोटी शिकायतें मुंह पर नहीं लाते। मन की मन ही में रहने देते हैं। किन्तु पांच सात दस रुपया महीना के चौकीदार कांसटेबिलों की शिकायत जब देखो तभी जिसके देखो उसी के मुंह पर रक्खी रहती है। इस का क्या कारण है ? क्या यह मनुष्य नहीं हैं ? क्या यह इतना नहीं जानते कि हम सर्वसाधारण में शांति रखने के लिए रक्खे गए हैं न कि सताने कुढ़ाने वा चिढ़ाने के लिए ? यदि यह है तो फिर यह लोग क्यों ऐसा बर्ताव करने से नहीं बचे रहते जिसमें निंदा बात २ में धरी है ? ससार की रीति के अनुसार अच्छे और बुरे लोग सभी समुदायों में हुआ करते हैं तथा बहुत ही अच्छे बुरे लोग बहुत थोड़े होते हैं। इस नियम से पुलिस वालों में से भी जो कोई दुष्ट प्रकृति के बश अपने अधिकार को बुरी रीति से व्यवहृत करके किसी के दुःख का हेतु हो उसको निंदा एवं उस के विरुद्ध आचरण रखने वालों की स्तुति होनी चाहिए। पर ऐसा न हो कर अनेकाश में यही देखा जाता है कि इस विभाग के साधारण कर्मचारियों में से प्रशंसा तो कदाचित् कभी किसी बिरले ही किसी के मुख से सुन पड़ती हो पर निंदा सुनना चाहिए तो जने जने से सुन लीजिए। इसका कारण जहां तक बिचार कीजिए यही पाइएगा कि इन लोगों को वेतन बहुत ही थोड़ा मिलता है। दूसरी रीति से कुछ उपार्जन करने का समय मिलता ही नहीं है। प्रकाश्य रूप से सहारे की कोई सूरत नहीं रहती। इसी से 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' का उदाहरण बने रहते हैं। हिंदुस्तानी भले मानसों के यहां कहार चार रुपया पाते हैं पर कभी जूठा कूठा अन्न, कभी तिथि त्योहार की त्योहारी, कभी फटा पुराना कपड़ा

जूना इत्यादि मिलता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर रुपया धेली यों भी दे दी जाती है। इधर स्त्रियां भी दो चार घर में चौका बरतन करके कुछ ले आती हैं। इससे साधारण रीति से गरीबामऊ निबाह होता रहता है। पर चौकीदार की तनख्वाह चार रुपया और कांस्टेबिल की पांच रुपया बधी है, ऊपर से प्राप्ति होने का कोई उचित रास्ता नहीं है, बरंच उरदी साफा लाठी जूता आदि के दाम कटते रहते हैं। सो भी यदि वे अपने सुभीते से खरीदने पावैं तो कुछ सुभीते में रहें, किन्तु वहां ठेकेदार के सुभीते से सुभीता है। इस से अधिक नहीं तो एक के ठौर सवा तो अवश्य ही उठता है। इस रीति से पूरा वेतन भी नहीं हाथ आता और काल कराल का यह हाल है कि चार पांच रुपया महीना एक मनुष्य के केवल सामान्य भोजनाच्छादन को चाहिए। स्त्रियां हमारे यहां की प्रायः कोई धंधा करती नहीं हैं। उन का सारा भार पुरुषों ही पर रहता है। और ऐसे पुरुष शायद सौ पीछे पांच भी न होंगे जिन के आगे पीछे कोई न हो। प्रत्येक पुरुष को अपनी माता, भगिनी, स्त्री आदि का भरण पोषण केवल अपनी कमाई से करना पड़ता है। हम ने माना कि सब को सब चिंता न हो तथापि कम से कम एक स्त्री का पालन तो सभी के शिर रहता है। यदि कोई संबंधिनी न होगी तौ भी प्राकृतिक नियम पालनार्थ कोई स्त्री ऐसी ही होगी जिस का पूरा बोझ नहीं तो आधा ही भार उठाना पड़ता हो। अब बिचारने का स्थल है कि पौने चार अथवा पौने पांच रुपए में दो प्राणियों का निर्वाह कैसे हो सकता है जब तक कुछ और मिलने का सहारा न हो। सो यहां तरक्की का आसरा मुकद्दिमे लाने और अफसरों को प्रसन्न रखने पर निर्भर टहरा। काम कम से कम दश घंटे करना चाहिए। ऊपर से अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी। दैवयोग से कोई दैहिक दैविक आपदा आ लगे तो जै दिन काम न करें तै दिन पूरी तनख्वाह एवजीदार को दें। इस से दूसरा धंधा करने का ब्योंत नहीं। काम चलाने भर को पढ़े ही होते अथवा घर में खेती किसानी का और किसी वृत्ति का सुभीता होता तो बिदेश में आ के इतनी छोटी तनख्वाह पर नौकरी ही क्यों करते? फिर भला बिचारे करें तो क्या करें? अपने उच्चाधिकारियों को खुश न रक्खें तो तरक्की कैसी नौकरी ही जाती रहे। और उन का खुश रहना तभी संभव है जब दूसरे चौथे एक आधा मुकद्दिमा आता रहे और सुबूते कामिल मिलता रहे। क्योंकि इसी में अफसर की मुस्तैदी की तारीफ और मातहत की भाग्यमानी है। इस दशा में सर्वसाधारण को प्रसन्न करें कि अपनी उम्मेद

की जड़ सींचें ? हाकिम और रईयत दोनों का खुश रखना बड़े भारी नीति का काम है न कि चार पांच रुपये के पियादे का। और गृहस्थी के अमज वह हैं जो बड़े २ धनवानों, विद्वानों और बुद्धिमानों का मन डावांडोल देते हैं यह बिचारे क्या हैं। तथा दुनिया का कायदा यह है कि सीधी त एक पैसा मांगो तो न मिले पर कोई डर वा लालच दिखा के आडम करके लेना आता हो तो एक के स्थान पर चार मिल जायं। एवं आवश्यक जब दबाती है तब न्याय अन्याय का विचार भूल जाता है, केवल क निकालने का सूझती है। इन सब बातों पर ध्यान देकर बतलाइए तो वर्तमान काल की व्यवस्था में यह क्यों कर सर्वसाधारण की शिकायत से ब सकते हैं ? क्यों कर भलेमानस लोग पुलिस की नौकरी तथा नौकरों अच्छा समझ सकते हैं ? सन् १८६१ ई० में जब इस मुहकमे की नींव रक्खी गई थी तब बीस पच्चीस सेर गेहूं और बीस बाइस रुपए मन घी बिक था तथा इसी हिसाब से सब निर्वाहोपयोगी वस्तु सस्ती थी। तब इतने वेत बरंच इससे भी स्वल्प में निबाह हो सकता था और सर्वसाधारण लोगों आजकल का साधन संकोच न था। इससे अपने निर्धन स्वदेशियों की यथ शक्ति सहारा पहूंचाने में लोगों को रुचि थी। पर वह जमाना अब नहीं है सारी चीजें महंगी हैं और धन तथा व्यापार दिन २ घटता है। इससे अने लोग 'क्षीणा नरा निष्करुणा भवंति' वाले वाक्य को सार्थक कर रहे हैं ऐसे समय में पुलिस ही कहां तक फूंक २ पांव धर सकती है। हां नए नौक को कम से कम दस रु० मासिक मिला करे फिर तरक्की चाहे बीस बर तक न हो तब दस ही पांच वर्ष में देख लीजिए कि इन्हीं वर्तमान सेव में से कितने लोग सज्जनता का परिचय देते हैं और कितने नए भलेमान भरती हो के इस विभाग का कलंक मिटाने की चेष्टा करते हैं तथा राजा प्र दोनों की प्रसन्नता के पात्र बनते हैं। नहीं तो विचारशक्ति सदा यही क करेगी कि पुलिस की निंदा क्यों की जाती है ?

खं० ८, सं० ४-५ (नवंबर-दिसंबर, ह० सं० ७

विश्वास

यूरोप की विद्या सभ्यता और सिद्धांतों को जन्म लिए अभी बहुत दिन नहीं हुए तथा आज भी इन बातों का कोई अंग पूर्णता तक नहीं पहुंच चुका। इस से जो लोग केवल उन्हीं का आश्रय ले बैठते हैं, भारतीय फिलासफी की ओर ध्यान नहीं देते, वे बहुधा भूल ही में पड़े रह जाते हैं। इस बात का प्रमाण जिधर देखिए उधर मिल सकता है। नित्य के व्यवहारों में, स्नान भोजन वस्त्र धारणादि एवं स्वास्थ्यरक्षार्थ औषध इत्यादि छोटे २ विषयों तक में यदि आर्य रीति का यथोचित अवलम्बन कर देखिए तो विदित हो जायगा कि पश्चिमीय बातों की अपेक्षा कितने स्वल्प व्यय में, कितना अधिक और दृढ़ स्थायी गुण देखने में आता है कि यदि एतद्देशीय बातों से स्वाभाविकीय घृणा हो अथवा अभ्यास ने जाति स्वभाव के अंश तक पहुंच के एवं मन को पूर्ण रूप से सात समुद्र पार के रंग ढंग का बना डाला हो तौ तो बात ही न्यारी है नहीं तो भारत के जलवायु के साथ जितनी स्वाभाविकीय अनुकूलता हमारे ऋषियों के बतलाए हुए सांसारिक अथच परमार्थिक नियमों की है उतनी विदेशीय नियमों की कभी हो नहीं सकती। इसी मूल पर हमारी सी तबीयत वालों ने दृढ़ निश्चय कर लिया है, और यदि कोई इस निश्चय के विरुद्ध अपनी विज्ञता सिद्ध करना चाहै तो भली भांति पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित कर सकते हैं कि हमारे लोक परलोक सम्बन्धी सुख सुविधा सौभाग्य केवल प्राचीन लोगों के द्वारा कथित रीति नीति पर निर्भर हैं। उन्हीं का अनुसरण करके हम अपना प्रकृत मंगल साधन कर सकते हैं और जिस विषय के जितने अंश में उनका विरोध अथवा उपेक्षा करेंगे उतनी ही वास्तविक हानि होगी! इस में भी जो बातें आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं यथा धर्म प्रेम ज्ञान वैराग्य ध्यान धारणा इत्यादि उन के विषय में तो हम सच्चे और उचित अहंकार के साथ कहेंगे कि दूसरों को उनका तत्व समझना ही कठिन है, अनुभव की तो बात ही जाने दीजिए। यदि ऐसा न होता तो आज कल का शिक्षित समुदाय विश्वास ऐसे दिव्य गुण से कदापि बंचित न रहता। विचार कर देखिए तो ऐहिक और पारलौकिक मनोरथों की सिद्धि विशेषतया इसी दैवीय शक्ति के आधीन है जिसे विश्वास कहते हैं। पर इस काल के विद्याभिमानी लोगों को इसकी शिक्षा नहीं प्राप्त हुई। विश्वास

क्या है, किस में क्योंकर करना चाहिए और उस के करने से क्या होता है, यह बात कुछ हमारे ही पूर्व पुरुष समझ समझा सकते थे। और जिन लोगों के हृदय से इसका भाव पछाही हवा पूर्णरूपेण उड़ा नहीं ले गई, देश काल की दशा के अनुसार जिनकी मनोवृत्ति में अद्यापि थोड़ा बहुत आर्यत्व बना हुवा है, वे इसके अकथनीय स्वादु से नितांत अनभिज्ञ नहीं हैं। किंतु जिन के मन बचन और कर्म लड़कपन ही से अंगरेजी रंग ढंग का अभ्यास करते रहे हैं और होते २ आज उस अभ्यास ने जाति स्वभाव का रूप धारण कर लिया है वे विश्वास को यदि जानते भी हैं तो इतना ही मात्र जानते हैं कि पुराने असभ्य अथच अशिक्षित लोगों में जहां और अनेक पागलपन की तरंगे थीं वहा उन्हीं के अंतर्गत एक यह भी थी। पर ऐसा समझना हमारे बाबू साहब और साहब बहादुर की निरी नासमझी है, नहीं तो विश्वास वास्तव में वह गुण है कि यदि हम यथोचित रीति से उसे काम में लावैं तो कहीं कभी कुछ भी हमारे लिए असाध्य न रह जाय। महात्मा मसीह ने अपने शिष्यों को एक बार उपदेश दिया था कि यदि तुम में से किसी को अणुमात्र भी विश्वास हो और वह (विश्वासी) चाहे कि पर्वत इस ओर से उस ओर फिर जाय तो फिर जायगा। इसी मूल पर एक दिन एक पादरी साहब से एक मौलवी साहब ने प्रश्न किया कि आप को खुदा और हजरत ईसा और इंजील पर एतिकाद है या नहीं। अगर है तो इंजील की तहरीर के बमूजिब मिहरबानी कर के इस दरख्त (सामने वाले वृक्ष) को हटा दीजिए नहीं तो हम समझेंगे कि आप को अपने मजहब पर एतिकाद जर्रा भर भी नहीं है, यों ही दूसरों को नसीहत करते फिरते हो। इसके उत्तर में पादरी साहब ने उस समय यह कह कर पीछा छुड़ाया कि 'हम को विश्वास बेशक है, और बाइबिल में जो कुछ लिखा है वह भी सच है पर वह ताकत सिर्फ उन्हीं लोगों के लिए थी जो हजरत ईसा के वक्त में जिंदा थे।' हमारी समझ में पादरी साहब का यह कथन केवल उस समय का झगड़ा बरका देने के लिए था, नहीं तो ईश्वरीय सामर्थ्य में कभी निर्बलता नहीं हो सकती। ईश्वर जो ईसा के समय में था वही आज भी बना हुआ है। वह अपने विश्वासियों की मनःकामना पूर्ण करने के लिए सदा सर्वथा सब ठौर प्रस्तुत रहता है। अतः उचित एवं सत्य उत्तर यही था कि महात्मा मसीह ने जो कुछ कहा वह बेशक सच है पर ऐसा सच्चा और दृढ़ विश्वासी होना हर एक का काम नहीं है। हम ईश्वर के कमजोर और दुनियादार बन्दे हैं। हम में पर्वत हटाने लायक विश्वास कहां ? पाठक महाशय ! इस में कोई भी संदेह नहीं

है। यदि हमारे कहने से निश्चय न आवै तो कुछ दिन स्वयं अभ्यास कर के परीक्षा ले लीजिए तो विश्वास हो जायगा कि विश्वास में बड़ी भारी शक्ति है। विश्वासी के लिए पर्वत का हटा देना तो एक छोटी सी खेलुल्ली है। वह यदि चाहे तो पहाड़ क्या यावज्जगत बरंच जगतकर्ता को स्वेच्छानुसार संचालित कर सकता है। पर होना चाहिए विश्वासी ! सच्चे विश्वास से पूर्ण विश्वासी ! हाँ, यदि किसी कपटी एवं स्वार्थांध व्यक्ति ने आपके साथ विश्वासघात किया हो अथवा आप ने किसी पुरुष को कुछ का कुछ समझने के कारण कभी धोखा खाया हो तो कह सकते हैं कि विश्वास कोई चीज नहीं है वा उस के करने से कुछ नहीं होता। पर निश्चय रखिए कि ऐसा अवसर पड़ जाने में विश्वास का दोष नहीं है। वह दोष उस विश्वासघाती नराधम का है अथवा आप की बुद्धि का है। क्योंकि संसार में जैसे सचमुच के सज्जन बहुत थोड़े हैं वैसे ही शुद्ध दुर्जन भी बहुत नहीं हैं। और हमारी तुम्हारी बुद्धि जैसे सब बातों का ठीक २ भेद नहीं पा जाती वैसे ही सदा सब ठौर धोखा भी नहीं ही खाया करती। इस सिद्धांत के अनुसार जीवनकाल में दो चार बार धोखा खा जाना वा धोखा दे देना असंभव नहीं है। किंतु इस से यह सिद्धांत कभी न निकाल लेना चाहिए कि जिन बातों को हमारे लक्षावधि महापुरुषों ने तथा विदेशीय महात्माओं ने बारम्बार अच्छा कहा है वे वस्तुतः अच्छी नहीं हैं। विश्वास की महिमा वेद शास्त्र पुराण बाइबिल कुरान जहां देखिए वहां मिलेगी। फिर कोई क्योंकर सिद्ध कर सकता है कि वह ग्रहणीय गुण नहीं है ? यदि दैवयोग से आप ने कभी किसी ऐसे ही भारी प्रवंचन के द्वारा कष्ट वा हानि सही हो कि हमारे कथन का विश्वास ही करना न चाहते हों तौ भी इतना समझ लीजिए कि संसार में किसी पुरुष वा पदार्थ की गति सदा निश्चित रूप में नहीं रही। कभी २ बहुत सोचे समझे विषयों तथा भली भांति जाने बूझे लोगों से भी धोखा खाने में आ जाता है। अतः दुनिया और दुनियादारों पर विश्वास करते हुए जी हिचकिचावै तो आश्चर्य नहीं है। किन्तु ऐसी दशा में भी विश्वास के स्वादु से वंचित न रह के ईश्वर पर विश्वास जमाने का अभ्यास करना उचित है। क्योंकि उस की किसी बात में किसी आस्तिक के मतानुसार कभी गड़बड़ नहीं पड़ता। यहां हम यह कहना नहीं चाहते कि उसे क्या समझ कर किस रीति से विश्वास कर्तव्य है। क्योंकि हमारे सिद्धांत में उस अनंत की सभी बातें अनंत हैं और सर्वथा स्वतंत्र तथा सर्वशक्तिमान सर्व-

३०

व्यापी आदि नामों ही से सिद्ध है कि सभी रीति से सभी ठौर पर सभी काल में हमें उस की प्राप्ति हमारी ही मनोगति के अनुसार हो सकती है। विशेषतः वह स्वयं विश्वासमय एवं केवल विश्वास ही का विषय है। अस्मात् विश्वास करने से हम उसे चौराहे की ईंट में भी प्रत्यक्ष रूप से पा सकते हैं और यों खाली खाली जन्म भर अष्टांग योग के द्वारा भी सपने में भी झूठमूठ भी उसकी छांह देख पड़ना असंभव है। सिद्धांत यह कि अपनी रुचि के अनुसार सच्चे जी से उस के कोई बन जाइए, उसे अपना जो जी चाहे वह सचमुच और दृढ़ता के साथ बना लीजिए तो स्पष्ट देख लीजिएगा कि विश्वास में कैसा गुण, कैसी शक्ति, कैसा आनंद है कि जी ही जानता है। यह बात विश्वासी मात्र प्रायः देखते ही रहते हैं कि जिन अवसरों पर बुद्धि काम नहीं करती, बल नष्टप्राय हो जाता है, सहायक मात्र अपनी अपनी ओर खिंच रहते हैं पर आपदा कराल रूप से आक्रमण करती है उस समय केवल विश्वास एक अनिर्वचनीय रूप धारण कर के वह युक्ति बतलाता है, वह शक्ति उत्पादन करता है, वह साहाय्य प्रदान करता है कि इहकालिक शुष्कविज्ञानी समझ ही नहीं सकते, दूसरों को किन शब्दों में समझावेंगे? किंतु जिसे थोड़ा सा भी अनुभव है वह जानता ही नहीं बरंच प्रत्यक्ष देखता है। फिर भला ऐसी जादू का सी शक्ति को बिना जाने झूठ वा तुच्छ समझना अज्ञता नहीं तो क्या है?

जिस शक्ति के द्वारा ऐसी २ लीला प्रायः नित्य ही देखने में आया करती है, देखने वाले देखते हैं और जो देखना चाहें वह देख सकते हैं कि जब सब ओर से नितांत निराशता हो जाती है तब विश्वास देव केवल आशा ही नहीं प्रत्युत आशा से कहीं अधिक सहायता दान करते हैं। उस दैवी शक्ति की उपेक्षा करना कहां की विद्वत्ता है? इतनी महत्सामर्थ्य होने पर, जिसका जीवित सम्बन्ध लाभ करना बहुत कठिन नहीं है, केवल मन को स्थिर और स्वच्छ तथा धैर्यवान बनाने का अभ्यास करना पड़ता है, फिर साफल्य में संशय नहीं रहता। ऐसे दिव्य गुण विशिष्ट विश्वास से बंचित रहना कौन सी बुद्धिमानी है? मन यदि सचाई के साथ मंगलमय परमात्मा का विश्वासी बनाया जाय तौ फिर विश्व भर में कहीं कोई पुरुष व पदार्थ अनिष्ट-कारक अथवा अविश्वासप्रसारक रही नहीं सकता। हां, यदि आप ईश्वर को न् मानते हों तो केवल उन लोगों का विश्वास मत कीजिए जिन्हों ने कभी आप के साथ वा आप के आत्मीयों के साथ कपट का व्यवहार किया हो वा कर उठाने का दृढ़ सन्देह उपजाते हों। किन्तु यह प्रण आप नहीं कर सकते

कि कभी किसी का विश्वास करेंहींगे नहीं। यदि ऐसा हो तो संसार का चरखा एक दिन तो चली न सके! क्या त्रिकाल और त्रिलोक में ऐसा कोई भी प्राणी हो सकता है जिसका सचमुच कोई भी विश्वासपात्र वा विश्वासी न हो? यदि हठपूर्वक ऐसा मान लीजिए वा बन जाइए तौ भी अपने अस्तित्व हीं पर सच्चा और अचल विश्वास करके विश्वास की महिमा प्रत्यक्ष देख सकते हैं और उस दशा में यह कहने में कभी न रुकेंगे कि विश्वास में बड़ी शक्ति है, बड़ा आनंद है, बड़ा ही आश्चर्य गुण है। पर कहने से कुछ नहीं होता। जो विद्या पराक्रम पर तथा अपने बन्धु बांधवादि पर, अपने कर्ता भर्ता संहर्ता पर विश्वास करने का अभ्यास डालिए तो थोड़े ही दिन में दृष्टिगोचर हो जायगा कि कैसे २ बड़े विघ्न सहज में नाश होते हैं और कैसे कठिन काम बात २ में बनते हैं। यदि दैवात् कोई त्रुटि भी रह गई तो उसकी पूर्ति में संदेह रहना संभव नहीं है। क्योंकि विश्वास जब विश्वनाथ विश्वम्भर तक को सहज में मिला सकता है तब विश्व की आशा पूर्ण करना कौन बड़ी बात है। क्या ही उत्तम होता यदि समस्त भारतसंतान विश्वास का आश्रय करना सीखते और परस्पर एक दूसरे के विश्वासी तथा विश्वासभाजन बन के अपने देश एवं अपनी जाति का वही गौरव फिर संसार भर को दिखला देते जो प्राचीन काल में पूर्णरूप से विराजमान था अथच आज भी जिस के स्मरण मात्र से हृदय को सच्चा अहंकार उत्पन्न होता है।

खं० ८, सं० ६ (जनवरी, ह० सं० ८)

उन्नति की धूम

आजकल जिधर सुनो यही शब्द सुनाई देगा। समाचारपत्रों में तो उन्नति की धूम, व्याख्यानों में तो उन्नति की धूम, सभाओं में तो उन्नति की धूम। अजान बालकों और मृत्यु की घड़ियां गिनने वाले बुड्ढों को छोड़ के जिसे देखो उसे यही सनक चढ़ी है कि देश की दशा दिन २ बिगड़ती जाती है इस से सामाजिक उन्नति होनी चाहिए, राजनैतिक उन्नति होनी चाहिए, धार्मिक उन्नति होनी चाहिए, विद्या की उन्नति होनी चाहिए, धन की उन्नति होनी चाहिए, बल की उन्नति होनी चाहिए। इसी उमंग में कितने ही लाल कपड़े पहिने दुनिया की ओर से मूंड मुंडा डालने का रूप लाए कटक से अटक तक कोलाहल करते फिरते हैं। कितने ही कोट पतलून चढ़ाए धर्म कर्म के नाम खली तेल छू डालने का रंग जमाए हिंदुस्तान से इंग्लिस्तान तक हाय २ मचाते रहते हैं। इसी बैलच्छि में रीम के रीम कागज, बरसों का समय, सहस्रों रुपया हाथ से बेहाथ हो रहा है। पर विचार कर देखिए तो सारी मुड़धुन व्यर्थ है। यत्न उस बात के लिए कर्तव्य है जिसका अभाव हो। सो यहां उन्नति का कोई अंग शिथिल नहीं है। फिर उसके लिए दौड़ धूप का क्या प्रयोजन? प्राचीन काल में जो कोई बारह वर्ष, चौबिस वर्ष, अड़तालिस वर्ष बेद वेदांग पढ़ने में "नींद नारि भोजन परिहरई" का उदाहरण बनता था वह अपनी योग्यता के अनुसार द्विवेदी त्रिवेदी चतुर्वेदी आदि कहलाता था। जो पूर्ण विद्या प्राप्त कर के भली भांति सांसारिक अनुभव में कुशल हो के सदसद्विवेकिनी बुद्धि का पुतला बन जाता था वह पंडित की पदवी पाता था। पर अब नागरी का अक्षर भी न जानते हों, धर्म कर्मादि के विषय में मनु-पराशरादि की तो क्या गिनती है ब्रह्मा के भी बाप का कहना न मानते हों तौ भी कान्यकुब्ज मात्र द्विवेदी त्रिवेदी, माथुर मात्र चतुर्वेदी और कश्मीरी मात्र पंडित हैं! यदि कोई न कहे तो उस पर बड़े मजे में मानहानि का मुकद्दिमा चल सकता है। फिर भला यह उन्नति नहीं है तो क्या है? अगले दिनों में विद्याभ्यास गुरुसेवा सतसंग इत्यादि करते २ जनम बीत जाता था तब कहीं ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता था जिसका निचोड़ यह है कि अकेला ब्रह्म सत्य है और समस्त संसार के झगड़े अर्थात् पाप पुण्य, स्वर्ग नर्क, अपना पराया, देवता पितर, सन्ध्या पूजा सब भ्रममूलक हैं। आज कल यह ज्ञान स्कूल में पांव धरते ही हो

जाता है। वरंच आगे तो सब कुछ झूठ था एक ब्रह्म सत्य था पर अब वह कसर भी बहुधा जाती सी रहती है अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व पहिले मिथ्या सा जान पड़ता है और बातें चाहे किसी पालिसी से बनी भी रहें। भला इसे कौन उन्नति न कहेगा ? आगे के दिनों में बड़े २ विद्वान ब्राह्मण तथा बड़े २ लक्ष्मीवान क्षत्रिय अपने जीवन का साफल्य धन जन सर्वस्व छोड़ छाड़ कर बन में जा बैठने और कन्द मूल फल खा के आयुष्य व्यतीत करने में समझते थे वह सुभीता भी इस काल में घर बैठे प्राप्त है। रुपया पैसा लाइसंस टैक्स इन्कमटैक्स चुंगी चन्दा विदेशीय चमकीली चीजों आदि पर निछावर हो गया और बचा खुचा दिन दूनी रात चौगुनी चाल से हो रहा है। अतः यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि जिस धन को अगले लोग यत्नपूर्वक छोड़ते थे वह इहकालिक लोगों को स्वयं सहजतया छोड़े भागता है अथच ऐसी दशा में असंभव नहीं है जो स्त्री पुत्रादि भी आप से आप छुट जायं क्योंकि पेट सबको प्यारा होता है और अब वह समय रहा नहीं है कि एक कमाए और चार खायें, इसके अतिरिक्त बन भी ढूंढ़ने नहीं जाना। अभी वह लोग सैकड़ों नहीं सहस्रों जीते हैं जो देख चुके हैं कि लखनऊ मिरजापुर फर्रुखाबाद आदि नगरों में थोड़े ही दिन हुए कि आठों पहर कंचन बरसता था और बड़ी २ दूर के लोग आ आ कर सहस्रों कमा ले जाते थे किन्तु अब वहां जिस बाजार को देखिए भांय २ होती है। सहस्रों निवासी घर छोड़ २ नगरान्तर को चल दिए और सैकड़ों घर ऐसे दिखाई देते हैं जिन्हें देख के बोध होता है कि इन में कोई बहु कुटुम्बी महाधनी निवास करते थे पर आज अंगनाई में घास उगती है और कौए कुत्ते रहते हैं। ऐसे लक्षणों से कौन न कहेगा कि परमेश्वर ने चाहा तो कुछ ही दिनों में निरजन बन अलभ्य न रहेंगे, फिर क्या यह उन्नति नहीं है ? सच पूछिए तो सतयुग त्रेता वाले लोग जिस उन्नति के लिए यत्नवान रहते थे वह पूर्ण रूप से अभी प्राप्त हुई है ! हां यदि कलियुग के प्रभाव से आप शारीरिक सुख एवं सांसारिक सुविधा ही को उन्नति का लक्षण मानते हों तो भी आगे जिन दामों में गजी मिलती थी उन में आज तनजेब ले लीजिए। जहां जाने में घर वालों से सदा के लिए बिदा मांगनी पड़ती थी वहां सप्ताह दो सप्ताह में हो के लौट आइए। जिन के समाचार मंगाने में दूत और धन की आवश्यकता होती थी उन से एक पैसे के पोस्टकार्ड में घर बैठे बातें कर लीजिए। जो पुस्तक सौ पचास रुपया लगाने पर भी बरसों में प्राप्त होती थी, सो भी अचिक्कण और मलीन कागज पर फीकी स्याही की

लिखी, कहीं महावर कहीं हरताल से रंगी, कहीं कटी कहीं फटी, अशुद्ध फशुद्ध विहंगम वहीं आज आठ दस रुपए में उत्तम से उत्तम छपी हुई मिल सकती है, सो भी जब चाहो तब ! ऐसे २ अनेकानेक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जिन के कारण हम क्या हैं हमारे गुरू गौरांगदेव भी सैकड़ों मुख से कह रहे हैं कि इण्डिया ने वह उन्नति की है जो कभी देखने में क्या सुनने में भी नहीं आई। यदि हमारी न मानो अपने ही शास्त्रों का हठ करो तो महात्मा चाणक्य आज्ञा करते हैं—यथा राजा तथा प्रजा—इस वाक्य को ध्यान में रख के हमारे राजदेश इंग्लैंड की दशा का विचार करो कि दो ढाई सौ वर्ष पहिले कैसी थी तब निश्चय हो जायगा कि बेशक आगे के देखे सभी बातों में उन्नति की है। फिर भला जब राजदेश और राजजाति उन्नति करेगी तो प्रजास्थान और प्रजावर्ग की उन्नति में क्या सन्देह रहेगा ? अस्मात् सब प्रकार मान ही लेना चाहिए कि निस्संदेह हिन्दुस्तान की उन्नति है। ऐसी दशा में उन्नति २ चिल्लाना वा उस के लिए धावमान रहना निरा पिष्टपेषण चर्वित चर्वण और "कनियां लरिका गांव गोहारि" का नमूना बनना है। इस से चुपचाप बैठे रहना चाहिए, दुनिया भर का इंतजाम परमेश्वर ने तुम्हारे ही माथे नहीं पटक दिया। काल कर्म और भाग्य में जो कुछ होगा हो रहेगा। चार दिन की जिंदगी खाने कमाने और आनंद से दिन बिताने को बनो है न कि "काज़ी जी क्यों दुबले शहर के अन्देशे से !" पर हां जो यह उपदेश न सुहाते हों और मातृभूमि का सच्चा स्नेह हृदय में तनिक भी जड़ पकड़े हो तथा अंतःकरण की आंखें कुछ भी खुली हों, इस से भूतकाल की दशा से वर्तमान गति का मिलान करने पर भविष्यत में काल की बिकराल मूर्ति दिखलाई पड़ती हो एवं उस से बचने अथच अपने गृह कुटुम्ब, जाति देश वालों को बचाने का उपाय अभिप्रेत होता हो तो स्मरण रक्खो कि 'काल्हि करंते आज कर आज करंते अब्ब'। मरते देर नहीं लगती और मर जाने पर कर्तव्य पालन कदापि नहीं हो सकता तथा जो करणीय कामों को किए बिना केवल मनोर्थ ही करता २ मर जाता है वह अपने कलुषित कलंकित मुख को किस बिरते पर ईश्वर के सामने ले जायगा ? अतः अभी इसी क्षण सौ काम छोड़ के, हजार हर्ज कर के कटिबद्ध हो जाना उचित है। फिर "चौतरा आप ही कोतवाली सिखा लेगा", किसी से पूछने की आवश्यकता न रहेगी कि क्या करना चाहिए, क्योंकर करना चाहिए ? किन्तु यदि हमारे बचनों पर श्रद्धा हो तो सुन रक्खो—अपना भला अपने ही हाथ होता है। भारत की वास्तविक उन्नति जब हुई है और जब होगी तब

उन्हीं के करने से हुई है और होगी जिन की हजारों लाखों पीढ़ी भारत ही की मट्टी से हुईं और उसी में समा गईं तथा आगे भी इसी पवित्र रज में उत्पन्न हो के विलीन हो जायंगी। दूसरे देश में चाहे वाणिज्य के लिये जायं चाहे विद्या सीखने जायं चाहें गुलाम बन के जायं चाहे राजा हो के जायं पर कहलावेंगे भारत संतान ही। उन्हीं का अधिकांश जब केवल अपने भरोसे और अपने ढंग पर अपनी उन्नति के लिए तन मन धन प्रानपन से दिन रात सोते जागते संलग्न रहेगा तभी हिन्दुस्तान का भला होगा। नहीं तो दूसरों के आसरे पर, दूसरों की भाषा भेष भोजन भाव का अवलम्बन करने से चाहे कोटि जन्म तक शिर पटका करें तो क्या होना है? और यदि कुछ दैवयोग से हो भी गया तो क्या है? ब्राह्मण का लड़का हुसेनी कहला कर जिया तो उसे जिया नहीं कहते। अतः यदि आप हिन्दुस्तानी हैं और हिन्दुस्तान का उद्धार किया चाहते हैं तो किसी के कहने सुनने में न आ के अपने यहां की तुच्छ से तुच्छ वस्तु एवं व्यक्ति को सारे संसार के उत्तमोत्तम पदार्थों अथच पुरुषों से श्रेष्ठ समझिए और पूर्ण पौरुष के साथ दूसरों को भी यही समझाते रहिए तथा अपनों से अपनायत निभाने में किसी प्रकार का भय संकोच, लालच लज्जा जी में न आने दीजिए। यह प्रण कर लीजिए कि चाहे जैसी हानि हो, चाहे जो कष्ट हो कुछ चिन्ता नहीं है। सर्वस्व जाता रहे, अभी मृत्यु हो जाय, मरने पर भी कठिन से कठिन नर्कजातना अनन्त काल तक सहनी पड़े पर अपने हिन्द और अपनी हिन्दी से 'हम यह दो बात कह के हारे हैं। तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं!!' बस फिर प्रत्यक्ष देख लीजिएगा कि कितने शीघ्र अथच कैसी कुछ उन्नति आंखों के आगे दिखाई देती है। पर बातें कहने की नहीं हैं कर उठाने की हैं। जितना जो कुछ जिस दृढ़ता के साथ कर उठाइएगा उतना ही उत्तम फल पाइएगा और मरने पर भी दूसरों के लिए उदाहरण स्वरूप सुयश छोड़ जाइएगा। नहीं तो जैसे दूसरे हजारों लोग हजारों तरह की झांयझांय करते रहते हैं वैसे ही आप भी धूम मचाते और अमूल्य मानव जन्म को निष्फल गंवाते रहिए। न कुछ होगा न हुवावैगा। आप की धूम धूममंदिर अर्थात् धुवां के धौरहर की भांति कुछ काल तक कोई रूप दिखा के अदृष्ट हो जायगी। बस।

खं० ८, सं० ६ (जनवरी ह० सं० ८)

एक सलाह

हमारे मान्यवर मित्र, 'पीयूषप्रवाह' सम्पादक, साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास महोदय पूछते हैं कि हिन्दीभाषा में "में से के" आदि विभक्ति चिह्न शब्दों के साथ मिला के लिखने चाहिए अथवा अलग। हमारी समझ में अलग ही अलग लिखना ठीक है, क्योंकि एक तो यह व्यास जी ही के कथानुसार 'स्वतंत्र विभक्ति नामक अव्यय हैं' तथा इन की उत्पत्ति भिन्न शब्दों ही से है, जैसे—मध्यम, मज्झम्, मांझ, मधि, मांहि, महिं, में इत्यादि, दूसरे अंगरेजी, फारसी, अरबी आदि जितनी भाषा हिन्दुस्तान में प्रचलित हैं उन में प्रायः सभी के मध्य विभक्तिसूचक शब्द प्रथक रहते हैं। और भाग्य की बात न्यारी है नहीं तो हिन्दी किसी बात में किसी से कम नहीं है। इस से उस के अधिकार की समता दिखलाने के लिए यह लिखना अच्छा है कि संस्कृत में ऐसा नहीं होता, सो उस की बराबरी करने का किसी भाषा को अधिकार नहीं है, फिर हिन्दी ही उस का मुंह चिढ़ा के बेअदबी क्यों करें ? निदान हमें व्यास जी की इस बात में कोई आपत्ति नहीं है।

इधर अपने भाषाविज्ञ मित्रों से एक सम्मति हमें भी लेनी है, अर्थात् हमारी देवनागरी में यह गुण सब से श्रेष्ठ है कि चाहे जिस भाषा का जो शब्द हो इस में शुद्ध २ लिखा पढ़ा जा सकता है। अरबी के ऐन ع, क़ाफ़ ق, खे خ, आदि थोड़े से अक्षर यद्यपि अ क ख आदि से अलग नहीं हैं, न हिन्दी में यों ही साधारण रीति से लिखे जाने पर कोई भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, पर यतः उन का उच्चारण अपनी भाषा में कुछ विलक्षणता रखता है। अस्मात् हमारे यहां भी उस विलक्षणता की कसर निकाल डालने के लिए अक्षरों के नीचे बिंदु लगाने की रीति रख ली गई है। किन्तु अभी अंगरेजी वाली वी V के शुद्ध उच्चारणार्थ कोई चिह्न नहीं नियत किया गया। यह क्यों ? वाइसराय और विक्टर आदि शब्द यद्यपि हम लोग यवर्गी व अथवा पवर्गी ब से लिख के काम चला लेते हैं, यों ही हमारे बंगाली तथा गुजराती भाई भ से लिख लेते हैं और कोई हानि नहीं भी होती, किन्तु अंगरेजी के रसिक यदि शुद्ध उच्चारण न होने का दोष लगावैं तो एक रीति से लगा सकते हैं, क्योंकि यह अक्षर व और ब दोनों से कुछ विलक्षणता के साथ ऊपर वाले

दांतों को नीचे के होंठ में लगा के बोला जाता है। इस की थोड़ी सी कसर निकाल डालने के लिए हमारी समझ में यदि ब के नीचे बिंदु लगाने की प्रथा कर ली जाय तो क्या बुराई है? यों ही फारसी में एक अक्षर ज़े ; है जिस का उच्चारण श के स्थान से होता है। अंगरेजी में भी प्लेज़र Pleasure आदि शब्द इसी जकार से उच्चरित होते हैं। इस के शुद्धोच्चारण के हेतु यदि "ज" के नीचे तीन बिन्दु लगाने की रीति नियत कर ली जाय तो बस दुनिया भर के शब्दों को शुद्ध लिख पढ़ लेने में रत्ती भर कसर न रहेगी, पर यदि हमारे भाषावेत्तागण मंजूर करें।

खं० ८, सं० ६ (जनवरी, ह० सं० ८)

भेड़ियाधसान

भेड़ियाधसान अथवा भेड़ चाल का अर्थ सभी जानते हैं कि जब भेंड़ों का समूह चलता है तो एक के पीछे एक एक के पीछे एक पंक्तिबद्ध होकर चलता है और सब के आगे चलने वाली भेंड़ों का अनुगमन इतनी निश्चिन्तता के साथ आंखें मींचे शिर झुकाए हुए करता है कि यदि वे कुआं में गिर पड़ें तो यह भी सब भरभरा के गिर पड़ें। पर यह बात कहने ही सुनने भर की है किसी ने कभी भेड़ों के किसी झुंड को कुएं में गिरते देखा न होगा। क्योंकि प्रत्येक समूह के साथ एक वा कई गड़रिए अवश्य रहते हैं जो उन्हें नष्ट मार्ग से बचाए हुए सीधे निष्कंटक पथ में चलाते रहते हैं और समूह के चलने के लिए रास्ता भी ऐसा ही लंबा चौड़ा और बराबर होता है जिसमें कुआं खाता आदि न हो। इस रीति से यदि गड़रिया कुछ काल के लिए किसी कार्यवश अलग भी हो जाय तो आगे वालियों का पतन संभव नहीं होता फिर उन के पीछे चलनेवाली क्यों गिरने लगीं? हां जो भेड़ें अपने निज संचालक का बोल नहीं पहिचानतीं, जिस ने टिटकारा भर दी उसी की इच्छानुसार चल पड़ती हैं उन का गिर पड़ना संभव है क्योंकि दूसरों को न उन की ममता होती है न उन के नष्ट होने से कुछ हानि होती है चाहे जिधर हांक दिया। अथवा जो कोई गई बही भेंड़ अपने समुदाय को छोड़ भागती है वह नाश हो सकती है। सारांश यह कि भेड़ों के चलने की यह रीति यदि अनुचितता को न प्राप्त हो तो प्रायः नाश का हेतु नहीं होती वरंच प्रकृति के अनुकूल होने से बुद्धिमानों को उपदेश-दायिनी कही जा सकती है। ईश्वर ने प्रत्येक जीव निर्जीव में एक वा अनेक ऐसे गुण स्थापित कर दिए हैं जिन के द्वारा हमें कुछ न कुछ सुशिक्षा मिले। महात्मा चाणक्य आदि के 'सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कटात्' इत्यादि वाक्य इसी आशय पर बने हैं और इसी मूल पर हमें भेड़ों से यह बात सीखनी चाहिए कि अपने निज गणार्य अर्थात् समुदाय के श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञानुसार अपने सजातीय अग्रगंताओं का चुपचाप आंखें मूंदे अनुगमन करने में कोई भय नहीं है। नीति में 'मार्गस्थो नावसीदति' और 'महाजनो येन गतः स पंथा' इत्यादि आज्ञाएं भी इसी प्रयोजन को दिखलाती हैं फिर हम नहीं जानते लोग भेड़ियाधसान वाली कहावत को बुरे बर्ताव में

क्यों लाते हैं ? आंखें फैला के देखिए तो कभी किसी देश वा जाति में सब के सभी लोग असाधारण बुद्धि बल संपन्न नहीं होते फिर साधारण जन-समूह भेड़ियाधसान के अतिरिक्त और क्या कर सकता है ? अथवा यों कहना उचित है कि भेंड़ चाल ग्रहण किए बिना साधारण लोगों का निर्वाह कैसे हो सकता है ? फिर उस के पक्ष में इस शब्द को उपहास की भांति व्यवहृत करना क्योंकर युक्तियुक्त हो सकता है ? नई रोशनी के आरंभ में यह धूम मची थी और आज तक शांत नहीं हुई कि हिन्दुस्तान में भेड़ियाधसान है, यहां के लोग पुरानी लकीर पर फकीर हैं, कैसा ही कष्ट और हानि हो पर पुराने ढर्रे को छोड़ना नहीं चाहते ! देश का दुर्भाग्य है कि इस प्रकार के आक्षेपों ने बहुतेरों के चित्त पर प्रभाव कर लिया नहीं तो हमारा पुराना रास्ता जिस पर हमारे पिता पितामहादि चलते आए हैं किसी भांति बुरा न था न है न हो सकता है, क्योंकि उस के बतलाने वाले हमारे महर्षिगण थे जिन की विद्या बुद्धि लोकहितैषिता बहुदर्शिता सूक्ष्मदर्शिता एवं दूरदर्शिता अद्यापि निष्पक्ष विचारशील मनुष्य मात्र को श्रद्धा का आधार है। उन्होंने अपने समस्त जीवन के महत्परिश्रम जनित अनुभव के द्वारा हमारे लिए जो पंथ नियत किया है उस का यदि हम दृढ़तापूर्वक अवलंबन करें तो केवल हमारा ही लोक परलोक न बने बरंच हमारा अनुकरण करने वालों का भी सचमुच भला हो। हां यदि देश काल की गति हमें पूर्णरूप से उनका आज्ञानुवर्ती होने में बाधा डाले तौ भी यथासामर्थ्य सरल भाव से उन्हीं के निर्दिष्ट मार्ग पर चलना उचित है और इसी में हमारा वास्तविक कल्याण है। भगवान कृष्णचंद्र की आज्ञा भी यही है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावहः'। अतः हमें अपने पूर्वजों की चाल पर हठपूर्वक प्रण कर के चलना चाहिए। इस में यदि कोई हंसी की रीति पर भेंड़ समझे तो हमें चाहिए कि उसे सच्चे जी से गधा समझें। जब कि सभी देश के समझदार अपने पथप्रदर्शकों को अपना गणार्य मानते हैं, मसीही धर्म्मग्रंथ में कई ठौर महात्मा मसीह को गड़रिया (Shepherd) बरंच वात्सल्य भाव ईश्वर का वर्णन Lamb of God लिखा है। शेखसादी ने बोस्तां में महात्मा मुहम्मद की इसी पदवी से स्तुति की है।* तो फिर यदि हम अपने मार्ग-

---

* "दरीं बहूर जुज़ मर्दे दाईन रफ्ता गुम आशुद किं दुम्बा ले राईन रफता।" अर्थात इस (धर्म व लोक के) समुद्र में अधिकारी के अतिरिक्त और किसी को गमन

दर्शकों को अपना अजाति पालक और अपने सीधे सादे निष्कपट पूर्व पुरुषों को अग्रगामी समझ के अपनी छोटी और मोटी समझ का घमंड छोड़ के केवल उन्हीं के पीछे भोली भाली भेंड़ों के समान चले जायं तो क्या बुराई करते हैं ? दूसरों को हंसने में कुछ लगता नहीं है। न्याय दृष्टि से देखिए तो भेंड़ चाल से बचा कोई भी नहीं है। हम अपने अवतारों और देवता पितरों की मूर्तियों तथा चिन्हों का आदर करते हैं तो दूसरे लोग भी अपने प्रिय और प्रतिष्ठित पुरुषों के चित्र तथा प्रतिमाओं को लातों नहीं मारते। हम अपने बालक बालिकाओं के विवाहादि में हर्षोन्मत्त हो जाते हैं तो दूसरे लोग भी ऐसे आनंद के अवसर पर सिर पीट के रोते नहीं हैं। हम नामवरी तथा धर्म की उमङ्ग में अपने सजातियों और स्वदेशियों पर अपना रुपया लुटा देते हैं तो दूसरे लोग भी ऐसी तरंग में अपने भाइयों के कपड़े लत्ते छीन नहीं लेते। हम रोजगार व्यवहार में अधिक प्राप्ति के लिए झूठ और छल करते हैं तो दूसरे लोग भी मुंह में तुलसी और सोना डाल के कलों और कारखानों का काम नहीं करते। हम अपने से नीच जाति व प्रतिष्ठा वालों के साथ रोटी बेटी का व्यवहार नहीं रखते तो दूसरे लोग भी जिन्हें अपने से तुच्छ समझते हैं उन के साथ खाना पीना तथा ब्याह शादी करना गौरव के विरुद्ध ही समझते हैं। फिर क्यों हम में भेड़ियाधसान है और दूसरों में सिंह गमन है ? और हो भी तो अपनी चाल छोड़ देना कोई बुद्धमानी तथा प्रतिष्ठा नहीं है। जो लोग विदेशीय रीति नीति के पक्षी और भक्ष्याभक्ष्यभक्षी बन बैठे हैं उन्हीं ने कौन सी करतूत कर दिखाई है ? क्या सनातन धर्म छोड़ देने से ईश्वर ने उन्हें गोद में उठा लिया है ? या कोट पतलून पहिनने से अंग्रेजों ने उन्हें अपने बराबर बना लिया है ? फिर किस बात में वह शेर हो गए और हम भेंड़ हैं ? और हो भी जायं तो क्या है हमारी भेंड़ चाल से यदि और कुछ न हो तो भी टूटा फूटा बना बिगड़ा हिंदुस्तानी-पना बना हुआ है यही क्या थोड़ा है। उनकी बनगैली चुस्त मनमौजी चाल, निरंकुश चाल, बिना नकेल की ऊंट की चाल परमेश्वर न करे यदि पूरी रीति से चल जाय तो हिन्दी हिन्दू और हिन्द का नाम निशान भी न रहे और जिन बातों में वे सुधार होना समझते हैं उन में जातित्व एवं देशित्व का खोना वरंच अपनेपन के लिए शिर पर हाथ धर के रोना दृष्टि पड़े।

करने की शक्ति नहीं है तथा जो चरवाह (मुहम्मद साहब) का अनुगमन नहीं करता वह नष्ट हो जाता है।

अस्मात् हमें चाहिए कि यदि कोई हमारी निज की प्राचीन चाल को भेंड़ चाल कहे तो हम उस की विदेश विधर्म और विजाति वालों से उड़ाई चुराई और नकली चाल को भांड़ चाल कहें ! हां यदि कोई इस बात का पुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण दे सके कि अपनी चाल छोड़ देने से काल कर्म भाग्य और भगवान की गति सदा के लिए तुम्हारी बशवर्तिनी हो जायगी अथवा बुद्धि विद्या बल और योग्यता के बिना सदा सब ठौर के सब लोग सम्मान करने लगेंगे तो एक बात भी है। नोचेत् किसी मूर्ख का देखा देखी वा किसी चालबाज के कहने सुनने से अपनी चाल को भेंड़ चाल समझना निरी नासमझी है। जो लोग डाक्टरी दवा नहीं खाते वे बुखार आते ही मर नहीं जाते बरंच थोड़े दामों में चिरस्थायी नैरुज्य लाभ कर सकते हैं। जो लोग होटल यात्रा नहीं करते वे भूखों नहीं मरते बरंच खीर पूरी मोहनभोग का भोग लगा सकते हैं और यों ही जीभ गिरी पड़ती हो तो उत्तम से उत्तम मांस तथा केसर कस्तूरी की मदिरा बनवा सकते हैं। जो कांच के गिलास में पानी नहीं पीते वे क्या नहीं जीते ? नहीं मट्टी के कुल्हड़ का सोंधा और ठंढा बरंच फूल पीतल तथा चांदी सोने के पात्रों का जलपान कर सकते हैं। जो लोग गंधैले मट्टी के तेल का लैम्प जला के आंखों की ज्योति और मस्तिष्क शक्ति की द्योति को मट्टी में नहीं मिलाते वे अंधेरे में नहीं रहते बरंच दीपक और हांडी मिरदंगी आदि में सरसौं तथा अरंड का नेत्रप्रभाप्रसारक तेल अथवा अगर की बत्ती प्रज्वलित करके सुहावना प्रकाश लाभ कर सकते हैं। जो लोग मारकीन व गिरंट नहीं पहनते वे शीतोष्ण वायु का वेग सहन कर के ठिठुर अथवा झौंस नहीं जाते बरंच गाढ़ा और मुरशिदाबादी गर्द तथा कमख्वाब से शरीर की रक्षा एवं शोभा संपादन कर सकते हैं। जो लोग अंगरेजी नहीं पढ़ते वे जीविका से बंचित नहीं रहते बरंच नागरी और संस्कृत का अध्ययन कर के लड़के पढ़ाने वा कथा बांचने के द्वारा भली भांति पुजा सकते हैं। जो लोग नौकरी के लिए मेरी तेरी सिफारिश उठवाते और बंगलों २ की ठोकरें खाते फिरना नहीं चाहते वे हाथ की कारीगरी वा छोटा मोटा धंधा कर के निर्वाह भर को कमा सकते हैं। बरंच बाबू लोग जहां सुन पाते हैं कि जगह खाली है वहां मंहगी के से मजदूर एक के ठौर पर अनेक दौड़ पड़ते हैं किन्तु मजदूर बहुधा ढूंढ़े नहीं मिलते। कहां तक कहिए यदि अपनी चाल ढाल के काल बुद्धि के कंगाल सब के सब बिलायत जा २ के बैरिस्टर हो आवैं और पूर्णतया अपना रंग ढंग आ फैलावैं तो उन के लिए मुअक्किल न जानैं कहां से आवैं क्योंकि सारा

देश उन की समझ के अनुसार सुधर जाय और निस्संदेह उनका भित्तल्ला उधड़ जाय। योंही सब के सब सी० एस० आई० राजा नौवाब बन जायं तौ भी उन्हें नौकर मिलना मुश्किल हो जाय क्योंकि उन्नति का लक्षण ही यह है कि नाई की बरात में सब ठाकुर ही ठाकुर ! किन्तु परमेश्वर करे पुरानी चाल भले प्रकार से सब को प्यारी लगने लगे और ब्राह्मण मात्र वेद शास्त्र पुराण इतिहास नीति के पठन पाठन में प्रीति करें। क्षत्रिय मात्र विद्या और वीरता के नाम पर मरैं। वैश्य देश देशांतर में गमनागमन करके कृषि वाणिज्यादि का प्रण धरैं। शूद्र लोग बाबू बनने का चाव छोड़ सरल भाव से वर्णत्रयी की सेवा और अपनी २ जाति परम्परा के अनुसार नाना प्रकार का शिल्प संभार करके देशभाइयों के प्रयोजनीय पदार्थों का अभाव हरैं तो देख लीजिए कैसा सुख सौभाग्य सौंदर्य बरसता है। फिर कोई किस मुंह से हमारे भेड़ियाधसान की निंदा कर सकता है। भेड़ियाधसान तो जब यहां पूर्णरूप से फैला हुआ था तब किसी को कोई दुख दरिद्र था ही नहीं। जब साधारण जन समूह मात्र अपने २ पुरुषों की चाल पर पूरी रीति से चलता था तब यहां सुख संपदा का इतना अजीर्ण था कि लोग राज पाट छोड़ २ कर वनों में जा बैठते थे और ऊपरी सुखों को तुच्छ समझ के ब्रह्मानन्द परमानन्द प्रेमानन्द लाभ करने में यत्नवान होते थे। यहां के एक २ ब्राह्मण से सारा संसार शिक्षा पाने को तरसता था। एक २ क्षत्रिय से ब्रह्माण्ड थर २ कांपता था। विदेशी सम्राट कन्या दान करने में अपनी बड़ाई और बल की अधिकाई समझते थे। एक २ वैश्य के धन पर आज भी बड़े २ परदेशी जार लार टपकाते हैं। फिर हमारी भेंड़ चाल को कोई किस बुद्धि से बुरा कह सकता है। हमारी वर्तमान दुर्गति का कारण भेंड़ चाल की पूर्ण श्रद्धा का ह्रास ही है नहीं तो वास्तविक अभाव किसी सदगुण का नहीं है। आज भी हम उसी को ग्रहण करके सर्वथा सुधर सकते हैं। इस में जिस को सन्देह हो वह स्वयं परीक्षा कर देखे। पढ़ा हो तो किसी ग्रन्थ का, न पढ़ा हो तो किसी पुराने कैंड़े वाले वृद्ध का बचन प्रमाण मान के उसी के अनुसार यथासाध्य सब काम करने का वृती हो जाय। फिर देख लेगा कि भेंड़ चाल में कैसा सुख है, कैसा सुभीता है, कैसी बड़ाई है। और यों तो जिनकी मति बुरी है, प्रकृति बुरी है, संगति बुरी है उनके लिए सभी कुछ बुरी है, निजत्व बुरा है, निज धर्म बुरा है, निज देश, निज जाति, निज पूर्वज समूह बुरा है। उनके आगे भेंड़ चाल है ही क्या। यद्यपि चलते वह भी भेंड़ों ही कि भांति हैं पर उन भेंड़ों के पीछे जो पथ दर्शक की

परवा नहीं रखतीं केवल अपनी ही इच्छा से चल देती हैं। वे यदि दूसरों की चाल को भेंड़ चाल बतावें तो खैर जीभ के आगे खाई खन्दक तो हुई नहीं कि गिर पड़ेंगी, जैसा चाहें वैसा चला दें। पर वास्तव में भेंड़ चाल बुरी नहीं है, विशेषतः आर्य जाति के लिए, पर यदि चलते बने, क्योंकि हमारे मार्ग नियंता सचमुच हमारे हैं और हमें सतचित से प्यार करते हैं और बस।

खं० ८, सं० ७ (फरवरी, ह० सं० ८)

निर्णयशतक

इस देश में सदा से सब बातों का निर्णय ब्राह्मण ही करते रहे हैं। धार्मिक व्यवहारिक और सामाजिक निर्णय आज भी ब्राह्मणों ही के हाथ में है। पर राजनैतिक निर्णय जब से मुसलमानों तथा अंग्रेजों का राज्य हुआ तब से प्रत्यक्ष रूप से इन के हाथ से जाता रहा है। किन्तु बहुत सी बातों का निर्णय परम्परा द्वारा आज भी इन्हीं के हाथ में है। जब दाय भाग अथवा धर्म सम्बन्धी मान हानि (तौहीने मजहबी) आदि के झगड़े आ पड़ते हैं तब अच्छे हाकिम मिताक्षरा ही इत्यादि का अवलम्बन कर के मुकद्दिमा फैसल करते हैं और अच्छे बादशाह भी इसी रीति पर चलते थे और ऐसी न्याय पद्धति के संस्थापक याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण ही थे तथा उनके तत्व-प्रकाशक भी पंडित ही हैं और थे और हो सकते हैं। पर आज कल ब्राह्मणों ने यह झगड़े मुड़ियाना छोड़ सा दिया है वा यों कहो कि देश के अभाग्य अथवा काल कर्मादि की कुचाल से जन समुदाय ने ब्राह्मणों की यथोचित प्रतिष्ठा से मुंह मोड़ लिया है। अतः हम अपने पक्ष में उत्तम समझते हैं कि समय २ पर ऐसे विषयों का श्रुति स्मृति पुराण तथा सज्जन सम्मति के अनुकूल निर्णय प्रकाशित कर दिया करें। जिन विषयों में सनातनधर्मी कुछ का कुछ समझ के कभी २ गड़बड़ कर उठाते हैं और देशी परदेशी विपक्षीगण के आक्षेपभाजन बनते हैं। यद्यपि हमारे पूर्वजों की दया से अद्यापि हमें यह अधिकार है कि यदि कोई सम्राट् आज्ञा करे कि अमुक स्थान पर अमुक समय अमुकामुक नाम वाले इतने पुरुष एकत्र हों और अमुक कार्य सम्पादन करें तो उस आदेश में चाहे हानि के स्थान पर लाभ और कष्ट के ठौर पर आनन्द ही क्यों न हो पर सब लोग प्रसन्नतापूर्वक कदापि अंगीकार न करेंगे। बरंच "जबरदस्त का ठेंगा सिर पर" समझ कर यथासम्भव बचने का उद्योग करेंगे वा अनमनेपने से आज्ञा पालन में प्रवृत्त होंगे। किन्तु यदि हम कह दें कि अमुक दिन अमुक समय अमुक स्थल पर लोगों को इकट्ठा होना चाहिए तथा यह कुछ देना और श्रम करना चाहिए तो देख लीजिए सौ की जगह हजारों बरंच लाखों लोग आते हैं कि नहीं और काल में भी एक २ पल का ध्यान रखते हैं कि नहीं तथा दान में जी खोल के एक के ठौर सौ देते हैं कि नहीं ? किन्तु इस युग में अपना इस प्रकार

का महत्व हम तभी रक्षित रख सकेंगे जब यत्नपूर्वक आलस्य एवं उपेक्षा को छोड़ के अपने पूर्व पुरुषों के वचनों की उत्तमता अथच प्रयोजनीयता सर्वसाधारण में फैलाते रहें । हम इसी मानस से ऐसे प्रस्ताव प्रकाश करते रहना योग्य समझते हैं। यदि हमारे पंडितगण इस विषय में हमारा साथ देते रहें तो बड़ा उपकार होगा। इस शतक में कुछ भी संख्या का नियम नहीं है शत और सहस्र शब्द असंख्य के बाची हैं अस्मात् जितने अधिक निर्णीत विषय लिखे जा सकें उतना ही अच्छा है। नहीं सौ के लगभग तो हम जो सोच रक्खे हैं उन्हें धीरे २ लिखते रहने का विचार है ही आगे हरि इच्छा अथवा विद्वान मित्रों की इच्छा। जो इस प्रकार के निर्णय लिखते रहेंगे उन को हम कृतज्ञता समेत उन्हीं के नाम से प्रकाश करेंगे तथा जो सहृदय हम से यह कहते रहेंगे कि अब इस विषय का निर्णय लिखो—उन की आज्ञा भी हम धन्यवाद सहित पालन करेंगे और यह भी लिखा करेंगे कि—यह निर्णय अमुक महाशय की रुचि से लिखा है—क्योंकि ऐसी बातों की देश के लिए आवश्यकता है और ब्राह्मण नाम की शोभा है। इस से हमारे पाठकों को इस शीर्षक के लेख ध्यान दे के देखते रहना और हमारा हाथ बंटाते तथा हमें स्मरण दिलाते रहना चाहिए।

खं० ८, सं० ७ (फरवरी, ह० सं० ८)

बाल्यविवाह

वस्तुतः बुरा नहीं है। जो लोग कहते हैं कि वर कन्या की इच्छा से होना चाहिए उन्हें यह भी समझना उचित है कि पचीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री विद्या तथा बुद्धि चाहे जितनी रखती हो पर सांसारिक अनुभव में पूर्ण दक्षता नहीं प्राप्त कर सकती। बुद्ध जगत की गति देखते ही देखते आती है और उन दोनों के माता पिता कैसे ही क्यों न हों पर अनुभव-शीलता में उन से अधिक ही होते हैं क्योंकि उन्होंने दुनिया देखी है तथा अपने संतान का सच्चे जी से कल्याण चाहना प्राणीमात्र का स्वभाव है। एवं वैवाहिक बन्धन ऐसा है कि जन्मपर्यन्त उस का दृढ़ रहना ही श्रेयस्कर है। इन नियमों को दृष्टि में रख के विचार कीजिए तो जान जाइएगा अपनी संतति के भविष्यत हिताहित का ज्ञान जितना वृद्ध पिता माता को हो सकता है उतना उन के युवक लड़का लड़की को होना कठिन है। अतः वर कन्या की इच्छा की अपेक्षा उन के जनक जननी की इच्छा अधिक श्रेष्ठ है। हां, उन के अभाव में दम्पति की इच्छा का अनुसरण ठीक हो सकता है। सिद्धांत यह कि मां बाप की इच्छा से विवाह होना दूषित नहीं है बरंच वर कन्या की इच्छा से कुछ अधिक ही गौरवमान है। जो लोग ब्याह काज की धूम धाम को बुरा समझते हैं उन्हें भी समझना चाहिए कि पुत्र जन्म और विवाह के समय मनुष्य मात्र का चित्त उमगता है, उसे रोकने की शक्ति मौखिक उपदेशों को तो है नहीं। हां धीरे २ स्वभाव बदलते २ जाति स्वभाव न जाय तो बात न्यारी है। सो इस की भी सम्भावना असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य तो है ही। फिर इस विषय में कोलाहल से क्या होना है? इस के अतिरिक्त ऐसे अवसर पर जो व्यय होता है वह अपने ही जामातृ, अपनी ही पुत्रवधू, अपने ही समधी तथा अपने ही वा उनके ही, जो वस्तुतः अपने हैं, भैयाचारों, नातेदारों वा कुल पुरोहितों को दिया जाता है। अथवा अपने देश के ब्राह्मण, भांट नाट, नाई बारी, वेश्या बाजदार के घर जाता है। अथच ऐसों को देना ऐसा नहीं है कि किसी न किसी समय लौट के न आ सके। जिन्हें हम देते हैं उन्हें अपना विश्वासपात्र व्यवहारी बना लेते हैं। आज जिसे हम ने दश रुपए दिए वह कल परसों हमारी दुकान पर आवैगा और किसी सौदा कमिश कुछ न कुछ मुनाफा दे जावैगा। इस रीति से जो कुछ हम ने दिया

है उस से अधिक फेर पावैंगे। अथवा यह नहीं तौ भी जिन्हें हम समय २ पर देते लेते रहते हैं वह गाढ़े समय में कहां तक हमारे काम न आवैंगे। अपने देश जात्यादि वालों के सच्चे हितैषी जैसे बहुत थोड़े होते हैं वैसे ही ऐसे तुच्छ प्रकृति वाले भी बहुत ही थोड़े होते हैं जिन्हें अपने सजातीय सदेशीय सहवर्ती की पीर कसक तनिक भी नहीं। फिर बतलाइए तो ब्याह शादी में जी खोल कर खर्च करना क्या बुरा है? रुपया कहीं विदेश तो जाता ही नहीं कि फिर कभी पलट के न आवै। हां, सामर्थ्य से बहुत ही बाहर घरफूंक तमाशा देखना अच्छा नहीं है। सो ऐसा कोई समझदार करता भी नहीं है। जिसे सुभीता न होगा अथवा आज एक राह से लुटा के कल दूसरी राह से कमा लेने की आशा न होगी वह उठावैहीगा क्या? इस से बित्त भर खर्च करना भी कोई पाप नहीं है। अब जिन लोगों के मत में लड़कपन का विवाह बलवीर्य का नाशक है और इसी तरंग में वे शीघ्र बोधकारक श्री काशीनाथ भट्टाचार्य को बुरा भला बका करते हैं उन्हें देखना चाहिए कि उक्त ग्रन्थ उक्त विद्वान की निज कृति नहीं है, उन्होंने संग्रह मात्र किया है और पहिले ही कह दिया है कि 'क्रियते काशिनाथेनशीघ्रबोधाय संग्रहः' अथच 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादि बाल्यविवाह विषयक कतिपय श्लोक कई एक स्मृतियों के हैं फिर उनके लिए काशिनाथ को कुछ कहना "मारूं घुटना फूटै आंख" का उदाहरण बनाना है। यदि दोष हो तो स्मृतिकारकों का है। सो भी नहीं हैं, क्यों कि उन्हों ने जहां कन्या की विवाह योग्य अवस्था आठ, नौ वा दश वर्ष की ठहराई है वहीं "कन्यायाः द्विगुणोवरः" भी लिख रक्खा है और बधू का पति के घर जाना भी सात पांच अथवा तीन वर्ष के उपरान्त नियत किया है। इस लेख से शास्त्र के अनुसार जिस कन्या का ब्याह आठवीं वर्ष होगा उस का गौना सात वर्ष में होना चाहिए। तब तक वह आठ और सात पन्द्रह वर्ष की हो जायगी और उस का पति जो ब्याह के समय सोलह वर्ष का था इस समय सोलह सात तेईस वर्ष का हो जायगा। यों ही नौ वर्ष वाली कन्या पांच सात वर्ष के उपरान्त चौदह सोलह वर्ष की होगी तथा उस का स्वामी तेईस पचीस वर्ष का एवं दश वर्ष वाली तेरह पन्द्रह वा सत्रह वर्ष की अथच उस का भर्तार तेईस, पचीस, सत्ताईस वर्ष का हो रहेगा। यदि किसी के माता पिता मोहवशतः गौने का ठीक समय न सह सकें तो वह बहुत ही शीघ्रता के मारे आठ वर्ष की कन्या सोलह वर्ष के बर को दान करेंगे और उसे पति के यहां तीसरे वर्ष भेजेंगे तब लड़की की बयस ८+३=११ वर्ष की और उसके पति की १६+३=१६ वर्ष की होगी। बस

के लिए रैने के विधि है जो गौने के एक वर्ष पीछे होता है। तब भी बारह वर्ष की कन्या और बीस वर्ष का बर हो जायगा तथा यह बारह और बीस एवं उपर्युक्त अवस्थाएं सहवास के लिए न वैद्यक के मत से दूषणीय हैं न डाक्टरी सिद्धांत से निंदनीय हैं न सर्कार की आज्ञा से दंडनीय हैं। और इस मूल पर यह तो बाल्य विवाह के द्वेषी महाशय भी मानेंहीगे कि यदि शारीरिक, मानसिक वा सामाजिक बाधा उत्पन्न होती हैं तो छोटी आयु के समागम से होती हैं न कि विवाह मात्र से। सो उस (स्वल्पायु सहवास) की शास्त्र में कहीं आज्ञा ही नहीं है, केवल कन्यादान के लिए अनुशासन है। उस से और सहवास से वर्षों का अंतर पड़ जाता है। फिर बतलाइए शास्त्रानुमोदित बाल्य विवाह दूषित है अथवा हमारी वैवाहिक रीति से निंदकों की बुद्धि कलुषित है और उन मूर्खों की समझ धिक्कार के योग्य है जो आर्यसंतान कहला कर शास्त्र के आज्ञापालक बन कर करते अपने मन का हैं किन्तु नाम शास्त्र का बदनाम करते हैं। उस की एक आज्ञा जो अपने अनुकूल ही मानते हैं और दूसरी आज्ञाएं जो धर्म्मशास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के अनुकूल किन्तु उन की दुर्मति के प्रतिकूल हों उन्हें उल्लंघन करते हैं। हमारी समझ में, बरंच प्रत्येक समझ वाले की समझ में, तो न शास्त्र में दोष लगाना चाहिए न काशिनाथ महोदय को अवाच्य शब्द कहना चाहिए। केवल उन्हीं के ऊपर थूकना चाहिए जो शास्त्र का नाम ले के अपने पागलपन से काम लेते हैं और तद्वारा अपनी संतति का जन्म नशाते हैं तथा देश परदेश में अपने साथ २ अपने शास्त्रकारों की भी हंसी कराते हैं। सिद्धांत यह कि यदि शास्त्र की तद्विषयिकीय आज्ञा का ठीक २ अनुगमन किया जाय तो बाल्य-विवाह में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

खं० ८, सं० ८ (मार्च, ह० सं० ८)

छल (१)

पुराने लोगों ने इस गुण को बुरा बतलाया है पर विचार कर देखिए तो जब कि लकार वर्णमाला भर का अमृत है, जिस शब्द में यह आता है उसे ललित लावन्यमय प्रलोभनपूर्ण बना देता है, संस्कृत में जयदेवजी का गीतगोविन्द सब से सलोना समझा जाता है, क्यों? जहां बहुत से कारण हैं वहां एक यह भी है कि उस में यह अक्षर बहुतायत के साथ लगाया गया है—'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' इत्यादि, यों ही भाषा कविता में भी,—'लामे लकुचन लगि लमकि लुनाई लिए लतिका लवंगनि की लहकि लहकि उठे' इत्यादि पद बहुत ही सुहावने समझे जाते हैं। यही नहीं अंग्रेजी में लव Love, लेडी Lady, लैड Lad, फारसी में लबे लाली लही लअब गुले लाला इत्यादि शब्द जीवित प्रमाण देते हैं कि यह अक्षर मनोहारिता का मूल है, तो फिर जिस शब्द में एक के स्थान पर छः लकार हो वुह त्याज्य वा अग्राह्य क्योंकर हो सकता है? अग्राह्य कहने वाले बनवासी उदासी मुनि लोग थे। उनकी दृष्टि में सारा संसार ही बरंच स्वर्ग सुख भी तुच्छ था। इसी से सभी मजेदार बातों को त्यागने योग्य समझ बैठते थे और उनकी सब महाराजा लोग प्रतिष्ठा करते थे अतः उनके बचन अथवा लेख पर आक्षेप करने में कोई साहसमान न होता था। इसी से जो चाहा लिख दिया, नहीं तो सुरापान, सुन्दरी समागम, द्यूतक्रीडा, मांसभोजन जितनी बातें उन्होंने निषिद्ध ठहराई हैं सब की सब प्रत्यक्ष और तत्क्षण आनन्द देने वाली हैं। यहां तक कि जिन्हें इनका स्वादु पड़ जाता है वे न लोकनिंदा को डरते हैं न धन हानि की चिंता करते हैं न राजदंड को भटकते हैं न परलोक भय से अटकते हैं। अस्मात् इनके स्वादिष्ट होने के लिए प्रमाण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है। जिस अनुभवी से पूछोगे कह देगा कि "गरचे एक तरह की बला है इश्क। तौ भी देता अजब मजा है इश्क।" यदि कोई शास्त्रार्थ का अभिमानी यह सिद्ध कर दे कि इन कामों का परिणाम अच्छा नहीं है तो भी हम पूछेंगे परिणाम का क्या ठिकाना। वह तो सभी बातों का यों ही हुवा करता है। ईश्वरभक्ति, देशभक्ति और सद्गुणभक्ति का परिणाम यह है कि मनुष्य घर बाहर के काम का न रह के दिन रात अपनी कल्पित आशा ही में रक्त सुखाया करता है, वीरता का परिणाम यह है कि आठों पहर मृत्यु का

सामना बना रहता है, फिर परिणाम का सोच क्यों ? भगवान वाल्मीकि कही गए हैं कि 'नाशान्ता संचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तन्तु जीवितम् ।' इसी भांति के परिणाम सोचने ही वाले तो घर बार, जाति परिवार सम्बन्धी सुख सम्पत्ति छोड़ २ बन में जा बैठते हैं और षटरस भोजन छोड़ २ सूखे पत्तों से पेट भरते हैं । ऐसों की बातें मानना उनके पक्ष में क्योंकर हितकर हो सकता है जो संसार में रह कर अपना तथा अपने लोगों का जीवन आनंद में बिताया चाहते हों । ऐसों को तो सब के उपदेश छोड़ के हमारी ही शिक्षा माननी चाहिए अथवा स्वयं विचार करना उचित है कि छल कोई बुरी बात नहीं है । क्योंकि उस का लक्षण यह है कि अपने आन्तरिक भाव को पूर्ण रूप से छिपाना, दूसरे की दृष्टि में कुछ का कुछ बतलाना और येन केन प्रकारेण अपना काम बना लेना, दूसरा चाहे भट्ठी में जाय चाहे भाड़ में । सच पूछो तो यह काम ऐसे वैसों से हो भी नहीं सकता, उन्हीं से हो सकता है जो चतुरता, व्यवहारकुशलता, अनुभवशीलता और कार्यदक्षता में पूरे पक्के हों । फिर भला ऐसे बुद्धिमानों के करने योग्य काम को बुरा समझना कौन सी समझदारी है । यदि मुनियों ने छल कपट को वर्जित किया है तो अवतारों ने उसे आश्रय दिया है और यह मानने में किसी आस्तिक को भी आपत्ति न होगी कि ऋषियों की अपेक्षा अवतार श्रेष्ठतर होते हैं । सो अवतारों का नाम ही मायावपुधारी होता है, जिस का पर्य्याय 'छल का पुतला' है । अर्थात् हैं वास्तव में निराकार निर्विकार पर जगत के दिखाने को और अपने भक्तों को सुखित करने तथा अपनी सृष्टि के दुखदायकों के भार मिटाने को कभी मछली बन जाते हैं, कभी कछुआ के रूप में दृष्टि आते हैं, कभी बराह रूप की राह से जगदुद्धार का काम चलाते हैं, यहां तक कि सर्वोपरि षोडस कला विशिष्ट पूर्णावतार में छहों ऋतु बारहों मास श्री गोपीजन के साथ छल ही करने में समय बिताते हैं और 'छल के रूप कपट की मूरति मिथ्या बाद जहाज । आउ मेरे झूठन के सिरताज !' कहलाने ही में मगन रहते हैं । अब बिचारने का स्थल है कि जिसे ऐसे परम पुरुषोत्तम आदर दें उस का निरादर करना कादरपन है कि नहीं ? यदि इन बातों को पुराने अनसिविलाइज्ड हिन्दुओं की कहानियां समझिए तो कोई प्रामाणिक इतिहास के प्रमाण से बतला दीजिए कि किस देश के, किस जाति के बड़े बड़ों ने इस का अवलम्बन नहीं किया । बड़े २ राज्य बहुधा इसी के प्रभाव से स्थापित हुए हैं फिर इसे बुरा समझना कहां की भलाई है ? सच पूछो तो निर्बलों का बल यही है । जहां बल से काम न चले वहां इस के द्वारा सौ

विश्वा चली जाता है। बलवानों को भी इस का आश्रय लेने से अपना पूर्ण बल नहीं व्यय करना पड़ता। इसी से नीति शास्त्र के आचार्यों ने इसे राजकीय कर्तव्य में सर्वोपरि माना है। जब विपक्षी प्रबल हो और साम अर्थात् मित्रता और दान अर्थात् धन तथा दंड अर्थात् मारधाड़ से वश में न आवै तब भेद अर्थात् उस के गृह कुटुम्ब इष्ट मित्रादि में तोड़ फोड़, जोड़ तोड़ लगाने अथवा छल का पूर्ण प्रयोग करने से कार्य सिद्धि की सम्भावना हो जाती है। फिर हम तुम ऐसे छोटे मोटे गृहस्थों के पक्ष में छल की निन्दा करना मानों अपने तईं प्राचीन एवं अर्वाचीन सम्राटों बरंच ईश्वरावतारों से श्रेष्ठ समझना है। यों तर्कशास्त्र में बड़ी सामर्थ्य है, अच्छी से अच्छी वस्तु को बुरा और बुरे से बुरे पदार्थ को अच्छा सिद्ध कर देने में व्यय केवल बातों ही का और श्रम अकेली जीभ ही को होता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्यक्ष बाद का विचार रख के विचारिए तो अवगत हो जायगा कि छल में यदि केवल इतनी बुराई है कि धर्मशास्त्र की अवज्ञा होती है तो भलाई भी प्रत्यक्ष तथा इतनी है कि इसके द्वारा निर्धन दूसरों के धन का, निर्बल दूसरों के बल का, अविद्य दूसरों की विद्या का, अप्रतिष्ठित दूसरों की प्रतिष्ठा का भोग कर सकते हैं। यदि इतने पर भी कोई हठी इसका अवलम्बन करने वालों को बुरा ही समझे तो उसकी मूर्खता है। क्योंकि एक तो संसार के किसी गुण वा किसी वस्तु के परमाणु का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता, सब बातें और सभी चीजें किसी न किसी दशा में सदा ही से चली आती हैं और सदा ही चली जायंगी। इस न्याय से छल भी सदा ही से होता आया है औ होता रहेगा और जो बात अपने दूर किए दूर न हो सके उसे दुर दुर करना अदूरदर्शिता है। दूसरे यदि छल करना बुरा है तो दूसरों के छल में फंस जाना भी बज्र मूर्खता है। एवं इस कलंक से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि छल के तत्व को इतना समझता हो कि उसकी आंच अपने ऊपर किसी प्रकार न आने दे। इस रीति से भी छल का सीखना एक आवश्यक कर्तव्य है। नहीं तो यदि हम छली कहलाने से बचे भी रहेंगे तो प्रत्येक छली के छल में आ जाने वाले निरे मूर्ख कहलाने से नहीं बच सकते। अस्मात् छल का सीखना अवश्य है चाहे दूसरों के साथ करने को चाहे दूसरों के हाथ से बचने को! हां सीखने बैठे तो थोड़ा सीखना और करने बैठे तो थोड़ा करना वाहियात है क्योंकि खुल जाने पर बना बनाया खेल बिगड़ जाता है। इससे इसका अभ्यास इतना कर्तव्य है कि कभी चूक कर 'उघरे अन्त न होय निबाहू, कालनेमि जिमि रावन राहू' का उदाहरण न बनना पड़े। और अत्यन्त नैकट्य वालों के

साथ भी इसका आचारण पाप है। क्योंकि यह बड़ी भारी चतुरता और बड़े भारी अनुभव से प्राप्त होता है एवं बड़े ही भारी काम आता है अतः छोटे ठौर पर इसका काम मे लाना इस की बिडम्बना करना है और इतने भारी महान गुण की बिडम्बना कर के अपनी बिडम्बना कराने से बचना असम्भव है। जो लोग अपने कहलाते हैं, जो अपना आश्रय किए बैठे हैं, जो अपने बिश्वास पर हैं उनके साथ छल किया तौ तो मानो अपने तीक्ष्ण एवं सुचालित शस्त्र को अपने ही ऊपर चला लिया। यों ही छोटी २ बातों में छोटे २ अभावों की पूर्ति के अर्थ वा छोटी २ वस्तुओं की आशा पर इसका काम में लाना भी व्यर्थ है। क्योंकि जो बात बहुधा की जाती है वह प्रगट हुए बिना नहीं रहती और इसका प्रगट होना दुःख, दुर्नाम, दुर्दशा की जड़ है। अतः बड़े से बड़े अवसरों पर दूर से दूर वालों के साथ बर्ताव में लाने के निमित्त इसका संचय कर रखना परम पांडित्य है। यह एक ऐसा अनोखा शास्त्र है जो देखने में गुलाब के फूल की भांति सुन्दर और कोमल जान पड़ता है पर काम में लाने के समय बड़ी २ और बहुत सी तोपों को तुच्छ कर देता है। और इसकी प्राप्ति का उपाय यह कि इसके संचालक मात्र से मेल जोल रक्खे हुए उनके प्रत्येक रंग ढंग देखता रहे। बस इस रीति से इसे अपने हाथ कर लेने में अष्ट प्रहर संलग्न रहिए और चलाने के समय इतना ध्यान रखिए कि शतघ्नी के द्वारा मच्छर मारना शोभा नहीं देता तथा यदि चलाने को जी न चाहे तो दूसरों की चोट से रक्षा पाना भी अति ही श्रेयस्कर है। फिर हम क्योंकर मान लें कि छल बुरा है। यदि किसी बड़े ही विद्या बुद्धि बिशारद के मुलाहिजे से मानना ही पड़े तो इतना ही मानेंगे कि कच्चों के लिए बुरा है, वास्तव में नहीं। और मान ही लें कि बुरा है तथापि अच्छी रीति से व्यवहृत करने पर संखिया भी अनेक रोग हरती है और शरीर के पक्ष में अमृत का काम करती है कि नहीं? यों ही सब वस्तुओं और सब बातों को भी समझ लीजिए। जैसे प्रत्येक भले से भले कार्य व पदार्थ में कुछ न कुछ बुरा अंश और बुरे से बुरे में भला अंश होता है वैसे ही इस में भी उन्नति और रक्षा का भला भाग अधिकतर है। जिसे प्रतीति न आवै वुह आप खोल देखै फिर देखैं कैसे कहता है कि छल में बुराई ही बुराई है।

खं० ८, सं० ८ (मार्च, ह० सं० ८)

एक सलाह (२)

भारत के सार्वदेशिक महत्व का मूल कारण सदा से ब्राह्मण वंश है और यह देश जब सुधरेगा तब इसी के सुधारे सुधरेगा। उन्नत्याभिलाषियों के पक्ष में अन्यान्य उपायों की अपेक्षा यह उपाय अधिकतर शीघ्र एवं पुष्ट फलदायक है कि ब्राह्मण कुल का साहस बढ़ाया जाय। हमारे इस कथन में हम जानते हैं कि थोड़े से उन लोगों के अतिरिक्त, जिनके दिमाग में विलायती हवा पूर्णरूप से समा गई है, और किसी सहृदय विचारशील को विरोध न होगा। सतयुग त्रेतादि के महर्षियों का परम पवित्र चरित्र तो बड़ी बात है, आज के गिरे दिनों में भी आर्यत्व को आश्रय देने वाले अधिकतः यही महात्मा हैं। राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सदनुष्ठानों में देखिए तो इन्हीं की संख्या अधिक देख पड़ेगी। उत्तमोत्तम पत्र बहुत कर के इन्हीं के द्वारा संचालित हैं तथा वेद शास्त्र पुराणादि का संरक्षण जितना कुछ हो रहा है वह इन्हीं के आश्रय में हो रहा है। फिर क्यों न कहिए कि आज भी सबसे अधिक प्रतिष्ठापात्र यही हैं। जो लोग इनकी निंदा करके महिमा घटाने का मानस रखते हैं उनकी चेष्टा निरी व्यर्थ है। यदि ब्राह्मण कुछ नहीं करते तो दूसरी ही जातियों ने कौन करतूत कर दिखाई है? फिर क्यों न इनका उचित आदर करके इन्हें प्रोत्साहित किया जाय? सच पूछो तो यही एक देशोन्नति के लिए बड़ा भारी कर्तव्य है और इसी विचार से अनेक सज्जनों ने ब्राह्मण हितैषिणी सभा, ब्रह्म वंश महोत्सवादि की नींव डाल दी है तथा ब्राह्मण कान्फरेंस इत्यादि का स्थापन करने में दत्तचित्त हो रहे हैं। पर यह बड़ी २ बातें जैसे बड़े २ कामों की सिद्धि का मूल है वैसे ही बड़े व्यय और बड़े ही श्रम के द्वारा साध्य हैं अथच बड़े अनुष्ठानों में विलम्ब देख कर छोटे २ कर्तव्य न करते रहना नीति विरुद्ध है। एतदनुसार हमारी सम्मति में जब तक बड़े २ उपायों के लिए दौड़ धूप, सोच विचार हो रहे हैं तब तक इतना तो करी उठाना चाहिए कि ब्राह्मण लोग आपस में तथा अन्य ब्रह्मभक्तगण ब्राह्मणों को जब पत्रादि लिखा करें तो केवल 'पंडित' अथवा 'महाराज' तथा 'जी' वा 'महाशय' ही आदि न लिख के विद्वानों, सच्चरित्रों औ प्रतिष्ठित पुरुषों को 'श्रीमन्महर्षिकुमार' अथवा 'आर्य्यमान्य' इत्यादि ऐसे विशेषण अवश्य लिखा

करें जिन से उन्हें आत्मगौरव का स्मरण समय २ पर होता रहे। ऐसा करने से वे विशेष रूप से प्रीत तो होहींगे ऊपर से सम्भव है कि सदाचार में अधिक उत्साहित तथा अयुक्त कार्यों को प्रकट रीति से करते समय लज्जित भी होते रहेंगे। क्योंकि नाम का ख्याल रखना भारत के जलवायु का स्वाभाविक गुण है और यह गुण अभी देशानुकूल बना भी हुआ है। क्षत्रिय पूर्वजों ने इसी मनसा से नाम के अंत में सिंह शब्द रखने तथा स्वजाति मात्र को राजपुत्र वा महाराजकुमार कहने लिखने की प्रथा चलाई थी और एतद्वारा सहस्त्र दो सहस्त्र वर्ष अवश्य जाति मात्र को जातीय कर्तव्य का विचार रहा होगा। किन्तु अब यह चाल पुरानी हो गई इससे उतना प्रभाव नहीं रहा। नहीं तो आज बच्चा सिंह, पुहुप सिंह, भग्गू सिंह आदि नाम न रक्खे जाते। परंतु हम जो रीति बतलाते हैं वह यद्यपि निर्मूल नहीं है, ब्राह्मण मात्र किसी न किसी जगन्मान्य महर्षि का बंश हैं, यद्यपि समय के प्रभाव से अपने को भूल सा गए हैं, यथापि इस नवीन प्रथा के द्वारा आशा है कि वे वर्तमान भूल में पड़े रहना पसन्द न करेंगे। जो बात नई निकलती है और लोगों को प्रिय जंचती है वह कुछ काल तक अवश्यमेव अपना प्रभाव जमाये रहती है। इस न्याय से यह चाल ब्राह्मणों को प्रोत्साहित करने के लिए हमारी समझ में उत्तम है और जहां यह प्रसन्न हो के कुछ सजग हुए वहां क्षत्रिय वैश्यादि को जगाये बिना इनका जी आप ही न मानेगा और यही देश के सुधार की पहिली सीढ़ी है। क्या हमारे मित्रगण भी हमें योगदान करेंगे? कोई परिश्रम नहीं है, धन का काम नहीं है, झूठ नहीं है, खुशामद नहीं है, फिर क्या हानि है यदि ब्राह्मणों को पत्र लिखते समय 'श्रीमन्महर्षि कुमार' अथवा और कोई ऐसे ही शब्द काम में लाया करें? अभी बहुत दिन नहीं हुए कि चिट्ठियों भर में गंगाजल निर्मल, पवनपवित्र इत्यादि विशेषण लिखे जाते थे पर अब वह चाल जाती रही। अंगरेजीपन ने सब काटकूट के केवल 'पंडित', सो भी अकेली पं०, Pandit, Pt. रहने दी है। यद्यपि यह शब्द भी साधारण नहीं है किन्तु समझने का श्रम करने वाले थोड़े हैं। बहुतेरे इसके साथ ही आठ २ आने पर दुर्गापाठ करने वालों अथवा अक्षरारंभ के स्थान पर बिसमिल्लाह का सबक लेने वालों की ओर मन ले जाते हैं। इससे अब कुछ अधिक विशेषणों की आवश्यकता है और यदि हमारे सहवर्तीगण भी रुचिकर समझें तो 'महर्षिकुमार,' 'आर्यमान्य', 'पूज्यवर' इत्यादि बिशेषण उत्तम हैं। हां, जिन का मन बचन कर्म खुल्लमखुल्ला इस योग्य न

जंचे उन्हें कुछ काल तक न लिखिए। पर इसमें संदेह नहीं है कि इस जाति में ऐसे कुलकलंक बहुत न मिलेंगे। अतः जिन में किसी प्रकार की श्रेष्ठता हो उन्हें स्तुति के द्वारा संप्रीत कर के कर्तव्य में संलग्न रखना और उन के निंदकों का साहस न बढ़ने देना बड़ी भारी दूरदर्शिता है।

खं० ८, सं० ८ (मार्च, ह० सं० ८)

प्रतिमा पूजन के द्वेषी देशहितैषी क्यों बनते हैं ?

यदि वे मौखिक शास्त्रार्थ में परम दक्ष बनना चाहें तो अयुक्त नहीं है। क्योंकि यह पदवी थोड़ा सा पढ़ लिख कर बुद्धि संचालन मात्र के अभ्यास से सब को मिल जा सकती है। यदि महाधुरंधर पंडित बनना चाहें तौ भी परिश्रम करते २ अथवा जगत की रीति देखते २ हो जाना असंभव नहीं है। साक्षात ब्रह्म बनना चाहें तौ भी चाहे बन जायं क्योंकि वह एक मान लेने की बात है जिस का अधिकार सभी मन वालों को स्वतः प्राप्त है। पर हितैषिता से और इन बातों से क्या संबंध। हित तौ एक अनिर्वचनीय मनोवृत्ति है। वह हृदय में आती है तब आंधी की भांति चारों ओर के विघ्नों को उड़ाती हुई और चारों ओर अपना असर फैलाती हुई, कार्य कारणादि के झगड़े मिटाती हुई आ जाती है। उसके अस्तित्व का प्रमाण अनुभव है। सामने प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहता है और बातों के आगे अपना प्रभाव दिखाने या न दिखाने की परवाही नहीं रखता। इस सिद्धांत का जिन सहृदयों को थोड़ा सा भी ज्ञान है वे विचार सकते हैं कि जहां पर हितैषिता का तनिक भी संचार होगा वहां से द्वेषिता का नाम निशान भी कोसों दूर रहेगा। हम जिस का सच्चे जी से हित चाहते हैं उसे रुष्ट करने की सपने में भी इच्छा तक न कर सकेंगे। इस स्वयंसिद्ध परिभाषा को सामने रख कर सोचिए तो आप का अंतःकरण आप ही गवाही देगा कि जिस बात को एक देश सहस्रों वर्ष से, सहस्र भांति, श्रद्धापूर्वक अपने जीवन का सर्वस्व, नहीं नहीं जीवितेश्वर के मिलने का सर्वोत्तम, सीधा और सच्चा उपाय मान रहा है, उसी का विरोध करके जो अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देता है वह हितैषी कदापि नहीं कहा जा सकता। चिढ़ाने वाला कभी हित चाहने वाला हो सकता है ? हम जिसे चाहेंगे उस के नाम रूप गुण स्वभाव मित्र सेवक बरंच पालित पशु पक्षी तक को देख के हर्षित होंगे। इस बात को ईश्वर के अथवा संसार की किसी वस्तु को चाहने वाले ही जानते हैं, मुंह के बक्की बिचारे क्या जानेंगे, और न जानें सोई उन के लिए अच्छा है। इस रीति से राम कृष्णादि की प्रतिष्ठित मूर्तियों का तो कहना ही क्या है, हमें भगवती का नाम स्मरण कराने वाली चौराहे की ईंट को भी चाहना चाहिए और निष्कपटता के साथ ऐसा करने वाले रुक्ष, नीरस केवल मुख, मस्तिष्क

और कलहप्रसारिणी बुद्धि से संबद्ध तर्कशास्त्र की रीति से चाहे जैसे अल्पज्ञ वा सदसद्विवेचनाशून्य सिद्ध कर दिए जा सकें किंतु प्रेमस्वरूप परमात्मा तथा उस के सरस, सुस्वाद, हृदयग्राही, अमृतमय, प्रत्यक्ष मूकास्वाद नवानंद-प्रद प्रेमशास्त्र की दृष्टि में अवश्यमेव .कोमल चित्त और आर्द्र प्रकृति ही जंचेंगे। पर मूर्तिपूजा के द्वेषी उन्हें ऐसा न समझ के उन पर जड़बुद्धी इत्यादि मिथ्यावाद आरोपित करने में चेष्टावान रहते हैं। फिर भला जो कोई जिस पर झूठा बे सिर पैर का कलंक लगाया चाहे वह उसका हितैषी किस न्याय से कहा जा सकता है ? और सुनिए, आप तो अपने समूह के अग्रगामी जी का छः पैसे का फोटो तथा सड़ी सी चौपतिया तक अनादर की दृष्टि से देखना नापसंद करें पर हम से कहें कि तुम्हारे लाखों रुपए की लागत के मंदिरों में बिराजित, वेदमंत्र द्वारा पूजित देव प्रतिमा तथा एक से एक मधुर कोमलकांतपदावलीपूर्ण सहस्त्रावधि विद्वानों के वर्षों के परिश्रम से निर्गत धर्मग्रंथ मिथ्या हैं, त्याज्य हैं, पोपों का जाल हैं। छिः ! ऐसे पक्षपात के पुतलों और आत्मप्रशंसकों को हम अपने हितैषी समझ लें ऐसे हमारी समझ पर कहां के पत्थर पड़े हैं ? यदि इन सूक्ष्म बातों तक बुद्धि न दौड़ती हो तो एक मोटा उदाहरण सुन लीजिए। इन दिनों देश में चारों ओर निर्धनता छाई हुई है। न कोई शिल्पकारों को पूछता है न क्रयविक्रयोप-जीवियों को। ऐसी दशा में अपने दीनताग्रस्त भाइयों को कुछ सहारा पहुंचाना उन का हितान्वेषण है अथवा उन की रोटियों का हरण करने में सोद्योग रहना ? यदि दूसरी बात सत्य हो तौ तो प्रतिमाद्वेषी सचमुच भारत-हितैषी हैं पर यदि पहिली बात ठीक है तो जब हम एक छोटी सी शिवलिया बनाने का मानस करते हैं उसी दिन से कम से कम दो एक राज, दो चार मजदूर, जलवाहक, ईंटवाले, चूनावाले, रंगसाज, संगतराश, माली, ब्राह्मण, हलवाई, दरजी, ठठेरे इत्यादि कई भाइयों को बरसों नहीं तो महीनों तक अवश्य सहारा मिलना आरंभ हो जाता है। फिर क्यों न मानिएगा कि इस रीति से देशभक्ति का मार्ग खुलता है जिसे मूर्तिविरोधी रोकने में लगे हैं। बरंच उन की दृष्टि में यही देशहितैषिता है कि इस बहाने भी देशबंधु-गण का निर्वाह न होने पावै। यदि यही देशवत्सलता है तो धन्य है, शाबास है, बलीहारी है समझ के अजीर्ण को !

खं० ८, सं० ८ (मार्च, ह० सं० ८)

समझ की बलिहारी

गत संख्या में हमने जो आर्य्यावर्त्तजी के पक्षपातपूर्ण लेख का उत्तर दिया था उसका उत्तर देने में आप ने समझदारी का भंडार खोल दिया है! वाह! भला समझ हो तो इतनी तो हो कि दूसरा क्या कहता है और हम क्या कहते हैं? 'ब्राह्मण' में केवल देखी हुई वह बातें लिखी गई थीं जिनकी साक्षी देने को सहस्रों विद्वान् और प्रतिष्ठित ब्राह्मण क्षत्रिय विद्यमान हैं। पर ईर्षा और पक्षपात के बस सहयोगी महाशय कुछ का कुछ विदित किया चाहते थे। हां, उसी के अन्तर्गत कुछ आर्यसमाज की करतूत भी दिखलाई गई थी जिसका खंडन करना और सच्ची घटना का मान लेना प्रत्येक समाजी का कर्तव्य था और है; किन्तु यह न करके आपने "कहौ खेत की सुनै खलियान की" वाली कहावत का उदाहरण दिखाया है और इसी बुद्धिमानी पर "सूर्य" बनने का मानस किया है। इसी से कहते हैं समझ की बलिहारी है! आप लिखते हैं—'हम नहीं जानते इस पत्र का नाम 'ब्राह्मण' किस अभिप्राय से रक्खा गया है। आठ वर्ष में एक बच्चा भी जान सकता था पर खेद है आप की जानकारी पर कि इतने दिनों में इतना भी न जाना! खैर, अब जान रखिए कि इसका सम्पादक 'ब्राह्मण है और उसका कविता सम्बन्धी नाम (तखल्लुस) भी यही (बरहमन) है, इससे नाम रखते समय व्यर्थ का सोच विचार न करके इसी नाम से काम लेना उचित समझा गया था। जो लोग ऊटपटांग लम्बा चौड़ा शेखी से भरा हुआ नाम बहुत सोच साच के रख लेते हैं पर कार्यवाही कुछ भी नहीं दिखा सकते उनका ढंग इस पत्र के सम्पादक को नापसंद है। हम यदि अपने पत्र का नाम आर्यावर्त या देशहितैषी इत्यादि रखते तो कभी एक सम्प्रदाय का पक्ष न लेते बरंच समस्त देश के सच्चे हक पर ध्यान रखते। और सुनिए, हिन्दू जाति का समयानुकूल शुभचिंतन सदा से इसी नाम पर निर्भर रहा है। फिर जिस पत्र का यही एक मात्र उद्देश्य हो उसके लिए इसके अतिरिक्त और कौन नाम युक्तियुक्त हो सकता था? हां इस नाम के साथ बेद और तदनुकूल ग्रन्थों का भी अवश्य सम्बन्ध है। पर इस सम्बन्ध से यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि केवल मुख से वेद २ चिल्लाना पर तदनुकूल उपदेश के समय 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' का आश्रय लिया जाय। जो लोग बेद का तत्व जानते हैं वह हमारे मूल मंत्र 'प्रेम एव परोधर्म्मः' को कदापि बेद के बिपरीत नहीं कह सकते। क्योंकि प्रेम

के बिना वेद ही नहीं, परमेश्वर तक की महिमा नहीं स्थिर रह सकती। पर उन समझदारों के लिए हमारे पास कोई औषधि नहीं है जो केवल दयानन्दी भाष्य ही को वेद समझ बैठे हैं। इसी प्रकार जिनके शिर में खसखस के दाने भर भी समझ होगी वे उपर्युक्त नामगुणविशिष्ट ब्राह्मण नामक पुरुष को नकली नहीं कह सकते। कहना कैसा, ऐसा विचार करना भी आर्यबंशज की समझ में महापाप है। पर जिनका शरीर ब्राह्मण जाति के माता पिता से नहीं उत्पन्न हुआ और इसी स्वाभाविक गुण के अनुसार अपने बाप दादों तथा सजातियों की ममता का लेश नहीं है प्रत्युत् "ब्राह्मण" शब्द ही जिन की समझ में पोप का पर्याय है, ब्राह्मण जाति की रीति नीति एवं सदाचार सद्ग्रन्थादि मात्र जिनकी समझ में दोषास्पद जंचते हैं, वे नकली ब्राह्मण बनें तो कलिकाल में बन सकते हैं। किंतु हमारी समझ में तो उन्हें इस नाम ही से क्या काम है जो पवित्र ब्रह्मकुल को अपने कर्तव्यों से नकलीपन का कलंक लगा रहे हैं। नकली होते हैं बिजातीय नये मतों के मानने वाले न कि ब्राह्मण जिनका जातीय धर्म एवं गौरव सदा से चला आया है और असंख्य विघ्नों को कुचलता हुआ सदा तक चला ही जायगा। भैया रे, बांकीपुर वाले 'ब्राह्मण' के उपदेश समझने को समझ चाहिए, नहीं तो आज पुराण हैं तो कल वेद तक सभी जटल काफिए जंचने लगेंगे। क्योंकि इस 'ब्राह्मण' का मूलमंत्र ही जिन्हें नहीं रुचता उनसे यह आशा कौन कर सकता है कि अपने देश जाति की कोई भी बात श्रद्धेय रहेगी। आप ने जो 'कलौविप्रा भविष्यंति' श्लोक लिखा है उससे पुराणों की भविष्यत् वाणी प्रति पद प्रत्यक्ष है, जिसे आपकी लेखनी भी झख मार के लिख ही गई है कि 'मिथ्या क्योंकर कर सकते हैं', पर कृपा करके इतनी बात और खोल देते कि 'पाखंड निरता सर्वे' का क्या अर्थ है। हमने तो सुना है कि आर्यावर्त्त के एडिटर भी ब्राह्मण ही हैं। यदि यह बात सच है तो 'सर्वे' में वे भी शरीक हैं अथवा नहीं? यदि इसी समझदारी पर हमारे आक्षेपों का उत्तर देना चाहते हो तो वृथा कष्ट काहे को करोगे, एक पोस्टकार्ड में हार मान लेने की आज्ञा लिख भेजो, बस छुट्टी है। हम लोग प्रेम सिद्धांती हैं, ऐसे मित्रों का हुक्म मानने में कभी इनकार नहीं कर सकते। जान पड़ता है कि आप ने 'ब्राह्मण' का लेख समझा क्या पढ़ा भी नहीं है नहीं तो उसके सम्पादक (प्रताप मिश्र) का धर्म्म मंडल सम्बन्धी व्याख्यान दान बांचते और तनिक भी धर्म का अनुका होता तो निश्चय अपने सम्बाददाता के लेख को मिथ्या पक्षपात से

भरा और बालक्रीड़ा ही मान लेते। और आप न माने तौ भी क्या हानि है। जिस बात की सचाई के साक्षी दस सहस्र लोग हैं वुह आप के तथा भवदीय सम्बाददाता के झुठलाने से कभी झूठी हो सकती है ? क्या आप को झूठ की लत पड़ गई है ? 'ब्राह्मण' ने 'विचार' करने के लिए 'दूसरों का आश्रय' कब लिया है ? और आर्यावर्त के साथ 'विचार' करने में कब बन्द है ? पर आर्यावर्त पहिले आर्योचित 'सभ्य रीति' के नियम तो स्थिर करे। आगे चल कर आपने हमारे सनातन धर्म में द्वेष की शिक्षा सिद्ध करके अपने गुरुदेव तथा हमारे माननीय फकीर श्री स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश के बराबर बनाने की मनसा से 'कृष्णदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते' इत्यादि चार पांच श्लोक उदाहरण स्वरूप लिख दिखाए हैं। पर ऐसे लिचर आक्षेपों का उचित उत्तर बीसियों बार बीसियों विद्वान दे चुके हैं अतः हम व्यर्थ अपना पत्र रंगना नहीं पसंद करते। हां, 'आर्यावर्त' जी की इच्छा हो तो ऐसे २ बहुत से बचन ढूंढ़ रक्खें, हम किसी बालक से दंतत्रोटक उत्तर दिला देने की प्रतिज्ञा लिखे देते हैं। इस अवसर पर हम इतना ही उपदेश दे देना उचित समझते हैं कि यदि सचमुच आर्यधर्म्मतत्व समझ के उसका स्वादु प्राप्त करना हो तो हमारे ही मूलमंत्र को कुछ दिन जपिए तो चित्त शुद्ध हो जायगा और पुराणों का यह गूढ़ार्थ विदित हो जायगा कि अनंत रूप गुण स्वभावादि संपन्न प्रेमदेव एक ही हैं। उन का भजन जो कोई जिस रीति से सरल निश्चल एवं अनन्य भाव के साथ करता है वह अपनी इच्छानुसार उस आनंद को प्राप्त होता है जिस के आगे मतवालों की मुक्ति नर्क से भी अधिक घिनौनी है। राम, कृष्ण, शिव, दुर्गादि नाम रूप लीला कैसी ही क्यों न प्रकाश करें पर वास्तव में सर्वथा एक हैं। इस के उपरांत आपने प्रयोजनीय बात कोई न लिख कर केवल हमेशा की आदत के अनुसार शेखी बघारी है, जिस का उत्तर देना उन्हीं की सी प्रकृति वालों का काम है न कि हमारा। पर क्या कीजिए, वह लड़ना ही पसंद करते हैं, अतः हम भी समझाए देते हैं, समझ हो तो समझ रक्खें कि परमेश्वर न करे कहीं उन के कथनानुसार आर्यसमाज वालों की सी समझ सब की हो जाय तो आज काशी मथुरादि सैकड़ों नगर नष्ट हो जायें, सहस्रों देशभाइयों की रोटी हर जायं, लाखों कुलांगना पातिव्रत के साथ २ पुरखों की भलमंसी बचाने में अक्षमा हो जायें और रेल तार आदि के मार्गों से इंग्लिस्तानवासियों का करोड़ों रुपए का नुकसान हो; जिस की घटी पुजाना आर्य समाज की सामर्थ्य से कोसों दूर है। फिर सहयोगी जी किस बीरते पर

हमें और हमारे धर्म को शरण देने का हौसिला रखते हैं और अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने के कलंक से बच सकते हैं। और सुनिए 'बंगाल देश' के 'पंडित शशधर तर्क चूड़ामणि आदि' पुराणों का विषय समझने में 'थक' जायं तो उन की बुद्धि का दोष है न कि पुराणों का, क्योंकि तर्कशास्त्र में और काव्यशास्त्र से इतना अंतर है जितना खाने की दवा से और लगाने की दवा से। पुराण धर्म्मानुरागियों के लिए बने हैं न कि झगड़ालुओं के लिए। इसी बात पर ध्यान दिए बिना दयानंद स्वामी सोचते २ परमधाम को पधार गए फिर तर्कालंकार का थक जाना क्या अचंभा है! आप का यह कहना निरा गप्प है कि 'दीनदयाल···केवल थोड़ी सी उरदू पढ़े हैं'। थोड़ी सी संस्कृत पढ़ के पंडित बन बैठना आप ही के समाजों का लक्षण है। इस का प्रमाण यदि मांगिए तो यही विद्यमान है कि आज तक सांगोपांग एक वेद का जानने वाला भी शास्त्रार्थ के लिए न देख पड़ा। किंतु दीनदयाल जी की फारसी में लियाकत किसी आलिम से पूछिए तो मालूम हो। आप तो शायद उस की अलिफ बे हौवा भी न जानते होंगे। फिर इस बात को क्या जान सकते हैं कि फारसी का विद्वान अपने उद्देश्य को सिद्ध करने में निरे पंडितों की अपेक्षा अच्छा ही होता है। इस का प्रमाण किसी वकील के पास बैठ के देख लीजिए तो अनुमान हो सकेगा कि दी० द० जी० पुराणों का महत्व सिद्ध कर सकते हैं वा नहीं! और उसी के अंतर्गत यह भी जान जाइएगा कि पुराण के मानने वाले धर्म्म के दृष्टांत से तो 'ईश्वर' को कभी 'भूखा' और तुम्हारे समान 'पेट पालक' मानते क्या बिचारते भी नहीं हैं। रही प्रेम दृष्टि, उसके समझने का अधिकार आप तो क्या हैं आप के स्वामी जी को भी न था। बरंच आप के वेदों के आदिवेत्ता ब्रह्मा जी को भी दैवत्व की हैसियत में नहीं है। 'झगड़ा बढ़ाना तो हमें न मंजूर है, न था, न होगा पर आप एक सच्ची बात को जबरदस्ती झुठलावें और उस झूठ का प्रकाश कर देना झगड़ा कहलाता हो तो लाचारी है। पं० तुलसीराम जी कानपुर बेशक आए और सचेंड़ी भी गए होंगे पर हम लोगों को न यहां दिखाई दिए न वहां। इस पर आप कहते हैं कि 'दीनदयाल भाग गए'। यह पक्षपात और झूठा पक्षपात आप का है वा हमारा? तुलसीराम जी को कोई जानता न हो तो कहिए। वह भूत नहीं हैं, हौआ नहीं हैं, न दीनदयाल ही जी बच्चे हैं कि उनका नाम ही सुन के भाग जाते। फिर आप का ऐसा कहना पक्षपात नहीं तो क्या है?

भगवत्कृपा

यों तो संसार में सबके ऊपर सदा भगवत्कृपा अनवच्छिन्न रूप से बनी ही रहती है, हमारा जन्म ग्रहण करना, हृष्ट पुष्टांग होकर चलना फिरना, अन्न बस्त्रादि के द्वारा उपभोग एवं रक्षा पाना, जगत्कौतुक देख २ कर प्रसन्नता अथच शिक्षा लाभ करना इत्यादि भगवान की दया ही के खेल हैं। नहीं तो यदि सचमुच न्याय किया जाय जो हम लोग क्षण भर जीने के योग्य नहीं हैं, उपकार के पात्र तो कहां से हो सकते हैं। जान बूझ कर अंतःकरण का निरादर करके जितने अधिक दंड दिया जाय सब थोड़ा है। किन्तु उस के पलटे में हमें एक से एक उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त होते रहते हैं। यह निरी भगवत्कृपा नहीं तो क्या है? पर इस प्रकार की कृपा साधारण तथा नित्यैव देखने में आया करती है इस से हम लोग बहुधा ध्यान नहीं देते। ध्यान देना कैसा बरंच कभी २ अपनी करतूत का फल समझ के घमंड में आ जाते हैं। हां, जब किसी व्यक्ति विशेष का किसी कारण के बिना किसी प्रकार का उपकार विशेष होते हुए देखते हैं तब यदि हमारे हृदय से आस्तिकता के साथ कुछ भी जान पहिचान होती है तो भगवान की दया का बोध करते हैं। जिन्होंने हठपूर्वक नास्तिक्य का दृढ़ रूप से आश्रय ले रक्खा उन की समझ में तो ईश्वर का अस्तित्व ही असंभव है उस की कृपा कहां रहती है अथवा जिन्होंने ईश्वर को केवल निज कल्पित नियमों का बशवर्ती मान के अन्य मतावलम्बियों को ईश्वर से नितांत बहिर्मुख समझ लिया है उन की भी बात न्यारी है। जहां तक हो सकेगा प्रकृत वस्तु के विपरीत बुद्धि दौड़ावैंगे और कहीं कुछ भी पता ठिकाना न पावैंगे तो कह देंगे कि कुछ होगा, समझ में नहीं आता। पर ऐसा होना असंभव है और मानने वाले भ्रम में पड़ गए हैं अथवा छल करते हैं। बस इन्हीं दोनों प्रकार वालों के अंतर्गत एक समुदाय ऐसा भी है जो समझता है कि जैसा कुछ हमारे समझाने वालों ने समझा दिया है और हम ने समझ लिया वही सारे संसार का निचोड़ है। उस के अतिरिक्त विरुद्ध कभी कहीं भी कुछ भी न भूतो न भविष्यति। पर हां, इन तीनों को छोड़ के और जितने समझदार हैं, जिन की संख्या सभों से अधिक है और उचित रीति से काम में लावैं तो सामर्थ्य भी सब से अधिक है, वे सब जब कोई विलक्षण घटना देखते सुनते हैं तब सर्वेश्वर शक्ति-

मान की लीला का प्राकट्य मान लेते हैं। यदि उस का कारण अवगत हो गया तो कारण को भी लीला ही का एक अंग जानते हैं और इसी भांति जब किसी का कोई इष्ट विशेष साधित होने का वृत्तांत सुनते हैं तब मन और बचन से कहते हैं कि भगवान ने उस पर दया की है। गीतगोविन्दकार जयदेव स्वामी के हाथ पांव कट जाने पर फिर से हो जाना, मीरा महारानी का विषपान करने पर भी जीवित रहना इत्यादि तर्कियों की समझ में मिथ्या कथानक हैं पर यदि मिथ्यात्व सिद्ध न हो सके तो भगवत्कृपा के सिवा क्या कहिएगा? यदि उन्हें बहुत दिन की बातें होने से कवियों की अत्युक्ति मानिए तो भी बहुत से ऐसे इतिहास विद्यमान हैं जिन के देखने वाले न मर गए हैं, न झूठे हैं, न कपट कथा सुना के आप से कुछ लेने की पर्वा रखते हैं। शैव मनोरंजनी नाम्नी पुस्तिका के लिखने वाले श्री देवीसहाय बाजपेयी जी का वृत्तांत कानपुर और काशी के सहस्रों लोग जानते हैं कि कई वर्ष तक अंधे रहे थे और अंत में किसी औषधि का व्यवहार किए बिना आंखें खुल गई थीं। उनके साथ नित्य साक्षात् करने वाले एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों प्रतिष्ठित और सुशिक्षित लोग विद्यमान हैं। उन से पूछ के जिस का जी चाहे अपना जी भर ले। चौथी एप्रिल के 'बंगवासी' ने खजुहा, जिला फतेहपुर निवासिनी बतासा नाम की पूजनीया ब्राह्मणी का जो चरित्र लिखा है कि उन के पांव सूख जाने के कारण हिलने चलने की शक्ति से रहित हो गए थे और फिर अकस्मात क्षण ही भर में पूर्णरीत्या नीरोग हो गए। इस की साक्षी के लिए आसाम देशान्तर्गत श्रीहट्ट प्रान्त के एसिस्टेन्ट इंजीनियर श्री मातादीन जी शुक्ल एम० ए० तो हई हैं जिनकी सज्जनता से हम और हमारे कई मित्र भली भांति परिचित हैं, किन्तु इतने पर भी किसी को विश्वास न आवे तो हम पूर्ण रीति से निश्चय करा देने को प्रस्तुत हैं। क्योंकि खजुहा कानपुर से बहुत दूर नहीं है न उन सीधी सादी भोली भाली ब्राह्मणी को असली हाल बतला देने में कोई इनकार है। और सुनिए बांदा नामक नगर में एक बाबू प्रसाद साहब वकील हैं, साधुओं के आगत स्वागत में बड़ी रुचि है, अभी थोड़े दिन की बात है कि कुछ एक महात्मा आ गए पर उनकी सेवा के योग्य वकील साहब के पास धन न था अतः उन्हों ने घर का गहना गहने धर उस समय काम तो निकाल लिया किन्तु द्रव्य संकोच के कारण विशेषतः स्त्रियों को खिन्न देख कर, क्लेश भी हुवा पर पांच सात दिन में जब महाजन के यहां से आभूषण लौटा लेने को गए तो उस ने कहा, 'वाह साहब यह क्या बात है? गहना तो आप उसी दिन ले गए थे और

रुपया भी आप ही के हाथों मिल चुका है।' इस पर घर में आकर पूछा तो महाजन की बात ठीक निकली।

जिसे इस आख्यान में भी संदेह हो वह उक्त स्थान पर जा के निवारण कर सकता है। एक प्रतिष्ठित वकील को इस रीति के मिथ्या समाचार प्रचार करके अपनी महिमा बढ़ाना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार के सैकड़ों सत्य समाचार हैं जो केवल आप के मिथ्या कहने से मिथ्या न हो जायंगे और कोई मिथ्यापन का प्रमाण आप नहीं दे सकते और हम सत्यता के लिए सैकड़ों साक्षी दे देंगे। फिर भी यदि शास्त्रार्थ का साहस कीजिए तो जब तक आप यह न सिद्ध कर दें कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है, सच्चे विश्वास में प्रभाव नहीं है अथवा ईश्वर के आराधन में प्रत्यक्ष कोई फल नहीं है तब तक यदि न्याय कोई पदार्थ है तो आप का कथन अप्रमाण रहेगा और भगवत् कृपा के अनुभवियों के पास प्रत्यक्ष प्रमाण बना रहेगा। हां यदि आप कहें कि ऐसा कोई दिखा क्यों नहीं सकता तो हम कहेंगे, ईश्वर और उसके भक्तजन बाजीगर नहीं हैं कि आप की इच्छा होते ही तमाशा दिखा दिया करें। वह ईश्वर का और उस के भक्तों का निज व्यवहार है जिस के देखने की सामर्थ्य विवादियों को नहीं हो सकती। हो सके तो तर्क वितर्क छोड़ के विश्वास के साथ उसी के हो जाइए। फिर आप ही देख लीजिएगा कि सारे मनोरथों की पूर्ति एवं सभी प्रकार के अभाव का निराकरण केवल उसी की कृपा से होता है अथवा नहीं। यों मन के स्नेह का काम वचन के द्वारा निकालना अभीष्ट हो तो त्रिकाल में असंभव है। जो कार्य जिस रीति से होता है वह उसी रीति का अवलम्बन करने से होगा। वह रीति सीखने समझने कहीं नहीं जाना, केवल अपने चित्त को उस का आश्रित बना लीजिए फिर उसका चाहे जैसा रूप गुण स्वभाव मान के उस के कोई बन जाइए और अवकाश के समय नित्य उस के सामने अपने मनोरथ प्रकाश करते रहिए। नित्य कहते रहिए—'तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं।' जिन सांसारिक वस्तुओं के लिए मन को हाथ से खो देते हो, कुछ भी विचार न कर के उन्हीं की प्राप्ति के स्मरण में मग्न हो जाते हो, वैसे ही उस के लिए सतृष्ण हो जाओ तो फिर बस उसकी कृपा के अधिकारी हो जाओगे और जैसी घटनाओं को आज दूसरों की झूठी कहानियां समझते हो वैसी ही बरंच उन से अधिक को अपने ऊपर बीती हुई बातें समझने लगोगे। क्योंकि दयामय परम ईश की महान शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता, वह अपने भक्तों के लिए आज भी

वही हैं जो ध्रुव प्रह्लादादि के समय में थे। कमी केवल हमारी भक्ति में है कि उन्हें नाशमान जगत के पदार्थों के बराबर भी प्यार नहीं करते बरंच नाना भांति के तर्क उठा के उनके कामों को झुठलाने और दूसरों का मन उन की ओर से फिराने में सयत्न रहते हैं। इन लक्षणों से उन की दया का लाभ करना तो कैसा उस का भेद समझना भी संभव नहीं है। हमारी प्रवृत्ति स्वभावतः सर्वभावेन उन के विपरीत हो गई है। इस दशा में केवल यही एक उपाय है कि हम उन्हें याद करते रहें तो वह हम पर दया करते रहेंगे। क्योंकि जैसे हमारी और सब बातें उलटी हैं वैसे ही हमारा यह काम भी उलटा ही होना सोहैगा। दया शब्द को उलटाइए तो याद का शब्द बन जाता है। इसी बनाव से उन्हें रिझाइए तो वे अवश्य इस विचार से रीझ जायंगे कि अपनी उलटी चाल का निर्वाह करने में यह पक्का है। और कुछ जाने चाहे न जाने सो सच भी है। जिन का भेद किसी के जानने का विषय हई नहीं उस को हम ही क्या जानेंगे और कितना जानेंगे? अस्मात् जानने के लिए यत्न करना व्यर्थ अपनी बुद्धि को थकाना और समय बिताना है। केवल इतना जान लेना बहुत है कि वह सब कुछ कर सकते हैं और सब से बड़े हैं तथा बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं इससे उन की दया भी बहुत बड़ी है। विशेषतः हमारे पक्ष में यह बहुत बड़ी दया है कि वे अपनी ओर हमारा मन खींच लें फिर बस हम पूरे कृपापात्र हो जायंगे। यह यद्यपि उन्हीं के हाथ है पर यदि हम उन से नित्य इस विषय की छेड़ बनाए रहें, उन्हें सर्वव्यापी समझ के जहां कहीं उन की चर्चा सुनें, जहां कोई उनका चिह्न देखें वहां उनके स्मरण में कुछ काल मग्न हो के दया की जाचना करते रहें तो कोई संशय नहीं है कि वे हम पर दया करेंगे।

खं० ८, सं० १० (मई, ह० सं० ८)

अवतार

लेना वा आविर्भाव करना किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रकटित होने को कहते हैं। यथा 'मनुज रूप है अवतर्यो हरि सुमिरन के हेत' और 'सोरह सौ अट्ठावना कातिक सुदि बुधवार। रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हो अवतार' इत्यादि बहुत से वाक्य प्रसिद्ध हैं। पर इस देश के साधारण लोग बहुधा इस शब्द से मत्स्य कच्छपादि भगवदावतार ही का बोध करते हैं और देशी तथा विदेशी अन्य मत वाले जन कई एक युक्तियों से यह बात सिद्ध करना चाहते हैं कि ईश्वर का अवतार नहीं हो सकता। किन्तु समझ-दार लोग हमारे इस लेख से विचार कर सकते हैं कि ईश्वर का अवतार लेना बुद्धि के अनुकूल है वा प्रतिकूल? यहां पर हम उन छोटी २ युक्तियों पर लेखनी को कष्ट न देंगे जिनका उत्तर केवल इतना कहने से हो सकता है कि वह सर्वशक्तिमान है अतः क्या नहीं कर सकता, परम स्वतंत्र है अस्मात् किसकी युक्तियों और नियमों में वह हो सकता है, इत्यादि। सर्वव्यापी बना रहने पर भी छोटी से छोटी वस्तुओं में प्रविष्ट होने की शक्ति तो आकाश तक में है फिर ईश्वर में क्यों न होगी? सूर्य चन्द्रमादि के बिना भी तो वह संसार में प्रकाश और शीतोष्णता का प्रस्तार कर सकता था, फिर इन्हें क्यों बनाया? ऐसी २ छोटी बातों का विस्तार करना समय का खोना है। इससे वही बातें लिखते हैं जिनसे यह विदित हो सके कि ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं।

आप अवतार को न मानते हों किन्तु इतना तो जानते ही हैं कि अवतार लेना वा न लेना उसके निज के करने के कामों में से है और किसी के निज कर्तव्यों का निश्चित ज्ञान केवल उन्हीं को होता है जो कर्ता के साथ निज का सम्बन्ध रखते हों। इस नियम के अनुसार यदि आप की आस्तिकता का निचोड़ केवल एक वा अनेक पुस्तकों के पढ़ने अथवा पक्षी तथा विपक्षियों के व्याख्यान सुनने वा अपने समाज की प्रचलित रीतियों के पालने ही पर निर्भर हो तो इस विषय में निश्चय के साथ हां वा नहीं कहने का आपको अधिकार नहीं है। अतः आपका इस विषय में कुछ भी बोलना झख मारना है। इससे पहिले यह उचित है कि ईश्वर के साथ निज सम्बन्ध लाभ

कीजिए अर्थात् उसे सच्चे और सरल चित्त से न्यूनान्यून इतना प्यार करने में तो अभ्यस्त हूजिए जितना धन जनादि को प्यार करते हैं, उसके स्मरण में इतना मत्त होना तो सीखिए जितना स्वार्थसाधन के उपायों में होते हैं। उस दशा में कोई सन्देह नहीं है कि धीरे २ आपके मनोमन्दिर में उसका गमनागमन होने लगेगा और विचार की आंखों से उसकी लीला एवं अवतारों की झांकी होने लगेगी। जिस समय कोई ऐसा कांड उपस्थित होगा जिसमें आप की निज सामर्थ्य कुछ काम न दे सके उस समय देखिएगा कि वह विपत्ति पड़ने पर धैर्य के रूप में, सम्पत्ति होने पर सहभोगी के वपुष में, सदिच्छा उत्पन्न होने पर सहायक एवं दुरिच्छा से निषेधक इत्यादि रूप में आविर्भाव करते हैं और समय २ पर अपने शरीर धारण की साक्षी आप ही देते रहते हैं। जब आपको इस रीति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जायगा तब अनुमान अवश्य ही कहेगा कि जो प्रभु एक साधारण व्यक्ति के हितार्थ नाना रूप धारण करते रहते हैं वे क्या समस्त संसार के हेतु दश अथवा चौबीस अवतार भी न लें। पर यह सामर्थ्य आपको तब तक कदापि नहीं हो सकती जब तक प्रेमनगर के तुच्छ निवासी और प्रेम शास्त्र के अक्षराभ्यासी बनने में धावमान न हूजिए। पर इसमें हमारा काम कही देना मात्र है उद्योग करना न करना आपके भाग्य की बात है। अतः दृश्यमान जगत् ही को आगे रख कर हम आप को अवतार का विषय अवगत कराते हैं।

मानव मंडली सदा से सृष्टिकर्ता के गुण स्वभावादि है जिनका अनुमान सृष्टि की चाल ढाल के अनुसार करती आई है। जिन कामों को हम अपने तथा अपनायत वालों के पक्ष में अच्छा देखते हैं उन्हीं को ईश्वर की इच्छा, ईश्वर की आज्ञा, ईश्वर की प्रकृति के अनुकूल समझते हैं, इतरों को प्रतिकूल। इस नियम के अनुसार सूक्ष्म विचार कीजिए तो बिदित हो जायगा कि संसार में जितने जड़ वा चेतन पदार्थ हैं वह सभी यदि अपनी २ आदिम दशा से अंतिम गति तक निर्विघ्नता के साथ पहुंच जायं तो दश अवतारों में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते। अर्थात् दश प्रकार की गति में प्रकाशित होना ही जगत के यावत् पदार्थों का जातिस्वभाव है और जातिस्वभाव को सभी मत के लोग ईश्वर का अंश मानते हैं। फिर आप क्योंकर सिद्ध कर सकेंगे कि ईश्वर का स्वभाव जगत के स्वभाव से नितांत प्रतिकूल है। यह हम भी मानते हैं कि ईश्वर की सारी बातें

पूर्णताविशिष्ट हैं और संसार की अपूर्ण पर इससे अवतार सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती बरंच और पुष्टता होती है अर्थात् हमारे अवतार विघ्न और विक्षेप से दलित होने पर अधूरे अथवा एक के मध्य दूसरे से मिश्रित भी रह सकते हैं। पर ईश्वर के अवतार पूर्ण रूप से शुद्धता के साथ अपना महत्व दिखाते हैं, जैसा कि पुराणों से विदित होता है कि जब जो रूप धारण किया तब उसके सम्बन्ध मे जितनी बातें थीं उतनी पूरी रीति से कर दिखाईं और जिस काम में बड़े २ ऋषि मुनि देवताओं का साहस जाता रहा उसे ऐसी उत्तमता से पूरा किया कि त्रिकाल और त्रिलोक के पांडित्याभिमानियों की बुद्धि चक्कर खाया करती है। सच पूछो तो उसकी सर्वोत्कृष्टता और अनिर्बचनीयता का लक्षण ही यही है कि जितनी बातें हों सभी सर्वोत्कृष्ट तथा बुद्धि को चकरा देने वाली हों जिनका समझाना तो कैसा, समझना ही कठिनतम है। इससे हम भी यहां पर उसके अवतारों का चरित्र न वर्णन करके उसकी सृष्टि के शिरोमणि अर्थात् मनुष्य में जो अवतारो के निदर्शन पाए जाते हैं उन्हें दिखलाते हैं जिसमें बुद्धिमान समझ ले कि जिसकी कारीगरी के एक २ अंश में अवतारीपन झलकता है वह स्वयं अवतारधारी कैसे नहीं है? क्या उसका सहारा पाए बिना कोई गुण ठहर सकता है? अथवा पुत्र का रंग ढंग देख के पिता के रंग ढंग का अनुमान नहीं होता?

खं० ८, सं० १० (मई, ह० सं० ८)

मित्र कपटी भी बुरा नहीं होता

गत मास में हम ने दिखा दिया था कि छल कोई बुरा गुण नहीं है। यदि भली भांति सीखा जाय और सावधानी के साथ काम में लाया जाय तो उस से बड़े २ काम सहज में हो सकते हैं। इस से हमारे कई मित्रों ने सम्मति दी है कि हां बेशक इस युग के लिए वह बड़ा भारी साधन है अतः कभी २ उस की चर्चा छेड़ते रहना चाहिए। तदनुसार इस लेख में हम शीर्षक वाला विषय सिद्ध किया चाहते हैं। हमारे पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि बुरा यदि होता है तो शत्रु होता है, जिस की हर एक बात से बुराई ही टपकती रहती है वह यदि निष्कपट होगा तो बन्दर की नाईं बहुत सी खौंखयाहट दिखा के थोड़ी सी हानि करेगा और कपटी होगा तो सांप की भांति चिकनी चुपड़ी सूरत दिखा के प्राण तक ले लेगा। इन दोनों रीतियों से वह हानिकारक है। इस से उसे मान लीजिए पर मित्र से ऐसा नहीं होता। वह यदि छली हो तो उस की संगति से आप छल में पक्के हो जाएंगे और ऐसी दशा में वह आप को क्या भुलावेगा आप उस के बाप को भुला सकते हैं। ऐसी गोष्ठी में बैठ के यदि आप बुद्धिमान हैं तो यह मंत्र सिद्ध किए बिना कभी नहीं रह सकते कि गुरू के कान न कतरे तो चेला कैसा? हां, यदि आप ऐसे बछिया के बाबा हों कि ऐसी मुहब्बत से इतना भी न सीख सकें तो आपका भाग्य ही आपके लिए दुखदाई होगा, मित्र बिचारे का क्या दोष? पर हां, यदि मित्र महाशय कपटी हों पर इतने कच्चे कपटी हों कि आप से अपना कपट छिपा न सकें तो निस्सन्देह बुरे हैं, पर अपने लिए न कि आप के लिए। जिस समय आप को विदित हो जायगा कि यह कपटी है उसी समय आप भलेमानस होंगे तो मित्रता को तिलांजलि दे के अपनी पूर्वकृत मूर्खता से सजग हो जायंगे। फिर बस आनन्द ही आनंद है। यदि आपको गोस्वामी तुलसीदास के बचन की सुध आ जाय कि 'सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मीत सूल सम चारी।' तो भाष्य हमारा कंठस्थ कर लीजिए कि सेवक और नारी तो कोई चीज ही नहीं है, जब चाहा निकाल बाहर किया, रहा नृप, उस की भी क्या चिंता है, यदि हम कपट शास्त्र का थोड़ा सा भी अभ्यास रखते होंगे तो अपने पक्ष में उस की कृपणता रहने ही न देंगे।

हां, हमारा हथखंडा न चल सके तो अपने कच्चेपन पर संतोष कर लेना उचित है अथवा यह समझ के जी समझा लेना चाहिए कि राजा है ईश्वर का अंश, उस पर बश ही क्या ? रह गए अकेले मित्र जी, वह यदि कपटी हों तो शूल के समान हैं। पर हमारे पक्ष में तो उनकी धार उसी क्षण कुंठित हो चुकी थी जिस समय उनका कपट खुल गया था। अब शूल हैं तो बने रहें हमारा क्या लेते हैं। बरंच हमारे हाथ में पड़े रहेंगे तो अपनी ही शोभा बना लेंगे।

लोग समझेंगे कि यह ऐसे गुरूघंटाल के पास बैठने वाला है जिस के आगे किसी की कलई खुले बिना रहती नहीं। अथवा ऐसे सुशील का सुहबती है जो अपने साथ वालों के कपट जाल की जान बूझ के भी उपेक्षा कर जाता है। इन दोनों रीतियों से उन मित्र जी को तो अच्छा ही है। किन्तु इतना हमारे लिए भी भला है कि कुत्ता बिल्ली के समान तुच्छ शत्रु हम लोगों को दो समझ के ऐसे ही डरते रहेंगे जैसे बिना धार वाले शूल से डरते हैं। पर हमारा जी नहीं चाहता कि जिसे मित्र का विशेषण दे चुके हैं उसे बार २ शूल २ कह के पुकारें। अस्मात् उस की स्तुति में यह गीत स्मर्तव्य है कि—'आव मेरे झूठन के सिरताज ! छल के रूप कपट की मूरति मिथ्यावाद जहाज !' यद्यपि जिस की प्रशसा में भारतेन्दु जी ने यह वाक्य कहा है वह कपटी मित्र नहीं है, वह जिसे मित्र बनाता है उसे तीन लोक और तीन काल में सबसे बड़ा कर दिखाता है, किन्तु कपटियों (राक्षसों) को उच्छिन्न करके तब कहीं 'क्रोधोऽपि देवस्य नरेण तुल्यः' का उदाहरण दिखलाता है। इससे कहना चाहिए कि वह सभी का सच्चा हितू है कपटी कदापि नहीं और यदि कपट पर आ जाय तो महाराज बलि की नाईं हमारा भी सर्वस्व बात की बात में मांग ले और क्या बात कि हमारी भौंह पर बल आने दे। आ हा ! यदि वह हमसे कपट व्यवहार करें तो हमारे समान धन्यजन्मा कहीं ढूंढे न मिले। अतः यह कोई भी नहीं कह सकता, सच्चाई के पुतले ऋषिगण तथा भव्य शास्त्र शिरोमणि वेद भी नहीं कह सकते कि वह मित्र कपटी है अथवा कपटी है तो कच्चा। अतः उस की चर्चा तो हृदय ही में रहने दीजिए। इन संसारी मित्रों के उपकारों को देखिए जो अपनी कपट वृत्ति का भरमाला न छिपा सकने के कारण हमारी नजरों से गिर जाने पर भी अहित नहीं कर सकते। यदि कुछ भी गैरतदार हुए (आशा है कि होंगे, नहीं निरे बगैरत होते तो कच्चे कपटी काहे को

रहते) तौ मुंह न दिखावेंगे। यदि सामने आए तो आंखें नीची रक्खे हुए चाटुकारिता की बातों से प्रसन्न ही रखने की चेष्टा किया करेंगे और ऐसे लोग और कुछ न सही तौ भी थोड़ी बहुत बनावटी खुशी उपजा ही देते हैं। इस का उदाहरण सामान्या नायिका हैं जिन्हें सभी जानते हैं कि वास्तव में किसी की नहीं होतीं, केवल अपना स्वार्थ साधन करने के निमित्त मिथ्या स्नेह प्रदर्शन करती रहती हैं। इसी से बहुधा बुद्धिमान जन भी उन के मोह जाल में ऐसे फंस जाते हैं कि अपनी सत्य प्रेमवती अर्धांगिनी तक को भूल जाते हैं। यह क्यों? इसी से कि यह बिचारी अपने हृदय का सच्चा प्रेम भी प्रगट करना नहीं जानती किन्तु वे निर्मूल स्नेह को भी बड़ी चमक दमक के साथ दिखा सकती हैं। फिर कौन कह सकता है कि स्नेह बनावटी भी मजेदार नहीं होता और जो स्वभाव का कपटी होगा वह मित्र बनने पर मिथ्या प्रेम अवश्य ही दिखावैगा। विशेषतः अपना भेद खुल जाने की लाज दूर करने को और भी अधिक ठकुरसुहाती कहेगा। अथच ठकुरसुहाती बातें वह हैं जो ईश्वर तक को रिझा लेती हैं, मनुष्य तो है ही क्या? फिर हम कैसे मान लें कि कपटी मित्र बुरा होता है। बरंच सच्चा मित्र तो कभी २ हमारे वास्तविक हित के अनुरोध से हमें टेढ़ी मेढ़ी सुना के रुष्ट भी कर देता है पर कपटीराम हमारे मुंह पर कभी कड़ी बात कहेंहीगे नहीं कि हमें बुरी लगे। यदि आप परिणामदर्शी हैं तो बन में जा बैठिए और राम जी का भजन करके जन्म बिताइए जिस में अक्षय सुख प्राप्त हो। पर हम तो दुनियादार हैं, हमारा काम तो तभी चलता है जब कपटदेव की मूर्ति हृदय पट में संस्थापित किए हुए उनके पुजारियों की गोष्ठी का सुख उठाते हुए मजे में दिन बिताते रहें और इसमें यदि विचारशक्ति आ सतावै तो उसके निवारणार्थ इस मंत्र का स्मरण कर लिया करें कि "आकबत की खबर खुदा जाने, अब तो आराम से गुजरती है" और सोच देखिए तो ऐसों से आगे के लिए क्या बुराई है। बुराई की जड़ तो पहिले ही से हमारे मित्र ने काट दी है। हम ने मित्रता के अनुरोध से जी में ठान रक्खा था कि यदि हमारे प्रिय बन्धु को आवश्यकता आ पड़ेगी तो अपना तन धन प्राण प्रतिष्ठा सर्वस्व निछावर कर देंगे और संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसे जीवन भर में दस पांच बार किसी के सहाय की परमावश्यकता न पड़ती हो। तथा यदि हमारे मित्र को दस बेर भी ऐसा अवसर आ पड़ता एवं प्रत्येक बार न्यूनान्यून सौ रुपया भी व्यय होता तो हम सहस्र मुद्रा अवश्य ही हाथ से खो बैठते, शरीर और प्राण यदि पूर्णरीत्या न भी

विसर्ज्जन करते, तथापि देह पर दो चार घाव तथा मन पर कुछ काल के लिए चिन्ताग्नि की आंच अवश्य सहते एवं प्रतिष्ठा में भी बहुत नहीं तो इतनी बाधा तो पड़ी जाती कि कचहरी में झूठी गवाही देते, वकीलों की भौंहें ताकते, चपरासियों की झिड़की वा हाकिमों की डांट सहते। नोचेत् जिन से बोलने को जी न चाहे उन को भैया राजा बनाते, इत्यादि। पर मित्र जी ने सौ ही पचास रुपए में अपनी चालाकी दिखा के, अपने चित्त की वृत्ति समझा के इन सब विपत्तियों से बचा लिया। अब हम उन्हें जान गए हैं, अतः अब उनके मनोबिनोद अथवा आपदुद्धार के लिए हमारे पास क्या रक्खा है? अब वह बला में फंसें तो हमारी बला से, वह अपने किए का फल पा रहे हैं तो हमें क्या? हम क्यों हाय २ में पड़ें। जैसे सब लोग कौतुक देखते हैं हम भी देख लेंगे। मुहब्बत तो हई नहीं, मुरौवत न मानेगी, सामना पड़ने पर, 'अरे राम २! ऐसा दिन बिधाता किसी को न दिखावै!' कह देना बहुत है, बस छुट्टी हुई। फिर भला ऐसे लोगों को कोई बुरा कह सकता है जो थोड़ी सी दक्षिणा ले के बड़े २ अरिष्टों से बचा लें और आप आपदा में पड़ के दूसरों के पक्ष में मनोरंजन अथवा उपदेश का हेतु हों। हां, प्राचीन काल के सन्मार्गप्रदर्शक अथवा जमपुरी के कार्य सम्पादक उन्हें चाहे जो कहें सुनें किन्तु हम तो उन में से नहीं हैं। फिर हम क्यों न कहें कि मित्र कपटी भी बुरा नहीं होता, मिष्ठान्न विषयुक्त भी कड़ुवा नहीं होता, और हमारा लेख ऊटपटांग भी बेमजा नहीं होता!

खं० ८, सं० १० (मई, ह० सं० ८)

पढ़े लिखों के लक्षण

कपड़े ऐसे कि रामलीला के दिनों में सिर्फ काले चेहरे ही की कसर रह जाय इस पर भी उनमें कोई देशी सूत न हो, यदि हिन्दुस्तानी के हाथों से लिये भी न गए हों तो और अच्छा। भोजन ऐसे कि बिरादरी के डर से प्रगट रूप में न निभ सके तो गुप्त ही रीति से सही, पर हों पंच मकार में से कुछ न कुछ अवश्य। उनका रंधन यदि बैरा खानसामा आदि के द्वारा हुआ हो तो क्या ही कहना है नहीं तो खैर किसी शूद्र के ही हाथ का हो। पर परमोत्तम तो यही है कि विलायत से बन के आए हों चाहे महीनों के सड़े हुए गंधाते ही क्यों न हों और परोसने वाले तथा साथ खाने वाले भी कम से कम चार वरण से प्रथक तो अवश्य ही हों। भाषा ऐसी कि संस्कृत का शब्द तो कान और ज़बान से छू न जाना चाहिए। हिन्दी से इतनी लाचारी है कि 'आया' 'गया' इत्यादि शब्द नहीं बच सकते तथापि खास २ बातें अंगरेजी अथवा टूटी फूटी अरबी ही की हों। हां कोई नाम पूछ बैठे तो झख मार के राम रहीम आदि के साथ दत्त प्रसाद दास गुलाम आदि जोड़ के मुंह पर लाना पड़ता है। पर इसमें अपना वश ही क्या है। वह पिता की बेवकूफी है। शिष्टाचार में भी नमस्कार पायलागन राम २ जैगोपाल आदि वाहियात बातें न आनी चाहिए। रोजगार भी नौकरी के सिवा और न करना चाहिए क्योंकि बबुआई के बईद है। धर्म भी सब से उत्तम तो नास्तिकता है नहीं तो खैर क्रिशच्यनिटी ही सही। पर महात्मा मसीह के उत्तम उपदेशों पर चलना कोई आवश्यक नहीं है। केवल इंग्लैंड वालों की सी ऊपरी चाल ढाल बहुत है। ढिठाई बेशक इतनी अवश्य होनी चाहिए कि नागरी का एक अक्षर न सीखा हो पर वेद पुराण देवता पितर इत्यादि को मन ही से तुच्छ न समझ ले किन्तु दूसरों को समझाने में भी बन्द न रहे।

साधारणतः सब का निचोड़ यह कि पुराने सब लोग अहमक थे और उनकी चलाई हुई सारी बातें नांसेस हैं। क्या ज्योतिष क्या वैद्यक क्या मन्त्र शास्त्र क्या नीति क्या धर्म इत्यादि सर्व गप्पः। हां कोई यूरोप एमेरिका वाला उन में से किसी को अच्छा बतलावै तो सच्चे जी से मानने योग्य है। ऐसी ही ऐसी और भी कई एक बातें हैं जो आजकल के बरसों के पठन पाठन का नतीजा हैं और प्रायः सभी बाबू साहबों में थोड़ी बहुत पाई जाती हैं।

वरंच जिस में इन का पूर्णतया अभाव हो वह इस काल की सुपठित एवं सभ्य मंडली का मेम्बर ही नहीं समझा जा सकता। इस से यदि हम साधारण बोली में इनका नाम पढ़े लिखों के लक्षण रख लें तो बुद्धिमानों की दृष्टि में अनुचित न जंचेगा। इन का वर्णन अनेक बार अनेक प्रकार से अनेक सुवक्ता और सुलेखकों की वाणी तथा लेखनी के द्वारा हो चुका है। अतः हम इस समय इस विषय को बढ़ाना पिष्टपेषण समझते हैं पर अपने पाठकों से पूछा चाहते हैं कि इन लक्षणों से देश अथवा जाति को किस भलाई की आशा हो सकती है? इन से तो वही लोग अच्छे जो पढ़ने लिखने का नाम नहीं जानते अथवा कुछ मुड़िया कैथी नागरी वा दुर्गापाठ सत्यनारायण कथा इत्यादि सीख के अपने कृषि वाणिज्य शिल्प सेवादि द्वारा अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन कर लेते हैं। ऐसों से यदि कोई उपकार न हो सके तो भी हिन्दूपन की एक सूरत तो बनी रहती है, यही क्या थोड़ा है? पर हमारे बाबुओं की चले तो हिन्दुस्तान का कोई पुराना चिन्ह (चिन्ह कैसा नाम) भी न रक्खें। भाषा भोजन भेष भाव सब और के और हो जायं। इसी से हमारी समझ में सच्चे देशभक्तों को सब काम छोड़ के पहिले इस का उद्योग करना चाहिए कि सर्वसाधारण में निज सन्तान के वास्तविक सुधार की रुचि उत्पन्न हो। लोग अपने लड़कों को आंखें मीच के स्कूल भेज देने की भेड़ डाल छोड़ें क्योंकि वहां आत्मगौरव, स्वजातित्व, देश वात्सल्य, सनातनाचार इत्यादि की शिक्षा नहीं होती जो मनुष्य जीवन का भूषण है। बरसों का समय और सैकड़ों रुपया केवल ऐसी ही पढ़ाई में जाता है जिसका फल इतना मात्र हो कि तन नाजुक, मन अपनेपन से फिरंट और जीवन केवल परसेवा द्वारा पेट पालने में बिता देने के योग्य रह जाय। यदि परमेश्वर की दया से भोजनाच्छादन की चिन्ता न हो और कुछ नामवरी करने का शौक चर्राय तो या तो उपर्युक्त लक्षणों का पूरा नमूना बन के शुद्ध ज्यंटिलम्यन हो जायं और दूसरों को जाति पांति की रीति भांति धर्म कर्मादि के काम का न रक्खें या राजनैतिक विषयों में टंगड़ी अड़ावें तो या तो खिताबी राजा बाबू सितारा आदि कहलाने की धुन में चार दिन के पाहुन हाकिमों की खुशामद के मारे प्रजा वर्ग का शाप संचयन करते रहें या बात २ में सर्कार का मुकाबिला कर २ के राज कर्मचारियों को चिढ़ाया करें।

भला इन लक्षणों और ऐसी करतूतों से किसकी क्या भलाई हो सकती है? पर खेद है कि वृद्धि इन्हीं की देखने में आती है और अधिकांश में उद्योग

भी इन्हीं की प्राप्ति के होते रहते हैं। फिर हम क्यों न कहें कि इन नवयुवक एवं नवशिक्षित बाबुओं ही के क्या देश भर के लक्षण कुलक्षण हैं। क्योंकि भविष्यत की उन्नति अवनति इन्हीं पर निर्भर ठहरी और इन विचारों में विद्या ऐसी परमोत्तम वस्तु का फल उलटा दिखाई देता है अर्थात् जिन बातों को यह उन्नति का मूल समझते हैं वे यदि पूरी तरह फैल जायं तो हिन्दुस्तान का वास्तविक रूप ही मट्टी में मिल जाय। केवल थोड़े से पुराने ढंग के बचे खुचे लोगों की जबान पर कहानी मात्र रह जाय कि भारतवर्ष आर्य्यावर्त अथवा हिन्दुस्तान ऐसा देश था, वहां के निवासी ऐसे होते थे, उनका व्यवहार बर्ताव इत्यादि ऐसा था वैसा था और बस। यद्यपि यों होना है यहां मुश्किल और परमेश्वर न करे कि हो पर यतः ठान ऐसा ही होने का ठन रहा है। इससे देश हितैषियों को वर्त्तमान ढर्रा बदलने और अपनी प्रकृत दशा बनाए रखने का यत्न कर्तव्य है नहीं तो पढ़े लिखों के लक्षण बड़ा अच्छा रंग लावेंगे।

खं० ८, सं० १० (मई ह० सं० ८)

ईश्वर की मूर्ति

वास्तव में ईश्वर की मूर्ति प्रेम है पर वह अनिर्वचनीय, मूकास्वादनवत्, परमानन्दमय होने के कारण लिखने वा कहने में नहीं आ सकता, केवल अनुभव का विषय है। अतः उसके वर्णन का अधिकार हमको क्या किसी को भी नहीं है। कह सकते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि हृदय मन्दिर को शुद्ध करके उसकी स्थापना के योग्य बनाइए और प्रेमदृष्टि से दर्शन कीजिए तो आप ही विदित हो जायगा कि वह कैसी सुन्दर और मनोहर मूर्ति है। पर यतः यह कार्य सहज एवं शीघ्र प्राप्य नहीं है। इससे हमारे पूर्व पुरुषों ने ध्यान धारणा इत्यादि साधन नियत कर रक्खे हैं जिनका अभ्यास करते रहने से उसके दर्शन में सहारा मिलता है। किन्तु है यह भी बड़े ही भारी मस्तिष्कमानों का साध्य। साधारण लोगों से इसका होना भी कठिन है। विशेषतः जिन मतवादियों का मन भगवान् के स्मरण में अभ्यस्त नहीं है वे जब आंखें मूंद के बैठते हैं तब अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं देख सकते और उस समय यदि घर गृहस्थी आदि का ध्यान न भी करें तो भी अपनी श्रेष्ठता और अन्य पथावलम्बियों की तुच्छता का विचार करते होंगे अथवा अपनी रक्षा वा मनोरथ सिद्धि इत्यादि के मानस से परमात्मा की भी सुध करते हों तो करते हों, नहीं तो केवल मुख से कुछ नियत शब्दों का उच्चारण छोड़ कर ईश्वर का वास्तविक भजन पूजन यदि एक मिनिट भी करते हों तो हमारा जिम्मा। कारण इसका यह है कि मनुष्य का मन होता है चंचल। वह जब तक किसी बहुत ही सुन्दर वा भयंकर वस्तु अथवा व्यक्ति वा सुख दुःखादि की ओर न चला जाय तब तक एकाग्र कदापि नहीं होता। हां, बड़े २ योगी अभ्यास करते २ उसे स्वेच्छानुवर्ती बना सकते होंगे, पर अपने सहवर्तियों में तो हम किसी का सामर्थ्य नहीं देखते कि संगीत साहित्य सुरा सौंदर्य इत्यादि की सहायता के बिना कोई मन को एक ओर कर सकता हो, विशेषतः ईश्वर की ओर, जिसकी सभी बातें मन बुद्धि चित्त अहंकार से परे हैं। फिर हम क्यों न कहें कि प्रतिमा पूजन के विरोधी ईश्वर का पूजन तो क्या दर्शन भी नहीं कर सकते। विचार कर देखिए तो प्रतिमा पूजन से नास्तिकों के अतिरिक्त बचा कोई भी नहीं है। जो ईश्वर को मानेगा उसका निर्वाह किसी न किसी प्रकार की प्रतिमा के बिना

नहीं हो सकता चाहे ध्यानमयी प्रतिमा हो चाहे शब्दमयी प्रतिमा हो, हैं सब हमारे ही मन और बचन का विकार और उस निराकार निर्विकार के महत्व का अभ्यास मात्र। पर क्या कीजिए ईश्वर को मान कर चुपचाप बैठे रहें अथवा मन में किसी भांति उसका विचार आने ही न दें तौ भी नहीं बनता। इसी से आस्तिक मात्र को उसकी प्रतिमा बनानी पड़ती है। जहां हमने मन अथवा बचन से कहा—'हे प्रभु हम पर दया करो,' वहीं हम उस निराकार की छाती के भीतर मन की कल्पना कर चुके। क्योंकि मन न होगा तो दया ठहरेगी कहां, और शरीर न होगा तो मन रहेगा कहां? जिस समय हम कहते हैं कि 'हे नाथ! हमारी रक्षा करो, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं' उस समय उस अप्रतिम के अस्तित्व में हाथ और पांव की कल्पना करते हैं क्योंकि रक्षा हाथों से की जाती है और प्रणाम चरणों पर किया जाता है। कारण के बिना कार्य का मान लेना तर्कशास्त्र के विरुद्ध है, फिर कौन निराकारवादी ईश्वर के मनःकल्पित हस्तपदादि रचना से बच गया? पाषाण धात्वादि निर्मित मूर्ति के पूजने वालों में और इनमें केवल इतना ही अन्तर है कि इनके यहां की ईश्वर प्रतिमा केवल मन के भाव से गढ़ी जाती है और उनके यहां की रजत कांचनादि से, तथा यह मन और बचन से ईश्वर के हाथ पांव इत्यादि स्वीकार करते हुए भी देख नहीं सकते तथा सर्व-साधारण के आगे कहते हैं कि हमारा ईश्वर निरवयव है और वह जैसा मानते हैं वैसा सबके सामने कह भी देते हैं कि भाई, हमारा ईश्वर लंगड़ा लूला अंधा बहिरा नहीं है, उसके कर पद नयनादि कमल के समान कोमल और सुंदर हैं। फिर मूर्तिपूजक लोग ईश्वर को कौन सी गाली देते हैं कि उन पर आक्षेप किया जाय? विचार के देखिए तो दूसरे पूजकों के देखे इनमें इतनी विशेषता है कि अन्य लोग केवल उसकी महिमा तथा अपने स्वार्थ साधनादि की प्रार्थना का केवल जबानी जमा खर्च रखते हैं। किन्तु यह मन और वचन के अतिरिक्त चन्दन पुष्पादि के द्वारा तन और राग भोगादि के द्वारा धन से भी उसकी सेवा करते हैं, अपने शयन भोजनादि में भी उसका स्वामित्व बनाए रहते हैं, बरंच उसकी प्रसन्नता के लिए तीर्थ व्रतादि में नाना कष्ट सकते हैं, काम पड़े तो उसके लिए प्राण तक उत्सर्ग कर देने को प्रस्तुत रहते हैं। इनके प्रेम की सचाई में औरंगजेब के समय मसीह नामक फारसी कवि ने साक्षी की भांति कहा था कि अन्य धर्मियों में बहुत थोड़े लोग हैं, बरंच नहीं हैं, जो ईश्वर के नाम पर धन भी लुटा देते

हों किन्तु मूर्तिपूजकों का साहस सराहने योग्य है जो उसकी प्रतिमा पर शिर तक निछावर कर देते हैं* । एक ऐसे आर्यद्वेषी यवन सम्राट को यहां वाले विदेशी विद्वान की लेखनी से ऐसा बचन निकलना क्या इस बात की पक्की शाक्षी नहीं है कि प्रतिमापूजक ईश्वर के साथ बहुत बड़ा प्रेम सम्बन्ध रखते हैं ? इन्हीं के समुदाय में ऐसे ज्ञानियों और प्रेमियों की संख्या अधिक निकलेगी जो संसार के यावत् सजीव निर्जीव पदार्थों को ईश्वर ही की मूर्ति समझते हैं । "मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवन्त"—इसका अभिप्राय कुतर्की लोग न समझें तो कोई हानि नहीं है पर समझने वाले समझ सकते हैं कि जितनी मूर्तियां हैं वे सब ईश्वर से व्याप्त हैं और ईश्वर ही सबका एक मात्र स्वामी है । इन दोनों रीतियों से उन्हें ईश्वर की मूर्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? और जिस ईश्वर को हम अपना प्रेम पात्र समझते हैं उसके निवासस्थान वा अधिकृत पदार्थ तथा स्मारक चिह्नों की पूजा किए बिना क्योंकर रह सकते हैं ? इस के लिए बड़े २ प्रमाण ढूंढ़ना भी मानो उसके सच्चे प्रेम से जी चुराना है । मजनू ने एक बार लैला के पालित कुत्ते को अपना बहुमूल्य दुशाला उढ़ा दिया था और बड़े आदर से आलिंगन किया था । इस कथानक पर केवल वही लोग हंसे तो हंसा करें जिन को मतवाद अधिक प्रिय है किन्तु जिन्हें ईश्वर प्यारा है वे ऐसी कथाओं को बड़े आदर से सुनेंगे और मनावेंगे कि भगवान हमें भी ऐसा करे । पर जब तक हम ऐसे अधिकारी नहीं हुए तब तक यदि उन मूर्तियों का आदर करें जिन के देखने से हमें ईश्वर के रूप गुण स्वभावादिक स्मरण होता है, तो क्या बुरा करते हैं ? इस पर यदि हमारे विपक्षी साहेब कहें कि—'ऐसा है तो फिर जूता'·· हाड़ इत्यादि को क्यों नहीं पूजते' ? तो हमारा यह उत्तर कहीं नहीं गया कि पूजा का अर्थ है सत्कार, और सत्कार उस का किया जाता है जिसे देख सुन के चित्त में प्रेम और प्रसन्नता आवै । अतः जिन्हें उक्त पदार्थों से प्रीति हो वे शौक से उन्हें पूजें पर हम तो अभी इस दर्जे को नहीं पहुंचे, हमें तो नीच प्रकृति के मनुष्यों तक से अश्रद्धा है, अस्मात् पाषाणादि मूर्तियों को पूजनीय मानेंगे, जो न कभी किसी से छल कपट करती हैं न कुछ मांगती हैं न कटु वाक्य निकालती हैं । बरंच सम्मुखस्था होते ही हमारे प्यारे मुरली मुकुट

---

* बनामे हक़ कसे कम जर फ़िशानद ।
खुशा हिम्मत कि बरबुत सर फ़िशानद ॥

धनुर्बाण खड्गाकुंश त्रिशूलादिधारी हृदयविहारी का स्मरण कराती हैं जिस के साथ ही हमें बीरता निर्भयता रसिकता आदि की शिक्षा प्राप्त होती है और चन्दन कपूरादि की सुगन्ध से घ्राणेंद्रिय तथा मस्तिष्क आमोदित हो जाता है, पंचामृत प्रसादादि से मुख मीठा होता है, नाना भांति के गीत वाद्यादि से श्रवण पवित्र एवं प्रमुदित होते हैं, शृंगार की छटा तथा एक २ अंग की शोभा से नेत्र कृतार्थ होते हैं, फिर ऐसी तत्क्षण फलदायिनी प्रतिमाओं को हम क्यों न ईश्वर की प्रतिमा मानें जिन के कारण इस गिरी दशा में भी हमारे सैकड़ों नगरों की शोभा और सहस्रों देशभाइयों का उपकार होता है। यदि नए मतवालों का ईश्वर इनके पूजन को अपना पूजन न समझे तो हम समझते हैं वह उन लघुबयस्का निरक्षरा सुन्दरियों से भी नासमझ है जिन्हें हम दूसरों पर ढालकर अपने मन का स्नेह समझा देते हैं और वे संकेत मात्र से सब बातें समझ जाती हैं। बरंच इतर लोगों की लज्जा से बोलने का अवसर न होने पर भी हमें संतोषदायक उत्तर दे देती हैं। पर ईश्वर महाराज इतना भी नहीं समझ सकते कि यह प्रतिमा को पूजता है अथवा हमको? यदि ऐसा है तो हम ऐसे समझ के शत्रु को मानना कैसा ईश्वर ही कहना नहीं चाहते। हमारा ईश्वर तो बिना कहे भी हमारे हृदयगत भाव जान लेता है। तिस पर भी जब हम यह न कह के कि—'हे पाषाण, हमारी पूजा ग्रहण करो', यों कहते हैं कि—'हे परमेश्वर, हमारी सेवा स्वीकार करो,' तो ईश्वर क्योंकर हमें बुतपरस्त समझेगा? जब कि हमारी मूर्तियां ही ऐसी सुडौल शिर से पैर तक ईश्वरीय भाव से पूर्ण होती हैं तो हम क्यों न अपने ईश्वर को उन्हीं के द्वारा रिझावें? इस पर जो लोग हमें हंसते हैं उन्हें पहिले अपने यहां की मूर्तियों को देख के लज्जित होना चाहिए जिनका वर्णन उन के मान्य ग्रन्थों में ऐसा अधूरा किया गया है कि एक तो सब अंगों का बोध भी नहीं होता, केवल हाथ पांव नेत्रादि दो चार अवयव बर्णित हैं, सो भी ऐसे अनगढ़ कि किसी पंच (हास्यजनक समाचारपत्र) में दे दिए जायं तो पाठकों को हंसाते २ लुटा दें। यहां हम बाइबिल और कुरान में लिखे ईश्वर के अंगों का वर्णन नहीं करते, क्योंकि एक तो उन में केवल दो एक अंगों को छोड़ के औरों का नाम भी नहीं है। दूसरे जहां पर लिखा है कि ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में बनाया वहां यदि "अपने" शब्द का अर्थ आदम की ओर न लगा के ईश्वर की ही ओर लगाएं तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि आदम की सूरत सिर से पैर तक किसी भांति अपूर्ण व अनमेल न थी। तीसरे हमारे मुहम्मदीय और मसीही

भाई इन दिनों इस विषय में हम से छेड़ के विवाद नहीं लेते अतः हमें तो उन से झगड़ना अनुचित है। पर हमारे दयानंदी हिन्दू भाई इस बात का बाना बांधे फिरते हैं। इस से हमें उन के यहां की मूर्तियां देखनी हैं। यदि न वे अपने स्वामी जी के चित्र का अनादर नहीं सह सकते जिसका मूल्य छः पैसे और अधिक से अधिक दो रुपया है, तथा सुन्दरता भी ऐसी नहीं है जैसी हमारे रामकृष्णादि की तसवीरों में होती है, स्मरण भी उस के द्वारा केवल एक काठियावारी विद्वान् मात्र का होता है, और बस, किन्तु हमारी स्वर्ण रजत हीरकादि की देव प्रतिमा पोप लीला है, उन का अनादर कोई बात नहीं, पर स्वामी जी क्या फोटो बड़े खूबसूरत चौकठे में बड़ी इज्जत के साथ रखना चाहिए। यों ही जहां वेदों में अक्षरार्थ के द्वारा कोई शंका उठावें तो छुटते ही यह उत्तर होगा कि उस रिचा का गूढ़ार्थ और है अथवा अलंकारिक बर्णन है किन्तु पुराणों में जहां सहज में समझने योग्य विषय न हों वहां गूढ़ार्थ वा अलंकारिक अर्थ कुछ नहीं है, केवल गप्पम्बर्तते। और इस पर तुर्रा यह है कि ऐसी ही समझ पर देशहित और ऐक्य प्रचार का भी दावा है। पर हम पूछते हैं कि हठ का अवलंबन न कर के कभी कोई भी देश वा जाति में एका फैला सका है कि आप ही अनोखे बन के आए हैं ? हमें श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रतिकृति अथवा वेद भगवान से बैर नहीं है पर साथ ही यह भी जिद नहीं है कि इन के सिवा और सब बुद्धिविरुद्ध हैं नहीं, अपने पूर्वपुरुषों के साधारण चिह्न का भी हमें ममत्व स्वभावत होना चाहिए यदि हम उन के सन्तान हैं। फिर प्रतिमा और पुराण तो उनके बर्षों के परिश्रम के फल हैं, उन का उपहास कर के हम जगत एवं जगदीश्वर को क्या मुंह दिखावैंगे ? और यों तो कुतर्क के लिए सभी राहें खुली हैं। प्रतिमा और पुराण का क्या कहना है, ईश्वर और वेद पर भी आक्षेप हो सकता है। और केवल मुंह के आस्तिकों को उसका उत्तर सूझना कठिन पड़ेगा। न मानिए तो सुन लीजिए, पर उन्हीं कानों से जिन से आप हमें पुराणों की गड़बड़ाध्यायी सुनाया चाहते हैं। शब्दार्थ और अक्षरार्थ से अलग कोई बात कहिएगा तो हम पुराणों के मंडन में धर धमकेंगे। यह भी स्मरण रखिए कि अलंकार का नाम न लीजिएगा नहीं तो स्वामीजी के भाष्य में केवल चार ही पांच मिलेंगे, जिनके द्वारा वेद भगवान् की सीधी सादी लेख प्रणाली में बनावट झलकने लगेगी। किंतु हम एक सौ आठ नाम और लक्षण ले बैठेंगे जिनका वेदों में पता भी न लगेगा किंतु पुराणों में अध्याय के अध्याय मिलेंगे। और उस दशा में आप तर्कशास्त्र का

अवलंबन कर के न बच सकिएगा, केवल काव्यशास्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा, जो आपके यहां यदि है भी तो नहीं के बराबर। पर इन बातों से हमें क्या, बिना जाने हुए विषय में जो कूदेगा वह आप हास्यास्पद होगा। अतः हम अपने प्रस्ताव में क्यों विलंब करें।

हम पर यह दोष लगाया जाता है कि सर्वव्यापी असीम परमात्मा को बित्ता दो बित्ता की मूर्ति में ठहराते हैं। पर वेदों में जहां विराट स्वरूप का वर्णन है वहां भूमि उसके चरण और सूर्य उसके नेत्र माने गए हैं। असीमता इसमें भी नष्ट हो जाती है क्योंकि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी स्कूल के बालक तक जानते हैं, वुह असीमता के आगे कुछ भी नहीं है। और सुनिए, नेत्र तो हुए सूर्य पर नेत्र के ऊपर वाले अंगों (मस्तक कपाल आदि) का नाम ही नदारद। यदि खगोल विद्या के अनुसार मान लें कि नेत्र के ऊपर वाले अंगों के स्थानापन्न वह ग्रह नक्षत्रादि हैं जो सूर्य के ऊपर हैं तो बड़ा ही मजा हो। सूर्य के ऊपर हैं शनिश्चर, वह ईश्वर की खोपड़ी में जा बैठेंगे! कौन जाने इसीसे उनका रंग काला बर्णन किया गया हो और इसीसे मतवादियों के इश्वर की अक्किल डांवांडोल रहती हो! इसके सिवा 'यस्यभूमिः प्रभांतरिक्षमुतोदरम्' तथा 'यस्य सूर्यश्चक्षुः' इत्यादि रिचाओं से भूगोल विद्या के अनुसार और भी बड़ी तमाशे की बात निकलती है। अर्थात् सूर्य धरती से लाखोंगुणा बड़ा है सो तो हुवा नेत्र और धरती हुई चरण जिसका वृत्त केवल पचीस सहस्र मील के लगभग है। इस लेखे से ईश्वर का स्वरूप 'राई भरे के बिटिया भांटा की बराबर आंख' का उदाहरण बना जाता है। इसके साथ ही जब यह लिखा देखिएगा कि एक आंख सूर्य है दूसरी चंद्रमा, जो पृथिवी से भी कहीं छोटा है, तो हंसी रोकना मुश्किल पड़ेगा। वाह! एक आंख गज भर की, दूसरी आलपीन की नोक भर की भी नहीं! चरणारविंद ऐसे विचित्र कि एक आंख की अपेक्षा लाखोंगुना छोटे और दूसरी आंख से बड़े। तिस पर भी तुर्रा यह कि आंखें भी गोल और पांव भी गोल। भला ऐसी विचित्र मूर्ति को कौन न कहेगा कि पंच की तसवीर है। आंख की छुटाई बड़ाई का दोष **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** वाले मंत्र में निकाल डाला गया है। पर वह दोष निकल जाने पर भी ईश्वर को मंगलमय कहते ही डरेगा क्योंकि जब सहस्र शिर हुए तो आंखें दो सहस्र चाहिए, पर यहां वे भी सहस्र ही हैं अतः मंगल स्वरूप के बदले शुक्र स्वरूप

हुए जाते हैं, जो 'नमस्ते'* ही भाइयों के मध्य राज्य करने के काम के हैं न कि भक्तों के समुदाय में।

इस प्रकार के कुतर्क वेदों में बहुत जगह निकल सकते हैं जिनकी अपेक्षा ईश्वर का न मानना ही भला है। पर आस्तिकों को उसके माने बिना शांति नहीं होती। इसी से पुराणों में जहां कहीं उसके स्वरूप की कल्पना की गई है वहां तदनुरूप यथातथ्य रीति से की गई है पर जिन्हें हार जीत का व्यसन है उन्हें पराए दोष ही ढूंढ़ने में संतोष होता है। पर हमारी दृष्टि में दूसरों को कुछ कहना अपने ही ऊपर दोष लगवाना है। इससे ईश्वर के विषय में केवल इस वाक्य का अनुसरण करना श्रेयस्कर है कि 'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।' इसके अनुसार चौराहे की ईंट, मट्टी का ढेला और हीरा मोती की प्रतिमा सब ईश्वर ही की मूर्ति हैं और उन्हें जो जिस भाव से सच्चे मन के साथ पूजेगा वही अपने मनोरथ को प्राप्त करेगा। क्योंकि ईश्वर किसी रीति विशेष के हाथ बिक नहीं गया न भक्तों की मनसा के अनुकूल रूप धारण में अक्षम है। उसमें किसी शक्ति का अभाव नहीं है। पर हममें भक्ति होनी चाहिए और यों मौखिक वाद के आगे ईश्वर ही कुछ नहीं है उसकी मूर्ति तो कहां से आवेगी। जब आप हमारी मूर्तियों को वैदिक प्रमाणों से पाषाण बनावेंगे तब हम भी कह देंगे कि आप प्रेममय परमात्मा को तो मानते ही नहीं, न उसका प्रेमानंद लाभ करने में यत्नवान होते हैं, केवल शास्त्रार्थ नाधने के लिए 'परमेश्वर' नामक शब्द ठहरा रक्खा है जो परमेश्वर अक्षरों का विकार मात्र है, तथा जिसके विषय में श्री मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि 'देवि दैत्येश्वरः शुंभस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः' पर भइया, हम तो उसकी संहारिणी आदिशक्ति को मानेंगे, आपके लिए आपकी इच्छा रही। यदि इस उत्तर से आपको क्रोध आवे तो अपने निराकार निर्विकार से हमें दंड दिलवाइए और हम अपने साकार दृश्यमान भगवत्स्वरूप से सहायता लेकर उन्हीं के द्वारा कपाल-भंजन करके तत्क्षण अपने ईश्वर की महिमा दिखा देंगे। पर यह बातें तो उस समय के लिए है जब झगड़ा खड़ा हो। नहीं तो कल्याण केवल इसमें है कि धर्म के विषय में न आप न हमसे बोलें न हम आपसे। क्योंकि वह हमारा आपका ईश्वर के साथ निज संबंध है और दो जनों के निज संबंध में अनधिकार हस्तक्षेप करना नीचता है। इससे ईश्वर को चाहे जैसे आप

---

* न = नहीं है, मस्ते = मस्तक पर (आंखें) जिसके।

मानिए चाहे जैसे हम माने पर अन्य सब विषयों में हम आपको और आप हमको सतचित से सहोदर मान के साथ दीजिए। उस दशा में यह भी संभव है कि आपका रंग हमें लगाया जाय अथवा हमारा रंग आपको लग जाय और इस रीति से मत की भी एकता हो जाय, वा न हो तो भी परस्पर का स्नेह सुभीता तो बना ही रहेगा, जो ईश्वर का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसके द्वारा हम ईश्वर प्राप्ति विषयक भी अनेक विघ्नों से बच सकते हैं और प्रेमानुभव का अभ्यास करते २ स्वयं ईश्वर की मूर्ति को देख सकते हैं।

खं० ८, सं० ११ (जून, ह० सं० ८)

लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं

हमारे पाठकों ने गत दो संख्याओं में कानपुर धर्म्ममंडल विषयक लेख देखे होंगे जिनमें सहयोगी 'आर्यावर्त' की कुछ बातों का उत्तर भी था। उनसे यदि सहृदय समाज को यह आश्चर्य हो तो असंभव नहीं है कि 'ब्राह्मण' तो मतमतांतर के झगड़ों से सदा अरुचि रखता था, उसे दो तीन मास से यह कैसी सनक चढ़ी है! इस विचार के समाधानार्थ हम यह विदित कर देना उचित समझते हैं कि हमारा सिद्धांत प्रेम है, जिसकी स्तुति हमारा अंतःकरण निर्भयता के साथ यहां तक करता है कि 'ब्रह्मा विष्णु महेश सब पूजत याके पायं। परब्रह्म हू प्रेम को ध्यावत ध्यान लगाय।' हम इस अपने अचल सिद्धांत को कभी किसी दशा में छोड़ दें तो हमारा कहीं ठिकाना न रहे। पर हां यतः अभी भगवान प्रेमदेव ने केवल तुच्छ दामों में हमें अंगीकार किया है, पूर्ण रूप से हमारी संसारिकता का लोप नहीं हुवा, अतः यदि कोई हमारे आनंद में विघ्न डालने का मानस करता है तो दो एक बार उसे समझा देना अनुचित नहीं समझते। यद्यपि है यह भी वाहियात पर क्या किया जाय, जब तक वह पूरी तरह न अपनावैं तब तक ऐसी बातों की परवा न करना हमारी सामर्थ्य से दूर है। इससे जब हम देखते हैं कि हमारे प्यारे भारतीय धर्म कर्मादि का किंचित मात्र भी तत्व समझे बिना कोई आग्रही उसका विपक्षी बनने में साहसवान होता है तब हमें उचित उत्तर देना पड़ता है। हम किसी मत के पक्षी वा विपक्षी नहीं हैं पर सत्य का पक्ष और अपने भाइयों का पक्ष अवश्य करते हैं। हमारे यहां के पुराण इतिहासादि सब सत्य हैं और यदि कोई मनुष्यता के साथ उनकी सत्यता के विषय में प्रश्न करे तो हम संतोषदायक उत्तर देने को प्रस्तुत हैं। इसी प्रकार हमारे शैव शाक्तादि सब भाई यदि श्रद्धापूर्वक अपने धर्म का तत्व समझ के उसका सत चित से अवलंबन करें तो हमें ही नहीं वरंच सच्चे आस्तिक मात्र को मान्य है तथा अपना लौकिक एवं पारलौकिक हित साधन में सक्षम हैं अस्मात् यदि कोई इनकी प्रतिष्ठा अथच सदुद्योग का पक्षपातपूर्वक उपहास करना चाहे उसे उचित उत्तर देना हम अपने धर्म का एक अंग समझते हैं। इसीके अनुसार हमने पंडितवर दीनदयाल शर्मादि के मनोहर व्याख्यान अपने कानों से सुन कर तथा उनके प्रभाव का कानपुर के सनातनधर्मियों पर प्रभाव अपनी आंखों से देखकर उचित प्रशंसा के साथ सच्चा समाचार लिखा था, जिसकी साक्षी के लिए यहां के सहस्रों कुलीन प्रतिष्ठित विद्वान् विद्यमान हैं। पर हमारे सहयोगी महाशय उन सबको झुठला के सच्ची घटना को

केवल पक्षपात के वश झूठा बनाया चाहते थे। इसीसे हमने उचित उत्तर दे दिया था। पर सच्चे और उचित तथा प्रामाणिक उत्तर को तो वह लोग मानते हैं जिन्हें न्याय और धर्म से कुछ भी जान पहिचान होती है। किंतु जिन्हें अपनी ही बात का भी छेड़ना झगड़े का मोल लेना है, जिसका सज्जनता अनुमोदन नहीं करती क्योंकि बाद का आनंद तब आता है जब समझदार और सभ्य लोगों से किया जाय तो उसका यह हाल है कि एप्रिल मास में हम थे बीमार। इससे पत्र संपादन कर न सके थे। पर हमारे परम सहायक श्रीमन्महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय ने चलते हुए काम को रोकना उचित न समझ कर अन्यान्य सुलेखकों के लेख से पूर्ण करके इस पत्र को प्रकाश कर दिया था। उसमें एक लेख 'हम मूर्ति पूजक हैं' हम लोगों के परमपूज्य महात्मा हरिश्चंद्र का भी था जिसे 'आर्य्यावर्त' जी ने हमारा समझ कर अंड की बंड बातें लिख डाली थीं। भला हम ऐसे समझदारों को क्या उत्तर दें जो इतना भी नहीं समझ सकते कि 'ब्राह्मण' संपादक को महर्षि भारतेंदु के ढंग का लेख लिखने की सामर्थ्य कहां से आई। वैसा लेख लिखना तो क्या लिखने का मानस करना भी छोटा मुंह बड़ी बात है। इस समझदारी पर भी तुर्रा यह कि लेख का आशय कुछ भी न समझ कर पुराण और प्रतिमा की निंदा पर जा गिरे जिसका उत्तर तो बीसियों बार बीसियों विद्वान दे चुके और प्रत्युत्तर में साधु वाक्य सुन चुके पर हम केवल इतना पूछना चाहते हैं कि 'आय्यावर्त' संपादक वा कोई समाजी उस प्रकार के मूर्तिपूजन से बचे हुए हैं? क्या वह अथवा उनके सहचरों में से कोई भी ऐसा है जिसे अपने शरीर तथा स्त्री पुत्र इष्ट मित्रादि का मोह न हो? यदि है तो उसका जीवन मनुजता से कितना संबंध रखता है? और नहीं है तो उक्त लेख पर आक्षेप करना सिवा अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देने के और क्या था। यही नहीं, इस समझ पर भी सभ्यता यह है कि जिन असाधारण पुरुषों की देश के बड़े २ लोग हृदय से प्रतिष्ठा करते हैं उनके पक्ष में आप वह २ शब्द प्रयुक्त कर उठाते हैं कि सभ्य समुदाय में शत्रुता के अवसर पर भी प्रयोग करने योग्य न हों। एक बार आपने आनरेबिल सैयद अहमद महाशय का नाम अंतिम दकार को ककार से बदल के इस रीति से लिखा था कि यदि अभियोग उपस्थित होता तो छापे की अशुद्धि का बहाना भी न चल सकता। श्री पंडित दीनदयालु जी को मुंशी लिखते २ भी संतोष न हुआ था तो एक बार यह लिख मारा था कि 'बिचारे दयाला का दिवाला निकल गया'। यह उपर्युक्त दोनों सज्जन वस्तुतः ऐसे हैं कि

कांग्रेस वा आर्यसमाज के गुणगायक न होने से सभ्य लोगों के मध्य अप्रतिष्ठित कदापि नहीं समझे जाते और यदि अपने अपराधियों को क्षमा न कर दें तो अच्छे अच्छों को दिखला सकते हैं कि कौन कितना है। पर इतना तो वह समझे जिसे सभ्यता से संबंध और आगे पीछे का कुछ भी विचार हो। इस गुण में भी हमारे साथ वादानुवाद में आपने ऐसा अनोखा-पन दिखाया है कि देखने से काम रखता है। आप एक लावनी लिखते हैं जिसकी टेक यह है कि 'धन हरण हेत पूजो हो बटिया काली। अब नहीं चलेगी तुमने बहुत चला ली'। इसमें के जौहर यह हैं कि एक तौ सिद्धांत-विषयक विचार के ठौर पर व्यक्तिविषयक आक्षेप, सो भी इतने झूठे और असभ्य और धर्म एवं प्रतिष्ठा पर बेअदबी से भरे हुए कि या तो अदालत में उत्तर दिया जा सकता है या सभ्य मंडली से इस्तेयफा देकर दिया जा सकता है। जैसे झूठे दोष हम पर आरोपित किए हैं उनसे अधिक घृणित और सच्चे यदि हम दिखला चलें तो उन्हें तो दुनिया जो कुछ कहैगी कहैगी ही किंतु हम पर भी यह आश्चर्य करेगी कि इसके लेखनी से यह शब्द क्योंकर निकले। इस पर भी तुर्रे पर तुर्रा यह कि उक्त लावनी में हमारा नामँ है जिससे या तो यह प्रयोजन है कि जो लोग हमें नहीं जानते वह समझें कि यह भी सनातनधर्म का विरोधी होगा अथवा यह दिखलाना अभीष्ट होगा कि 'आर्य्यावर्त' ऐसी साफ तरह व्यक्ति विशेष को यों गालियां देने में भी किसी का भय नहीं करता। यह हम नहीं कह सकते कि सहयोगी हमसे बैर रखता है पर इतना तो बुद्धिमान मात्र कह सकते हैं कि उसकी धर्मभीरुता, बुद्धिविशालता, सभ्यता और दूरदर्शिता किस दरजे तक चढ़ी बढ़ी है। ऐसे २ रंग ढंग देख कर यदि कोई सच्ची आलोचना करना चाहेगा तौ उसे सभ्यता बाधा डालेगी पर इतना तथापि मुंह से निकले बिना न रहेगा कि "इस सादगी प कौन न मर जाय ऐ खुदा। लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं"। अब हमारे पाठकगण बतलावैं तो कि ऐसों के साथ उत्तर प्रत्युत्तर करते रहना किस प्रकृति के लोगों का काम है और वह प्रकृति ब्राह्मण के लिए उचित है वा नहीं ? फिर हम क्यों न कहें और कहां तक न कहें कि बाबा ! हमने जो कुछ लिखा था वह दूसरे धोखे से लिखा था, पर अब तुम्हीं सच्चे हो, तुम्हीं बड़े हो, तुम्हीं लिखना जानते हो, हम तुम्हारी बराबर बनना अपने पक्ष में अच्छा न समझ कर मौनावलंबन करते हैं। कहा सुना मुआफ, हार मानी, झगड़ा मिटा, बस !

खं० ८, सं० ११ (जून, ह० सं० ८)

छल (२)

दो लेखों में हम यह दिखला चुके हैं कि छल बहुत अच्छा और मजेदार गुण है तथा ऐसे वैसे साधारण लोगों से हो भी नहीं सकता अतः इसके सीखने में यत्न करना चाहिए। इस पर हमारे कई मित्रों ने पूछा है कि सीखें तो क्योंकर और कहां पर सीखें। उनके लिए हम आज बतलाते हैं कि सीखना किसी बात का चित्त की एकाग्रता के बिना नहीं हो सकता और चित्त तभी एकाग्र होता है जब उसे भय अथवा लालच का सामना करना पड़ता है। इसी से जो बालक पढ़ने में मन नहीं लगाते और भैया राजा कहने पर भी राह पर नहीं आते उनके लिए प्राचीनों की आज्ञा है कि 'लालने बहवीदोषास्ताड़ने बहवो गुणाः,' किन्तु इस गुण के सीखने की इच्छा रखने वाले बालक नहीं होते न सीखने से जी ही चुराते हैं अस्मात् भय अथवा ताड़ना के पात्र नहीं हैं। यों अकस्मात् किसी कपटी के मायाजाल में पड़ के डर व कष्ट उठाना पड़े तो और बात है पर बुद्धिमानी यह है कि उस प्रकार के डर और कष्ट को अपने ऊपर न आने दे, किसी दूसरे ही को उसमें फंसा कर कपटकारक के हथखंडों और कापट्यजालबद्ध गावदीराम की दशाओं का तमाशा देखता हुवा शिक्षा लाभ करे। जिससे इतना न हो सकेगा वह कपट कालेज का अयोग्य विद्यार्थी है और अपने आप ताड़ना पात्र बनता है। हमें सन्देह है कि कष्ट एवं हानि सहने पर वह छलविद्या में कोई डिग्री पास कर सके वा न भी कर सके। बहुत लोग कहते हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है पर हमारी समझ में इस विद्या को भी जिसने कुछ खो के सीखा उसने क्या सीखा। यद्यपि सीखना अच्छा ही है चाहे जैसे सीखा सही किन्तु सुयोग्य कहलाने के योग्य वह है जो कुछ ले के सीखे। अधिक नहीं तो जिसके पास सीखता हो उसका मन ही अंटी में कर ले। मिष्ट भाषण एवं मिथ्या प्रेमप्रदर्शन को यहां तक पहुंचा दे कि उसे पूरा विश्वास हो जाय कि यह हमारा सच्चा विश्वासी है हमारे भेद अपने बाप के आगे भी न खोलेगा। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षक महाशय पर अपना भेद न प्रकट होने पावै और बड़ी ही भारी स्वार्थसिद्धि की आशा तथा आवश्यकता के बिना उनका भेद भी दूसरा न जानने पावै। बस फिर विद्या आ जाना असंभव न होगा। पर यह उन्हीं का साध्य है जिन्हें एकाग्रचित्तता का अभ्यास हो और चित्त

की एकाग्रता के लिए हम लिख चुके हैं कि भय अथवा प्रलोभन की आवश्यकता है। उसमें भय तो भाग्य ही के बश कभी आ जाय तो खैर नहीं तो काल्पनिक भय को कभी पास न फटकने देना चाहिए। वरंच उत्तम तो यह है कि सचमुच हानि अथच कष्ट की सम्भावना हो तौ भी चित्त को इन मंत्रों से धैर्य प्रदान करता रहे कि—होगा सो देखा जायगा, दुनिया में सुख दुःख सभी को हुआ करते हैं, दूसरे के चार हाथ थोड़ी हैं। विपक्षी धन बल दिखावै तो हम छल बल से काम लेंगे—इत्यादि और जब भय आ ही पड़े तो उसे भय न समझ कर उसके दूर करने के उपाय को मुख्य कर्तव्य समझना चाहिए। फिर बस परमेश्वर चाहे तो भय का भय नहीं ही रहेगा। और यदि आ पड़े तो खैर छल सीखने वा अभ्यास में लाने का अवसर मिला सही। किन्तु परमेश्वर ऐसे अवसर न दिखावे यही अच्छा है। हमारे पाठक कहते होंगे कि छल की शिक्षा और बार २ परमेश्वर परमेश्वर ! यह क्या बात है ! इसके उत्तर में हमें कहना पड़ता है कि संसार में नास्तिक बहुत थोड़े हैं और जो हैं उन पर श्रद्धा बहुत थोड़े लोगों को होती है। इस कारण उन्हें कोई मुंह नहीं लगाता। इससे उन्हें छल करने के लिए पात्र नहीं मिलते और पात्राभाव से अपनी मर्यादा के रक्षणार्थ निष्कपटता का पुतला बनना पड़ता है। अस्मात् छलियों को अवश्य चाहिए कि ईश्वर और धर्म के गीत गाकर संसार में प्रतिष्ठित बने रहें। बरंच जिनके साथ छल करना हो उनके सामने तो उन्हीं की रुचि के अनुसार परमेश्वर का मानने वाला औ धर्मतत्व का जानने वाला बनना पड़े तभी सुभीते की हिकमत है। फिर क्यों न मानिए परमेश्वर नहीं है तो लोगों के ठगने को एक शब्द ही सही। और यदि है तो छल जनित पापों को दूर करेगा। इस रीति से न लोक का भय रहेगा न परलोक का। रहा प्रलोभन, वह किसी प्रकार त्याज्य नहीं है बरंच चित्त की एकाग्रता का सहज और सुहावना उपाय है। अतः उस की प्राप्ति के अर्थ यत्न कर्तव्य है। हमारी समझ में पंच सकार अर्थात् संगीत, साहित्य, सुरा, सौंदर्य, सौहार्द्र्य की सेवा का थोड़ा बहुत अभ्यास करते रहना सहृदयता तथा एकाग्रचित्तता के उत्सुकों को अत्युत्तम है। क्योंकि यह पांचों पदार्थ चित्त को आकर्षित करके चिन्ता रहित कर देने की बड़ी सामर्थ्य रखते हैं। जो इनके रस का अभ्यासी है वह कैसी ही कठिनता का सामना पड़े पर घबराता नहीं है, कैसा ही कष्ट, कैसी हानि, कैसा ही सोच क्यों न उपस्थित हो, जहां नियमानुसार कोई मजेदार तान अलापी अथवा सुनी, जहां कोई रसीला छंद लिखा वा पढ़ा, जहां दो पियाले चढ़ाए, जहां

किसी सुंदरी का दर्शन स्पर्शन किया, जहां किसी अपने से चित्त वाले के पास जा बैठे वहीं सब दुःख दरिद्र भूल जाते हैं और तबीयत में ताजगी आ जाती है जो छल साधन की बड़ी भारी सहायिनी है। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य पंच सकार के संसर्ग से पागल हो जाता है उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पागल वह हो जाते हैं जो इनमें से किसी प्रकार के गुलाम बन जाते हैं अथवा नए २ आ फंसते हैं। किंतु जो इनके रसास्वादन के अभ्यासी हैं तथा इन्हें परिमितिबद्ध रख के दास्य स्वीकार करने के स्थान पर मनोविनोद सम्पादन मात्र में इनकी सहायता समयानुसार ले लिया करते हैं वे कदापि पागल नहीं बनते बरंच पागलपन की जड़ अर्थात् चित्त की उद्विग्नता दूर करके अधिक सावधान और चातुर्यमान हो जाते हैं और बहुधा देश काल पात्र का विचार करके इन्हीं के द्वारा दूसरों को पागल बना के, हंसा खिला के मूंड लेते हैं। इतिहासवेत्ताओं और जगत्कौतुकदर्शकों से छिपा नहीं है कि नीतिज्ञ पुरुषों ने एक वा दो ही सकारों के मायाजाल में ला के कितने ही बड़े बड़ों का तन मन धन मांग लिया है और आज भी मांग लेते हैं। फिर कोई क्यों कर सिद्ध कर सकता है कि सावधान पंच-सकारी पागल होता है। हां, जो संगीत, साहित्य और सौहार्द्रय की पूंजी को सौगुना प्रसिद्ध करना तथा सुरा एवं सौंदर्य सम्पर्क को पूर्ण रूप से गुप्त रखना नहीं जानता वह अवश्य पागल है। किन्तु ऐसे पागल भला कापट्य-शास्त्र क्या सीखेंगे। अतः उनकी चर्चा इस स्थल पर व्यर्थ है। हमारा लेख तो केवल उनके उपदेशार्थ है जो छल विद्या सीखना चाहते हों। उनसे हम अवश्य कहेंगे कि पंच सकार का उचित रीति से सेवन करते रहिए तो यह पूछने की आवश्यकता न रहेगी कि क्योंकर सीखें। रहा दूसरा प्रश्न, अर्थात् कहां पर सीखें। इसका साधारण उत्तर तो यही है कि कपटी के कोई बाह्य चिह्न नहीं होते। जैसे सब मनुष्य हैं वैसे ही वे भी हुवा करते हैं। अतः जिस पुरुष में कपटकारिता देखो उसी के चरित्रों से संथा ले लिया करो और दूसरों के प्रति उसी की चाल ढाल का अनुसरण किया करो। किंतु इस मंत्र को सदा स्मरण करते रहो कि जो कोई जान लेगा कि हम क्या करते हैं तो बुरा होगा। बस यों ही करते २ अच्छे खासे कपटी हो जाओगे। पर विशेष उत्तर सुनने की लालसा हो और शास्त्र का प्रमाण पाए बिना जी न भरता हो तो इस श्लोक को कंठस्थ कर रखिए कि 'देशाटनं पंडितमित्रता च बारांगना राजसभा प्रवेशः। अनेक शास्त्रावलोकनं च चातुर्यमूलानि बदंति संताः॥" जो लोग द्रव्योपार्जनादि के लिए देश

विदेश फिरा करते हैं अथवा बड़े नगरों में रह के नाना देश के लोगों की रीति व्यवहार देखा करते हैं उनसे छिपा नहीं है कि कई जाति के लोगों को ईश्वर ने ऐसा स्वाभाविक गुण दे रक्खा है कि उनमें के यदि हजार पांच सौ जन एकत्र किए जायं तो कदाचित एक ही दो ऐसे मिलेंगे जो शुद्ध 'छल के रूप कपट की मूरति मिथ्यावाद जहाज' न हों। हम उन जातियों का नाम बतला के सेंत का झगड़ा मोल लेना नहीं चाहते किंतु बाहिरी लक्षण बतलाए देते हैं कि बहुधा रंग गोरा, चेहरा खूबसूरत, शरीर निर्बल, स्वर मृदुल, मांस मदिरा से सच्ची घृणा नहीं, ईश्वर और धर्म का आग्रह नहीं, मित्रता शत्रुता का क्षण भर भरोसा नहीं, स्वार्थपरता से कोई बात खाली नहीं। उनका काम हो तो चाहे जैसी खुशामद करा लीजिए किंतु तुम्हारा प्रयोजन आ लगे तो मानो कभी की जान पहिचान ही नहीं। ऐसे लक्षण वालों से संसर्ग रखना छलविद्या सीखने में बड़ा सहारा देता है। किन्तु ऐसे लोग इस देश के केवल बड़े ही नगरों में तथा अपने ही भूभाग में मिलते हैं। इसी से शास्त्रकारों ने देशाटन की आज्ञा दी है और पंडितमित्रता अर्थात् नीतिवेत्ता, स्वार्थसाधनतत्पर, वेद शास्त्रादि के वचनों में अपने मतलब का अर्थ निकाल लेने में समर्थ, अपनी कही हुई बात को नाना रूप से पलट देने के अभ्यासियों की संगति भी इसी निमित्त बतलाई है कि देश विदेश घूमने वा नाना देशवासियों का रंग ढंग देखने तथा छंटे लोगों से हेल मेल रखने से मनुष्य की आंखें खुल जाती हैं और झूठ बोलना पाप नहीं जान पड़ता। जैसा कि फारस के विद्वानों का वाक्य है कि 'जहां दीदा बियार गोयद दरोगा'। फिर क्या, जहां झूठ बोलने की हिचक जाती रही वहां छल सीखने का ढर्रा खुला ही हुआ समझिए। और यदि इन दोनों रीतियों अर्थात् देशाटन और गुरुघंटालों के संग से पूर्ण शिक्षा न ग्रहण कर सकिए तो बारांगना देवी की चरणसेवा स्वीकार कीजिए, वे पक्का कर देंगी। क्योंकि ऊपर हम जितने कपटी जाति वालों के लक्षण बतला चुके हैं वे इनमें प्रायः सभी विद्यमान होते हैं। ऊपर से भोली २ सूरत और मीठी २ बातें बना के परधन हरण का उन्हें दिन रात अभ्यास चढ़ा रहता है। श्री तुलसीदास गोस्वामी तक ने जिनकी महिमा में साक्षी दी है कि "पर मन पर धन हरन को, गनिका बड़ी प्रवीन", जिनका सा रूप धारण कर के साक्षात् परमेश्वर ने भी छल ही किया है, अर्थात् समुद्र-मंथन के समय मोहनी अवतार ले के आप ने अपने प्यारे देवताओं को तो अमृत पिलाया था और आंखें भौंहें मटका के राक्षसों को मदिरा पिला

के पागल कर दिया था। जिन आर्यकुलकलंकों को पुराणों का नाम ही सुनते मृगी रोग आ चढ़ता है उनकी तो बात ही और है नहीं तो मोहनी रूप की कथा से बुद्धिमान मात्र यह उपदेश लाभ कर सकते हैं कि जब भगवान् तक इस रूप में प्रकटित होकर ऐसा ही करते हैं तब दूसरे पुरुष समुदाय से संसर्ग रखने वालियों से सच्ची प्रीति और सरल व्यवहार की आशा करना निरा व्यर्थ है। निरे भोलानाथ तो उनके दर्शन ही मात्र से लंगोटी तक गंवा बैठते हैं और केवल विषपान के योग्य रह जाते हैं निरे राक्षस अर्थात् इंद्रियों के गुलाम भी उन के हाथ से मोह मदिरा ही के मतवाले अर्थात् ज्ञानशून्य हो बैठते हैं। वहां तो केवल उन्हीं देवताओं का निर्वाह है जिनका लक्षण रामायण में "आप देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी" तथा "ऊंच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती" इत्यादि लिखा है। यदि ऐसे गुरुओं के निकट भी छल शिक्षा न प्राप्त कर सकिए तो आप का अभाग्य है। किन्तु बतलाने वाले इनसे भी अधिक श्रेष्ठ शिक्षक बतला गए हैं जो राजसभा अर्थात् कचहरी, दर्बार में रह के जीवनयात्रा करते हैं। अर्थात् वकील, मुखतार, झूठे गवाह, पूरे अदालतबाज इत्यादि, जिनका काम हो झूठ को सच और सच को झूठ कर दिखाना है। बस इन्हीं का सेवन और देश देशांतर की नीति संबंधी पुस्तक तथा कुटिल नीतिज्ञों के जीवनचरित्र देखते सुनते समझते बूझते रहिए तो ईश्वर चाहेगा तो बड़े अच्छे पक्के पूरे छलविद्या विशारद हो जाइएगा। पर इतना भी स्मरण रखिए कि यह महासिद्धि देवाधिदेव स्वार्थदेव की दया के बिना नहीं प्राप्त होती और वे उन्हीं अनन्य भक्तों पर दया करते हैं जो ईश्वरभक्ति, धर्म्मासक्ति, लोकलज्जा, परलोकभय इत्यादि को उन पर निछावर बरंच बलिदान करके उन्हीं के हो रहते हैं, धर्म कर्म विवेचना प्रतिष्ठादि का केवल ढकोसला मात्र रखते हैं, सो भी तभी तक जब तक स्वार्थेश्वर की आराधना में बाधा न आवे। बस यही मार्ग अवलम्बन कीजिए तो देख लीजिएगा छल की कैसी महिमा है और उसकी सेवा में कैसा आनंद है।

खं० ८, सं० १२ (जुलाई, ह० सं० ८)

पुराण समझने को समझ चाहिए

इस शताब्दी के लोगों की समझ में यह बड़ा भारी रोग लग गया है कि जिन विषयों का उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं है उनमें भी स्वतंत्रता और निर्लज्जतापूर्वक राय देने में संकोच नहीं करते। विशेषतः जिन्होंने थोड़ी बहुत अंगरेजी पढ़ी है अथवा पढ़ने वालों के साथ हेलमेल रखते हैं वा किसी नए मत की सभा में आते जाते रहते हैं उनमें यह धृष्टता का रोग इतना बढ़ा हुवा दिखाई देता है कि जहां किसी अपनी सी तबीयत वाले की शह पाई वहीं जो बात नहीं जानते उसमें भी चायं २ मचाना आरंभ कर देते हैं। बरंच भली प्रकार जानने वालों से भी विरुद्ध वाद ठानने में आगा पीछा नहीं करते। यह हम ने माना कि पढ़ने से और पढ़े लिखों की संगति से मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है किंतु इस के साथ यह नियम नहीं है कि एक भाषा वा एक विद्या सीखने से सभी भाषाओं और विद्याओं का पूर्ण बोध हो जाता हो। देखने से इसके विरुद्ध यहां तक देख पड़ता है कि एक ही विषय का यदि एक अंग आता हो तो दूसरा अंग सीखे बिना नहीं आता। साहित्य में जो लोग गद्य बहुत अच्छा लिखते हैं उन्हें भी पद्य रचना सीखनी पड़ती है और जिन्हें छंदोनिर्माण में बहुत अच्छा अभ्यास होता है वे भी गद्य लिखना चाहें तो बिना परिश्रम नहीं लिख सकते। दृश्यकाव्य के सुलेखक श्रव्यकाव्य में और श्रव्यकाव्य के सुलेखक दृश्यकाव्य में सहसा प्रवेश कभी नहीं करते यद्यपि सब साहित्य ही के अंग हैं। फिर हम नहीं जानते हमारे नौसिखिया बाबू लोग क्यों बिन जानी बातों में टंगड़ी अड़ा के हास्यास्पद बनने में धावमान रहा करते हैं। उनके इस साहस का फल सिवा इसके और क्या हो सकता है कि जिस विषय में वे ऐसी बैलच्छिकरते हैं उसके तत्ववेत्ता लोग उन्हें हंसैं थूकैं वा अपने जी में कुढ़ के रह जायं और इतर जन धोखा खा के सच झूट का निर्णय न कर सकें। विचार कर देखिए तो यह भी देश का बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि पढ़े लिखे लोग ऐसा अनर्थ कर रहे हैं जिससे आगे होने वाली पीढ़ी के पक्ष में भ्रमग्रस्त होकर बड़े भारी अनिष्ट की संभावना है। सर्कार ने हमें स्वतंत्रता क्या इसलिए दी है हम ढिठाई सहित अपनी मूर्खता का पक्ष करके देशभाइयों की बुद्धि को भ्रष्ट करें? हमारे संस्कृत एवं भाषा के प्रसिद्ध विद्वानों को उचित है कि इस प्रकार के निरंकुश लोगों

को रोकने का यत्न करें जिसका उपाय हमारी समझ में यह उत्तम होगा कि इस प्रकार के अनगढ़ स्वतंत्राचारियों को अपने २ नगरों में किसी प्रतिष्ठित सज्जन वा राजपुरुष की सहायता लेकर और सर्वसाधारण को समुझा कर लेक्चर न देने दिया करें और ऐसों के पुत्र पुस्तकादि का प्रचार रोकने के लिए अपने हेती व्यवहारियों को समय २ पर समझाते रहा करें। यदि सम्भव हो तो जाति के मुखियों को इन्हें जातीय दंड देने में भी उत्तेजित करते रहें नहीं तो यह मनमुखी लोग धर्म और देशभक्ति की आड़ में भारत को गारत करने में कसर न करेंगे। इन्हें हम यह तो नहीं कह सकते कि देश और जाति से आंतरिक बैर रखते हैं पर इतना अवश्य कहेंगे कि कोई सामाजिक भय न देख कर स्वतंत्रचित्तता की उगंग में आकर, नामवरी आदि के लालच से, बिना समझे बूझे केवल अपनी थोड़ी सी बुद्धि और विद्या का सहारा ले के हमारे पूर्वजों की उत्तमोत्तम रीति, नीति, विद्या, सभ्यतादि को दूषित ठहरा के सर्वसाधारण के मन में भ्रमोत्पादन करते रहते हैं। अतः यह निरक्षर स्त्रियों और अपठित ग्रामवासियों से भी अधिक मूर्ख हैं क्योंकि हमारी स्त्रियां और गंवार भाई और कुछ समझें वा न समझें पर इतना अवश्य समझते हैं कि हमारे पुरखे मूर्ख न थे। हमारी समझ में उनकी बातें आवैं वा न आवैं किंतु हमारा भला उन्हीं की चाल चलने में है। इस पवित्र समझ की बदौलत यदि अधिक नहीं तो इतना देश का हित अवश्य हो रहा है कि ग्रामों में और घरों के भीतर हमारी सनातनी मर्यादा आज भी बहुत कुछ बनी हुई है। किंतु बाबू साहबों की सभाओं, लेक्चरों, पुस्तकों और पत्रों में जहां ईश्वर, धर्म और देश हितैषितादि ही के गीत बहुतायत से गाए जाते हैं वहां भी आर्यत्व की सूरत कोट ही बूट पहिने हुए देख पड़ती हैं। फिर क्यों न कहिए कि इन देशोद्धारकों को पूर्ण प्रयत्न के साथ रोकना चाहिए जो पढ़ लिख कर भी इतना नहीं समझते कि सहस्रों रिषियों की, सहस्त्रों वर्ष के परिश्रमोपरांत स्थिर की हुई, पुस्तकें तथा मर्यादा, जिन्हें सहस्रों वर्ष से सहस्रों विद्वान मानते चले आए हैं, वह केवल थोड़े से विदेशियों तथा विदेशीय ढर्रे पर चलने वाले स्वदेशियों की समझ में न आने से क्योंकर दूषणीय और त्याज्य हो सकती है। जब हम देखते हैं कि दूसरे देश वाले कैसे ही क्यों न हो जायं किंतु अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव, भ्रातृत्व को हानि और कष्ट सहने पर भी नहीं छोड़ते और हमारे नई खेप के हिंदुस्तानी साहब इनकी जड़ काटने ही में अपनी प्रतिष्ठा और देश की

भलाई समझते हैं, तब यही कहना पड़ता है कि यदि यह लोग रोके न जायंगे तो एक दिन बड़ा ही अनर्थ करेंगे, जातित्व का नाश कर देंगे और देश का सत्यानाश। क्योंकि हमारे देश की राजनैतिक, सामाजिक, शारीरिक, लौकिक, पारलौकिक भलाई का मूल हमारा धर्म है और धर्म के परमाश्रय वेद शास्त्र पुराण इतिहास तथा काव्य हैं। किंतु बाबू साहबों की छुरी इन्हीं वेदादि पर अधिक तेज रहा करती है और मंडन खंडन में चाहे कुछ संकोच भी आ जाय किंतु धर्मदेव की निंदा स्तुति में तनिक भी नहीं हिचकते। इनसे तो मौलवी साहब के विद्यार्थियों को हम अच्छा कहेंगे। बड़े भाई, पिता, गुरु आदि मान्य पुरुषों का दोष सिद्ध हो जाने पर भी उनके लिए अप्रतिष्ठता का शब्द मुंह से कभी नहीं निकालते वरंच ऐसे अवसर पर 'खताए बुजुर्गा गिरफ्तन्खतास्त' वाले वाक्य से सभ्यता का संरक्षण करते रहते हैं। किंतु हमारे सुसभ्य सुपठित महाशय बाप दादों के बाप दादों की बड़ी २ और बड़े २ भावों से भरी हुई पुस्तकों को तुच्छ कहते जरा भी नहीं शर्माते। परमेश्वर यदि नितांत दयालु हों तो उन जिह्वाओं और हाथों को भस्म कर दें जिनके द्वारा सभाओं में बका और कागजों पर लिखा जाता है कि वेद जंगलियों के गीत हैं, पुराण पोपों के जाल हैं, इतिहास का कोई ठिकाना ही नहीं है, काव्य में निरी झूठ और असभ्यता ही होती है इत्यादि। यदि हमारा सा सिद्धांत रखने वाले सहस्र दो सहस्र लोग भी होते तो ऐसों की बात २ का दंतत्रोटक उत्तर प्रतिदिन देते रहते। पर यतः अभी ऐसा नहीं है इससे जो थोड़े से सनातन धर्म के प्रेमी हैं उनसे हमारा निवेदन है कि यथासंभव ऐसों का साहस भंग करने में कभी उपेक्षा न किया करें। जिस विषय को भली भांति जानते हों उसकी उत्तमता सर्वसाधारण पर विदित करते रहना और उससे विरोधियों का मान मर्दन करते रहना अपने मुख्य कर्तव्यों में से समझें। तभी कल्याण होगा नहीं तो जमाने की हवा तो बिगड़ ही रही है, इसके द्वारा महा भयंकर रोगों की उत्पत्ति क्या आश्चर्य है। इतना भार हम अपने ऊपर लिए रखते हैं कि पुराणों की श्रेष्ठता समय २ दिखाते रहेंगे और यदि भलमंसी के साथ कोई शंका करेगा तो उसका समाधान भी संतोषदायक रूप से करते रहेंगे। हमारे सहकारी हमारा हाथ बंटाने में प्रस्तुत हों और विरुद्धाचारी इस अखंडनीय वाक्य को सुन रक्खें कि पुराण अत्युच्च श्रेणी के साहित्य का भंडार है और भारतवासियों के पक्ष में लोक परलोक के वास्तविक कल्याण का आधार है। उनके समझने को समझ चाहिए। सो भी ऐसी कि भारतीय सुकवियों की लेख प्रणाली और भारतीय धर्म्म कर्म, रीति नीति,

आचार व्यवहार के तत्व को समझ सकती हो तथा इस बात पर दृढ़ विश्वास रखती हो कि हमारे पूर्वपुरुष त्रिकाल एवं त्रिलोक के विद्वानों, बुद्धिमानों के आदि गुरु और शिरोमणि थे। उनकी स्थापना की हुई प्रत्येक बात सदा सब प्रकार से सर्वोत्तम और अचल है। उनकी प्रतिष्ठा सच्चे मन और निष्कपट बचन से यों तो जो न करेगा वही अपनी बुद्धि की तुच्छता का परिचय देगा किंतु आर्य कहला कर जो ऐसा न करे वह निस्संदेह उनसे उत्पन्न नहीं है, नहीं तो ऐसा किस देश का कौन सा श्रेष्ठ वंशज है जो बाप की इज़्ज़त न करता हो और बाप से अधिक प्रतिष्ठित बाबा को न समझता हो तथा यों ही उत्तरोत्तर पुरुषों की अधिकाधिक महिमा न करता हो। इस नियम के अनुसार पुराणकर्ता हमारे सैकड़ों सहस्रों पुरखों के पुरखा होते हैं। उनकी बेअदबी करना कहां की सुवंशजता है ? बस इतनी समझ होगी तो पुराणों की महिमा आप से आप समझ जाइएगा। यदि कुछ कसर रहेगी तो हमारे भविष्यत लेखों से जाती रहेगी नहीं तो संस्कृत पढ़े बिना अथवा पढ़ के भी साहित्य समझने योग्य समझ के बिना जब पुराणों के खंडन का मानस कीजिएगा तभी अपनी प्रतिष्ठा खंडित कर बैठिएगा, किमधिकं।

खं० ८ सं० १२ (जुलाई, ह० सं० ८)

क्या लिखैं

यदि हम यह प्रश्न किसी दूसरे से करैं तो छुटते ही यह उत्तर मिलैगा कि तुम्हें हिन्दुस्तान और इंलिस्तान के सहृदय लोग सुलेखक समझते हैं, फिर इसका क्या पूछना, जो चाहो लिख मारो, पढ़ने वाले प्रसन्न ही होंगे। किंतु यह उत्तर ठीक नहीं है क्यों कि लिखने का मुख्य प्रयोजन यह होता है कि जिस उद्देश्य से लिखा जाय उसकी कुछ सिद्धि देखने में आवै। सो उसके स्थान पर यहां जिनसे सिद्धि की आशा की जाती है उनके दर्शन ही दुर्लभ हैं। जहां श्री हरिश्चन्द्र सरीखे सुकवि और सुलेखक शिरोमणि के लिखने की यह कदर है कि बीस कोटि हिन्दुओं में से सौ पचास भी ऐसे न मिले कि हरिश्चन्द्र कला का उचित मूल्य देकर पढ़ तो लिया करते, करना धरना गया भाड़ में फिर भला यहां हम क्या आशा कर सकते हैं कि हमारा लिखना कभी सफल होगा। जहां सफलता के आश्रयदाताओं ही का अकाल नहीं तो महा महंगी अवश्य है वहां सफलता की आशा कैसी? हां, यदि इसको सफलता मान लीजिए तो बात न्यारी है कि राजनैतिक विषयों को छेड़ छाड़ करके राजपुरुषों की आंख में खटकते रहना, सामाजिक विषयों की चर्चा करके पुराने ढंग वाले बुड्ढों की गालियां सहना, सुचाल का नाम ले के मनमौजियों का बैरी बनना, और धर्म्म की कथा कह के नए मतवालों के साथ रंड्हाव पुतहाव मोल लेना, प्राचीन रीति नीति की उत्तमता दिखला के बिलायती दिमाग वालों में ओल्डफूल कहलाना इत्यादि, यदि यही सफलता है तो निष्फलता और दुष्फलता किसे कहते हैं? इसी से पूछना पड़ता है कि क्या लिखैं? आप कहिएगा, सब झगड़े छोड़ कर अपने प्रेम-सिद्धांत ही के गीत क्यों नहीं गाते। पर उस के समझने वाले हम कहां से लावैं, परमेश्वर के दर्शन भी दुर्लभ हैं, रहे संसारिक प्रेमपात्र, उनका यह हाल है कि शिर काट के सामने रख दीजिए और उस पर चरण स्पर्श के लिए निवेदन कीजिए तौ भी साफ इनकार अथवा बनावटी ही इकरार होगा। फिर क्या प्रेम सिद्धांत साधारण लोगों के सामने प्रकाश करने योग्य है जिनमें "बोद्धारोमत्सरग्रस्ताः प्रभवस्मयदूषिताः अबोधोपहताश्चान्ये" का प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान है। हा प्रेमदेव! तुम हमारे श्मशान समान सुनसान मनोमंदिर में विराजमान होकर संसार को अपन

महिमा क्या दिखा सकते हो ? हम तुम्हें कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुंसमर्थ मानते हैं पर जब देखते हैं कि हमारा अपवित्र मुख तुम्हारा नाम लेने योग्य भी नहीं है, यदि बेहयाई से तुम्हारी चर्चा भी करें तो फल यह देखते हैं कि मुख से प्रेम का शब्द निकलते ही देर होती है किन्तु पागल निकम्मा बेशर्म बेधर्म इत्यादि की पदवी प्राप्त होते विलम्ब नहीं लगता। भला ऐसी दशा में प्रेम का यश गाना अपनी निंदा कराना और दूसरों को पाषाण हृदयत्व के लिए उत्तेजित करना ही है कि और कुछ ? यदि यह भी अंगीकार कर लें तो उस लोकातीत अनिर्वचनीय के विषय में लिखेंहीगे क्या ? फिर बताइए कि हम क्या लिखें ? ब्रह्मज्ञान छौंकें तो आशा है कि पाठकगण स्वयं ब्रह्म बन २ कर कर्तव्याकर्तव्य की चिंता से मुक्त हो जायंगे। किंतु साथ ही गृह कुटुम्बादि की ममता से भी बंचित हो बैठेंगे जो अपने और पराए सुख का मूल है। यह न हुवा तो मनुष्य में औ पाषाण खंड में भेद ही क्या ? फिर भला चलते फिरते कर्तव्यपालन समर्थ प्राणी को अकर्ता अभोक्ता बना बैठने का पाप किसको होगा ? यदि "स्वार्थं समुद्धरेत्प्राज्ञः" का मंत्र लेकर केवल हुजूरों की हां में हां मिलाया करें अथवा रुपए वालों को बात २ में धर्ममूर्ति धर्म्मावतार बनाया करें वा भोलेभाले भलेमानसों को गीदड़-भभकी दिखाया करें तो धन और खिताबों की कमी न रहेगी, किन्तु हृदय नर्कमय हो जायगा, उसे क्योंकर धैर्य प्रदान करेंगे ? ऐसी २ अनेक बातें हैं जिन पर लेखनी को कष्ट देने से न अपना काम निकलता दिखाई देता है न पराया, इसी से जब सोचते हैं तब चित्त यही कहने लगता है कि क्या लिखें ? यों कलम ले के लिखने बैठ जाते हैं तो विषय आजकल के नौकरी के उम्मीदवारों की तरह एक के ठौर अनेक हाजिर हो जाते हैं। पर जब उनकी विवेचना करते हैं तो यही कहना पड़ता है कि जिन बातों को बीसियों बार बीसियों प्रकार, हम ऐसे बीसियों लिक्खाड़, लिख चुके हैं उन्हें बार २ क्या लिखें ? यदि मित्रों से पूछते हैं कि क्या लिखें तो जै मुंह तै बातैं सुनने में आती हैं। सब के सब अपनी २ डफली अपना २ राग ले बैठते हैं जिन में यह सम्भावना तो दूर रही कि दूसरों को रुचि होगी, कभी २ लिखने वाले ही का जी नहीं भरता। फिर क्या लिखैं ? लोग कहते हैं कि लिखा पढ़ी बनाए रखने से देश और जाति का सुधार होता है। पर हम समझते हैं यह भ्रम है। जिस देश और जाति को बड़े २ रिषियों मुनियों कवियों के बड़े २ ग्रंथ नहीं सुधार सकते उसे हम क्या सुधारेंगे ? जो लोग स्वयं सुधरे हैं उन्हें हमारे लिखने की आवश्यकता क्या है और जिन्हें सुधरने बिगड़ने का ज्ञान ही

नहीं है उनके लिए लिखना न लिखना बराबर है, फिर क्या लिखें ? और न लिखें तो हाथों का सनीचर कैसे उतरे ! जब महीना आता है तब बिना लिखे मन नहीं मानता। यह जानते हैं कि हिन्दी के कदरदान इतने भी नहीं हैं कि जिनकी गिनती में एक मिनिट की भी देर लगे और लेटरपेपर का आधा पृष्ठ भी भरा जा सके। इसी से जो कोई उत्तम से उत्तम पुस्तक वा पत्र प्रकाश करता है वह अंत में निराश ही होता है अथवा हमारी तरह किसी सज्जन सुशील सहृदय मित्र के माथे देता हैं। पर क्या कीजिए, लत से लाचारी है, उसी के पीछे जहां और हानि तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं वहां यह चिंता भी चढ़ाई रखनी पड़ती है कि क्या लिखें ? किन्तु जब इसकी छान बिनान करते हैं तो ऊपर लिखी हुई अड़चलें आ पड़ती हैं। इसी से हमने सिद्धांत कर लिया है कि कुछ सोचैं न किसी से पूछैं, जब जैसी तरंग आ जाय तब तैसा लिख मारैं। उससे कोई रीझै तो वाह २, खीझै तो वाह २। किसी की बने तो बला से, बिगड़े तो बला से। हम ने न दुनिया भर के सुधार बिगाड़ का ठेका लिया है न विश्वमोहन का मंत्र सिद्ध किया है। हां, लिखने का रोग जगा बैठे हैं, उसके लिए सोचा विचारी अथवा पूछाताछी क्या कि क्या लिखें क्या न लिखें ?

खं० ८, सं० ११ (जुलाई, ह० सं० ८)

सर्वसंग्रह कर्तव्यं कः काले फलदायकः

संसार में यदि सुख और सुविधा के साथ निर्वाह करने की इच्छा हो तो इस वाक्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करै और विश्वास कर रक्खे कि वेद में जितना गौरव गायत्री का है उतना ही लोकाचार में इस महामंत्र का है। जो लोग कर्तव्याकर्तव्य के झगड़े में रह कर इधर ध्यान नहीं देते वे अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहें पर पछतावे के अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं कर सकते। किंतु इस वचन के मानने वाले सौ विश्वा तो अकृतकार्य होते ही नहीं हैं और यदि दैवयोग से कभी यथेच्छित सफलता न भी हुई तो "यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः" का विचार कर के मन को अवश्य समझा सकते हैं। इस से बुद्धिमान को चाहिए कि किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा कार्य को तुच्छ, त्याज्य व निंद्य न समझ कर यह समझ ले कि सब का स्वामी जगदीश्वर है और वह सब मतों के अनुसार सर्वशक्तिमान है। यदि वह सचमुच किसी समुदाय को बुरा समझता होता तो एक क्षण में उसे नास्ति नाभूत् की दशा को पहुंचा देता। पर कभी कहीं ऐसा देखने सुनने में नहीं आया इस से निश्चय होता है कि उस की इच्छा ही है कि जगत का पचड़ा यों ही चले। फिर भला यदि हम किसी को वस्तुतः बुरा समझ के छोड़ दें तो उस की इच्छा का विरोध ही करते हैं कि और कुछ? और ऐसा करने वाले दुःख के भागी न होंगे तो क्या होंगे? यदि ईश्वर का अस्तित्व आप की समझ में न आता हो तौ भी यह समझने में कोई आपत्ति नहीं है कि दुनिया में कुछ भी ऐसा नहीं है जिस से कुछ न कुछ काम न निकले और जिस से कुछ काम निकलता हो उसे काम में न ला कर बेकाम समझ बैठना निरी नासमझी है। इस रीति से आस्तिक और नास्तिक दोनों मतों से यही सिद्ध होता है कि 'सर्वसंग्रहकर्तव्यं'। यदि आंखें खोल के देखिए तो वास्तव में बुरा कुछ भी नहीं है और कोई भी नहीं है। संखिया को लोग सब से बुरा विष समझते हैं पर कई एक भयंकर रोगों के पक्ष में वही अमृत का काम देती है। झूठ बोलना, छल करना बड़ा पाप समझा जाता है पर अनेक स्थल पर जीवन, धन और प्रतिष्ठादि की रक्षा उसी से होती है जिन के बिना सुकर्म और सुगति का होना असंभव है। आप कहिएगा जुवारी बहुत बुरा होता है। हम कहेंगे निर्लोभ तौ भी होता है।

लाख रुपए दे दीजिए तौ भी एक ही दांव पर धर देगा और सब हार जाने पर भी दूसरों की तरह हाव हाव न करेगा। आप आज्ञा कीजिएगा, नशेबाज अच्छा नहीं होता। हम निवेदन करेंगे, निर्द्वन्द वह भी होता है। अपनी धुन में हाथी के सवार को भुनगा ही सा समझता है। आप समझते होंगे कामी बड़ा बुरा होता है पर हमारी समझ में निर्बलता के कारण सहनशील वह भी होता है। यों ही क्रोधी किसी की प्रवंचना नहीं करता, लोभी मरने के पीछे दूसरों के लिए अच्छी खासी जमा छोड़ जाता है, मोही अपनायत वालों का सच्चे जी से शुभचिंतक होता है, निंदक दोष त्यागने के लिए उत्तेजना देता है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि अमुक कार्य व पदार्थ वा पुरुष नितांत बुरा ही है। और यों तो हम अच्छे से अच्छों को बुरा बना सकते हैं। घी दूध इत्यादि को सभी जानते हैं कि अमृत हैं किंतु बहुत सा खा जाइए तो उसी दिन अनपच का कोई रूप शिर पर आ चढ़ेगा जो समस्त रोगों का मूल है। भगवद्भजन और देशभक्ति इत्यादि अत्युत्तम काम हैं। इस के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। पर और सब छोड़ कर इन्हीं में लग रहिए तो देख लीजिएगा कि दुनिया के किसी अर्थ का न रक्खेंगे। बड़े २ ऋषि मुनि देवतादि तक जब हमारे आचरण से असंतुष्ट होंगे तो बीसों बिस्वा अनिष्ट कर डालेंगे। ऐसे २ अनेक उदाहरण हैं जिन से भली भांति विदित होता है कि भला और बुरा कुछ भी नहीं है, केवल हमारी विज्ञता और अज्ञता से बुराई का परिणाम भला और भलाई का बुरा हो जाता है। यदि हम नियम के साथ देश काल पात्रादि का विचार कर के प्रत्येक काम किया करें तो हत्या तक यश का अंग होकर अनेकों की रक्षा का हेतु और हमारी सुकीर्ति अथच सुगति का कारण हो सकती है और बिना बिचारे नियमविरुद्ध करने से यज्ञ भी संसार के अनिष्ट तथा कर्ता के सर्वनाश की जड़ हो जाती है। इसी से बुद्धिमान को उचित है कि यह न सोचे कि अमुक बात, काम अथवा पुरुष बुरा है इस से उस से सदा दूर रहना चाहिए। नहीं, सब कुछ सीखना, सभी कुछ संचय करना और काम आ पड़ने पर किसी प्रकार कुछ भी करने में मंद न रह कर इष्टसाधन में पूर्ण दक्षता का परिचय देना ही परम कर्तव्य है और इसके विरुद्ध चलना मानो अपने हाथ से अपने पांव में कुल्हाड़ी मार लेना है। हमारा शास्त्र हमें आज्ञा देता है कि 'विषादप्यमृतंग्राह्यम्' पर इसका पालन हम तभी कर सकते हैं जब उस विष के रूप गुणादि से भली भांति परिचय रखते हों और उसका अमृतांश निकाल कर व्यवहार में ला सकते हों। यदि हम उसे विष

समझ कर फेंक देंगे तो उसमें जो छिपा हुवा अमृत है वह भी हमारे हाथ से जाता रहेगा। अतः हमें चाहिए कि उसे बिष न समझ कर यह समझने में सयत्न रहें कि उससे क्योंकर अपना उपकार और अपने बिरोधियों का अपकार हो सकता है। पुराण और नवीन इतिहासों से प्रगट होता है कि जितने बड़े २ लोग हो गए हैं उनमें से बहुतों की उन्नति का कारण वही काम थे जिन्हें शास्त्र और लोक समुदाय अच्छा नहीं कहता। यहां तक कि भगवान भी निराकार होने पर नाना रूप धारण करते हैं और सत्य स्वरूप कहलाने पर राक्षसों को धोखा देकर मार डालते हैं, त्रैलोक्यनाथ होकर भक्तों की आधीनता स्वीकार करते हैं। फिर हम तुच्छ जीवों का क्या अधिकार है कि यह हठ करें कि यही करेंगे, यह कभी न करेंगे। यदि ऐसा करें तो हम अपनी हानि करते हैं। इससे सच झूठ, सरलता बक्रता, नम्रता कठोरता, जिससे काम निकलता देखें उसी को कर उठावें। अमृत विष, गंगाजल मदिरा, सुदृश्य कुदृश्य जैसी वस्तु को अपने काम की देखें उसी को व्यवहृत करने में संलग्न हों और भले बुरे, ऊंच नीच, चतुर मूर्ख जैसे पुरुष अथवा पशु से स्वार्थसिद्धि की आशा हो उसी का आश्रय ग्रहण करें। दुनिया भर हंसे तो हंसा करे, बिगड़े तो बिगड़ती रहे, पर हमें अपने काम से काम रखना चाहिए। जब काम बन जायगा तब निन्दक लोग प्रशंसा और बिरोधीजन खुशामद करेंगे। अथवा न करें तौ भी हमारा क्या लेते हैं। समझदार लोग हमें नीतिज्ञ ही कहेंगे और हम तथा हमारे लोग आनन्द से रहेंगे। और यही जन्म लेने का फल है जिसकी प्राप्ति के लिए सभी सब कुछ करते हैं। फिर हमीं अपने नीत्याचार्यों का यह कहना क्यों न मानें कि 'सर्वसंग्रहकर्तव्यं'। हमने माना कि सर्वथा पूर्णकाम और सर्वज्ञ अकेला सर्वेश्वर है तथापि बहु सुविधासम्पन्न एवं बहुज्ञ भी एक से एक इक्कीस विद्यमान हैं। और उनकी श्रेणी में सम्मिलित होना सभी का अभीष्ट एवं कर्तव्य है जिसके साधन का एकमात्र मूल मंत्र यही है जो आज हम वर्षारंभ के आनन्द में अपने प्रिय पाठकों को स्मरण दिलाते हैं और सम्मति देते हैं कि पाप पुन्य, निंदा स्तुति, नर्क स्वर्गादि के बखेड़े छोड़िए, केवल इस बात पर ध्यान रखिए कि "येन केन प्रकारेण स्वकार्य साधयेत् सुधीः" और यह तभी हो सकता है जब सदा, सब ठौर, सब दशा में चित्त का झुकाव इसी ओर बना रहे कि "सर्वसंग्रह कर्तव्यं कः काले फलदायकः"।

खं० ६, सं० १ (अगस्त, ह० सं० ८)

पुराण समझने के लिए समझ चाहिए

प्रह्लादचरित्र

भगवद्भक्तशिरोमणि प्रह्लाद जी की कथा कई पुराणों में वर्णित है जिसे पढ़ अथवा सुन कर भगवान के सच्चे प्रेमियों को तो अपूर्व आनंद आता ही है, किंतु जो हमारी भांति सिद्धांत प्रेम ही का मानते हैं पर संसार के मायाजाल को तोड़ भागने की सामर्थ्य नहीं रखते, उन्हें भी विश्वास की दृढ़ता और उत्साह की अधिकता में बड़ा भारी सहारा मिलता है। बरंच कुछ काल के लिए तो चित्त में एक प्रकार की मस्ती आ जाती है। रहे वे लोग जिन्होंने प्रेमनगर का मार्ग तो नहीं जाना किंतु अपने पिता पितामहादि के धर्म की मनोहारिणी मूर्ति को देख कर उसमें छिद्र ही ढूंढने का दुर्व्यसन नहीं रखते उन्हें भी साधारणतया उक्त कथा सुन कर परलोक के सुख और लोक में धर्मनिर्वाह की आशा होती है। और यदि विशेषतया बुद्धि से काम लें तो प्रेमशास्त्र की आरंभिक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। पर जिनकी आंखें अपने यहां के रजतकांचन पात्रों को तुच्छ और विलायती चीनी पियालों को बड़े आदर की दृष्टि से देखती हैं अथवा जिनके गुरू जी ने यह मोहन मंत्र सिखा दिया है कि जो कुछ हम कहैं वह तो ठीक है और सब कुछ 'गप्पम्वर्तते, बुद्धिविरुद्धः', उन्हें उपर्युक्त सत्कथा से ईश्वर में भक्ति, धर्म्म में श्रद्धा और मन में दृढ़ता तो क्यों उत्पन्न होने लगी, हां खीसें बाने के लिए ऐसे २ कुतर्क अवश्य उपजते हैं कि आग से न जलना, विष से न मरना, पर्वत पर से गिर के अक्षत बना रहना इत्यादि सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। ऐसे लोग यदि शपथ कर चुके हों कि हम अपनी हारिल की लकड़ी मरने पर भी न छोड़ेंगे तो हम क्या हैं ब्रह्मा जी भी उन्हें नहीं समझा सकते, बरंच हमारी समझ में ऐसों का समझाना भी व्यर्थ है। उनके साथ केवल 'बहते को बहि जान दे, दे धक्के दुइ और' का बर्ताव करके उन्हें उन्हीं के भाग्य को सौंप देना चाहिए। किन्तु यदि वे अपनी बुद्धि को हठ और पक्षपात से कलुषित न रख कर विचारशक्ति से कुछ काम लेना चाहते हों तो हमारी बातों को जी लगा कर सुन लें, वह यह है कि—

जो विषय अनिर्वचनीय हैं वह मौखिक शास्त्रार्थ के द्वारा कदापि समझे समझाए नहीं जा सकते किन्तु अभ्यस्त होने पर अपना पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्षतया दिखला देते हैं। यदि हमारे इस वाक्य के विरुद्ध आपको अपनी

पंडिताई दिखाने की सामर्थ्य हो तो कृपा करके ईश्वर के समस्त रूप गुण स्वभावों को अब से लेकर सौ वर्ष तक पूरी रीति से वर्णन करके समझा दीजिए। नहीं तो हमारा यही कथन मान लेना पड़ेगा कि भक्ति भक्त और भगवान की बातें बातों का विषय नहीं है कि आपके चांय २ करने से खंडित हो सकें। दूसरी बात यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वह कुछ भी करने में असमर्थ नहीं है और सृष्टि के नियम यद्यपि अत्यंत दृढ़ हैं किन्तु ऐसे दृढ़ कदापि नहीं हो सकते कि सर्वशक्तिमान के द्वारा विशेष कार्यों के निमित्त समय विशेष पर भी परिवर्तित न हो सकें। यदि हमारे इस बचन पर भी आपको शंका समाधान का शौक चर्राय तो पहिले सृष्टि के समस्त नियम बतला दीजिए फिर हम यह सिद्ध कर देंगे कि अमुकामुक नियम अमुकामुक रीति से भग्न हो सकते हैं। हमें आशा नहीं विश्वास है कि आप क्या आपके गुरुदेव भी सारे नियमों का भेद कैसा नाम तक न जानते होंगे। फिर हमारे इस अचल सिद्धांत का खंडन किस बिरते पर कीजिएगा कि "प्रेम में नेम नहीं होता"। उस पर किसी का वश नहीं चलता। जिसके प्रभाव से हम साक्षात सृष्टिकर्ता को अपना वशवर्ती बना सकते हैं उसके द्वारा सृष्टि के नियमों को फेर देना क्या आश्चर्य है। यदि इसमें आपको संदेह हो तो सत् चित् से हमारे प्रेमदेव के दीन दास बन जाइए फिर प्रत्यक्ष देख लीजिएगा कि वह आपके लिए क्या कुछ नहीं करते। पर आपके भाग्य में यह महत्व बदा होता तो अपने पूर्वज महर्षियों के सद्ग्रन्थों और भगवज्जन के सच्चरित्रों पर दांत निकालने वाली बुद्धि ही क्यों उत्पन्न होती। अतः हमारा यह कहना तो व्यर्थ होगा कि जिस परम पवित्र मदिरा में प्रह्लाद जी अष्टप्रहर प्रमत्त रहा करते थे उसका एक कणशीकर भी पान कर देखिए तो प्रत्यक्ष बोध हो जायगा कि सच्चे भक्तों के लिए अग्नि का शीतल और विष का अमृत इत्यादि हो जाना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि जब सज्जन मनुष्य अपने आश्रितों की रक्षा के लिये अपनी पूरी सामर्थ्य से काम लेकर सताने वाले का मान मर्दन करने में कोई नियम वा अनियम उठा नहीं रखते तो भक्तवत्सल भगवान ऐसा क्यों न करेंगे? जो बात प्राणी मात्र के जाति स्वभाव का अंग है वह यदि प्राणपति परमेश्वर करें तो सृष्टिक्रम के विरुद्ध कैसे कही जा सकती है। सृष्टि के नियमों को जिन्होंने स्थापित किया है वे उत्थापित करने में क्या असमर्थ हैं? पर हां, साधारण व्यक्ति के लिये वे ऐसा नहीं करते। वे और उनके भक्त बाजीगर नहीं हैं कि आपके सन्तोषार्थ अपने निज कृत्य दिखलाया

करें। जब उनके निज के लोगों का काम पड़ता है तब सब कुछ करते हैं। सो इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि प्रह्लाद जी पूरे और सच्चे दृढ़भक्त थे। भगवान के साथ उनका जीवित गंभीर निज सम्बन्ध था। फिर ऐसे निज सम्बन्धियों के हितार्थ भगवान क्या कुछ न कर सकते थे, क्या कुछ नहीं करते, क्या कुछ करने को प्रस्तुत नहीं हैं? किसी नियम की रक्षा के अर्थ निज मित्रों की उपेक्षा करना साधु प्रकृति के मनुष्य भी उचित नहीं समझते फिर परमेश्वर क्योंकर अपने अनन्य जन के लिए आपके कल्पित सृष्टिक्रम को लिए बैठे रहते? परमेश्वर और प्रह्लाद जी के मध्य जो पारस्परिक व्यवहार था उसके रक्षणार्थ दोनों का परम कर्तव्य ही यही था कि किसी नियमोपनियम की चिन्ता न करके केवल मित्रता का संरक्षण और मित्र का हितान्वेषण करते रहें। यह रीति संसारी मित्रों में भी हुआ करती है और जो कोई उनके इस प्रकार के बर्ताव को हंसने योग्य समझता है वह स्वयं हास्यास्पद होता है फिर उपर्युक्त परम अलौकिक मित्र वापस में जो कुछ करते थे उस पर आक्षेप करने वाले निन्दनीय न होंगे? आपके भाग्य में भारत की प्रेम फिलासफी समझना नहीं बदा इससे यह विषय आपको हम पूरी रीति से नहीं समझा सकते। पर यदि आपको यूरप के इहकालिक बड़े बड़े डाक्टरों के निर्णीत सिद्धांत का भी ज्ञान हो तो उसके द्वारा भी प्रह्लाद जी की कथा का विचार करके आप इतना जान सकते हैं कि प्रेम प्रह्लाद जी का स्वाभाविक गुण था जिसका अनुकरण भी संसारी जीवों के पक्ष में महा दुर्लभ है। फिर ऐसे भक्त के लिए परमात्मा क्या कुछ न करता?

सुसभ्य यूरोपीय डाक्टर राजों ने बड़े परिश्रम और अनुभव के उपरांत इस बात को आज जाना है किंतु हम हाफ सिविलाइज्ड इंडियन पोपों* के बनवासी फोरफादर्स (पुरखा) अर्थात् पुराणाचार्य सहस्त्रों वर्ष पहिले से जानते थे। जिस समय हमारे बाबुओं के बाबा आदम शायद पैदा भी न हुए होंगे उस समय से हमारे पुराण बनाने वाले बाबा जानते थे कि गर्भ धारण के समय माता के चित्त में जैसे पुरुष का विशेष ध्यान होता है वैसे ही रूप रंग की संतति उत्पन्न होती है और गर्भधारण से नौ मास तक अर्थात् संतानोत्पत्ति के समय तक जिस प्रकार के भोजन और भाव माता को प्राप्त होते हैं वैसे ही स्वास्थ्य और स्वभाव बालक के होते हैं। इसके प्रमाण और उदाहरण डाक्टरों के ग्रंथों में बहुत से पाए जाते हैं। और संसार की

* पोप शब्द का अर्थ पिता है फिर नए मत वाले न जाने कौन सपूती समझ कर इसे ठट्ठे की भांति व्यवहृत करते हैं।

रीति है कि जिसके साथ बहुत दिन से प्रीति होती है वा जिसे देख के चित्त आकृष्ट हो जाता है उसका चित्र मन में बन जाया करता है। हमारे पाठकों ने देखा होगा कि बहुत से हिंदू संतान का रंग और आकृति ठीक अंगरेजों की सी है यद्यपि पता लगाने से जान पड़ा है कि उनकी माता दुश्चरित्रा न थीं। और यदि ऐसा होता भी तो शुद्ध यूरोपीय रंग के बालक न उपजा सकतीं क्योंकि यूरेशियन लोगों के रंग में प्रथकता होती है। फिर इसका कारण क्या है? यही कि सन् १८५७ वाले उपद्रव के इधर उधर गोरे लोगों का भय और प्रीति बहुतों के हृदय में विशेष रूप से खचित हो रही थी। उस अवसर में जिस माता के चित्त में जिस दशा वाले इंग्लिस्तानी का रूप कुछ काल के लिए बस गया था वैसे ही रूप रंग की संतति उत्पन्न हो गई। अब लोगों के मन में वह बात नहीं रही इस से बहुधा ऐसे लड़के भी नहीं उपजते इसी प्रकार माता को जैसे स्वभाव के लोगो में रहने का अवसर मिलता है वैसे ही जाति स्वभाव की सन्तान उत्पन्न होती है। और यह जाति स्वभाव किसी प्रकार पूरी रीति से बदल नहीं सकता। यह बात प्रह्लाद जी की जन्म कथा में पूर्ण रूप से पाई जाती है। किसी ग्रंथ के लेख में वा कहीं किसी मूर्ति अथवा चित्रपट में आपने न देखा सुना होगा कि उनका स्वरूप राक्षसों का सा भयानक था। यह क्यों? कारण यही है कि उनका पिता राक्षसेंद्र पत्नी सहवास के उपरांत ही बन में तपस्या करने चला गया था और उसी दिन देवराज इन्द्र ने दैत्यराज का राजपाट हस्तगत करके उसकी रानी अर्थात् प्रह्लाद जी की माता कयाधु को बंदी बना लिया था और अपने लोक में ले गए थे। जिस समय पति पास नहीं है और प्रबल शत्रु सर्वस्व हरण करने के पश्चात् सामने उपस्थित है उस समय अबला बाला चित्त को कैसे सावधान रख सकती है? ऐसी अकस्मात आई हुई घोर विपत्ति के समय दूरस्थ प्राणनाथ की मूर्ति विकल चित्त में कैसे स्थिर रह सकती है? बस इसी से कयाधु के मन में शचीपति का चित्र खिंच गया और वही प्रह्लाद जी का स्वरूप बन गया। अब उनकी स्वभाव की ओर ध्यान दीजिए तो जान जाइएगा कि महापराक्रमी राक्षसनाथ की प्राणप्रिया महारानी जब सब कुछ खोकर परवश होकर कारावासिनी की दशा में पड़ेगी तो उस अवस्था में परले सिरे का बिराग उत्पन्न होना तो एक स्वाभाविक बात थी, ऊपर से सोने में सुगंध यह हुई कि देवर्षि भगवान नारद जो परमानुरागी ही नहीं बरंच प्रेमशास्त्र के आचार्य भी हैं, जिनका भक्ति सूत्र न पढ़ने से पशु और पाषाण सदृश्य प्रकृति वालों को छोड़ के मनुष्य तो कुछ न कुछ

प्रेमशिक्षा अवश्य ही प्राप्त कर सकता है, वह परमात्मा से अभिन्न मित्र महात्मा नित्य उसे अपने अमृतमय उपदेशों से शांति दान करने आया करते थे। फिर भला ऐसी दशा में जो बालक उत्पन्न होगा वह क्योंकर जगत्तृष्णा से पूर्ण विरागी औ श्री भगवच्चरण का परमानुरागी न होगा ? डाक्टर के मत से विराग और अनुराग प्रह्लाद जी के नेचर में भरे हुए थे और ऐसे प्रेमी के ईश्वरीय संबंध में तर्क वितर्क करना पाप ही नहीं बज्रमूर्खता भी है यदि ऐसों के संरक्षार्थ भी ईश्वर सृष्टि के नियमों को लिए बैठा रहे तो उसके अलौकिक और आश्चर्यमय कार्य क्या उन लोगों के लिए प्रगट होंगे जिनका धर्म केवल मतवाद है ? जब प्रह्लाद ऐसे गर्भजात भक्त Born Lover को ऐसी बिपत्ति घेरे कि 'माता यदि विषंदद्यात् पित्रा विक्रीयतेसुत राजा हरति सर्वस्वं शरणं कस्य जायते।' से भो अधिक दुर्गति का सामना नित्य ही बना रहता हो तो परमात्मा कहां तक शास्त्रार्थी मतवालों के आक्षेपों का भय करके अपने भक्त की यम से उपेक्षा करेगा ? विष का विषत्व और अग्नि का दाहकत्व इत्यादि तो हम लोग साधारण औषधियों के योग से दूर कर सकते हैं। फिर क्या सर्वशक्तिमान परमेश्वर हम से भी अल्पसामर्थी है कि उसे दूर न कर सके ? रहा नृसिंहावतार विषयक शंका समाधान, उसके हठ और दुराग्रही के सामने तो हम क्या हैं ईश्वर को भी चुप रहना चाहिए। पर जिन्हें कुछ समझ हो वे इतने से समझ सकते हैं कि हिरन्यकशिपु ने तपस्या के उपरांत बरदान मांगने में जब अपनी रक्षा का कोई मार्ग रोक ही न रक्खा था और 'नमे भक्तः प्रणस्यति' का प्रण रखने वाले परमात्मा की दृष्टि में बधदंड का पात्र भी था तो उसके विनाशार्थ बिचित्र रीति के उद्घाटन के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था ? जो मांग चुका था कि न दिन को मरूं न रात को मरूं उसके मारने को संध्या के अतिरिक्त कौन समय उपयुक्त होगा ? जिसकी प्रार्थना थी कि न धरती पर मरूं न आकाश पर मरूं उसके मारने को खंभे के अतिरिक्त कौन स्थान था ? ऐसी २ युक्तियों से समझदार लोग तो पुराणकर्ताओं की सूक्ष्म बुद्धि की प्रशंसा ही करेंगे कि वे तपस्या के फल को भी तुच्छ नहीं ठहराते और भगवद्विरोध का फल भी निश्चित रखते हैं तथा सच्ची घटनाओं को वर्णन भी इस रीति से करते हैं कि पढ़ने वाले केवल कहानी ही का सा स्वादु न पाकर यदि साहित्य से कुछ परिचय रखते हों तो काव्यानन्द भी लाभ करें। विशेषतः यह कथा विचारशील, सारग्राही और तत्वदर्शी सज्जनों को सिखलाती है कि यदि अपनी संतान को सुरूपवान बनाया चाहो तो स्त्रियों के हृदय में देव तुल्य श्रद्धास्पद

पुरुषों का ध्यान जमाने में यत्न करो। उनके सुदृश्य छायाचित्र का दर्शन करा के अथवा रूप का विवरण सुना के उनकी प्रतिमा गृहदेवियों के मनोमंदिर में स्थापित कर दो। नहीं तो सबसे उत्तम यह है कि उनके साथ इतनी प्रीति बढ़ाओ कि प्रति क्षण तुम्हारा प्रतिबिंब उनके मन में बसता रहे। इस प्रकार से तुम्हारे लड़के बालों का रूप रंग तुम्हारी इच्छा के अनुकूल होगा। यदि चाहते हो कि बालक सुशील, सुमार्गी, हरिभक्त, देशभक्त, सदगुणानुरक्त इत्यादि हों तो अपनी अर्धांगियों को गर्भधारण के समय सत्पुरुषों के जीवनचरित्र तथा उनके सदग्रंथ नित्यमेव सुनाते समझाते अथवा पढ़ाते रहो और साथ ही उत्तमोत्तम वस्तु भोजनादि से गृहेश्वरी का पूजन भी करते रहो। इस रीति से तुम्हारी संतति की अचला प्रकृति भी जैसी तुम चाहते हो वैसी ही होगी। इसके अतिरिक्त यह भी विश्वास रक्खो कि भगवान के सच्चे प्रेमी को संसार की कोई विपत्ति बाधा नहीं कर सकती अथच उनका विरोधी कैसा ही धनी बली सुशिक्षित देवरक्षित क्यों न हो किंतु अपने किए का फल अवश्यमेव पाता है। यदि इतना समझ कर भी आपका हृदय प्रेमामृत पान के लिए तृषित न हो और ऐसी कथा से भी आप उपदेश लाभ करने के स्थान पर खंडन मंडन के ही लती बने रहें तो पुराण तो पुस्तक ही मात्र हैं, पुराणपुरुष परमेश्वर भी आप से हार जायंगे बरंच गंदी दलीलों से घृणा करके दुनिया से भाग जायं तौ भी आश्चर्य नहीं है। राक्षस तक के लड़कों को इतना दुदकारना तुम्हें शोभा नहीं देता। अतः इनकी चाल ढाल की ओर न देख कर अपनी दशा की ओर देखो।

खं० ६, सं० १ (अगस्त, ह० सं० ८)

प्रश्नोत्तर

निराकारी उवाच—आप लोग न जाने कैसे समझदार हैं कि वेदवि बातों को धर्म समझते हैं।

मूर्तिपूजक उत्तर देता है—हम समझदार हैं चाहे नासमझ हैं इससे आप को कोई काम नहीं है पर लड़ास लगी हो तो आइए दो दो बातें जायं पर वेद का नाम लेना वृथा है।

निराकारी—यह क्यों? वही तो धर्म के मूल हैं।

मूर्तिपूजक—केवल बातों ही से कि कभी किसी वेद की सूरत भी दे है? और देखी भी हो तो इसका सिद्ध करना सात जन्म में भी असंभव हो कि उनका अर्थ तुम या तुम्हारे साथी करते हैं वही ठीक है। यदि झगड़े को छेड़ोगे तो सैकड़ों का खर्च और बरसों की झांव २ होगी तिस भी फैसले में गड़बड़ ही रहेगी। इससे यह विषय तो पंडितों ही के लि रहने दो अपनी पूंजी में कुछ अक्किल हो तो उससे वाग्व्यवहार कर दे और 'विद्ज्ञाने' धातु के अनुसार उसी का नाम चाहे वे वेदवाद भी लेना क्यों कि वेद में बुद्धि के विरुद्ध कोई बात नहीं लिखी।

निरा—इस बात को मानते हो?

मूर्ति—बेशक! हम निश्चय रखते हैं कि हमारे वेदशास्त्र पुराण में बुद्धि के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा पर पढ़ने और समझने वाला हो चाहिए। उसकी सामर्थ्य हर एक के लिए दाल भात का कौर नहीं है। इ से बिहतर होगा कि पुस्तकों का नाम न लेकर केवल अपनी समझ से क लीजिए और इसकी चर्चा भी जाने दीजिए कि 'अमुक बात को मानते या नहीं' क्यों कि हमारे मानने न मानने के आप इजारेदार नहीं हैं वह हमारा और हमारे हृदयस्थ देव का निज सम्बन्ध है और दो व्यक्ति के अन्तर्गत निज सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना नीचों का काम है। इस केवल मौखिक वाद कर लीजिए, हमारे मन्तव्यामन्तव्य से तुम्हें क प्रयोजन?

निरा—अच्छा बाबा सो सही, पर यह तौ बतलाओगे कि वेदविरु काम करना अच्छा है या बुरा।

मूर्ति—जिन बातों की वेद ने आज्ञा दी है वह जितनी निभ सकें अच्छा ही है पर उस के लिए भाग्य और दशा की आवश्यकता है तथा जिनका निषेध किया है उन से बचने की सामर्थ्य होने पर भी न बचना निरी नालायकी है। किन्तु इस विषय पर कोरी बकवाद करना पागलपन है। क्योंकि हम और आप ऐसे साधारण जीव किस बिरते पर कह सकते हैं कि सब कुछ वेदानुकूल ही करेंगे—चारों वेद सपने में भी देखे नहीं, देखे भी होते तो कोट बूट पहिनने, साबुन लगाने, ब्राह्मण क्षत्री होकर नौकरी के लिए मारे २ फिरने की आज्ञा ढूंढ निकालना सम्भव न था। इसी से कहते हैं वेद २ न चिल्लाइए मतलब की बातें कीजिए।

निरा—साहब यह हैं व्यवहार की बातें, इनमें जमाने की पैरवी किए बिना गुजारा नहीं चलता पर धर्म के काम वेद के विरुद्ध न करने चाहिए।

मूर्ति—वाह ! यह एक ही कही, हजरत, जमाना आप को अपनी चाल चलने से रोक नहीं सकता। आप ही अपनी रुचि बिगाड़ डालें तो दूसरी बात है नहीं तो पगड़ी अंगरखा पहिनने वालों को कोई जमाने से निकाल नहीं देता। देशी वस्तु काम में लाने वाले बेइज्जत नहीं समझे जाते। हिंदी और संस्कृत सीखने वाले तथा बाप दादों का धंधा करने वाले भूखों नहीं मर जाते। बल्कि कोई परीक्षा कर देखे तो जान जायगा कि ऐसी चाल से अधिक सुभीता रहता है। लेकिन उन से लाचारी है जो बाबू बनने की लत के पीछे अपनी भाषा भोजन भेष भाव भ्रातृत्व की रक्षा का ध्यान नहीं रखते, रुपया अपने हाथों परदेश में फेंकते हैं, बाप दादों और जाति के श्रेष्ठ पुरुषों का उचित आदर नहीं करते वरंच उन्हें मूर्ख और पोप कहने तक में नहीं शरमाते। पर तुर्रा यह है कि इस करतूत पर भी बिना पढ़े वेद और धर्म के तत्ववेत्ता ही नहीं देश भर के गुरू बनने पर मरे जाते हैं। इतना भी नहीं समझते कि जिस विषय का अपने को पूरा ज्ञान न हो उस में चायं २ करना झख मारना है और अपने दोषों को न देख कर दूसरों को दोषी ठहराने की चेष्टा करना निरी निर्लज्जता है।

निरा—यह तो ठीक कहते हो पर यह विषय व्यवहार का है और हम धर्म की चर्चा किया चाहते थे।

मूर्ति—व्यवहार और धर्म में आप भेद क्या समझते हैं ? हमारी समझ में तो बुद्धि और बुद्धिमानी के द्वारा अनुमोदित व्यवहार ही का नाम धर्म है।

निरा—सच तो यों ही है पर मोटी भाषा में व्यवहार उन कामों को कहते हैं जिन का सम्बन्ध केवल संसार के साथ होता है, जैसे खाना पीना रुजगार करना आदि, और धर्म उन कामों का नाम है जो आत्मा ईश्वर तथा परलोक इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं जैसे संध्या पूजा दान आदि। हम इन्हीं के विषय में बातचीत करना चाहते हैं।

मूर्ति—यह आपकी इच्छा, पर क्या आप कह सकते हैं कि संध्या इत्यादि कर्म संसार से सम्बन्ध नहीं रखते? जब कि उपास्य देव ही विश्व के सृष्टा और स्वामी हैं, उपासक स्वयं संसारी हैं, स्तुति प्रार्थनादि में भी सांसारिक शब्दों का प्रयोग, संसार सम्बन्धिनी वस्तुओं एवं व्यक्तियों की याचनादि की जाती है तो उक्त कर्म्मों को कोई क्योंकर कह सकता है कि संसार से सम्बन्ध नहीं है?

निरा—तो भी ईश्वरीय सम्बन्ध में तो संसारी पदार्थों से बचे ही रहना चाहिए न?

मूर्ति—किस पदार्थ से बचिएगा। संसार में तो जो कुछ है सब ईश्वर ही का है और सब के मध्य वही व्याप्त है। अतः अपना सब कुछ उसी को अर्पण करना तथा उसी का प्रसाद समझना चाहिए कि उस से बचना चाहिए? और कहां तक बचिएगा, शरीर से उसकी आज्ञा पालन न कीजिएगा, मन से उस का स्मरण न कीजिएगा, वचन से उस की स्तुति न गाइएगा तो आस्तिकता ही कहां रहेगी और यह सब तन मन बचन संसारी ही हैं कि और कुछ हैं?

निरा—यह तो सभी आस्तिक करते हैं पर हमारा मतलब यह है कि ईश्वर को संसारी बनाना उचित नहीं।

मूर्ति—संसारी क्यों बनाना उचित नहीं? पिता माता गुरू राजा यह सब संसारियों के विशेषण हैं और यही उनके लिए प्रयुक्त करने पड़ते हैं फिर उसे संसारी बनाए बिना कैसे निर्वाह हो सकता है। संसार का और उस का तो व्याप्य व्यापकादि सम्बन्ध ही ठहरा अतः यदि उसे अपनी समझ तथा श्रद्धा के अनुसार किसी संसारी श्रेष्ठ विशेषण का विशेष्य ठहरा लें तो क्या बुराई करते हैं।

निरा—आप श्रेष्ठ ही विशेषण का विशेष्य तो नहीं बनाते वरंच उसे पाषाण धात्वादि का पुतला ठहराते हैं यह अनुचित नहीं तो क्या है?

खं० ६ सं० ४ (नवंबर ह० सं० ८)

जरा पढ़ लीजिए

• गत दो मास के मध्य हमारे मित्र रोगराज ने शुभागमन किया था। उन्हीं के आगत स्वागत में हमें लिखने पढ़ने का अवकाश नहीं मिला। क्या उलहने के पत्र भेजने वाले रसिकगण क्षमा करेंगे ?

हमारी पुस्तकों तथा 'ब्राह्मण' पत्र के दाता ग्रहीता खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के स्वामी श्री महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय हैं। हमने जो कुछ लिखा है, लिखते हैं, लिखेंगे उसके अधिकारी वही हैं अथवा वह जिसे आज्ञा दे वह सही, फिर हम से लोग न जाने क्या जान कर एतद्विषयक पत्र व्यवहार करते हैं। हम इस विज्ञापन द्वारा सब साहबों को सूचना दिए देते हैं कि जिन्हें हमारे लेख देखने की साध हो अथवा छापने की इच्छा हो उन्हें बांकीपुर के पते पर चिट्ठी पत्री भेजना चाहिए, हम जवाब अवाब न देंगे बल्कि जवाबी कार्ड या टिकट भी हज़म कर जायंगे स···म···शे० ?

गत वर्ष किसी नम्बर में हमने अपने मित्रों को सलाह दी थी कि देश की दशा सुधारने के लिए ब्राह्मण जाति का हौसला बढ़ाना मुख्य कर्तव्य है। अतः देशभक्तों को चाहिए कि ब्राह्मणों के साथ पत्र व्यवहार तथा वार्तालाप के समय—श्रीमन्महर्षिकुमार—के पद का प्रयोग किया करें। बड़े आनन्द की बात है कि हमारी यह सलाह बहुत से मित्रों ने पसंद की है बरंच सहयोगी भारतप्रताप में इस शीर्षक का एक उत्तम लेख भी एक महाशय कई मास से दे रहे हैं और अपना नाम प्रकाशित करने के स्थान पर केवल यही पदवी प्रकाश करते हैं। यदि कुछ लोग और भी इधर ध्यान दें तो बहुत शीघ्र यह रीति निकल सकती है जिसका फल भी थोड़े ही दिन में देख पड़ेगा। सम्भव है अधिक न होगा तो यही कहां का थोड़ा है कि इस जाति के पढ़े लिखों को खुलाखुली अयुक्त काम करते कुछ लज्जा आवेगी और पश्चिमी सभ्य तथा नए मतवालों का निन्दा करने में मुंह न पड़ेगा। इधर हमारे कई मित्रों की राय है कि जिनका गोत्र प्रवरादि विदित न हों उन्हें तो केवल महर्षिकुमार ही लिखना ठीक है और आगे के लिए पूछ लेना उचित है किन्तु जिनका ज्ञात है उनके नाम के पहिले उन महर्षि का नाम भी लिखना चाहिए जिनके वे वंशज हों यथा—श्री-

मन्महर्षि कश्यपकुमार—श्री० म० म० भरद्वाजकुमार—इत्यादि। ऐसा करने से समय २ पर महर्षियों के नाम गुणादि का स्मरण भी होता रहेगा। यह राय हमें बहुत पसंद है अस्मात् हम आगे से इसके अनुसार बर्ताव करेंगे। हमारे मित्रगण हमें अपने अपने आदिपुरुष का पवित्र नाम बतला दें तो बड़ी कृपा होगी। यदि हमसे पूछना हो तो सुन रखिए—हम हैं "श्रीमन्महर्षि कात्यायनकुमार" अथवा हमारे सबसे बड़े बाबा विश्वामित्र के नाम से प्रीति हो तो लिखिए "श्रीमन्महर्षि कौशिककुमार।"

खं० ६, सं० ४ (नवंबर ह० सं० ८)

झगड़ालू पंथ

विचारशीलों से छिपा नहीं है कि भारतवर्ष के लिए त्रिकाल में धर्म ही सब कुछ है। क्या शारीरिक क्या सामाजिक क्या आत्मिक क्या राजनैतिक क्या लौकिक क्या पारलौकिक सभी प्रकार की समुन्नति का आधार धर्म ही है। इस बात को यदि पश्चिमीय सभ्यता के सभ्य न समझें तो उनकी समझ का दोष है नहीं तो हम प्रणपूर्वक कहते हैं कि जो कोई दृढ़ता के साथ हमारे सनातनधर्म का कुछ दिन पूर्ण रीति से साधन करे वह प्रत्यक्ष देख लेगा कि सभी भांति के सुख और सुभीते सहजतया प्राप्त होते हैं। पर यतः वह परमात्मा का स्वरूप है इससे उसका ठीक २ समस्त भेद जान लेना सहज नहीं है इसी से बुद्धिमानों ने यह सुविधामय सिद्धांत स्थापन कर लिया है कि 'महाजनो येन गतः स पंथा'। यदि विचार कर देखिए तो निश्चय हो जायगा कि हमलोगों के पिता पितामहादि जिस रीति नीति को असंकुचित भाव से मानते रहे हैं उसका निकास अवश्यमेव किसी न किसी महर्षि के मस्तिष्क से हुआ है और उसका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर सकने पर भी यदि हम उसे आंखें मींचे हुए मानते रहें तो प्रत्यक्षतया मोटी बुद्धि से चाहे कोई फल न भी देख पड़े अथवा काल कर्मादि के व्यतिक्रम से कदाचित कुछ कष्ट वा हानि भी जान पड़े किन्तु परिणाम अच्छा ही होता है। इसी से इन गिरे दिनों में भी हमारे देश के तृतीयांश से अधिक निवासी जी से धर्म का आदर करते हैं और समय पड़ने पर मुख से उसकी स्तुति ही करते हैं। कर्म के द्वारा उसका पालन कर सकना भाग्य और दशा के आधीन है। यदि धर्म का पूरा २ विवरण कोई लिखा चाहे तो कदाचित् सहस्रों वर्ष में भी इतिश्री न कर सके क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि जितने विस्तार के साथ वर्णित हो उतनी ही अधिक बड़ाई देख पड़ेगी। इससे हम केवल साधारण दृष्टि से इतना मात्र उसका लक्षण मानते हैं कि परमेश्वर को अपने प्रेम और प्रतिष्ठा का आधार मान कर अपने लोक परलोक सम्बन्धी कल्याण के निमित्त उसका भजन यजन करते रहना ही धर्म का साधारण रूप है। पर यस्मात् उसका जानना और मानना भी सहज नहीं है। अतः हमारे पूर्वजों ने उसके लिए पांच मार्ग नियत कर रक्खे हैं क्योंकि सृष्टि में जितने जड़ चेतन पदार्थ हैं उन सब की बाह्यिक एवं आंतरिक रचना

पांच तत्व अर्थात पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश से हुई है इन्हीं तत्वों के अंशों के तारतम्य के कारण प्रत्येक पुरुष की प्रकृति एवं रुचि न्यारी २ हुआ करती है। उसी के सूक्ष्म विचारानुसार प्राचीन पूज्यों ने परमात्मा का जीवित सम्बन्ध स्थाई करने को उनके नाम रूप गुण स्वाभावादि यद्यपि अनंत है तथापि मानने वालों के स्वभाव की गति पांच प्रकार की होने के कारण पंचोपासना की रीति नियत कर रक्खी है। उनके उपासकों के यहां पूज्य मूर्तियां एवं पूजादि की पद्धति भिन्न सी दिखलाई देने पर भी वास्तव में एक है। शास्त्रों में खुला हुआ लिखा है कि शिव विष्णु शक्ति सूर्य अथच गणेश में भेद समझना महापाप और बज्र मूर्खता है। यदि व्याकरण की रीति से देखिए तौ भी यह कहने का साहस पड़ना असंभव होगा कि कल्याण-स्वरूप सर्वसमुदायाधिपति इत्यादि एक ही अनंत विशेषणविशिष्ट के विशेषण नहीं हैं और तनिक भी विचारशक्ति से काम लीजिए तो यह सिद्ध करना महा कठिन होगा कि उसका स्वरूप तथा पूजन प्रकार केवल ऐसा ही है ऐसा नहीं हो सकता। यदि मनोदृष्टि पक्षपात के रोग से दूषित न हो और सहृदयता के अंजन से अंजित की जाय तो प्रत्यक्ष देख पड़ेगा कि शैव बैश्नव शाक्त सौर और गाणपत्य लोगों के यहां ईश्वर की महिमा तथा जीव के वास्तविक कल्याण के सभी मनोविनोदक एवं शान्तिकारक सामान पुष्कलता के साथ विद्यमान हैं तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की अनेक शाखाओं में से एक २ के मध्य उपास्यदेव की महान महिमा और उपासक के आनन्द प्राप्ति की रीति वह २ देखने में आती हैं कि साधारण बुद्धि को समझने की सामर्थ्य नहीं। किन्तु कुतर्क का सहारा छोड़ कर यदि कोई एक का भी सच्चा आश्रित हो बैठे तो उसके लिए शांति लाभ में किसी भांति की त्रुटि नहीं रह जाती। यद्यपि प्रेमियों और ज्ञानियों के लिए किसी नियम के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती, उनके निमित्त परमानन्द का मार्ग सभी ओर खुला रहता है, किन्तु साधारण जनसमूह के पक्ष में हम मुक्त कण्ठ से कहेंगे कि उपर्युक्त पंचसम्प्रदाय में से किसी न किसी का आश्रय लिए बिना उद्धार की आशा दुराशा मात्र है। इनमें से यद्यपि कहीं २ किसी २ सम्प्रदाय के किसी २ अंश पर कुछ २ आक्षेप भी देखने में आते हैं पर उनका अभिप्राय केवल अनन्यता का दृढ़ीकरण है अन्यों की निन्दा कदापि नहीं है। इसी कारण सदा से सब मतों के साधु प्रकृति वाले लोग केवल अपने इष्टदेव को सर्वेश्वर तथा दूसरों को उसके अभिन्न मित्रों की नाईं मानते हैं और अपने लिए अपनी दूसरों को उनकी ही रीति नीति का अवलम्बन श्रेयस्कर

जानते हैं। यों लड़ने के लती अपने ही सहधर्मियों की बात २ पर मुंह बिचका के कलह के लिए सन्नद्ध हों तो उनकी इच्छा को कौन रोक सकता है पर किसी मत का कोई समझदार सच्चे जी से यह नहीं कह सकता कि हमारे सम्प्रदायियों को छोड़ के और सब की सभी बातें वस्तुतः बुरी हैं। अभी बीस पचीस वर्ष से अधिक नहीं बीते कि उस समय तक जब कभी शैव शाक्तादि के मध्य धर्म्मविषयक बादानुबाद उपस्थित होता था तो परस्पर के मनबहलाव और अपनी विद्या बुद्धि की प्रकर्षता के द्वारा अपने मार्ग का कोई अंश अत्युत्तम सिद्ध करके वादी को निरुत्तर कर देने की चेष्टा के अतिरिक्त आपस के विरोध का नाम न आने पाता था।

पूर्व काल के इतिहास में भी द्वेष केवल बैदिक और बौद्धों में पाया जाता है सो भी इस कारण कि बुध भगवान के मतानुयायी ईश्वर और वेद को नहीं मानते अथच किसी काल में समस्त भारत पर आधिपत्य जमाने के लिए उद्योगवान हुए थे। किन्तु पंचोपासक मात्र एक दूसरे को अपने साथ कुछ २ भिन्नता रखने पर भी अपना भाई ही जानते थे क्योंकि सभी सब के धर्म का मूल वेद शास्त्र पुराण एवं विश्वास का आधार ईश्वर वेद परलोक तथा प्रतिष्ठा के पात्र देवता पितर गऊ ब्राह्मण तीर्थ व्रतादि को समझते थे। किसी काल में किसी देश के सभी लोग असाधारण विद्या-बुद्धिविशिष्ट नहीं होते और आर्य्यभूमि भी इस नियम से न्यारी नहीं है। किन्तु जैसे सब कहीं के निवासी कुछ बातों को अपने कल्याण का हेतु मानते हैं वैसे ही यहां वाले भी मानते हैं कि जिन बातों को अपने बाप दादे अच्छा मानते रहे हैं वही हमारे पक्ष में अच्छी हैं और विचार कर देखिए तो वास्तव में उनके द्वारा हमारी भलाई ही होती भी है। पर इस भलाई का सत्यानाश करने की मनसा से भारत के दुर्भाग्य ने कुछ दिन से एक झगड़ालू पन्थ निकाल दिया है जिसके पथिकगण सनातन मार्ग वालों से छेड़ के झगड़ा मोल लेना और प्रत्येक मत के मान्य पुरुषों तथा श्रद्धेय रीति नीतियों को बुरा ठहराना ही अपना परम धर्म समझते हैं। यद्यपि मुंह से एकता ही के गीत गाया करते हैं पर करतूतों के द्वारा पिता पुत्र, भाई भाई तक में फूट फैलाने का ठान ठानते हैं। जीवित माता पितादि की सेवा करके प्रसन्न रखना अच्छा बतलाते हैं पर जिन बातों को जननी जनक बाल्यावस्था से अपने लोक परलोक का सर्वस्व मानते आए हैं उन्हीं की जब सपूत साहिब निन्दा करने पर कटिबद्ध रहते हैं तो कौन कह सकता है कि सुन २ कर

मां बाप 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गात' होकर रोम २ से न असीसते होंगे। यदि यह लोग खुल्लमखुल्ला बिधर्मी होते तौ भी कोई बड़ी हानि न करते क्योंकि सब कोई यह समझ कर दूर रहता कि अब हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा ! पर बड़े खेद का स्थल यह है कि हमारे ही थोड़े से धर्मग्रन्थों और मान्य पुरुषों को मानने वाले यह भी बनते हैं इसी से 'गुड़ भरा हंसिया न निगलते बने न उगलते बने' धैना हो रही है। यदि अपने विचार अपने ही सहवर्तियों में बनाए रक्खें तो भी यह समझ लिया जाय कि जहां हिन्दुओं में और अनेक मत हैं वहां एक यह भी सही। पर अनर्थ तो यही है कि यह अल्पविश्वासियों के बहकाने वाले बैठे बिठाए शान्तिभंग का उद्योग करते रहते हैं।

यह नए मत वाले कहते हैं कि देश भर का एक मत होना चाहिए पर यह नहीं समझते कि जब जिसने ऐसी चेष्टा की है तब मतों के मध्य और एक संख्या बढ़ा ही दी है। सब का एक हो जाना तो 'न भूतो न भविष्यति'। क्योंकि एक तो लोगों की रुचि प्रथक २ रीति की हुआ करती है इससे कभी ऐसा हो ही नहीं सकता वरंच इसी विचार से दूरदर्शी जगद्हितैषी महर्षियों ने पात्रानुरूप उपदेश किए हैं। नहीं तो जैसे एक ही औषधि से सब प्रकार के रोगियों का उपकार असम्भव है वैसे ही एक ही पद्धति से सब प्रकृति के जीवों का कल्याण असाध्य होता। दूसरे, ईश्वर न करे जो कहीं सब नवपंथी हो जायं तो भारत के गारत होने में बिलम्ब क्या लगेगा ? देव प्रतिमाओं, ऋषिवंशजों, पवित्र स्थानों, पतिव्रताओं, सदग्रन्थों का महत्व एक दिन में लुप्त हो जाय, हिन्दू जाति और हिन्दुस्तान का नाम भी न रहे। कथन मात्र के लिए ईश्वर का शब्द शेष रहे, सो भी शुष्कवादी अरसिक कलहप्रिय समुदाय वालों के नियमों से जकड़ा हुआ न अपने प्रेमियों को रुचि रखने में योग्य न पापियों का उद्धार करने में समर्थ न प्रत्येक भाषा के प्रत्येक भाव समझने में विज्ञ ! क्योंकि आपरूपों की समझ में देश का उपकार ऐसी बनगैली बातों पर निर्भर है ! हम पूछते हैं जिन लक्षणों से सहस्रों नगरों की शोभा तथा लक्षों देशभाइयों की आजीविका एक क्षण में नष्ट हो सकती है वही यदि धर्म के अंग वेद के उपदेश देश के उद्धार का उपाय हैं तो फिर पाप की जड़ लबेद की लीक और मातृभूमि के सत्यानाश की नेंव किसको कहना चाहिए ? पर झगड़ालू पंथ वालों की उलटी समझ को क्या कहिए जो संस्कृत का साहित्य सीखे बिना ही वेद शास्त्र का तत्व

सिखलाने वाले बने फिरते हैं और देशभक्ति का नाम ले ले कर कुतर्कों और कुवाक्यों का प्रचार करने बरंच कभी २ अदालत—नहीं २ लाठी तक लड़ने में संकुचित नहीं होते। परमेश्वर इनकी बुद्धि सुधारे अथवा देश-भाई इन्हें जातीय दंड देने में बद्धपरिकर हों तभी कुछ भलाई हो सकती है नहीं तो यह झगड़ालू पंथ एक न एक दिन बुरा रंग लावैगा।

खं० ६, सं० ४ (नवंबर ह० सं० ८)

प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है

नहीं तो जो दो हाथ दो पांव एक मुंह एक नाक इत्यादि आपके हैं वही हमारे भी हैं। जैसे हाड़ मांस लोहू चमड़े आदि का बना हुआ आपका शरीर है वैसे ही हमारा भी है। खाने पीने सोने जागने हंसने रोने जीने मरने आदि में भी आप और हम बराबर ही हैं। फिर आपके कौन सा सुर्खाब का पर लगा हुआ है कि हम आपको मन से प्रसन्न रखना चाहते हैं, तन से सेव्य बनाने पर उद्यत रहते हैं तथा वचन से स्वामी जी गुरू जी महात्मा जी राजा साहब बाबू साहब मुंशी साहब हूजूर खुदाबंद बंदापरवर प्यारे प्राणाधार, जीवितेश्वर इत्यादि कहा करते हैं? इसके उत्तर में यदि आप कहिए कि हमारे पास बहुत सा धन है, बहुत सी विद्या है, बड़ी भारी बुद्धि है, बड़ा भारी बल है, हम बड़े लिक्खवाड़ हैं, बड़े बोलनेवाले हैं, बड़े न्यायी हैं, बड़े प्रबंध कर्ता हैं, बड़े दाता हैं, बड़े सुंदर हैं, बड़े मनोहर हैं फिर क्यों न हमारी खुशामद करोगे? इसका जवाब हमारे पास भी मौजूद है कि आप जो कुछ हैं अपने लिए हैं हमें क्या? आपकी विद्या से हम विद्वान न हो जायंगे, आपके धन बलादि से धनी बली इत्यादि न बन जायंगे फिर हम क्यों चुटकी बजाते हैं? यह तो कभी संभव ही नहीं है कि आप ही ईश्वर के यहां से सब बातों का ठेका ले आए हों अब कोई किसी अंश में आपकी समता न कर सकता हो। संसार में एक से एक इक्कीस वर्तमान हैं। हमारे देखे सुने हुए कई ऐसे हैं जो आपसे कहीं चढ़े बढ़े प्रत्यक्ष देख पड़ते है पर हम उनका नाम भी आपके सामने नहीं लेते वरंच आपका उनका सामना पड़ जाय तो आपकी तरफ हो के उनकी लेव देव कर डालने में कोई कसर उठा रखने को पाप समझें, चाहे वह हमसे कैसी ही जाहिरदारी का बर्ताव क्यों न करें और आप चाहे हमें सीधी आंखों देखना भी अपनी शान से बईद समझते हों पर हम आपका मनसा वाचा कर्मणा आदर ही करते हैं और ईश्वर कोई विघ्न न डाले तो इरादा यही रखते हैं कि 'मरते रहेंगे तुम ही प जीते हैं जब तलक'। यह क्यों? केवल इसी कारण कि हम आपके रूप गुण स्वभाव आदि में से किसी वा सभी बात से प्रेम रखते हैं। अथवा आप हमारे प्रेम का गुण न जानने के हेतु से हमारे आचरणादि का उचित सम्मान न कीजिए तो भी आपके चार काम कर देने से हमें थोड़ा बहुत

रुपया मिल रहता है। आपके साथ रहने से हमारे सताने वाले दबे रहते हैं। आपकी बात सुनने से हमें बहुत सी मतलब की बातें मालूम होती हैं। आपकी छाया से हमें सुभीता मिलता है, आपके दर्शन से हमारी आंखें ठंढी होती हैं इसीसे हम 'बिन आदर पाये हू बैठि ढिगै अपनी रुख दै रुख लीजत हैं।' यह भी आपके साथ संबंध रखने वाला प्रेम न सही तथापि हमारा आत्मसंबंधी प्रेम है! इन दोनों बातों पर सूक्ष्म विचार कर सकने पर क्या आप न कह देंगे कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

यही नहीं कि हमी आप आत्मगत अथवा भवदीय प्रेम के कारण एक दूसरे की प्रतिष्ठा करते हों। संसार में विचार कर देखिए तो सभी सब छोटे बड़े बराबर वालों का प्यार सत्कार केवल प्रेम के कारण करते हैं। हम अपने पुत्र कलत्र शिष्य सेवक वरंच कुत्ते और जूते तक को बिगाड़ना नहीं चाहते। तन मन धन से इन्हें सुधारने में लगे रहते हैं। यह बिगड़ें तो हमारी इज्जत बिगाड़ दें। माता पितादि पूज्य व्यक्ति कुंठित हों तो लोक परलोक के काम का न रक्खें। भाई भगिनी इष्ट मित्रादि प्रतिकूल हो जायें तो हमें जीवनयात्रा में कंटक ही कंटक दृष्टि पड़ने लगें। इसीसे हमें सबका आदर मान करना पड़ता है पर यह सब वास्तव में किसका है? इसके उत्तर में विचारशक्ति कहती है 'प्रेम देवस्य केवलम्'। जिनसे हमें प्रेम है उन्हीं को हम डरते हैं उन्हीं की प्रतिष्ठा करते हैं और इसीसे हमारा तथा उनका निर्वाह होता है नहीं तो किसी के बिना किसी का कोई काम अटक नहीं रहता फिर क्यों कोई किसी को कुछ पूछे? सबके सभी 'ना हम काहू के कोऊ न हमारा' वाला सिद्धांत ले बैठें और दुनिया के सारे खेल बिगड़ चिगुड़ के बराबर हो जाय! पर वे प्रेमदेव ही हैं जो सब के मध्य अपना प्रकाश करके सभी का काम चलाए जाते हैं और इसी में सबकी प्रतिष्ठा भी है। अस्मात् हमें यह कहने से कौन रोक सकता है कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है!

एक बार दो भाइयों में झगड़ा हुआ तो एक ने कहा 'हमें अलग कर दो हमारा तुम्हारे साथ रहने में निबाह नहीं है।' इस पर दूसरे बुद्धिमान बंधु ने उत्तर दिया कि 'अलग होने में लगता ही क्या है? न तुम्हारे कपड़े मेरे अंग में ठीक होते हैं न मेरे तुम्हारे देह को उपयुक्त होते हैं। न मेरे खाने पीने से तुम्हारी भूख प्यास बुझती है न तुम्हारे भोजन पान से मेरा पेट भर जाता है। तुम्हारी स्त्री तुम्हारा पुत्र तुम्हारे कार्योपयोगी पदार्थ मेरे नहीं कहलाते, मेरे हैं वह तुम्हारे काम नहीं आते। केवल आपस का स्नेहभाव था जिसके कारण मैं तुम्हारे दुख सुख को अपना दुख सुख समझ कर अपने

कामों का हर्ज करके तुम्हारी सहायता करता था और एक घर में दो गृहस्थियों के झंझट झेलता था। वह भाईपन अब नहीं रहा तो फिर अलग तो परमेश्वर ही ने किया है। जैसे सब वस्तु अलग हैं वैसे ही दो तीन पैसे का तवा ले आवो रोटी भी अलग पका करे बनानेवाले की आधी मिहनत बचेगी। एक को दूसरे के दुःख में हाय २ करके दौड़ना न पड़ेगा बस छुट्टी हुई। रही दूसरों की दृष्टि में हमारी तुम्हारी भलमनसी, वह नित्य की दांता-किलकिल के मारे जैसे अब नहीं है वैसे ही तब न रहेगी फिर उसका झींखना ही क्या ?' पाठक महाशय ! यह कथा हमारी गढ़ी हुई नहीं है आंखों देखी हुई है और आशा है कि आपने भी ऐसे अवसर देखे न होंगे तो सुने होंगे, सुने भी न हों तो समझ सकते हैं कि ऐसा होना प्रेम के अभाव में असंभव नहीं होता। फिर क्या ऐसी २ बातें देख सुन सोच समझ कर भी कोई समझदार न कह देगा कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

यदि सांसारिक उदाहरणों से जी न भरता हो तो कृपा करके बतलाइए तो आपके परमार्थ का मूल धर्मग्रंथ कागज स्याही और समझ में आ जाने वाली बातों के सिवा क्या है जो एक दियासलाई से जल के राख और चुल्लू भर पानी से गल के आटे की सी लोई हो सकते हैं। देव मंदिर देव प्रतिमा क्या हैं? केवल मट्टी पत्थर चूना आदि का विकार, जो हमारे बचाए बिना बच नहीं सकते और अपने गाल पर बैठी हुई मक्खी उड़ाने की शक्ति नहीं रखते। ऋषि मुनि पीर पैगंबर इत्यादि क्या हैं? सहस्रों वर्ष के मरे हुए मुरदे, जिनकी अब ढूंढ़ने से हड्डियां भी नहीं मिल सकतीं। इन प्रश्नों से आप हमें दयानंदी समझते हों तो हम पूछेंगे कि परब्रह्म परमेश्वर ही क्या है, केवल एक शब्द मात्र ही, जिसके लक्षण ही में अपनी २ डफली अपने २ राग का लेखा है, अस्तित्व का तो सपने में भी सिद्ध होना लोहे के चने हैं। फिर हम इन सब को क्यों अपने लोक परलोक का आधार समझते हैं ? क्यों हम इनके निंदकों को नास्तिक समझ कर शास्त्रार्थ वरंच शस्त्रास्त्र तक से मर्दन करने पर उतारू होते हैं ? क्या इसका उत्तर एक मात्र यही नहीं है कि हमें अपने धर्म कर्म देव पित्रादि से प्रेम है इसी में प्रत्यक्ष प्रमाण न पाने पर भी तन पर कष्ट धन की हानि उठाने पर भी सच्चे मन से इनकी इज्जत करते हैं फिर हमारे इस कथन का आप क्योंकर विरोध कर सकेंगे कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

आप नास्तिक हों तो हमें आपसे शास्त्रार्थ करने का रोग नहीं है पर केवल इतना पूछेंगे कि दुनिया में किसी को कुछ मानते हो या नहीं ? यदि

कहिएगा—हां—तो फिर हमारा प्रश्न यही होगा कि—हां, तो क्यों ?—अथवा हठ के मारे कह दीजिए—नहीं—तो हम कहेंगे यह हो ही नहीं सकता कि आप अपने जीवन को भी न मानते हों, उसको सुखित सुरक्षित बनाए रखना अच्छा न जानते हों। इन सब बकवादों के पीछे अंत में हार मान के यही मानना पड़ेगा कि जिससे हम प्रेम रखते हैं उसी की प्रतिष्ठा करते हैं। अतः अखंडनीय सिद्धांत यही है, परमोत्कृष्ट श्रेणी वाली बुद्धि का निचोड़ यही है, पाताल से ले.के सातवें आकाश तक कोई दौड़ जाय तो जड़चेतनमयी सृष्टि वरंच स्वयं सृष्टिकर्ता को अपनी २ बोली में यही मंत्र पढ़ते हुए सुनेगा कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है। इससे जिसे जितनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करके अपना या अपने लोगों का जीवन सफल करना हो उसे चाहिए कि उतनी ही अधिक प्रेमदेव की आराधना करे क्योंकि चींटी से लेकर ब्रह्म तक उन्हीं के बनाए प्रतिष्ठित बनते हैं नहीं तो किसी में कुछ भी तत्व नहीं है किसी का कुछ भी सत्व नहीं है। तंत की बात यही है कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

खं० ६, सं० ४ (नवंबर ह० सं० ८)

चिन्ता

इन दो अक्षरों में भी न जाने कैसी प्रबल शक्ति है कि जिसके प्रभाव से मनुष्य का जन्म ही कुछ का कुछ हो जाता है यद्यपि साधारणतः चित्त का स्वभाव है कि प्रत्येक समय किसी न किसी विषय का चिन्तन किया ही करता है। जिन्हें ईश्वर ने सब कुछ दे रक्खा है, जिनको लोग समझते हैं कि किसी बात की चिंता नहीं है वे भी अपने मनोविनोद वा अपनी समझ के अनुसार जीवन की सार्थकता के चिन्तन में लगे रहते हैं। कमरा यों सजना चाहिए, बाग में इस रीति की क्यारी होनी चाहिए, खाने पहिनने को अमुक २ भोजन वस्त्र बनवाने चाहिए, परीजान का फलाना जेवर, फलानी पोशाक, इस तरह की बननी चाहिए, फलाने दोस्त को इस प्रकार खुश करना चाहिए, फलाने दुश्मन को यों नीचा दिखाना चाहिए इत्यादि सब चिंता ही के रूप हैं। यहां तक कि जब हम संसार के सब कामों से छुट्टा लेकर रात्रि के समय मृत्यु का सा अनुभव करके एक प्रकार के जड़वत बन जाते हैं, हाथ पांव इत्यादि से कुछ काम नहीं ले सकते, तब भी चिन्तादेवी हमें एक दूसरी सृष्टि में ला डालती हैं। स्वप्नावस्था में हम यह नहीं जान सकते कि इस समय हम जो कुछ कर धर वा देख सुन रहे हैं वह सब मिथ्या कल्पना है। बिलायती दिमाग वाले लोग कहते हैं कि स्वप्न का कुछ फल नहीं होता पर यदि उन्हें बिचारशक्ति से जान पहिचान हो तो सोच सकते हैं कि प्रत्यक्ष फल तो यही है कि सोता हुआ पुरुष खाट पर पड़े २ कहां २ फिरता रहता है, क्या २ देखता रहता है, कैसे सुख दुःखादि का अनुभव करता है। यह निरा निष्फल कैसे कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे पूर्वजों ने जो बातें निश्चित की हैं वह कभी झूठ नहीं हो सकतीं। हमने तथा हमारे बहुत से विद्याबुद्धिविशारद मित्रों ने स्वयं सैकड़ों बार अनुभव किया है कि जो स्वप्न हाल की देखी सुनी बातों पर देखे जाते हैं उन्हें छोड़ कर और जितने आकस्मातिक सपने हैं सबका फल अवश्य होता है। जिसे विश्वास न हो वह आप इस बात को ध्यान में रख के परीक्षा कर ले कि जब कभी सपने में भोजन किए जायंगे तब दो ही चार दिन अथवा एक ही दो सप्ताह के उपरांत कोई न कोई रोग अवश्य सतावैगा, जब कभी तामे के पात्र अथवा मुद्रा देखने में आवैंगी तब शीघ्र ही किसी

प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के वियोग से अवश्य रोना पड़ेगा, जब नदी में स्नान करने वा तैरने का स्वप्न देख पड़ेगा तो वर्तमान रोग की शीघ्र ही मुक्ति हो जायगी, सपने में रोवैगा वह जाग कर कुछ ही काल में प्रसन्नतापूर्वक हंसैगा अवश्य तथा जो स्वप्न में हंसैगा वह जागृत अवस्था में रोए बिना न रहेगा। ऐसे २ अनेक सपने हैं जिनका वृत्तान्त ग्रन्थों में लिखा हुआ है और फल अवश्य होता है। पर कोई हठतः न माने तो बात ही न्यारी है। हमारे पाठक कहते होंगे आज क्या भांग खा के लिखने बैठे हैं जो अंट की संट हांक रहे हैं। पर वह बिचार कर देखेंगे तो जान जायंगे कि स्वप्न भी चिन्ताशक्ति की लीलाएं हैं और यह वह शक्ति है जिसका अवरोध करना मनुष्य के पक्ष में इतना दुसाध्य है कि असाध्य कहना भी अत्युक्ति न समझनी चाहिए। वह चाहे जागने में अपना प्राबल्य दिखलावै चाहे सोते में किन्तु परवश सब अवस्था में कर देती है जिसके प्रभाव से हम सोते में भी मारे २ फिरते हैं और जिन पुरुषों तथा पदार्थों का अस्तित्व नहीं है उनका संसर्ग प्राप्त करके मुंदी हुई शक्तिहीन आंखों से आंसू बहाते अथवा नाना घटनाएं देखते हैं, बंद मुंह से बातें करते और ठट्ठा मारते हैं, बरंच कभी २ उसी की प्रेरणा से मृतकवत् पड़े हुए भी सचमुच खटिया छोड़ भागते हैं, उसकी जागृत दशा वाली, हाथ पांव चलते हुए चेतनावस्था वाली प्रबलता का क्या ही कहना है। परमेश्वर न करे कि किसी के चित्त में प्रबल रूप से कोई चिंता आधिपत्य जमा ले। जो इसकी लपेट में आ जाता है वह अपने सुख और स्वतंत्रता से सर्वथा जाता रहता है। यों धन बलादि का अभाव न होने पर नहाने खाने घूमने आदि की साधारण चिंता बहुधा रहा ही करती हैं। इससे उनके द्वारा कोई विशेष कष्ट वा हानि नहीं जान पड़ती। बरंच उनका नाम चित्त का जातिस्वभाव मात्र है। पर सूक्ष्म विचार से देखिए तो थोड़ा बहुत स्वच्छन्दता का नाश वे भी करती ही रहती हैं। मिठाई खाने को जी चाहेगा और लानेवाले सेवक किसी दूसरे काम को गए होंगे तो हमें झख मार के हलवाई की दूकान पर जाना पड़ेगा अथवा नौकरराम की मार्ग प्रतीक्षा में दूसरी बातों से विवशतः मन हटाना पड़ेगा। यह छोटे रूप की कायिक वा मानसिक पराधीनता वा चिन्ता की गुलामी नहीं है तो क्या है? तिसमें भी जब हमें कोई असाधारण चिंता आ घेरती है तब तो हम सचमुच उसके क्रीत दास, काष्ठपुत्तलक वा यों कहो कि बलिपशु ही हो जाते हैं। यदि हमसे कोई पूछे कि वह कौन सी निर्दयिनी है जो बड़े २ महाराजों को साधारण सेवकों की चिरौरी के लिए विवश करती है, बड़े २ योद्धाओं को उठने बैठने के

काम का नहीं रखती, सुखा के कांटा बना देती है, बड़े २ पंडितों की विद्या भुला कर बुद्धि हर लेती है तो हम छुटते ही यही उत्तर देंगे कि उसका नाम चिंता है। बहुत से बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि अच्छे कामों तथा अच्छी बातों की चिंता से शरीर और मन की हानि नहीं होती। उनका यह कथन लोकोपकारक होने से आदरणीय है और अनेकांश में परिणाम के लिए सत्य भी है पर हम पूछते हैं, आपने किस ईश्वरभक्त, देशभक्त, सद्‌गुणानुरक्त को हृष्ट पुष्ट और मनमौजी देखा है? ऋषियों, सत्कवियों और फिलासफरों के जितने साक्षात वा चित्रगत स्वरूप देखे होंगे किसी की हड्डियों पर दो अंगुल मांस न पाया होगा। उनके चरित्रों में कभी न सुना होगा कि ठीक समय खाते और नींद भर सोते थे। यह माना कि वह अपने काल्पनिक आनंद के आगे संसार के सुख दुःखादि को तुच्छ समझते हैं, पर सांसारिक विषयों से रंजेपुंजे बहुधा नहीं ही होते, पुष्कल धन और बल का अभाव ही रहता है क्योंकि उन का हृदय चिंता की एक मूर्ति का मंदिर है जिस की स्तुति में हमारे अनुभवशील महात्माओं का वाक्य है कि 'चिता चिंता समाख्याता तस्माच्चिन्तागरीयसी' (लिखने में भी एक बिंदु अधिक होता है इसी से), चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवयुतां तनुम्।' सच तो यह है कि जिसे शीघ्र चिता पर पहुंचना होता है वा यों कहो कि जीते ही जी चिता पर सोना होता है वही इसके चंगुल में फंसता है। यह यदि अच्छे रूप की हुई तो अगर चंदनादि की चिता की बहिन समझनी चाहिए, जिस की सुगंधि से दूसरों को अवश्य सुख मिलता है और शास्त्र के अनुसार चाहे सोने वाली आत्मा भी कोई अच्छी गति पाती हो पर भस्म हो जाने में कुछ भी संदेह नहीं है और यदि कुत्सित रीति की हुई तो आत्मा अवश्य उसी नर्क में जीते मरते बनी रहती है जिस नर्क में नील आदि कुकाष्ठ की चिता में जलने वाले जाते हैं और ऐसों के द्वारा दूसरों का यदि दैवयोग से अनिष्ट न भी हो तथापि हित होना तो सम्भव नहीं होता। क्योंकि बुरे वृक्ष का फल अच्छा हो यह सम्भव नहीं है। और चिंता की बुराई में कहीं प्रमाण नहीं ढूंढना है, सहृदयमात्र उस की साक्षी दे सकते हैं। ऊपर से दाद में भी खाज यह है कि उस के लिए कारण अथवा आधार की भी कमी नहीं। चित्त सलामत हो तो समस्त सृष्टि के जड़ चेतन दृश्य अदृश्य अवयवमात्र चिंता का उत्पादन अथच उत्तेजन करने भर को बहुत हैं। परमात्मा न करे कि किसी को अन्न वस्त्र की चिंता का सामना करना पड़े जैसे कि आज दिन हमारे बहुसंख्यक देशभाइयों को करना पड़ता है। ऐसी दशा में मनुष्य

जो कुछ न कर उठावै वही थोड़ा है। संभ्रम रक्षा की चिंता उस से भी बुरी होती है जिस के कारण न्याय धर्म और गौरव सब आले पर धर के लोग केवल इस उद्योग में लग जाते हैं कि कल ही चाहे भून चबान का सुभीता न रहे, मरने पर चाहे नर्ककुण्ड से कभी न निकाले जायं, पर आज तो किसी तरह चार जने की दृष्टि में बात रही जानी चाहिए। इस से भी घृणित चिंता आजकल के बाबू साहबों की है जो स्वयं उदाहरण बन कर चाहते हैं कि देश का देश अपनी भाषा, भोजन, भेष भाव और भ्रातृत्व को तिलांजुली दे के शुद्ध काले रंग का गोरा साहब बन जाय, स्त्रियों का पातिव्रत और पुरुषों का आर्यत्व कहीं ढूंढे न मिले, वेद भी अंगरेजी स्वरों में पढ़ा जाय तथा विलायती ही कारीगरियों की किताब समझी जाय, ईश्वर भी हमारी कानून का पाबंद बनाया जाय नहीं तो देश की उन्नति ही न होगी। इधर हमारी सी तबियत वालों को यह चिंता लगी रहती है कि जगदीश्वर को कल प्रलय करना अभीष्ट हो तो आज कर दे पर हमारे भारतीय भाइयों का निजत्व बनाए रक्खे। उन्नति और अवनति कालचक्र की गति से सभी की हुवा करती हैं पर गधे पर चढ़ कर बैकुन्ठ जाना भी अच्छा नहीं। कहां तक कहिए जिसे जिस प्रकार की चिंता सताती होगी उस का जी ही जानता होगा कि यह कैसी बुरी व्याधि है। जब परलोक और परब्रह्म प्राप्ति तक की चिंता हमें दुनिया के काम का नहीं रखती, शरीर तक का स्वत्व छुड़वा के जंगल पहाड़ों में जा पड़ने को विवश करती है तब संसारिक चिंता के विषय में हम क्यों न कहें कि राम ही बचावैं इसकी झपेट से। जिन अप्राणियों को सोचने समझने की शक्ति नहीं होती, जिन पशुओं तथा पुरुषों को भय निद्रादि के अतिरिक्त और कोई काम नहीं सूझता वे उन से हजार दरजे अच्छे होते हैं जिन्हें अपनी वा पराई फिकिर चढ़ी ही रहती हो। इस छूत से केवल सच्चे प्रेमी ही बच सकते हैं जिन्होंने सचमुच अपना चित्त किसी दूसरे को दे कर कह दिया है कि लो अब इस दिल को तुम्हीं आग लगाओ साहब! फिर वह क्यों न निश्चिन्त हो जायं—"जब अड्डा ही न रहेगा तो बैठोगे काहे पर'। अथवा पूरे विरक्त, जिन्हों ने मन को सचमुच मार लिया है, वे भी चाहे बचे रहते हों पर जिन्हें जगत् से कुछ भी संबंध है वे कदापि नहीं बचते और बचें तो जड़ता का लांछण लगता है इस से और भी आफत है। गुड़ भरा हंसिया न निगलते बने न उगलते बने। फिर क्यों न कहिए कि चिंता बड़ी ही बुरी बला है। यदि संगीत साहित्यादि की शरण ले के

इसे थोड़ा बहुत भुलाए रहो तौ तो कुशल है नहीं तो यह आई और सब तरह से मरण हुवा। इसलिए इस से जहां तक हो बचे ही रहना चाहिए। बचने में यदि हानि या कष्ट हो तौ भी डरना उचित नहीं बरंच कठिन व्याधि की निवृत्यर्थ कड़ू औषधि के सेवन समान समझना योग्य है। बचने का एक लटका हमारा भी सीख रक्खो तो पेट पड़े गुन ही देगा, अर्थात् जिस काम को किए बिना भविष्यत् में हानि की आशंका हो उसकी पूर्ति का यत्न करते रहो पर तद्विषयिनी चिंता को पास न आने दो। इस रीति से भी बहुत कुछ बचाव रहेगा।

खं० ६, सं० ५ (दिसंबर ह० सं० ६)

गोरक्षा

हिंदुओं का परम धर्म है और हिंदुस्थान के धन संपत्ति का बृहदांश उसी पर निर्भर करता है। इस बात के लिए प्रमाणों की अब आवश्यकता नहीं रही। प्राचीन सदग्रंथ और नवीन सुलेखक तथा सुवक्तागण भलीभांति सिद्ध कर चुके हैं कि इसके बिना हिंदू जाति और हिंद देश का वास्तविक कल्याण सर्वथा असंभव है। पर यह बात केवल जान लेने अथवा प्रमाणित कर देने मात्र से कुछ नहीं हो सकता जब तक देश काल की गति के अनुसार उद्योग न किया जाय। इतिहास में कई आर्य नरेशों की कथा इस प्रकार की देखी जाती है कि जब उनके विधर्मी शत्रुओं ने अन्य उपायों से अपनी जय न देखी तो दोनों दल के मध्य कुछ गौएं बांध दीं इस पर हिंदू वीरों ने गोरक्षा के बिचार से शस्त्र संचालन का परित्याग करके हार मान ली अथवा प्राण और पृथिवी से हाथ धो बैठे। इस रीति की कार्यवाही धर्मजाड्य की दृष्टि से चाहे जैसी समझी जाय पर नीतिशास्त्र के अनुसार समयविरुद्ध होने के कारण उचित नहीं कही जा सकती। थोड़ी सी गउओं के प्राण बचा कर धरती हाथ से गंवा बैठने और अन्य धर्मियों को अधिक गोवध का सुभीता देने से यह उत्तम होता कि जहां धरती माता के उद्धारार्थ युद्धक्षेत्र में बहुत से ब्राह्मण क्षत्रिय मरने को सन्नद्ध थे वहां उन थोड़ी सी गउओं से भी यह प्रार्थना करके शत्रु समुदाय पर शस्त्र वर्षा कर दी जाती कि 'मातः! धरती देवी की रक्षा के बिना न हमारी रक्षा संभव है न तुम्हारी, अस्मात् उनके लिए जैसे हम लोग अपना रक्त बहाने में उपस्थित हैं वैसे ही तुम भी प्राण विसर्जन करने से मुंह न मोड़ो।' इस प्रकार से जय लाभ करने में यद्यपि थोड़ी सी गौओं का नाश हो जाता पर आगे के लिए धरित्री गोरक्षकों के हाथ में बनी रहती तो बहुत सी गौओं की रक्षा होती रहती। पर भारत के अभाग्य से भारतीयगण कुछ दिन से यह महामंत्र भूल गए हैं कि 'बहुत से लाभ की संभावना हो तो थोड़ी सी हानि को हानि न समझना चाहिए'। इसके अतिरिक्त बुद्धिमानों को यह भी समझना उचित है कि सच्चाई के साथ केवल अपनी सामर्थ्य भर काम करने से जो फल होता है वह झूठ मूठ का आडंबर फैला के 'धाय चलने और अमिट गिरने' का उदाहरण बनने से कदापि नहीं हो सकता। यदि हमारी सी समझ रखने

वाले थोड़े से लोग भी इन दो बातों पर भली भांति ध्यान देकर यथासंभव दूसरों को समझाते रहने का विचार रक्खें तो गोरक्षा कोई ऐसा काम नहीं है जो आर्य देश में संतोषदायक रूप से न हो सके। पर ऐसा न करके जो लोग व्यर्थ गोरक्षा २ चिल्लाते फिरते हैं उनके द्वारा सिवाय गोबध में सहायता पहुंचने के और कुछ नहीं हो सकता। करने और कहने में होता है अंतर। यदि सच्चे जी से काम करने वाले प्रत्येक नगर और ग्राम में एक २ भी हों—हम समझते हैं अवश्य होंगे—तो अपने २ हिंदू मित्रों को अनुरोध सहित एक २ गाय पाल लेने की रुचि दिलावें तथा जिन पर मित्रता का दबाव न पड़ सकता हो उन्हें गोपालन के प्रत्यक्ष लाभ समझाते रहें! अर्थात् जितना उसे घर में रखने से व्यय और परिश्रम पड़ता है उससे अधिक शुद्ध, स्वादिष्ट बलकारक घृत इंधनादि के द्वारा हित भी होता है एवं उसकी संतति से खेती बारी आदि में यदि सहायता लेने की शक्ति न हो तौ भी रुपया मिल ही रहता है—ऐसी २ बातें यदि उचित रीति से समझाई जायं तो हिंदुओं में फी सैकड़ा अस्सी लोग इस कार्य को बड़े चाव से उठा सकते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक जाति के लोगों में इसकी चर्चा फैलाते रहना भी उचित है कि बूढ़ी और बेकाम गाय ब्राह्मणों को दान करना पाप है तथा बिन जाने मनुष्य के हाथ बेचना जातीय दंड का हेतु है। मुसलमान भाइयों के साथ भी मतवाद न बढ़ा कर उन्हें यह समझाना चाहिए कि हमारा आपका सैकड़ों वर्ष से मेल मिलाप है और अब इस देश को छोड़ के कहीं आप निर्वाह नहीं कर सकते अतः यहां की जलवायु के अनुकूल और बृहत् समुदाय वालों की रीति नीति का सहगमन ही शारीरिक और सामाजिक सुख अथच सुबिधा का मूल समझिए। इस रीति से समझाने पर आशा नहीं विश्वास है कि हिंदू मुसलमानों के द्वारा गउओं का एक पुष्कल समूह सहज में संरक्षित रह सकता है और उससे हमारे भोजन वस्त्र की वर्तमान अनुविहित का बड़ा भारी अंश दूर हो सकता है। एवं इस काल में इतनी ही हमारी सामर्थ्य भी है, उसका अवलंबन न करके जो लोग बड़े २ झगड़ों में पांव अड़ाते हैं वे चाहे अपने जी से सच्चे भी हों पर अपनी करतूतों के द्वारा देश का अनिष्ट ही करते हैं। क्योंकि सर्कार से इस विषय में आशा करना दुराशा मात्र है जब तक सस्ते दामों में इतर धर्मियों को गाय मिलने का मार्ग हम स्वयं न रोकें। और इसका प्रबंध जाति २ के मुखियों को शिष्टता के साथ उपदेश देने के बिना कभी नहीं हो सकता। रहा गोशालास्थापन का प्रबंध, वह यदि राजाओं और बड़े धनाढ्यों को उत्साहित करके उन्हीं के आधीन कर दिया

जाय तौ तो कदाचित कुछ हो भी सके नहीं तो जैसा अभी तक कई स्थान पर देखा गया है वैसा ही बहुधा देखने में आवैगा कि चंदा उगाहने वाले गौओं का नाम ले २ कर लोगों से रुपया लेते और अपने चैन की बंशी बजाते हैं। वरंच गोभक्षिणी जाति की दुराचारिणी स्त्रियों ही की सेवा सुश्रूषा में अधिकतः व्यय करते हैं और गऊ माता उनके जनम को झींका करती हैं। कोई २ इस विषय के उपदेशक बन २ कर राजनीतिक चर्चा छेड़ के राज-कर्मचारियों को चिढ़ा कर देश का रुपया परदेश फेंकने का ठान ठानते हैं अथवा प्रत्येक धर्म पर आक्षेप कर २ हिंदुओं की श्रद्धा हटा देते हैं और अन्य धर्मियों को अधिक गोवध के लिए भड़का के सर्वसाधारण की शांति में विघ्न डालते हैं। ऐसे लहू लगा के शहीदों में शामिल होने वालों से तो वे हजार दस हजार अच्छे हैं जिन से कभी धोखे में कोई बछिया बछड़ा मर जाता है तो हत्याहरण नामक तीर्थ में स्नान दान किए बिना किसी को मुंह नहीं दिखाते बरंच लोक समुदाय के सामने अपने मुंह अपना पाप स्वीकार करते रहते हैं। सच पूछो तो यह लोग धर्म की मर्यादा का आदर और भय हृदय में स्थिर रखने वाले हैं किंतु कलियुगी गोरक्षक और उपदेशक तथा रोजगार के बहाने से बधिकों औ गोभक्षकों के साथ व्यवहार करने वाले एवं जातिभाइयों से छिपा के भक्ष्याभक्ष्य भक्षने वाले बिचारे धर्म रूपी वृषभ का कलियुग के हाथ से बचा बचाया एक चरण रहा है वह भी अपने कुकर्म के हाथों से काट कर उसके प्राण लेने वाले हैं। हमने माना कि सब ऐसे न हों पर जो ऐसे हैं उनके कोई बाहिरी चिह्न नहीं होता बरंच ऐसों की बोली बानी और ऊपरी चाल ढाल सच्चे गोहितैषियों की अपेक्षा अधिक सुहावनी होती है। क्योंकि लोगों को धोखा देकर अपना काम बनाना ही उनका अभीष्ट होता है और धोखा देने वालों से दो एक बार ठगाए बिना बचे रहना प्रत्येक के पक्ष में सहज नहीं हुवा करता। इस से हम अपने पाठकों को सल्लाह देते हैं कि यदि गोरखा में सचमुच रुचि हो तो अपनी पहुंच भर दो चार अथवा एक गाय का पालन तो अवश्व करते रहें। यदि सामर्थ्य न हो तो किसी धनहीन भाई की गाय को थोड़ा बहुत भोजन दे दिया करें अथवा हो सके तो बहुत ही शिष्टता और मिष्टता के साथ अपने हेती व्यवहारियों को इस विषय में उत्साह देते रहें। बस इस काल में हमारा किया इतना ही हो सक्ता है और इसी से बहुत कुछ लाभ होने की संभावना है। इस के अतिरिक्त धर्म्म की गति बड़ी सूक्ष्म हुवा करती है। उस में बिना भली भांति निश्चय किए टंगड़ी अड़ाना श्रेयस्कर नहीं है। यों नामवरी के लिए

सैकड़ों राहें खुली हुई हैं और सच्चे जी से जिसी सच्चे धर्म कार्य में कुछ हाथ पांव हिलाए जायं उसी में सच्चा नाम प्राप्त हो सक्ता है किन्तु जिस काम में धोखा खाने का डर हो उस में भली प्रकार सोचे बिचारे बिना हाथ डालना ठीक नहीं। इस काल में गोरक्षा के मध्य धोखा खाना असंभव नहीं है। इस से उस में उतना ही अग्रसर होना उचित है जितना अपने बूते हो सके वा कुछ भी करने की शक्ति न हो, तन धन बचन कुछ भी किसी काम के न हों तो चुपचाप बैठा रहना भी कोई बुराई नहीं है। स्मरण रखिए हमारे लिए आंखें मींच के चलने योग्य केवल वही मार्ग है जिसमें बाप दादे चलते आए हैं। बाकी जितनी राहें नई खुलती हैं उन सब में धोखा रहता है अतः उन का अवलम्बन बहुत ही सोच समझ के कर्तव्य है। आगे इच्छा आप की, हमारा काम तो सजग ही कर देना मात्र है।

खं० ६, सं० ५ (*दिसंबर ह० सं ६*)

मना

यह मना सब के मुंह में विराजमान है। नहीं तुम्हीं बताओ कि फलाने मत अथवा जाति में ऐसा शब्द नहीं सुना। हम तो यही जानते हैं कि यह सब ठौर है। कहो गिना चलें। मुसलमानों के यहां कई बातों का मना है—लाहौलवलाकूवत। वाह! खूब कही, नमअल्लम ये हिन्दू क्यों अलफ़ाज़ि अरबिया को ख़राब करे डालते हैं। लफ्ज़ है मन्अ, आप कहते हैं मना। अच्छा लो भई, माफ़ करो, हमें तुम्हारी तरह बमन करना नहीं आता। क्या मज़े में लिखे जाते थे, आ के बिघ्न डाल दिया। और सुनो, ईसाइयों के यहां शराब पीना मना है, परस्त्रीगमन मना है। लो यारो, सब मतों की आज्ञा वा निषेध गिनाएंगे तो होगी देर और तुम्हारा बहुमूल्य समय यों ही जायगा। भक्तों के मुख में 'हरि भज २ हरि भज मोरे मना, जो तू चाहे सुख अपना', कवियों में गोस्वामी तुलसी दासजी ने अंत में मना ही की शरण ली है—'पाई न गति केहि पतितपावन राम भज सुन सठ मना'। जो कभी कुमारगियों के साथ बातचीत सुनी सुनाई होगी (ईश्वर न करे आप कुसंगत में रहते हों) तो सुना होगा—'रामातु हाक मना है' ?* उनके यहां वाल्मीकि जी इसी मना के प्रताप से तर गए। जगत में यावत् पदार्थ हैं सब का मना (नाम) होता है। बिना मना के किसी वस्तु का वर्णन ही नहीं कर सकते। यदि तौरेत अंगरेजी में पढ़ा होगा तो जब इसराइलियों को भूख लगी थी तबस्वर्ग से मना वर्षा था। इसी मना ने उनके प्राण बचाए थे। रुई की तौल लगी है, सेठ जी पगड़ी बांधे पेंचवां पी रहे हैं—"अरे रमशैय्या मन्ना, उठें तो कोई गाहि मालूम पड़ैं छै शब के शवणूं रोटी की पड़ैं छैं। परशों कोई अट्टगाहिं कै रुईणूं बांट लातो एकदु मना हो तो क्यूं इतणीं पशेरियांणीं जुरुरत होतीं।" सुनो कचहरियों में 'मनादी कर दी जाय कि 'फुलां २ की डिक्री में मनाही नहीं हो सक्ती'। ज़रा सम्भल के पढ़ना, तुम्हारे मनाने में भी घंटों लगते हैं। जानी! तू क्यों इतना अनमना होती है? तेरी सुकड़ी हुई नाक, लाल आंखें, फड़कते होठों से "नहीं जी!"

---

* तुम्हारा क्या नाम है? (बदमाश आपस में प्रायः वाक्य के अंक उलट के बातचीत करते हैं जिससे कोई समझ न जावे)।

सुन के प्रेमशास्त्र में न मानना भी तो मना है। रजा यह कौन बात है, देखो हंसो बोलो, भला ले क्यों पीठ दे के हमें भी उदास करे देते हो। यह कौन बात है, खैर। हमारे भारतवासियों को आजकल देशहित के किसी सिद्धांत पर चलना मना है। केवल एक हरे भरे रमना में लालाजी को टहलना और आमना जाना ही कामना है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य सद्‌गुण की भामना नहीं। दुर्भाग्य का सामना करने का कोई उपाय नहीं। देखिए इस हत्यारे रामना को कब राम नाश करता है। देख लाला, हमारे दामना, भांग बूटी के लिए तुमई सों कछु पामना है, तो फिर बोल न जै जमना मैया की, जै जै !

खं० ६, सं० ५ (दिसंबर ह० सं० ६)

आप

तो भला बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहां की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आप के पत्र के पाठक हैं और आप 'ब्राह्मण'-सम्पादक हैं अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियां साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह तो प्रश्न की कोई रीति ही नहीं है। वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुटिहई अंगरखी (मीरजई), सीधी मांग, बिलायती चाल, लम्बी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसी लिए कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं वा नहीं ? जिस आप को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन रात मुंह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्दशास्त्र ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नकल है; हम, तुम संस्कृत के अहं, त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है ? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफ़ा दे दिया हो तो दूसरी बात है नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्ज फारसी या अरबीस्त" अथवा "ओः इटिज ऐन इंगलिश वर्ड"। जब यह नहीं है तो

खाहमखाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर, मूड़ - गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को। और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्' तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है। जैसे, "पानी उतरि गा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल बिकायं" तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिसुओ ते (वेश्या से भी) बहि जायं" और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आप का समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवैगा, पर खींच-खांच कर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं, उनका प्रयोग क्यों नहीं करते "आप" ही के सुर्खाब का पर कहां लगा है ? अथवा पानी की सृष्टि सब के आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है; पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आप की कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुंह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायंगे, और फिर कभी यह शब्द मुंह पर न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप-आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदां मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे। पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायत वालों के आगे आप २ न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया पर वह 'आप' थे, क्यों मानने लगे ! इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और आप का शब्द मुंह पर लाते ही हमने कह दिया कि 'आप की ऐसी तैसी'। यह क्या बात है कि तुम मित्र बन कर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने

में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप सांप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिंदी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिए" । पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी आप की पूछ है। दूसरी घनानन्द जी की यह सवैया है—"आप ही तौ मन हेरि हर्यौ तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, "तू" ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहां तक कि न्याय शास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शाब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त-जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्दबद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्तशब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर का द्योतन करने के काम में आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायं, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि, "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं", इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहां के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि आप संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करने वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी २ उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहां भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है। और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जानी पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गन्ध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात कोई सन्देह नहीं है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो जायगा। 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपा जी भी उन्नीस विस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता, बोलने में अब्बा) और योरोपीय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हां इसके समझने समझाने में भी जी ऊबे तो अंगरेज़ी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार का स्थानापन्न A है, और पकार का बकार से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हुई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे 'आप' बरंच शुद्ध आप्त से बने हैं!

हमारे प्रान्त में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई २ लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है। पर उनकी यह समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के

कहते हैं अब्बा और हिन्दू सन्तान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अंगरेज़ों की तकार और फारस वालों की टकार नहीं है कि मुंह ही से न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगी स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हां आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपान्तरित कर लिया होगा। क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होती। सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फ़कार' से बदल देते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में बकार भी मिला देते हैं, जैसे वक्त शब बवक्ते शब तथा तंग आमद—बतंग आमद इत्यादि, और शब्द के आदि को ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथ में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि की वृद्धि वा लोप भी हुवा ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय वा आप ही के उलट-फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न कि आप क्या हैं? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं? हां, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहां से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि "आप को हैं? कहां के हैं? कौन के हैं?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी में कह लेंगे "शाब! आप न समझो तो आपां को के पड़ी छै।" एं! अब भी नहीं समझे? वाह रे आप!*

खं० ६ सं० ८ (मार्च ह० सं० ६)

---

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

अपव्यय

अपव्यय कहते हैं नियमविरुद्ध वा बुरी रीति से रुपया उठाने को। यह कार्य सब देश के बुद्धिमान बुरा बतलाते हैं और विचार के देखो तो है भी बुरा ही, क्योंकि इस के परिणाम में कर्ता और उस के संबधियों को कष्ट एवं हानि अवश्य होती है। यद्यपि कंजूसी भी इसी के बराबर दूषित गिनी जाती है पर उस के द्वारा मनुष्य केवल दुर्नाम ही का पात्र बनता है, दुर्गति से यदि चाहे तो अपने को तथा अपने आश्रितों को बचाने में असमर्थ नहीं रहता। क्योंकि उसकी पूंजी उसके पास रहती है, उस से काम लेना वा न लेना उसके हाथ है। पर अपव्ययी तो धन संबंधिनी शक्ति से हीन हो कर अंत में आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति के काम ही का नहीं रहता। यों तो परिमाण का उल्लंघन करना सभी प्रकार से हानि अथच कष्ट का कारण होता है, यहां तक कि शास्त्राध्ययन, धनोपार्जन, धर्मसाधनादि कार्य जो सभी के मत से परमोत्तम हैं वे भी यदि परिमिति से अधिक किए जायं तो स्वास्थ्य, स्फूर्ति, स्वातंत्र्य आदि को नष्ट कर देते हैं फिर दूषणीय कर्मों का तो कहना ही क्या है। जो धन कृषि वाणिज्य शिल्प सेवादि के द्वारा बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, जिस के बिना संसार का कोई भी व्यवहार नहीं सिद्ध होता, उस को तुच्छ समझ के व्यर्थ नष्ट कर देना वा हाथ में रखे हुए उस से उचित काम न लेना बुद्धि के साथ बैर बांधना है। बरंच घोर पाप कहें तो भी अयुक्त न होगा। क्योंकि हमारे पूर्वजों ने लक्ष्मी अर्थात् धन को भगवान की स्त्री कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि घर के भीतर जितना स्वत्व और जितनी प्रतिष्ठा पुरुषों के उपरांत स्त्रियों की होती है उतनी ही संसार-सदन में विश्वव्यापी विश्वेश्वर के उपरांत द्रव्य की है। बरंच भगवान के अस्तित्व में नास्तिकों को नाना प्रकार के संदेह रहते हैं, आस्तिकों से भी भजन यजन का उचित निर्बाह बहुत थोड़ा होता है किंतु लक्ष्मी देवी की महिमा प्रत्यक्ष है। बालक वृद्ध, मूर्ख बिद्वान सभी देखते रहते हैं कि यह न हों तो जीवन यात्रा 'पग पग पर्वत' हो जाय, धर्म कर्म इज्जत भलमंसी तो दूर रही भोजन वस्त्र तक के लाले पड़ जायं जिन से सांस चलने की आस है। इसी से सभी लोग इन की प्राप्ति के लिए सभी कुछ करने में सन्नद्ध रहते हैं। क्योंकि मतमतांतर के झगड़ालू मुख से स्वीकार करें वा न करें पर मन में

सभी जानते हैं कि जगत का कर्ता धर्ता, हर्ता भर्ता ईश्वर यदि कोई है तो लक्ष्मी भी उस की एक महाशक्ति ही है, जिसे दूसरे शब्दों में स्त्री कहना भी साहित्यशास्त्र के बिरुद्ध नहीं है। औ स्त्री को पुरुष का आधा अंग वा परम सहायिनी कहते हैं। इसी से रूपराज (रुपया) भी कभी २ कहीं २ नगदनारायण वा नकदहूलाशरीफ कहलाते हैं। इस रीति से जो मनुष्य धन के साथ कुव्यवहार करता है वह मानो जगत के स्वामी की अर्द्धांगी वा साक्षात उसी के साथ बुरा बर्ताव कर के अपराधी बनता है और ऐसे बुद्धि-शत्रु को यदि हम पापी कहें तो क्या अनुचित है। औ न कहें तौ भी अपने किए का फल तो आज नहीं कल, कल नहीं परसों, परसों नहीं बरसों पीछे सही उसे भोगना ही पड़ेगा। क्योंकि यह बात बच्चे तक जानते हैं कि पाप करने से दुःख मिलता है इससे उससे बचना चाहिए। यहां पर यदि कोई पूछे कि कैसे बचें तो हम कहेंगे कि पहिले पाप का भेद समझ लीजिए फिर बचने की युक्ति आप ही समझ में आ जायगी। धन के संबंध में प्राचीनों के मत से तीन प्रकार का पाप होता है—१. अन्याय से उपार्जन करना २. कंजूसी करना ३. अपव्यय करना। इनमें पहिला पाप तो केवल कहने मात्र के लिए है नहीं तो न्याय अन्याय इस शताब्दी में बिचारता ही कौन है? जब आप किसी रीति से बहुत सा रुपया कमा लेंगे, जब जो सामने आवैगा धर्ममूर्ति धर्म्मावतार ही कहता हुआ आवैगा, नहीं तो भुनाए क्या लेता है? यदि कोई सच्चाई का पुतला वा स्पष्टवक्ता कहलाने की बैलच्छि में आ के आप पर पाप के शब्द का प्रयोग कर बैठे तो मानहानि का अभियोग उपस्थित कर के उसकी लेव देव कर डालिएगा। क्योंकि आप हैं लक्ष्मीवान और लक्ष्मी है आदिशक्ति, फिर भला आदिशक्ति को किस की शक्ति है जो पाप लगावै? आप ने चाहे लाख गरीबों की जमा हजम की हो पर हम आप को गरीबपर्वर ही कहेंगे क्योंकि हम गरीब हैं और पर्वरिश चाहते हैं जिस की प्राप्ति का यही मंत्र है। आप किसी प्रकार रुपया जमा कर लीजिए आप को पापी कहै वह आप ही पापी है, क्योंकि जिन का धन आप ने हथि-आया है वह अवश्य आलस्य वा अज्ञान के कारण अपना रुपया बचाने के योग्य न थे, नहीं तो आप के बाप भी उन्हें खौखीन न कर सकते। इस से बोध होता है कि उनके पास द्रव्य का बना रहना ईश्वर ही को अभिप्रेत न था। फिर भला आप ने परमात्मा की इच्छा पूर्ण की है वा पाप किया है? जिन को आप ने शारीरिक सुख का सुभीता दिया है वा मीठी २ बातों से मोहित कर लिया है उन्हीं का रुपया हस्तगत किया है और सुखलोलुपों

तथा मोहग्रस्तों के पास धन रहता तो अनर्थ ही करता, उससे आप ने उन्हें बचा लिया। मनुष्य कुछ खो के सीखता है, यदि खोने वाले मनुष्य होंगे तो आप की दया से अपना भला बुरा सोचना सीख जाएंगे। फिर आपने बुराई क्या की जो उन्हें सीखने के योग्य बना दिया। यदि पुराने ढंग के लोगों की बातों से अपने पूर्वकृत कर्मों पर ग्लानि आती हो तो प्रत्येक पाप का प्रायश्चित भी हो सकता है। उपार्जित द्रव्य से अनेक उत्तम कार्य ऐसे हो सकते हैं जो पूर्वकृत से कहीं उत्तम हैं। सिद्धांत यह कि धन संचय में छप्पन कोठे जी दौड़ाना वाहियात है, लाख बात की यही एक बात है कि अपने देश जाति, बन्धु बांधव तथा अपने ऊपर विश्वास रखने वालों को बचा के और किसी की प्राणहानि, मानहानि, सर्वसहानि न कर के जैसे बने वैसे रुपया इकट्ठा करना पुरुष का कर्तव्य है और जो अपने साथ दुष्टता किया चाहे उससे बचने वा बदला लेने में जो बन पड़े वही कर उठाना बुद्धिमानी है। रहा दूसरा पाप, वह भी वहीं तक पाप है जहां तक सामर्थ्य होते हुए अपनी वा अपने लोगों की उचित आवश्यकता पूरित न की जाय। इतना करने पर भी यदि कोई कंजूस मक्खीचूस बनावै तो उसे निरा हूस समझना चाहिए। खाने पहिनने खिलाने पहिनाने में जब आप कष्ट सहना सहाना बचाए रहते हैं तो बस घर के धान पयार में मिलाना व्यर्थ है। हां, तीसरा पाप निश्चय ऐसा है जो धनहीन, तनक्षीण, मनमलीन कर के जीवित को नर्कमय बना देता है। पर उसका समझना भी साधारण समझ वालों का काम नहीं है। हमने माना कि आजकल काल कर्मादि की गति से हमारी दशा बहुत शोचनीय हो रही है पर यह भी क्या बात है कि जिसे देखो वह हमारा शिक्षादाता ही बनता आता है। यहां तक कि जिन विषयों में हम आज भी दूसरों को शिक्षा दे सकते हैं उनमें भी लोग हमारे शिक्षक बनने को मरे जाते हैं। यह भी यदि विदेशियों और विधर्मियों की ओर से होता तो कोई आक्षेप का स्थल न था क्योंकि संसार के सभी लोग अपनी रीति नीति चाल ढाल को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं और दूसरों में से जिस के धर्म कर्म व्यवहार बर्ताव आदि का भेद नहीं जानते उसे अपने रंग ढंग का उपदेश कर के जो केवल स्वार्थसाधन का ढंचर डाले तो नीतिकौशल है अथवा यदि निरानिरी उपदेश पात्रों ही का भला बिचारें (यह बहुधा देखने में नहीं आता) तो उनकी सज्जनता है। यह दोनों रीतियां आक्षेप के योग्य नहीं हैं पर हंसी तब आती है जब कोई 'मेरे घर से आग लाई नाम धरा बंसदर' का उदाहरण बन के हमारा तत्व तनिक भी न जान कर केवल अपनी परदत्त

पूंजी पर हमारा उपदेष्टा बनना चाहता है। जिनके मतों को उपजे अभी बीस वर्ष भी नहीं हुए, जिनके समुदाय में संस्कृत का पूर्ण विद्वान तो गूलर का फूल है, हिंदीसाहित्य का समझने वाला दिया ले के देखो तो ढूंढ़े न मिले, वह हमारे उत्कृष्ट श्रेणी के मान्य ग्रंथों को दूषित ठहरा के हमें धर्म सिखलाया चाहते हैं। जो हमारी सामाजिक रीति के अनुसार समाज के इतने स्नेही और स्नेहभाजन हैं कि पानी पान के पात्र भी नहीं कहे जा सकते, जिन की भाषा भोजन भेष भाव इत्यादि में देशीपन की गंध तक नहीं आती वह हमें व्यवहार शिक्षा देने को उधार खाए फिरते हैं। वाह रे कलियुग, हमारी समझ में इन सिखलाने वालों को पहिले आप ही सीखना उचित है कि किसको किस रीति से क्या सिखलाना फलीभूत हो सकता है। पहिले जो बातें हम दूसरों को सिखलाते हैं वह हमें स्वयं सीखनी चाहिए नहीं तो केवल जीभ की लपालप से अपना मुंह तथा दूसरों के कान दुखाने और दोनों का समय नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। इन दिनों जितने लोग हमारे देशी भाइयों को यह उपदेश करते हैं कि देश में धन नहीं रहा, उस की वृद्धि का उपाय करना चाहिए और व्यर्थ न उठने देना चाहिए, उनके हम विरोधी नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष देखते हैं कि नाना भाति के कर और निस्सार पदार्थों के द्वारा हमारा सारा रुपया दिन २ विदेश को लदा जाता है, जब तक हम सब बकबासें छोड़ के अपने शिल्प और व्यापार की वृद्धि में तत्पर न होंगे इस घटी को पूरा नहीं कर सकते। यह भी हम मानते हैं कि धन की वृद्धि यदि हमारे पक्ष में दुस्साध्य हो तथापि उसे नष्ट तो कदापि न होने देना चाहिए और इस का एकमात्र उपाय अपव्यय से बचे रहना है। जो अपव्ययी नहीं है वह यदि दैवयोग से कमाने में शक्तिमान न हो तो भी धन के पूर्ण अभाव का दुःख नहीं उठाता। पर हम नहीं जानते कि विदेशी तथा उन के चेले एतद्देशी हम पर अपव्यय का दोष क्यों लगाते हैं? यदि हम हिंदुस्तान की सनातनी मर्यादा न छोड़ें तो कभी अपव्यय नहीं कर सकते अतः हमें अपव्ययी कहने वाले आप ही अपव्ययी हैं तथा वही देश का सत्यानाश करते हैं।

खं० ६, सं० ८ (मार्च ह० सं० ६)

होली है

तुम्हारा सिर है ! यहां दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा—भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं, इन्हें होली है, हें !

अरे कैसे मनहूस हो ? बरस २ का तिवहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत ! एक बार ता प्रसन्न होकर बोलो, होरी है !

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोल के शांत हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है । खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी कर दी है। जो कुछ उपजता भी है वह कट के खलिहान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है। रुजगार व्यौहार में कहीं कुछ देखी नहीं पड़ता। जिन बाजारों में अभी दस बरस भी नहीं हुए कंचन बरसता था, वहां अब दूकानें भांय २ होती हैं। देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषतः जो छाती ठोंक २ ताली बजवा २ कागजों के तख्ते रंग २ कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी बी० ए०, एम० ए० पास करने वालों को भी उचित रूप में मुश्किल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली !

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किनके हैं ? उन्हीं के न जो किसी समय बसंतपंचमी ही से—

'आई माघ की पांचैं बूढ़ी डोकरियां नाचैं' का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह माह दिन चार।
शठ पंडित, वेश्या वधू सबै भए इकसार ॥

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनंदमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज तेवहार के दिन भी आनन्द बदन से

होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिंदूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया ?

तुम्हें आज क्या सूझी है जो अपने पराए सभी पर मुंह चला रहे हो ? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है। उसके मानने वाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी बाहिरी संबंध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर उन छुटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो ? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रंथों के मानने वाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निन्दा कर कर के तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनिया भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले बुरे लोग और दुःख सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भाग खा के आए हो। इसीसे ऐसी बेसिर पैर की हांक रहे हो। अभी कल तक प्रेम सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फंसने न दे'। वाह, भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ। यही तो तुम से नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते क्योंकि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि कुछ लोग 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' का उदाहरण बन जायं तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हां यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी२ समझ में नहीं आतीं। इससे मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइए, जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः क्या समझ है ! अरे बाबा ! हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है ! जो बातें हमारे मुंह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हम को तुम को क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है । पर इसमें भी सन्देह न करना कि जो कोई चुपचाप आंखें मींच के मान लेता है वह परमानंद भागी हो जाता है ।

हि हि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुन कर परमानन्द तो नहीं, हां मसखरेपन का कुछ मजा जरूर पा जाता है ।

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुंह से हि हि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटके हुए मुंह के टांकों के समान दो तीन दांत तो निकले । और नहीं तो मसखरेपन ही का सही, मजा तो आया । देखो, आंखें मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो । छत्तिसौ जात वरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गंध से अक्किल भाग न गई हो तो समझो । हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त हो जायगा । इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावो । आज मन मार के बैठे रहने का दिन नहीं है । पुरखों के प्राचीन सुख सम्पत्ति को स्मरण करने का दिन है । इससे हंसो, बोलो, गाओ, बजाओ, त्यौहार मनाओ और सबसे कहते फिरो—होली है !

हो तो ली ही है ! नहीं तो अब रही क्या गया है ।

खैर, जो कुछ रह गया है, उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढंग से, न कि विदेशी ढंग से । स्मरण रक्खो कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा । अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है । रोना निस्साहसों का काम है । अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है । मांगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा । इससे अपनपना मत छोड़ो । कहना मान जाव । आज होली है ।

हां हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली (होल—अंगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त) है ! हमें तुम्हारी सी ज़िंदादिली (सहृदयता) कहां से सूझे ?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो 'नकटा जिया बुरे हवाल' का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भांति पड़े २ कांखने से कुछ न होगा। आज उछलने हीं कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो ?

यह कलजुग है। बड़े २ वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल बुद्धि, धर्म धन, मान प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से ! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी २ उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिए ! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियमविरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फंसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है। धन्य हैं यह सरगापत्ताली बातें ! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी ?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान ही लिया करो, बहुत अकिल को दौड़ा २ के थकाया न करो। इसी में आनंद भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धि वाले लोग भगवान भूतनाथ श्मसानविहारी, मुंडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वतराजनंदिनी को वामांग ही

में धारण किए रहते हैं, और प्रेमशास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान कृष्णचंद्र को लोग श्रृंगार रस का देवता समझते हैं पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए जिसे सुना के उन्होंने अर्जुन का मोहजाल छुड़ा के वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-मया, मोहममता को तिलांजलि दे के मारकाट आरंभ कर दी थी। इन बातों से तत्वग्राहिणी समझ भलीभांति समझ सकती है कि भगवान प्रेम-देव की अनंत महिमा है। वहां अनुरागविराग, सुखदुख, मुक्तिसाधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं। और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्वपुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर, अनुकूल हो या प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे वा निंदा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूल मंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही सुनी क्षमा कर के, हाथ जोड़ के, पांव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जी खोल के परस्पर की प्रसन्नता संपादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके, ऊपरी आमोद प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात २ पर मुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोड़ के, अपनी मौज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो। पर्व के दिन मन मार के न बैठो। घर बाहर, हेती ब्यौहारी से मानसिक आनंद के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ली ई ई ई है।*

खं० ६, सं० ८ (मार्च ह० सं० ६)

---

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तौ भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायं? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे प्रथक् रहता है सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है। और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा। क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है।

अतः सबसे प्रथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रन्देवानमुदगातनीक" इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया-वपु-धारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहां?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहां तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भांति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट २ कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रक्खे इसी में सब कुछ है। जहां भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बन कर संसार को सचमुच माया को कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा मुर्खा हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकार मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहां पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख २ कर सुख प्राप्त करते हैं! विचार कर देखिए तो धन जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायं, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तौ भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूंदि गईं आंखें तब लाखें

केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूंजी गंवा कर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उस में खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहां उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक २ बना हुवा है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहां इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूट भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रख कर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी २ बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'मायामोहिनी मन हरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न २ चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर २ होने लगे, बरंच रही न जाय तौ फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक भौंह क्यों सुकुड़

जाती है ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गंवा बैठता है, और जो धोखा देता है उस की एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उस से बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उस का उस की निन्दा करना नीतिविरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञ गण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुंह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख मांग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उस का दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी। और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोध कर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खा के धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़ कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तौ भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भांप न सके, और तुम्हारा बलिपशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरु-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खा के धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझ वालों का काम है। इस से जो लोग अपनी भाषा भोजन, भेष भाव और भ्रातृत्व को छोड़ कर आप से भी छुड़वाया चाहते हों उन को समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उन से धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिन्दू हो कर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है*।

खं० ६, सं० ६ (अप्रैल ह० सं० ६)

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

विलायत यात्रा

न जाने क्या दुर्दशा आई है कि लोगों को सब विलायती पदार्थ ही अच्छे लगते हैं। कदाचित् इसका कारण पश्चिमीय शिक्षा हो। लोग बाल्यावस्था में ही उन स्कूलों में भेज दिए जाते हैं जहां वही अंगरेज़ी गिट-पिट से काम पड़।······चाहे कश्मीरी, खत्री आदि की भी संतति हों, पर अपने को ब्लैक कहने में आदर समझें। चाहे महाराष्ट्र वीरों के पुत्र भी हों पर वही कि हममें अंगरेजों की सी फ़ुर्ती कहां से आई, इत्यादि। यह सब बातें लिखें तो लेख बहुत बढ़ जायगा। हमें तो केवल यह दिखाना है कि काल के परिवर्तन से जो लोग विलायत गमन के लिए कहो वेद से लेकर पुराण, कुरान आदि के श्लोक वा आयत छांट छांट के छपा दें, कहो सहस्र युक्तियां निकाल के यह सिद्ध कर दें कि वहां की सी जलवायु कहीं नहीं है, वहां की रहन सहन, बोलचाल, शिष्टता मिष्टता कहीं नहीं। वहां हमारे पूर्वज तो सब जाते थे। बिना वहां के खाद्याच्छादन किए हमारी ब्लैकनेस (श्यामता) जा सकती है, न गौरांग देवों की भी पूजार्चा मिल सकती है। अरे भाई एक ब्राह्मण चाहे सो बके, पर तुम्हारी समझ में नहीं आएगा।

पर यदि हमीं श्वेत लेप लगा लें और अपना नाम भी रेवरेन्ड मिस्टर P. Naroyegem Messur ए० बी० सी० डी० ई०······जेड रख लें तो तुरंत आप हमारे बंगले पर आ के हमसे साक्षात् करके कर स्पर्श करने को उत्सुक होंगे। आप अपनी पाकेट से रूमाल निकाल के झुकेंगे कि हमारा बूट पोंछ दें। पर हम कहेंगे "ओः हट जाओ सूअर काला।" झट से आप सिटपिट कर के हट जायंगे। आप अंगरेजी में किटपिट करके हमें शांत करना चाहोगे, पर हमें वही "मुनटा नहीं हम चला जायगा टुम बाडमास" सूझेगा। लाख खुशामद करोगे हम एक न सुनेंगे। हम जो कुछ लिखेंगे, आप यदि हिन्दू हैं तो वेदवाक्य समझेंगे, यदि मुसलमान हैं तो आयातेकुरान से भी अधिक मानेंगे, अगर नेटिव क्रिश्चियन हैं तो अपने प्रीन्चिङ्ग में नीम के नीचे खड़े हो करके हमारे लेख को भी, सच मानिए, अपनी बाइबिल के प्रमाणों में मिलाने लगेंगे। ऐसे समय पर कहीं हम बिलायत-यात्रा-निषेध पर कुछ लिखें तो विद्युत समाचार की नाईं समस्त भूमंडल पर फैल जाय। हमको भी राजा, सर,·····श्री ईसाई (C. S. I.) की पदवी मिल जाय। पर

भैय्या!......हम तुम्हें यह समझाते हैं कि साहिब लोगों के ही क्या रक्तमला (सुर्खाब) का पंख लगा है जो उनके लेक्चर और आर्टिक्लों को बिना मीमांसा ग्रहण कर लेते हो। इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं है। 'यथा राजा तथा प्रजा' का अर्थ यह नहीं है कि साहिब लोगों की नाईं आप की लड़की भी मिसें हो जायं। आप की रहन सहन में खड़े हो के पयश्राव त्याग करना सभ्य समझा जाय। आप जो इतने प्रमाण श्री महाभारतादि बृहदितिहासों और श्री मद्भागवतादि महापुराणों से छांटते हैं कि हमारे पूर्वज विलायत जाते थे, हमने माना, किन्तु यह तौ समझिए कि उन महापुरुषों ने जा के क्या २ किया था। किसी ने जा के अपनी व्यवहारविद्या फैलाई थी। आप उलटे वहीं की रीति नीति सीख आते हैं।

उन लोगों ने वहां जा के अपने सनातन धर्म को विस्तृत किया था। आप वहा से ईसाई हो के लौटते हैं। आप के पूर्वपुरुष झट से अन्य देशस्थ मनुष्यों को विडालाक्ष, कालयवन[1] मयदानव[2] नाम धर लेते थे। आप ब्लैक, डैमड फूल बन के फूल से खिल जाते हैं कि इन अधरों से भला इतना तौ भी सुना। अभी तो आप इस बात पर हंसते होंगे कि हम भी किस मुल्क में उत्पन्न हुए जहां के लोग जहाज पर नहीं चढ़ते, जहां खड़े हो के नहीं मूतते, जहां लोग हाइड्स पार्क[3] की सैर नहीं करते, जहाँ स्त्री स्वच्छंद नहीं विचरतीं, जहां कागज़ का एक काम तो लोगों को विदित ही नहीं, केवल लिखने छपने टोपी बनने आदि के ही काम में आता है इत्यादि,। पर यह न समझते होंगे कि हमारे देश की एक २ रीति पर चाहे और देश के आदमी असभ्यता का दोष आरोपण करें, किंतु कुछ नहीं, कहीं धूलि के उड़ने से भानु प्रतापहीन होते हैं। हां इतना तो हो जाता है कि भानु दिखाई न दें। पर ज्योंही धूलि हटी त्योंहीं भगवान वैसे के वैसे ही। सिविल सर्विस है तो सर्विस ही न, फिर क्यों उसके लिए बिना बुलाए अपनी लक्ष्मी को समुद्र प्रान्तों में भेजें। एक सिविल सर्विस के लिए जितना रुपया व्यय किया जाता है और एक साल जितने मनुष्य परीक्षा देने विलायत जाते हैं, उतने रुपयों के यदि हमारे

---

(१) अरब का रहने वाला था। हर समय कालः हुतआला, कालः हुजैद कहा करता था। झट से महर्षियों ने 'कालयवन' नाम धर दिया।

(२) फारस का रहने वाला था। जब कोई वस्तु चाहता था तो विदुर जी से कहता—"रंगे ज़र्द म ख़ाहम्" झट से मै (मय) नाम पड़ गया।

(३) हाइड्स पार्क—जहां से लज्जा योजन भर दूर रहती है। लंडन का एक बाग़।

देश में कोई सद्व्यय होने लगे तो क्या ही आनन्द का विषय है। सिविल सर्विस में हजारों रुपए व्यय कर के जब लौटोगे तो मिलैगी वही नौकरी। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि नौकरी करो ही मत, न करोगे तो जियोगे कैसे? किन्तु यह अभीष्ट है कि ऐसा उद्योग करो कि जिससे देश का धन देश ही में रहे। राज्य दूसरों का है, कुछ न कुछ धन तो अवश्य ही विदेश जायगा। यह बात तो पत्थर की लकीर ही है। पर ऐसा उद्यम करो, जिससे यथोचित द्रव्य के अतिरिक्त एक कौड़ी भी विदेश को न जाय। यदि सैर ही के प्रयोजन से विलायत जाते हो तो तनिक चेत करके देखिए तो हमारे वैसे दिन नहीं रहे। यदि ऐसी ही इच्छा है तो श्री वृन्दावनादि तीर्थों को रमणीय करने की चेष्टा कीजिए। नहीं तो यह पवित्र स्थान एक तो वैसे ही पूर्वापेक्षा कुछ न्यूनतर रमणीय हो गए हैं, दूसरे तुम और कर दोगे।

मुसलमानों के अत्याचार से तो मंदिर भग्न हुए, अब तुम्हारे विलायत आदि जाने के व्यय में अकेले तीर्थ ही क्या तुम्हारे सब ग्रहादि प्राणरहित देह के समान हो जायंगे। जिस दिन तुम विलायत में जा कर अपने आचार व्यवहार फैलाओगे, और जैसे अन्य देशियों की रीति नीति तुम सीखते हो वैसे दूसरों को भी अपनी नीति सिखाओगे, उस दिन तुम्हें कोई बुरा न कहेगा और कोई जातिभ्रष्ट न कहेगा। बोल श्री नंदनंदन की जै—*

खं० ६, सं० ८ (अप्रैल ह० सं० ८)

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

आपबीती कहूं कि जगबीती

जब तक हमारा सम्बन्ध जगत के साथ बना हुआ है तब तक आप-बीती भी जगबीती का एक अंग है। इसमें थोड़ी सी यह भी सुन लीजिए कौन जाने पेट पड़े कुछ गुण दे। बात यह है कि जो लोग केवल हाथ पाव से परिश्रम करते हैं और मस्तिष्क से बहुत काम न लेकर केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से प्रयोजन रखते हैं तथा यथासाध्य आहार बिहार के नियमों का पालन बरंच लालन करते रहते हैं वे बहुधा नीरोग होते हैं। पर जिन्हें बाह्य जगत की इतनी चिंता नहीं रहती जितनी दिमागी दुनिया की रहती है उन्हें कोई न कोई रोग न हो तो आश्चर्य है और यह इसी दूसरी श्रेणी के पाचवें सवारों में हम भी हैं। इससे रोगराज की हम पर भी यों तो साधारण दया रहती ही है किंतु तीसरे चौथे वर्ष विशेष कृपा हो जाती है। जिसमें आप राजसी ठाट बाट में चार छः महीने के लिए आ जाते हैं और उनकी भेंट के लिए रुपया तथा भोजन पान के लिए अपना रक्त मास हमें अवश्य अर्पण करना पड़ता है। बरंच उनके साथ नाना कल्पनामय विश्व में घूमते घामते अज्ञात लोक के द्वार तक भी कई बार जाना पड़ता है। उन दिनों हमें इस पत्र के संपादन अथवा दूरस्थ मित्रों के साथ पत्रव्यवहार का अवकाश नहीं रहता क्योंकि हम एक विशेष अभ्यागत की सेवा सुश्रूषा में लगे रहते हैं। इस प्राचीन रीति के अनुसार हमारे मित्र रोगराज ने गत वर्ष देह नगर में पदार्पण किया था पर हमने उनका उचित आदर मान नहीं किया। केवल कनपुरिहा मित्रों की भांति चार आंखें हो जाने पर घोड़े की नाईं हें हें करके या यों ही पानी पान मात्र की पूछपाछ के टालमटोल करते रहे। जहां आपरूप आंखों की ओट हुए कि फिर कोई संबंध नहीं! यद्यपि हृदय से हम सदा चाहते हैं कि उन्हें किसी प्रकार ऐसा नीचा दिखावैं कि फिर वह किसी काम के न रहें पर करें क्या जब तक मौका नहीं मिलता तब तक मुख से मित्रता का स्वांग भरते हैं। आप समझिए रोगराज भी तो बच्चे नहीं हैं, सारे भारत को चरे बैठे हैं, हमारी चालबाजी कब तक न ताड़ते? दो ही चार बार के बर्ताव से समझ गए कि सीधी उंगली से घी न निकलेगा पर न जाने किस कारण से उनका भी चित्त दुचित्ता सा था। अतः हमारे साथ पूरी चाल न चल केवल कभी ही कभी कुछ २ हाथ दिखाते रहे। जो

सज्जन 'ब्राह्मण' को रुचिपूर्वक देखते हैं उन्होंने देखा होगा कि गए बरस किसी २ मास में हमने एक अक्षर भी नहीं लिखा। लिखना कैसा यदि हमी उत्तरदाता होते तो कुछ दिन के लिए अपने पाठकों से छुट्टी लेते वा मुंह छिपा जाते। पर यस्मात 'ब्राह्मण' इन दिनों सौभाग्यवशतः एक क्षत्रिय वीर के आश्रय में है अस्मात उसका निर्वाह हमारे उपेक्षा करने पर भी उचित और उत्तम रीति से होता गया। यों द्वेष वा अरसिकता से जो चाहे सो कहा सुना करें। लिखने का हमें आप व्यसन है पर अकेला मनुष्य घर आए लश्कर की आवभगत में फंसा हो तो दूसरे काम क्योंकर कर सकता है ?

इस भांति रोगराज के और हमारे दाव पेंच प्रायः बारह मास तक चलते रहे अंत में कई बार खिन्न होने के कारण चैत्र लगते ही वह झुंझला ही तो उठे। इस देश के लोगों में यह बड़ा दुःखदायक और हानिकारक दोष है कि आरम्भ में रोग को रोग नहीं समझते। पर हमारे लिए तो आरंभ न था इससे उनके तेवर बदले हुए देखते ही प्रतिकार की चेष्टा करने लगे। किंतु अभाग्य समझिए चाहे अज्ञान समझिए जिसके हेतु से हम एक ऐसे धोखे में पड़ गए कि ईश्वर•सबको बचावे! किसी की निंदा करना हम अच्छा नहीं समझते पर सच्ची बात इसलिए प्रकाश किए देते हैं कि दूसरे लोग धोखे में पड़ के कष्ट न सहें। एक संन्यास भेषधारी व्यक्ति कानपुर में आए थे और मिलने जुलने वालों के द्वारा प्रसिद्ध कर दिया था कि आप आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथों को पढ़े हुए हैं, उनके प्रायः सभी अंगों में अभ्यास रखते हैं, उन्हीं के अनुसार चिकित्सा करते हैं और उसी विद्या के प्रचारार्थ यहां आए हैं। इतना ही नहीं वरंच कई भलेमानसों को सुश्रुत पढ़ाना और कई को औषधि देना भी आरंभ कर दिया था। जो लोग विलायती दिमाग के उनके पास जाते थे उनके संमुख पश्चिमीय चिकित्सा का अधूरा-पन भी बातों में सिद्ध कर देते थे तथा आर्य्य शास्त्रों की और मामूली बातें भी जिज्ञासुओं को सुनाया करते थे। ऐसी २ बातों से कुछ लोगों को उन पर श्रद्धा हो गई थी। उन्हीं लोगों के द्वारा हमें भी दो एक बार उनसे मिलने का अवसर पड़ा था। उसमें हम पर दया करने वाले कतिपय सज्जनों ने उनसे हमारे गुण दोष ऐसी रीति से वर्णन कर दिए कि बाबा जी महाराज हमारे मौखिक मित्र बन गए। आप समझिए हम अन्तर्यामी तो हैं ही नहीं कि कुछ दिन परिचय पाए बिना किसी का आंतरिक भेद जान सकें। अतः उनके ऊपरी सुव्यवहार पर हम भी रीझ गए। विशेषतः वह चरक

सुश्रुतादि के अनुकूल हिन्दी में एक पुस्तक बनाने और कानपुर में सर्वसाधारण के सुभीते के योग्य देशीय औषधालय स्थापन करने की इच्छा प्रकाश करते थे तथा इन दोनों विषयों में हम से सहायता लेने के उत्सुक जान पड़ते थे और हम भी इन दोनों बातों की देश के पक्ष में बड़ी भारी आवश्यकता समझते हैं इससे और भी जी खोल के मिलना उचित समझ बैठे ! इसे पाठकगण निरी देशहितैषिता ही न समझें, हमने एक विद्वान वैद्य के द्वारा अपने रोग की निवृत्ति तथा निज मित्रों के लिए चिकित्सा संबन्धी सुविधा का भी सुभीता समझा था। इस प्रकार हमारा उनका मेल थोड़े ही दिन में इतना हो गया कि जहां वह दूसरों के यहां बग्घी पर चढ़े बिना जाते ही न थे वहां हमारे यहां पैदल चले आते थे और घंटों पड़े रहते थे। इस बीच में यद्यपि कई बार उनकी बातों तथा दूसरों के प्रति व्यवहार के द्वारा यह विदित हो गया कि जैसा हमने आरंभ में समझा वैसा नहीं है तथापि हमें कई बार इस बात का अनुभव हो चुका है कि चतुर स्वार्थी दूसरों के साथ चाहे जैसा बर्ताव करें पर जिन लोगों की मित्रता के लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं वा जिन लोगों को परीक्षा द्वारा अपना हितैषी समझ लेते हैं उनके साथ बुराई नहीं करते ! इसी विचार से हमने उनका अविश्वास करना उचित न समझा क्योंकि हमने उनके साथ भलाई ही की थी (जिसका वर्णन व्यर्थ है) और यथासामर्थ्य पूरा हित करने की इच्छा रखते थे (यह बात उनसे भी छिपी न थी) तथा यह भी विचार था कि स्वास्थ्य लाभ के उपरांत ऐसी युक्तियां बतलाते रहेंगे कि नगरवासी इन्हें महात्मा समझ के श्रद्धा करें और परस्पर दोनों का उपकार होता रहे। यह विचार हमारा नया न था, कई बार कई लोगों की महिमा इसीके द्वारा बढ़ाने में कृतकार्य हो चुके हैं, पर इस अवसर पर 'मन के मन ही माहिं मनोरथ वृद्ध भए सब'।

आपने हमारी चिकित्सा आरम्भ की और पहिले पांच सात दिन उसके द्वारा हमें लाभ भी उचित रूप से जान पड़ा। यथाशक्ति इसके पूर्व भी धन के द्वारा सुश्रूषा कर चुके थे और अब भी उनसे कहा कि—संकोच न कीजिएगा, औषधादि के लिए आवश्यकता हो सो बतलाते जाइएगा। मित्रता का अर्थ यह नहीं है कि बड़ी भारी आवश्यकता के बिना परस्पर की तनिक भी हानि की जाय—इस पर आपने ईश्वर और धर्म सबको साक्षी

बना डाला कि मेरा तुम्हारा व्यवहार स्वच्छ ही रहेगा। इस पर हमने भी समझ लिया कि फिर समझेंगे इसमें बात क्या है। अस्तु औषधि बदली गई और तीन ही चार दिन के उपरांत कष्ट की वृद्धि आरम्भ हो गई। इसकी चर्चा की तो उत्तर मिला—चार ही छः दिन में कष्ट जाता रहेगा, घबराओ नहीं। पर चार छः दिन मे कष्ट तो क्या जाता रहा सामर्थ्य इतनी भी जाती रही कि जहां चिकित्सा के पूर्व घूमा करते थे वहां तक सवारी पर जाने योग्य भी न रहे! एक दयालु सज्जन के द्वारा समाचार भेजा तो उत्तर पाया कि कुछ चिंता नहीं है, औषधि वही सेवन किए जायं। ऊपरी कष्ट अमुक यत्न से आज ही निवृत्त हो जायगा, पर वह यत्न और भी दाद में खाज हुवा! यह दुःख भी दो चार दिन जी कड़ा करके भुगता और बीच २ में चाहा कि एक बार स्वामी जी के दर्शन हो जाते तो अपना रोना ही सुना देते पर हम गुनाहगारों का ऐसा भाग्य कहां? अब वह दिन कहां कि बिना बुलाए आ आ के आप बैठके ही में पड़े रहें! इधर रुपए की भी चर्चा आई जो खास विलायती डाक्टर भी सप्ताह दो सप्ताह में न व्यय करा सकें। कहां तक कहिए कि 'दुश्मनी ने सुना न होगा जो हमें दोस्ती ने दिखलाया।' दश ही पद्रह दिन में 'मरज बढ़ता गया ज्यों २ दवा की' का पूरा उदाहरण देख लिया। खाट से उठ के आंगन तक आना दुष्कर और पड़े रहना भी कठिन हो गया! नींद और भूख के साथ नए विदेशियों की इतनी जान पहिचान रह गई पर बल से राम रमौवल भी मानो कभी न थी!

इस प्रकार जब देखा कि अब अन्य चिकित्सा का अवलंबन किए बिना प्राण का भय है तो श्री पं० कालिकाप्रसाद त्रिपाठी की शरण ली। यह इस जिले के बिधनू नामक ग्राम के बासी कान्यकुब्ज हैं और बंगाल में कई वर्ष रह के वैद्यविद्या भली भांति सीखे हैं। महाराज बेतिया के यहां परीक्षा में उत्तीर्ण हो के वहां से तथा और कई प्रतिष्ठित राजपुरुषों से प्रशंसापत्र भी प्राप्त कर चुके हैं। यों मरना जीना ईश्वर के हाथ है पर दवा यह बहुत ध्यान दे के सच्चाई के साथ करते हैं। कानपुर में एक आयुर्वेदीय औषधालय भी खोल रक्खा है जिसकी प्रशंसा करके हम कागज रंगना नहीं चाहते, लोग परीक्षा करके स्वयं जान सकते हैं। हमारा उपर्युक्त दुःसह कष्ट इन्हीं तिवारी जी के यत्न से दूर हुआ है और रोग भी यदि निःशेष नहीं हुआ तो दब बहुत ही गया है! इधर हमारे मान्यवर डाक्टर भोलानाथ मिश्र जी ने भी थोड़ा अनुग्रह नहीं किया। कहना अत्युक्त नहीं है कि इस बार इन्हीं दो

सज्जनों ने मृत्यु के मुख से तो छुड़ा लिया है आगे हरि इच्छा ! उक्त संन्यासी जी के हाथ से सुनते हैं और भी कई लोग कृतार्थ हो चुके हैं पर हम पूरा पता लगा के अपने पाठकों को स्वामी जी का पूरा परिचय देंगे । अभी तो हमें अपना ही रोना पड़ा है । शारीरिक और मानसिक शक्ति आज भी हम में न होने के बराबर है इससे लिखने पढ़ने का उत्साह ही नहीं रहा फिर हमारे लेख में सरसता कहां से आवै ? यह सहयोगी 'भारतमित्र' की केवल कृपा है कि हम उनकी कलेवरवृद्धि पर आनन्द भी नहीं प्रकाश कर सके पर उन्होंने 'नमंति सफला वृक्षा नमंति विदुषा जनाः' का जीवित उदाहरण दिखा के १३ जुलाई के पत्र में हिन्दी भाषा विषयक लेख के मध्य हमें भी सुलेखकों की श्रेणी में गिन के हमको प्रोत्साहित करने का यत्न किया है। पर हम वास्तव में जो कुछ हैं सो हमी जानते हैं, विशेषतः जिस नगर में रहते हैं वहां दिन २ बरंच छिन २ हमारा उत्साह ऐसा बढ़ाया जाता है कि हमारा ही काम है जो इतने पर भी अपने चरखे को घिन्न २ चलाए जाते हैं। यदि श्री मन्महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय की रक्षा न होती तो यह पत्र ही न बन्द हो जाता बरंच सभी बातों में हमारा हौसिला ऐसे बढ जाता जैसे दुकान, जनेऊ और दीपक बढ़ जाता है ! पर उक्त क्षत्रियाभ ने इस हतोत्साह दशा में हमें सगर्व यह कहने का हियाव दे रक्खा है कि 'क्या शिकायत है न जाने कद्रगर अहले वतन। मेरी शुहरत ने किया है अब इरादा दूर का ।' प्रिय सहयोगी को कदाचित विदित नहीं है कि हमें भी बाबू साहब आर्थिक सहायता थोड़ी नहीं देते, पर यह उनका स्वाभाविक गुण है इससे हमें धन्यवाद प्रदान की चिन्ता नहीं रहती। केवल सर्वसाधारण को इतना ही कई बार सूचित कर चुके हैं और अब भी विदित किए देते हैं कि :—

हमारी अनुवादित वा लिखित किसी पुस्तक के छापने आदि का अधिकार श्री बाबू रामदीन सिंह साहब के सिवा और किसी को नहीं हैं।

हमारे पास कृतज्ञता प्रकाश करने की और क्या सामग्री है ? और होती भी तो ऐसे निश्छल देशभक्त की कृपा की बराबरी कैसे कर सकती ? सच तो यह है कि ऐसे मित्र साधारण भाग्यशालियों को नहीं मिलते। यदि देशवासी सहृदयताभिमानीगण ऐसों का भी उचित सन्मान न करें तो देश का दुर्भाग्य है ! यह दुख रोना बहुत बढ़ गया है इससे इस निवेदन के

साथ यहीं पर इतिश्री करते है कि हमने रोग और निर्बलता के कारण अब की बार का सा क्लेश कभी नहीं उठाया और अब भी चार महीने हो गए पूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण नहीं देख पड़ते। जी किसी बात के लिए हुलसता ही नहीं है। इससे जो मित्रवर्ग हमारे लेखों से कुछ स्वादु पाते हैं और हमारे द्वारा कुछ देश की सेवा लिया चाहते हैं उन्हें अपने इष्टदेव से प्रार्थना करना चाहिए जिसमें हम नए वर्ष से उनकी प्रसन्नता संपादन के योग्य हो जायं। इधर हम दवा और परहेज तो कर ही रहे हैं, यदि कोई सज्जन पत्र द्वारा बीमारी का हाल पूछ के कोई शीघ्र गुणकारिणी परीक्षित औषधि बतलावैंगे तो भी हम उनका बड़ा गुण मानेंगे, किमधिकं।

खं० ६, सं० १२ (जुलाई ह० सं० ६)

नवपंथी और सनातनाचारी

नवपंथी—नमस्ते साहब !

सनातनाचारी—नमस्ते और साहब तुम होगे जी ! बीस बार समझा दिया कि हम साहब नहीं हैं, हम ब्राह्मण हैं, मानते ही नहीं !

नवपंथी—अच्छा बाबा, भूल गए माफ करो। नमस्ते महाशय कहा करें ?

सनातनाचारी—यद्यपि हम महाशय भी नहीं हैं, न ऋषि हैं, न राजा हैं फिर इतना बड़ा प्रतिष्ठित शब्द भी हमारे पक्ष में उपहासबोधक है क्योंकि वास्तवतः हम साधारणाशय भी नहीं हैं। इस से यदि हम अपने मन से अपने को महाशय समझें तो झूठा गर्व करके महा पापी बनते हैं और दूसरे लोग यदि हमें जी से ऐसा मानें तो धोखा खाते हैं वा केवल मुख से इस शब्द का प्रयोग करें तो हमें झूठमूठ झंडे पर चढ़ाते हैं। पर यतः साधारण समुदाय के अधिकांश ने इस शब्द को साधारण बोलचाल में साधारण ही अर्थ का द्योतक मान लिया है और शब्द भी अपने देश का है इस से आप चाहे जिस के लिए प्रयोग कर लें, पर नमस्ते क्या बला है ? बाबा ! नमस्ते तुम होगे हम नहीं हैं।

नव०—वाह साहब ! नमस्ते भी कोई गाली है ?

सन०—गाली उन्हीं शब्दों को कहते हैं जिन्हें सुन के श्रोता का चित्त बिगड़ जाय। और यह लक्षण इस शब्द में भी विद्यमान है। थोड़े से आप के समाजियों को छोड़ के देश का तृतीयांश से अधिक समुदाय इसे सुनते ही कहने वाले को अपने आचार विचार का विद्रूपकारक समझ के चौंक उठता है। फिर ऐसे शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता है जिस के द्वारा हमारे अधिकांश भ्रातृगण के शांतिप्रवाह में विक्षेप हो ?

नव०—अजी वाह ! यह भी कोई बात है कि जिस अच्छी बात को मूर्खलोग नापसन्द करें तो उसे समझदार भी छोड़ बैठें ? भला बतलाइए तो इस में क्या बुराई है ? संस्कृत का शब्द है नमः, और ते मिल के बना है

जिस का अर्थ है कि मैं तुम्हारा मान्य करता हूं। यदि हम ने ऐसा कहा तो क्या अपराध हुवा ?

सना०—किसी की रुचि के बिरुद्ध कोई काम करना ही अपराध कहलाता है, विशेषतः जब आप शिष्टाचारसूचक कई एक सर्वप्रिय शब्दों के होते हुए केवल अपनी बिलक्षणता दिखलाने और अपने तई बृहत समुदाय से पृथक बतलाने की मनसा से उक्त शब्द को काम में लाते हैं तो क्योंकर अपराध से अलग रह सकेंगे ? अपराध ही नहीं बरंच यह पाप भी है कि मुख से कहते हो—मैं तुम्हारा मान्य करता हूं—पर मन से उन्हें मूर्ख समझते हो। क्या दूसरों को मूर्ख समझना कोई बुद्धिमानी है ? नमस्कार का अर्थ भी तो यह नहीं है कि मै तुम्हें गाली देता हूं, पालागन का अर्थ भी तो यह नहीं है कि मैं तुम्हे लातें मारता हूं, राम राम का अर्थ भी यह नहीं है कि मैं तुम्हारा शत्रु हू, फिर इन सब को छोड़ कर एक बात ही को हारिल की लकड़ी बनाना कहां की भलमन्सी है ?

नव—यह तो आप जबरदस्ती करते हैं। भला व्याकरण की रीति से नमस्कारमात्र कहने में यह अर्थ कहां से निकालिएगा कि—मैं तुम्हें नमस्कार करता हू।

सना०—यदि सामाजिक व्यवहार में आप व्याकरण छांटैंगे तो बात २ में दांताकिलकिल उठ सकती है। व्यवहारशास्त्र के अनुसार तो एक शब्द बोलने से तत्सम्बन्धी अन्य शब्द भी समझ लिए जाते हैं। यह सब देश की भाषाओं का नियम है। पर व्याकरण की रीति से आप की नमस्ते का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जिस के मस्तक पर न हो, अर्थात् मस्तक में होने वाले अवयव नेत्र, बुद्धि वा शृङ्ग जिस के न हों।

नव०—हहहः शायद यही अर्थ समझ के आप नमस्ते कहने से जलते हैं।

सना०—मैं जलता तो किसी बात में नहीं हूं पर जो बातें पंच को अप्रिय हैं उन्हें परमेश्वर की अप्रिय अवश्य समझता हूं। और आप को व्यसन है कि उन्हीं बातों को अपने धर्म का झंडा समझते हो जिनके द्वारा दूसरों का जी अपने वर्तमान भाव से बिचल जाय। नहीं तो शब्दों के पीछे झगड़ा उठा के किसी को कुंठित करना धर्म, सभ्यता, बुद्धिमत्ता सभी के

बिरुद्ध है। अतः बुद्धिमान को चाहिए कि जिस समूह से बातचीत करे उस से उसी के अनुकूल शिष्टाचार का बर्ताव करे।

नव०—इस रीति से तो सलाम, बंदगी, गुडमार्निङ्ग आदि का प्रयोग भी आप के कथनानुसार उचित ही ठहरेगा।

सना०—हई है! मुसलमानों और क्रिस्तानों मे कौन हिन्दू पालागन आशिर्बाद करने जाता है।

नव०—वह लोग अन्यधर्मी और अन्यजातीय हैं। उन के साथ उन्हीं का सा शिष्टाचार न करें तो काम न चले। यदि वे रूठ जायं तो बहुत से कामों में विघ्न पड़ने का भय है।

सना०—धन्य है इस समझ को कि जो सब बातों में पार्थक्य रखते हों उनके साथ तो आप अनुकूल आचरण रक्खें और भय करें पर अपनों को चिढ़ाने में तत्पर रहें। इस से तो जान पड़ता है कि आप के से चित्त वाले डर के कारण बिना सब के प्रतिकूल हो बर्ताव रखने की प्रकृति रखते हैं। पर स्मरण रखिए ऐसा आचार शिष्ट पुरुषों का नहीं होता, अस्मात् शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता।

नव०—अच्छा दीनबन्धु दयासिंधु, फिर हम आप से क्या कहा करें जिसमें आप हमें शिष्ट समझें?

सना०—आज आपको क्या हो गया है कि जो बात कहते हैं निन्दा-व्यंजक ही कहते हैं। भला बिचारिए तो दीन का बन्धु भी दीन के अतिरिक्त कौन हो सकता है? जब तक परमेश्वर चलने फिरने की शक्ति और खाने पहिनने की सामर्थ्य तथा बन्धुवर्ग में सुख प्यार बनाए है तब हमें दीनों का बन्धु अथवा हमारे बन्धुगण को दीन कहना अशुभ चिन्तन है! योंही हम हिन्दुओं में "दया धर्म को मूल है नर्कमूल अभिमान' की कहावत सब छोटे बड़ों के मन और बचन में बिराजती रहती है। फिर हम दया के डुबो देने वा बहा देने वाले अथवा समुद्र के जल की भांति दूसरों की तृषा शात करने में अयोग्य दया रखने वाले क्योंकर कहे जा सकते हैं।

नव०—भला इन सब शब्दों का अर्थ जैसा आप व्याकरण की रीति से कर गए वैसा ही सच्चे अंतःकरण से मानते है?

सना०—आप हमारे पास यदि कभी सच्चे अन्तःकरण से मित्रतापूर्वक

कथोपकथन करके किसी विषय का निर्णय करने आए होते तो हम भी तदनुकूल व्यवहार करते ।

नव०—यह आप ने कैसे जाना कि हम शुद्ध मानस से मिलने नहीं आते ?

सना०—भैया रे ! 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुस तन गुन ज्ञान निधाना ॥' विशेषतः दो चार बार के बार्तालाप से कभी आंतरिक भाव खुले बिना नहीं रहता ! ऊपरवाला प्रश्न आप ही अपने जी से क्यों न कर देखिए । यदि अन्तःकरण होगा तो आप उत्तर देगा कि सच्ची हितैषिता और मौखिकवाद के द्वारा परास्त करने की चेष्टा में इतना अन्तर होता है । आज तक आप के यहां के जितने शास्त्रार्थ देखने सुनने में आए हैं उनमें आप ही धर्म को साक्षी दे के कहिए कि सत्य का उचित सन्मान किया गया है कि पालिसीबाजी से काम ? फिर क्या आप जानते हैं कि दूसरों को 'शाठ्यं कुर्यात शठं प्रति' की चाल आती ही नहीं है ?

नव०—(मुसकिरा कर) अच्छा भाई अब आगे से हमारी बातों को सचमुच सत्य ही के निर्णयार्थ समझिएगा ।

सना०—यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है—'करतूतिहि कहि देत आप नहि कहिए साई'' । यदि इस प्रतिज्ञा पर भी उचित बर्ताव न हुवा तो यहां भी 'ईंट के जबाब पत्थर' की कमी नहीं है ।

नव०—सो तो आप ही खुल जायगा । अच्छा अब मतलब की बातें हों ।

सना०—जय गणेश ।

खं० ८, सं० १२ (जुलाई ह० सं ८)

गोरक्षा

गौ माता की महिमा इससे अधिक क्या वर्णन की जाय कि देवता पितर, मनुष्य स्त्री, लड़के बूढ़े सभी उनके अमृत समान दूध से तृप्त होते हैं। माननीया ऐसी हैं कि देश भर माता कहता है, जगत् पूज्य ब्राह्मण नाम के भी पहले स्मरण की जाती हैं—'गऊ ब्राह्मण'। भगवान का नाम भी उन्हीं के नाते गोपाल कहाता है। पवित्रता यह है कि उनका मल मूत्र तलक खाया जाता है। उपकार उनके अनन्त हैं, स्वयं तथा संतान द्वारा मरते जीते लोक परलोक सब में हित ही करती हैं। ऐसी २ बातें एक लड़का भी जानता है। फिर हम भी कई बार लिख हा चुके हैं, बार २ पिष्टपेषण मात्र है।

यह बात भी पूर्णतया विदित है कि बीस वर्ष भी नहीं भए, घी दूध कैसा सस्ता था, और उसके खाने से अब भी जो लोग पचास वर्ष के कुछ इधर उधर हैं कैसे बली और रोगरहित हैं। वे अपनो जवानी की कथा कैसे अहंकार से कहते हैं कि आजकल के लड़के एवं नाजुकबदन रोगसदन जवान लोग सपने में भी उस प्रकार के सुख भोग के योग्य नहीं हो सकते! जहां स्वादिष्ट और बलकारक भोजन तक स्वेच्छापूर्वक न मिले वहां और सुखों की क्या कथा है।

यह भी अच्छी तरह सब जानते हैं कि प्रजावत्सल सर्कार इस विषय में अपनी ओर से क्या हमारी विनय सुन के भी सहाय करती नहीं दीखती। बाजे २ हठी मुसलमान कुरान और हदीस के बचन सुने अनसुने करके अपनी जिद का निबाह करेंगे, इस मामले में हमारा साथ न देंगे। फिर यदि हम भी कुछ न करें तो दश ही पांच वर्ष में हमारी क्या दशा होगी? यही विचार कर कई नगरों में चंदा, गोशाला, सभा, लेख, लेकचर इत्यादि हो भी चले। बरंच बाजे २ भाग्यशाली शहरों में धर्मिष्ठ मुसलमान भी शरीक हैं! परमेश्वर उनका सहायक हो। पर बड़े खेद और लज्जा का विषय है कि इस कानपुर में, जहां हिन्दू ही अधिक हैं, विशेषतः ब्राह्मण ही क्षत्री धन, विद्या, प्रतिष्ठा आदि सामर्थ्य विशिष्ट हैं, परन्तु इस बात में यदि दूसरे चौथे वर्ष किसी के हुलियाए २ कुछ मन भी करते हैं तो बस कुछ दिन टांय २ पीछे फिस्स। जहां कोई झूठ मूठ का बे सिर पैर का बहाना

मिल गया वहीं बैठ रहे। यदि किया चाहें तो केवल दो चार लोग मिल के सब कुछ कर सकते हैं, पर हौसिला नहीं है! हजारों रुपया व्यर्थ उठाते हैं, पर इस विषय में मुंह चुराते हैं। इन शहर वालों से तो हम अपने सुहृद अकबरपुरवासियों की धर्मनिष्ठता, ऐक्यता, उद्योग, उत्साह और साहस की सराहना करेंगे जहां श्रीयुत पंडितवर बद्रीदीन जी सुकुल, श्रीयुत बाबू तुलसीराम जी अग्रवाल और श्रीयुत लाला टेकचंद्र महोदयादिक थोड़े से सज्जनों के आन्दोलन से दो ही महीना के भीतर अनुमान छः सौ के रुपया भी एकत्र हो गया, सभा भी चिरस्थायिनी स्थापित हुई है, व्याख्यान भी प्रति सप्ताह मनोहर होते हैं और सबने कमर भी मजबूती से बांध रक्खी है।

क्यों भाई नगरनिवासियो! अधिक न करो तो अपने जिले के लोगों को कुछ तो सहाय दोगे? जहां सैकड़ों की आतशबाजी फूंक देते हो, हजारों दिवालियों को दे बैठते हो, अदालत में उड़ाते हो, वहां गऊमाता के नाम पर कुछ भी न निकलेगा? धर्म, नामवरी, लोक, परलोक का सुख सब है, पर हौसिला चाहिए!*

खं० ? सं० ?

---

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

वाजिदअलीशाह

हाय ! आज हमीं नहीं रो रहे हैं, हमारी लेखनी का भी हृदय विदीर्ण हो रहा है ! हंसी मत समझो, मारे दुःख के उन्माद हो रहा है, इससे रक्त काला पड़ गया है और आंसुओं के साथ नेत्र द्वारा बहा जाता है। हमारा कानपुर यवनों का नगर नहीं सही, पर लखनऊ यहां से दूर नहीं है, बरंच यहां से सहस्रों संबन्ध रखता है। फिर क्यों न लखनऊ के साथ इसे भी शोक हो। संपादक और उसके मित्र श्री बाबू राधेलाल आदिक कई लोग प्रत्यक्ष अश्रुवर्षा कर चुके हैं। यह बात किसी के देखाने को नहीं, बरंच हृदय के सच्चे संताप से थी। हाय शाह वाजिद अली ! हा सुलताने आलम ! हा अखतर ! हाय सूबे अवध के कन्हैया ! तुम हमारा शासन न करते थे, तुम हमारी जाति के न थे तो भी, हमारा बादशाह कलकत्ते में बैठा है, यह स्मरण हमारे लिए संतोषजनक था। तुम्हारा अंतःकरण हमसे ममता रखता था, इसमें कोई संदेह नहीं।

पर हाय ! दुष्ट दैव से इतना भी न देखा गया, मूर्ख, खुशामदी और अपने दुर्गुणों से भी पराये सद्गुण तक को तुच्छ समझने वाले चाहे जो कुछ झख मारें, पर हम भली भांति जानते हैं कि तुम्हारे दोष भी मनुष्य जाति की अपूर्ण शक्ति से अधिक कुछ न थे। तुमने अपनी प्रभुता के समय हिन्दू-मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। यह तुम्हारा एक गुण ऐसा है कि यदि तुममें सचमुच के सहस्र दोष भी होते तो भस्म कर देता ! जो मूर्ख और दुष्ट लोग अपने मतवालेपन से दूसरों के पूज्य पुरुषों की निंदा और उनसे घृणा किया करते हैं उनसे तुम लाखों कोस दूर थे। सहस्रों लोगों का रक्त बहेगा, सहस्रों ललनाओं का अहिवात जाता रहेगा, इस भय से अपने तईं प्रसन्नतापूर्वक दूसरों के हाथ में सौंप दिया। यह गुण तुम्हारा हमारे हृदय को प्रफुल्लित करता है। गुणग्राहकता, आश्रितपोषकता और दुखसुख दोनों में एकरसता आदि के कारण तुम प्रेम समाज के प्रातः-स्मरणीय हो। सितम्बर की २१ तारीख तुम्हारे वियोग का दिन है, अतः सहृदयों को दुखदाई होगी। कहां तक लिखें, शोक के मारे तो अधिक विषय सूझते ही नहीं। इस दशा में भी सहस्रों के पेट तुम्हारे अनुग्रह से पलते थे, हाय ! आज उनके चित्त की क्या दशा होगी !!*

खं० ? सं० ?

---

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

स्वतंत्र

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की खाक छानी है, बीसियों मास्टरों का दिमाग चाट डाला है, विलायत भर के ग्रंथ चरे बैठे हैं, पर आज तक हिस्ट्री जियोग्रफी आदि रटाने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं उसका शतांश भी स्वास्थ्यरक्षा और सदाचारशिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए ! यही कारण है कि जितने बी० ए०, एम० ए० देखने में आते हैं, उनका शरीर प्रायः ऐसा ही होता है कि आंधी आवे तो उड़ जाय। इसी कारण उनके बड़े २ खयालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते वा उलटा असर दिखाते हैं। क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ संबंध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता, और यहां देह के निरोग रखने वाले नियमों पर आरंभ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुंचा। फिर काया के निकम्मेपन में क्या संदेह है, और ऐसी दशा में दिल और दिमाग निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है ! ऊपर से आपको अपने देश के जलवायु के अनुकूल आहारबिहार आदि नापसंद ठहरे। इससे और भी तन्दुरुस्ती में नेचर का शाप लगा रहता है। इस पर भी जो कोई रोग उभड़ आया तो चौगुने दाम लगा के, अठगुना समय गवां के विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से चाहे अच्छा भी दिखाई दे पर वास्तव में धन और धर्म ही नहीं वरंच देशीय रहनसहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म-रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है।

यदि सौ जेंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित ऐसे दस भी न निकलेंगे जो सचमुच किसी ऐसे राजरोग की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों। इस दशा में हम कह सकते हैं कि आपरूप का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है। यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा लें या ब्रांडी देवी का चरणोदक आधा आउंस भी पी लें तो मरना जीना ईश्वर के आधीन है, पर कुछ दिन वा घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य हो आवेंगे, और वहां कुछ भेंट चढ़ाए और 'हा हा हू हू' का गीत गाए बिना न लौटेंगे। फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेश दास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं ?

और सुनिए, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चय हो कि जिस वर्ष धंधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन सब दुःख दरिद्र टल जायंगे। अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है। रोजगार व्यवहार के द्वारा साधारण रीति से निर्वाह होता रहे यही बहुत है। विशेष कार्यों में व्यय करने के अवसर पर आजकल सैकड़ा पीछे दश जने भी ऐसे नहीं देख पड़ते जो चिंता से व्यस्त न हो जाते हों। इस पर भी हमारे हिन्दुस्तानी साहब के पिता ने सपूत जी के पढ़ाने में भली चंगी रोकड़ उठा दी है।

इधर आपने जब से स्कूल में पांव रक्खा है तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डाल के खर्च बढ़ा रक्खा है। यों लेक्चर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा। इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है जो धाए धूपे बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन पोषण कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं न करने में अपनी इज्जत समझते हैं। अतः हेर फेर कर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहां भी काले रंग के कारण इनकी विद्या बुद्धि का उचित आदर नहीं। ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति होती हो तो हो, पर डिउटी पर ठीक समय में न पहुचें तो रहें कहां?

बाजे २ महकमों में अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी ही से छुट्टी हो जाने का डर है। इस पर भी जो कहीं मालिक कड़े मिजाज़ का हुवा तो और भी कोढ़ में खाज है, पर उसकी झिड़की आदि न खाएं तो रोटी ही कहां से खाएं? यह छूतें न भी हों तो भी नौकरी की जड़ कितनी? ऐसी २ बातें बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिजाज़ वाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोऊ और बड़ा बूढ़ा हुवा और उनका दबैल न हुवा तौ तो जीभ से चिट्ठी का लिफ़ाफ़ा चाटने तक की स्वतंत्रता नहीं। बाहर भले ही जाति कुजाति अजाति के साथ भच्छ कुभच्छ अभच्छ भच्छन कर आवैं, पर देहली पर पांव धरते ही हिन्दू आचार का

नात्थ न करें तो किसी काम के न रक्खे जाएं। बहुत नहीं तो वाक्य-बाणों ही से छेद के छलनी कर दिए जायं। हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है। हां यदि 'एक लज्जाम्परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धांत रखते हों, और खाने भर को कमा भी लेते हों, वा घर के करता धरता आप ही हों तो इतना कर सकते हैं कि बबुआइन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डांट लें, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलियुग का पूरा प्रभाव नहीं हुवा। इससे उनमें सनातन धर्म, सत्कर्म, कुलाचार, सुव्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है।

आपरूप भले ही तीर्थ व्रत, देव पितर आदि को कुछ न समझिए पर वे नंगे पांव माघ मास में कासों की थकाहट उठा कर गंगा यमुनादि का स्नान अवश्य करेंगी, हरतालिका के दिन चाहे बरसों की रोगिणी क्यों न हों, पर अन्न की कणिका वा जल की बूंद कभी मुंह में न धरेंगी, रामनौमी, जन्माष्टमी, पितृविसर्जनी आदि आने पर, चाहे जैसे हो, थोड़ा बहुत धर्मोत्सव अवश्य करेंगी। सच पूछो तो आर्यत्व की स्थिरता में वही अनेकांश श्रद्धा दिखाती हैं, नहीं आपने तो छब्बीसाक्षरी मंत्र पढ़ कर चुरुटाग्नि में सभी कुछ स्वाहा कर रक्खा है।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन भजन का उद्देश्य प्रायः आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और वचन से इस देश ही के न ठहरे। फिर यहां वालों के आन्तरिक भाव कैसे समझें? बन्दर की ओर बरफी लेकर हाथ उठाओ तौ भी वह ढेला ही समझ कर खी खी करता हुवा भागेगा! बिचारी सीधी सादी अबला बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुंह खोल के कभी मरते मरते भी अपने पराए लोगों में नाना भांति की जटल्लें कहने सुनने का साहस रखती हैं। फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चर-बाज़ी करके समझा दें कि तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीख के मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आप ही राजभाषा सीख कर कैसे राज-जातीय हो जायंगे? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्योंकर बदल लीजिएगा? हां दूसरे की चाल चल कर कृतकार्य तो कोई हुवा नहीं, अपनी हंसी कराना होता है, वही करा लीजिए।

अब यहां पर बिचारने का स्थल है कि जहां दो मनुष्य न्यारे २ स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित जान पड़ती हों वहां चित्त की प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है। स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी

कुचाल को सहन भी कर ले, पर लोकलज्जा के भय से गले में हाथ डाल के सैर तो कभी न करैगी, और ऐसा न हुवा तो इनका जन्म सफल होना असंभव है। इससे मन ही मन कुढ़ने वा बात बात पर खौखियाने के सिवा कुछ बन नहीं पड़ता, फिर कैसे कहिए कि आप अपने घर में स्वतंत्र हैं।

रही घर के बाहर की बात, वहां अपने ही टाइप वालों में चाहे जैसे गिने जाते हो, पर देश का अधिकांश न इनकी प्यारी•भाषा को समझता है, न भेष पसंद करता है, न इनके से आंतरिक और बाह्यिक भावों से रुचि रखता है! इससे बहुत लोग तो इनकी सूरत ही से क्रिष्टान जान कर मुंह बिचकाते है। इससे इनका बक २ झक २ करना देशवासियों पर यदि प्रभाव करे भी तो कितना कर सकता है। हां जो लोग इनके सम्बन्धी हैं, और भला भांति ऊपरी व्यवहारों से परिचय रखते हैं वे कोट पतलून आदि देख के न चौंकेंगे, किन्तु यदि इनके भोजन की खबर पा जायं तो क्षण भर में दूध की मक्खी सी निकाल बाहर करें। छुवा पानी पीना तो दूर रहा, इन्हें देख के मत्था पटकौवल (दुवा सलाम) तक के रवादार न हो। एक बार हमने एक मित्र से पूछा कि बहुत से अन्यधर्मी और अन्यजाती हमारे आपके ऐसे मित्र भी हैं, जिनके समागम से जी हुलस उठता है, पर यदि कोई हमारा आपका भैयाचार, नातेदार वा परिचयी विधर्म्मी हो जाता है—विधर्म्मी कैसा, किसी नई समाज में नाम तक लिखा लेता है–तो उसे देख के घिन आती है। बोलने को जी नहीं चाहता। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि—वेश्याओं के यहां हम तुम जाते हैं कि कुछ काल जी बहलावेंगे, किन्तु यदि कोई अपनी सम्बन्धिनी स्त्री का, बाज़ार में जा बैठना कैसा, गुप्त रीति से भी वारविलासिनियों का सा तनिक भी आचरण रखती हुई सुन पड़े तो उसके पास बैठने वा बातें करने से जी कभी न बहलेगा, बरंच उसका मुंह देख के वा नाम सुन के लज्जा, क्रोध, घृणा आदि के मारे मन में आवैगा कि अपना और उसका जी एक कर डालें।

यों ही परपथावलम्बियों का भी हाल समझ लो। यह जीवधारियों का जाति स्वभाव है कि इतरों में अपनायत का लेश पाकर जैसे अधिक आदर करते हैं वैसे ही अपनों में इतरता की गंध भी आती है तो जी बिगाड़ लेते हैं और जहां •एक मनुष्य को बहुत लोगों के रुष्ट हो जाने का भय लगा हो वहां स्वतंत्रता कहां? अतः हमारे लेख के लक्ष्य महाशय कुटुम्ब की अपेक्षा देश जाति वालों के मध्य और भी परतंत्र हैं।

यदि यह समझा जाय कि घरदुवार, देशजाति को तिलांजलि देकर जिनके साथ तन्मय होने के अभिलाषी हैं, उनमें जा मिलें तो स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। यह आशा निरी दुराशा है। उच्च प्रकृति के अंगरेज़ ऐसों को इस विचार से तुच्छ समझते हैं कि जो अपनों ही का नहीं हुवा वह हमारा क्या होगा? बुद्धिमानों की आज्ञा है कि जिसके साथ मित्रता करनी हो उसका पहिले यह पता लगा लो कि वह अपने पहिले मित्रों के साथ कैसा बर्ताव रखता था। रहे अनुदार स्वभाव वाले गौरांग, वह विद्या, बुद्धि, सौजन्य आदि पर पीछे दृष्टि करते होंगे, पहिले काला रंग देख कर और नेटिव नाम ही सुन कर घृणापात्र समझ लेते हैं। हां अपना रुपया और समय नष्ट करके, मानापमान का विचार छोड़ के, साधारणों की स्तुति-प्रार्थनादि करते रहैं तो ज़बानी खातिर वा मन के धन की कमी नहीं है,.................. फिर उसे पा के कोई सच्चा स्वतंत्र क्या होगा?

इसके सिवा किसी से ऋण लें तो चुकाने में स्वतंत्रता नहीं, कोई राज-नियम के विरुद्ध काम कर बैठे तो दंड प्राप्ति में स्वतंत्र नहीं, नेचर का विरोध करें तो दुख सहने में स्वतंत्र नहीं, सामर्थ्य का तनिक भी उल्लंघन करने पर किसी काम में स्वतंत्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य पशु वा रोग आ घेरे तो जान बचाने में स्वतंत्र नहीं, मरने जीने में स्वतंत्र नहीं, कहां तक कहिए, अपने सिर के एक बाल को इच्छानुसार उजला काला करने में स्वतंत्र नहीं, जिधर देखो परतंत्रता ही दृष्टि पड़ती है। पर आप अपने को स्वतंत्र ही नहीं, बरंच स्वतंत्रता का तत्त्वज्ञ और प्रचारकर्ता माने बैठे हैं! क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतंत्र हैं?

हां हमसे सुनो, आप वेदशास्त्र पुराणादि पर राय देने में स्वतंत्र हैं। संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिंदी के भी साहित्य को खाक धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ज्ञान रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं, वा पुराण स्वार्थियों की गढ़ी हुई झूठी कहानियां है, धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का पक्षपात भरा हुआ है, ज्योतिष तथा मंत्र शास्त्रादि ठगविद्या हैं। ऐसी २ बे सिर पैर की सत्यानाशी रागिनी अलापने में स्वतंत्र हैं। यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें तो भी अधिक भय नहीं है। समझने वाले समझ लें कि थोड़े से आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही "खसकम जहानपाक" हो जायगा पर यह स्वतंत्रता के भुक्खड़ व्याख्यानों और लेखों के द्वारा भारत-संतान मात्र को अपना पिछलगा बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी खाध है।

यद्यपि इनके मनोरथों की सफलता पूरी क्या अधूरी भी नहीं हो सकती, पर जो इन्हीं के से कच्ची खोपड़ी और विलायती दिमाग़ वाले हैं वह बकवास सुनते ही अपनी बनगैली चाल में दृढ़ हो जाते हैं और 'योंही रुलासी बैठी थी ऊपर से भैया आ गया' का उदाहरण बन बैठते हैं। तथा इस रीति से ऐसों की संख्या कुछ न कुछ बढ़ रहती है, और संभव है कि यों ही ढचरा चला जाय तो और भी बढ़ कर भारतीयत्व के पक्ष में बुरा फल दिखावै।

वहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्विद्या भंडार से परिचित होते हैं तो प्राचीन काल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि २ जाते हैं, बरंच बहुतेरे उनकी आज्ञा पर भी चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परोक्ष के लिए अनंत मंगल का निश्चय उनकी आत्मा को प्राप हो जाता है। यह देख कर भी जिस हिंदू की आंखें न खुलें, और इतना न सूझे कि जिन दिव्य रत्नों को दूर २ के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं उन्हें कांच बतलाना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना वा अपने अग्रगन्ता की अतिमानुषी बुद्धि का वैभव जतलाना है, और जो ऐसा साहस करने में स्वतंत्र बनता है, उसके लिए विचारशील मात्र कह सकते हैं कि यह स्वतंत्रता एक प्रकार का मालीखूलिया (उन्माद) है, जिसका लक्षण है—किसी बात वा वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना, वा बिन जानी बात में अपने को ज्ञाता एवं शक्ति से बाहर काम करने में समर्थ मान बैठना।

यह रोग बहुधा मस्तिष्क शक्ति की हीनता से उत्पन्न होता है और बहुत काल तक एक ही प्रकार के विचार में मग्न रहने से बद्धमूल हो जाता है। आश्चर्य नहीं कि स्वतंत्र देश के स्वतंत्राचारियों ही की बातें लड़कपन से सुनते २ और अपनी रीतिनीति का कुछ ज्ञानगौरव न होने पर दूसरों के मुख से उसकी निंदा सहते २ ऐसा भ्रम हो जाता हो कि हम स्वतंत्र हैं, तथा इस स्वतंत्रता का परिचय देने में और ठौर सुभीता न देख कर अनबोल पुस्तकों ही के सिद्धांतों पर मुंह मारना सहज समझ कर ऐसा कर उठाते हों। इससे हमारी समझ में तो और कोई स्वतंत्रता न होने पर केवल इसी रीति की स्वतंत्रता को दिमाग का खलल समझना चाहिए। फिर भला जिनके विषय में हम इतना बक गए वह बुद्धिविभ्रम के रोगी हैं वा स्वतंत्र हैं?

परतंत्रता के जो २ स्थान ऊपर गिना आए हैं उस ढंग के स्थलों पर स्वतंत्रता दिखावैं तौ शीघ्र ही धृष्टता का फल मिल जाता है। इससे स्वतंत्र नहीं बनते। यदि परमेश्वर हमारा कहा माने तो हम अनुरोध करें कि देव, पितृ, धर्म-ग्रंथादि की निंदा जिस समय कोई करे उसी समय उसके मुंह में, और नहीं तो एक ऐसी फुड़िया ही उपजा दिया कीजिए जिसकी पीड़ा से दो चार दिन नींद भूख के लाले पड़े रहें, अथवा पंचों में हमारा चलता हो तो उन्हीं से निवेदन करें कि निंदक मात्र के लिए जातीय कठिन दंड ठहरा दीजिए, फिर देखें बाबू साहब कैसे स्वतंत्र हैं !*

खं० ? सं० ?

---

*'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

'इस सादगी (मूर्खता) पै कौन न मर जाय ऐ खुदा
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं'

हमारे उर्दू सहयोगी 'फतेहगढ़ पंच' साहब बहादुर ने १५ सितम्बर के 'उर्दू नागरी' नामक लेख द्वारा उपर्युक्त शैर का ठीक २ अनुभव कराया। धन्य है! वाह री बुद्धि! हमें उनके मुंह की दुर्गन्धि का यथावत् वर्णन करते घिन आती है, पर क्या करें, इतना उपदेश किए बिना नहीं रहा जाता कि 'पंच' की एडिटरी चिरकीन के शागिर्दों का काम नहीं है। वीभत्स और हास्य रस में बड़ा अन्तर होता है। यह उर्दू बीबी के सफरदाई जब तक किसी नागरी देवी के भक्त से न सीख लेंगे तब तक लेख प्रणाली से सर्वथा अज्ञात रहेंगे। छिः! जिन शब्दों से मनुष्य मात्र यदि बवन नहीं कर देते तो थूक अवश्य मारते हैं उनसे सिवाय सम्पादक साहब तथा थोड़े से औघड़ों के हंसेगा कौन? हां ऐसी बुद्धि पर हंसे तो हंसे जो लिखाती है 'यद्यपि बुद्धिमती पश्चिमोत्तरदेशीय गवर्नमेंट ने उर्दू ही का प्रचार पसन्द किया है और नागरी को त्याग दिया है परन्तु हमारे सहयोगी 'मथुरा अखबार' ने फिर गड़े को उखाड़ कर प्रिय पाठकों के मस्तिष्क को दुर्गन्धित कर दिया, विशेषतः इस समय में जब कि विशूचिका की अधिकता है'। हम अपनी गवर्नमेंट के अनेक बातों में अनुगृहीत हैं पर उर्दू अक्षरों से प्रजा को जो हानि है उसे देख कर बड़े शोक एवं आक्षेप से कहना ही पड़ता है कि इस विषय में निश्चय हमारी गवर्नमेंट, यदि सचमुच हमारी हितैषिणी है तो, चूकती है। हिन्दी अक्षरों के बिना हिन्दुस्तानी प्रजा का दुःख न टला है न टलेगा। जो लोग गवर्नमेंट की उर्दू के विषय में प्रशंसा करते हैं वे प्रजा का गवर्नमेंट से अहित कराया चाहते हैं क्योंकि उसके प्रजा केवल शीन काफ वाले ही नहीं हैं बरंच वे भोले भाले ग्रामवासी भी हैं जो नागरी के सिवाय कुछ नहीं जानते। उन्हीं की संख्या भी अधिक है। और उन्हीं को सर्कार दर्बार से काम भी अधिक रहता है। 'मथुरा अखबार' ने यदि इन दिनों फिर नागरी की उत्तमता का सर्कार को स्मरण दिलाया तो बहुत ही अच्छा किया। 'फतेहगढ़ पंच' व्यर्थ उबलते हैं जो उस पर आक्षेप करके अपनी बुद्धि का परिचय देते हैं। हम जानते हैं उर्दू ऐसे जालमयी विषवृक्ष को जड़ से

उखाड़ के फेंक देने की चेष्टा ही सर्वहितैषिता है। अ० ग० पं० हैजे के दिनों में ऐसे कुत्सित पदार्थों का गाड़ रखते होंगे पर उनको किसी हम ऐसे डाक्टर से बुद्धि के नेत्रों की फुल्ली चिरवा डालनी चाहिए जिससे सूझ पड़े कि पुरानी दुर्गन्धि वस्तु और भी रोग बढ़ाती है। यह दुर्गन्धि ही दिमाग में चढ़ जाने का फल है जो लिख मारा कि 'नागरी में लफ्ज मुर्तज़ा नहीं लिखा जा सकता है'। भला किसी पंडित से, जो उर्दू भी जानता हो, पढ़ाइए तो मुर्तज़ा है कि नहीं ? यह तो उर्दू लिखाई का गुण है जिसमें नुक्ता रहते भी 'प्रीति' और 'प्रेत', 'गोह में' और 'गृह में' इत्यादि में बड़े २ मौलवी फरक नहीं कर सकते। दूसरी भाषा का शब्द दूसरे अक्षरों में न बने तो कोई बड़े आक्षेप का विषय नहीं है पर उर्दू बीबी के चेले किस बिरते पर नखरा करते हैं जिसमें उर्दू ही के शब्द कुछ के कुछ पढ़े जाते हैं। इस विषय में बहुत बार बहुत सहयोगी लिख चुके हैं और अनेक मुकद्दमों में सर्कार ने स्वयं उर्दू का दुरंगापन देख लिया है अतः यह पिष्टपेषण न करके हम 'मुर्तज़ा' के शब्द का समाधान करते हैं। सिवाय नागरी के जितने अक्षर हैं, बनावटी और ऊटपटांग, विशेषतः उर्दू के तो कहना ही क्या है। लिखने के समय तो एक लकीर मात्र (।), काम भी केवल 'अ' के दे, पर बोलने में अ लि फ। बुद्धिमान लोग बिचार के कहैं तो सही कि 'लि' और 'फ' से क्या प्रयोजन निकलता है। इसी प्रकार सब अक्षर हैं, विशेषतः 'ज़' के होते हुए 'ज़ाल' 'ज़ाद' और 'ज़ो'—इतने अक्षर यदि व्यर्थ न भी माने तो इस देश में, जहां की बोलियों के कूड़े से उर्दू बीबी के शरीर का अधिकांश बना है, क्या प्रयोजन निकलता है। हां, पश्चिमीय बोली की धज समझ के 'ज़' के नीचे नुक्ता देने की रीति मान ली है, यद्यपि झींगुर की सी बोली बोलना भी यहां वालों को नहीं सोहता। यदि हम 'मुर्तजा' कह के वही प्रयोजन सिद्ध कर लें तौ भी कोई हानि नहीं। उर्दू वाले भी हमारे मंत्र और ब्राह्मणादि शब्दों को मंतर और बरहमन कहते नहीं शरमाते। हम लोग तो ज़ और ग़ इत्यादि बोल भी लेते हैं और लिख भी देते हैं। कोई उर्दू के अकील अक्ल के पुतले 'गणित' शब्द लिख तो दें। यों सर्कार नागरी देवी के गुण जान बूझ के भी आदर न करे तो हमारा दुर्भाग्य है पर नागरी सर्वगुणागरी मसखरों के कहने से कदापि दूषित नहीं हो सकती। पचासों मौलवी और मुंशी दिन भर मुर्तज़ा बोलते हैं, यदि उनके ठीक २ उच्चारण को सुनके कश्मीरी पंडित महोदय ने मुर्तज़ा लिख दिया तो क्या बुरा हुआ। यदि कोई उर्दूभक्त यह हंसें कि 'ज़्वाद' की आवाज न निकली तो उनकी भूल है। खास फारस वालों

को भी 'ज़ुआद' का उच्चारण 'ज़' ही करते सुना है। केवल सत्रह कोने का मुंह बना के कहते हैं सो इससे क्या। 'ज़' ज्यों की त्यों ही रहती है। जब उनका यह हाल है तो यहां वालों का कहना ही क्या है। हम एडिटर ही साहब से पूछते हैं, बतावें तो 'ज़ुआद' की और 'ज़े' की आवाज में भेद क्या है। शायद फोटोग्राफ भेजें कि 'ऐसा मुंह बना के ज़ुआद बोलते हैं'। लिख के या बोल के 'ज़ुआद' और 'ज़े' की आवाज का फर्क दिखाने वाला हिंदुस्तानियों में तो है नहीं, रहे फारस अरब वाले, उनसे उर्दू का संबन्ध ही क्या। पर अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने वालों की बात न्यारी है। कल को कहेंगे—'मुर्तज़ा' में 'ये' है लेकिन 'अलिफ़' की आवाज देती है सो नागरी में हो ही नहीं सकता'। इसके उत्तर में हम भी कह देंगे कि देखने की इंद्री का नाम आंख है पर कोई कान से देखता हो तो हम क्या करें, उर्दू वालों की बुद्धिमत्ता है जो 'ये' को 'अलिफ़' की भांति बोलते हैं। हमें क्या, वे 'ये' का शुद्ध उच्चारण करें हम 'मुरतज़ी' लिख देंगे। हठधरमी और बात है पर उर्दू वाले बिचारे क्या दावा कर सकते हैं कि हिन्दी में कोई शब्द नहीं लिखा जा सकता। क्या उनकी भांति सभी के अक्षर अपूर्ण हैं? ऐसे बिहंगम अक्षर के पक्षी को कौन न कहेगा—'लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं।'

खं० ३, सं० ८ (१५ अक्टूबर ह० सं० १)

शैव सर्वस्व

अर्थात्

शिवालय, शिवमूर्ति और शिवपूजा की मुख्य मुख्य बातों का गूढ़ार्थ

जिसे शिवभक्तों के मनोरंजन तथा सर्वसाधारण के हितार्थ,

प्रेमदास प्रसिद्ध प्रतापनारायण मिश्र ने

लिखा ।

पटना—खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर ।

साहबप्रसाद सिंह ने छाप कर प्रकाशित किया ।

१८९०

पहली बार
१००० कापी

दाम चार आना ।

शैव सर्वस्व

उपक्रम

आजकल श्रावण का महीना है, वर्षारितु के कारण भूमंडल एवं गगन-मंडल एक अपूर्व शोभा धारण कर रहे हैं, जिसे देख के पशु पक्षी, नर नारी सभी आनंदित होते हैं। काम धंधा बहुत अल्प होने के कारण सब ढंग के लोग अपनी २ रुचि के अनुसार मन बहलाने में लगे हैं। कोई बागों में झूला डाले मित्रों सहित चंद्रमुखियों के साथ मदमाती आंखों से हरियाली देखने में मग्न है, कोई लंगोट कसे भंग छाने व्यायाम में संलग्न है, कोई भोर सांझ नगर के बाहर की वायु सेवन ही को सुख जानता है, कोई स्वयं तथा ब्राह्मण द्वारा भगवान भूतनाथ के दर्शन पूजनादि में लौकिक और पारलौकिक कल्याण मानता है! संसार में भांति २ के लोग हैं, उनकी रुचि भी न्यारी २ है। भक्त भी एक प्रकार के नहीं होते। कोई बगुला भक्त हैं अर्थात् दिखाने मात्र के भक्त, पर मन जैसे का तैसा! कोई पेटहुल भक्त हैं, अर्थात् यजमान से दक्षिणा मिलनी चाहिए, और काम न किया पूजा ही सही! कोई व्यवहारी भक्त हैं, अर्थात् 'या महादेव बाबा! भेजना तो छप्पन करोड़ की चौथाई।' इन्हीं में वह भी हैं जो संसारी पदार्थ तो नहीं चाहते पर मुक्ति अथवा कैलाश-बास पर मरे धरे हैं! कोई भगत जी हैं जो रास्ते में औ मंदिर में आंखें सेंकने ही को पूजा की आड़ पकड़ते हैं! पर हम इन भक्ताभासों की कथा न कह के श्री विश्वनाथ विश्वंभर के सच्चे प्रेमियों के मनोविनोदार्थ कुछ शिवमूर्ति और उनकी पूजा पर अपना विचार प्रगट करते हैं।

ईश्वर का नाम शिव है, यह बात वेद[1] से ले के ग्राम्य गीतों[2] तक में प्रसिद्ध है। और मूर्ति पूजन हमारे यहां उस काल से चला आता है जिसका ठीक २ पता भी कोई नहीं लगा सकता! जिस देश में शिल्प विद्या का प्रचार और जहां लोगों के जी में स्नेह एवं सहृदयता का उद्गार होगा वहां मूर्ति-पूजा किसी के हटाए नहीं हट सकती। मुहम्मदीय मत जब तक अरब के अशिक्षितों में रहा तभी तक प्रतिमापूजन से बचा रहा, जहां फारस के

१—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधम्पुष्टिवर्धनं' इत्यादि।

२—'संकर महदेव सेवक सुर जाके' इत्यादि।

रसिकों में फैला झट 'शीया' संप्रदाय नियत हो गई। इसी प्रकार खष्टीय मत जब तक तुरकिस्तान में रहा, जहां के प्रेम की यह दशा कि खुद हज़रत ईसा को उनके चुने हुए बारह शिष्यों में से एक शिष्य यहूदाह इस्करोती ने केवल तीस रुपये के लोभ में प्राण ग्राहक शत्रुओं के हाथ सौंप दिया, ऐसे देश में मूर्तिपूजा क्या होती जहां साक्षात् ही पूजा के लाले पड़े थे। परंतु रूम में मसीही धर्म को आते देर न हुई कि महात्मा मसीह की प्रतिकृति पुजने लगी, रोम्यन केथोलिक मत फैल गया। जब नये मतों की यह दशा है तो हमारे सनातन धर्म में मूर्तिपूजा क्यों न हो जहां प्रेम की उमंग में स्त्रियां तक जीती जल जाती रही हैं और शिल्पविद्या धर्मग्रंथ (अथर्ववेद) में भरी है। जहां राजाओं और बीर पुरुषों तक की मूर्ति का आदर है वहां देवाधिदेव महादेव की मूर्ति क्यों न पुजे? यद्यपि आजकल अविद्या के प्रभाव से सब बातों के तत्व के साथ प्रतिमा पूजन का भी तत्व लोग भूल गए हैं पर जिन्हें कुछ भी इधर श्रद्धा है वे इस लेख पर कुछ भी ध्यान देंगे तो कुछ भेद तो अवश्य ही पावैंगे।

यह सब लोग मानते हैं कि ईश्वर निराकार है पर मनुष्य अपनी रुचि और दशा के अनुसार उसके विषय में कल्पना कर लिया करते हैं। जिन मतों में प्रतिमा पूजन का महा महा निषेध है उनके धर्मग्रंथों[3] में भी ईश्वर के हाथ पांव नेत्रादि का वर्णन है, फिर हमारे पूर्वजों के लेखों का तो कहना ही क्या है जिनकी कल्पनाशक्ति के विषय में हम सच्चे अभिमान से कह सकते हैं कि दूसरे देश वालों को वैसी २ बातें समझनी ही कठिन हैं, सूझने की तो क्या कथा। उन की छोटी २ बातों में बड़े २ आशय हैं (यह विषय दूसरी पुस्तक में लिखा गया है) फिर यह तो धर्म का अंग है, इसका क्या कहना!

तनिक ध्यान दे के देखिए तो निश्चय कह उठिएगा कि हां जिन्होंने पहिले पहिल यह बातें निकाली थीं वे ब्रह्मविद्या, लोकहितैषिता और सहृदयता में निस्संदेह जगत् भर के बुद्धिमानों के शिरोमणि थे। शिवालय, शिवमूर्ति अथच शिवार्चन में सामाजिक, शारीरिक एवं आत्मिक उपदेश इतने भरे हुए हैं कि बड़े २ बुद्धिमान बड़े २ ग्रंथ लिख के भी इतिश्री नहीं कर सकते, हमारी छोटी सी बुद्धि द्वारा यह छोटी सी पुस्तिका तो समुद्र में के जल कण के सदृश भी नहीं है।

३—इंजील तथा कुरआन आदि।

शिवालय की बनावट देखिए तो ऊपर का गुम्बद गोल होता है जिससे चाहे जितना जल बरसे कुछ क्षति नहीं कर सकता, इधर बूंद गिरी उधर भूमि पर आई। वर्षा में बड़े बड़े घर गिर जाते हैं पर कोई छोटी सी शिवलिया कदाचित बहुत ही कम सुना होगा कि गिर पड़ी। इसके अतिरिक्त भूगोल खगोल ग्रह नक्षत्र सब गोल हैं और परमात्मा सबका स्वामी सब में व्याप्त है, यह बात भी शिवमंदिर में उपदिष्ट होते हैं। उसमें चारों ओर द्वार होते हैं जिनसे सदा स्वच्छ वायु का गमनागमन रहने से रोगोत्पत्ति की संभावना नहीं रहती। ऊपर से यह भी ज्ञात होता है कि परमेश्वर के पास जाने की किसी ओर से रोक नहीं है, सब मार्गों से वह हमें मिल सकते हैं। हिंदू धर्म, जयन धर्म, क्रिस्तानी धर्म, मुसलमानी धर्म सब के द्वारा हमारा प्रभु हमें मिल सकता है — "रुचिनाम्वैचित्र्याहजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यैस्त्वमसि पयसामर्णव इव"—केवल मिलने की इच्छा चाहिए। आगे चलिए तो पहिले बिना धार का धातु अथवा पाषाण निर्मित त्रिशूल देख पड़ेगा जिसके कारण शिवालय पर बिजली गिरने का कभी भय नहीं रहता। बड़े २ तत्ववेत्ता (फ़िलासफ़र) कहते हैं कि जिस मकान के पास लोहे कांसे आदि की लंबी छड़ गड़ी होगी उस पर बिजली नहीं गिर सकती क्योंकि धातुओं की आकर्षणशक्ति से वुह सीधी धरती में समा जाती है, इससे घर की रक्षा रहती है। पाषाण के त्रिशूल बहुत थोड़े मंदिरों में होते हैं। उसमें यह गुण तो नहीं हैं पर यह उपदेश दोनों प्रकार के त्रिशूल देते हैं कि मनुष्य के शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक दौर्बल्यजनित भय सदा डराया करते हैं कि देखो शिव के शरण जाओगे तो तुम्हारे संसारी मित्र तुम्हें पागल समझेंगे। तुम्हारा शरीर और मन विषय सुखों से बंचित रह के दुख पावैगा। अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक कुबासना बड़े २ लालच दिखाया करती हैं कि हमारे साथ रहने में जीवन का साफल्य है, नहीं तो और संसार में हई क्या? पर यदि तुम इन संकल्प विकल्प जनित भय, लालच, शंकादि की कुछ भटक न करके आगे ही पांव उठाए जाव तो निश्चय हो जायगा कि यह त्रिशूल देखने ही मात्र को हैं, तुम्हें कुछ बाधा नहीं कर सकते! तुम जब तक शिव के सम्मुख होने को कटिबद्ध न थे तभी तक भ्रमोत्पादन करने मात्र की शक्ति इनमें थी! आगे बढ़िए तो कीर्तिमुख नामक गण की झांकी होगी, (बहुधा शिवालयों में अरघा के पास वा कुछ दूर पर मनुष्य का सा शिर बना रहता है, वही कीर्तिमुख हैं)। इनके विषय में पुराणों में लिखा है कि एक बार क्षुधित हुए, शिव जी से खाने को मांगा तो

उन्होंने कहा कि यहां क्या रखा है, अपने ही हाथ पांव खा डालो। इस पर इन्होंने ऐसा ही किया! तब से यह भोलानाथ को अत्यंत प्यारे हैं!! इस कथा का मूलोद्देश्य यह है कि प्रियतम की आज्ञा से यहां तक मुंह न मोड़ो तो निस्संदेह वह कल्याणमय तुम्हें अतिशय प्यार करेगा!!! कीर्तिमुख जी के दर्शन करके श्री १०८ नागरीदास जी के इस प्रेममय बचन का स्मरण करो तो एक अनिर्वचनीय स्वादु पावोगे, मानो स्वयं कीर्तिमुख ही आज्ञा कर रहे हैं कि "सीस काटि आगे धरौ तापर राखौ पांव। इश्क चमन के बीच में ऐसा हो तो आव ॥१॥" और कुछ चल के नंदिकेश्वर जी के दर्शन होंगे, जिन्हें लड़के बूढ़े सभी जानते हैं कि महेश्वर जी के वाहन हैं, मुख्य गण हैं, उन्हें बहुत प्रिय हैं, वरंच वे वही हैं! यह इस बात का रूपक है कि यदि हम परमेश्वर के अभिन्न मित्र हुवा चाहें तो हमें चाहिए कि अपने मनुष्यत्व का अभिमान यहां तक छोड़ दें कि मानो हम बैल हैं! पर स्मरण रक्खो, बैल बनना सहज नहीं है! अपना पेट घास ही भूसे से भरना पर लोकोपकारार्थ सदा सब रीति से प्रस्तुत रहना! विशेषतः कृषि विद्या, जो एक समय भारत-संपत्ति का मूल थी, 'उत्तम खेती मध्यम बान' आज तक प्रसिद्ध है, पर समय के फेर से इन दिनों लुप्त सी हो गई है, उसके लिए जीवन भर बिता देना बैल ही का काम है। या यों कहो, शंकर स्वामी के परम मित्र का धर्म है कठिन परिश्रम करके दूसरों के लिए अन्न वस्त्र उपजाना—कैसा ही बोझ उठाना हो, कैसे हीं शीत उष्ण बरषा सह के बन बीहड़ में जाना हो, कभी हिम्मत न हारना—मर जाने पर भी पृथ्वी सींचने को पुर, लोगों की पद-रक्षा के लिए जूती, वस्त्राभरण धरने को संदूक, कठिन वस्तु जोड़ने को सरेस वृषभ ही से प्राप्त होता है। यदि हम भी ऐसे ही बन जाएं कि अपने दुख सुख की चिंता न करके संसार के उपकार में धैर्य के साथ श्रम करते रहें, जगत् के हितार्थ कहीं जाना हो, कुछ ही करना हो, कभी हिचिर मिचिर न करें, वह आचरण रक्खें कि हमारे मरणानंतर भी हमारे किए हुए कामों तथा लिखे हुए वचनों से पृथ्वी के लोगों के हृदय प्रेमजल से सिंचित हों, लोग स्वदेशोन्नति के पथावलंबन में सहारा पावैं, देशभाई अपनी श्रद्धा रूपी पूंजी का आधार बनावैं तथा पाषाण सदृश चित्त वाले भी आपस का मेल सीखैं, बस तभी हम विश्वनाथ के प्यारे होंगे। तभी वह प्रेमदेव हृदय में आरूढ़ होगा। जिसे यह सब बातें स्वीकृत हैं उसे शिवदर्शन दुरलभ नहीं है। यद्यपि शिवमंदिर में गणेश, सूर्य, भैरवादि की प्रतिमा भी कहीं २ देख पड़ती हैं पर उनके मुख्य पार्षद यही हैं। दूसरे देवताओं के मंदिर अलग

भी बनते हैं अतः उनका वर्णन यहां पर विशेष रूप से आवश्यक नहीं है, इससे हमारे पाठकों को शिव दर्शन की ओर झुकना चाहिए। पर यदि केवल बुद्धि के नेत्रों से देखिएगा तो पत्थर देखिएगा। हां, यदि प्रेम की आंखें हों तो उस अप्रतिम की प्रतिमा तुम्हारे आगे विद्यमान है!

शिवमूर्ति—इसको प्रेम लगा के देखिए, यह हमारे प्रेमदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिंत्य हैं तौ भी भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनको सभी बातें सत्य हैं अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भांति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं, इससे हम उन्हें निराकार कह सकते हैं और प्रेमचक्षु से अपने मनोमंदिर में दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। उनका यथातथ्य वर्णन कोई नहीं कर सकता तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे के मननशील कहेंगे वह सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनःशांति-कारक सत्य है। महात्मा कबीर ने इस विषय में सच कहा है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे तो सब उसे टटोलेंगे—यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भांति उसे गोद में ले के सब जने उसके सब अवयव का ठीक २ बोध कर लें। एक २ जन केवल एक २ अंग टटोल सकता है और दांत टटोलने वाला हाथी को खूंटी के समान, कान छूने वाला सूप के सदृश, पांव स्पर्श करने वाला खंभे की नाईं कहेगा। यद्यपि हाथी न खूंटे के समान है न खंभे के समान पर कहने वाले की बात झूठ भी नहीं है। उसने भली भांति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक २ अंग वैसा ही है भी।

ईश्वर के विषय में मानवी बुद्धि की भी ठीक यही दशा है। हम पूरा पूरा वर्णन कर लें तो वुह अनंत कैसे? और यदि निरा अनंत मान के हम अपने मन वचन को उनकी ओर से फेर लें तो हम आस्तिक कैसे? सिद्धांत यह कि हमारी बुद्धि जहां तक है वहां तक उनकी स्तुति प्रार्थना, ध्यान उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे। उनके साथ जिस प्रकार से जितना संबंध रख सकें उतना ही हमारे मन, बुद्धि, आत्मा, संसार, परमार्थ के लिए मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने तथा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं वे व्यर्थ समय न बितावैं, जितनी देर पूजा पाठ करते हैं उतनी देर कमाने खाने, पढ़ने गुनने

में रहें तो उत्तम है। और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को पिता बना के माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के बिचारे बाप को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता और निराकार कह के उसके अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके लिए है जो अपनी विचारशक्ति को काम में लाते हैं और जगदीश्वर के साथ जीवित संबंध रख के हृदय में आनंद पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते भी हैं।

प्रियवर ! उसकी सब बातें अनंत हैं अतः मूर्तियां भी अनंत प्रकार की बन सकती हैं। पर हमारी बुद्धि अनंत नहीं है इससे कुछ रीति की प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं। यह भी सब जानते हैं कि अनंत की एक २ प्रतिकृति का एक २ अंग भी अनंत भाव, अनंत भलाई, अनंत सुख से भरा होना चाहिए पर हम अनंत नहीं हैं इससे थोड़ी ही सी बातों पर लेख का अंत करेंगे।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है। इसका यह भाव है कि उनसे हमारा दृढ़ संबध है। दृढ़ पदार्थों की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नेंव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं है कि सहज में और का और हो जाय। बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बेर प्रतिमा पधराय दी, कई पीढ़ियों को छुट्टी हुई, चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कुछ हानि नहीं हो सकती।

धातुविग्रह का यह तात्पर्य है कि हमारा प्रभु द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहां हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं वुह हम पर पिघल उठे। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वुह हमारी दशा के अनुसार हमारे साथ बर्ताव करेंगे। यह नहीं कि ईश्वर अपने नियम पालन से काम रखता है, कोई मरे चाहै जिए।

रतनमयी प्रतिकृति का यह अर्थ है कि हमारा ईश्वरीय संबंध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज आदि की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए हाथ नहीं आती, यह बड़े अमीर का साध्य है, वैसे ही प्रेमस्वरूप परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम ज्ञानाज्ञान का सारा अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है।

मृत्तिकामयी प्रतिमा का प्रयोजन है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर

सकते हैं। जैसे मट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है ऐसे ही उनका वियोग भी कहीं नहीं है। धन और गुण का भी उनके मिलने में काम नहीं है। वे निरधनों के धन हैं। जिसे जीवनयात्रा का कोई सहारा नहीं वुह मट्टी बेंच के पेट पाल सकता है। यों ही जिसे कहीं गति नहीं उसके सहायक कैलाशवासी हैं। सब पदार्थ का आदि मध्यावसान ईश्वर के सहारे है। इस बात का दृष्टांत भी मृत्तिका ही पर खूब घटता है। इसके अतिरिक्त पार्थिवेश्वर का बनना भी बहुत सहज है। लड़के भी माटी सान के निर्मान कर लेते हैं। यह इस बात की सूचना है 'हुनरमंदों से पूछे जाते हैं वां वेहुनर पहिले'।

गोबर का स्वरूप यह प्रकट करता है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है। हृदय मंदिर की कुवासना रूपी दुर्गंध वही दूर करता है।

पारदेश्वर (पारे की मूर्ति) यह प्रकाश करते हैं कि परमेश्वर हमारे पुष्टिकारक हैं—'सुगंधम्पुष्टिवर्द्धनं' वेद वाक्य है।

यदि मूर्ति बनाने बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथिवी जल आदि अष्टमूर्ति बनी बनाई विद्यमान है। वास्तविक प्रेममूर्ति मन के मंदिर में है ही पर तौ भी यह दृश्य मूर्तियां भी निरर्थक नहीं हैं। इनके कल्पना करने वालों की विद्या और बुद्धि प्रतिमानिंदकों से अधिक ही थी। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन ही हैं१—श्वेत २—रक्त ३—श्याम। और सब इन्हीं का विकार है इससे इन्हीं का वर्णन आवश्यक है। उसमें—

पहिले श्वेत रंग की प्रतिमा से यह सूचित होता है कि परमेश्वर शुद्ध एवं स्वच्छ है—'शुद्धमपापविद्धं'। उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। वुह 'वहेदहूलाशरीक' है पर सभी उसके आश्रित हैं। जैसे उजला रंग सब रंगों का आश्रय है वैसे ही सबका आश्रय परब्रह्म है। 'सर्वेरसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ। उत्पद्यंते विलीयंते यत्र सः प्रेमसंज्ञकः'। वह त्रिगुणातीत तो हई पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं है औ यदि उसे सतोगुणमय भी कहें (सतोगुण श्वेत है) तो कोई बेअदबी नहीं है।

दूसरा लाल रंग रजोगुण का द्योतक है। यह कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी अन्य का है। कविता के आचार्यों ने अनुराग का भी अरुणवरण वर्णन किया है। फिर अनुरागदेव का रंग और क्या होगा? काले रंग का तात्पर्य सभी सोच सकते हैं कि सबसे पक्का

यही है। इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। यों ही प्रेमदेव सबसे अधिक पक्के हैं। उन पर दूसरे का रंग क्या जमेगा? इसके सिवा दृश्यमान जगत् के प्रदर्शक नेत्र हैं। उनकी पुतली काली होती है। भीतर का प्रकाशक प्रज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी सारी पुस्तकें काली ही स्याही से लिखी जाती हैं। फिर कहिए जिसे भीतर बाहर का प्रकाश है, जो प्रेमियों को आंख की पुतली से भी प्यारा है, जो अनंत विद्यामय है—'सर्वेवेदायत्र-चैकीभवंति'—उसका और कौन रंग मानैं? हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुंदर व्यक्ति के नयन में काजल और गोरे गालों पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों की पूरी शक्ति और रसज्ञों का सर्वस्व एक बार उस छवि पर निछावर हो जाता है। फिर कहिए सर्वशोभामय परम सुंदर का कौन रंग कल्पना कीजिएगा? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है। उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट महेश्वर का और क्या रंग होगा? यदि कोई लाखों योजन का बहुत बड़ा मैदान हो और रात को उसका अंत लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनमें उस स्थल का छोर देख लोगे? नहीं, जहां तक दीपों का प्रकाश है वहीं तक कुछ सूझेगा, फिर बस 'तमसा गूढ़मग्रे'। ऐसे ही हमारे बड़े २ महर्षियों की बुद्धि जिसका भेद नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? श्री रामचंद्र कृष्णचंद्रादि को यदि अंगरेजी जमाने वाले ईश्वर न भी मानैं तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा उनसे और ईश्वर से अधिक संबंध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि उस परात्पर का कुछ अस्तित्व है तो रंग यही होगा क्योंकि उसके निज के लोग कई एक इसी रंग ढंग के हैं। अब आकारों का विचार कीजिए तो अधिकतः शिवमूर्ति लिंगाकार होती है जिसमें हाथ पांव मुख नेत्र कुछ नहीं होते। सब मूर्तिपूजक कहते हैं कि हम प्रतिमा को स्वयं ब्रह्म नहीं मानते, न यही मानते हैं कि यह उसकी यथातथ्य प्रतिकृति है। केवल परमदेव की सेवा करने तथा अपना मन लगाने के लिए एक संकेत तथा चिह्न नियत कर लेते हैं। यह बात आदि में शैवों के ही घर से निकली है। क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है और सच भी यही है। जो वस्तु बाहरी नेत्रों से देखी नहीं जाती उसकी ठीक २ मूर्ति ही क्या? आनंद की कैसी मूर्ति, दुःख की कैसी मूर्ति, राग रागिनियों की कैसी मूर्ति? केवल मनः कल्पना द्वारा उसके गुणों का कुछ २ द्योतन करने के योग्य कोई संकेत। बस ठीक इसी प्रकार ज्योतिर्लिंग है। सृष्टिकर्तृत्व, अचिंत्यत्व, अप्रतिमत्वादि कई बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं कह

सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोलमाल हैं। बस यही बात गोल मठोल ठीक मूर्ति भी सूचित करती है। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' इस वेद बचन का यही अर्थ है कि ईश्वर के प्रतिमा नहीं है तो इसका ठीक रूपक शिवलिंग ही है क्योंकि जिसमें हस्तपादादि कुछ नहीं हैं उसे प्रतिमा कौन कहेगा! पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि यदि कुछ अवयव ही नहीं है तो यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं ही है। तो हम उत्तर दे सकते हैं कि आंखें हो तो देखो, फिर धर्म से कहना कि कुछ है अथवा नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'कुछ है' एवं 'कुछ नहीं है' यह दोनों बातें ईश्वर के विषय में न हां कही जा सकें न नहीं कहते बने, और हां कहना भी ठीक है तथा नहीं कहना भी ठीक है—'का कहिए कहते न बने कछु है कि नहीं कछु है न नहीं है'। क्योंकि ईश्वर तो मन वचनादि का विषय ही नहीं है। वहां केवल अनुभव का काम है। इसी भांति शिवमूर्ति भी समझ लीजिए। कुछ नहीं है तौ भी सभी कुछ है! वास्तव में यह विषय ऐसा है कि जितना सोचा समझा कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा, बकने वाला जन्म भर बके पर सुनने वाला यही जानेगा कि अभी श्रीगणेशायनमः हुई है। इसी से महात्मा लोग कह गए हैं कि 'ईश्वर को वाद में न ढूंढ़ो वरंच विश्वास में'। इसलिए हम भी उत्तम समझते हैं कि सावयव मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। क्योंकि यदि पाठकगण बिश्वास के साथ भजन करेंगे तो आप उस अरूप का रूप समझने लगेंगे। हम रूपवान के उपासक हैं, हमें अरूप से क्या। हमारे लिए तो उन्हें भी रूप धारण करना पड़ता है।

जानना चाहिए कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का स्वाभाविक धर्म है। जो वस्तु हमारे आस पास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फारस अरब और इङ्गलिस्तान के कवि जब संसार की अनित्यता का वर्णन करने लगेंगे तब कबरिस्तान का नकशा खींचेंगे क्योंकि उनके यहां स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि 'बड़े २ बादशाह खाक में दबे पड़े हैं'। यदि कब्र का तख्ता उठा कर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियां निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकंदर की हड्डी है, यह दारा की इत्यादि। हमारे यहां उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा—शिर पीड़ा जिनकी नहि हेरी। करत कपाल क्रिया तिन केरी॥ फूल बोझहू जिन न संभारे। तिन पर बोझ काठ बहु डारे। इत्यादि। क्योंकि कब्रों की चाल यहां विदेशियों की चलाई है।

यूरोप में सुंदरता वर्णन करेंगे तो अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे और हिंदुस्तान में ताम्र वर्ण के केश सुंदर न समझे जायंगे। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिए तब ;जान जाइएगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सदा सब ठौर मनुष्य ही हैं। अतः सब कहीं उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य के स्वरूप के समान की गई है। क्रिस्तानों और मुसलमानों के यहां भी कहीं २ खुदा के दाहिने तथा बाएं हाथ का वर्णन है ! बरंच यह खुला हुवा लिखा है कि उसने आदम को अपनी सूरत में बनाया। पादरी साहब तथा मौलवी साहब चाहे जैसी उलट फेर की बातें कहें पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि अगर खुदा की कोई शक्ल है तो आदम ही की सी शक्ल होगी। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मानना पड़ेगा जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा संबंध है। हमारे माता पिता, भाई बहिन, राजा रानी, गुरु गुरुपत्नी इत्यादि, जिनको हम अपने प्रेम प्रतिष्ठा का आधार मानते हैं, उन सब के हमारी ही भांति हाथ पांव इत्यादि हैं तो हमारा सर्वोत्कृष्ट बंधु कैसा होगा ? बस इसी मूल पर सब सावयव मूर्तियां मनुष्य के से रूप की बनाई जाती हैं। विष्णुदेव की सुंदर सौम्य प्रतिमा प्रेमोत्पादनार्थ है क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक लगता है। भैरवादि की भयानक प्रतिकृति इस सूचना के अर्थ है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के हेतु भयकारक है अथवा हम उसकी मंगल मयी सृष्टि में विघ्न करेंगे तो वुह कभी उपेक्षा न करेगा, क्योंकि वुह क्रोधी है। इसी प्रकार शिवमूर्तियों में भी कई विशेषता हैं जिन के द्वारा हम यह उपकार लाभ कर सकते हैं। शिर पर गंगा होने का यह भाव है कि गंगा हमारे देश की संसार परमार्थ की सर्वस्व हैं। पापी पुण्यात्मा सब की सुखदायिनी हैं। भारत के सब संप्रदायों में माननीया हैं। (गंगाजी की महिमा अनेक ग्रंथों में वर्णित है। जल तथा बालुका अनेक रोग नाश करती है। अनेक नगरों की शोभा, अनेक जीवों की पालना इन्हीं पर निर्भर है। मरने पर माता पिता सब छोड़ देंगे पर गंगा माई अपने में मिला लेंगी इत्यादि अनेक बातें परम प्रसिद्ध हैं। अतः इस विषय को यहां बहुत न बढ़ा के आगे चलते हैं।) और भगवान भवानी भावन विश्वव्यापी हैं तो विश्वव्यापक की मूर्ति कल्पना में जगत् का सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। पुराणों में गंगा जी की उत्पत्ति विष्णु भगवान के चरणारविंद से मानी गई है और शिव जी को परम वैष्णव लिखा है। उस परम वैष्णवता की पुष्टि इस से उत्तम और क्या हो सकती है कि यह उन के चरणोदक को शिर पर

धारण करें । यों ही विष्णुदेव को परम शैव कहा है । कथा है कि लक्ष्मीपति सदा सहस्र कमल ले के पार्वतीपति की पूजा किया करते हैं । एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि हमारा नाम पुंडरीकाक्ष है, एक नेत्ररूपी पुंडरीक अपने इष्टदेव के पाद पद्म पर अर्पण कर दिया ! सच है इससे अधिक शैवता और क्या होगी । शास्त्रार्थ के लती ऐसे उपाख्यानों पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रतिपादन में देंगे, इस स्थल पर केवल इतना ही कहेंगे कि कविता पढ़े बिना ऐसे लेख समझना कोटि जन्म असंभव है । हां, इतना कह सकते हैं कि यह भगवान बैकुंठनाथ की शैवता और कैलाशनाथ की वैश्नवता का अलंकारिक वर्णन है । वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक एवं शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं पर उसका वर्णन पूर्णतया असंभव होने के कारण कुछ २ गुण एकत्र करके दो रूप कल्पना कर लिए गए हैं जिसमें कवियों की वाणी को सहारा मिले । हमारा प्रस्तुत विषय शिवमूर्ति है और यह शैव समाज का आधार है अतः इन अप्रतर्क्य विषयों का दिग्दर्शन मात्र करके अपने शैव भाइयों से पूछा चाहते हैं कि आप भगवान गंगाधर के पूजक हो के वैष्णवों के साथ किस बीरते पर द्वेष रख सकते हैं ? यदि धर्म से अधिक मतबाद प्रिय हो तो अपने प्रेमाधार को गंगाधर अथच परम भागवत कहना छोड़ दीजिए । नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णवमात्र को अपना देवता समझे । जब परम वैष्णव महादेव हैं तो साधारण वैष्णव देव क्यों न होंगे ? इसी प्रकार यह भी समझने की बात है कि गंगा जी परम शक्ति हैं । इस से शाक्तों के साथ विरोध रखना भी अनुचित है । यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं । इस नाते सभी हमारे बांधव हैं। विशेषतः शैव समूह को वैष्णव और शाक्त लोगों से विशेष संबंध ठहरा अतः इन्हें तो परस्पर महा मित्रता से रहना चाहिए । और सुनिए गाणपत्य हमारे प्रभु के पुत्र को ही पूजते हैं अतः इनके लिए भी सदा शिव से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि 'करहु कृपा शिशु सेवक जानी' । सूर्यनारायण शिवशंकर का नेत्र ही हैं—'वंदे सूर्यशशांकवह्निनयनं' । फिर क्या नयन शरीर से अलग हैं जो तुम सूर्योपासकों को अपने से भिन्न समझते हो ? भारत का क्या ही सौभाग्य था यदि यह पांचो मत एकता धारण कर के पंच परमेश्वर बनते ! अस्तु अपने २ मत का तत्व समझेंगे तभी सही ! शिवमूर्ति में अकेली गंगा

कितनी हितकारिणी हैं इस पर जितना सोचिएगा उतना ही कल्याण है। अब दूसरी छवि देखिए।

बहुत सी मूर्तियों के पांच मुख होते हैं जिस से यह जान पड़ता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो आप चार वेदों में पाइएगा पर यह मत समझिए कि वेद विद्या ही से उन का दर्शन भी मिल जायगा। जो कुछ चार वेद बतलाते हैं उससे भी उन का रूप गुण अधिक है। वेद उन की वाणी है पर चार पुस्तकों ही पर उन की बाणी समाप्त नहीं हो गई! एक मुख और है एवं वुह सब के ऊपर है जिसकी मधुर वाणी केवल प्रेमी सुनते हैं। विद्याभिमानी जन बहुत होगा चार वेद द्वारा चार फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) प्राप्त कर लेंगे। पर वुह पंचम मुख संबंधी सुख औरों के लिए है। जिस ने चारों ओर से अपना मुख फेर लिया है वही प्रेममय मुख का दर्शन पाता है।

तीन नेत्र से यह अभिप्राय है कि वह त्रैलोक्य एवं त्रिकाल के लोगों के त्रिगुणात्मक (सात्विक, राजस, तामस) तीनों प्रकार के (कायिक, वाचिक, मानसिक) भावों को देखते हैं। सूर्य, चंद्रमा, अग्नि उनके नेत्र हैं अर्थात् उन का विचार करने वाले के हृदय में प्रकाश होता है। उन की आंखों देखने वाले (सर्वथा उन्हीं के आश्रित) को आनंद मिलता है। शीतलता प्राप्त होती है। उन के विमुख जला करते हैं। या यों समझ लो कि वे आंख उठाते ही हमारे पाप ताप शाप दुःख दुर्गुण दुराशा सबको भस्म कर देते हैं।

उन के मस्तक पर दुइज का चंद्रमा है अर्थात् जो कोई अपने को महा क्षीण, अति दीन समझता है, 'पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम्' जिसके मन बचन से सदा निकला करता है वही भगवान को शिरोधार्य है—'बंदौं सीताराम पद जिन्हें परम प्रिय खिन्न'!

यही भाव कपाल माला से भी है। जो जीते हुए मृतकवत रहते हैं अर्थात् अपने जीवन को कुछ समझते ही नहीं, पराए लिए निज प्राण तृणवत् समझते हैं, वही लोग उनके गले का हार हैं।

चिता भस्म सदृश अपने को निरा निकम्मा महा अपावन समझो तो वुह तुम्हें अपना भूषण समझेंगे। जब तुम सच्चे जी से अपने पापों को स्वीकार कर लोगे, गदगद स्वर से कहोगे कि 'हे प्रभो! हम सर्प हैं। संसार के दिखाने मात्र को ऊपर से चिकने २ कोमल २ बने रहते हैं पर भीतर

(हृदय में) विष (कुवासना) ही भरा है, 'मो सम कौन कुटिल खल कामी। तुम से काह छिपी करुनानिधि सब के अंतरजामी ॥' इत्यादि कहने ही से वुह तुम्हें अपनावैंगे। यदि हम को यह अभिमान हो कि हम पूरे नक्षत्र नायक के समान कीर्तिमान हैं तो संसार को चाहे जैसी चमक दमक दिखा लें पर हैं वास्तव में कलंकी! हमारा अस्तित्व दिन २ क्षीण होने वाला है। ऐसे अहंकारी को भोलानाथ कभी अंगीकार न करेंगे। उन्हें तो वही प्यारा है, वे तो उसी की वृद्धि करेंगे, उसी को निष्कलंक बनावेंगे, जो शशि सम होने पर भी दीनता स्वीकार करे। चंद्रशेखर नाम का यह भी भाव है कि 'चद् आह्लादने' धातु से चंद्र शब्द बनता है और सच्चा सुख प्रेम ही में होता है। एवं नित्य वर्द्धमान, निष्कलंक, अमृतमय होने से द्वितीया के चंद्रमा से प्रेम का सादृश्य भी है इस से यह अर्थ हुआ कि जिसके गुणों का सर्वोपरि भूषण प्रेम है वही चंद्रमौलि है! शिव चिताभस्मधारी हैं इस से उन के उपासक भी भस्म लगाया करते हैं जिस से बहुतेरे डाक्टरों के मतानुसार शरीर के अनेक रोग नाश होते हैं और बिजली की शक्ति बढ़ती है। पर आत्मा को भी यह लाभ हो सकता है कि जब २ अपने शरीर को देखेंगे तब २ प्रभु के चिता भस्म लेपन की सुध होगी और चिता का ध्यान होते ही संसार की अनित्यता का स्मरण बना रहेगा। अगले बुद्धिमानों का बचन है कि 'ईश्वर और मृत्यु को सदा याद रखना चाहिए।' इस से बहुतेरी बुराइयां छुटी रहती हैं। इसी भांति रुद्राक्ष एवं बड़े २ बाल भी स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं पर यह बिषय अन्य है अतः केवल वर्णनीय विषय लिखा जाता है।

शिवमूर्ति के गले में विष की श्यामता का चिह्न होता है। जब समुद्र के मथने के समय महा तीक्ष्ण हलाहल निकला और कोई उसकी मार न सह सका तब आप उसे पान कर गए। तभी से गरलकंठ कहलाते हैं। इस पर श्री पुष्पदंताचार्य ने कितना अच्छा सिद्धांत निकाला है कि 'विकारोपिश्लाघ्यो भुवन भयभंग व्यसनिनां'। यहां हम शिवभक्तों से प्रश्न करेंगे कि जब हमारे प्रभु ने जगत् की रक्षा के हेतु विष तक पी लिया है तो हमें निज देश के हितार्थ क्या कुछ भी कष्ट अथवा हानि न सहनी चाहिए?

उन के एक हाथ में त्रिशूल है अर्थात् दैहिक दैविक भौतिक दुःख उन की मुट्ठी में हैं। फिर उनके भक्त संसार से क्यों न निर्भय रहें। उस सर्व शक्तिमान के पंजे से छूटेंगे तब हम पर चोट करेंगे। भला यह कब संभव है? हमारा प्रभु हमारी रक्षा के अर्थ सदा शस्त्र धारण किए रहता है फिर हम

क्यों डरें। हमारे विश्वनाथ त्रिशूल प्रहारक हैं अतः हमें कोई निष्कारण सतावैगा तो वुह कहां बच के जायगा? हमारा या यों कहो कि संसार के शुभ-चिंतकों का शत्रु पृथिवी स्वर्ग पाताल कहीं न बचेगा। भगवान का नाम ही त्रिपुरारि है अर्थात् त्रैलोक्य के असुर प्रकृति वालों का शत्रु। हां, प्रिय शैव गण! यदि तुम में कोई भी आसुरी प्रकृति हो, स्वार्थ के आगे देश की चिंता न हो, देशी भाइयों से द्वेष हो, आलस्य हो, दंभ हो, पर संताप हो तो डरो सृष्टि संहारक के त्रिशूल से! और यदि सरलता के साथ उन के चरण और सदाचरण में श्रद्धा है तो समस्त सूल को वे स्वयं प्रहार कर डालेंगे। कभी २ कालचक्र की गति से सच्चे शैव को भी रोग वियोगादि शूल दुख देते हैं पर उसे संसारी लोगों की भांति कष्ट नहीं होता। क्योंकि निश्चय रहता है कि यह प्रेमपात्र का चोंचला मात्र है, न जाने किस उमंग में आ के त्रिशूल दिखला दिया है पर हम पर चोट कदापि न करेंगे।

दूसरे हाथ में डमरू है। पंडित लोग जानते हैं कि व्याकरणादि कई विद्याओं के अइउणऋलृकादि मूल सूत्र इसी डमरू के शब्द से निकले हैं। यह इस बात का इशारा है कि सब विद्या उन की मूठी में हैं। पर हमारी समझ में एक बात आती है कि यदि वे केवल त्रिशूलधारी ही होते तो हम निर्बलों को केवल उनका भय होता इसी लिए एक बाजा भी पास रखते हैं जिसमें हमें निश्चय रहे कि निरे न्यायी, निरे दुष्टदलन, निरे युद्धप्रिय ही नहीं हैं वरंच अपने लोगों के लिए गानरसिक भी हैं। मनुष्य की मनोवृत्ति गाने बजाने की ओर आप ही खिंच जाती है। फिर भला जिस की ओर चित्त लगाना हमें परमावश्यक है वुह प्रभु हमारे चित्त को अपनी ओर खींचने के अर्थ गानप्रिय क्यों न हो! सैकड़ों बार देखा गया है कि कभी २ किसी कारण के बिना भी हमारा मन उन के निकट जा रहता है इस का कारण यही है कि उन का रूप गुण स्वभाव हृदयग्राही है। धन्य है उस पुरुषरत्न का जीवन जिस के मन की आंखों में सदा उन की छबि बसती है और अंतःकरण के करण में नित्य प्रेम डमरू की ध्वनि पूरी रहती है। संसार में जितने सुहावने शब्द सुनाई देते हैं सब उसी डमरू के शब्द हैं, क्योंकि सब को उन्हीं के हाथ का सहारा है।

कोई २ मूर्ति अर्द्धांगी होती है, अर्थात् एक ही मूर्ति में एक ओर शिव एक ओर पार्वती देवी। ऐसी झांकी से यह अकथ्य महिमा विदित होती है कि

वुह अष्ट प्रहर अपनी प्यारी को बामांक में धारण करने पर भी योगीश्वर एवं मदनांतक हैं। क्या यह सामर्थ्य किसी दूसरे को हो सकती है ? हां, जिस पर उन्हीं की विशेष दया हो। धन्य प्रभो ! यह दूध और खटाई की एकत्र स्थिति तुम्हीं कर सकते हो। हमारी कवि समाज के मुकुटमणि गोस्वामी तुलसी-दास जी ने जनक महाराज की प्रशंसा में कहा है कि 'योग भोग महं राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई।' यदि गोस्वामी महाराज का हम से दैहिक संबंध होता तो उन से एक ऐसी चौपाई अनुरोधपूर्वक बनवाते कि 'योग भोग दोउ प्रगट दिखाई। सूचत अति अतर्क्य प्रभुताई।' हमारे कान्यकुब्ज भाई अधिकतर शैव ही हैं पर देश के दुर्भाग्य से ऐसी प्रतिमा देख के यह उपदेश नहीं सीखते कि 'जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति। जो नारी सोइ पुरुष है, यामें कछु न विभक्ति।' नहीं तो शैवों का यह परम कर्तव्य है कि अपनी गृह देवी से इतना स्नेह करें कि 'एक जान दो कालिब' बन जायं और व्यभिचार के समय यह ध्यान रक्खें कि हमारे भोला बाबा ने जिस कामदेव को भस्म कर दिया है यदि हम उसी भस्मावशिष्ट मन्मथ के हरायल बन जायंगे तो हर भगवान को क्या मुंह दिखावैंगे !

कोई २ प्रतिमा वृषभारूढ़ होती है, पर वृषभ का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, यहां केवल इतना और कहेंगे कि नंदिकेश्वर ही की प्रीति के वश वे पशुपति अर्थात् पशुओं के पालनेवाले कहाते हैं अतः पशुओं का पालन विशेषतः वृषभ तथा उसकी अर्धांगिनी का पोषण शैवों का परम धर्म है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह तो बड़े २ ऋषि भी नहीं कह सकते पर जैसी बहुत सी प्रतिकृति देखने में आती हैं उनका कुछ २ वर्णन किया गया। यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें निकलतीं पर इतना लिखना भी कुछ तो किसी का हित करेहीगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है, हम ने न कभी कैलाश देखा है न देखने वाले से भेंट तथा पत्रालाप किया है। हां, यदि होगा तो प्रत्येक मूर्ति पूजक को हो रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इस में संदेह नहीं है। क्योंकि जहां शिव हैं वहीं कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हृदय नगर कैलाश क्यों न होगा ! हे विश्वपते ! कभी इस मनोमंदिर में विराजोगे ? कभी वुह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र तुम्हारे हो जायं और यह पवित्र भूमि कैलाश बने !

जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि मूर्तियों का नाम श्री रामनाथ, वैद्य-नाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वरादि होता है वैसे ही इस अक्षरमयी मूर्ति के भी कई नाम हैं—हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है अर्थात् प्रेममय ईश्वर ! इनका दर्शन भी प्रेमचक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता और उनके उपकारों का ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उसी धारा का नाम प्रेम गंगा है। इन्हीं प्रेम गंगा के जल से स्नान कराने का महात्म्य है, हृदय कमल चढ़ाने का अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब मन में प्रेम होगा तभी संसार के यावत् मूर्तिमान तथा अमूर्तिमान पदार्थ शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप निश्चित होंगे। नहीं तो सोने और हीरे की भी मूर्ति तुच्छ है। यदि उस से स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भाईचारे में नाम होता, विपत्ति में काम होता, पर मूर्ति से तो कुछ भी न होगा। फिर मृत्तिकादि का क्या कहना है, वह तो तुच्छ हई हैं। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं नहीं तो घर की चक्की से भी गए बीते ! यहीं नहीं, प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा ? जब चाहो आंखें मूंद के अंधे की नकल कर देखो, अंधकार के सिवाय कुछ सूझे तो कहना ! वेद पढ़ने से हाथ मुंह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग में गरमी चढ़ जायगी। अस्तु, इन बातों के बढ़ाने से क्या है, जहां तक सहृदयता से बिचारिएगा वहां तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहिन है ! ईश्वर का तो पता ही लगता कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक अर्थात् जड़ है ! उसकी उपमा आकाश से दी जाती है—'खम्ब्रह्म'। और आकाश है शून्य। पर हां यदि मनोमंदिर में प्रेम का प्रकाश हो तो सारा संसार शिवमय है, क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है ! जब शिवमूर्ति समझ में आ जायगी तब यह भी जान जायंगे कि उस की पूजा जो जिस रीति से करता है अच्छा ही करता है। पर तौ भी शिवपूजा की प्रचलित पद्धति का अभिप्राय सुन रखिए जिस से जान जाइए कि मूर्तिपूजन कोई पाप नहीं है। **शिवजीकी पूजा** में सब बातें तो वही हैं जो सब देवताओं की पूजा में होती हैं और सब प्रतिमा पूजक समझ सकते हैं कि स्नान चंदन पुष्प घृत दीपादि मंदिर की शोभा और सुगंध प्रसारण के द्वारा चित्त की प्रसन्नता के लिए हैं जिसमें ध्यान करती बेला मन आनंदित रहे,

क्योंकि मैले कुचैले स्थान में कोई काम करो तो जी से नहीं होता। नैवेद्येत्यादि इसलिए हैं कि हम अपने इष्ट को खाते पीते सोते, जागते सदा अपने साथ समझते हैं। स्तुति प्रार्थनादि उनकी महिमा और अपनी दीनता का स्मरण दिलाने को हैं। पर शिवपूजा में इतनी बातें विशेष हैं—एक तो मदार के फूल, धतूरे के फल इत्यादि कई एक ऐसे पदार्थ चढ़ाए जाते हैं जो बहुधा किसी काम में नहीं आते। इस से यह बात प्रदर्शित होती है कि जिस को कोई न पूछे उसे विश्वनाथ ही स्वीकार करते हैं। अथवा उन की पूजा के लिए ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है जिन में धन की आवश्यकता हो, क्योंकि वे निर्धनों का धन हैं, उन्हें केवल सहज में मिलने वाली वस्तु भेंट कर दो वे बड़े प्रसन्न हो जायंगे, क्योंकि अकृत्रिमता उन्हें प्रिय है।

दूसरे, बिल्वपत्र चढ़ाने का भाव 'त्रिदलं त्रिगुणाकारं' इत्यादि श्लोक ही से प्रगट है। अर्थात् सतोगुण रजोगुण तमोगुण, जो हमारी आत्मा के अंग हैं, उन को भेंट कर देना। यहां तक उनसे दूर रहना कि उन्हें शिव निर्माल्य बना देना! जैसी कि भगवान कृष्णचंद्र की आज्ञा है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन', अर्थात् अपनापन उसी पर निछावर कर देना। बस यही तो धर्म की पराकाष्ठा है।

तीसरे, मूर्ति की चढ़ी हुई वस्तु नहीं ली जाती। इस का प्रयोजन यह है कि हमारा उन का कुछ व्यवहार तो हई नहीं कि लौटा लेने के लिए कोई वस्तु देते हों। वे तो हमारे मित्र हैं 'प्राज्ञोमित्रः'। और मित्र को कोई वस्तु भेंट कर के फेर लेना क्या।

चौथी बात है गाल बजाना, जिस का तात्पर्य पुराणों में सबने सुना होगा कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव का भाग न देख के जब सतीजी ने योगानल में अपनी देह दाह कर दी तब शिव के गणों ने यज्ञ विध्वंस कर डाली और अशिव याजक (दक्ष) का शिर काट के हवन कुंड में स्वाहा कर दिया। पीछे से सब देवताओं की रुचि रखने को उस के धड़ में बकरे का शिर लगा के पुनर्जीवन दिया गया और उस ने उसी मुख से स्तुति की। इसी के स्मरण में आज तक गलमंदरी बजाई जाती है। इस आख्यान में दो उपदेश हैं। एक तो यह कि सती अर्थात् पूजनीया पतिव्रता वही स्त्री है जो अपने प्यारे पति की प्रतिष्ठा के आगे सगे बाप तथा अपने देह तक की पर्वा न करे। वही विश्वेश्वर की प्यारी होती है। दूसरे यह कि शिव विमुख हो के अपनी दक्षता का अभिमान करने वाला यज्ञ भी करे तौ भी अनर्थ ही करता है। वह प्रजापति ही क्यों न हो पर वास्तव में मृतक है, पशु है, बरंच पशु से भी

बुरा नर के रूप में बकरा है। यह तो पुराणोक्त ध्वनि है, पर हमारी समझ में यह आता है कि जिन कल्याणकारी हृदयबिहारी की महिमा कोई महर्षि भी नहीं गान कर सकते, वेद स्वयं नेति २ कहते है, पुष्पदंत जी ने जिनकी स्तुति में यह परम सत्य वाक्य लिखा है कि—

> काजर के गिरि पर्वत को मसि भाजन सर्व समुद्र बनावै।
> लेखनि देवतरून की डारहि कागद भूमिहि को ठहरावै॥
> या विधि सारद क्यों न प्रताप सदा लिखिबे महं बैस बितावै।
> नाथ ! तहू तुम्हरी महिमा कर कैसेहु नेकहु पार न आवै॥

उन की स्तुति करने का जो क्षुद्र मानव विचार करे वुह गाल बजाने अर्थात् बेपर की उड़ाने के सिवा क्या करता है ? इसी बात की सूचनार्थ स्तुति के दो एक श्लोक पढ़ के गाल से शब्द किया जाता है कि 'महाराज ! तुम्हारी स्तुति तो हम क्या कर सकते हैं, यों ही कहौ गाल बजाया करैं'। प्रसिद्ध है कि ऐसा करने से भवानीपति बड़े प्रसन्न होते हैं। भला सच्ची बात और युक्ति के साथ कही जायगी तो कौन सहृदय न प्रसन्न होगा ? फिर वे तो सहृदय समाज के आदि देव (गणेश जी) के भी पिता हैं।

यद्यपि हमारा कोई मत नहीं है, क्योंकि हमारे परम गुरू श्री हरिश्चन्द्र ने हमें यह सिखलाया है कि 'मत का अर्थ है नहीं'। पर जब हम अपने पश्चिमोत्तर देश की ओर देखते हैं तो एक बड़े भारी समूह को शैव ही पाते हैं। हमारे ब्राह्मण भाई, विशेषतः कान्यकुब्ज, तिसपर भी षट्कुलस्थ कदाचित् सौ में निन्नानवे इसी ओर हैं। इधर रहने वाले गौड़ सारस्वत भी तीन भाग से अधिक शैव ही हैं। क्षत्रियों में राजपूत सौ में पांच से अधिक दूसरे मत के न होंगे ! खत्री भी फी सैकड़ा दो ही चार हों तो हों। वैश्य में हमारे ओमर दोसरों की भी यही दशा है। हां, अग्रवाल थोड़े होंगे। कायस्थ तो सौ में क्या सहस्र में दो चार होंगे जो शिवोपासक न हों ! इस से हमारा यह कहना कदापि झूठ न होगा कि हमारे यहां तीन भाग से अधिक इसी ढर्रे में चल रहे हैं। वेद में भी यदि कुछ ऋचा विष्णु इत्यादि नामों से स्तवन करती हैं तो बहुत सी ऋचाएं हमारे भोला बाबा ही की गीत गाती हैं—'नमः शंभवायच मनोभवायच नमः शंकरायच मयस्करायच नमः शिवायच शिवेतरायच'। ऐसा दूसरे नामों से भरा हुवा मंत्र कदाचित् कोई ही हो। इस के अतिरिक्त इस मार्ग में अकृत्रिमता बहुत है। बड़े कट्टर

बना चाहो तो नहा के तीन उंगली भस्म में डुबो के माथे पर रगड़ लिया करो। न जी चाहे तो यह भी न सही। पूजा भी केवल लोटा भर पानी तक से हो सकती है। जिस में निरी अकृत्रिमता, धोती, नेती, कंठी, माला, कुछ न देखिए उसे जान जाइए शैव है। हमारे बहुत से मित्र आर्यसमाजी हैं, बहुतेरे अंगरेजी ढंग के हैं, बहुतेरे हमारे ऐसे हैं, वे भी कभी लगावेंगे तो त्रिपुंड ही लगावैंगे। माला या कंठा रुद्राक्ष हो की पहिनेंगे। फिर हमारी तबीयत क्यों न इस सीधी चाल पर झुके? क्यों न हमारे मुंह से बेतहाशा निकले—बु बु बु बु बु बु बु बु बोम महादेव कैलाशपती, टन् टन् टन्, नेति नेति नेति !

सुचाल-शिक्षा

प्रथम भाग

शैवसर्वस्व, नीतिरत्नावली, कथामाला, वर्णपरिचय,
सूबेबंगाल का इतिहास, पंचामृत, रसखानशतक
आदि ग्रंथों के कर्त्ता कानपुरनिवासी
कात्यायनकुमार 'ब्राह्मण' संपादक
पंडितवर
प्रतापनारायण मिश्र कृत

पटना—खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर।
बाबू चंडीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

१९११

द्वितीय बार २०००

प्रथम संस्करण खड्ग विलास प्रेस से
सन् १८९१ ई० में प्रकाशित

भूमिका

यों तो मानवजीवन को अलंकृत करने के लिए विद्या बल धन प्रतिष्ठादि सभी उत्तम गुण आवश्यक हैं पर सब से अधिक वांछनीय एवं प्रयोजनीय पदार्थ सच्चरित्रता है। यदि और बात किसी कारणविशेष से न भी प्राप्त हो सकें तो अकेले इसी गुण के द्वारा मनुष्य अपने तथा दूसरों के अनेकानेक उपकार कर सकता है एवं सुख और सत्कीर्ति के साथ जीवनयात्रा समाप्त कर के दूसरों के लिए सत्पथावलंबन के हेतु अपना चिरस्थायी अथच आदरणीय नाम छोड़ जाने को शक्तिमान हो सकता है। इसी से वेद में आज्ञा है कि 'यान्यस्माकं ँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि', अर्थात् उपदेष्टागण शिष्यवर्ग से कहें कि हम लोगों के जितने उत्तम काम हैं उन्हीं को ग्रहण करना तुम्हें उचित है, अन्य कर्मों को नहीं। और ऐसे ही उपदेशों की प्रथा के कारण पूर्वकाल में यहां लक्षावधि महात्मा ऐसे हो गए हैं जिन की सुयशकथा आज भी देशदेशांतरस्थ सहृदयसमूह के कानों और प्राणों को आनंदित करती रहती हैं, पर बड़े खेद और आक्षेप का विषय है कि इन दिनों भारत में ऐसे लोग बहुत ही थोड़े देखने सुनने में आते हैं जिन के चरित्रों पर विचारवानों को सचमुच की श्रद्धा उत्पन्न हो सके। साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है, जिन लोगों ने वर्षों विद्याध्ययन कर के बड़ी २ पदवियां प्राप्त की हैं उन के भी चालचलन अधिकतर ऐसे नहीं हैं कि दूसरों के लिए उदाहरण बनाने के योग्य हों। इसके यद्यपि कई कारण हैं पर उन में से एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्हें पढ़ने लिखने के समय वह बातें नहीं सिखलाई जातीं जिन से उन के हृदय में यह संस्कार दृढ़स्थायी हो जाय कि ईश्वर ने मनुष्य को केवल कमाने खाने की चिंता में फंसे रहने के लिए नहीं बनाया। बुद्धिमानों ने जो इसे सृष्टि का शिरोमणि 'अशर.फुल मखलूक़ात' कहा है सो इस आशय से नहीं कि या तो आहार निद्रादि ही में जन्म बिता दे अथवा कुछ प्रभाव दिखलावे भी तो 'विद्या विवादाय धनम्मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय' का उदाहरण बन के नहीं। यदि हम ने यह न जाना कि अपने तथा दूसरों के लिए हमें किस २ रीति से

क्या २ कर्तव्य है तो हमारा दूसरे जीवों से उत्तम बनना वृथा है। बस यही सिखलाने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गयी है। यदि इसमें लिखी हुई बातें हमारे देश के नवयुवकों के हृदय में स्थान प्राप्त कर सकें तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे और ईश्वर की दया से उन का भी जन्म सफल होगा। किमधिकम्।

प्रतापनारायण मिश्र

सुचाल-शिक्षा

पहिला पाठ

पढ़ना और गुनना

इस में कोई संदेह नहीं है कि पढ़ना बहुत ही अच्छी बात है, क्योंकि विद्या के बिना मनुष्य में और पशु में कोई भेद नहीं रहता। जो लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं वे चाहे जैसे धनी क्यों न हों पर अपने छोटे २ कामों के लिए दूसरों का मुंह ताका करते हैं, वरंच व्यय करने की ठीक रीति न जानने के कारण थोड़े ही दिनों में सारी जमा जथा खो बैठते हैं और फिर तीन चार रुपए महीने की नौकरी के लिए इधर उधर मारे २ फिरने लगते हैं, तथा जिन के पास धन नहीं है और पढ़ना लिखना भी नहीं आता उन्हें तो बड़ी ही कठिनता के साथ जीवन बिताना पड़ता है। केवल सूखी रोटी से अपना तथा कुटुम्ब का पेट भरने के लिए गाड़ी खींचने, बोझा ढोने वाले इत्यादि की दशा देख के किस को निश्चय न होता होगा कि 'विद्या विहीनः पशुः'! वरंच पशु तो बहुत से ऐसे होते हैं जो अपने नख दंतादि की तीक्ष्णता के कारण अपनी जाति के राजा कहलाते हैं। सिंह का नाम मृगराज वा बनराज इसी से प्रसिद्ध है कि वह अपने बल और फुर्ती के कारण सारे पशुओं को दबा लेता है। इसके अतिरिक्त कितने ही पशुओं के दूध गोबर आदि से लाखों लोगों का उपकार होता है। कितनों ही के स्वादिष्ट एवं बलकारक मांस अथवा सुंदर चर्म, लोम, नख इत्यादि बहुतेरों के बहुत काम आते हैं। यह भी न हो तो उन्हें अपने निर्वाह के लिए केवल थोड़ी सी घास भूसा इत्यादि बस हैं। शीतोष्ण से बचने को उन का शरीर ही वस्त्रादि से सज्जित है, पर मनुष्य में यह कोई बात नहीं होती, उसके शरीर का कोई अवयव किसी काम का नहीं। केवल विद्या बुद्धि और सुचाल ही से उसकी प्रतिष्ठा है। यदि वह न हुई तो उस की दशा पशु से भी गई बीती है। इससे विद्या के लिए परिश्रम करना मनुष्य मात्र का मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि वह विद्या ही है जो हृदय की आंखें खोलती है, घर बैठे समस्त भूगोल और खगोल के कौतुक दिखाती रहती है। लाखों वर्ष की बीती हुई घटना आंखों के आगे

ला रखती है। विपत्ति से बचे रहने और देशकाल पात्रादि के अनुकूल आचरण करने का मार्ग बतलाती है तथा संसार के समस्त सुखों का तो कहना ही क्या है, परमानन्दमय परमेश्वर तक की प्राप्ति में सहारा देती है। पर स्मरण रखना चाहिए कि इस दिव्य रत्न का मिलना तभी तक संभव है जब तक लड़कपन है और सब प्रकार का संभार करने वाले माता पिता जीते जागते हैं। जिस समय अपना निर्वाह अपने हाथ करना पड़ता है और संसार भर की चिंता शिर पर आ पड़ती है उस समय कोई लाखों में एक ही ऐसा भाग्यवान होता है जो विद्या प्राप्ति का अवसर पा सके, नहीं तो दिन रात घर बाहर के धंधों से अवकाश कहां ? इसी से बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि जिस ने बाल्यावस्था में विद्या न पढ़ी, इस सुअवसर को खेल कूद में बिता दिया, उस ने अपना जीवन अपने हाथों नष्ट कर दिया। पर हमें इस बात से प्रसन्नता है कि हमारी इस पुस्तक के पाठक ऐसे नहीं हैं। हां, यदि पढ़ने लिखने में अब से विशेष मन लगावैं और अधिक परिश्रम करें तो और भी उत्तम है। इसका फल प्रत्यक्ष देखने में आवेगा कि केवल शिक्षक और माता पिता प्रसन्न ही नहीं होते तथा सहपाठियों में प्रतिष्ठा ही नहीं मिलती बरंच अपना हृदय भी एक प्रकार का अकथनीय स्वादु पाता है। किंतु इस के साथ यह भी समझे रहना चाहिए कि केवल पढ़ने ही से काम न चलेगा। उस के साथ गुनने की भी आवश्यकता है। नहीं तो उसी कहानी की सी गति होगी कि एक महाशय ने ज्योतिष बहुत दिन पढ़ी थी किंतु बुद्धि से काम लेना न जानते थे। उन्हें किसी राजा ने बुलाया और अपनी मूंठी में अंगूठी ले के पूछा कि बताइए तो हमारे हाथ में क्या है ? आप ने गणित कर के कहा कि कोई गोल २ वस्तु है और उसके मध्य में छिद्र है तथा किसी धातु एवं पाषाण से निर्मित हुई है। राजा ने यह सुन विस्मित हो के कहा, निस्संदेह तुम्हारा परिश्रम प्रशसनीय है। लक्षण सब मिलते हैं। भला यह तो कहिए कि वह है क्या पदार्थ ? तो विद्वान् महापुरुष ने उत्तर दिया—'चक्की का पेहान है, और क्या है!' इस कथा का यह अभिप्राय है कि जो लोग परीक्षा में उत्तीर्ण होने तथा बड़ी २ वृत्ति अथवा पदवी पाने के लालच से बहुत सी पोथियां रट डालते हैं पर उन में लिखी हुई बातों को भले प्रकार काम में लाने तथा दूसरों को अच्छी रीति से समझा सकने का प्रयत्न नहीं करते वे विद्या के पूर्ण फल से बंचित रहते हैं। इसी से प्राचीनों का वचन है कि एक मन विद्या के साथ दस मन बुद्धि चाहिए। अर्थात् पढ़ो चाहे थोड़ा पर गुनो बहुत। जो कुछ पढ़ो उस में भली भांति बुद्धि दौड़ा के

एवं दूसरे अनुभवशीलों के साथ संलाप कर के उस के विषय को यहां तक हृदयस्थ तथा अभ्यस्त कर लो कि किसी समय किसी प्रकार की त्रुटि का संदेह न रहने पावे। बहुतेरे लोग ऐसे हैं कि पढ़े लिखे तो इतना हैं कि उन्हें किताबों का कोड़ा कहना चाहिए पर अभ्यास में इतने कच्चे हैं कि अपनी जानी हुई बातें दूसरों के आगे प्रकाश ही नहीं कर सकते, अथवा दूसरों को दिन रात समझाया करते हैं किंतु अपने आचरण द्वारा दिखला तनिक भी नहीं सकते। ऐसे लोग उस योद्धा के समान हैं जो हाथ में उत्तम शस्त्र लिए हुए है, पर न उसका चलाना जानता है, न चलाने की सामर्थ्य रखता है। सच पूछो तो ऐसे लोगों से विद्या की विडंबना होती है, और ऐसे ही लोगों को देख कर साधारण लोगों ने यह कहावत प्रसिद्ध कर ली है कि 'बहुत पढ़ने से मनुष्य पागल हो जाता है!' नहीं तो पढ़ लिख कर भी जिस ने अपनी चाल चलन न सुधारी, अपनी चतुरता और अनुभवशीलता से दूसरों के लिए उदाहरण बनने का उद्योग न किया, उसने पढ़ के क्या फल पाया! इसी से कहा गया है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् करण के बिना किसी विद्या की सिद्धि नहीं होती। अतः जो कुछ भी सिखलाने वाले सिखावैं उसे भली भांति मन लगा के पहिले सुनो फिर अपनी बुद्धि से उस का विचार करो। विचार में जो कोई भ्रम उत्पन्न हो तो अपनी तथा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों की सम्मति से उसे दूर करो और फिर प्रत्येक निश्चित विषय पर पूरा अभ्यास करते रहो। इसी को पढ़ना और गुनना कहते हैं। और जो बालक पढ़ने और गुनने में उत्साह रखते हैं वही सुख एवं सुयश देने वाली शिक्षाओं के सुयोग्य पात्र हैं अथच युवावस्था में वही सत्पुरुष वा पुरुषरत्न कहे जाने के योग्य हो सकते हैं।

●

दूसरा पाठ

नित्य कर्म

सबेरे उठ कर रात को सो रहने के समय तक प्रायः जो काम प्रतिदिन सब को करने पड़ते हैं वे नित्य कर्म कहलाते हैं। सोना, जागना, उठना, बैठना,

खाना, पीना, चलना और फिरना इत्यादि नित्यकर्म हैं। इन्हें सभी लोग सदा ही करते रहते हैं और देखते हैं कि इन के बनने बिगड़ने से विशेष लाभ अथवा हानि भी बहुधा नहीं होती, इस से साधारण लोग इन पर विशेष ध्यान नहीं रखते, क्योंकि वे इन्हें साधारण वा छोटे २ काम समझते हैं। पर विचार कर देखिए तो हमारे जीवन का अधिकांश इन्हीं पर निर्भर है। बड़े २ काम तो कभी ही कभी किसी ही किसी को करने पड़ते हैं। अतः इन नित्य के कामों को तुच्छ समझ कर इनकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी से दूर है। अनुभवशील विद्वानों का सिद्धांत है कि जो पुरुष छोटे २ साधारण २ कार्यों को सावधानी और उत्तमता से करते रहने का अभ्यास रखता है वही काम पड़ने पर बड़े २ कामों को उत्तम रीति से निबाह सकता है। नहीं तो नित्य के आहार बिहारादि का नियम ठीक न रहने से शरीर का बल घट जाता है, काम करने का अभ्यास जाता रहता है और बुद्धि की तीव्रता का ह्रास हो जाता है। इसी से जब कोई नया और कठिन काम आ पड़ता है तो जी ऐसा घबराने लगता है मानो किसी ने शिर पर पहाड़ ला के रख दिया। एवं ऐसो दशा में यदि ज्यों त्यों कर पूरा भी हो गया तो उत्साह के साथ होना संभव नहीं, क्योंकि हमारा जीवन सृष्टिकर्ता ने एक भवन के समान बनाया है। जैसे भवन के सुंदर २ बड़े २ कोठे बराठे आदि छोटी २ ईंट अथवा पत्थर इत्यादि से बनते हैं वैसे ही हमारे जीवन के बड़े २ कार्य इन्हीं नित्य के छोटे २ कामों के मध्य वा यों कहो इन्हीं के द्वारा संघटित होते हैं। यदि ईंट पत्थर लकड़ी आदि दृढ़ एवं उत्तम न हों तो घर की दृढ़ता और उत्तमता असंभव है। इसी प्रकार यदि हमारे नित्य के व्यवहार उत्तम रीति से नियम-बद्ध न हुए तो नैमित्तिक कार्यों का यथोचित रूप से पूर्ण होना अनिश्चित समझना चाहिए। इस से जो लोग अपने जीवन की सार्थकता के हेतु चाहते हैं कि दो चार स्मरणीय कार्य कर जायं उन्हें उचित है कि अपने प्रत्येक काम पर प्रतिक्षण ध्यान रक्खा करें। जो कुछ करें बहुत सोच बिचार के करें जिस में यथासामर्थ्य कोई काम ऐसा न होने पावे जो बुद्धिमानों के ठहराए हुए नियमों के विरुद्ध हो। वे नियम प्रायः पढ़ने लिखने वालों से छिपे नहीं हैं। पर स्मरण दिलाने की भांति हम यहां पर संक्षेप से लिख देना उचित समझते हैं।

सोकर उस समय उठना चाहिए जब घंटा डेढ़ घंटा रात्रि शेष रहे। और उठते ही वाह्य के लिए न दौड़ना चाहिए किंतु दश पांच मिनिट ठहर

के आलस्य को निवारण कर के जाना उचित है। फिर हाथ मुंह भली भांति धो के नीम, करंज अथवा बबूल की दातून से मुख शुद्ध कर के यदि शीत अधिक न हो तो उसी समय दो चार मिनिट के उपरांत स्नान भी कर लेना उचित है, नहीं तो नौ दस बजे के करीब स्नान करना भी दूषित नहीं है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नहाने के लिए घर के कुएं की अपेक्षा गंगा जमुनादि बड़ी नदियां अत्युत्तम हैं, पर यदि इनका मिलना कठिन हो तो कुआं ही का जल सही, पर हो ताजा और मीठा। जाड़े के दिनों में गरम पानी से नहाना भी बुरा नहीं हैं, पर इतना गरम न होना चाहिए कि सहा न जाय, नहीं तो मस्तिष्क और नेत्र को बड़ा हानिकारक होता है। स्नान के आधे घंटा पाव घंटा पहिले तिली, नारियल अथवा सरसों का तेल शिर और शरीर में लगाना बड़ा गुणकारक है। तथा सुगंधित साबुन भी यदि मिल सके तो नित्य नहीं दूसरे चौथे दिन अवश्य लगाना चाहिए, एवं नहाना भी बहुत से जल से भली भांति शिर से उचित है। तदनंतर स्वच्छ अथच कोमल वस्त्र से देह अच्छे प्रकार पोछ के यदि अपनी जाति और समाज में चाल हो तो श्वेत चंदन (जाड़े में केशरयुत) अथवा भस्म बहुत सी मस्तक और वक्षस्थलादि पर लगाना आरोग्यवर्द्धक है। यह काम सूर्योदय के लगभग पूरे कर के नगर के बाहर मैदान वा वाटिका की स्वच्छ वायु सेवन के लिए निकल जाना चाहिए। नीरोग रहने के निमित्त यह यत्न बहुत ही उत्तम है। सद्वैद्यों का विचार है कि प्रातःकाल की पवन स्वर्गीय पवन है। उस के द्वारा जीवधारियों के तन और मन प्रफुल्लित होते हैं। इस के अतिरिक्त स्नान करने के उपरांत अथवा दो तीन घंटा पहिले व्यायाम भी कर्तव्य है। पर इतना ही मात्र जितने में बहुत थकाहट न जान पड़े। अनुभवी लोगों का वचन है कि कम से कम पांच और अधिक से अधिक चालीस तक डंड मुगदर बैठक करना चाहिए। और इस के उपरांत जब तक भली भांति थकाहट दूर न हो जाय कुछ भी खाना पीना उचित नहीं है। केवल स्वच्छ वायु में दौड़ते वा टहलते रहना चाहिए। इस अवसर पर यदि अच्छी चिकनी सुगंधित मट्टी लोटने को मिले तो अत्युत्तम है। इस के अनंतर भोजन का समय है। एक तो सात आठ बजे कुछ थोड़ा सा दूध अथवा मिठाई आदि खाना चाहिए, फिर दस बजे से बारह बजे तक दाल रोटी पूरी तरकारी आदि, पुनः तीन चार बजे थोड़ा ही सा फल फलारी वा मिठाई आदि और फिर सोने से डेढ़ घंटा पहिले दाल रोटी आदि। खाने पीने में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि खाद्य पदार्थ शीघ्र

पचने वाले और बल कारक हों। बासी एवं बहुत गरम अथवा बहुत ठंढे न हों। कच्चे और जले हुए भी न हों। इस के सिवा जब तक एक बार का खाया हुआ भली भांति पच न जाय तब तक कुछ खाना उचित नहीं है और खाने से निवृत्त होना उस समय योग्य है जब कुछ भूख बनी रहे। भोजन के उपरांत थोड़ी देर बाईं करवट लेट रहना अथवा कुछ काल धीरे २ टहलना और तीन चार बार थोड़ा २ पानी पीना पाचनशक्ति के लिए बड़ा उपयोगी है। प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होने वाले शाक फल तथा सब प्रकार के अन्न भी स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं। अतः इन्हें भी थोड़ा बहुत खाते रहना चाहिए। बहुत लोग स्वास्थ्य रक्षा के विचार से बहुत से पदार्थ सर्वथा छोड़ देते हैं, यह उचित नहीं है। मादक पदार्थ छोड़ के और सभी वस्तु के खाने का अभ्यास रखना चाहिए नहीं तो संयोगवशतः जब कभी कुछ खाने में आता है तब एक तो अवगुण विशेष करता है, दूसरे चित्त को भ्रमात्मक कष्ट उपजाता है इस से उत्तम यही है कि विकार करने पर छोड़ भले ही दे, पर खाए सब जाय। विशेषतः इस देश के लिए घृत और दुग्ध सर्वोत्तम खाद्य हैं। इसलिए इन्हे अवश्य ही प्रतिदिन खाना चाहिए। और जहां तक हो सके उत्तम से उत्तम ढूंढ़ के लाना चाहिए। यदि किसी कारण से पच न सके तो थोड़े ही थोड़े से अभ्यास बढ़ाना चाहिए अथवा किसी युक्ति से खाना चाहिए। बैद्यों का मत है कि यदि दूध न पचता हो तो चूने का पानी* मिला के पिया करे और घी न पचे तो दाल में डाल के वा गूंधने के समय आटे में छोड़ के खाए। इसी रीति से अवश्य पचने लगेगा। इन नियमों के साथ ही इस का भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिए कि खाने तथा सोने और बैठने आदि का स्थान, पहिनने ओढ़ने बिछाने आदि के कपड़े, खाने पीने आदि के बरतन सदा स्वच्छ रहें। इन में किसी घृणाकारक और दुर्गंधप्रसारक पदार्थ का संपर्क न होने पावे। बरंच जिधर ऐसी वस्तुओं की संभावना हो उधर जाना भी उचित नहीं है। बस, दिन के काम यही हैं। अब रहे रात्रि के कर्तव्य। उस का नियम यों है कि संध्या समय से अर्थात् सूर्यास्त के कुछ पहिले से पढ़ना-लिखना वा पड़े बैठे रहने का स्वभाव छोड़ देना चाहिए। नगर के बाहर वा ऐसे स्थान पर चले जाना उचित है जहां के प्राकृतिक दृश्य मन और नयन को सुख देते हों। वहां दौड़ना

---

* चूने का ढेला पानी में डाल दो। जब चूना गल जाय और पानी में उसका रंग तनिक भी न रहे वही चूने का पानी कहलाता है।

उछलना गाना आदि बलकारक एवं प्रमोद विस्तारक कर्म भी अवश्य करना चाहिए। इन से तन और मन में फुर्ती आती है। फिर वहां से लौट कर श्रम की निवृत्ति के उपरांत भोजन कर के नौ दस बजे तक सो रहना चाहिए। सोने के कुछ ही पहिले दो चार भूनी हुई हर्रें लोन के साथ खाना अथवा दूध पीना भी आवश्यक है। और इस बात की तो बड़ी ही भारी आवश्यकता है कि दिन भर के कामों का स्मरण कर के यह विचार लिया जाय कि कौन काम अच्छा बन पड़ा है कौन बुरा, तथा कल से किस २ काम को छोड़ देने और किस २ का विशेष यत्न करने में कटिबद्ध रहना चाहिए। रात्रि को पढ़ना लिखना नेत्रों के लिए हानिकारक है, पर यदि बड़ी ही आवश्यकता हो तो सरसों अथवा अरंड के तेल को उजियाली में पढ़ लिख ले। किंतु उतने ही काल तक जितने में आंखों में झिलमिलाहट न आवै। यों ही सोते से उठ कर जल पीना भी दूषित है। पर यदि बहुत हो प्यास हो तो नाक के निश्वास को रोक के थोड़ा सा पी ले किंतु यह स्मरण रक्खे कि ऐसा काम करना महा निषिद्ध है जिस के कारण नींद भूख प्यास आदि नित्य की अपेक्षा अधिक सतावैं वा इन के रोकने की अधिक आवश्यकता पड़े। क्योंकि प्रकृति के किसी वेग को रोकना ही सब विकारों का मूल है। बस इन नित्य कर्मों के नियम न बिगड़ने पावैं तो कभी किसी रोग की संभावना नहीं है। यदि ऋतु आदि के बिकार से कुछ हुआ भी तो इतनी हानि न पहुंचावैगा जितनी नियम के विरुद्ध चलने वालों को होती है। इस से इन के साधन में सदा सर्वथा सावधान रहना चाहिए और निर्वाहोपयोगी कार्यों में आलस्य तथा दूसरों की प्रतीक्षा न करनी चाहिए इस प्रकार के स्वभाव बहुत ही बुरे हैं कि प्यासे बैठे हैं, जब सेवक अथवा छोटा भाई ही पानी ले आवै तो पिएं। नहीं, सब काम सदा अपने हाथ से करने में उद्यत रहना चाहिए तभी शरीर नीरोग, मन प्रसन्न और बुद्धि स्फूर्तिमती रहेगी। फिर बस जो करना चाहिएगा आनंद से कर लीजिएगा और जो काम आ पड़ेगा सहज ही सा जान पड़ेगा। क्योंकि देह की शिथिलता और परिश्रम का अनभ्यास न होगा तो किसी काम में बाधा नहीं पड़ सकती। इसी से सब बातों के पहिले नित्य कर्म को नियमबद्ध रखना परमावश्यक है।

●

तीसरा पाठ

साधारण व्यवहार

नित्यकर्मों के साथ साधारण व्यवहारों पर भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिए। इन का भी नियम भंग होने से यद्यपि साधारणतः कोई बड़ी हानि नहीं देख पड़ती, पर वस्तुतः है बहुत ही बुरा। एक न एक दिन इस रीति की उपेक्षा के कारण कोई आत्मिक, शारीरिक वा सामाजिक क्षति ऐसी होती है कि जिस का चिरकाल तक चित्त को खेद बना रहता है। इसलिए जो लोग अपने जीवन को उत्तम बनाया चाहते हैं, उन्हें इस बिषय में सावधान रहना उचित है। यह सावधानता अपने तथा अपने संबंधियों के मन की प्रसन्नता और समय पड़ने पर परस्पर का साहाय्य प्राप्ति का बड़ा भारी अंग है। साधारण व्यवहार से हमारा अभिप्राय उन कामों से है जो हमें नित्य अथवा बहुधा दूसरों के साथ करने पड़ते हैं। उन का नियम भी प्रायः सभी पढ़ने लिखने वाले तथा पढ़े लिखे लोगों की संगति में रहने वाले जानते हैं, पर केवल जानने ही से कुछ नहीं होता, इसलिए हमारे पाठकों को उन का पूर्ण अभ्यास रखना योग्य है। इसी से हम यहां पर लिखते हैं और आशा रखते हैं कि वाचकवृंद अपने बर्ताव में लावैंगे और कभी दैवयोग से चूक पड़ जाय तो आगे के लिए अधिक सावधानी रक्खेंगे। वे बातें ये हैं—अर्थात् अपने वेष और वाणी को ऐसे बनाए रहना चाहिए जिस से किसी को अश्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। घर के भीतर वा जिन लोगों से सब प्रकार घरेऊ संबन्ध है उन के सामने फटे पुराने वा कुछ मैले कपड़े पहिने रहने में उतनी हानि नहीं है, पर घी तेल पसीना अथवा बरसाती सील की गंध उन में भी न होनी चाहिए, नहीं तो अपना और मिलने वाले का मस्तिष्क क्लेश पावेगा। ऐसे अवसर पर हस्तपदादि का खुला रहना भी दूषित नहीं है, पर यदि कहीं पर कोई घृणाकारक घाव या फोड़ा इत्यादि हो, तो आत्मीयों के सम्मुख भी उन्हें छिपाए ही रहना चाहिए। हां, घर से बाहर थोड़ी दूर भी जाना हो तो शिर, हाथ, पांव, पेट, पीठ सब स्वच्छ वस्त्रों से आच्छादित रखना उचित है, जिस में ऐसा कहने का अवसर न पड़े कि कपड़े अच्छे नहीं हैं फिर अमुक के यहां क्योंकर जायं? नहीं! जब बाहर निकलें तो सब कहीं जाने के योग्य वस्त्र रहने चाहिए। यहां यह भी स्मरण रखना योग्य है कि वस्त्रों की अच्छाई केवल स्वच्छता और निज सामर्थ्य

की अनुकूलता पर निर्भर है, न कि बहुमूल्यता पर। जाति की चाल और घर की दशा जैसी हो वैसे ही कपड़े प्रतिष्ठा के लिए बस हैं अधिक दाम यदि भोजन में लगाए जायं तो शरीर की पुष्टि होती है, किंतु वस्त्रों के लिए व्यर्थ किये जायं तो तुच्छता है। जब कि पिता माता भाई आदि साधारण कपड़े पहनते हैं तब हमारा बाबू बने फिरना व्यर्थ ही नहीं, बरंच लज्जास्पद है। हां, फटे और मैले तथा दुर्गंधित वस्त्र न हों, बस। और इन के साथ ही छड़ी, छाता, जूता आदि का भी ध्यान रहे। शीतोष्ण वर्षा तथा अंधेरे उजाले में इन का भी काम पड़ता है। इसलिए सामर्थ्य के अनुकूल यह भी चाहिए। बरसते में अथवा कड़ी धूप में इन के बिना भी चल देना कष्टकारक और हीनताप्रदर्शक है, इस से सावधानी के साथ रहना उचित है, किंतु गरमी सरदी आदि सहने का भी अभ्यास बना रहे तो अत्युत्तम है। इस के अतिरिक्त बोलचाल अथवा बर्ताव पर ध्यान रखना उचित है अर्थात् झूठी, कठोर, गर्वपूर्ण और लज्जा, घृणा तथा अमंगल प्रकाश करने वाली बातें कभी किसी के प्रति न निकालनी चाहिए। यहां तक कि जो लोग जाति और पद आदि में नीच हैं उन से भी तिरस्कारसूचनार्थ भी सज्जनता ही के साथ बोलना योग्य है। विशेषतः जो अवस्था, प्रतिष्ठा, विद्या, अनुभवशीलता, जाति अथवा पदवी में अपने से श्रेष्ठ हों, उन के सम्मुख बहुत संभाल कर बातचीत करना चाहिए। नम्रता, स्नेह और आदर से भरी हुई बातें मधुर और गंभीर स्वर से मुख पर लानी चाहिए। यदि उन का कोई वाक्य अपने विचार के विरुद्ध हो तो भी हठ न कर के उन की श्रेष्ठता रक्खे हुए जिज्ञासु की भांति अपना अभिमत प्रकट करना योग्य है। वे रोष प्रकाश करें तथापि शिष्टता ही से उत्तर देना चाहिए। और कोई हास्य की बात कह कर समता द्योतन करें तथापि उत्तर देना, हास्य तथा बराबरी दिखलाना अनुचित है। हां, मित्रों के साथ बराबरी और परिहास करना उतना दूषणीय नहीं है, पर वहीं तक कि उन का और अपनी योग्यता बनी रहे तथा उन का कोई सच्चा दोष न प्रकाशित हो एवं उन्हें उत्तर देने में संकोच वा लज्जा न लगे। इस के अतिरिक्त साधारण परिचय वालों से भी उपर्युक्त ही रीति से वार्तालाप करना चाहिए किंतु इतना विचार और भी रखना योग्य है कि अपनी विद्वत्ता दिखलाने को ऐसे शब्द न बोलने चाहिए जो वे समझ न सकें और ऐसी बातें भी जिह्वा पर न लानी चाहिए जिन से किसी प्रकार की अपनी वा उन की हीनता प्रगट हो वा खुशामद पाई जाय। यह नियम तो दो चार जनों के बीच में बोलने बतलाने के हैं, पर जब सौ दो सौ मनुष्यों के मध्य बोलना पड़े

तो इतनी विशेषता चाहिए कि स्वर इतना ऊंचा अवश्य रहे कि सब कोई भली भांति सुन ले और बात वही निकले जिस को सिद्ध कर देने की पूरी सामर्थ्य हो तथा जिस का प्रभाव आधे से अधिक लोगों के जी पर हो सके। यदि इतनी क्षमता न हो, तो चुपचाप बैठे रहना वा धर्म्म और राजा प्रजा का विरोध न होता हो, तो अधिकतर लोगों की हां में हां मिला देना ही बहुत है। इन दोनों अवसरों पर किसी की बात काट के बोल उठना वा प्रयोजन से अधिक बोलना भी अनुचित है। बस, अब रहा बर्ताव का ढंग, वह यों है कि सब से अधिक प्रीति और निश्छलता तो अपने कुटुम्बियों के साथ रखनी चाहिए, इन के हित में सदा सब प्रकार तन मन धन से उद्यत रहना चाहिए, इन के सामने सारे संसार का संकोच छोड़ देना उचित है तथा नीतिमान राजा, सदाचारी गुरु और निष्कपट मित्रों को भी इन्हीं के समान जानना योग्य है। इन से उतर के सहवासियों और सजातियों से स्नेह कर्तव्य है। इस के उपरांत स्वदेशियों और फिर यावज्जगत का भला मनाना चाहिए। यों बड़ी २ बातें बनाना और बात है पर सचमुच का बर्ताव इसी रीति से हो सकता है, इसलिए अभ्यास में भी यही ढंग अच्छा है। बस, इस पर दृष्टि रक्खे हुए जो कुछ कीजिए, इस प्रकार कीजिए, किसी आत्मीय वा परिचित व्यक्ति पर उस कार्य का भार मत रखिए जो अपने किए हो सकता हो। किसी से इतना हेल मेल न बढ़ाइए जो सदा न निभ सकै। किसी को उस बात का आसरा न दीजिए जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो, किसी से उन बातों के पूछने में हठ न कीजिए जिन्हें वह छिपाया चाहता हो, किसी के साथ कोई उपकार कीजिए तो पलटा वा प्रशंसा पाने की मनसा से न कीजिए। किसी को अयोग्य स्थान पर बैठे वा खड़े हुए देखिए तो उस समय मुंह फेर लीजिए। किसी में कोई दोष देखिए तो घृणा न कीजिए वरंच प्रीतिपूर्वक सुमार्ग में लाने का यत्न कीजिए। किसी का तब तक विश्वास वा अविश्वास न कर लीजिए जब तक दश पांच बेर परीक्षा न मिल जाय। किसी की निंदा सुन कर प्रसन्न न हूजिए, क्योंकि इस का कोई प्रमाण नहीं है कि निंदक तुम्हें छोड़ देंगे। किसी को कोई लोक हितकारी काम करते देखिए तो उस की प्रार्थना के बिना भी यथासाध्य सहायता कीजिए। कोई अपने आवै तो उसे आदर ही से लीजिए चाहे वह शत्रु भी हो। कोई अपनी ही दुर्बुद्धि वा दुष्कृति के कारण दुख में पड़ा हो, तो भी उसे उपालम्भ की भांति उपदेश न कीजिए, सामर्थ्य भर सहानुभूति ही दिखलाइए। कोई अपने साथ दुष्टता करे तो यदि उस के कारण धन और मान पर आंच न

आती देख पड़े, तो क्षमा कर दीजिए। पर दूसरों के प्रति दुराचरण करते देख कर कभी उपेक्षा न कीजिए। कोई कुछ कहे तो सुन अवश्य लीजिए, पर कीजिए वही जो अपनी और चार अनुभवियों की समझ में अच्छा जान पड़े। कोई समझ बूझ कर सदुपदेश न माने तो उसे शिक्षा देना व्यर्थ है। कोई किसी विषय में सम्मति मांगे वा पंच ठहरावै तो बहुत सोच विचार के उचित उपाय बतलाइए और बड़ी सावधानी से निर्णय कीजिए। कोई दो चार बार धोखा दे तो फिर उसे मुंह मत लगाइए चाहै वह कैसे ही पुष्ट प्रमाणों के साथ मित्रता दिखलावे। कोई मुंह पर स्पष्ट शब्दों में दोष वर्णन कर दे तो उस पर क्रोध न कीजिए, क्योंकि वह यद्यपि अशिष्टता करता है पर किसी समय उससे प्रवंचन की संभावना नहीं है। कोई रोग, विरक्ति वा उन्माद (नशा) की दशा में कुवाक्य कह बैठे तो उस पर ध्यान न दीजिए, क्योंकि वह अपने आपे में नहीं है। कोई उपहास वा विवाद की रीति से धर्म अथवा कुलरीति के विषय में कुछ पूछै तो कभी न बतलाइए। जिस से मित्रता हो उसके साथ लेन देन कभी न कीजिए। जिस के साथ नया २ परिचय हुआ हो उस से निस्संकोच बर्ताव न कीजिए। जिस से किसी प्रकार का काम निकलता हो उसे रुष्ट करना नीति विरुद्ध है। जिस ने एक बार भी उपकार किया हो उस का गुण सदा मानना चाहिए, वरंच प्रत्युपकार का समय आ पड़े तो कभी चूकना उचित नहीं। जिस का बहुत लोग सम्मान करते हों अथवा डाह करते हों पर कुछ कर न सकते हों, उस के साथ यत्नपूर्वक जान पहिचान करनी योग्य है। जिस की अवस्था वा दशा अपने से न्यून हो उस के सम्मुख अपने बराबर वाले से स्वच्छंद संभाषण न कीजिए। जिस के पेट में बात न पचती हो उस के आगे अपना वा मित्रों का कोई भेद न खोलिए। जिस को अपने लाभ के लिए पराई हानि का विचार न रहता हो उस से सदा दूर रहना उचित है। जिस के पास बैठने में लोकनिंदा वा खुशामदी कहलाने की शंका हो उस से प्रयोजन से अधिक कुछ संबंध न रखना चाहिए। जिसका मन वचन और कर्म एक सा हो, वह कोई हो, कैसी ही दशा में हो, पर है आदरणीय। जो काम आज के करने का है उसको कल के लिए छोड़ देना ठीक नहीं। जो कुछ अपने किए न हो सके वह यदि दूसरे भी न कर सकें तो उन पर हंसना न चाहिए। जो दोष हम में है वही यदि दूसरे में भी हो तो उस की निंदा करना न्याय है। जो पुरुष अपने पुराने संबंधियों से खुटाई कर चुका हो उस से भलाई की आशा करनी मूर्खता है। जो बातें बीत गई हैं उन का हर्ष शोक वृथा है। बुद्धिमान को वर्तमान और भविष्यत

पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिए। जो काम करना हो उसकी रीति और परिणाम पहिले विचार लेना उचित है। जो अपना कोई भेद न छिपाता तो उस से छल करना महा निषिद्ध है। जो सब की हां में हां मिलाया करता हो उसे अच्छा समझना समझदारी नहीं है। जो किसी स्त्री अथवा बालक पर कठोराचरण करे उसे राक्षस समझना चाहिए। जो धर्म न्याय वा पराए हित का मिष कर के अधर्म अन्याय अथवा स्वार्थसाधन करे, उस को दूसरे पापी अन्यायी और स्वार्थपरायणों से अधिक तुच्छ जानना उचित है। धन, बल, मान और समय का छोटे से छोटा भाग भी व्यर्थ न खोना चाहिए। स्वास्थ्यरक्षा के लिए धन और गौरवरक्षा के हेतु जीवन का मोह करना अनुचित है। प्रबल दुष्ट के हाथ से किसी निरपराधी को बचाने के निमित्त झूठ बोलना या छल करना अयोग्य नहीं है। दूसरों के साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि वे हम से करैं। जब किसी काम से जी उकता जाय तो कुछ काल के लिए उसे छोड़ कर मनबहलाव में संलग्न होना योग्य है। निर्धनों और बिनपढ़ों को तुच्छ समझना बड़ी भूल है, उन्हे प्रीतिपूर्वक उन के हित की बातें बतलाते रहना चाहिए, इस में अपना भी बड़ा काम निकलता है। औषध और विद्या कभी किसी से छिपाना योग्य नहीं है। आपस वालों से बिगाड़ करना सब से बड़ी मूर्खता है। जिन कामों को अनेक बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है, उन का कर डालना उतना बुरा नहीं है जितना इन्हें चित्त में चिरस्थायी करना अच्छा काम जितना हो सके जितना ही उत्तम है। ऐसी २ बहुत सी बातें हैं जो विद्या पढ़ने और सतसंग करने से आपही विदित हो रहेंगी, इससे हम यहां पर बढ़ाना नहीं चाहते, केवल इतना ही फिर कहेंगे कि जान लेने से ठान लेना अत्यावश्यक है फिर इनका फल आपही थोड़े दिनों में प्रत्यक्ष हो जायगा, इससे इन्हें सदा सब कामों में स्मरण रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब किसी के घर पर जाने की आवश्यकता हो तो उसके भोजन शयन कार्य संलग्नता का समय बचाके जाओ और द्वारके अति सम्मुख खड़े होकर मत पुकारो, एक बार पुकार के कुछ काल ठहर जाओ, इस रीति से दो तीन बार पुकारने पर उत्तर न मिले तो लौट आना उचित है। यदि घर के भीतर जाने का काम पड़े तो स्त्रियों से बड़े अदब के साथ नीची दृष्टि करके बोलो तथा ऐसे आसन पर न बैठो जिस पर उस गृह के बड़े बूढ़े लोग बैठते हों। जिसके यहां कुछ निमंत्रित लोग भोजन अथवा नृत्यादि के लिए एकत्रित हों। यसके यहां बिना बुलाए जाना उचित नहीं है, तथा यदि कोई अपने नहां ऐसे अवसर पर बुलावै तो शयन

भोजनादि ऐसी रीति से कर्तव्य हैं कि गृहस्वामी को कष्ट न हों। और बातें भी ऐसी ही करनी चाहिए जो वहां के लोगों को अरुचिकारिणी न हों। यदि किसी को अपने यहां बुलाओ तो पहिले यह प्रबंध कर लो कि उसे किसी प्रकार की असुविधा न होने पावे तथा यदि अपने को कष्ट हो तो उसपर विदित न होने पावे। जब दूसरे नगर में जाना हो तो आवश्यकता से कुछ अधिक धन, निर्वाह योग्य कपड़े और तथा एक छुरी। एक छड़ी, थोड़ी सी लिखने की सामग्री एवं दो एक मुद्रिका (उंगली में) अवश्य साथ लेना चाहिए। और जिसके यहां ठहरना हो उसे दो तीन दिन पहिले से समाचार दे देना चाहिए रात्रि को उसके यहां जाना ठीक नहीं। दिन को भी स्नान भोजन से निवृत्त हो के जाना उचित है। बस, इस प्रकार का व्यवहार सदैव दृढ़ता के साथ अंगीकार किए रहने का विचार रक्खोगे तो देखोगे कि दूसरे लोग तुमसे और तुम दूसरों से कितने सुखी एवं संतुष्ट रहते हो तथा जीवन के बड़े २ अत्यन्त कठिन २ कर्तव्यों में कितना सहारा मिलता है।

●

चौथा पाठ

समय पर दृष्टि

जिन्हें अपना जीवन असाधारण बनाना है उन के लिए यह भी एक अत्यावश्यक कर्तव्य है कि समय पर सदा दृष्टि रक्खें। उस का छोटे से छोटा अंश भी व्यर्थ न जाने दें, क्योंकि यह वह अमूल्य पदार्थ है कि बीत जाने पर कभी किसी प्रकार फिर नहीं मिल सकता। जो घंटा, जो घड़ी, जो पल अभी बीत गया है उसे हम लाखों करोड़ों अरबों रुपया खो कर अथवा बरसों कठिन परिश्रम में संलग्न हो कर भी अब नहीं प्राप्त कर सकते। जो व्यतीत हो गया वह बस सदा सर्वदा के लिए हाथ से जाता रहा। बहुधा युवक लोग बाल्यावस्था की निर्द्वंदता औ वृद्धजन यौवनकाल के भोग विलासों का स्मरण कर के वर्तमान दशा की निंदा किया करते हैं और पुरानी बातों के लिए पछताया करते हैं।

पर वह पछताना व्यर्थ है, क्योंकि जो दिन बीत गए, वे बस, गए, अब उन का लौट आना किसी रीति से संभव नहीं है। हां, उन पिछले दिनों के कर्तव्यों में यदि न चूकते अथवा यों कहो कि उस समय को व्यर्थ न खोते, तो आज पछिताना न पड़ता। पर यह विचार साधारण लोगों को पहिले से नहीं होता, इसी से उन्हें अंत में पछिताना पड़ता है। यदि हमारे पाठक इस पुस्तक को केवल देख डालना* न चाहते हों बरंच पढ़ लेने अर्थात् पढ़ कर इस के उपदेश सच्चे जी से ग्रहण करने और उन के द्वारा अपना जीवन सुधारने की इच्छा रखते हों, तो उन्हें उचित है कि समय की अमूल्यता पर अवश्य ध्यान रक्खा करें। घड़ी की सूई जितने काल में एक चिन्ह से दूसरे चिन्ह तक जाती है वह काल मिनट कहलाता है। जितने समय में आंख एक बार मूंद कर झट से खोल दी जाती है, वह समय पल कहलाता है। मिनिट वा पल का साठवां भाग सेकिंड वा विपल बोला जाता है। यह सेकिंड अथवा विपल यों साधारण दृष्टि से देखो तो बहुत ही तुच्छ जान पड़ते हैं, पर विचार कर के देखने से विदित हो जाएगा कि मिनिट वा पल घड़ी† और घंटा तथा दिन रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी सब इन्हीं से बनते हैं। फिर इन्हें तुच्छ समझना कहां की बुद्धिमानी है? तीन लोक और तीन काल में जो कुछ होता है सब इन्हीं मिनिटों, घंटों और दिनों के मध्य हुआ करता है। इसलिए इन्हें तुच्छ समझ कर व्यर्थ बिताना उस अनंत काल को तुच्छ समझना है जिसे प्राचीन बुद्धिमानों ने ईश्वर का रूप कहा है। जिस का आदि और अंत कोई नहीं बतला सकता, जिस का स्वरूप केवल अनुमान का विषय है, जिस से अलग कभी कहीं कोई कुछ हो ही नहीं सकता ऐसे काल को ईश्वर अथवा उस के महोत्कृष्ट अंश के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं? और ऐसे उत्कृष्ट एवं अमूल्य पदार्थ को जिस ने व्यर्थ नष्ट कर दिया उसे यदि निज जीवन का नष्ट करने वाला कहें तो क्या अत्युक्ति है? जिस काल का आदि अथच अंत कोई निश्चित नहीं कर सकता, उस के अंतर्गत हमारा जीवन है ही कितना? बहुत जिएंगे सब वर्ष जिएंगे, उस में भी आधे के लगभग समय रात्रि के सोने में बीत जाएगा। रहे पचास वर्ष, उन में भी जन्मदिन से आठ दश वर्ष तक लड़कपन रहता है, जिस में खेलने खाने के अतिरिक्त न कुछ अपना हित हो सकता है न पराया। और उधर अस्सी पचासी वर्ष की

* देख कर डाल देना वा फेंक देना।

† ढाई घड़ी का घंटा होता है।

अवस्था में बुढ़ापा आ घेरता है, जिस में समझते बूझते चाहे जैसा हों, पर इस्तपदादि की असमर्थता के कारण कर धर कुछ भी नहीं सकते। इस लेख से यदि मान ही लें कि सौ वर्ष अवश्य जिएंगे (यद्यपि इस का निश्चय नहीं है) और कभी रोग वियोग चिंता परवशतादि में ग्रस्त न होंगे, तौ भी हमें केवल बीस पचीस वर्ष का समय ऐसा मिल सकता है जिस में जीवन के सार्थक करने योग कोई उद्योग कर सकें। यदि इतने स्वल्प काल को हम दयामय परमात्मा का अमूल्य महाप्रसाद समझ के बड़े ही आदर, बड़े ही प्रयत्न, बड़ी ही सावधानी से काम में न लावैं तो हमारी गति ऐसे मूर्ख के समान होगी, जिसे भाग्यवश थोड़े से अमूल्य रत्नों के छोटे २ टुकड़े मिल जायं, जो देखने में छोटे पर दामों में लाखों करोड़ों को भी सस्ते हैं, और यदि दस बीस मिला के परस्पर जोड़ दिए जायं तो महामूल्यवान और परम दुर्लभ हो सकते हैं, किंतु प्राप्त करने वाला उन की बहुमूल्यता जानबूझ कर भी एक २ दो २ कर के इस विचार से फेंक दे कि ऐसा छोटा सा टुकड़ा जाता ही रहेगा तो क्या हानि होगी ! ऐसी बुद्धि वाले को सब लोग जान सकते हैं कि एक न एक दिन अवश्य दरिद्रता सतावेगी और अपने किए पर रोना पड़ेगा, पर जो समय का उचित आदर नहीं करता उस की दशा इस निर्बुद्धि से भी अधिक बुरी होनी संभव है। उसे अकेली दरिद्रता ही नहीं, बरंच दुःख, दुर्बुद्धि, दुष्कर्म, दुर्दशा सभी सता सकते हैं। जो लोग समय के छोटे २ भागों का निरादर कर के घंटों और पहरों तक शतरंज, चौपड़ आदि व्यर्थ खेल, असमय शयन, मेरे तेरे निरर्थक प्रपंच वा इधर उधर की निष्प्रयोजन बातें किया करते हैं, वे कुछ ही दिनों में किसी न किसी दुर्व्यसन के लती हो जाते हैं, अथवा छोटे २ आवश्यक कार्यों से जी चुराने लगते हैं और इस का फल यह होता है कि जहां कोई बड़ा काम आ पड़ा, वहीं शिर पर पहाड़ सा आ गिरता है। उसे विवश हो कर करते भी हैं तो रो रो कर। ऐसे लोगों को उचित समय पर नहाने खाने सोने आदि का अवसर नहीं मिलता। शरीर वस्त्र गृहादि की स्वच्छता एवं निर्वाहोपयोगी वस्तुओं के प्रबंध करने का अवकाश नहीं मिलता। आवश्यक विषयों के सीखने सिखाने का अथच अपनी तथा गृह-कुटुम्बादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए दौड़ने धूपने का समय नहीं मिलता। बरंच यह वाक्य मुखाग्र हो जाता है कि, 'क्या करें, छुट्टी ही नहीं मिलती, नहीं तो क्या कुछ कर नहीं सकते !' बस यों ही कहते २ विद्या, बल, धन, साहस, प्रतिष्ठादि सब हुई भी तो जाती रहती है और न हुई तो उपार्जन करने की छुट्टी कहां ? यदि पहिले अभ्यास के वश कोई सद्गुन

वा सत् पदार्थ बना भी रहे तो तदुपयोगी अन्यान्य गुण पदार्थादि के अभाव से उस का होना न होना बराबर हो जाता है। और ऐसी दशा में जौन सा रोग दोष, दुःख दरिद्र दुर्गति न दबा ले सोई थोड़ा है। यदि परमेश्वर की दया से कोई व्यतिक्रम न भी हुआ तौ भी ऐसों के जीवन से यह आशा करनी दुराशा मात्र है कि कोई भी ऐसा वृहत् कार्य हो सकेगा जो सत्पुरुषों के लक्षण में गणनीय हो! इसलिए हमारे पाठकों को समझ रखना चाहिए कि घटिका अर्थात् घड़ी का दूसरा नाम दण्ड है, और दण्ड कहते हैं ताड़ना अर्थात् डंडे (लाठी) को। इस का अभिप्राय यह है कि जिन घड़ियों घंटों को हम साधारण सा समझते हैं वे वास्तव में कालपुरुष के डंडे हैं। जगन्नियंता जगदीश्वर इन्हीं के द्वारा समस्त संसार का प्रबंध करता है। जिस प्रकार सांसारिक राजाओं के राजकार्य दण्ड (सज़ा वा सोने चांदी लकड़ी आदि का दंडा) से चलते हैं, यों ही सब राजाओं के अधिराज परमेश्वर के संसार-राज्य का काम इन दण्डों के द्वारा संपादित होता है। कोई कैसा ही बली, धनी मानी, विद्वान् क्यों न हो इन दण्डों की गति का अवरोध नहीं कर सकता। जिन प्राकृतिक नियमों के लिए जो काल निश्चित हैं उन में कोई एक दण्ड कैसा, एक विपल का भी घटाव बढ़ाव नहीं कर सकता। इसी से प्रसिद्ध है कि काल बड़ा बली है। वह बात की बात में कुछ का कुछ कर दिखाता है और किसी का कुछ बस नहीं चलता। भला ऐसा बली जिस के विरुद्ध हो अथवा यों कहो कि जो ऐसे बली का अनादर करे अर्थात् उस के अनुकूल आचरण न करे, उस के अनिष्ट का भी कुछ ठिकाना है? जब कि साधारण राजदंड एवं काष्ठदंड हमारे प्राण तक ले सकते हैं तो ईश्वरीय दंड प्रतिकूलता की दशा में क्या कुछ न कर सकेंगे। इसलिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इन्हें अपने अनुकूल ही रखना उचित है। जीवनदाता ने कृपा कर के जितने दंड हमारे हाथ में सौंप दिए हैं, उन्हें यदि हम उचित रीति से काम में लाने का अभ्यास रक्खें, तो वे सब कायिक बाचिक मानसिक अरिष्टों को चूर्ण कर सकते हैं, नहीं तो अपने हाथ पावं शिर इत्यादि को तोड़ बैठना बना बनाया है। कुछ दिन कुछ न कीजिए तो कुछ ही दिन में कुछ करने को जी न चाहेगा और होते २ कुछ भी कर सकने की शक्ति न रहेगी। इस से सदा सब प्रकार समय की महिमा का विचार रखना ही श्रेयस्कर है। इस की रीति यह है कि पहिले तो नित्यकर्मों का समय नियत कर लेना चाहिए। जब तक बड़ी ही आवश्यकता एवं विवशता न हो तब तक सोने जागने, खानेपीने, कहीं जाने आने आदि के समय में एक मिनिट का गड़बड़ न होने पावै। जब इस का अभ्यास पड़

जाएगा तब प्रत्यक्ष देखने में आवैगा कि मन प्रसन्न, तन फुर्तीला और बुद्धि तीव्र होती है तथा प्रतिदिन इतना उचित अवकाश प्राप्त हो सकता है कि हम जो कुछ करना चाहैं उस योग्य सहारा पा सकते हैं। उस बचे हुए काल में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यर्थ एक पल न बीतने पावै, कोई न कोई हितकारी काम होता ही रहे, और जो कुछ हो वह पूरे चाव के साथ हो। कार्य छोटा हो वा बड़ा पर उस की पूर्ति में आलस्य वा उपेक्षा की छींट न पड़ने पावै, यह विचार प्रतिक्षण बना रहे कि इसे पूरा ही कर के छोड़ेंगे, और किसी प्रकार यह पूरा हो जाय तो समय से दूसरा काम निकले। बस, इस रीति से समय पर दृष्टि बनी रहे तो सभी कुछ बन सकता है।

●

पांचवां पाठ

अवकाश के कर्तव्य

अवकाश उस समय को कहते हैं जिस में किसी ऐसे काम करने की आवश्यकता न रहती हो जिस के किए बिना किसी हानि की संभावना हो। जो लोग अपने कर्तव्यों को नियत समय पर मन लगा के कर लिया करते हैं, उन्हें थोड़ा बहुत अवकाश अवश्य मिल रहता है। नित्यकर्मों के अतिरिक्त बालकों के लिए पढ़ना लिखना, युवकों के हेतु कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि द्वारा धनोपार्जन और वृद्धों के निमित्त भगवत् भजन, धर्मचिंतन तथा गृहप्रबंधादि मुख्य कर्तव्य हैं। और इन में जितना अधिक २ काल व्यतीत किया जाय उतना ही उत्तम है। पर यह कदापि संभव नहीं है कि इन के कारण अवकाश न प्राप्त हो सके। जो लोग कहा करते हैं कि हमें अमुक कार्य के मारे छुट्टी नहीं मिलती उन्हें उचित है कि उस काम की थोड़ी सी हानि सह कर भी छुट्टी मिलने का यत्न करें, नहीं तो स्वास्थ्य में बाधा पड़ेगी और कार्यसिद्धि का फल अप्राप्य वा दुष्प्राप्य हो जायगा। दिन भर में यदि अनुमान तीन घंटे स्वच्छंदता के साथ यथेच्छित कृत्य करने को न मिले तो हम बड़े भारी

विद्वान, धनवान और प्रतिष्ठावान होने पर भी सचमुच के सुखी नहीं हो सकते। और यदि सुख की कल्पना कर भी लें तथापि हमारे जीवन से किसी ऐसे कार्य की आशा होनी कठिन है जो सहृदय समूह की दृष्टि में वस्तुतः प्रशंसा के योग्य हो। इसलिए किसी ऐसे काम को भय, संकोच अथवा लालच के कारण उठा लेना, जिस में अवकाश मिलना सचमुच कठिन हो, अपने साथ बैर बांधना है। सब आवश्यक कार्यों का उचित रीति से निर्वाह करते हुए भी जैसे बने वैसे अवकाश का समय अवश्य निकाल लेना चाहिए। और उसे ऐसे कामों में बिताना चाहिए जिन के द्वारा शारीरिक, मानसिक वा आत्मिक उन्नति में सहारा मिले। बहुतेरे लोग जिस किसी काम को कुछ दिन करते रहते हैं उस में ऐसे लिप्त हो जाते हैं कि यदि किसी पर्व आदि के संयोगवश उस से कुछ काल के लिए छुट्टी पाते हैं तो विकल से बन जाते हैं। ऐसों के मुख से बहुधा सुनने में आता है कि क्या करें, कोई काम है न धंधा, दिन कटे तो कैसे कटे ? उन का यह कहना अनुचित नहीं है। जो पुरुष किसी काम धंधे के बिना दिन काटता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ करता है। परंतु इस में भी संदेह नहीं है कि करने वाले के लिए कामों की कमी नहीं है, अतएव एक काम के अभाव में उकता उटना अनुचित है। वह समय दूसरे कामों में व्यतीत करना चाहिए। किंतु समय बिताने की यह युक्ति भी अच्छी नहीं है कि कोई मादक वस्तु सेवन कर के आपे से बाहर वा जागते हुए सोते के समान बन बैठना अथवा हठपूर्वक नींद बुलाने के लिए पड़ रहना वा द्यूतादि निन्दित कर्मों में संलग्न होना इत्यादि। बहुत लोग ऐसे भी हैं जो इस प्रकार के कामों को जी से अच्छा नहीं समझते। केवल अवकाश का काल काटने वा कोई काम काज न होने की दशा में मन बहलाने मात्र को इन का अवलम्बन करते हैं। पर उन्हें समझना चाहिए कि संसार में जब कि मनबहलाव के सैकड़ों हितकर उपाय विद्यमान हैं, तब ऐसे कामों में समय बिताना वृथा है जिन्हें न कोई बुद्धिमान अच्छा समझता है न अपनी ही बुद्धि रुचिकारक मानती है। ऐसा करना तो अवकाश के समय को इतना तुच्छ समझना है कि हठ से भाड़ में झोंके बिना मन की तृप्ति ही संभव नहीं। अथवा मन को इतना अकर्मण्य मान लेना है कि जिन थोड़े से कामों का उसे अभ्यास पड़ रहा है उन के बिना उसे कहीं आश्रय ही नहीं है। इसी से उस को विवशतः कुआं खाता ढूंढ़ना पड़ता है। पर विचार कर देखिए तो ऐसी समझ निरी नासमझी है। वास्तव में अवकाश का समय हमारे उचित मनोविनोद का एकमात्र हेतु एवं भविष्यत उन्नति के लिए अद्वितीय

मार्ग है, अथच मन हमारा परम सहायक है और इस सहायक का स्वभाव यह है कि जिधर लगा दें उधर ही लग जाने में प्रसन्न रहता है। फिर भी यदि हम अवकाश और मन से उत्तम रीति की सहायता न प्राप्त करें, तो हमारी बड़ी भूल है। इसलिए हमें उचित है कि जब काम काज से छुट्टी पाया करें तब पहिले तो निर्वाह के लिए कर्तव्य कर्मों के जिस अंश में कोई त्रुटि हो उसे दूर करने प्रयत्न किया करें। पठन पाठन की पुस्तकों में से जिस पुस्तक के जिस भाग को पूर्ण रूप से न समझ वा समझा सकते हों, धनोपार्जन के मार्ग में जिस किसी बात की पूर्ण विज्ञता न रखते हों, अथवा गृह प्रबंधादि के जिस विषय में न्यूनता देख पड़ती हो उसे पूरा करने में तन मन से उद्योग करें। इस में चित्त को एक प्रकार की उलझन जान पड़ेगी पर आगे के लिए बड़ी सुविधा हो जाएगी। कोई सभी बातों में कच्चा नहीं हुआ करता। इस से जहां और सब काम किए जाते हैं वहां इतने छोटे से विषय को भी अरुचिकर समझ के छोड़ न देना चाहिए। ऐसा करने से जिस कार्य के जिस अंश में आज अड़चल सी देख पड़ती है उस में थोड़े ही दिनों के पीछे थोड़े ही परिश्रम से प्रखरता प्राप्त हो जाएगी और आवश्यक कर्तव्य का बंधन एक प्रकार का मन बहलाव जान पड़ेगा। इस के अनंतर यदि घर भरापूरा हो अथवा सामर्थ्य-वानों के साथ संबंध हो तो अश्वारोहण, शस्त्रसंचालन, तथा आखेट इत्यादि भी अवकाश के कर्तव्य हैं। इन के द्वारा शरीर और मन दोनों दृढ़ होते हैं पर यह सब को प्राप्य नहीं है अतः जिन्हें इन की प्राप्ति कठिन हो उन्हें उदास न होना चाहिए। यह नियम केवल इसी बात के लिए नहीं है। जिसे जो वस्तु न प्राप्त हो उसी को उचित है कि दूसरों की दशा पर सन्ताप न कर के केवल प्राप्ति का उपाय करे। इस के अतिरिक्त मृगया रसिकों को यह भी उचित है कि पक्षियों और शशकादि छोटे जीवों के प्राण न ले कर सिंह व्याघ्र, शूकर एवं हरिणादि हानिकारक ही जंतुओं का दमन किया करे, क्योंकि वीरता और लोकहितैषिता इसी में है। इस के उपरांत गाना और तैरना भी छुट्टी के समय सीखना चाहिए। यह भी निर्दोष मनोविनोद हैं, एवं चिंता तथा विपत्ति में कभी २ बड़े उपकारक होते हैं। सामर्थ्य हो तो नगर नगरान्तर वा देश देशान्तर का पर्यटन भी करणीय है। और सब प्रकार के लोगों का रंग ढंग, रीति व्यवहार, जहां तक हो सके ज्ञातव्य है। इस से अनुभवशीलता की वृद्धि होती है। विद्या संबंधिनी सभाओं में जाना भी आवश्यक है एवं पुस्तक कैसी ही हाथ पड़ जाय एक बार आद्योपान्त उसे देख लेना

उचित है। फिर विचारशक्ति के अनुसार उस के आशय का त्याग वा अंगीकार अपने आधीन है, पर पढ़ लेना कुछ न कुछ लाभ ही करता है। विशेषत इतने प्रकार की पोथियां तो अवश्य ही देखनी चाहिएं, यथा—नीति के ग्रंथ क्योंकि देश काल पात्र के अनुसार निर्बाह करने का मार्ग इन्हीं के द्वार जाना जाता है। इतिहास ग्रंथ—क्योंकि संसार की गुप्त एवं प्रगट लील यही दिखलाते हैं। प्रसिद्ध लोगों के जीवनचरित्र—क्योंकि जीवन क असाधारण बनाने की रीति इन्हीं से जान पड़ती है। सामयिक राजनियम—क्योंकि इस के जाने बिना छोटे २ गृहकार्यों तक में भय बना रहता ह वैद्यक—क्योंकि इस के बिना अपना शरीर ही अपने हाथ नहीं रहता प्रसिद्ध सत्कवियों के लिखे हुए ग्रंथ—क्योंकि सहृदयता इन के बिना आ ह नहीं सकती है जो सब सद्‌गुणों का आधार है। यों विद्या का अंत नहीं है। और जिस प्रकार की विद्या जितनी अधिक आ सके उतना ही उत्तम है। किंतु उपर्युक्त विद्याओं के बिना जीवन का प्रशस्त होना दुर्घट है। इस से इन का अभ्यास यत्नपूर्वक कर्तव्य है। और साथ ही यथासाध्य दूसरे लोगों में इन का प्रचार भी करते रहना चाहिए। साधारण लोगों को समयोपयोगी बात बतलाते रहना, हितकारक ग्रंथों का सब के समझने योग्य भाषा में अनुवाद करते रहना भी योग्य है। इस के अतिरिक्त कोई न कोई हस्तकौशल भी अभ्यस्त करते रहना उचित है। क्योंकि कभी २ यह विद्या से भी अधिक उपकारक होते हैं। यह सच है कि सब लोग सब बातें नहीं जानते, परंतु जो अवकाश के समय को अच्छे प्रकार काम में लाया करते हैं वे बहुत कुछ जान जाते हैं। इस से हमारे पाठकों को यह ध्यान सदा बनाए रखना चाहिए कि समय मिलने पर सभी कुछ संग्राह्य है। कौन जानता है किस समय किस बात का प्रयोजन आ पड़ेगा। बस, यह धारणा बनी रहने से हमें वह ढर्रा प्राप्त हो जायगा जिस में पदार्पण करने से जीवन सफल होता है।

●

छठां पाठ

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सब में मन का लगाव अवश्य रहता है। जिन में मन प्रसन्न रहता है वे ही उत्तमता के साथ होते

हैं। और जो उस की इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य भी हों किन्तु भले प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते। न उन का कर्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव इस का चंचल है, यह यदि स्वच्छन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। और यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न कर के जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है। इसलिए इसे यत्नपूर्वक दबाए रहना चाहिए, अर्थात् जिस बात की यह इच्छा करे उस के विपरीत ही आचरण रखना चाहिए, जिस से यह स्वेच्छाचारी न रह कर वशवर्तिता का अभ्यासी हो जाय। यह रीति हमारी समझ में केवल उन महात्माओं ही के लिए अत्युत्तम है जिन्हों ने संसार से कोई प्रयोजन नहीं रक्खा, किन्तु जिन्हें जगत में रह कर प्रशंसनीय जीवन का उदाहरण दिखलाना है, उन के पक्ष में राजा को दबाव में रख कर खेदित करना ठीक नहीं है। ऐसा करने से शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती, जो कर्त्तव्य मात्र का मूल है। अतः इसे युक्ति के साथ ऐसा बना लेना चाहिए कि प्रत्येक करणीय कार्य में प्रसन्नतापूर्वक संलग्न हो जाया करे। इस के लिए प्रथम कर्तव्य यह है कि इसे उत्साहरहित वा परम क्लेशित कभी न रहने दे। किसी न किसी उत्तम एवं लाभदायक विचार में प्रतिक्षण लगा ही रक्खे अर्थात् आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति के समय तो प्रत्येक कार्य के प्रत्येक अंश पर भली भांति ध्यान दे और जब कोई काम न हो तब कोई सद्ग्रंथ ऐसा ले बैठा करे जिस में विचारशक्ति का अवश्य काम पड़ता हो, जैसे गणितशास्त्र और काव्यशास्त्र इत्यादि, जिन में सोचे बिना काम ही नहीं चलता और सोचते हुए आनन्दप्राप्ति की आशा तथा विचार के साफल्य में आनन्द का लाभ भी अवश्य होता है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो सोच विचार रुचिपूर्वक किए जाते हैं वे देह की क्षीणता अथच चित्त की मलिनता का हेतु कदापि नहीं होते, वरंच दृढ़ता एवं पुष्टता सम्पादन करते हैं। इस से इस प्रकार के सोच को सोच न समझ कर मनबहलाव की कोटि में गिनना उचित है। और जब इस से जी उचटे तब किसी बुद्धिमान के साथ सम्भाषण में संलग्न होना योग्य है, जिस का फल प्रायः सभी जानते हैं कि हृदय की संतुष्टि और विचार की पुष्टि अवश्य लब्ध होती है। इस से भी मन उकताय तो प्रकृति के किसी अंग की वर्तमान दशा देख कर उस के पूर्वापर कार्य कारणादि की आलोचना कर्तव्य है। इन तीनों युक्तियों के उलट फेर से अर्थात् एक से उच्चाटन उपजे तो दूसरी का अवलम्बन करने से चित्त को

कौतुकप्रिय और प्रसन्न होने तथा प्रत्येक समय में कार्यलग्न रहने का अभ्यास पड़ जायगा, क्योंकि ये तीनों बातें स्वभावतः आनन्द और सहृदयता का उत्तेजन करने वाली हैं। हम नहीं जानते, वे कैसे लोग हैं जो कहा करते हैं कि "किसी बात में जी नहीं लगता।" निश्चय वे जी लगाना जानते ही नहीं हैं, नहीं तो सृष्टिकर्ता ने संसार में ऐसे २ सुयोग्य पात्र स्थापित कर रक्खे हैं जिन में चित्त आकर्षण कर लेने की सहज शक्ति है। पुस्तकें एक से एक उत्तम अनेकानेक मिल सकती हैं। और यदि अधिक न मिलें तो दो ही एक पोथी विचारने के लिए वर्षों सहारा दे सकती हैं। सज्जन भी जहां ढूंढ़ो वहां प्रगट वा प्रच्छन्न रूप में मिल ही रहते हैं। अकबर बादशाह का स्वभाव था कि वे बालकों, किसानों और अति सामान्य श्रेणी के ग्रामीणों तक की बातें इस विचार से बड़े दत्तचित्त होकर सुना करते थे कि न जाने किस समय किस के मुख से कौन सी प्रकृतिसिद्ध मुहावरी और शिक्षापूर्ण वार्ता सुनने में आवै। इस धारणा से उक्त नरेश ने बड़ी भारी अनुभवशीलता प्राप्त कर ली थी। अतएव कभी किसी स्थल पर सज्जन समागम के अभाव की आशंका से मन मार के बैठ रहना उचित नहीं है। चार घर के खेरे में भी एकाध निरक्षर बुड्ढा ऐसा मिल सकता है जो अनुभव में अच्छे २ नवयुवक विद्वानों से दो चार बातों के लिए अवश्य श्रेष्ठ होगा। हां, जहां ढूंढ़ने से भी उपदेशक मिल सकें, वहां उपदेश पात्रों का तो कहीं अकाल है ही नहीं, सरलता और साधुता के साथ मनुष्य मात्र को सुशिक्षा दी जा सकती है। और एक पुरुष को भी अपने ढंग पर ले आने में मन को इतना संतोष होता है कि जिस ने अनुभव किया होगा उस का जी ही जानता है। सृष्टिविद्या का व्यसन भी ऐसा मनोरम होता है कि यदि एक तुच्छ तृण की दशा को विचार चलिए तो अनुमान शक्ति समझावैगी कि एक दिन किसी बन बाटिका, खेत वा मैदान की शोभा का वह अंग रहा होगा, कितने ही साधारण तथा असाधारण व्यक्ति उसे देखने आते होंगे, कितने ही क्षुद्र कीट एवं पुरुष-रत्नों ने उस पर विहार किया होगा कितने ही क्षुधित पशु उस के लिए लालायित हो कर रह गए होंगे और आज वह कितने ही दैविक दैहिक सुख दुःख देखता हुआ इस दशा को पहुंचा है तथा अब भी न जाने किस की आंख में पड़ के दुःख का हेतु हो किस टौर पर जल वा पवन के मध्य नृत्य करे वा कहां पर अग्नि के द्वारा भस्म में रूपान्तरित हो जाय। ऐसे २ अनेक पदार्थ जगत् में विद्यमान हैं जिन्हें ढूंढ़ने नहीं जाना पड़ता किंतु विचारने से ज्ञान की वृद्धि और चित्त की संतुष्टि अवश्य होती है। फिर ऐसे निर्दोष कुतूहलों के आछत

जो लोग मन मारे रहते हैं अथवा उस की प्रसन्नता के लिए कुपथ का आश्रय लेते हैं, उन्हें भाग्यहीन वा बुद्धिशत्रु के अतिरिक्त हम नहीं जानते क्या कहना योग्य है। हां, आरंभ में यदि इन के द्वारा संतोष न हो तो कुछ दिन यह समझ के इच्छा के बिना भी इस मार्ग में पदार्पण करना उचित है कि पहिले पहिल सभी सुखदायक कामों में कष्ट जान पड़ता है, स्वादिष्ट भोजन के लिए धुवां और आंच अथवा धनहानि सहनी पड़ती है, व्यायाम में हाथ-पांव पीड़ित होते हैं, विद्योपार्जन में शिक्षादाता की ताड़ना अंगीकार करनी होती है, किन्तु परिणाम में मन की तुष्टि, तन की पुष्टि और जीवन की सार्थकता भी निस्सन्देह प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार यदि मन को सुपथगामी बनाने के लिए यदि कुछ दिन अनिच्छा का सामना करना पड़े तो क्या हानि है? परिणाम में तो लाभ होही गा। जब उपर्युक्त प्रकार के सद्विचार में अभ्यास हो जायगा तब आरम्भिक कष्ट परमानन्द में परिवर्तित होने का पूर्ण विश्वास है। क्योंकि अभ्यास वह गुण है जो वस्तु एवं व्यक्ति मात्र को कुछ ही काल में कुछ का कुछ बना देता है। इसलिए जहां पढ़ने लिखने आदि में कष्ट सहते हो, वहां मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नहीं तो दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इस से सब कर्तव्यों की भांति उपर्युक्त विचार का अभ्यास भी करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिन में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्वकाल उत्तम पथ में विचरन करने तथा प्रोत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा तथा दैव-योग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा, जिसे नित्य के अभ्यस्त उपाय दूर न कर सकें, उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपजेगी ही नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है, क्योंकि विचारशक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख दुःख सदा आया ही जाया करते हैं और अन्त में सभी लोग धैर्य धारण कर लेते हैं। ऐसा न हो तो जगत् के व्यवहार एक दिन न चल सकें, अतएव यदि पढ़े लिखे समझदार कहलाने वाले भी साधारण समुदाय ही की भांति चिन्तामग्न हो जायं तो उन में और इतरों में भेद क्या रहेगा? इस पर भी यदि तुम यह विचार रक्खोगे कि दैवी घटना को उपस्थिति के समय जब तक चित्त अपने पुराने ढर्रे पर न आ जाय तब तक उस की प्रसन्नता के अर्थ गीत वादित्र, परिभ्रमण, परिहासादि निर्दोष मनो-विनोद का आश्रय ले लेना भी सहृदयों का परम कर्तव्य है, तो फिर कोई संदेह नहीं है कि तुम्हारा मन तुम्हारे समस्त बुद्धिसंगत कामों में प्रसन्नता-पूर्वक संलग्न रहना सीख जायगा और असाधारण जीवन के लिए इसी की परमावश्यकता है।

सातवां पाठ

निर्लिप्तता

संसार में ऊंच नीच, भले बुरे, श्रद्धाकारक तथा घृणाप्रसारक इत्यादि सभी प्रकार के रूप गुण स्वभावादि वाले पुरुष एवं पदार्थ होते हैं, अथच समयानुसार सभी से कुछ न कुछ काम पड़ा करता है, इस से बुद्धिमान को उचित है कि किसी को हठपूर्वक त्याज्य और ग्राह्य न समझ बैठे, वरंच सभी के दोष गुण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सयत्न रहा करे। इसी भांति हानि लाभ, सुख दुःखादि की दशाएं भी कालचक्र की गति के अनुसार सभी पर बीता करती हैं, जिन को चाल रोकने में प्रायः सभी असमर्थ हैं। इसलिए समझदार को चाहिए कि सभी कुछ सहन करने में दृढ़ रहे यद्यपि सर्वज्ञ और सदा एक रस अकेला परमेश्वर है, तथापि एक से एक चढ़े बढ़े बहुज्ञ तथा धीर पुरुष भी पृथ्वी पर हुआ ही करते हैं, और वे ही धन्यजन्मा कहलाते हैं। यों तो साधारण श्रेणी के लोग भी कहा करते हैं, और उन का कहना अयुक्त भी नहीं है, कि अच्छी २ वस्तुओं का सग्रह करना और बुरे २ पदार्थों को त्याग देना तथा अच्छे लोगों से मेल रखना, बुरे मनुष्यों से दूर रहना अच्छी बात है, यों ही सुख से समय बिताना परमात्मा की दया और दुःख में काल काटना अभाग्य का लक्षण है, किन्तु असाधारण विद्याबुद्धि-विशिष्ट व्यक्ति का कर्तव्य है कि जब जिस प्रकार के पुरुष, पदार्थ वा दैवगति का सामना आ पड़े, तब उपयुक्त समय के लिए उसी के अनुकूल आचरण को अंगीकार कर के अपना निर्वाह कर ले, किन्तु उस के प्रति लिप्त न हो जाय, नहीं तो दूसरे कामों के काम का न रहेगा। निर्लिप्तता इसी को कहते हैं कि कार्यसाधन मात्र के लिए सब से मिला भी रहना और साथ ही सब से अलग भी रहना। जो लोग अपने जीवन को असाधारण बनाया चाहते हैं उन के पक्ष में यह भी बड़ा भारी प्रयोजनीय गुण है, जिस के अभाव में बड़ी भारी हानि यह होती है कि जहां एक ओर चित्त आकृष्ट हो गया वहां दूसरी ओर का ध्यान तक नहीं रहता और ऐसी दशा में निर्वाह कठिन हो जाता है, क्योंकि मोह में वह सामर्थ्य है कि बड़े बड़ों को मूढ़ बना देता है। यदि वह बुरी बातों और बुरे लोगों की ओर खींच ले गया तब तो जन्म नष्ट कर देना कोई आश्चर्य ही नहीं है, किन्तु यदि अच्छों की ओर लगा ले गया तौ भी बुरों से बचे रहने के विचार और उपाय विस्मृत हो जाते हैं, और यह

सहृदयता के विरुद्ध एवं पूरी अनुभवशीलता का बाधक है। इसलिए हमें चाहिए कि निर्लिप्त रहने का भी पूर्ण यत्न करते रहें। इसकी विधि यों है कि छठे पाठ में लिखी हुई रीति के अनुसार मनराज को अपना मित्र बना कर विवेक को उस के मित्रत्व में नियुक्त कर दें। वह उसे समझाता रहेगा कि गुण और दोष सभी में हुआ करते हैं। जिन्हें अनेक लोग अच्छा कहते हैं उन में भी ढूंढ़ने बैठिए तो कुछ न कुछ बुराई अवश्य निकलेगी और उतने अंश के लिए वे निस्संदेह त्याज्य हैं, फिर पूर्ण रूप से उन का ग्रहण क्योंकर बुद्धिविहित हो सकता है? इसी प्रकार जो बुराई के लिए प्रसिद्ध हैं, भलाई से सर्वथा शून्य वे भी नहीं होते, तथा उन की उतनी ही भलाई से वंचित रहना भी बुद्धिमानी का कर्तव्य नहीं है, इसलिए उन का हठपूर्वक त्याग भी ठीक नहीं। इसी से अगले लोग कह गए हैं कि संसार की किसी बात में फंस जाना बुद्धिमान को अयोग्य है। इस में ऐसे रहना चाहिए जैसे जल में कमल का पत्र रहता है अर्थात् अपनी स्थिरता बनी रहने भर को जल से सम्पर्क रखता है, उस में भींगता कदापि नहीं है। इसी प्रकार हमें भी उचित है कि जगत् में केवल अपने काम से काम रक्खें, किसी प्रकार का आग्रह न करें, क्योंकि समय पड़ने पर कभी २ तुच्छ पदार्थों और सामान्य पुरुषों के द्वारा भी बड़े २ कार्य सिद्ध होते हैं अथच बड़े २ सुनिपात्रों से कुछ भी नहीं होता, बरंच आशा के विरुद्ध फल दिखाई देता है। अतः अनुभव-प्राप्ति के उद्देश्य से सभी वस्तुओं का संग्रह और सभी लोगों से शिष्टाचार रख कर सभी के रंग ढंग देखते और गुणदोष विचारते हुए कालयापन कर्तव्य है और जिस समय जिस से जो काम निकलता देख पड़े निकाल लेना उचित है अथच अपने ऊपर जब जैसी दशा आ पड़े तब उसी के अनुकूल आचरण अंगीकार कर लेना योग्य है, किन्तु किसी से सम्बन्ध रखने वाले भाव को हृदय में दृढ़स्थायी बनाना ठीक नहीं है। यह बात उन लोगों के लिए बहुत कठिन नहीं है जो अपनी विचारशक्ति से काम लेते रहने का अभ्यास रखते हैं। जब श्लाघनीय पुरुषों और पदार्थों के सम्मुख हुआ करें तब श्रद्धा और स्नेह का बर्ताव रखते हुए भी यह विचारते रहा करें वा दूसरों के द्वारा जानते रहने का ध्यान रक्खा करें कि उन में दोष क्या क्या हैं और उन के द्वारा हमारी कार्यसिद्धि में अड़चल कहां तक होनी सम्भव है। यों ही बुरों के साथ द्वेषबुद्धि न रख कर शिष्टता से काम लिया करें और साथ ही उन के गुण का भी ज्ञान प्राप्त करने में सचेष्ट रहा करें। यों ही सुख मिलने पर उस की सामग्री को अचिरस्थायी समझ कर और दूसरे सुखच्युत

लोगों की दशा देख कर तथा अपने से अधिक सुखियों की रहन सहन को विचार कर चित्त को सम भाव में ले आया करें, एवं दुःख के दिनों में संसार की अनित्यता के विचार से आमोद प्रमोद के आश्रय से वा अधिक दुःखग्रस्तों की दीनता देखने से मन संतुष्ट कर लिया करें, अथच जिन कामों के करने की इच्छा न हो, किन्तु बिना किए हानि की सम्भावना हो, उन्हें भविष्यत् लाभ का एक अंग मात्र समझ कर कर डाला करें, किन्तु समय टलते ही फिर उस से अलग हो जाने में सन्नद्ध हो जाया करें। ऐसे २ उपायों से निश्चय है कि निर्लिप्त रहने का अभ्यास पड़ जायगा और आवश्यकता पर किसी रीति का अवरोध न रहेगा तथा प्रशस्त जीवन में बड़ा भारी सहारा मिलेगा। क्योंकि बड़े २ कर्त्तव्य कार्य प्रायः उन्हीं लोगों के किए होते हैं जो कुछ भी करने में रुकते न हों, सभी कुछ सहन कर सकते हों, सभी से सहायता लेना जानते हों और सदा सर्वत्र सब दशा में केवल अपना कार्य साधन मुख्य समझते हों। यह योग्यता तभी प्राप्त होती है जब सब के मध्य रहते और सब कुछ देखते भालते, करते धरते हुए भी निर्लिप्तता का पूर्ण अभ्यास हो।

आठवां पाठ

मिताचरण

जिस वर्ष वृष्टि नहीं होती, अथवा बहुत ही स्वल्प होती है, उस वर्ष अकाल पड़ने की संभावना हुआ करती है। यों ही जब अतिवृष्टि होती है तब भी बहुत से खेत बह जाते हैं, बहुत से सड़ जाते हैं। इस से अन्न की उत्पत्ति में बाधा पड़ती है। यह प्राकृतिक नियम हमें सिखलाता है कि जो बात मर्यादाबद्ध नहीं होती वह कष्ट का हेतु होती है। यदि हम परिश्रम करना छोड़ दें तो कुछ ही काल में आलसी हो कर और धन बल मान इत्यादि खो कर नाना जाति के रोग शोकादि का भाजन बन बैठेंगे अथच अपनी शक्ति से अधिक श्रम करें तौ भी शरीर शिथिल एवं मन खेदित होने के कारण किसी काम के न रहेंगे। भोजन यदि स्वादिष्ट होने से भूख से अधिक खाएं तो आलस्य और अनपच

के कारण भांति २ के कष्ट सहने पड़ेंगे तथा अत्यन्त थोड़ा भोजन करें तौ भी निर्बलताजनित उपाधिसमूह झेलने पड़ेंगे । इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि जो काम करे परिमाण के भीतर ही करे क्योंकि जीवन को सुविधासम्पन्न बनाने के लिए जैसे सभी बातों का अभ्यास रखना आवश्यक है, वैसे ही यह स्मरण रखना भी प्रयोजनीय है कि अति किसी बात की अच्छी नहीं होती है। परिणाम में उस के द्वारा दुःख ही होता है। जिन बातों को सारा संसार एक स्वर से उत्तम कहता है उन की प्राप्ति के लिए भी यदि परिमिति (सीमा) का त्याग कर दिया जाय तो क्लेश और हानि हुए बिना नहीं रहती। विद्या, धन अथवा धर्म के संचय करने में जितना श्रम किया जाय उतनी ही कल्याण की वृद्धि होती है, किन्तु साथ ही यह भी स्मर्तव्य है कि यदि हम महाधुरन्धर पंडित, अगणितसम्पदासम्पन्न परम धार्म्मिक बनने की धुन में आकर आहार विहारादि के नियमों की ओर से ध्यान हटा लें, तो थोड़े ही दिनों में स्वास्थ्य से रहित हो कर पढ़ने लिखने के काम के न रहेंगे वा पढ़ा पढ़ाया निष्फल हो जायगा। कृषी वाणिज्यादि के लिए दौड़नेधूपने की शक्ति न रहेगी अथवा संचित धन का उपभोग दुष्कर हो जायगा, भलाई बुराई का यथेष्ट निर्णय न कर सकेंगें, वा जिन सत्कार्यों के करने को जी छट-पटायगा, वे हाथ पावों से होने कठिन हो जायंगे, क्योंकि जिस अंग वा पदार्थ से अत्यधिक काम लिया जाता है वा नहीं लिया जाता, वह सामर्थहीन हो जाता है और आवश्यकता के समय काम नहीं दे सकता और इसी से किसी की दशा सदा एक सी नहीं रहती इसलिए समय २ पर सभी कुछ करने की आवश्यकता पड़ती है तथा उस की पूर्ति के उपयुक्त शक्ति के अभाव से यदि वह न हो सका तो बहुत काल तक क्लेश व हानि अथवा अपकीर्ति सहनी पड़ती है। जो लोग सम्पत्ति की दशा में धन का भोग वा दान अनियमित रूप से करते हैं, उन्हें जब उदारताप्रदर्शन का अवसर पड़ता है तो उचित व्यय करने के योग्य रुपया नहीं मिलता अथच जो लोग खाने पहिनने, देने दिलाने आदि में कंजूसी करते रहते हैं, उन का ऐसी आवश्यकता के आ पड़ने पर पैसे २ पर जी निकलता है। इन दोनों प्रकार के पुरुष ऐसी अवस्था में जो कुछ करते हैं, संतुष्टभाव से नहीं करते, अतः बुद्धिमत्ता का कर्तव्य यही है कि जब जैसा आ पड़े तब तैसा ही बन जाने के लिए सन्नद्ध रहे। और यह तभी हो सकता है जब मिताचरण के द्वारा शरीर एवं अधिकृत वस्तु मात्र को रक्षित अथच कार्योपयुक्त रक्खा जाय। यद्यपि समय विशेष की उपस्थिति में जी खोल कर अपनी शक्ति से कहीं साहस धैर्य उद्योग उदारतादि का प्रदर्शन

ही असाधारण पुरुषों का लक्षण है। इतिहास में वही लोग गौरवास्पद होते हैं जो काम पड़ने पर अपने धन अथच प्राण तक का मोह न कर के कर्तव्य-पालन का उदाहरण दिखला देते हैं। किन्तु ऐसा अवसर नित्य नहीं पड़ा करता, जीवन भर में दो ही एक बार वा बहुत हुआ तो दश पांच बेर बित्त बाहर काम करने का समय आता है और उसी में दृढ़ रहना जन्मधारण की सार्थकता का सम्पादन करता है। और ऐसे अवसर पर उचित आचरण वही दिखा सकते हैं जिनकी आंतरिक और बाह्य सभी प्रकार की पूंजी सर्वथा सुस्थिर हो और शनैः २ बढ़ती रहती हो। यह योग्यता जिस में न हो, वह साधारण जनसमुदाय में भी गणनीय नहीं है। इसलिए इस की प्राप्ति के लिए पाठकगण को चाहिए कि शरीर के सभी अवयवों और मन की सभी शक्तियों से काम लेते रहा करें, पर उतना ही जितने में अधिक थकाहट न हो। अन्न वस्त्रादि में व्यय भी इतना ही किया करें जितना सामर्थ्य के अंतर्गत हो। दूसरों के साथ व्यवहार बर्ताव भी इतना ही रक्खा करें जितना सर्वदा निभ सके। अपनी वाणी और वेश भी ऐसा ही रक्खा करें जैसा कुल की मर्यादा के विरुद्ध और लोकसमुदाय को अप्रिय न हो। बस, ऐसा ध्यान बना रखने और अभ्यास करते रहने से मिताचारी और सज्जीवनाधिकारी होने में कोई संशय न रहेगा और आवश्यकता के समय तदनुकूल कार्यों की पूर्णकारिणी सामग्री का अभाव न रहेगा।

●

नवां पाठ

लोकलज्जा

यद्यपि यह बात ठीक है कि संसार में सब के पक्ष में तीन प्रकार के लोग होते हैं, एक मित्र, दूसरे शत्रु, तीसरे सम अर्थात् न मित्र न शत्रु। उन में जो मित्र हैं वे हमारे अवगुणों का दूसरों से छिपावैंगे और उचित रीति से हम भी उन से दूर रहने का यत्न करेंगे, तथा शत्रुजन गुण में भी दोष ही निकालेंगे। रहे सम, उन से हमें प्रयोजन ही क्या है ? अतः जो कुछ करना हो उस में किसी की लज्जा न करनी चाहिए। किन्तु यह सिद्धांत केवल विशेष

अवसर की उपस्थिति में ग्रहणीय है। जब अपने और आत्मीयवर्ग के धन, धर्म और प्रतिष्ठादि पर कड़ी आंच आती देख पड़े, उस समय किसी का भय अथवा संकोच न कर के केवल अपने बल और बुद्धि से स्वत्व रक्षा कर्तव्य है। पर ऐसी आवश्यकता नित्य नहीं पड़ा करती, इसलिए सर्वकाल में ऐसे विचार का अनुसरण भी उचित नहीं है। क्यों कि जो लोग सभी बातों में केवल अपनी इच्छा का अवलम्बन करते हैं, उन का साधारण समुदाय के हृदय से ममत्व जाता रहता है, इस से उन के सुख दुःख, लाभ हानि में सहानुभूति रखने वाले बहुत थोड़े होते हैं और उद्योग सफल होने में बड़ी २ बाधाएं पड़ती रहती हैं। प्राचीनकाल के बुद्धिमानों ने जो स्वतंत्रता (आजादी) की प्रशंसा की है और उस की प्राप्ति के अर्थ सयत्न रहने की शिक्षा दी है, उसका अभिप्राय यह है कि हमें ऐसा उपाय करना योग्य है जिस के द्वारा अपने निर्वाह के निमित्त दूसरों का मुखावलोलन न करना पड़े, और दुःस्वभाव लोग हमें सताने का साहस न कर सकें। किन्तु बहुत लोग इस का ठीक आशय न समझ कर स्वतंत्रता का अर्थ निरंकुशता समझ बैठे हैं, अर्थात् किसी बात में किसी का भी संकोच न करना। वास्तव में यह सृष्टिक्रम के विरुद्ध का महा कुलक्षण है। विचार कर देखने से विदित होता है कि संसार में पूर्ण रूप से स्वतंत्र कोई नहीं है। किसी न किसी का दबाव सभी को खाना पड़ता है। यदि साधारण श्रेणी के लोग विशेष विद्याबुद्धि-विशिष्ट पुरुषों की उपेक्षा करें, विशेष पदाधिकारी जन अपने राजा की नीति को शिरोधार्य न समझें, राजा अपने से अधिक सामर्थ्य वाले महाराजों की ओर से निश्चिन्त हो बैठे, तो जगत् का काम न चले, सभी को दिन बिताना कठिन पड़ जाय, यहां तक कि यदि बड़े लोग छोटे लोगों की प्रसन्नता अप्रसन्नता का ध्यान न रक्खें, तो उन का बड़प्पन ही न स्थिर रहे। प्रजा न हो तो राजा किस का प्रभु कहलावेगा? सेवक न हो तो स्वामी किस पर स्वामित्व करेगा? ऐसे २ उदाहरणों से सिद्ध है कि निरी स्वेच्छाचारिता किसी के पक्ष में ठीक नहीं। सभी सब का संकोच छोड़ कर अपने २ मन के राजा बन बैठें तो आवश्यकता पड़ने पर किसी को भी किसी से सहायता न मिले। अतः सभी को चाहिए कि प्रत्येक बात में पंच और परमेश्वर की ओर ध्यान रक्खें, विशेषतः जिन्हें अपना जीवन दूसरों के लिए उदाहरण-स्वरूप बनाना है, इन्हें तो यही उचित है कि प्रत्येक बात और सभी कामों में सर्वसाधारण की रुचि पर ध्यान रक्खें, बरंच थोड़ी बहुत हानि तथा कष्ट भी सहना पड़े, तथापि जनरंजन से विमुख

न हों, तिस में भी स्वजातीय एवं स्वदेशीय लोगों की दृष्टि में अरुचि उपजाने वाली चेष्टा वाणी और वेषादि को तो यथासम्भव परित्याज्य ही समझें। जो लोग इस का विचार न रख कर विद्या और धर्म का प्रचार तथा देशोपकार का कोई कार्य करने में कटिबद्ध होते हैं, वे यदि हृदय से निष्कपट भी हों तौ भी जैसी चाहिए वैसी कृतकार्यता नहीं लाभ कर सकते, क्योंकि नीतिशास्त्र का बड़ा भारी सिद्धान्त यह है कि जो लोग जिस समाज की रीति नीति चाल-ढाल इत्यादि का पूर्ण ज्ञान और उस पर सच्चे जी से श्रद्धा रखते हैं, वे ही उस के अधिकांश पर सहज रीति से भली भांति अपना प्रभाव स्थापित कर सकते हैं। और इस के विपरीत आचरण रखने वालों का प्रथम तो परिश्रम ही व्यर्थ जाता है, और यदि उस की सिद्धि हुई भी तो बड़ी कठिनता से बहुत ही थोड़ी होती है, अतः बुद्धिमानों का धर्म है कि अपने देशभाइयों की रुचि रखने का अभ्यास अवश्य करते रहें। इस से निश्चय बहुत से लोग प्रसन्नतापूर्वक साथ देने और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति में हाथ बंटाने को तत्पर रहा करेंगे, तथा बड़े २ अनुष्ठानों में बहुत से लोगों की सहायता के द्वारा सुगमता प्राप्त होना असम्भव न होगा एवं अपनी आत्मा भी एक अपूर्व संतोष लाभ करती रहेगी अथच यदि किसी बृहत् कार्य का अवसर न भी मिलै तथापि धन बलादि जीवनोपयोगी पदार्थ और गुणों का व्यर्थ नाश न होगा, क्योंकि संसार में ऐसे लोग बहुत थोड़े हुआ करते हैं जो अपनी बड़ी सज्जनता अथवा अतीव दुर्जनता के कारण बड़े २ गुण वा दुर्गुणों को आश्रय प्रदान कर के अपने और पराए बड़े भारी लाभ और हानि का हेतु होते हों। साधारण जनसमूह प्रायः उसी ढर्रे पर चलना रुचिकर समझता है जिस के द्वारा यदि विशेष लाभ न हो तो बड़ी क्षति की सम्भावना भी न हो, और संख्या इसी प्रकार के लोगों की बहुत होती है। इसलिए बहुत से लोगों को अपना साथी बनाए रखना बृहज्जीवन की इच्छा रखने वालों का परम कर्तव्य है, जिस का सेवन करने से यदि दैवात् कोई घोर विपत्ति भी आ पड़े, तो इस विचार से अधीरता नहीं सताती कि हमारे बहुत से सहायक हैं! और ऐसा विचारना प्रायः निष्फल भी नहीं जाता, क्योंकि जिसे बहुत जने सब बातों में अपना समझते हैं, काम पड़ने पर उस के कुछ न कुछ काम भी आया ही करते हैं, और जीवनयात्रा में प्रत्येक रीति की सुविधा के लिए इस की परमावश्यकता है। यह माना कि जगत् में सच्चे मित्र का मिलना बड़ी ही भाग्यमानी के आधीन है, पर इस में संदेह भी नहीं है कि साधारण रीति से हित चाहने वालों का समुदाय लोकलज्जा का ध्यान रखने से प्राप्त हो सकता

है। अतः इस पुस्तक के पढ़ने वालों को योग्य है कि छोटा वा बड़ा जो काम करें उस के पहिले यह अवश्य सोच लिया करें कि हमारे ऐसा करने से चार जने हमें क्या कहेंगे ? बस, इस प्रकार के विचार का यह फल प्रत्यक्ष देखने में आवेगा कि जिन अवसरों पर दूसरे लोग घबरा उठते हैं उन में भी चित्त को कैसा कुछ धैर्य बना रहता है कि अनुभवी ही जानते हैं। जैसा कि एक बुद्धिमान का वाक्य है कि "पंचो शामिल मर गया जैसा गया बरात।"

●

दसवां पाठ

निजत्व

संसार में सुख सुविधा और सुयशप्राप्ति के अर्थ सभी प्रकार के लोगों से हेलमेल, सभी भाषाओं का बोध तथा सभी देश के लोगों की रीतिनीति का ज्ञान यथासम्भव प्राप्त करना चाहिए। पर अपनी चालढाल कभी न त्यागनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक जाति की सच्ची शोभा उसी की भाषा भोजन भेष और बाह्यिक तथा आन्तरिक भाव एवं भ्रातृत्व से होती है। जो इन में से किसी का पूर्ण रूप से आदर नहीं करते, वे समाज में यथोचित रीति से आदृत नहीं समझे जाते। एवं बुद्धिमानों का एक अखण्डनीय सिद्धान्त यह है कि कोई कैसा ही सुयोग्य अथच लोकहितैषी क्यों न हो, किन्तु यदि आत्मीय-वर्ग की दृष्टि में आदरणीय न हुआ, तो बिडम्बना का पात्र होता है। बरंच हमारी समझ में उसे योग्यता ही नहीं कहना चाहिए जिस के कारण अपनापन जाता रहे। यदि हम विद्याबल, धन मान इत्यादि की वृद्धि कर लें किन्तु आत्मीयत्व खो दें, और अपने भाइयों के साथ रहने की किसी एक अंश में भी योग्यता न रक्खें तो हम ने आत्मोन्नति क्या की ? और जब अपनी ही उन्नति से बंचित हुए तो जात्युन्नति वा देशोन्नति क्या करेंगे ? जिस जाति व देश का अधिकांश हमारी बातों को समझेगा नहीं, हमारी रहन सहन को रुचिकारक गिनेगा नहीं वह हमारी सम्मति ही क्यों मानने लगा ? और ऐसी दशा में यदि हम उस के मध्य कुछ उद्योग करें, तो या तो परिश्रम ही व्यर्थ जायगा वा थोड़े से हमारे ही सहवर्तियों में साफल्य का रूप दिखला के रह जायगा जैसा आज-

कल इस देश में देखने में आता है कि बहुतेरे लोग देशोन्नति के केवल दो ही एक अंगों की पुष्टता के निमित्त सहस्रों रुपया लगाते हैं, वर्षों दौड़ धूप करते हैं, सैकड़ों कोस की यात्रा में धावमान रहते हैं, पर मनोरथसिद्धि पर्वत खोद के चुहिया ही निकालने के बराबर देख पड़ती है। विचार कर देखिए तो ज्ञात हो जायगा कि इस का एकमात्र कारण यही है कि इन लोगों ने विद्यार्थित्व ही की अवस्था से निजत्व का विचार नहीं रक्खा और अब भी जातीयता का इतना ममत्व नहीं रखते जितना उचित है। इसी से केवल अपने ही रंग ढंग वालों में आदर पाते हैं और उन्हीं के मध्य अपनी योग्यता भी प्रकाशित कर लेते हैं। देश और जाति पर इन का प्रभाव यदि है भी तो न होने के बराबर, क्योंकि निजता का उन में प्रायः पूर्ण अभाव है। और इसी कारण तृतीयांश से अधिक देशवासियों में से तो बहुतेरे उन का नाम भी नहीं जानते, बहुतेरे पहिले पहिल देखें तो उन्हें सजातीय न जानें, बहुतेरे उन की बोली वाणी न समझें, बहुतेरे समझें तो विदेशीय भाव से भरित होने के हेतु से आदर न करें, बहुतेरे यदि बातों पर श्रद्धा भी करें तो चरित्रों से घृणा करें, फिर भला ऐसों का प्रयत्न देश में क्योंकर सफल हो सकता है? इसलिए हमारे पाठकों को योग्य है कि सब कुछ जानने बूझने, औरों की चाल ढाल देखने सुनने तथा सब से हिले मिले रहने के प्रयत्न में लगे रहने के साथ ही साथ यह भी ध्यान रक्खा करें कि जिस बात को अन्य, देशीय और अन्यधर्म्मी लोग करते हैं वह हमारे पूर्वजों के समय से आज तक किस रीति से बर्ती जाती है। यद्यपि समय के फेर फार से वर्तमान काल में हमारी बहुत सी बातों में परिवर्तन आ गया है, पर इतना नहीं हुआ है कि प्राचीन इतिहासों व वृद्ध पुरुषों के द्वारा उन का शुद्ध रूप परिज्ञात न हो सके अथवा उदाहरण के द्वारा वे फिर प्रचरित न हो सकें। यहां यह जान रखना योग्य है कि भारतवर्ष की सनातनी मर्यादा स्थापित रखने में शारीरिक, आत्मिक, समाजिक लाभ ही है, हानि किसी प्रकार की नहीं क्योंकि उस के संस्थापकगण अपने समय में समस्त संसार के शिक्षक और रक्षक थे, अतः वे जो बातें नियत कर गए हैं, एतद्देशीय जलवायु एवं प्रकृति के अनुकूल ही नियत कर गए हैं, अतः हमारे पक्ष में वही वास्तविक हित और सच्ची शोभा का मूल है। इस से हमें आग्रहपूर्वक उसी को ग्रहण किए रहना चाहिए, क्योंकि वह हमारी है और जगत् में हम उसी के द्वारा आदृत रूप से परिचित हो सकते हैं। कोट पतलून पहिनने तथा अभक्ष्य पदार्थों के खाने वाले हिन्दुओं को हिंदू ही नहीं घृणित समझते वरंच अच्छे अंगरेज भी तुच्छ ही दृष्टि से देखते हैं।

ऊपर से विदेशी भेष भोजनादि के रसिकों को धन भी उचित परिमाण से अधिक व्यय करना पड़ता है तथा कष्ट भी सहना पड़ता है। जाड़े के दिनों में बहुतों ने देखा होगा कि बाबू बनने वाले पश्चिमोत्तर देशी ओढ़ने के वस्त्र बिना बहुधा परिभ्रमण के समय शरीर के कंप और मुख के सीत्कार को रोकने में अक्षम हो जाते हैं, इसी प्रकार गीष्मऋतु में सूक्ष्म वस्त्र न पहिननें के कारण अधिक उष्णता सहते हैं। और इधर पूरी रोटी खाने तथा धोती अंगरखी पहिनने वाले आर्य जैसे हिन्दूसमुदाय में विधर्मीयता का भ्रम नहीं उपजाते, वैसे ही सामयिक राजद्वार से भी निकाल नहीं दिए जाते, ऊपर से व्यय की न्यूनता और सुविधा की अधिकता का सुख यही लाभ करते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्मरूप से जिस ओर दृष्टिसंचालन कीजिए उधर ही इस बात का जीवित उदाहरण मिलेगा कि हमारा कल्याण हमारी ही रीति के अवलम्बन पर निर्भर है, और अभ्यास पड़ने पर प्रत्यक्ष बोध हो जायगा कि निजत्व को जितना अधिक आदर दिया जाय उतना ही सुख संतोष और सौभाग्य की वृद्धि होती है। दूसरों के अनुसरण से हम अपनापन खो बैठते हैं और अपने लोगों की दृष्टि में उचित सत्कार नहीं पा सकते, तथा जिन की नकल करते हैं वे भी सर्वभावेन अपनी बराबरी का नहीं बना लेते। एवं यह ऐसी हानि है कि सारे संसार के लाभ से भी पूर्णतया दूर नहीं हो सकती। इसलिए बुद्धिमत्ता यही है कि सब कुछ देखते भालते, जानते बूझते, करते धरते हुए भी अपनापन बनाए रक्खें और उस की त्रुटियों को पूर्ण करने में सयत्न रहें। इसी में हमारी उन्नति अथच हमारे द्वारा दूसरों का हित-साधन सम्भव है।

●

ग्यारहवां पाठ

आत्मगौरव

संसार में असाधारण विद्याबुद्धिगुणगौरवादिविशिष्ट व्यक्तिरत्न बहुत थोड़े होते हैं, पर निरे निरक्षर निर्बुद्धि गुणशून्य भी बहुत नहीं होते। सृष्टिकर्ता ने श्रेष्ठता प्राप्त करने की थोड़ी बहुत सुविधा सभी को दे रक्खी है और

माननीय मानीषियों ने सृष्टिशिरोमणि (अशरफुलमखलूकात) की पदवी मनुष्य मात्र को दे रक्खी है, अतः किसी को भी अपना जीवन तुच्छ न समझना चाहिए। विशेषतः पढ़े लिखे समझदारों को तो यह विचार प्रति-क्षण बनाए रखना उचित है कि जब हमारा शरीर परमात्मा ने नौ मास में परमचातुर्य के साथ सृजन किया है, माता पिता ने प्राकृतिक प्रेम के साथ अपनी हानि एवं कष्ट पर दृष्टि न कर के हमारा लालन पालन किया है, विद्यादाता महाशय अपनी महत्परिश्रम के द्वारा वर्षों की संचित की हुई विद्या रूपी प्रशंसनीय पूंजी हमें सौंप देने के लिए प्रस्तुत हैं, ऐसी दशा में यदि हम जीवन का गौरव न करें तो परमेश्वर के महाप्रसाद तथा जननी जनक के अकृत्रिम स्नेह अथच गुरुदेव की अतुलनीय कृपा का तिरस्कार कर के पापभागी होंगे! यह माना कि जीवनोपयोगी समस्त सामग्री एवं यावत्सद्गुण सब में नहीं हुआ करते, पर इस में भी कोई संदेह नहीं है कि युक्ति और परिश्रम के द्वारा आवश्यकता मात्र की पूर्ति हो सकती है। इस के अतिरिक्त यदि सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो एक न एक बात की श्रेष्टता सभी में हुआ करती है। निर्धन लोग यदि सुस्वादु भोजन और सुदृश्य वस्त्राभरणादि में बहुत सा व्यय नहीं कर सकते तो परिश्रम और संतोष के द्वारा निर्द्वन्द्व एवं प्रशंसनीय जीवन लाभ कर सकते हैं। निर्बल जन, जो स्वयं किसी प्रबल शत्रु का मानमर्दन नहीं कर सकते, तो सहनशीलता में प्रसिद्ध हो के अथवा चतुरता के साथ बहुत से सहायक बना के सुखी तथा सुयशी बन सकते हैं। जिन्हें बातें बनाना नहीं आता वे सुवक्ताओं के समुदाय में आदृत न होने पर भी सत्यवादी अथच स्पष्टवक्ता वा निष्कपट की पदवी लाभ कर सकते हैं। जो सब ओर से निराश्रय हैं, वे जगदाश्रय का आश्रय ग्रहण कर के सर्वसुविधासम्पन्न हो सकते हैं। ऐसे २ अनेक उदाहरण विद्यमान होने पर भी हम नहीं जानते, वे कैसे लोग हैं जो अपने जीवन का आदर नहीं करते? यह माना कि सामर्थ्यवान के पक्ष में नम्रता एक अमूल्य भूषण है, पर इस भूषण की शोभा तभी तक रहती है जब तक सामर्थ्य भी इस के साथ ही प्रदर्शित होती रहे। यदि हम अपनी सामर्थ्य को भूल के छिपा के अथवा लुप्तप्राय कर के नम्रता का प्रदर्शन करें, तो उस मूर्ख का अनुगमन करते हैं जो भूषणीय अंग को काट के किसी भूषण का संग्रह करता है! यों ही यदि हम स्थान और पात्र के विचार बिना सब कहीं नम्र भाव का प्रदर्शन करें, तौ भी मानो हाथ के आभूषण को पांव में और पांव वाले को शिर पर धारण कर के अपनी बुद्धिमानी का परिचय देते हैं।

इसलिए उचित यही है कि जो लोग किसी बात में अपने से श्रेष्ठ हैं, और हमारे नम्र भाव का आदर करते हैं, उन के सामने तो अवश्य नम्र ही बना रहे, सो भी वहीं तक, जहां तक अपनी स्वरूप हानि की सम्भावना न हो, किन्तु सर्वसाधारण के सामने वेष वाणी और चेष्टा मात्र में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखना ही श्रेयस्कर है, और किसी समय कैसी ही दशा में यह विचारना कदापि योग्य नहीं है कि हम कुछ भी नहीं हैं, अथवा हम से कुछ भी नहीं होना। जो लोग इस प्रकार के विचार को हृदय में स्थान देते हैं, वे अपनी आत्मिक शक्ति को निर्बल कर देते हैं, और दूसरों की दृष्टि में अपना महत्व ही नहीं खो बैठते, वरंच प्रत्येक धृष्ट और दुराचारी को स्वेच्छानुकूल आचरण करने में साहसी बनाते हैं, अथच ऐसी अवस्था में उत्साह के मार्ग को कंटकावरुद्ध कर बैठते हैं, जो सब प्रकार की उन्नति का परम साधन है। अतः हम अपने पाठकों को सम्मति देते हैं कि कभी किसी दशा में अपने को किसी प्रकार तुच्छ न समझें, वरंच महात्माओं के इस कथन पर दृढ़ रहें कि जगत् के लोग उसी की प्रतिष्ठा करते हैं जो स्वयं अपनी प्रतिष्ठा करना जानता है। और विचार कर देखिए तो जितने बड़े २ उत्तमोत्तम कीर्तिकारक कार्य हैं, सब मनुष्यों ही के द्वारा सम्पादित होते हैं, फिर हम क्या मनुष्य नहीं हैं वा कुछ कर नहीं सकते ? यदि हमारी वर्तमान विद्या बुद्धि बल धनादिक हमें शीघ्र उच्च श्रेणी पर पहुंचाने में पुष्कल न हों, तौ भी श्रम साहस और धैर्य के साथ हम कुछ काल में अपना अभीष्ट लाभ करने योग्य हो सकते हैं। सो हमीं क्या, सभी प्रसिद्ध पुरुषों का यही तार है। किसी ने एक दिन में कोई बड़ा काम नहीं कर लिया वैसे हो हम भी न कर सकें तो क्या हानि है ? जब सभी के लिए श्रेष्ठताप्राप्ति का मार्ग एक ही है तो फिर हमीं क्यों न कहें कि "जिस तरह सब जहान में कुछ हैं। हम भी अपने गुमान में कुछ हैं॥" यहां पर बहुत लोग यह शंका कर सकते हैं कि इस प्रकार के विचार हृदयस्थ करना अहंकार का उत्पादक है, और अहंकार को प्राचीनों ने दूषित ठहराया है। इस आक्षेप की निवृत्ति के अर्थ समझ रखना चाहिए कि अहंकार का दूषणीय रूप यह है कि हम किसी बात में अपने बराबर किसी को न समझें, और मान्य पुरुषों का उचित आदर न कर के सब छोटे बड़ों को रुष्ट कर दें, किन्तु जब हम ऐसा नहीं करते, वरंच सब का सम्मान करते हुए अपना संभ्रम भी रक्षित रखते हैं, तो कोई बुराई नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि समर्थ लोगों के सम्मुख आत्मगौरव का विचार रखने से स्वार्थसाधन में बाधा पड़ने का भय रहता है, वहां चाटुकारिता ही से काम निक

लता है, सो उन की यह समझ ठीक नहीं है। माना कि तुच्छ प्रकृति के सामर्थ्यवान् चाटुकारों की ठकुरसुहाती बातों से प्रसन्न होते हों, पर इस में संदेह नहीं है कि स्वार्थ साधन के निमित्त बात बात में "हां जी, हां जी" करने वालों का भेद खुले बिना नहीं रहता और भेद खुलने पर प्रतिष्ठा जाती रहती है, एवं ऐसी दशा में प्राप्ति की आशा भी उतनी नहीं रहती जितनी गणनीय पुरुषों को होनी चाहिए, और यदि हुई भी तो लोक निन्दा से पीछा छूटना महा असंभव है, जो सज्जनों के पक्ष में अतीव घृणित है, जैसा किसी नीति निपुण का सिद्धांत है कि 'जियत हंसी जो जगत् में मरे मुक्ति किहि काज।" इस से बुद्धिमानों को समझना चाहिए कि कुत्ता एक २ टुकड़े के लिए पूंछ हिलाता है, दांत निकालता है, पेट दिखलाता है, पर इतनी खुशामद के द्वारा प्राप्ति इतनी भी नहीं होती कि दूसरे दिन के लिए एक ग्रास भी संचित कर सके, किन्तु हाथी केवल धीर भाव से खड़ा रहता है और स्वामी का कार्य मात्र सम्पादन कर देता है तथापि भूखा नहीं रहता। फिर हमीं अपना गौरव छोड़ के क्या बना लेंगे? जिस की प्राप्ति के अर्थ बड़े २ लोग बड़े २ प्रयत्न करते रहते हैं, उसे थोड़े से स्वार्थ के हेतु त्यागना कहां की बुद्धिमानी है?

●

बारहवां पाठ

आत्मीयता

जन्म लेना और दौड़ धूप अथवा पराधीनता के द्वारा निर्वाह करते हुए एक दिन मर जाना, मनुष्य एवं पशु पक्षी इत्यादि सभी में समान होता है। पर धन्यजन्मा वे ही कहलाते हैं जो अपने श्रमोपार्जित धन बल विद्यादि के द्वारा सजातियों अथच स्वदेशियों को उन्नति के मार्ग में ले आने का यत्न करते हैं। तथा सच्ची उन्नति और उद्योग की पूर्ण सफलता तभी होती है, जब पूर्ण रूप से निजत्व को लिए हुए हो। यह सच है कि अच्छे लोग और अच्छी बातें जहां मिलें वहीं से संग्राह्य हैं, क्योंकि उनके द्वारा लाभ ही होगा, किन्तु यदि हम अपने भाइयों से पृथक् हो के और अपने गुणों को खो के

दूसरों का आश्रय लें, तो उन के द्वारा प्राप्त किया हुआ लाभ वास्तविक लाभ नहीं है, वरंच उस का नाम स्वरूपहानि है। अतः हमें अपनी और अपने लोगों की उन्नति का उपाय अपनी रीति पर और अपने ही रूप में कर्त्तव्य है, जिस का एक मात्र साधन आत्मीयता है अर्थात् अपने देश के समस्त पुरुष पदार्थ प्रथा इत्यादि को सारे संसार से उत्तम समझ के आग्रह-पूर्वक अंगीकार किए रहना, किसी के भय संकोच प्रवंचनादि से यह सिद्धांत कभी न छोड़ना कि अपने पक्ष में वही सर्वोपरि है जो अपना है। सच्चे पुरुषरत्न वे ही हैं जो किसी प्रकार के कष्ट एवं हानि अथच उपहास की चिन्ता न कर के आत्मीयत्व का प्रण निभाते रहते हैं। इतिहासरसिक यदि सूक्ष्म विचार से देखें तो अवगत हो जायगा कि जब जिस देश वा जाति की उन्नति हुई है, तब इसी दिव्य गुण के प्रभाव से हुई है, और जितना इस का अधिक आदर किया गया है उतनी ही सिद्धि समृद्धि की वृद्धि होती रही है, वरंच यह कहना भी अयोग्य नहीं है कि सर्वांशिक समुन्नति का साधन और लक्षण आत्मीयत्व ही है। जिन दिनों भारत देश सारी सृष्टि का शिरोमणि और भारतीय लोक समुदाय यावज्जगत् का रक्षक तथा शिक्षक समझा जाता था, सुख सम्पति का यहां तक बाहुल्य था कि सहस्रों सद्व्यक्ति सांसारिक सामग्री को तुच्छ समझ कर ब्रह्मानंद लाभ करने के निमित्त वन में जा बैठते थे, उन दिनों आत्मीयता का इतना आदर था कि बड़े २ सम्राट जटावल्कलधारी कन्दमूलफलाहारी तपस्वियों का आगमन सुन के राजकार्य परित्याग कर देते थे और अत्यन्त आदरपूर्वक तन मन धन से उन की सेवा करने और आज्ञा पालने ही में अपना सौभाग्य समझते थे, क्यों कि उन्हें निश्चय था कि हमारे लौकिक एवं पारलौकिक मार्ग के प्रदर्शक यही हैं। इधर बड़े २ महर्षि जिज्ञासुमात्र के शान्तिप्रदानार्थ अपना परमानन्द कुछ काल के लिए भूल कर उत्तमोत्तम शिक्षाओं से पूर्ण व्याख्यान दिया और ग्रन्थ निर्माण किया करते थे, क्यों कि उन्हें ज्ञान था कि जगज्जाल में फंसे हुए देशभाइयों का कल्याण हमीं पर निर्भर है। यही नहीं, बरंच अपने अयोध्या मथुरादि तीर्थों, गंगा यमुनादि नदियों, तुलसी पिप्पलादि वृक्षों तक को पूज्य दृष्टि से देखते थे। इस का कारण यह नहीं था कि वे ईश्वर को अद्वितीय अथच निराकार निर्विकार न मानते थे। नहीं, ब्रह्मविद्या में वे अतुलनीय थे, "एकमेवाद्वितीयम" और "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" इत्यादि वेदवाक्यों की उन की की हुई व्याख्या से विदित है कि ईश्वरीय ज्ञान में वे दक्ष थे, तथापि आत्मीयता के मधुर फल से वञ्चित न होने के कारण अपने यहां की वस्तु एवं व्यक्ति

मात्र को अपने परमाराध्य परमात्मा से सम्बद्ध समझते थे, और इसी समझ के प्रभाव से जिस बात में हाथ लगाते थे, उसे पूरा कर छोड़ते थे और तज्जनित रसास्वादन का पूर्ण सुख लाभ करते थे। पर अभाग्यवशतः जब से हम ने अपने पूर्वजों का यह गुण छोड़ना आरम्भ कर दिया, तभी से हमारा अधःपतन आरम्भ हो गया। इन दिनों परमेश्वर की कृपा से हमारे अंगरेज अवनीपति ने हमें फिर शिक्षा प्रदान करना स्वीकार किया है और समय २ पर उदाहरण द्वारा दिखलाते रहते हैं कि अपने भाइयों, अपने भावों, अपने देश के बने हुए पदार्थों का क्योंकर औ कहां तक आदर करणीय है, और इस कृत्य का कैसा मीठा फल है। यदि इस पुस्तक के पाठकों को विद्या और बुद्धि की आंखें हों तो विचारपूर्वक देखें और इस परमोत्तम गुण को सीखें कि अपना अपना ही है—अपने भाई, अपनी भाषा, अपने भेष, अपने भोजन, अपने भाव में किसी प्रकार का दोष समझना अपने ही जीवन को दूषित बना लेना है। यदि किसी के कहने सुनने वा अपने ही विचारने से कोई दोष दिखलाई भी दे तौ भी इन्हें छोड़ना न चाहिए बरंच धैर्य स्नेह के साथ संभार करना उचित है। और दूसरों की बातों में प्रत्यक्ष समीचीनता देख पड़े तथापि ललचा उठना ठीक नहीं, केवल काम निकाल लेने भर को उन से संपर्क रखना योग्य है और साथ ही यह भी ध्यान रखना युक्तियुक्त है कि जिस के साथ जितना अधिक नैकट्य हो उस के प्रति उतनी ही अधिक ममता कर्तव्य है। जो सज्जन इस का विचार रखते हैं वे ही अपनी और दूसरों की भी सच्ची उन्नति का साधन कर सकते हैं।

तेरहवां पाठ

अंतरात्मा का अनुसरण

मनुष्य के द्वारा जितने कार्य होते हैं वे सब दो प्रकार के हुआ करते हैं। एक भले दूसरे बुरे। यद्यपि सूक्ष्म विचार के अनुसार प्रत्येक भले कार्य में भी कुछ न कुछ बुराई और बुरे में भी थोड़ी बहुत भलाई का अंश अवश्य रहने के कारण किसी काम को भी पूर्ण रूप से भला वा बुरा नहीं कह सकते,

पर तौ भी बुद्धिमानों का यह निर्धार अयुक्त नहीं है कि जिस में भलाई का अंश अधिक हो वह भला और जिस में बुराई का भाग बहुत हो वह बुरा काम है, पर यतः भलाई और बुराई के अंश का भी ठीक २ निर्णय करना सहज नहीं है अतः यह एक सिद्धांत कर लिया गया है कि जिन कामों में अपने वा पराए धन बल प्रतिष्ठादि की हानि अथवा शारीरिक वा मानसिक क्लेश हो वे बुरे और इस के विपरीत लक्षण वाले भले कार्य हैं। जो लोग समझते हैं कि जिन कामों से किसी की हानि लाभ, सुख दुःख नहीं होता, वे भले वा बुरे क्योंकर कहे जा सकते हैं? उन्हें समझना चाहिए कि कुछ न हो तथापि उन के द्वारा अपना समय व्यर्थ नष्ट होता है जिस की हानि लाखों द्रव्य और वर्षों के परिश्रम से भी पूरी नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे कार्य भी जो स्थूल दृष्टि से भले वा बुरे नहीं जान पड़ते, वस्तुतः बुरे ही हैं और सदाचारियों के पक्ष में त्यागने ही योग्य हैं। किन्तु कष्ट और हानि का पूर्ण ज्ञान भी प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता है। एक समुदाय जिस बात में अपनी क्षति समझता है, दूसरा उसी में वृद्धि मानता है। जैसे बहुत से पढ़े लिखों की समझ में जाति भेद और खाद्याखाद्य इत्यादि का विवेक मिटा देना ही उन्नति का मूल है और स्वयं उस के आचरण का उदाहरण बन जाना स्वतंत्रता, वीरता, बुद्धिमत्ता, देशहितैषितादि के जहाज का मस्तूल है। अथच बहुत से विद्याबुद्धिविशारदों के मत में अपनी जाति पांति तथा अपने पूर्वजों की रीति भांति को त्याग कर के यदि धन मान आदि प्राप्त हो तो उसे प्राप्ति न समझना चाहिए बरंच वह सत्यानाश की जड़ है। ऐसे २ उदाहरणों से विदित होता है कि भलाई और बुराई का ठीक २ जान लेना अतिशय कठिन है। जब कि किसी की बुद्धि सदा एक सी नहीं रहती और लोक समुदाय की रुचि भी भिन्न २ हुआ करती है, तो फिर कौन निश्चय कर सकता है कि अमुक ही कार्य वस्तुतः अच्छा है और अमुक ही सचमुच बुरा। इसलिए अपने जीवन का कल्याण चाहने वालों को यही उचित है कि अपनी अंतरात्मा का अनुसरण करते रहें अर्थात् जिस काम के करने में अंतरात्मा प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करे, उसी को अच्छा काम, ग्राह्यकर्म, सुखद कार्य वा धर्म समझें और इस के विरुद्ध लक्षण वाले को बुरा काम वा पाप जानें। यह मत हमारा ही नहीं, वरंच सभी सभ्य देशों के सदुपदेष्टाओं का है कि अंतरात्मा—अंतःकरण, कांश्यंस (Conscience) वा जमीर (ضمير) के द्वारा अनुमोदित कर्म उत्तम होता है, क्योंकि यह वह शक्ति है कि बड़े २ और अनेक दिन के अभ्यस्त

दुराचारियों को भी कार्यारंभ में एक बार कर्तव्याकर्तव्य का स्मरण करा देती हैं, फिर उस को मानना न मानना उन के आधीन है। जो काम सज्जनों और सत्शास्त्रों ने निंद्य ठहरा रक्खे हैं, उन्हें करने की जब कोई इच्छा करता है, तब उस के हृदय में भय, लज्जा अथवा ग्लानि अवश्य उत्पन्न हो जाती है और बल, विद्या, धन, धृष्टता कुछ भी स्थिरचित्तता का दृढ़ हेतु नहीं होती। ऐसे अवसर पर चिरकालिक अभ्यास के कारण अंतःकरण की गति का प्रभाव चाहे थोड़ा जान पड़े अथवा प्रगाढ़, लोलुपता का पक्ष ले के वास्तविक सत्य से चाहे मुंह चुराया जाय व निरी ढिठाई का अवलंबन कर के न्याय का अपमान किया जाय, किंतु जी में एक प्रकार का खटका और मुख पर वैवर्ण्य आए बिना नहीं रहता, तथा जो लोग उस आंतरिक खटके की उपेक्षा करते हैं, वे एक न एक दिन दुःख और दुर्नाम के भागी अवश्यमेव होते हैं। चाहे कैसे ही कार्यदक्ष क्यों न हों, जिन्हें अपने जीवन के बनने बिगड़ने की विशेष चिंता नहीं होती वे अंतःकरण की अवज्ञा को बुरा समझने पर भी यह समझते हैं कि अमुक काम अकरणीय तो है पर दो एक बार थोड़ा सा कर लेने में क्या हानि होगी। ऐसों को समझना चाहिए कि बड़ी ही भारी आपदा ने आ घेरा हो और उद्धार का उपाय केवल अकर्तव्य ही में दिखाई देता हो, उस समय की बात तो न्यारी है, किंतु साधारण दशा में ऐसा विचार अंत के लिए अच्छा नहीं। दुर्व्यसन पहिले पहिले सभी को तुच्छ और सुखकारक से जान पड़ते हैं पर धीरे २ चित्त को अपना दास बना के जीवन को नरकमय कर देते हैं। उन की गति ठीक इस कथा के समान है कि, एक बार जाड़े के दिनों में अरब देश की बालुकामयी विस्तीर्ण भूमि के मध्य एक पथिक अत्यंत छोटे से पटमंदिर में पड़ा हुआ रात्रि बिता रहा था, इतने में एक शीत के सताए हुए ऊंट ने उस के पास आ के बड़ी नम्रता से निवेदन किया कि यदि कृपा कर के मुझे अपने वस्त्रगृह में ग्रीवा रख लेने भर का स्थान दान कीजिए तो बड़ा उपकार हो, मैं कष्ट से बच जाऊंगा तो आप का गुण गाऊंगा और आप भी मेरी शारीरिक ऊष्मा से कुछ संतोष ही प्राप्त करेंगे। यात्री ने उस के मधुर भाषण से मोहित हो के आज्ञा दे दी। कुछ काल के उपरांत उसे निद्रित सा देख कर लंबग्रीव ने कहा—जहां इतना अनुग्रह किया है वहां यदि आगे के पांव रखने भर को और ठौर दे दीजिए तो मानों मुझे बिना मूल्य क्रय कर लीजिए। मार्गी ने मोहवशात् यह भी स्वीकार कर लिया। यों ही क्रम २ से उक्त चतुष्पद उस के स्थान में आ घुसा और अंत में जब उस ने भूमि संकोच से कष्टित हो के उपालंभ

किया, तो पशु ने उत्तर दिया कि अपने निर्वाह के लिए कहीं छाया ढूंढ़िए, मैं ऐसी रात्रि के जाड़े में ऐसा सुपास छोड़ के कहां जाऊं। यदि हमारे पाठकों को भी उसी मार्गावलंबी की दशा प्रिय हो, तौ तो और बात है, नहीं तो कुकृत्य को सहज एवं सुखदायक न समझ कर उस से सर्वथा बचे रहने के लिए अपनी आत्मा के अनुसरण का अभ्यास करते रहें। जिस बात में जी तनिक भी हिचके उसे यत्नपूर्वक छोड़ दिया करें। इस रीति से स्वयं अनुभव हो जायगा कि मनुष्य की अंतरात्मा ईश्वरप्रदत्त महाप्रसाद है। वह सदा उत्तम ही कर्मों का प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करती है। जिस कार्य में किंचित भी बुराई अथवा अपनी पराई सच्ची हानि की संभावना होती है, उस से दूर रहने का हृदय को उपदेश दे देती है। हमारे पूर्व पुरुषों ने उसे परम-दयामय परमात्मा का निकटवर्ती माना है। यहां तक कि हमारी भाषा में ब्रह्म शब्द को उस का भी पर्याय समझते हैं। जहां दृढ़ निश्चय होता है, वहां ग्रामवासी तक कहते हैं कि हमारा ब्रह्म बोलता है कि यह बात यों ही होगी अर्थात् हमारा अंतःकरण साक्ष्य देता है कि इस बात का परिणाम यों ही होगा इस में संदेह नहीं है। जब कि अंतःकरण की इतनी महिमा है तो फिर उस का उचित आदर करने वाले किसी दुष्कर्मजनित दुरवस्था में क्योंकर पड़ सकते हैं?

●

चौदहवां पाठ

संगति का विचार

अकेले रहने से मनुष्य का निर्वाह कठिन होता है, अतः उसे संगी बनाने की आवश्यकता पड़ती है और यह भी ठीक है कि चित्त को वायु की भांति निर्लिप्त बनाए हुए अनुभव प्राप्ति के हेतु सभी प्रकार के लोगों से मिलते रहना पूर्ण दक्षता का हेतु होता है। जैसे पवन सुगंध दुर्गन्धमय सभी स्थानों में संचार करता है किन्तु उन स्थानों के गुण दोष से लिप्त नहीं होता, ऐसे ही बुद्धिमानों को चाहिए कि भले बुरे सभी लोगों के रंग ढंग देखें, किन्तु उन के संसर्ग से दूषित न हों। पर यह बात केवल उन्हीं से हो सकती है जो

निर्लिप्तता का चिरकालिक अभ्यास रखते हैं, प्रत्येक व्यक्ति से ऐसा होना सहज नहीं है। बहुधा देखा गया है कि संगति के प्रभाव से बड़े बड़ों की गति मति कुछ की कुछ हो गई है। यदि सौभाग्यवशतः ऐसा न भी हो तौ भी लोक समुदाय में चर्चा तो प्रायः फैल ही जाती है और इस का भी भला वा बुरा प्रभाव हुए बिना नहीं रहता। इसलिए आत्मश्रेयोभिलाषियों को उचित है कि संगी बनाने में बहुत सोच विचार से काम लिया करें। यहां पर यह भी स्मरण रखना योग्य है कि घृणा की दृष्टि से तो किसी को न देखना चाहिए, क्योंकि साधु व्यवहार और मिष्ट भाषण के द्वारा मानव मात्र सुमार्गी बनाए जा सकते हैं, तथा ऐसा बर्ताव भी किसी के साथ करना उचित नहीं है जिस में वह रुष्ट हो, क्योंकि इस से अपनी हानि की सम्भावना रहती है। किन्तु जो लोग चोरी जारी द्यूत मद्य छल प्रपंच इत्यादि के लिए प्रसिद्ध हों, उन से अधिक हेलमेल रखना अयोग्य है, क्योंकि ऐसों के पास बैठने से दुर्व्यसन और दुर्नाम का शिर चढ़ाना दूर नहीं है, जिस के द्वारा जन्म नष्ट होना बनी बनाई बात है। जिस जाति के लोगों को अपनी जाति वाले छूने तथा उन के छूए हुए पानी पान इत्यादि ग्रहण करने में छूत समझते हों, उन के पास बैठना उठना भी अनुचित है। यदि उन में से किसी के पास कोई ऐसा ही ग्रहणीय गुण हो जो दूसरे ठौर न मिल सके तो उस के सीखने को भी प्रकाश्य रूप से जाना चाहिए और प्रकाश्य ही रीति से स्पर्श दूर करने वाली प्रचलित पद्धति का अवलंबन कर लेना चाहिए। जो लोग किसी मत के खंडन मंडन का व्यसन रखते हों, वे कैसी ही शिष्टता व साधुता दिखावैं तथापि संगति के योग्य नहीं हैं, क्योंकि ऐसों के द्वारा दूसरों के धर्म, विश्वास तथा जातित्व में विक्षेप पड़ने की संभावना रहती है। इस से सब से अधिक इन से बचना चाहिए, क्योंकि कुछ न होगा तो भी ऐसों के पास बैठने से चित्त ही क्लेशित और विरोध से दूषित होगा। सारांश यह कि जिन के संसर्ग से मन को खेद, स्वभाव को दुराचरण का भय और लोक में कुचर्चा की संभावना हो, उन से दूर ही का शिष्टाचार रखना उचित है और जिन्हें बहुत लोग विद्वान, बुद्धिमान, सदाचारी, परोपकारी, भगवद् भक्त, व्यवहार-कुशल, गुणी इत्यादि समझ कर प्रतिष्ठा करते हों, उन से यत्नपूर्वक मेल बढ़ाना चाहिए। ये यदि जाति और धनादि में अपने से न्यून हों, तौ भी आदरणीय हैं, क्योंकि इन के द्वारा सुमति सुगति सत्कीर्ति इत्यादि जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त होने की बड़ी सुविधा रहती है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी का बचन है कि "मति कीरति गति भूति भलाई। जब जिहिं

जतन जहां जिहिं पाई ।। सो जानेहु सतसंग प्रभाऊ । लोकहु वेद न आन उपाऊ ।।" सतसंग का अर्थ है अच्छे लोगों का संग और अच्छे भाव के साथ संग, जिस के द्वारा यदि दैवात् सद्विद्यादि लाभ करने का अवसर न मिल सके, तथापि चार जने यह समझ कर तो अवश्य ही श्रद्धा करेंगे कि अमुक व्यक्ति ऐसे ऐसों का साथी है, इसलिए "चाहिए अच्छों को जितना चाहिए। ये अगर चाहें तो फिर क्या चाहिए"। ऐसे लोगों को स्वयं अपने गुणों के स्थिर रखने के निमित्त सरल प्रकृति के श्रद्धालु जिज्ञासुओं की चाह रहती है। यदि जान पहिचान न हो तथापि दो चार बार के प्रणाम और स्नेह संभाषण में कुछ ही काल के अनंतर मित्रता हो सकती है। फिर बस, विपत्ति में धैर्य और प्रत्येक कर्तव्य में सुविधा लाभ करना कठिन नहीं रहता। अपनी विद्या, अनुभवशीलता तथा कार्यदक्षतादि यदि अपूर्ण भी हों तो पूर्ण हो जाना संभव है और न हों तो प्राप्त हो जाना दूर नहीं है। कहां तक कहिए, सत्संग की महिमा सभी सद्ग्रंथों में पाई जाती है और उस के द्वारा सभी के सर्वांशिक कल्याण की संभावना रहती है, अतः समस्त कर्त्तव्यों के मध्य उसे भी अत्यावश्यक कृत्य समझना योग्य है। इस में कोई व्यय परिश्रम वा प्रयत्न नहीं करना पड़ता, केवल अवकाश के समय सज्जनों के पास जा बैठना। और वे यदि किसी कार्य में संलग्न वा चिंता में मग्न हों तो सरलता और नम्रता के साथ कथोपकथन करना तथा यथासाध्य उन के सुख दुःख में साथ देना एवं परिश्रम में हाथ बटाना अथच अपने आमोद में उन्हें सम्मिलित कर लेना मात्र पुष्कल है। और इस का फल प्रत्यक्ष अनुभूत हो जायगा तथा हृदय आप ही साक्ष्य देगा कि महात्मा गोस्वामी जी का यह वाक्य अत्युक्ति नहीं है कि—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग। तुलै न ताही सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग।"

●

पंद्रहवां पाठ

संलग्नता

विद्या और सत्संग के द्वारा बुद्धि प्रकाशित होने पर बहुत से कर्तव्या-कर्तव्य आप से आप सूझने लगते हैं जिन में से यदि दो एक का भी भली

भांति संग्रह त्याग निर्वाहित हो जाय तो जीवन के साफल्य में बड़ी भारी सुविधा होती है, किंतु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे बृहत्कार्य सहज में नहीं होते। भले कामों के पूर्ण होने में अनेक अड़चलें तथा बुरे कर्मों की विपन्नता में भी बहुत से प्रलोभन बाधा डालते हैं। दुष्प्रकृति के लोग बहुधा निष्कारण भी केवल अपने मनोविनोद के उद्देश्य से विरोध कर उठते हैं, आलस्य अथवा आत्मपक्ष के अनुरोध से बहुतेरे चिरपरिचित मित्र भी विरोधी बन जाते हैं और ऐसी दशा में एक वा अनेक बार उद्योग की पूर्ण सफलता में अवरोध की संभावना हुआ करती है। इसी से प्राचीन काल के नीतिवेत्ता कह गए हैं कि "श्रेयांसि बहुविघ्नानि"। परन्तु बुद्धिमान को उचित है कि विघ्नों का भय न कर के अपने सदनुष्ठान में लगा ही रहे। यह समझ ले कि मरना तो एक दिन हई है, यदि अपना काम पूरा कर के मरेंगे तो क्या ही कहना है और जो अधूरा छोड़ के मर गए तौ भी दूसरे पूर्तिकारकों को सहारा मिलेगा, फिर संकल्प से विमुख हो के लोक निंदा का पात्र बनने में क्या रक्खा है ? बस, प्रत्येक निराशता के समय इस प्रकार के विचार से चित्त को स्थिर रख कर दृढ़तापूर्वक अपने उद्योग की पूर्ति में लगा रहने से प्रायः सभी कार्य पूर्ण हो सकते हैं। वरंच कुछ काल के अनंतर निंदक लोग प्रशंसक और विघ्नकर लोग सहचर बन जाते हैं, तथा इस रीति से कठिनता मात्र के सरलता में परिवर्तित हो जाने की बड़ी भारी संभावना होती है। यदि दो एक बार के उद्योग से ऐसा न हो तथापि इतना हुए बिना तो कदापि नहीं रहता कि पहिली बार जिन बातों से और जिन लोगों के द्वारा धोखा खाने में आता है, दूसरी बार उन से बचे रहने की अथवा उन्हें अपने अनुकूल बनाने की यथाशक्ति पूरी चेष्टा बनी रहती है, जिस से विघ्नों के एक २ बृहदंश का उत्तरोत्तर नाश होता रहता है और अंत में मनोरथ की सफलता में कोई भी संदेह नहीं रहता। इस से जिस काम को उठाना चाहिए उस के पहिले यह सोच लेना चाहिए कि विघ्नों की उत्पत्ति बहुधा संसार के क्षुद्र अवयवों अथवा लघुचेता लोगों से हुआ करती है और हमारा अनुष्ठान हमारी अन्तरात्मा एव सर्वशक्तिमान परमात्मा की प्रेरणा से उत्थित हुआ है फिर यह क्योंकर संभव है कि कोटि विघ्न भी एकत्रित होकर हमारी वास्तविक हानि कर सकें ? हां, कुछ दिन वे अपना प्राबल्य दिखलावेंगे तो दिखला लें, यह कोई नई बात नहीं है, सभी बृहत्कार्यों के कर्ताओं को हुआ करती है, पर कोई खटमलों के डर से खाट नहीं छोड़ देता। फिर हमीं क्यों अपने पूर्व पुरुषों के इस वाक्य का उचित आदर न करें कि 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन

नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः। विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥" इस रीति का दृढ़ संकल्प रखने वालों के द्वारा ऐसा कोई भी कर्तव्य नहीं है जो न हो सके। जो बातें प्रायः असंभव सी बोध होती हैं वे भी श्रम एवं साहसपूर्वक संलग्न रहने से पूर्ण हुए बिना नहीं रहतीं। बहुधा लोग कहा करते हैं कि पत्थर पर खेती नहीं होती पर कोई संलग्नता का दृढ़व्रती नित्य किसी पर्वत पर नाज और जल छोड़ता रहे तो कुछ दिनों में प्रत्यक्ष देख लेगा कि अन्न सड़ २ कर वायु द्वारा उड़ी हुई धूलि से सम्मिलित होते २ स्वयं उपजाऊ भूमि का रूप धारण कर लेता है और उस पर लहलहाता हुआ हरा भरा शस्यक्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगता है। ऐसे २ अनेक उदाहरणों से स्वयं सिद्ध है कि मनुष्य के पक्ष में असाध्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर से उतर कर संसार में उसी की सामर्थ्य है। इसलिए उसे संकल्प की सिद्धि में विक्षेप की आशंका करनी योग्य नहीं है। जो लोग काल कर्म और ईश्वरादि का नाम ले के अथवा "ह्वैहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥" इत्यादि बचनों पर निर्भर कर के कर्तव्य से विमुख रहते हैं वा आरंभशूरता का आश्रय देते हैं, वे निश्चय भूल करते हैं, क्योंकि काल और कर्म जड़ हैं, उन का बनना बिगड़ना हमारे आधीन है। हम यदि अपने समय को उचित रीति से बिताने में कटिबद्ध रहें तथा अपने कर्मों को नियमविरुद्ध न होने दें, तो काल एवं कर्म स्वयं कुछ प्रभाव नहीं दिखला सकते, अथच ईश्वर भी सच्चे उद्योगियों को निराश नहीं करता, अतः हमें उस के भरोसे पर अपने काम में लगा रहना ही योग्य है। और उपर्युक्त चौपाई का अर्थ यों समझना उचित है कि राम ने मानव जाति को सभी कुछ कर सकने के योग्य रचा है और संसार में सभी पुरुषों और पदार्थों के मध्य कुछ न कुछ विलक्षणता स्थापित कर दी है, उस का ज्ञान प्राप्त किए बिना उस से उपकार न लेना अथवा किसी कष्ट वा हानि के भय से अपना ठहराया हुआ काम न करना वा कुछ कर के छोड़ देना हमारा अपराध है। नहीं तो जितने बड़े २ प्रशंसनीय कार्य हैं सब मनुष्य ही के द्वारा संपादित होते हैं। यदि हम मनुष्यत्व का सच्चा अभिमान रखते हैं तो हमें उचित है कि कभी किसी शंका संकोचादि को मुंह न लगा कर अपने कर्तव्य में प्राण पण के साथ लगे रहें, शीघ्रता और अधीरता का नाम न लें, फिर प्रत्यक्ष देख लेंगे कि कठिन से कठिन कार्यों के सहज होने में चारों ओर से प्रगट एवं प्रच्छन्न रूप का कैसा कुछ साहाय्य प्राप्त होता है अथच कैसे संतोष के साथ जीवन की सार्थकता हस्तगत होती है।

सोलहवां पाठ

आत्मनिर्भर

यह सच है कि सद्व्यवहार और मिष्टभाषण के द्वारा मनुष्य को बहुत से शुभचिन्तक मिल जाते हैं तथा विद्या एवं सत्संग से निर्वाह के अनेक मार्ग खुले हुए दिखाई देते हैं, किन्तु इस में कोई संदेह नहीं है कि संसार की सभी बातें अस्थिर हैं। कभी २ बड़े २ विश्वासपात्रों की ओर से भी यथेच्छ रूप से आशा की पूर्ति नहीं होती अथच चिरभ्यस्त विषयों के द्वारा भी मनोरथ सिद्धि में त्रुटि की आशंका हो जाया करती है, और ऐसे अवसर पर चित्त को क्लेश हुए बिना नहीं रहता, अतः बुद्धिमान को उचित है कि बहुत से सहायक रखता हुआ और बहुत सी बातें जानता हुआ भी किसी के भरोसे न रह के केवल अपना भरोसा रक्खे। यह विचार मन से कभी दूर न होने दे कि यद्यपि सभी सब कुछ नहीं कर सकते, सभी को सभी प्रकार के पुरुषों और पदार्थों की सहायता का प्रयोजन पड़ता रहता है, एक मनुष्य यदि अपने सब काम अपने ही हाथ से करना चाहे तो बड़ी कठिनता उठानी पड़े, किन्तु उद्योगी व्यक्ति की शोभा इसी में है कि किसी बात में दूसरों का आसरा न रख के काम पड़ने पर कुंआ खोद के पानी पीने का साहस रक्खे। जीवन को क्षणभंगुर केवल धर्माचरण में शीघ्रता करने के निमित्त मानना चाहिए न कि लोक व्यवहार के साधन में! जो लोग बात २ में कहा करते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, उन्हें समझना चाहिए कि चना एक छोटा सा निर्जीव दाना है, किन्तु हम साढ़े तीन हाथ के विद्याबुद्धिविशिष्ट हट्टे कट्टे जीवधारी हैं, हमें उस के दृष्टांत को ले बैठना उचित नहीं है, बरंच उच्च भाव के साथ यह विचारना योग्य है कि सूर्य अकेला ही सारी सृष्टि में प्रकाश करता है, सिंह अकेला ही समस्त बन भूमि पर स्वामित्व करता है, यों ही उद्योगी पुरुष अकेला ही सब कुछ कर सकता है, फिर क्या हम पुरुष नहीं हैं अथवा उद्योग की योग्यता नहीं रखते? आरम्भ में सभी असाधारण कामों के करने वाले एकाकी ही कटिबद्ध होते हैं फिर हमीं दूसरों का मुखावलोकन कर के अकर्मण्य क्यों बनें? अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता तथापि उछल कूद कर अपना बचाव कर लेता है, हम क्या उस से भी तुच्छ हैं कि अपने निर्वाह के लिए औरों का मुंह देखें? हमारा जन्म अकेले ही हुआ है, मृत्यु भी अकेले ही होगी,

रोग वियोगादि का दुःख भी अकेले ही सहना पड़ता है, आहार निद्रादि के सुख का अनुभव भी अकेले ही करते हैं, फिर अपने कर्तव्य ही में अन्य जनों की मुख प्रतीक्षा क्यों करें ? यदि कोई स्वयं साहाय्य करना स्वीकार करे तो उस की कृपा है अथवा परमावश्यकता के समय हमारी प्रार्थना पर ध्यान दे तो उस की बड़ाई है, किन्तु ईश्वर ने हमें भी तो शरीर और प्राण व्यर्थ नहीं दिए, फिर इन्हें तुच्छ क्यों बनावें । इन के द्वारा क्या नहीं हो सकता जो दूसरों की सहायता के बिना हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। प्राचीन लोगों का सिद्धांत है कि अपना काम अपने ही हाथ से होता है, दूसरों को न उस की उतनी ममता होती है न उस के द्वारा उतनी आशा होती है। इसी से लोग प्रायः उस के लिए उतने यत्नवान भी नहीं होते। इसीलिए अपने मनोरथ की सिद्धि के उपाय में दूसरों की सहायता पर निर्भर करना बुद्धिमत्ता से दूर है। बस इस रीति के विचार को हृदय में दृढ़ता के साथ स्थापित रखने से हमारे पाठकगण आत्मनिर्भरता के अधिकारी हो सकते हैं। और ऐसी दशा में देख लेंगे कि जगत् और जगदीश्वर की सहायता भी ऐसे ही साहसी पुरुषों को प्राप्त होती है, जो अपनी सहायता आप करते हैं। नहीं तो आश्रितों की सहायता करने वाले सत्पुरुष तो सैकड़ों में एक ही आध हुआ करते हैं और किसी बड़े ही भाग्यशाली को मिलते हैं। साधारण समुदाय की रीति यही है कि लोग जिसे अनुद्यागी और पराश्रयाकांक्षी समझ लेते हैं उस का ममत्व परित्याग कर के उसे तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं और ऐसा होने से धन बल विद्यादि की विडम्बना ही होती है। अतः श्लाघ्य जीवन के अभिलाषियों का मुख्य धर्म यही है कि मेल मिलाप सब से रक्खें पर आश्रय केवल जगदाश्रय का और अपने हस्त-पदादि का रक्खा करें। इस का आरम्भ यों करणीय है कि नित्य कर्मों में अपने पक्ष के कार्य्य मात्र अपने ही हाथ से करें और नैमित्तिक कामों में यह प्रतिज्ञा रक्खें कि जो कुछ अपने किए हो सकता है उस के लिए मित्रों और सहायकारियों को कष्ट देना अनुचित है। इस के अतिरिक्त किसी ऐसे हस्तकौशल का अभ्यास रखना भी अत्युचित है, जिस की बहुत लोगों को बहुधा आवश्यकता पड़ती रहती हो, अथवा जो बहुतों के निर्दोष मनोविनोद का हेतु हो। इन कर्तव्यों में परिश्रम को न डरे और किसी की लज्जा न करे तो प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा कि उद्योगी के लिए कोई कार्य कठिन नहीं है और केवल अपना सहारा रखने वालों को चारों ओर से सहारा मिलता रहता है।

●

सत्रहवां पाठ

अर्थ शुद्धि

मनुष्य कैसा ही कुलीन प्रवीण सदाचारी, लोकोपकारी इत्यादि क्यों न हो किन्तु इस गुण के बिना न संसार में प्रतिष्ठा पाता है, न अपने उद्योगों की पूर्ति में साहाय्य लाभ कर सकता है। क्योंकि धन वह पदार्थ है जिस पर सब लोगों के प्राय: सभी काम निर्भर करते हैं। इसी से जगत् में इस की इतनी महिमा है कि लोग लक्ष्मी (द्रव्य) को विष्णु (जगत्पालक सर्वव्यापी ईश्वर) की स्त्री मानते हैं। अर्थात् घर में पुरुषों की अपेक्षा जितना अधिकार और सामर्थ्य स्त्रियों का होता है उतना ही सृष्टि के मध्य ईश्वर के उपरांत रुपए पैसे को है। अतः जो कोई इस के सम्बन्ध में सावधान नहीं रहता उस के द्वारा उस के सम्बन्धियों के निर्वाह में कठिनता पड़ती है और इसी कारण से जिसे लोग दो एक बार जान लेते हैं कि धन के विषय में स्वच्छ नहीं है, उस के साथ सहानुभूति रखते हुए हिचकते हैं। और ऐसी दशा में प्राय: आवश्यकता के अवसर पर शुकलोचनत्व कर जाते हैं अथवा नियत काल के उपरांत सब शील संकोच छोड़ कर अपने द्रव्य की पुनः प्राप्ति के उपाय में कटिबद्ध होते हैं। विचार कर देखो तो ऐसा करने में उन का दोष नहीं है। यदि न करें तो अर्थ संकोच के द्वारा कष्ट एवं हानि सहनी पड़े अथच करने में ग्रहीता को क्लेश होता है। यद्यपि वह क्लेश न्यायविरुद्ध नहीं है पर है तो दुःख ही, जिस से बचने में सचेष्ट रहना बुद्धिमानों का मुख्य कर्तव्य है। इसलिए जिन्हें यह सच्ची इच्छा हो कि हमारे द्वारा दूसरों को और दूसरों के द्वारा हम को आन्तरिक वा शारीरिक पीड़ा न हो, उन्हें उचित है कि एत-द्विषयिणी असावधानता से सदा सर्वभावेन दूर रहा करें। इस योग्यता के प्राप्त करने की आरम्भिक रीति यह है कि किसी दशा में व्यय को आय से अधिक न होने दें, भोजन वस्त्र और गृह सामग्री आदि में किसी की रीस न करें, निर्वाहोपयोगी वस्तुओं को व्यय करते समय उनकी चमक दमक पर न रीझ कर स्वल्प मूल्य और पुष्टता पर अधिक ध्यान रक्खें, किसी मिथ्या प्रशंसक की बातों में आ कर अथवा धनवानों भी बराबरी वा बराबर वालों के साथ अहमहमिका कर के कभी अपने वित्त से बाहर धन न उठावैं, किसी की सहायता करने को जी चाहे, वा कोई आत्मीय व्यक्ति अनुरोध करे तौ भी सामर्थ्य से अधिक व्यय न होने दें। ऐसी २ युक्तियों का अभ्यास बनाए

रखने से साधारण आवश्यकताओं के लिए धन की न्यूनता कदापि न सतावैगी, क्योंकि यह बुद्धिमानों का अचल सिद्धान्त है कि जो किसी पदार्थ को व्यर्थ नहीं खोता वह समय पड़ने पर उस के लिए दुःखित भी नहीं होता। हां, यदि ऐसी ही आवश्यकता आ पड़े कि किसी से मंगना मांगे बिना संभ्रम की रक्षा कठिन जंचती हो, तो जिस से धन वा कोई पदार्थ ले, उसे ठीक समय पर लौटा देने का पूरा विचार रक्खें, वरंच मांगने के समय फेर देने का काल ऐसा ही नियत करे कि कुछ पूर्व ही वचन की सत्यता दृढ़ सम्भव हो। यदि किसी बड़े ही भारी विशेष कारण से मध्य में तनिक भी विलम्ब देख पड़े तो स्पष्ट रूप से दाता को विनयपूर्वक समाचार दे दे। इस रीति से मर्यादा बनी रहती है, नहीं तो यदि विवादजनित विषाद न भी झेलने पड़ें तो भी "व्यौहरे की राम २ जम का संदेशा" इस कहावत का उदाहरण तो अवश्य ही बनना पड़ता है, अथवा जीवन का कुछ वा बहुत भाग निन्दनीय एवं निर्लज्ज दशा में बिताना पड़ता है, जो सज्जनों के पक्ष में महा दूषित है। इसी प्रकार अपना कोई पदार्थ वा धन का कुछ भाग उधार की भांति केवल उन्हीं लोगों को दे, जिन से ठीक समय पर फेर पाने का दृढ़ निश्चय हो अथवा लेते हुए संकोच वा दया बाधा न करे। यदि किसी ममतापात्र को कुछ देने की आवश्यकता जान पड़े, तो केवल इतना ही दे, जितने को समझ ले कि फिर के न मिलैगा तौ भी कोई विशेष हानि नहीं है। जैसे अपने नीचे उठ जाता वैसै इन के नीचे उठ गया सही। पर ये बातें भी अत्यन्त आवश्यकता के समय की हैं, नहीं तो आपस में जहां तक हो सके लेने देने का नाम न लेना चाहिए और जिन के साथ कोई पूर्व सम्बन्ध न हो उन से काम पड़ने पर शील संकोच से काम न ले कर लेन देन स्वच्छ रखना चाहिए। इस में यद्यपि पहिले कुछ रूक्षता अवलम्बन करनी पड़ती है और इसी कारण कोई २ लोग कभी २ नाक भौंह भी चढ़ा लेते हैं, किन्तु कुछ ही काल के लिए। परिणाम में दाता और ग्रहीता दोनों का मंगल ही होता है, वरंच आपस का सुख प्यार सदा एकरस बना रहता है। और यदि दोनों बुद्धिमान हों तो नित्य २ बढ़ता रहता है। इसलिए हमारे वाचकवृन्द को यह वचन सर्वकाल अनुसरणीय है कि "आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जा सुखी भवेत्"। और सब विषयों में सुशीलता बहुत अच्छा गुण है, किन्तु यतः रुपया कठोर पदार्थ होता है, इस से उस के सम्बन्ध में उक्त गुण के द्वारा अनुकूलता न होने के कारण दोष उत्पन्न होने का भय रहता है, अतएव इस के व्यवहार में

सदा सावधान ही रहना उचित है। नियमविरुद्ध इस का छोटे से छोटा भाग भी अपने पास से चला जाय अथवा दूसरे के यहां से आ जाय तो यत्न पूर्वक फेर लेना और फेर देना ही श्रेयस्कर है। नहीं तो सब सद्गुण लुप्तप्राय हो जाते हैं और उन के स्थान पर दोष ही दोष जुट जाते हैं। इस से अपना भला चाहने वालों को अन्य सब बातों से अधिक धन एवं तद्द्वारा प्राप्य वस्तु-मात्र के व्यवहार की स्वच्छता पर ध्यान रखना चाहिए।

●

अठारहवां पाठ

स्वत्वसंरक्षण

संसार में जिन २ व्यक्ति और वस्तुओं का हमारे साथ निकटस्थ वा दूरस्थ संबंध है, उन सब का हम पर और हमारा उन पर कुछ न कुछ स्वत्व हुआ करता है, जिस का उचित ज्ञान प्राप्त किए बिना और तदनुकूल आचरण रक्खे बिना व्यवहारसिद्धि में बड़ी भारी बाधा पड़ती रहती है। अतः इस बात पर भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि किस का कितना स्वत्व है और तदनुसार उस के साथ हमें कैसा बर्ताव रखना उचित है। यद्यपि प्रत्येक के स्वत्व का ठीक २ समझना बहुत दिन के अनुभव बिना कठिन है किंतु प्राचीन काल के बुद्धिमानों ने जो उस के लिए रीति ठहरा दी है, उस पर पूर्ण रूपेण दत्तचित्त रहने से प्रायः इस विषय में भूल नहीं पड़ती, अतः यहां पर हम दिग्दर्शन की भांति स्वत्व श्रेणी को प्रकाशित किए देते हैं। सद्-ग्रंथावलोकन और सज्जन संगति के अभ्यासी जन उसी के अनुसार सब के स्वत्व का निर्धार कर सकते हैं।

जगत में तीन प्रकार के लोग हैं—बड़े, छोटे और बराबर वाले। उन में से बड़ों में माता पिता और गुरू का सब से बड़ा पद है, क्योंकि जननी और जनक न होते तो हमारा शरीर एवं तत्संबंधी लोक व्यापार कुछ भी न दृष्टि आता। अस्मात् इन दोनों की सेवा में यदि हम अपना सर्वस्व वरंच प्राण तक अर्पण कर दें, तो भी कोई करतूत नहीं करते, क्योंकि सब कुछ उन्हीं का प्रसाद है।

हां, किसी कारणवशतः इन के द्वारा अपमानित वा कष्टित हो कर यदि हम इन से मुंह फेरें, तो हमारी नीचता है। जिस समय हम किसी प्रकार अपने निर्वाह के योग न थे, उस समय इन्हीं ने वर्षों नाना कष्ट एवं विविध हानि सह कर, हमें पाल पोस के इतना बड़ा किया है, फिर हम इन के उपकारों का बदला क्योंकर दे सकते हैं। अतः जन्म भर इन के आज्ञापालन और प्रसन्नतासंपादन में तन मन धन से संलग्न रहना ही हमारा मुख्य कर्तव्य है। इसी प्रकार विद्या सभ्यता प्रतिष्ठा एवं कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हमें गुरू के द्वारा प्राप्त होता है, अस्मात् इन का भी प्रेम और प्रतिष्ठा संसार भर से अधिक करणीय है, अथच जो लोग इन के मित्र हों तथा हमारे साथ इन का स्नेह करते हों वा जाति संबंध में इन के तुल्य हों, वे भी इन्हीं की भांति आदरणीय हैं, किंतु मुख्य इन्हीं को समझना चाहिए। इन के अतिरिक्त न्यायपरायण राजा अथच तद्द्वारा नियत किए हुए शासनकर्ता माननीय हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा हमारे यावत् मान्य पुरुषों की रक्षा होती है। इन चारों के उपरांत जाति, वय, विद्या, सज्जनता, धन, बल, मान इत्यादि किसी बात में जो अपने से बड़ा हो उस का बड़ों का सा आदर करना उचित है। क्योंकि ऐसे लोगों की उपर्युक्त मान्य चतुष्टय ही से उपमा दी जाती है, पर यह समझे रहना चाहिए कि उपमान सदा उपमेय से श्रेष्ठ होता है।

छोटों मे पुत्र शिष्य और लघु भ्राता मुख्य स्नेह पात्र हैं। इन की तन धन और सदुपदेश से सहायता करनी चाहिए। तथा इन के सामने अपना आचरण भी ऐसा ही रखना उचित है जिसे देख कर ये सदाचार के अनुरागी बनें। ये यदि कोई अनुचित कार्य करें तथापि इन से घृणा न कर के प्रीतिपूर्वक समझा देना योग्य है। जिस बात को न समझ सकें उसे बहुत सरल भाषा में समझाना उचित है। यदि समझाने पर ध्यान न दें तो ताड़ना भी अनुचित नहीं है किंतु इन की ओर से निश्चेष्ट हो बैठना ठीक नहीं। बड़ों का आदर, छोटों पर दया, बराबर वालों पर स्नेहनिर्वाह की रीति, सजीवन के उपाय इत्यादि हितकारक विषय बराबर सिखलाते ही रहना चाहिए। और इन्हीं की भांति उन के साथ भी बर्तना चाहिए जो गृह कुटुंब जाति पड़ोस ग्राम देश में अपने से न्यून सामर्थ्य रखते हों।

बराबर वालों के साथ अपनी देह का सा ममत्व रखना उचित है। उन में सब से अधिक स्वत्व स्त्री का है। यहां पर यह भी स्मरण रखना योग्य है कि जैसा बर्ताव जिस श्रेणी के पुरुषों से कर्तव्य है वैसा ही उन की स्त्रियों

से भी करणीय है, किंतु विलक्षणता इतनी है कि सच्चे जी से प्रीति करने वाले मित्रों की स्त्रियां माता के तुल्य हैं यद्यपि उन के पति बराबर ही का अधिकार रखते हैं। इन के अतिरिक्त जो जान पहिचान के लोग किसी बात में अपने बराबर हों और स्नेहप्रदर्शन करते हों, वे भी बराबर ही के स्वत्वाधिकारी हैं किंतु ऊपर कहे हुओं से उतर के और इन के उपरांत जाति और देश के ज्ञानी गुणी सुरीतिप्रचारक सज्जनताप्रदर्शक इत्यादि सभी लोग साहाय्यपात्र हैं, किंतु पहिले घर वालों के सब अभाव पूरे कर लेना चाहिए तब मित्र बान्धव प्रतिवासी देशवासी आदि की सहायता का उद्योग करना चाहिए और विजातीय, विधर्मीय इत्यादि से केवल उतना ही संबंध रखना चाहिए जितना स्वार्थसिद्धि के लिए प्रयोजनीय हो। यह नहीं कि "बाहर वाले खा गए घर के गावैं गीत"।

जिन के साथ हम ने कभी कोई भलाई नहीं की, उन के ऊपर हमारा कुछ भी स्वत्व नहीं है। यदि उन में कोई अपनी ओर से हमारे हितसाधन की चेष्टा करे तो उसका अनुग्रह है। हमें उस के प्रत्युपकार का अवसर देखते रहना चाहिए; किन्तु यदि हमारी आवश्यकता के समय प्रार्थना करने पर भी ध्यान न दे तो उपालंभ का पात्र नहीं हो सकता।

जिस ने धोखा दे कर हमारे धन, मान, प्राण, एवं धर्म में बाधा डालने का मानस किया हो, वह कैसा ही क्यों न हो किन्तु त्याज्य है, उस का हम पर कोई स्वत्व नहीं।

इसी प्रकार अपने तथा आत्मीय वर्ग के वह पदार्थ जिन के द्वारा अपना एवं उन का शरीर अथच सम्भ्रम रक्षित रहता हो, नित्य वा कभी मन प्रसन्न होता हो, जिन के देखने सुनने से श्रेष्ठ कर्मों की उत्तेजना वा मान्य व्यक्तियों का स्मरण होता हो, वे भी यत्नतः संरक्षणीय हैं। उन में से यदि किसी पर हमारी विशेष रुचि न हो, तौ भी उस का तिरस्कार करना योग्य नहीं है।

इस रीति पर ध्यान रक्खे हुए जो लोग प्रत्येक पुरुष एवं पदार्थ के स्वत्व की रक्षा करते रहते हैं, वे जीवनयात्रा में बड़ी भारी सुविधा प्राप्त कर के सुख और सुकीर्ति के भागी होते हैं। क्योंकि सब किसी को उन के स्वत्व का विचार रहता है और यदि दैववशात् कोई उस के संरक्षण में त्रुटि करे, तो बहुत लोग सहायक हो जाते हैं।

रहा अपना स्वत्व, उस का किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा अदर्शन हो तो प्राप्ति के लिए नम्रतापूर्व विनय करनी चाहिए और छोटों के द्वारा हो तो

दयापूर्वक क्षमा करते रहना तथा भविष्यत् के लिए सावधानता की शिक्षा देते रहना उचित है, एवं बराबर वाले ऐसा करें तो यदि धन मानादि की विशेष हानि न देख पड़े तो उपेक्षाकर जानी योग्य है, किन्तु यदि इतर लोग ऐसा साहस करें तो पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिकार कर्त्तव्य है, नहीं तो अक्षमता का भान होने से गौरव का ह्रास होना सम्भव है। अतः जैसे दूसरों के स्वत्व पर ध्यान रखना चाहिए वैसे ही अपने का भी पूरा विचार रखना उचित है, फिर बस, साधु जीवन प्राप्तकरने में अड़चल नहीं रहती।

उन्नीसवां पाठ

आस्तिकता

इस शताब्दी में थोड़े से यूरोप के विद्वानों को ईश्वर के अस्तित्व एवं धर्मग्रन्थों के श्रेष्ठत्व से अरुचि सी हो गई है और उन्हीं की देखा देखी भारत के कुछ लोगों की प्रवृत्ति भी नास्तिकता की ओर देखने में आती है। किन्तु विचार कर देखिए तो इस देश के लिए यह बात किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि यहां के लोग सदा से सनातन प्रथा का अवलम्बन करते आए हैं और आज भी ऐसे ही लोग तृतीयांश से अधिक हैं जो आत्मिक अथच सामाजिक हित उसी के अनुसरण में समझते हैं और वास्तव में आर्य संतान के पक्ष में वही सच्चे लाभ का हेतु है, क्योंकि उस के संस्थापक महर्षिगण अपने जीवनकाल में विद्या बुद्धि दूरदर्शितता एवं लोकहितैषिता के लिए समस्त संसार के श्रद्धास्पद थे अथच आज भी सभ्य देशों के असाधारण पुरुष उन के नाम का आदर करते हैं। उन सब ऋषियों की प्रायः ईश्वर के मानने ही में अधिक सम्मति पायी जाती है। यहां पर हम यह सिद्ध करना नहीं चाहते कि ईश्वर है वा नहीं, किन्तु अपने पाठकों को यह सम्मति अवश्य देंगे कि इन झगड़ों में न पड़ कर उस का मान लेना ही श्रेष्ठ समझें, क्योंकि बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि ईश्वर को वाद में न ढूंढो, वरंच विश्वास में ढूंढो। कारण यह है कि तर्क में बड़ी भारी शक्ति होती है, उस के अच्छे अभ्यासी बातों में दिन को रात और रात को दिन ठहरा देना असंभव नहीं

समझते। किन्तु यह एक ऐसा गूढ़ विषय है कि बुद्धि जितनी अधिक दौड़ाई जाय उतनी थकती ही है, ठीक निर्णय नहीं कर सकती, वरन् भ्रम को बढ़ा के समय और आत्मिक शांति को वृथा नष्ट कर देती है। अथच इस के विपरीत आंखें मींच कर मान लेने में हृदय को एक अकथनीय आनंद लाभ होता है, प्रत्येक दशा में बड़ा भारी सहारा मिलता है और समाज में व्यर्थ का बखेड़ा उठा के आक्षेप का पात्र नहीं बनना पड़ता। अस्मात् उस के होने वा न होने के लिए पुष्ट प्रमाणों के हेतु धावमान न रह कर यों मान लेना उचित है कि यदि वह है, तब तो हमें अपना विश्वासी समझ कर हमारा कल्याण करेहीगा और नहीं है तौ भी उस के भय से हम यथासाध्य बुरे कामों से बचे रहते हैं, उस की कृपा के आसरे भलाइयों की ओर थोडी बहुत श्रद्धा रखते हैं, उसे सब काल तथा सब स्थानों पर अपना सहायक समझ कर विपत्ति के समय अधीरता के कारण चित्तवृत्ति को निर्बल नहीं होने देते, इसी में क्या बुराई है ? यदि कोई कहे कि इस प्रकार का विचार साहसिकता के विरुद्ध है, तो उस से कहना चाहिए कि किसी सहारे के बिना निरी साहसिकता ही से काम नहीं चलता। अतः हम एक महान् शक्ति विशिष्ट का सहारा रखते हैं। फिर हमारी साहसिकता में क्योंकर बाधा पड़ सकती है ? किन्तु यह बातें केवल मुख से न कह कर सच्चे जी से मानना भी उचित है कि ईश्वर सब बातों में सब से श्रेष्ठ, सब कुछ करने में समर्थ, सबका एकमात्र स्वामी और अपने भक्तों का सब प्रकार से सच्चा सहायक है। उस का भजन चाहे जिस रीति से किया जाय निष्फल नहीं जाता। बस इस प्रकार के विश्वास का अभ्यास रखने से अन्तःकरण स्वयं गवाही देने लगेगा कि परमेश्वर अवश्य है, और उस के विश्वास में अप्रतर्क्य शक्ति, एवं प्रेम में अनिर्वचनीय आनन्द है, जिस का अनुभव केवल मन को होता है, वचन को वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं। उस के रूप गुण स्वभावादि सब अनंत हैं। अतः यह कोई नहीं कह सकता कि वह केवल ऐसा ही है, ऐसा नहीं। जो ऐसा कहने का बाना बांधते हैं वे व्यर्थ मतवाद में पड़ कर सच्चे सुख से वंचित रह जाते हैं। अस्मात् जैसी अपनी रुचि हो और जाति की परम्परा हो वैसा ही उसे मानते रहना उचित है, पर सच्चाई के साथ, न कि केवल कथनमात्र से। रहे उस की आराधना के नियम, वे वैसे ही ठीक हैं जैसे अपने यहां प्रचलित हों क्योंकि प्रत्येक आचार्य ने अपने देश और जाति के अनुकूल उन्हें बहुत उत्तमता से नियत कर रक्खा है। हां, यदि कोई हमारी निज सम्मति लिया चाहे तो यही कहेंगे कि अवकाश के समय किसी स्वच्छ एवं

सुदृश्य स्थान पर अकेले अथवा अपने ही से चित्त वालों के साथ बैठ कर, यदि अभ्यास हो तो यों ही, नहीं तो संगीत, साहित्य, सौंदर्य इत्यादि की सहायता से चित्त को उस की ओर लगा के उस की महिमा और अपनी दीनता का स्मरण करने से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। और उस के प्रसन्न करने के लिए यों तो सभी धर्म्मग्रंथों में लिखे हुए काम उत्तम हैं, किन्तु हमारी समझ में यतः वह जगत् भर का राजा और पिता है, अस्मात् उस की प्रजा एवं पुत्रों के हित में संलग्न रहना उस की प्रसन्नतासम्पादन का मुख्य उपाय है। पर जगत् भर की भलाई कर सकना प्रत्येक व्यक्ति के पक्ष में सहज न होने के कारण जहां तक हो सके अपने देश भाइयों की भलाई में तन मन धन और वचन से लगे रहना आस्तिक मात्र का महा कर्तव्य है। इस के साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि किसी मत का खंडन मंडन वा किसी के धर्मग्रंथ तथा आचार्यादि मान्य पुरुषों और मंदिरादि श्रद्धेय पदार्थों का अनादर करना महा नीचता है। आस्तिक्य में इन बातों से बाधा ही पड़ती है और आपस में वैमनस्य बढ़ने के अतिरिक्त कोई फल नहीं प्राप्त होता। अतः ऐसी चर्चाओं से दूर रह कर ईश्वर को अपने प्रेम एवं प्रतिष्ठा का आधार बना लो, फिर प्रत्यक्ष हो जायगा कि उस की कृपा और सहायता से कैसा कुछ सुख संतोष और सुविधा का लाभ होता है।

बीसवां पाठ

कर्तव्यपालन

कर्तव्य उन कर्मों को कहते हैं जो अपने तथा अन्यों के कल्याणार्थ मनुष्य को अवश्यमेव करने चाहिए। वे दो प्रकार के होते हैं, एक नित्य, दूसरे नैमित्तिक। अभी तक जिन बातों का वर्णन किया गया है वे नित्य कर्तव्य से संबद्ध हैं अर्थात् प्रतिदिन वरन प्रतिक्षण उन पर ध्यान रखना उचित है। अब रहे नैमित्तिक कर्तव्य, उन के दो भेद होते हैं। एक साधारण दूसरे विशेष। साधारण वे हैं जो लोकरीत्यानुसार अपने नियत समय पर अवश्य

करने पड़ते हैं अथवा दैहिक दैविक भौतिक योग से कभी कभी अवश्य ही उपस्थित होते रहते हैं, जैसे होली दिवाली इत्यादि पर्व और जन्म मरणादि घटना। इन से संबंध रखने वाले कृत्यों में नित्य की अपेक्षा अधिक व्यय और परिश्रम करना पड़ता है और उस की उपेक्षा करना किसी प्रकार उचित नहीं है, किंतु इतना ध्यान तौ भी रखना चाहिए कि सामाजिक रीति में त्रुटि और अपनी सामर्थ्य से अधिक कुछ भी करना बुद्धिमानी से दूर है। पर हां, विशेष नैमित्तिकों की उपस्थिति में जो जीवन के मध्य किसी ही किसी पर दो चार बार दैवात् आ पड़ते हैं, बहुतेरों को उन का सामना नहीं भी पड़ता और उन्हीं का उचित रूप से निबह जाना अक्षय सुख वा अचल कीर्ति का हेतु होता है, उन के साधनार्थ अपने सर्वस्व वरन प्राण तक का मोह न करना ही पुरुषरत्नों का परम धर्म है। वह किस रूप में किस समय क्योंकर उपस्थित होते हैं और उन के निर्वाहार्थ किस रीति से क्या करणीय होता है यह बतलाना सहज नहीं है पर जिस बुद्धिमान, विद्वान, बहुदर्शी, अनुभवशाली पर आ पड़ते हैं, वह स्वयं अनुभव कर लेता है और निराकरण के लिए प्रस्तुत हो जाता है, यथा कोई प्रबल दुष्ट हमारे माता पिता गुरु और राजा को सताने में कटिबद्ध हो, वा किसी कारण से हमारी प्रतिष्ठा वा धर्म पर गहरा आघात लगना संभव हो उस अवसर पर हमें प्राणपण से सन्नद्ध हो जाना चाहिए! अपने अथवा घर में किसी के शरीर में कोई भयानक रोग हुआ हो तो घर फूंक तमाशा देखना उचित है। बंधु बांधव इष्ट मित्रादि पर विपत्ति पड़े तो तन धन प्राण मान सब कुछ लगा देना योग्य है, और जाति के उद्धारार्थ जो कुछ करना पड़े स्वीकार्य है। ऐसे २ अनेक स्थल हैं जिन में बहुत आगा पीछा न कर के धैर्य और साहस के साथ केवल इसी वाक्य का अनुसरण कर्तव्य है कि 'धन दे कै जिय राखिए, जिय दै रखिए लाज। धन दे जिय दे लाज दे एक प्रीति के काज॥" क्यों कि यह विशेष रूप के नैमित्तिक कर्तव्य हैं और इन्हीं के बनने बिगड़ने से आसाधारण जीवन का बनाव बिगाड़ होता है, किंतु इन का यथोचित निर्वाह वे ही लोग कर सकते हैं, जो नित्य के कर्तव्यों में पूर्ण अभ्यस्त हों। जो अपव्यय के कारण धन को संचित रखने में अक्षम है, वह उदारता के समय क्या व्यय कर सकता है? जो लेन देन में खरा नहीं है, वह आवश्यकता पड़ने पर कहां पा सकता है? जो बल के ह्रासवृद्धि की चिंता नहीं रखता, वह प्राण-विसर्जन के अवसर पर या तो निस्साहस हो बैठेगा या वृथा जी खो बैठेगा। जो अपने और आत्मीयों के मानरक्षण में प्रसिद्ध नहीं हो रहा, उस की प्रतिष्ठा

काम पड़ने पर कितनी प्रभावशालिनी होगी ? इस से पाठकगण को उचित यही है कि नित्य के कामों का निर्वाह बहुत ही सावधानी से किया करें। किसी करणीय कार्य को छोटा अथवा साधारण न समझ कर उस के करने में पूर्ण रूप से मन और तन लगाए रक्खा करें। नहीं तो छोटे ही छोटे काम बहुधा बढ़ कर कठिन हो जाते हैं तथा बड़ी भारी उलझन और असुविधा उत्पन्न कर देते हैं। इस से इन में कभी आलस्य वा उपेक्षा न करनी चाहिए। यदि किसी कारण विशेष से कोई नियम कभी भग्न हो जाय तो मन को धिक्कार दे के और पंच तथा परमेश्वर से क्षमा मांग के आगे के लिए सावधान हो जाना उचित है। बस, ऐसा करते रहने से प्रत्येक बृहत् कार्य की योग्यता और उस के संपादन में आत्मिक तथा सामाजिक सहायता का अभाव न रहेगा और तद्द्वारा जीवन की सार्थकता का मार्ग खुला हुआ दिखाई देगा।

●

इक्कीसवां पाठ

स्मरणीय वाक्य

१—सब काल और सब ठौर ईश्वर को अपना सहायक समझ कर उस का धन्यवाद करते रहो तो चित्त कभी विकल नहीं होता।

२—सब दिशाओं में सुखी रहने और सब सिद्धियों के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम है।

३—पाषाण की मूर्तियां इस कारण देवता कहलाती हैं कि न वह किसी से द्वेष रखती हैं न किसी से याचना करती हैं, न किसी की निंदा करती हैं न आदर पाए बिना किसी के यहां जाती हैं। यदि यह गुण मनुष्य में हों तो क्या ही कहना है।

४—सच्चरित्रता के बिना विद्या की विडंबना होता है।

५—अच्छा काम जितना हो सके उतना ही अच्छा है।

६—रोग, सर्प, अग्नि, दुर्व्यसन, शत्रु और ऋण को छोटा कभी न समझना चाहिए।

७—मित्र वही है जो मुख पर दोष विदित कर दे और उस के छुड़ाने का यत्न करता रहे। किंतु परोक्ष में उस की चर्चा को रोकने का पूरा प्रबंध करे तथा विपत्ति के समय सहायता से किसी प्रकार मुंह न मोड़े।

८—देश काल और पात्र का विचार किए बिना किसी विषय का निर्णय वा कोई कार्य करना अनुचित है।

९—सर्वस्व खो जाने से उतनी हानि नहीं होती जितनी निजत्व के चले जाने से होती है।

१०—किसी देश वा भेष वा मत वा श्रेणी आदि में सभी अच्छे वा सभी बुरे नहीं होते।

११—यह मत समझो कि अमुक व्यक्ति हमारे अमुक सुपरिचित पुरुष का संबंधी है अतः विश्वासपात्र है। प्रकृति सब की भिन्न २ होती है।

१२—दूसरों के भरोसे अपना काम छोड़ के निश्चिंत हो जाने से अधिक कोई मूर्खता नहीं है।

१३—स्वार्थपरता और लोकहितैषिता में दिन रात का सा अंतर है।

१४—दो चार बार धोखा खाए बिना अनुभवशीलता नहीं आती।

१५—कपट का भंडा फूट जाने पर प्रतिष्ठा जाती रहती है।

१६—कृतघ्न मनुष्य से कुत्ता अच्छा होता है, क्यों कि वह रोटी देने वाले तथा पुचकारने वाले के आगे पूंछ हिला के कृतज्ञता का प्रकाश अवश्य करता है।

१७—बीती हुई बातों का हर्ष शोक वृथा है। बुद्धिमान को वर्तमान-काल के कर्तव्य का साधन और भविष्यत् का विचार करते रहना चाहिए।

१८—भाग्य अथवा दैव के मानने वाले अपनी वा पराई उन्नति नहीं कर सकते। अतः उद्योग का अवलम्बन श्रेष्ठ है।

१९—धन और विद्या के उपार्जन में यह समझना चाहिए कि हम न कभी बुड्ढे होंगे न मरेंगे, पर धर्म कार्यों में मृत्यु को शिर पर सवार समझना उचित है।

२०—सुख के पीछे दुःख और दुःख के उपरांत सुख अवश्य ही आता है। इससे किसी दशा में आपे से बाहर हो जाना ठीक नहीं।

२१—जो गुण और पदार्थ अपने पास न हो उन की प्राप्ति और प्राप्तों की रक्षा तथा रक्षितों की वृद्धि एवं बर्द्धितों के उचित व्यवहार में सदा संलग्न रहना योग्य है

२२—विपत्ति से तभी तक डरना चाहिए जब तक वह पास न आ जाय, पर जब शिर पर आ पड़े तब धैर्य और निर्भयता के साथ उस का सामना करना उचित है।

२३—अन्नदाता, विद्यादाता, श्वसुर, और संरक्षक की ·प्रतिष्ठा पिता के समान कर्तव्य है।

२४—निर्बलों की रक्षा के बिना बल और दुःखियों की सहायता के बिना धन की शोभा नहीं होती।

२५—जिस मनुष्य को प्रसन्न और अप्रसन्न होने में बिलम्ब न लगता हो, उस की प्रीति पर भरोसा अथवा बैर का भय करना व्यर्थ है।

२६—शपथ खाने का स्वभाव बहुत ही निंदनीय है, चाहे झूठी हो चाहे सची। पर यदि अत्यंत ही विवशता में कभी निकल जाय तो फिर अपना वचन निभाने का पूरा प्रयत्न करणीय है।

२७—ईश्वर अथवा माता पितादि के अतिरिक्त और किसी के आगे दीनता प्रदर्शन करना महा तुच्छता है, किंतु यदि बड़ी ही बेवसी में किसी के सन्मुख ऐसा करो और वह उपेक्षा कर जाय तो फिर उस का सन्मान न मन से करना चाहिए न वचन से।

२८—आलस्य और कुपथ सब रोगों के मूल कारण तथा समस्त सुख सम्पत्ति के नाशक हैं अथच अपव्यय दरिद्र का जनक एवं सद्गुण मात्र का संहारक है।

२९—चिंता करने से व्यर्थ शरीर का रक्त सूखता है। इस से उस के प्राबल्य के समय उद्योग करना चाहिए और उस में भी जी न लगे तो मन बहलाना उचित है।

३०—क्रोधी और पर संतापी पुरुष का चित्त बिना अग्नि ही जलता रहता है।

३१—बाह्यिक दशा चाहे जैसी हो पर मन सदा प्रोत्साहित और प्रसन्न ही रखना चाहिए।

३२—विश्वासघात से अधिक कोई दुष्ट कर्म नहीं है।

३३—संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो एक बात में भी सर्वोपरि हो, न ऐसा कोई गुण व पदार्थ है जो क्षणभंगुर न हो, फिर न जाने लोग घमंड क्या समझ के करते हैं।

३४—जिन लोगों के शरीर में कोई अंग न्यून वा अधिक हो, जिन की अवस्था अधिक हो गई हो, जिन की बुद्धि विद्या और जाति छोटी हो, उन का उपहास न करना चाहिए।

३५—प्रशंसा वह है जो दूसरों के द्वारा परोक्ष में की जाय। नहीं तो अपने मन में सभी बड़े होते हैं और मुंह पर सभी सब को अच्छा कह देते हैं।

३६—अपना निर्वाह तो सभी कर लेते हैं पर जीवन उस का सार्थक है जिस से दूसरों का भला हो।

३७—विद्यार्थी, सेवक, क्षुधित और पथिक को छोड़ के किसी को सोते से न जगाना चाहिए।

३८—पराए दोषों की चर्चा करने से अपने दोषों का त्यागना उत्तम है।

३९—किसी पुरुष वा पदार्थ को तुच्छ न समझो। किसी समय उस से भी बड़ा भारी काम निकलना संभव है।

४०—प्रसिद्ध पुरुषों को बुरे कामों का अवसर थोड़ा मिलता है।

४१—कोई अपराध कर के छिपाने की चेष्टा करने से दूना पाप होता है। अतः उस के लिए अनुताप और क्षमाप्रार्थना कर्तव्य है।

४२—प्रत्येक काम को मर्यादाबद्ध ही रखना अच्छा होता है।

४३—अभ्यास के आगे सभी कुछ सहज है।

४४—किसी की वस्तु देख के ललचना अच्छा नहीं। सत्य और श्रम के द्वारा उसका उपार्जन करणीय है।

४५—जिन लोगों को बहुत लोग अच्छा वा बुरा समझते हैं उन्हें हम

को भी वैसा ही समझना चाहिए और उन का फल शीघ्र न मिले तो यह समझना ठीक नहीं है कि कभी मिले ही गा नहीं।

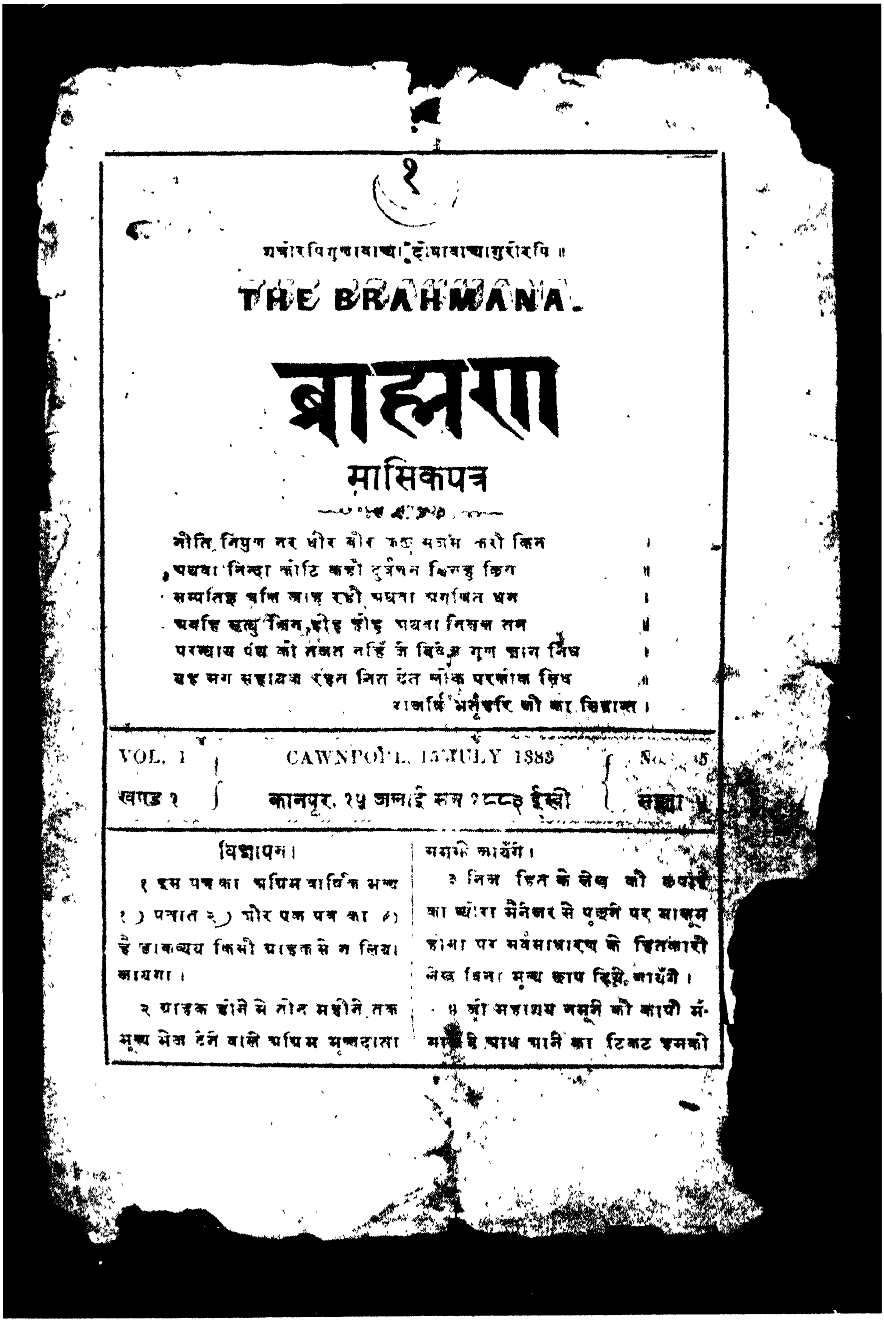
४६—मादक पदार्थों का व्यसन अंत में स्वास्थ्य का नाश ही करता है।

४७—घर का भेद बाहर वालों से कभी न कहना चाहिए, न आपस के झगड़े दूसरों के पास ले जाना चाहिए।

४८—आवश्यकता और विवशता में यदि कोई अनुचित कार्य करना पड़े तो वह समय टलते ही अपने पूर्व पद्धति पर आ जाना चाहिए। उस कार्य का पक्ष लेना उचित नहीं है।

४९—अपने प्रत्येक सम्बन्धी को प्रसन्न और अपनी प्रत्येक वस्तु को सावधानी से रखना चाहिए।

५०—स्वास्थ्य और सम्भ्रम की रक्षा में सदा दत्तचित रहो।


शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि ॥

THE BRAHMANA.

ब्राह्मण

मासिकपत्र

नीति निपुण नर धीर वीर कछु मन्त्र करौ किन ।
अथवा निन्दा कोटि करौ दुर्जन छिनहु छिन ॥
सम्पतिहू चलि जाउ रहौ अथवा अगणित धन ।
अबहि मृत्यु किन होइ होइ अथवा निश्चल तन ॥
परन्याय पंथ कौ तजत नहिं जे विवेक गुण ज्ञान निधि ।
यह मग सहायक रहत नित ईश लोक परलोक विधि ॥
राजर्षि भर्तृहरि जी का सिद्धान्त ।

VOL. 1 | CAWNPORE, 15 JULY 1883 | No. 5
खण्ड १ | कानपुर, १५ जुलाई सन १८८३ ईस्वी | संख्या ५

विज्ञापन।

१ इस पत्र का अग्रिम वार्षिक मूल्य १) पश्चात २) और एक पत्र का ≈) है डाकव्यय किसी ग्राहक से न लिया जायगा।

२ ग्राहक होने से तीन महीने तक मूल्य भेज देने वाले अग्रिम मूल्यदाता समझे जायँगे।

३ जिन जिन के लेख की छपाई का ब्योरा मैनेजर से पूछने पर मालूम होगा पर सर्वसाधारण के हितकारी लेख बिना मूल्य छाप दिये जायँगे।

४ जो महाशय नमूने की कापी मँगावैं वे आध आने का टिकट हमको

'ब्राह्मण' के मुखपृष्ठ का चित्र

'ब्राह्मण' का प्रथम अंक १५ मार्च, १८८३ को लीथो पर छपकर प्रकाशित हुआ। दूसरे अंक से उपर्युक्त टाइप में छपने लगा।

परिशिष्ट

'ब्राह्मण' : एक परिचय

भारतेंदु युग के पत्रों में कानपुर के 'ब्राह्मण' का अपना निराला रंग है। इस क्षीण-कलेवर पत्र में कोई बनाव-चुनाव न होने पर भी कुछ ऐसा बाँकपन है जो सजग पाठक को तुरंत अपनी ओर खींच लेता है। उसकी हर टिप्पणी, लेख और कविता में निपट सरलता, अनगढ़पन और बेहद जिन्दादिली का मेल एक खास असर पैदा करता है।

यह रायल आठपेजी साइज में छपता था और इसमें बारह पृष्ठ रहते थे। पहला अंक नामी प्रेस कानपुर से बहुत मामूली कागज पर लीथो से छपा था। बाद में टाइप में मुद्रित होने लगा। अपने ९–१० साल के जीवन में इसे कई प्रेसों का चक्कर काटना पड़ा। दूसरे अंक से नवें तक बनारस के हरिप्रकाश यंत्रालय में छपा। बाद को परिस्थितिवश क्रमशः शुभचिंतक प्रेस शाहजहांपुर, मुंशी गंगाप्रसाद वर्मा एंड ब्रदर्स प्रेस लखनऊ, भारतभूषण प्रेस शाहजहांपुर, शुभचिंतक प्रेस कानपुर, हनुमत् प्रेस कालाकांकर में छपा और अंत में खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से निकलने लगा।

'ब्राह्मण' का सिद्धांत-वाक्य था—'शत्रोरपिगुणावाच्या दोषावाच्या-गुरोरपि।' इसके अतिरिक्त पहले पृष्ठ पर भर्तृहरि के एक श्लोक का हिंदी अनुवाद इस रूप में छपता रहा—

> नीतिनिपुण नर धीर वीर कछु सुजस कहो किन।
> अथवा निंदा कोटि करौ दुर्जन छिन ही छिन॥
> संपतिहू चलि जाहु रहौ अथवा अगणित धन।
> अबहिं मृत्यु किन होहु होहु अथवा निश्चल तन॥
> पर न्यायवृत्ति को तजत नहिं जो विवेक गुण ज्ञाननिधि।
> यह संग सहायक रहत नित देत लोक परलोक सिधि॥

कई वर्षों बाद अनुवाद के स्थान पर मूल श्लोक छपने लगा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदन्नधीराः ॥

'ब्राह्मण' के उद्देश्य का पता उसके पहले अंक में प्रकाशित 'प्रस्तावना' शीर्षक संपादकीय से अच्छी तरह लग जाता है। (दे० पृ० ७०७)

बारह पृष्ठों के इस पत्र में लेखों, टिप्पणियों और कविताओं के अतिरिक्त कानपुर समाचार, विविध समाचार और पुस्तकों की 'समालोचना' भी छपती थी। कभी कभी प्रहसन और संवाद भी छपते थे। अधिकतर रचनाएं पं० प्रतापनारायण मिश्र की रहती थीं। श्री राधाकृष्णदास, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० श्रीधर पाठक भी कभी कभी इसमें लिखते थे। एकाध लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के भी हैं। बांकीपुर से प्रकाशित होने के समय एक अंक में यह सूचना छपी थी कि इसमें अब और भी कई विद्वान लेख लिखेंगे। बांकीपुर जाने के बाद 'ब्राह्मण' की पृष्ठ-संख्या बढ़कर २४ हो गई थी। उस समय की प्रथा के अनुसार 'ब्राह्मण' में दूसरे लेखकों की कुछ रचनाएँ बिना नाम के भी अवश्य छपी होंगी। कुछ के नाम छपे थे—सर्वश्री बलभद्र मिश्र, कार्त्तिक प्रसाद मिश्र, गदाधर प्रसाद शर्मा, ललित कवि, मिजाजीलाल शर्मा, सीताराम, अंबिकाप्रसाद, काशीनाथ चौबे, कवि गोप, बद्रीदीन शुक्ल आदि। इनमें से ललित कवि पं० प्रतापनारायण के काव्यगुरु थे। पर वास्तव में पं० प्रतापनारायण ही अधिक लिखते थे और 'ब्राह्मण' की जान उन्हीं की रचनाओं में है।

कुल मिलाकर 'ब्राह्मण' सामान्य जनता का पत्र है। उसकी मानसिक गठन और शैली-शिल्प में आभिजात्य एकदम नहीं है। 'ब्राह्मण'-संपादक समान स्तर पर खड़ा होकर पाठक से ऐसी बेतकल्लुफी और आत्मीयता से बात करता है जिसकी मिसाल नहीं। 'ब्राह्मण' का मुख्य उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं की ओर से पाठकों को जागरूक करना और उनका मनोरंजन करना है। उसकी शक्ति का स्रोत सामान्य जनता की सजीवता और कहावतों तथा मुहावरों की खान ग्रामीण-भाषा की प्राणवत्ता है। उसमें सहज अनगढ़ प्रतिभा की जो चुलबुलाहट और जागरूकता है वह उस समय के अन्य पत्रों में विरल है। हिंदी गद्य को सहज-

सुगम और समर्थ बनाने में 'ब्राह्मण' का महत्व अप्रतिम है। 'ब्राह्मण' के लेखों के रूप-रंग का बहुत कुछ पता उनके शीर्षकों से ही लग जाता है— हो ओ ओ ली है! देशोन्नति, मस्ती की बड़, फूटी सहैं आंजी न सहैं, हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार होहीगा, प्रेम एव परो धर्मः बाल्य विवाह विषयक एक चोज, देशी कपड़ा, एक, द, ट, भौं, बात, आप, धोखा, नारी, बालशिक्षा, आल्हा-आह्लाद, गोरक्षा, मरे का मारैं साह मदार, इस सादगी पर कौन न मर जाय ऐ खुदा लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं, कांग्रेस की जय, पड़े पत्थर समझ पर आपकी समझे तो क्या समझे आदि। कविताएं प्रेमसंबंधी, भक्तिसंबंधी, सामाजिक, राजनीतिक, सामयिक—सभी तरह की हैं। लेखों की ही तरह व्यंगात्मकता और चुलबुलाहट अधिकांश कविताओं की प्रधान विशेषता है।

'ब्राह्मण' का वार्षिक चंदा सिर्फ १) और एक प्रति का दाम =) था फिर भी इसके सौ ग्राहक शायद ही कभी हुए हों। आर्थिक कठिनाइयों और संपादक की चिरसाथिन अस्वस्थता के कारण 'ब्राह्मण' बार २ डगमगाया और निकलने में नियमपूर्वक अनियमित रहा। पं० प्रतापनारायण बार २ ग्राहकों को पुचकारते, रिझाते, कर्त्तव्य का ध्यान दिलाते, डांटते फटकारते पर 'नादिहंद' 'जमामार' 'ब्रह्मघाती' ग्राहकों और पाठकों पर कोई असर नहीं होता। कई बार पत्र बंद करने की धमकी दी, पर सब बेकार। एक बार झुँझलाकर नादिहंद ग्राहकों को आशीर्वाद दिया—खुसी रहौ जजमान, नैन ये दोनों फूटैं—जिसमें कोई समाचार पत्र देखने को जी न चाहे……… 'राह चलत गिर पड़ौ दांत बत्तीसौ टूटैं'—जिसमें तकाजा करने पर खीस काढ़ के—'सुध नहीं रहती' न कहो।

आखिर आर्थिक कठिनाइयों से लाचार होकर प्रतापनारायण जी ने सात वर्ष बाद पत्र को बंद करने का निश्चय कर लिया और 'अंतिम संभाषण' शीर्षक संपादकीय में इसकी सूचना भी दे दी। (दे० पृ० ७२५) पर खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के मालिक बाबू रामदीन सिंह की सहायता से 'ब्राह्मण' को नवजीवन मिल गया। (दे० पृ० ७२९)। उनके खड्गविलास प्रेस ने आठवें खंड के प्रथमांक से 'ब्राह्मण' के प्रकाशन का सारा भार अपने सिर ले लिया। पत्र की पृष्ठ संख्या बढ़ गई और उसमें कुछ न कुछ नियमितता भी आई पर कुछ ही दिनों बाद संपादक की बीमारी के कारण फिर गड़बड़ी

होने लगी। नवें वर्ष के कई अंकों में संस्कृत अथवा बंगला की रचनाओं के अनुवाद मात्र हैं। 'ब्राह्मण' कब तक निकलता रहा इसका ठीक पता नहीं है। हमें नवें वर्ष के बारहवें अंक (जुलाई ह० सं० ९, सन् १८९४ ई०) तक की प्रति देखने को मिली है। इसी अंक में एक प्रकाशकीय सूचना छपी है कि 'अब 'ब्राह्मण' का आकार प्रतिमास पाँच फार्म रहेगा'। वार्षिक चंदा भी बढ़ाकर १।=) कर दिया गया है। पं० प्रतापनारायण की मृत्यु जुलाई सन् १८९४ में हुई, अतः उनके संपादकत्व में निकलने वाला यही अंतिम अंक है इतना तो निश्चित है। सुनते हैं मिश्र जी की मृत्यु के बाद भी कुछ दिनों तक किसी तरह 'ब्राह्मण' चलता रहा।

यहां कुछ ऐसी सूचनाएं, टिप्पणियां, पद्य और गद्य-लेख संकलित किये गये हैं जिनसे 'ब्राह्मण' की स्थिति, स्वभाव और संकटापन्न आर्थिक अवस्था का बहुत कुछ सीधा परिचय मिल जाएगा। इस संबंध में 'ग्रंथावली' के लेख नं० १५ और २७ आदि भी पठनीय हैं।

—संपादक प्र० ग्रं०

———

प्रस्तावना

हम ब्राह्मण हैं। हमारे पूर्व पुरुष अपने गुणों के कारण किसी समय सर्व प्रतिष्ठा के पात्र थे। उन्हीं के नाते आज तक हमारे बहुत से भाई काला अक्षर भैंस बराबर होने पर भी जगत गुरु, महा कुकर्म करने पर भी देवता और भीख मांगने पर भी महाराज कहलाते हैं। हम गुणी हैं वा औगुणी यह तो आप लोग कुछ दिन में आप ही जान लेंगे, क्योंकि हमारी आपकी आज पहिली भेंट है। पर यह तो जान रखिये कि भारतवासियों के लिये क्या लौकिक क्या पारलौकिक मार्ग में एक मात्र अगुवा हम और हमारे थोड़े से हिंदी समाचारपत्र भाई ही बन सकते हैं। हम क्यों आये हैं? यह न पूछिये। कानपुर इतना बड़ा नगर! सहस्रावधि मनुष्य की बस्ती!! पर नागरी पत्र, जो हिन्दी रसिकों को एक मात्र मनबहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक और सभ्यता दर्शक अत्युच्च ध्वजा यहां एक भी नहीं। भला यह हमसे कब देखी जाती है? हम तो बहुत शीघ्र आप लोगों की सेवा में आते और अपना कर्तव्य पूरा करते परंतु अभी अल्पसामर्थी अल्पवयस्क हैं, इसलिए महीने में एक ही बार आ सकते हैं। हमारा आना आप के लिए कुछ हानिकारक न होगा, वरंच कभी न कभी कोई न कोई लाभ ही पहुंचावेगा। क्योंकि हम वह ब्राह्मण नहीं हैं कि केवल दक्षिणा के लिये निरी ठकुरसुहाती बातें करैं। अपने काम से काम। कोई बने वा बिगड़े, प्रसन्न रहे वा अप्रसन्न। नहीं, अंतःकरण से वास्तविक भलाई चाहते हुए सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण करना ही हमारा मुख्य कर्म होगा। हम निरे मत मतांतर के झगड़े की बातें कभी न करेंगे कि एक की प्रशंसा दूसरे की निन्दा हो। वरंच वुह उपदेश करेंगे जो हर प्रकार के मनुष्यों को मान्य, सब देश, सब काल में साध्य हो, जो किसी के भी विरुद्ध न हो। वुह चाल-ढाल व्यवहार बतावेंगे जिनसे धन बल मान प्रतिष्ठा में कोई भी बाधा न हो। कभी राज्य सम्बन्धी, कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनावेंगे, कभी २ गद्य-पद्य-मय काव्य नाटक से भी रिझावेंगे। इधर उधर के समाचार तो सदा देहींगे। सारांश यह कि आगे की तो परमेश्वर जानता है, पर आज हम आपके दर्शन की खुशी के मारे उमंग रोक नहीं सकते इससे कहे डालते हैं—हमको निरा ब्राह्मण ही न समझियेगा, 'जिस तरह सब जहान में कुछ हैं हम भी अपने

गुमान में कुछ हैं।' इसके सिवा हमारी दक्षिणा भी बहुत ही न्यून है। फिर यदि निर्वाह मात्र भी होता रहेगा तो हम, चाहे जो हो, अपने वचन निबाहे जायँगे। आश्चर्य है जो इतने पर भी कोई कसर मसर करे!

हां, एक बात रही जाती है कि हम में कुछ औगुण भी हैं, सो सुनिए। जन्म हमारा फागुन में हुवा है, और होली की पैदाइश प्रसिद्ध है। कभी कोई हंसी कर बैठें तो क्षमा कीजियेगा। सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगी। वास्तविक बैर हम को किसी से भी नहीं है, पर अपने करमलेख से लाचार हैं। सच २ कह देने में हम को कुछ संकोच न होगा। इस से जो महाशय हम पर अप्रसन्न होना चाहैं पहिले उन्हें अपनी भूल पर अप्रसन्न होना चाहिये। अच्छा लो, हमको कहना था सो कह चुके। आशिरवाद है—

"सुखी रहौ शुभ मति गहौ, जीवहु कोटि बरीष।
धन बल की बढ़ती रहै ब्राह्मण देत अशीष॥"

खंड १, संख्या १; (१५ मार्च, सन् १८८३ ई०)

जरा सुनो तो सही

कानपुर इतना बड़ा शहर है कि बाहर वाले इसे छोटा कलकत्ता कहते हैं। इस पर भी यहां हिन्दू ही अधिक सम्पन्न हैं। पर कैसे अफसोस की बात थी कि इस जिले भर में हिन्दी का पत्र एक भी नहीं। हिन्दी के पत्र से क्या लाभ होता है सो फिर कभी लिखेंगे। बुद्धिमान लोग आप विचार देखें कि हमेशा नई २ दिल बहलाने की बातें, अपनी मातृभाषा को अच्छे से अच्छे मुहावरे, देश सुधारने के उपाय इत्यादि उन्हीं अखबारों का काम है। हम अपने मुंह मियां मिट्ठू नहीं बनते पर इतना कहना अनुचित भी नहीं समझते कि यह ब्राह्मण गुणसम्पन्न नहीं है तो निरा शंख भी नहीं है। पढ़ने वाले आप इंसाफ कर सकते हैं। कुछ न सही तो भी इस जिले की इस पत्र से कुछ शोभा ही है, कलंक नहीं। साल पूरा होने आया, कुछ न कुछ इसके सबब से लोगों को लाभ ही हुवा होगा, हानि किसी तरह की नहीं। इस पर भी जो इसके मूल्य पर ध्यान दिया जाय तो एक रुपया साल के हिसाब से महीने में सिर्फ पांच पैसे और एक पाई होती है। गंवई गांव के लोग गंगापुत्र को कम से कम पांच टका की बछिया पुण्य करते हैं, क्या हिन्दुस्तानी रईश लोग इस विद्यानुरागी 'ब्राह्मण' को महीने भर में बछिया के भी आधे दाम नहीं दे

सकते ? रईसों की कौन कहे इस का दाम तो लड़के भी दे सकते हैं। यदि समझें कि यह ब्राह्मण हमारा है, हमारे देश का है, हमारी भाषा का है, हमारी भलाई चाहता है, तो पांच पैसा एक पाई महीने के हिसाब से आधी पाई रोज कंगाल से कंगाल के लड़के तक दे सकते हैं और अपने देश का हितसाधन कर सकते हैं। हम तो समझते हैं कि लोग इसकी अधिक सहायता करेंगे। दूसरे वर्ष से जो एक हजार ग्राहक हो गये तो इसे १५ दिन में प्रकाश करने का विचार है। पर अफसोस, बहुतेरे सज्जनों ने इसका मूल्य आज तक नहीं भेजा। अरे भाई, हमने इस पत्र को अपने लाभ की गरज से नहीं निकाला। लै दै बराबर हो जाय यही गनीमत है। यदि बढ़ेगा तो दूसरी पुस्तकें भी आप लोगों को भेंट किया करेंगे पर हमारे ग्राहकगण समझें तो सही। हम ने तो जिन २ को नादिहन्द समझा था उनके पास पत्र भेजना पहिले से ही बन्द कर दिया है। अब जो हैं उन्हीं से आसरा है कि हमारा हौसिला न तोड़ेंगे। हमारी सहायता से किसी प्रकार मुंह न मोड़ेंगे। थोड़ी सी बात के लिये ब्राह्मण से भटई न करावेंगे, वरंच दिन दूना हौसिला बढ़ावेंगे। अकलमंद को इशारा काफी है। इतने पर भी न समझें तो हम क्या कहें। हमारी इस देशहितैषिता और निरलज्जता पर धिक्कार है।

खंड १ संख्या ११ (१५ जनवरी सन् १८८४)

श्री अलवराधिपति का "ब्राह्मण न लेने के विषय" "उर्दू" में खत

'इनायत व करम फरमायमन जनाब पंडित साहब बाद दंडवत के बाजः हो कि परचः अखबार हिन्दी व उर्दू अखबार यहां बकसरत आते हैं कि उन के देखने की फुरसत नहीं मिलती। मिहरबानी फरमा कर अपना परचा एकुम फरवरी सन् १८८४ ई० से भेजना बन्द फरमाइयेगा और परचा माह जनवरी का वापिस इर साल खिदमत है।

बंदा, मूलचंद नायब मीर मुंशी

२ फरवरी सन् १८८४ ई० अलमरकूम रियासत अलवर।'

हाय! यह अभागिन हिन्दी अब किसकी सरण गहे! क्योंकि जब हिन्दू राजा ही इस का तिरस्कार करते हैं तो यह किस की सरण गहे? क्या इस के

आदर करने वाले कहीं विलायत से आवेंगे ? या जिन की मातृभाषा ही नहीं वे आदर करेंगे ? यह तो संभव ही नहीं है, तो यह भारतवासियों को छोड़ किस की सरण गहे ? फिर जब राजा लोगों को इस अभागिन भाषा के समाचार पत्र पढ़ने की फुरसत नहीं तो यह किसकी सरण गहे ? उस से भी यह 'ब्राह्मण' जो वर्ष भर अनूठे समाचार दे और एक रुपया १) मात्र दक्षिणा ले, भला जब इस सस्ते पत्र के पढ़ने की फुरसत नहीं तो यह किस की सरण गहे ? हा ! शोक ! सहस्रशः शोक ! कि अभागिन हिन्दी अब किस की सरण गहे ?

खंड १ संख्या १२ (१५ फरवरी सन् १८८४)

●

विज्ञापन

दाता जजमान ! प्यारे पाठक !! अनुग्राहक ग्राहक !!!

चार महीने हो चुके 'ब्राह्मण' की सुधि लेव ।
गंगा माई जै करैं हमैं दक्षिणा देव ॥ १ ॥
जौ बिन मांगे दीजिए दुहुं दिश होय अनंद ।
तुम निश्चिंत हो हम करैं मांगन का सौगंद ॥ २ ॥
सदुपदेश नित ही करैं मांगैं भोजन मात्र ।
देखुहु हम सम दूसरा कहां दान कर पात्र ॥ ३ ॥
तुर्तदान जो करिय तौ होय महा कल्यान ।
बहुत बकाये लाभ क्या समुझ जाव जजमान ॥ ४ ॥
रूप राज की कगर पर जितने होयं निशान ।
तितै वर्ष सुखसुजसजुत जियत रहौ जजमान ॥ ५ ॥

खं० ३ अंक ५ (१५ जुलाई ह० सं० १)

●

हरिगंगा

आठ मास बीते जजमान ।
अब तो करौ दच्छिना दान ॥ हरि गंगा
आजु काल्हि जो रुपया देव ।
मानौ कोटि यज्ञ करि लेव ॥ हरि०

मांगत हमका लागै लाज।
पै रुपया बिन चलै न काज॥ हरि०
तुम अधीन ब्राह्मन के प्रान।
ज्यादा कौन बकै जजमान॥ हरि०
जो कहुँ देहौ बहुत खिझाय।
यह कौनिउं भलमंसी आय॥ हरि०
सेवा दान अकारथ होय।
हिन्दू जानत हैं सब कोय॥ हरि०
हँसी खुसी ते रुपया देव।
दूध पूत सब हमते लेव॥ हरि०
कासी पुन्नि गया मा पुन्नि।
बाबा बैजनाथ मा पुन्नि॥ हरि०

खं० ३, सं० ८ (१५ अक्टूबर ह० सं० १)

●

सूचना

हम तीन मास से ऐसे रोगग्रस्त हो रहे हैं कि जिसका वर्णन नहीं। पाठक यदि देखते तो त्राहि २ करते। नित्य के मिलने वाले मित्रों से कोई पूछे जिन्हें किसी २ दिन हमारी दशा पर रोना आता था। फिर आप जानिये अकेला मनुष्य पत्र संपादन करता कि रोग जातना भोगता। अतः हम क्षमा पात्र हैं।

हमारे पत्र की भी हमारी ही सी दशा है, और हमारे पाठकों में से बहुतों को ज्ञात है कि हम कोई लखपती नहीं हैं, आजकल नौकरी भी छोड़े बैठे हैं, और यह तो सभी जानते हैं कि हिंदी पत्र कुछ कमाई के लिए नहीं होते, खर्च भर निकलना भी गनीमत है।

विशेष हमारे 'ब्राह्मण' से खुशामद हो नहीं सकती कि कोई सहायक हो। हां अपने सहायकों का अहसान जरूर मानेंगे पर देव (यह शब्द कहते ऐसा ही डर लगता है जैसा फारसी के देव अर्थात् राक्षस से कोई डरे) अपनी तरफ से तो बहुतेरे एक रु० १ असली भी नहीं दे सकते, आगे क्या आशा है। अतः जिन समर्थकों को इस पत्र में मजा आता है, जिन्हों ने बहुधा ब्राह्मण के बचन सराहे हैं, वे कुछ न कुछ कर सकें तो बेहतर है।

और जिन के नीचे अभी तक रु० बाकी है वे भी यदि निरे कंगाल न हो गए हों तो इस पत्र के पाते ही जी कड़ा करके दे डालें, नहीं तो हम कुछ दिन के लिए असमर्थ हो जायंगे, कहां तक रिण का भार उठावें। यदि हमारे ग्राहकगण ध्यान देंगे तो हम तीन मास की कसर बहुत शीघ्र निकाल डालेंगे। देर तो हुई ही है और अब की बार कोई रोचक लेख भी नहीं है पर हमारी दशा पर ध्यान दे के क्षमा कीजिए। यदि पत्र की दशा सुधर गई तो देखना क्या मजे दिखाता है। समझदार को इतना बहुत है।

खं० ३, सं० १२ (१५ फरवरी ह० सं० २)

●

आप बीती

वर्ष भर से बीमारियां रांड़ें पीछा ही नहीं छोड़तीं। यदि एक ने कुछ मुँह मोड़ा तो दूसरी ने आ दबाया। हम यों ही बड़े बली थे, तिस पर आजकल तो ताकत के मारे कोई हड्डी नहीं है जो मांस को अपने ऊपर आने दे। यह पत्र हमने रुपया जोड़ने को न चलाया था पर तो भी उस का खर्च तो निभना ही चाहिए। लेकिन जमामार ग्राहक नहीं समझते कि संपादक लक्षाधीश नहीं है। इधर छापने वालों की घिस २ जुदा ही हैरान करती है। पहिले तो लिखते हैं–हम तुम्हारे मित्र हैं, हमारे प्रेस को सहायता दो, पीछे चिट्ठी पर चिट्ठी भेजो जवाब नदारद। इन्हीं कारणों से विलंब होता है। एक बार हो तो क्षमा मांगें, रोज का झगड़ा कहां तक चले ? इससे निरलज्ज हो के साफ २ लिखते हैं, यदि शीघ्र सहाय मिली तौ तो हमने जितनी देरी की है उसकी संती पाठकों को प्रसन्न भी करते रहेंगे और जो ऐसी ही सहाय मिली जैसी कानपुर के लोग, विशेषतः चौक के अमीर, प्रत्येक देशहितकारी काम में दिया करते हैं तो हम लाचारी से अपने सहयोगियों में हास्यास्पद बन जायंगे। आरंभशूर कहवाय लेंगे, पुस्तकें बना के हाथों की खुजली मिटाय लेंगे, पर इतना रुपया कहां से लावैंगे कि घटी खाय के अखबार चलावैं। सहायता हम केवल इतनी ही चाहते हैं कि संपादकगण तो कृपा करके अपने २ पत्र में 'ब्राह्मण' के विषय में अपनी २ निष्पक्ष राय दे दें और ग्राहक महोदय, जिनको सचमुच इस पत्र से कुछ मजा मिलता होवै, कृपा करके एक मास के भीतर मूल्य भेज दें। ग्राहक बढ़ाने में भी सब सज्जन कोशिश करें। बस हम रिणहत्या से मुक्त हो जायंगे, सबको

जावज्जीवन असीसैंगे, नहीं तो जो होगा वह तो देखना ही पड़ेगा। पर यह समझ लेंगे कि हिंदुस्तान में देशहित का नाम ही नाम है, कोई किसी का नहीं।

खं० ४ सं० १ (१५ अगस्त ह० सं० ३)

●

जरा सुनो

पांच महीने हो गए, आप लोग दक्षिणा शीघ्र भेजिए, ब्राह्मण की दशा अच्छी नहीं है। यदि सहाय दान में बिलम्ब हुवा तो चलना कठिन होगा, अधिक क्या लिखें। अभी पिछली ही रिणहत्या नहीं छूटी, अधिक कुढ़ना अब असह्य है, रुपया भेजिए तो काम चले।

इस पत्र के सम्पादक नेशनल कांग्रेस मदरास को जाते हैं इस कारण इतना ही प्रकाशित हो सका, अतएव ग्राहक लोगों से प्रार्थना है इस बार क्षमा करेंगे।

खं० ४ सं० ५ (१५ दिसम्बर, ह० सं० ३)

●

हमारे उत्साह-वर्द्धक

हम वास्तव में न विद्वान हैं, न धनवान, न बलवान; पर हमारा सिद्धान्त है कि अपने जीवन को तुच्छ न समझना चाहिए, क्योंकि इसका बनाने वाला सर्वशक्तिमान् सर्वोपरि परमात्मा है। इसी से कभी २ हमारे मुख से मुसहफी का यह बचन उमंग के साथ निकल जाता है कि—

जिस तरह सब जहान में कुछ हैं
हम भी अपने गुमान में कुछ हैं

कुछ न सही, पर कानपुर में कुछ एक बातें केवल हमीं पर परमेश्वर ने निरभर की हैं, जिसकी कदर इस जमाने वाले नहीं जानते, पर हम न होंगे तब शोक करेंगे। यदि लोग हमको भूल भी जायंगे तो यहां की धरती अवश्य कहेगी कि हम में कभी कोई खास हमारा था।

पर आज जहां हमको यह सोच है कि हाय, कानपुर के हम कौन हैं, इतना भी कानपुर नहीं जानता! वहां इस बात का हर्ष भी है कि बाहर वालों की दृष्टि में हम निरे ऐसे ही वैसे नहीं हैं। बाजे २ लोग हमें श्रीहरिश्चन्द्र

का स्मारक समझते हैं। बाजों का ख्याल है कि उनके बाद उनका सा रंग ढंग कुछ इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमंड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है, और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की, देवताओं के दर्शन की भांति, इच्छा करते हैं। बहुतेरे हमारे बचनों को रिषिवाक्य सदृश मान्य समझते हैं। बहुतेरे बड़े २ प्रतिष्ठित शब्दों से नाम लेते हैं! बहुतेरे हमें पत्र लिखते हैं तो गद्यपद्यमय लेखों से अलंकृत करके लिखते हैं। इस ढंग के पत्रों में एक यह है, जिसके प्रेषक महाशय को हम जानते भी नहीं हैं।

"श्रीयुत कविकुल मुकुटमणि, पंडितवर, हिंदी भाषा भूषण, प्रतिभारतेन्दु, रसिकराज, श्री प्रताप नारायण मिश्र समीपेषु निवेदनमिदं—

हे भाषाचार्य !

आप से हिन्दी भाषा बृहस्पति की स्तुति मुझ सा मंदमति क्या कर सकेगा ? नहीं ! नहीं !! नहीं !!! फिर बस !!! उस परम हृदयंगम विषय की इतिश्री यहीं सही !!!

आपकी चमत्कृत कृति आपकी केवल एक ही पुस्तक 'प्रेम पुष्पावली' में देख पड़ी; पर उसके पढ़ने से मेरी प्रेमतृष्णा शतगुणित बढ़ी अर्थात् आपके अनेक रसमय लेख देखने की अत्युत्कट इच्छा प्रगट हुई है; सो तृप्त करना आप ही से महाशयों का काम है।

अब मेरी आपसे इतनी ही बिनती है कि आपके समग्र लेख जो 'ब्राह्मण' पुस्तक में अथवा अन्यत्र प्रकाशित हुए हों सो सब इस पत्र के देखते ही 'वेल्यूपेएबिल पोस्ट' द्वारा इस पते पर भेजिए, और अपना अद्वितीय पत्र 'ब्राह्मण' भी सदैव भेजा कीजिए।

कोल्हापुर आपका दासानुदास,

२६–३–८८ **रायसिंह देव बर्म्मा**

पता—राव साहब रायसिंह राव, स्टेट सरवेयर कोल्हापुर, (Deckan)"

हम ऋषि नहीं हैं कि अपनी स्तुति से प्रसन्न न हों, हम ऐसे बौड़म, उजड्ड, असभ्य नहीं हैं कि अपने दयालुओं को धन्यवाद आशीर्वाद न दें। हमारा उत्साह बढ़ता है और चित्त को चाव होता है कि हमारे गुणग्राहक भी हैं! और साधारण लोग नहीं, बड़े बड़े सत्पुरुष हम पर अनुग्रह करते हैं! बहुत थोड़े से, पर बड़े २, लोग हमें नीचा दिखाने की भी फिकर में रहते हैं।

हम पर डाह भी करते हैं। पर हमारे हृदयविहारी की दया से आज तक कुछ कर नहीं सके ! यद्यपि हमको दैव ने इतनी सामर्थ्य नहीं दी कि हम अपने मनोर्थ को ठीक ठीक पा सकें, पर इस दीन हीन दशा में हम कुछ हैं ! इसका कारण जहां तक सोचते हैं यही पाते हैं कि प्रेम के दो अक्षर ! अ कुछ नहीं !! अहह !!!

क्या क्या करूं मैं शुक्र खुदाये कदीर का।
बख्शा है मुझ फकीर को रुतबा अमीर का ॥

धन्योऽसि प्रभो !! प्रेमदेव !!!

खं० ४, सं० ६

●

जिन राव साहब का कृपापत्र हमने अप्रैल में छापा था उन्हीं का यह दूसरा पत्र है। परमेश्वर ऐसे सज्जनों का भला करे। हम खुशामदी नहीं हैं कि किसी की झूठी प्रशंसा करके कुछ ऐंठा चाहें, पर हम कृतघ्न भी नहीं है जो अपने हितैषियों को धन्यवाद न दें। इन पत्रों से लोग समझ सकते हैं कि सहृदय, प्रेमी, उदार और सच्चे सज्जन 'ब्राह्मण' को कैसा समझते हैं।

'स्वस्ति श्री कवि कुल गौरव, भाषाचार्य, प्रतिभारतेंदु, रसिकमंडली-मंडन श्री प्रतापनारायण मिश्र समीपेषु निवेदनमिदम्—

हे प्रेमदेव भक्तशिरोमणे !

अहा हा ! आनंद ! आनंद !! आनंद !!! सहृदयों ने काव्यानंद को परमानंद सहोदर कहा है, सो सत्य है ! धन्य आज का दिन ! धन्य आज की घड़ी !! कि जिसमें ब्राह्मण की बंगी (पारसल) आन पहुँची !!! खोल के देखते ही उसके चतुर्थ खंड की द्वितीय संख्या हाथ लगी। प्रथम पृष्ठ ही पर 'द' देख कर पढ़ना आरंभ किया। क्या कहूँ उसकी लिखावट को ! कुछ कहते बनता ही नहीं ! ऐसी अनूठी हिन्दी-पद्मिनी मैंने (अर्थात् महाराष्ट्र रूपी हफसान-बासी हतभागी ने कि जो सदा सर्वदा काली कलूटी कुरूपा हिंदुस्तानी, जो न हिंदी न मुसलमानी, मुँह में खाने की निशानी देखता भालता और बोलता है) काहे को कभी देखी थी।*

---

* हाय एक यह सज्जन हैं जो इतनी दूर बैठे नागरी की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं ! और एक यहाँ वाले हिंदू जाति के कलंक हैं जो उर्दू और अंगरेजी अखबारों की गालियाँ भी खाते हैं तो भी उर्दू ही अंगरेजी पर मरे धरे हैं (सं० ब्रा०)

महाशय आपको तो 'द' की दास्तान दुस्सह जान पड़ी, पर मुझ को तो उस ने ऐसे रूप रंग, राव चाव, हाव भाव दिखलाए कि मेरा मन भ्रमर सब सुध भूल गया। उसकी प्रत्यक्षर मधुपान करते २ छक गया! यहां तो ऐसी उलटी गति चल निकली कि 'या कांटे मो पायं लगि लीन्हीं मरत जिआय'।

'द' की जादूभरी दास्तान दूर होते ही उर्दू बीबी की पूंजी देख पड़ी! उस सड़ी बेसवा की अंदर की (भीतरी पोल) जान पड़ी! और उसी के साथ नागरी देवी की प्रभा खुल पड़ी। द्वितीय संख्या अधूरी छोड़ तृतीया को हाथ में लिया। प्रथम पत्र के उलटते ही नागरी की 'भौं' पर दृष्टि पड़ी! फिर क्या पूछना! नागरी गुण आगरी की मनमोहकता खबर पड़ी! बस! अब तो प्रेमबंधन में बंध गए। अब न इससे छुटकारा है न कुछ चारा है।†

मेरी प्रेमेच्छा इस प्रेमाधिकारी 'ब्राह्मण' के गले पड़ी। मैं हक्का बक्का हो मुँह ताकते ही रह गया। जब होश में आया तब उस (प्रेमेच्छा) से कहा—हे निर्लज्जे! कुछ तो धीरज धरती, थोड़ा तो विचार करती। अरी गंवारी, कहां तो यह ब्राह्मणोत्तम और कहां तू 'क्षत्रात्मजा लघुत्तमा' 'कहां राजा भोज कहां भोजवा तेली'! उसने (अर्थात् प्रेमेच्छा ने) उत्तर दिया कि क्यों कलिकाल के फेरे में पड़ कर प्रेमरस में विष मिलाते हो? ब्रह्म क्षत्र का मूल तो एक है न! आज तक कितनी क्षत्र कन्याएं ब्रह्माङ्गिनियां होती आई हैं! तिस पर इस प्रेमपंथ में जात पांत का बखेड़ा क्या!'

इसके सुनते ही मैं निरुत्तर तो हुवा सही, पर इस दुबले पतले ब्राह्मण का डील डाल देख के और उसके दुखोद्गार सुनके सशंक हो के मैंने कहा—'अरी लड़की इस परदेशी द्विजवर का कुम्हलाया हुवा कमल वदन भी देखती है? कि उसके प्रेम ही पर लट्टू हो अपना सर्वस्व खोती है? यह तो अब तब का हो रहा है! क्यों नाहक सौभाग्य के साथ ही वैधव्य को बुलाती है? तेरे लिलार ही में पति का सुख नहीं लिखा, सो तुमको कैसे प्राप्त होगा। इससे तो सदा कुमारी ही रहना बेहतर है'। बालिका बोल उठी—'क्यों ऐसे कुतर्क करते हो? सावित्री के पति-प्रेम-पुनीत्व ने ही उसके प्राण-

---

† परम धन्य है ऐसे पुरुषरत्नों के पवित्र जीवन को जो नागरी देवी के इतने चढ़े बढ़े भक्त हैं और प्रेम के इतने तत्वज्ञ हैं कि एक २ लेख पर इतना शीघ्र प्रेमजाल में फंस जाते हैं! धन्य प्रेम! (संपादक ब्राह्मण)

प्यारे को जम-जाल से छुड़ाया था ! वरन् दीर्घायु कर छोड़ा था। फिर मेरे भाग्य का लिखा तुमने कैसे बांचा ? प्रेमदेव की कृपा से मेरा भी अहिवात अवश्य ही अचल होगा[1], बस ! हो चुका !! टंटा मिटा !!!

हे प्रेम सर्वस्व प्रताप मिश्र जी ! आपके ब्राह्मण रूपी पुत्र की बधू मेरी हृदयजा प्रेमेच्छा हो चुकी ! लीजिए, यह मेरी लाली पाली हुई बालिका आपकी सेवा में आती है ! यद्यपि आप कनौजिया हैं तौ भी दहेज की आशा छोड़ इस प्रेमविवाहिता पतोहू को प्रेमपुरस्सर स्वीकार कीजिए ! अब आप हमारे समधी ठहरे, इसलिए इस बार प्रथम भेंट आपके लिए पांच रुपया भेजता हूं और अपने दामाद (अर्थात् 'ब्राह्मण') के वास्ते हर साल पांच से पचास तक दिया करूंगा,[2] क्योंकि अपनी बालिका आपके हवाले की है। अब आपको भी यही उचित है कि अपने पुत्र का पूर्णोत्साह से प्रतिपालन करें, नहीं तो आपके माथे ब्रह्महत्या तथा पुत्रहत्या का पातक चढ़ेगा।[3] जन्म देना सहज है, पर उस जन्मे हुए का भरणपोषण प्रतिपालन करना परम कठिन है।

यद्यपि मुझको दो ढाई सौ रुपया मासिक मिलता है तथापि बड़ा परि-

१—यद्यपि हमें अपनी ओर से कुछ भी आशा नहीं है पर हम प्रेमी हैं इस्से दृढ़ विश्वास रखते हैं कि महानुभाव रावसाहब की प्रेमेच्छा देवी के केवल आशीर्वाद से 'ब्राह्मण' के चिरायु होने की कोई सूरत निकल आना आश्चर्य नहीं है। [सं० ब्रा०]

२—पांच या पचास के लिए हाथ फैलाते हमें लज्जा आती है पर ऐसे प्रेम से कोई एक कौड़ी भी दे तो हम क्या हैं, शायद परमेश्वर भी हाथ पसार के लेंगे। दूसरा पांच हजार भी दे तो हम आज कल की सी दशा में ले तो लेते पर इस चाव से कभी न लेते, क्योंकि हम प्रेम-भिक्षुक हैं। [सं० ब्रा०]

३—ब्राह्मण को बन्द करने में परमेश्वर साक्षी है कि हमें पुत्र-शोक से कम शोक न होगा, पर हत्यारे नादिहन्दों ने हमें लाचार कर दिया है। इसका सविस्तार हाल 'ब्रह्मवार्ता' नामक पुस्तिका में लिख रहे हैं। पर दो महीने बाद छपावेंगे। अभी इससे नहीं छपा सकते कि शायद पीछे से दो चार नाम काटने पड़ें। ब्रा० को जिस तरह आज तक चलाया है हमीं जानते हैं। [सं० ब्रा०]

बार रहने के कारण आय-व्यय बराबर हो जाता है[४] । नहीं तो मैं अकेला ही अपने दामाद को पोसता ।[५]

अस्तु यह प्रेमकहानी यहीं समाप्त करता हूँ। इस तुच्छतम लेख को यदि आप छापना चाहें तो शुद्ध करके छापें ।

आपका परम हितेच्छु—
प्रेमदासानुदास
रायसिंह देव वर्म्मा
कोल्हापुर (दखिन)

खं० ४, सं० ११ (१५ जून, ह० सं० ४)

सूचना

हमने कई बातें सोच के ब्रह्मघाती नामक पुस्तिका छपने भेज दी। अगस्त में प्रकाश भी कर देंगे। अतः सबको विदित करते हैं कि हम धनाभाव से बिन दामों तो दे नहीं सकते पर 'ब्राह्मण' के ग्राहकों और हिन्दी पत्र सम्पादकों को केवल डाक महसूल पर औरों को)॥ मूल्य पर भेजेंगे। पुस्तक बहुत उत्तम नहीं है, पर लाभ अवश्य उसके देखे से इतना है कि अनेक गुप्त ठगों के नाम ग्राम और कुछ २ चरित्र ज्ञात हो जाने से उनके साथ व्यवहार करते समय सावधानी रहेगी। सं० ब्रा०

खं० ४, सं० १२ (१५ जुलाई ह० सं० ४)

४—सहृदयों और प्रेमियों का आय-व्यय तो सदा ही बराबर हो जाता है। रुपया जोड़ने के लिए चाहिए—धर्म कर्म, लज्जा प्रतिष्ठा, आमोद प्रमोद, शील संकोच सब आले पर रख दिए जायं। सो प्रेम-सिद्धान्ती से हो नहीं सकता। [सं० ब्रा०]

५—हम कदापि नहीं चाहते कि कोई महाशय अकेले 'ब्राह्मण' का भार अपने माथे ले लें, पर केवल हमारे ही माथे रहना भी असह्य है। यदि कोई भी सचमुच कटी उंगली पर मूतने वाला होता तो हम क्यों झींखते। परमेश्वर राव साहब का भला करें जिन्होंने हमें इस महा निराशा और निस्सहायता में सहारा दिया।

ब्रह्मघाती

हमने 'ब्राह्मण' के चौथे खंड में कभी इस नाम की पुस्तक का नोटिश दिया था। इस पर हमारे मित्रों ने उसके देखने की इच्छा प्रकाश की है। पर हम उसे कई कारणों से अलग नहीं छपवा सकते अतः 'ब्राह्मण' ही में उनके थोड़े २ नाम प्रकाश किया करेंगे। दूसरे पत्रों के सम्पादक तथा ग्रंथकार तथा हमारे ग्राहकों को चाहिए कि इनके साथ व्यवहार करने में सावधान रहें। ईश्वर किसी युक्ति-विशेष से ब्राह्मण को चिरंजीव रक्खे या कोई समर्थ व्यक्ति सहायक हो जाय तो और बात है नहीं तो इन बेईमानों ने 'ब्राह्मण' के प्राण लेने में कोई कसर नहीं रक्खी। जिनके हम देनदार हैं उन्हें कौड़ी २ देंगे। पर हम झूठे वादे इन्हीं पापियों की बदौलत करते रहे हैं। हमने बहुत से सज्जनों का शील तोड़ के वेल्यू पेएबल पोस्ट द्वारा दाम लिए हैं। यह भी इन्हीं जमामार नादिहन्दों की दया से। हम नम्रता के साथ 'ब्राह्मण' के लहनदारों और सच्चे रसिकों से क्षमा मांगते हैं और सबको पुनः सावधान करते हैं कि बचो इन दो चार रुपए के लिए बेईमानी करने वालों से। यह हम नहीं कह सकते कि यह स्वयं 'ब्राह्मण' का धन हजम कर बैठे या इन बेचारों के नाम से दूसरे किसी ने जमा मारी।

खं० ५, सं० २ (१५ सितंबर, ह० सं० ४)

●

महाविज्ञापन

हमने बेईमान ग्राहकों का नाम तो रजिस्टर से उड़ा दिया, ब्रह्मघातियों में धीरे २ छाप देंगे। पर जो महाशय 'ब्राह्मण' के सहायक हैं उनसे निवेदन है कि कृपा करके अब दक्षिणा शीघ्र भेजें और जहां तक हो सके नए ग्राहक बढ़ाने का यत्न करें। तभी 'ब्राह्मण' का चलना संभव है !

आगामी मास से हम वेल्यू पेएबिल डाक द्वारा 'ब्राह्मण' भेजेंगे। इससे हमारे अनुग्राहक ग्राहक हमें आशा है कि रुष्ट न होंगे, क्योंकि यों भी तो उन्हें मनीआर्डर में दो आने देने पड़ते हैं, वही वेल्यू पेबिल में भी देना पड़ेगा। हां हमारी धृष्टता अवश्य है पर क्या करें, धन के बिना लाचारी है, इससे बुद्धिमानों को क्षमा करना योग्य है।

'ब्राह्मण' की हालत अच्छी नहीं है। कारण केवल हमारी गफलत, बेईमानों की बेईमानी और सहायकों का अभाव मात्र है। जब बड़े २ राजा

बाबुओं ने असली दाम तक न दिए तो औरों से क्या आशा है। हां यदि दस पांच हमारे निज मित्र इसकी दस २ पांच २ कापियां बेंच दिया करें तौ भी कुछ दिन काम चल सकता है, नहीं तो जो इच्छा परमेश्वर की।

अब हमारे ग्राहकों को नीचे लिखे पते पर मूल्य भेजना चाहिए और ठौर भेजने से हम उत्तरदाता न होंगे।

खं० ५, सं० ३ (१५ अक्टूबर, ह० सं० ४)

●

सब की देख ली

जब 'ब्राह्मण' का जन्म हुआ था तब कानपुर के तथा दूर २ के लोग, जो पंडित जी और बाबू जी और मुंशी जी औ लाला साहब औ राजा साहब कहलाते हैं, अपने को धनवान औ प्रतिष्ठावान लगाते हैं, बल्कि खुशामदी लोग उन्हें और भी बड़ी २ पदवी दे के भांड़े पर चढ़ाते हैं, वे स्वयं अपने को देशहितैषी, स्नेहतत्वज्ञ, उदारप्रकृति समझते हैं तथा हमसे मौखिकी मित्रता (जबानी दोस्ती) भी रखते हैं और हम भी उन्हें कम से कम पांच और अधिक से अधिक बीस बरस से करीब सच्चा समझते थे, उन्होंने छाती ठोंक २ अथवा ताव के ताव लिख २ के सूचित किया था कि हम तन मन धन से 'ब्राह्मण के साथी हैं', वरंच जब हमने बीमारी के सबब 'ब्राह्मण' बंद कर दिया था तब उलहने पर उलहना देते थे, तकाजे पर तकाजा करते थे कि निकालो, हम तो तुम्हारे साथ हैं, तुम घबराते क्यों हो ? अस्तु हमने निकाला, पर उन महापुरुषों से सहायता के नाते एक पैसा, एक लेख, एक नए ग्राहक का नाम भी मिला हो तो हम गुनहगार। हम इस बात की कसम नहीं खा सकते कि सहायक कोई नहीं है, पर जिन्होंने मुहर्रम की भांति छाती ठोंकी थी उनकी करतूत यह है कि बहुतों से दाम भी न मिले। हमने लाज छोड़ के मांगा तो आज कल। रिण से अधिक उकता के वेल्यूपेएबिल डाक में 'ब्राह्मण' भेजा तो 'मकतूब अलह इनकार करता है'। खैर ! यहां क्या है, किसी का रूपया गया किसी की शेखी गई, एक दिन ब्रह्मघाती की फेहरिस्त ······ पर यह कहने का हमें साहस बना बनाया है कि सब की देख ली।

खं० ५, सं० ३, ४ (१५ अक्टूबर-नवंबर, ह० सं ४)

●

सूचना

जिन महाशयों ने कृपापत्र भेजकर 'ब्राह्मण' मंगाया है उनको चाहिए कि यह अंक पाते ही दक्षिणा शीघ्र भेज दें नहीं तो आगामी मास में वेल्यु पेएबुल द्वारा 'ब्राह्मण' से भेंट होगी।

मैनेजर ब्राह्मण

प्यारे पाठको !

जिस प्रकार 'सारसुधानिधि' इत्यादि उत्तमोत्तम पत्रों को नादिहन्द ग्राहकों ने भच्छ लिया उसी प्रकार 'ब्राह्मण' को भी ग्रसा चाहते हैं, पर यह नहीं सोचते कि ब्रह्मदोषी बनना हिंदुओं के लिये कैसा है। हम उनमें से कुछ नाम यहां प्रकाशित करते हैं—

[यहां छः व्यक्तियों के नाम और पते प्रकाशित हैं।] ('ग्रंथावली' संपादक)

खं० ६, सं० १० (१५ मई, ह० सं० ६)

●

एक सलाह

जिन लोगों को विश्वासघात करके पराई जमा हजम कर जाने में लज्जा नहीं आती, जिन्हें थोड़े से द्रव्य के मोह में दूसरों की महान हानि होते देख के भी दया नहीं आती, जो लंबी चौड़ी चिट्ठी लिख के और छाती ठोक के प्रण करने में बड़े वीर हैं, पर निर्वाह करने के समय चार पैसा खर्चने में भी कंगाल हैं, जो अपनी बुरी आदतों के हाथ ऐसे बिक गए हैं कि अच्छे कामों के लिए एक डबल भी नहीं बचा सकते, जिन्हें तकाज़ा सहने की लत और प्रतिज्ञा तोड़ने की धत है, उनके लिए तो हमारे पास क्या ब्रह्मा जी के पास भी कोई औषध नहीं है, सिवा इसके कि नालिश कर के उनको उचित बदला दे दिया जाय और समाचार पत्रों में सच्ची २ कार्रवाई प्रकाश करके सर्वसाधारण को उनसे सावधान रहने की सूचना दे दी जाय। पर जिन लोगों को सचमुच देश की ममता और सद्गुणों का व्यसन तथा अच्छे कामों में सहायता करने की रुचि है पर आमदनी इतनी थोड़ी है कि मामूली खर्च से इतना भी नहीं बचता कि जिस देशोपकारिणी सभा के सभ्य है उसका मासिक चंदा और जिस उत्तम पत्र के ग्राहक हैं उसका वार्षिक मूल्य भी अखर के बिना दे सकें, इस दशा में उन्हें लज्जा अवश्य आती है, तकाजे का भय अवश्य लगता है, यह खयाल जरूर रहता है कि 'दूसरे हमें क्या समझेंगे'। पर करें क्या द्रव्यसंकोच से लाचार हैं। सभा में जाना

वा पत्र का लेना छोड़ दें तो जी ऊभता है, मनोविनोद में विघ्न पड़ता है। सेंत के स्वंबर वा ग्राहक बनने का आवेदन करें तो चार जनों के आगे आंखें नीची होती हैं। यकरार करके न पूरा करें तो गैरत आती है। इस प्रकार के विचार चित्त को अजब उलझन में डाले रहते हैं। ऐसे सज्जनों के सुभीते के लिए हमने एक सलाह सोची है, अर्थात् संभव हो तो नित्य नहीं तो हफ्ते २ थोड़ा २ धन अलग रख दिया करें अथवा यह समझ लिया करें कि गरीबों के संतान बृद्धि होती है तो क्या करते हैं, जो मनुष्य पांच रुपए मात्र मासिक आय रखता है और उसी में अपना तथा गृहिणी का निर्वाह करता है उसके यदि एक लड़का भी पैदा हो जाय तो क्या करेगा ? फेंक देहीगा नहीं, कम से कम दस वर्ष तक वह लड़का कमाने लायक हो ही न जायगा, कहीं गड़ा हुआ खजाना मिलने से रहा, आखिर झख मार के उसी थोड़ी सी आमदनी में दो आदमियों की जगह तीन का भरण पोषण करना पड़ेगा। बस इतना विचार कर लेने से चाहे जो हो एक दो अच्छे कामों में सहायता देने का व्यसन निभाता जायगा। यों समझ लेना चाहिए कि बाजे हाकिम ऐसे प्रजावत्सल होते हैं कि जहां सैर करने निकले वहीं नगर में हलकम्प पड़ जाता है। किसी गरीब की बकरी सड़क किनारे बंधी है, दो रुपया जुरमाना। किसी दुखिया के द्वार पर दो चार मूली के पत्ते पड़े हैं, चार रुपया जुरमाना। किसी दिहाती विधवा ने कंडों की टोकड़ी किसी के चबूतरे पर रख दी है, पांच रुपया जुरमाना। ऐसी हालत में यह दीन प्रजाजन क्या करते हैं ? किसी न किसी रीति से दे ही गुजरते हैं न ? अपील करें तो पेट के लिए दौड़ने का समय कचहरी में बीते। अभी दो ही चार में पीछा छुटता है, फिर और पलेथन देना पड़े इससे यही समझ लेते हैं कि राजदंड भुगतना ही पड़ता है। बस जब घसियारे ऐसा खर्च सह लेते हैं तो आप तो उनसे कहीं अच्छे हैं। ऊपर से जो कुछ जी कड़ा करके दे डालिएगा वह देश सेवा में भुक्त होगा। फिर क्यों न समझ लीजिए कि हम ऐसे ही स्थान के बासी हैं जहां का धर्म अथवा देशहित नामक हाकिम ऐसा ही है। यों समझ लेने से और इसी समझ का अनुसरण करने से आशा है कि बड़े २ कामों के लायक धन जुड़ जायगा। तुम्हें तो कुछ बड़ी रकम देनी भी नहीं है। हिंदी के पत्रों भर में 'हिंदोस्थान' का मूल्य सबसे अधिक है, सो दस रुपया साल। और बड़ी से बड़ी सभाओं का चंदा बड़ी हद दो रुपया महीना। विचार देखिए तो इतना सा खर्च हुई क्या जिसके लिए तकाजा सहो, नादिहंद कहलाओ और आत्मा को उलझेड़ में डाले

रहो। यदि ऐसा समझते तो क्यों अच्छे २ पत्र तथा सभाएँ टूट जातीं और जो हैं उन्हे चलना दुस्साध्य होता। क्या कोई सत्पुरुष इसे पढ़के 'श्री हरिश्चंद्र कला' 'हिंदी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' को कुछ सहारा पहुंचावैंगे ?'

खं० ७, सं० ३ (१५ अक्टूबर, ह० सं० ५)

●

विज्ञापन

(ज़रा पढ़ लीजिए)

कई मास से 'ब्राह्मण' में श्री हरिश्चन्द्र संवत ५ छप रहा है पर चाहिए था ६, किंतु इस मास (जनवरी) से ७ आरंभ हुआ है, अतः जो सज्जन 'ब्राह्मण' की जिल्द बंधवा के रखते हैं उन्हें सुधार लेना चाहिए पर जो रद्दियों में फेंक देते हैं उनकी बला से, जैसे ५ वैसे ६ वैसे ७। छ मास इस वर्ष के भी बीत गए, कहिए दक्षिणा अब भी भेजिएगा कि यों ही झिखाते रहिएगा ? इसमें कोई संदेह नहीं है, बनावट न समझिएगा कि अब इस पत्र के ग्राहक इतने थोड़े हैं कि यदि सबसे मूल्य प्राप्त भी हो जाय तो भी इस वर्ष ५० रु० से कम घाटा पड़ना संभव नहीं है। यद्यपि घाटा हर साल पड़ता रहा है पर कभी बनावटी दोस्तों (साझियों) के आसरे भुगत लिया, कभी यह समझ के झेल डाला कि आगामी वर्ष प्रबंध ठीक रक्खेंगे और ग्राहक बढ़ाने का यत्न करते रहेंगे तो सब घटी पूरी हो जायगी। और इसी विचार पर गत छः वर्ष में पांच सौ से ऊपर रुपया केवल अपनी गांठ से दिया भी, पर अब मेहनत करके, रुपया लगा के भी अपनी सरस्वती की बिडंबना असह्य है, इससे इरादा तो इसी मास में बंद कर देने का था, पर करें क्या, पांच सात सहृदयों को इस पत्र का एकाएकी अंत हो जाना अत्यंत कष्टदायक होगा इससे कुछ हो इस साल तो जैसे तैसे चलाते हैं, पर जहां यह वर्ष समाप्त हुआ वहीं ब्राह्मण के जीवन की समाप्ति में संदेह न समझिए। हां, जिन्हें इससे सचमुच ममत्व है वे ग्राहक बढ़ा के जीवित रख सकते हैं, पर हम में अब हौसिला नहीं रहा।

बाबू राधा मोहन साहब कार्यवशतः बाहर चले गए हैं अतः ब्राह्मण संबंधी धन वा पत्रादि अन्य विज्ञापन न निकलने तक इस पते से भेजिएगा—

प्रतापनारायण मिश्र,
'ब्राह्मण' आफिस,
कानपुर।

खं० ७, सं० ६ (१५ जनवरी, ह० सं० ७)

अवश्य देखिये

हमारे कई मित्रों ने 'ब्राह्मण' के बंद हो जाने की सूचना पढ़ के खेद-प्रकाशपूर्वक पूछा है कि क्या किसी उपाय से इसे बचा सकते हो अथवा सात वर्ष के पाले पोसे बच्चे को एक साथ ही कठोरता धारण करके विसर्जित कर दोगे ? इसके उत्तर में हम निवेदन करते हैं कि हमारा हृदय घटी उठाते २ और धोखा खाते २ निस्सन्देह ऐसा हो गया है कि मौखिक आश्वासन से अब इस पर कुछ असर नहीं हो सकता। किन्तु बन्द कर देने का जब कि दूसरों को शोक है तो हमें क्यों न होगा जिन्होंने सैकड़ों ऊंच नीच देख के इतने दिन झेला है। पर करें तो क्या करें, जब जी टूट जाता है तब मनसा के विरुद्ध काम करने ही पड़ते हैं। हां, जो लोग सचमुच इसे जीवित रखना चाहते हों वे निम्नलिखित तीन उपायों में से कोई अवलम्बन करके रक्षा कर सकते हैं तो करें। पहिला उपाय यह है कि कोई सामर्थ्यवान इसकी घटी का बोझा उठा ले, नफा हो तो उसका हम लेख दे दिया करेंगे। दूसरा यह है कि कोई सब प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले और ग्राहक बढ़ाने में सदा यत्नवान रहा करे, हम भी यथाशक्ति उन्हें साथ देने को प्रस्तुत हैं। तीसरे दश (इससे कम नहीं) पुरुष एकत्र हो के एक २ रुपया महीना पेशगी जमा कर दिया करें और आमदनी अपने पास रक्खा करें तो भी काम चल जाने की संभावना है। हानि लाभ, उद्योग अथवा···ईश्वर के आधीन है। यदि उचित समझिए तो एक भाग हमसे भी ले लिया कीजिए। बस और हम कुछ न कर सकते हैं न बतला सकते हैं न निरी बातों में आ सकते हैं।

खं० ७, सं० ६ (१५ अप्रैल, ह० सं० ७)

विज्ञापन

हम 'ब्राह्मण' को खुशी से बंद नहीं करते। यदि एक २ रुपया महीना वाले दस साझी अथवा सच्चे सौ ग्राहक नियत कर देने का कोई भी जिम्मा ले तो फिर भी इसे चलाए जायं। पर न इसका आसरा है न हमसे खुशामद हो सकती है, इससे जब तक फिर हमारा ही जी फिर से न फुलफुलाय तब तक इसे बंद ही समझिए। क्योंकि अब मेहनत करके और रुपया लगा के हिन्दी की ऐसी बेकदरी नहीं देखी जाती। इससे अब वह सज्जन हमारे पास अपने पत्र न भेजें जो मूल्य चाहते हों।

इनमें बहुतेरे महाशय पत्र द्वारा कहा करते हैं कि कोई अपनी बनाई पोथी दीजिए तो छपवावें । उनकी सेवा में निवेदन है कि हमारी बनाई वा संग्रह की हुई पुस्तकों पर बांकीपुर निवासी श्री बाबू रामदीन सिंह का अधिकार है अतः हमारे बदले उनसे मांगना चाहिए ।

खं० ७, सं० १२ (१५ जुलाई, ह० सं० ७)

●

अंतिम सम्भाषण

"दरो दीवार प हसरत से नजर करते हैं ।
खुश रहो अहलेवतन हम तो सफर करते हैं ।।"

परम गूढ़ गुण रूप स्वभावादि सम्पन्न प्रेमदेव के पद पद्म को बारम्बार नमस्कार है कि अनेकानेक विघ्नों की उपस्थिति में भी उनकी दया से 'ब्राह्मण' ने सात वर्ष तक संसार की सैर कर ली । नहीं तो कानपुर तो वह नगर है जहां बड़े २ लोग बड़ों बड़ों की सहायता के आछत भी कभी कोई हिन्दी का पत्र छः महीने भी नहीं चला सके । और न आसरा है कि कभी कोई एतद्विषयक कृतकार्यत्व लाभ कर सकेगा । क्योंकि यहां के हिन्दू समुदाय में अपनी भाषा और अपने भाव का ममत्व विधाता ने रक्खा ही नहीं फिर हम क्योंकर मान लें कि यहां हिन्दी और उसके भक्त जन कभी सहारा पावेंगे । ऐसे स्थान पर जन्म ले के और खुशामदी तथा हिकमती न बन के ब्राह्मण देवता इतने दिन तक बने रहे, सो भी एक स्वेच्छाचारी के द्वारा संचालित हो के, इसे प्रेमदेव की आश्चर्य लीला के सिवा क्या कहा जा सकता है ? यह पत्र अच्छा था अथवा बुरा, अपने कर्तव्यपालन में योग्य था वा अयोग्य यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है, न्यायशील, सहृदय लोग अपना विचार आप प्रगट कर चुके हैं और करेंगे । पर हां इसमें संदेह नहीं है कि हिन्दी पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी और साहित्य (लिटरेचर) को थोड़ा बहुत सहारा इससे भी मिला रहता था । इसी से हमारी इच्छा थी कि यदि खर्च भर भी निकलता रहे अथवा अपनी सामर्थ्य के भीतर कुछ गांठ से भी निकल जाय तो भी इसे निकाले जायंगे । किन्तु इतने दिन में देख लिया कि इतने बड़े देश में हमारे लिए सौ ग्राहक मिलना भी कठिन है । यों सामर्थ्यवानों और देशहितैषियों की कमी नहीं है पर वर्ष भर में एक रुपया दे सकने वाले हमें सौ भी मिल

जाते अथवा अपने इष्ट मित्रों में दस २ पांच २ कापी बिकवा देने वाले दस पंद्रह सज्जन भी होते तो हमें छः वर्ष में साढ़े पांच सौ की हानि क्यों सहनी पड़ती, जिसके लिए साल भर तक कालेकांकर में स्वभावविरुद्ध बनवास करना पड़ा। यह हानि और कष्ट हम बड़ी प्रसन्नता से अंगीकार किए रहते यदि देखते कि हमारे परिश्रम को देखने वाले और हमारे विचारों पर ध्यान देने वाले दस बीस सदव्यक्ति भी हैं। पर जब वह भी आशा न हो तो इतनी मुड़ धुन क्यों कर सही जा सकती है कि महीना आरंभ हुआ और एक फिकर शिर पर सवार है—यह विषय गद्य में लिखना चाहिए यह पद्य में—और इसका फल क्या होगा कि डाकखाने और छापाखाने के लिए देने को तो भर २ मुट्ठियों रुपया चाहिए पर मिलने के लिए चिट्ठी पर चिट्ठी लिखने तथा मुलाहिजा छोड़ के वेल्यूपेएबिल भेजने पर कभी किसी भलेमानस ने एक रुपया भेज दिया जिसका हम ऐसों के हाथ में एक दिन भी ठहरना असंभव है। यह झंझट सौंपने के लिए यदि किसी को अपना समझ के मैनेजर ठहराते हैं तो या तो वह साहब आमदनी ही हजम कर बैठते हैं या बेगार का काम समझ के हमसे भी अधिक मस्त बन बैठते हैं जिसमें न किसी का चिट्ठी पत्री का जवाब है न कोई हिसाब है। इस रीति से हमें जब देना पड़ा है गांठ ही से देना पड़ा है जिसके लिए समय पर रुपया पास न होने के कारण यंत्राध्यक्षों से झूठे वादे और चित्त की झुंझलाहट रोक के 'बाबूसाहब बाबूसाहब' करना एक मामूली बात है। एक भलेमानस हमारे हानि लाभ के साझी बने थे पर जब कुछ दिन मेनेजमेंट अपने हाथ में रख के समझ गए कि इसमें हानि ही हानि है तो झट से तोते की तरह आंखें बदल बैठे। पर परमेश्वर बड़े दयामय हैं। हमें उनकी एक कौड़ी का भी रवादार नहीं बनाया वरंच उनके मुंह फेरते ही हमारे लिए तीन सहायक प्रस्तुत कर दिए। एक कोल्हापुर निवासी श्रीमान रावसाहब रायसिंह देव वर्मा दूसरे दिल्लीवासी श्रीयुत जगन्नाथ भारतीय तीसरे श्रीमत् स्वामी मंगलदेव संन्यासी। सच पूछो तो हमारी टूटी हुई हिम्मत इन्हीं सत्पुरुषों के उत्साहप्रदान से तीन वर्ष तक कायम रही, नहीं तो हमें केवल अपनी इच्छा से बेगार भुगतना और हर साल जुर्माना देना कभी का असह्य हो गया होता। किंतु जब बरसों तक यह देखते रहे कि जिन लोगों के लिए सारी हाव २ की जाती है उनमें से बहुतों को यह भी ज्ञान नहीं है कि हिंदी हमारी कौन है अथवा 'ब्राह्मण' किस खेत की मूली है तो गत वर्ष यह दृढ़ विचार कर लिया था कि यह झगड़ा अब न

रक्खें। किन्तु हमारे परम हितैषी और हिन्दी के सच्चे प्रेमी श्री मन्महाराज-कुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय (खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के स्वामी) की अकृत्रिम दया और प्राकृतिक स्नेह के वश वर्ष भर तक फिर 'ब्राह्मण' ने जगजात्रा की। पर अब हम नहीं चाहते कि समय, संपत्ति और स्वतंत्रता नष्ट करके अपनी वाणी की विडंबना कराते एवं अपने थोड़े से सच्चे सहायकों को चिंता में फंसाते रहें। इससे 'ब्राह्मण' को ब्रह्मलोक भेज देना ही उत्तम समझते हैं। ग्राहक बढ़ाने और पत्र को स्थिर रखने के सब उपाय कर देखे पर अंत को यही जान पड़ा कि या तो हम देश की सेवा के योग्य नहीं हैं या देश ही हमारे गुणों को समझने की योग्यता नहीं रखता। फिर किस आसरे पर गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी पेट पीट के पीर उपराजने का ठान ठानें? हां बीते हुए महीनों के लेखानुसार आयव्ययादि का प्रबंध हो जायगा अथवा दो चार वर्ष में फिर शौक चर्रायगा तो देखा जायगा। पर आज तो सात वर्ष का तमाशा देखते २ जी ऊब उठा है। यद्यपि उन लोगों से बिदा होते मोह लगता है जिनके साथ इतने (अथवा कुछ कम) दिनों संबंध रहा है और कभी कोई उलहने वाली बात नहीं आने पाई। पर क्या कीजिए समय का प्रभाव रोकना किसी का साध्य नहीं है। अतः छाती पर पत्थर रख के विदा होते हैं और कोई सुने वा न सुने पर अपने धर्मानुसार चलते चलते कहे जाते हैं कि—

चहहु जु सांचहु निज कल्यान। तौ सब मिलि भारत संतान॥
जपौ निरंतर एक जबान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ १॥
रीझै अथवा खिझै जहान। मान होय चाहे अपमान॥
पै न तजो रटिबे की बान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ २॥
जिन्हें नहीं निजता को ज्ञान। वे जन जीवत मृतक समान॥
याते गहु यह मंत्र महान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ ३॥
भाषा भोजन भेष विधान। तजै न अपनी सोइ मतिमान॥
बसि समझौ सौभाग प्रमान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ ४॥
धनि है वह धन धनि वे प्रान। जे इन हेत होहिं कुरबान॥
यही तीन सुख सुगति निधान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ ५॥
तिहूं लोक पर पूज्य प्रधान। करिहैं तब त्रिदेव इव त्रान॥
सुमिरौ तीनहु समय सुजान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ ६॥
सरबस जाइ दीजिए जान। सब कुछ सहिए बनि पाषान॥
पै गहि रहिय प्रेम पन ठान। हिंदी हिंदू हिंदुस्तान॥ ७॥

तबहिं सुधरिहै जनम निदान । तबहिं भलो करिहैं भगवान ॥
जब रहिहै निशिदिन यह ध्यान । हिंदी हिंदू हिंदुस्तान ॥ ८ ॥

जब लगि तजि सब संक सकुच अरु आस पराई ।
नहिं करिहौ अपने हाथन आपनी भलाई ॥
अपनी भाषा भेष भाव भोजन भाइन कहं ।
जब लग जगते उत्तम नहि जानिहौ जिय महं ॥
तब लग उपाय कोटिन करत अगनित जनम बितायहौ ।
पै सांचो सुख संपति सुजस सपनेहु नहिं लखि पायहौ ॥ ६ ॥

खं० ७, सं० १२ (१५ जुलाई, ह० सं० ७)

●

मंगल पाठ

जय जय जय आनंद मय, अष्ट सिद्धि दातार ।
करत भक्त मन मंदिरनि, जो बसु जाम बिहार ॥ १ ॥
अष्ट अंग बिद जोगि जन, नहिं जानहिं गति जासु ।
अष्ट कपारी हम सरिस, किमि गावहिं गुण तासु ॥ २ ॥
केवल अपनी गरज कहं, पकरि प्रेम की ओट ।
मांगहिं जयजयकार कहि, सदा मनोरथ मोट ॥ ३ ॥
जदपि जाचना के बिना, देत सबै कछु सोय ।
पै हम बैरागी नहीं, जिन के चाह न होय ॥ ४ ॥
याते मांगहिं जोरि कर, धरि उर आस महान ।
हिन्दी हिन्दू हिन्द कर, करहु नाथ ! कल्याण ॥ ५ ॥
सब प्रकार सुख सों रहहिं, इन के चाहन हार ।
जग महं चहुंदिस सुनि परै, इन की जै जै कार ॥ ६ ॥
हैं इन के सांचे हितू, श्री महाराजकुमार ।
रामदीन हरि विज्ञवर, धरम बीर समुदार ॥ ७ ॥
जासु कृपा लहि के भयो, मृत्युंजय यह पत्र ।
राखहु निज कर कंज कर, प्रभुवर ! तेहि शिर छत्र ॥ ८ ॥
निहचल निहछल रूप सों, निज तन मन धन लाय ।
सबके सब विधि सब समय, सब कोउ होहिं सहाय ॥ ६ ॥

श्री हरि शशि के तत्व कहं, समुझहिं सब भलि भांति।
सदा सबै कहुं सुनि परै, धर्म प्रेम शुभ शान्ति ॥१०॥

नव सम्भाषण

जगदीश्वर को धन्यवाद देना आस्तिकता की पद्धति का रक्षण मात्र है नहीं तो प्रति क्षण अनन्त उपकार का धन्यवाद एक मुख से हो ही क्योंकर सकता है। कहां परम पवित्र परमानन्दमय प्रेमदेव का धन्यवाद और कहां यह मुहं, जिसे खपुष्प न्याय का अवलम्बन करके मिथ्या भाषण और परनिन्दादि के दोषों से बचा हुआ भी मान लें तथापि प्रत्यक्ष देखते हैं कि कैसा पवित्र है। इससे इस विषय में बोलना ही बायचेंचीपन है। रहा अपने पाठकों को धन्यवाद देना, वह भी सभ्यता की रीति का निर्वाह मात्र है। नहीं तो हमारी खरी २ दो टूक चैलाफाड़ बातों पर रुचि रखने वालों को झूठ-मूठ के धन्यवाद अथवा आशिर्वाद क्यो रुचने लगे? जब तक आपने हमारे साथ कोई विशेष रूप से भलाई नहीं की तब तक हमारा धन्यवाद व आशिर्वाद देना एक रूप की खुशामद है और खुशामद वह गुण है जिसमें हमें आप निरा मूर्ख समझिये तो हम अपना गौरव समझेंगे। यह गुण तथा इसके ग्राहक परमेश्वर न करे कि हमें प्राप्त हों। हम अपने थोड़े से उन्हीं सहायकों के मध्य आनंदित रहना चाहते हैं जो हमारे ऐसे साहंकार कथन का आदर करते हों कि हमारी बातें आपको भाती हैं इससे आप हमारे ग्राहक हैं, इसमें धन्यवाद काहे का? हां हमारे बचनों का पूर्ण रूप से अनुसरण कीजिये अथवा हमीं को चिरस्थायी रखने का उद्योग करते रहिये तो हम क्या हैं सभी धन्यवाद देंगे—पर यतः अभी तक हमें ऐसे लोग बहुत ही थोड़े मिले हैं, सो भी खुशामद और खुशामदियों को तुच्छ समझने वाले। अस्मात् हम यह खाता ही नहीं रखना चाहते। हां सहयोगियों में से 'सर्वहित', 'मित्र-विलास' और 'बिहारबन्धु' को धन्यवाद देंगे क्योंकि उन्होंने हमारी सहानुभूति की है, सो भी उस दशा में जब कि हम कभी उनके साथ विशेष सम्बन्ध का प्रदर्शन नहीं कर सके। केवल पत्र का बदला ही रक्खा है। इस पर भी 'सर्वहित' महाशय 'ब्राह्मण' की ब्रह्मलोक यात्रा के समाचार पर शोक ही नहीं प्रकाश करते वरंच पुनर्जीवन की आशा करके साहाय्य प्रदान का बचन भी देते हैं। फिर हम उनका गुण क्योंकर न मानें? पर हां, यस्मात् सब पत्रों का

मुख्य कर्तव्य यही है कि एक दूसरे की उन्नत्यवनति में साथ देने की बातें ही न बनावैं किन्तु काम पड़ने पर पूर्ण रीति से काम आवैं ! अतः कोरे धन्यवाद को व्यर्थ समझ के हम प्रार्थना करते हैं कि परमात्मा समस्त हिन्दी पत्रों को पारस्परिक सहायता का सच्चा उदाहरण बनावै, जिसकी आज बड़ी भारी आवश्यकता है ! और जब तक यह न हो तब तक धन्यवाद सन्यवाद का देना भी तथा चाहना भी गप्पन्नर्तते ! किन्तु हां श्रीमन्महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय को धन्यवाद न देना कृतघ्नता है जिन्हों ने हिन्दी के प्रचारार्थ तन मन और बित्त बाहर धन उस दशा में लगा रक्खा है जब कि सद्ग्रन्थों के ग्राहक इतने भी नहीं हैं कि कनिष्ठिका से लेकर अंगुष्ट तक तो गिने जायं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से यह तो एक बालक भी समझ सकता है कि धन बटोरने के लिए झूठ मूठ देशभक्ति के गीत नहीं गाते परन्तु सच-मुच सद्विद्या रत्न का वितरण करना चाहते हैं और इस प्राकृतिक उदारता के पलटे में अपनी नामवरी फैलाने की भी गुप्त अथवा प्रगट कारंवाई नहीं करते वरंच दूसरों ही का नाम चिरस्थायी रखने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। भला ऐसे निःस्वार्थ देशबन्धु को कौन समझदार धन्यवाद न देगा ? विशेषतः हमारे साथ तो वह उपकार किया है जिसका पलटा हम दे ही नहीं सकते। लोग जिससे अपना स्वार्थ निकालना चाहते हैं उससे बड़ी भारी बनावट के साथ कहा करते हैं कि 'ऐसा कर दीजिए तो हमें मानौं मरते से जिला लीजिए' पर इस उदारचेता ने हमारी प्रार्थना के बिना ही हमें मरते से नहीं मृत हो जाने पर जिला दिया है ! गत संख्या का अंतिम संभाषण पढ़ के और हमें फिर भी प्रकाशित देख के आशा नहीं निश्चय है कि कोई विचारवान हमारे कथन को अत्युक्ति अथवा मिथ्या प्रशंसा न समझेंगे फिर भला हम उन्हें क्यों न रोम २ से असीसें ? पर यतः यह काम भी हमारा ही नहीं है किन्तु उन समस्त सज्जनों का जो 'ब्राह्मण' के अन्तर्ध्यान होने से दुःखित होते एवं पुनः प्रकाशित होने से आह्लादित होंगे। अतः यह भार भी हम अपने माथे से पटक कर अपने सच्चे रसिकों को यह मंगल समाचार सुना देना उचित समझते हैं कि अब हम पूर्ण रूप से निर्द्वन्द हो गए अतः अपनी सामर्थ्य भर इस पुनर्जीवित 'ब्राह्मण' को मेंढक (प्रसिद्ध है कि मेंढक गरमियों में मर जाते हैं और वर्षा में फिर जी उठते हैं) की नाईं टर टर करने वाला न बनावैंगे (यद्यपि एडिटर शब्द की यह भी दुम है) किन्तु मृत्युंजय मंत्र की भांति देश के शारीरिक मानसिक और सामाजिक रोग दोषादि का दूर करने वाला सिद्ध कर दिखावैंगे। पर कब ? जब आप लोग

भी ध्यान दे के पढ़ेंगे और इसके प्रचार का पूर्ण उद्योग करते रहेंगे तथा समय २ पर सुन्दर लेख भी भेजते रहेंगे। पर खबरदार मूल्य एवं साहाय इत्यादि का रुपया उपया कानपुर के पते पर न भेजिएगा, हम उसे न छुवैंगे, अथवा छूते ही उड़ा देंगे! इससे नए पुराने खंड तथा हमारी पुस्तकों की मांग और दाम मनेजर खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के पास भेजा कीजिए और अपने तथा हमारे लिए कोई बात पूछना भी हो तो खैर कानपुर ही सही। बस।

खं० ८, सं० १ (अगस्त, ह० सं ७)

शुद्धिपत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	घर	घर
४	३-४	तन्त्यजेद्यन्तजम्	तन्त्यजेदन्त्यजम्
६	२३	वारि	बारि
१३	२२	असहावे कहफ	असहाबे कहफ
१७	२५-२६	केवल ईश्वरेच्छा	केवलमीश्वरेच्छा
१६	२३	भला रुपए की	भला पैसे रुपए की
२०	१०	कैसा घी धरा है	कैसा दानेदार घी भरा है
२०	१०	सच है, सच है	सच है
२०	२४	एक गाय	एक २ गाय
२५	१६	स्त्रोत्र	स्तोत्र
२६	१८	टटेर	बटेर
२७	३१	हस्तगष	हस्तगत
२६	६	दाताय	दानाय
३४	१६	घर खुदा का	क़ह्र खुदा का
३५	८	सर्वेगुणा	सर्वेगुणाः
३५	८	सर्वेवशः	सर्वेवशाः
३८	२८	ब्राणह्मो	ब्राह्मणो
४२	२५	नानी	नामी
४४	२५	हमारी देश	हमारे देश
५०	१४	मध्याः विघ्नैः	मध्याः। विघ्नैः
५०	१५	चोत्तमजनान	चोत्तमजना न
५७	२७	मौलिवन्धेन्दु	मौलिबद्धेन्दु
६०	६–७	तृणैर्गुणत्वमापत्रै- र्वध्यन्तेमत्तदंतिनः	तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्वध्यन्तेमत्त- दंतिनः
६३	२०	कुछ कुछ	कुछ का कुछ
६६	२४	तकफीफ	तकलीफ

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	२८	समनस्कगण	उनके समनस्कगण
६९	९	ज्ञात हुआ…ने	ज्ञात हुवा कि उन्होंने
६९	२८	जीवषु तंतनु	जीवयुतां तनुम्
७०	१०-११	चिदानंदरूपं शिवोहं शिवोहं	चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं
७८	८	वैष्षणवों	वैष्णवों
८०	७	गुणाकारी	गुणागरी
८१	१२	रोते	रोते रोते
८२	९	हियर	हियरे
९४	१५	कोत्र	कोऽत्र
९४	२६	पाहिनो	पाहि नो
९४	२६	खंगे न	खंगेन
९४	२७	कृगच्छामि	क्व गच्छामि
१०४	१	प्रिया·नां·त्वप्रिय	प्रियानांत्वाप्रिय
१०४	१–२	अहोरात्राणिविदध-द्विश्वस्यामिष्तोवशी	अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी
१०५	२३	भेषजताया	भेषजत या
१०६	९	मुनिनां	मुनीनां
१०७	५	मुनिनां	मुनीनां
११०	२६	अन्तेष्टि	अन्त्येष्टि
१११	२५	देपा	देया
१२९	१	समुच्चय	सचमुच
१३६	२८	तो	जो
१४५	३०	और	ओर
१४६	१८	कोई	कई
१५१	९	हसी	इसी
१५७	२०	समझाएगा	समझाइएगा
१५९	१६	जोई	कोई
१५९	१८	अर्य्यसमाज	आर्य्यसमाज
१५९	१९	विघ्न	विघ्न

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६४	१३	सवदा	सर्वदा
१६५	५	पतनांत	पतनांता:
१७१	१८	वह	यह
१७४	८	वदत्स्त्र दग्ध	वद स्वदग्ध
१७४	६	पुमान	पुमान्
१९६	२६	पोषणदि	पोषणादि
१९७	३२	उत्तंग···	उत्तुंग···
१९८	१	कलशोषि	कृशोऽपि
१९८	६	अघति	अछूति
२०६	१	र्भा	भी
२०७	१०	पवन	पवन ने
२०७	१७	अरिरिक्त	अतिरिक्त
२०७	२०	चाहती	चा[illegible] थी
२०७	२६	खाशाक (?)	खाशाक
२०७	२७	खरावे	खरावं
२०८	७	जी की आर्य	जी आर्य
२१५	२	हास्य करेंगे	हास्य करेंगे कि
२१५	१८	कैसी कोमल	कैसे कोमल
२१६	४	जानना नहीं है ?	जानना विद्या नहीं है ?
२१८	२६	कुटुंम	कुटुंब
२२५	६	मुसतमानी	मुसलमानी
२२५	१०	भरा	मरा
२२६	१७	नों	नो
२३०	१०	विष	विषम्
२३१	६	मात्र	मात्र है
२३२	१६	मातृमान्पितृमाना-चार्यमान्पुरुषो-	मातृमान्पितृमानाचार्य-वान्पुरुषो
२३६	६	झलकता	झलकती
२४२	३	सच्चनों	सज्जनों
२४७	११	अक्षेप	आक्षेप

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५०	१३	घरेईगो	धरेईगो
२६२	१०	पिंडंम्	पिंडम्
२८०	२०	निज संबंध···।	निज संबंध है।
२८०	२५	जिस रीति से···	जिस रीति से भजता है वह उसका उसी रीति से
२६०	६	डाक्टरों की	डाक्टरों के
२६०	१३	जब	जब तक
२६६	११	तक को	तक का
२६६	२८	तदयि	तदीय
३०३	२१	प्वाह	प्वाहं
३०३	२१	परमंपदा	परमं पदम्
३०५	[illegible]	तेमीमानुषराक्षसाः	तेऽमी मानुषराक्षसाः
३०५	७	[illegible]	निघ्नन्ति ये
३०६	५	लोगों	लोगों को
३०६	२०	स्वार्थ	स्वार्थ
३०७	३	तत्पर होता	तत्पर होता है।
३०८	७	भूणहत्या	भ्रूणहत्या
३०६	११	पृष्टतः	पृष्ठतः
३३२	१२	शनैर्यष्टियुत्थानं	शनैर्यष्ट्युत्थानं
३४३	१०	कर्म	धर्म
३५६	३१	होविन	हेविन
३६६	२१	पासमुक्तः	पाशमुक्तः
४०४	६-१०	प्राणों अधिक	प्राणों से अधिक
४२३	२०	मगधे न	मगधेन
४४६	२३	मोक्षमवाप्नयात्	मोक्षमवाप्नुयात्
४६२	१६	पहूँचाने	पहुँचाने
४७१	३	उत्पन्न	उत्पन्न
४७४	२२	बकादेकंशिक्षि-च्चत्वारिकुक्कटात्	बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्
४७४	२६	मार्गस्यो	मार्गस्थो

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७६	१६	बुद्धमानी	बुद्धिमानी
४८२	२८	कमिश	के मिस
४६२	१३	ज्रहाँ	जहाँ
५१०	३०	हन	इन
५२३	६	बहवीदोषास्ताड्ने	बहवा दोषास्ताड्ने
५२८	६	मनुय्य	मनुष्य
५२६	१०	उगंग	उमंग
५३२	२	इंलिस्तान	इंगलिस्तान
५६७	१४	हाक	याक्
५६६	१	तो भला	ले भला
५६६	६	खुटिहई	खुंटिहई
५६६	२०	व	वा
५७२	२५	पुकार	प्रकार
६०३	२६	खं ? सं ?	खं० ४, सं० ३
६०५	१	रहे,हीं	रहे हीं
६१६	११	रुचिनाम्वैचित्राद-जुकुटिल	रुचीनां वैचित्र्याद्जुकुटिल
६१६	१२	गम्येस्त्वमसि पयसामर्णव	गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव
६२६	२५	भुवनभयभंग-व्यसनिनां	भुवनभयभंगव्यसनिनः

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No..............................

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.